॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कल्याण

भगवान् दत्तात्रेय

दूसरा कोई नहीं है, यों समझकर जो पुरुष उनका अनन्य प्रेमसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ आसक्तिरहित होकर संसारमें बर्तता है वही वास्तवमें उनको तत्त्वसे जानता है। ऐसे तत्त्वज्ञ पुरुषको इस दुःखरूप संसारमें फिर कभी लौटकर नहीं आना पड़ता।

भगवान्‌के जन्म कर्म कैसे दिव्य हैं, इस तत्त्वको जो समझ लेता है वही सच्चा भाग्यवान् पुरुष है! उज्ज्वल, प्रकाशमय, विशुद्ध, अलौकिक आदि शब्द दिव्यके पर्यायवाची हैं। भगवान्‌के जन्म कर्मोंमें ये सभी घटित होते हैं। उनके कर्म संसारमें विस्तृत होकर सबके हृदयोंपर असर करते हैं, कर्मोंकी कीर्ति ब्रह्माण्ड-भरमें छा जाती है, जो उनका स्मरण कीर्तन करते हैं, उनका हृदय भी उज्ज्वल बन जाता है। इसलिये वे उज्ज्वल हैं। उनकी लीलाका जितना ही अधिक विस्तार होता है, उतना ही अन्धकारका नाश होता है, जहां सदा हरिलीला-कथा होती है वहां ज्ञान सूर्यका प्रकाश छा जाता है, पापतापरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसलिये वे प्रकाशमय हैं। उनके कर्मोंमें किसी प्रकारका स्वार्थ या अपना प्रयोजन नहीं है, कोई कामना नहीं है, किसी पापका लेश नहीं है, मलरहित है, इसलिये वे शुद्ध हैं। उनके जैसे कर्म जगत्‌में कोई नहीं कर सकता, ब्रह्मा इन्द्रादि भी उनके कर्मोंको देखकर मोहित हो जाते हैं। जगत्‌के लोगोंकी कल्पनामें भी जो बात नहीं आ सकती, जो बिलकुल असंभव है, उसको भी वह संभव कर देते हैं, अघटन घटा देते हैं, जीवन-मुक्त या कारक सबकी अपेक्षा अद्भुत है, इसलिये वे अलौकिक हैं! उनका अवतार सर्वथा शुद्ध है। अपनी लीलासे ही आप प्रकट होते हैं। वे प्रेमरूप होकर ही सगुणरूपमें प्रगट होते हैं। प्रेम ही उनकी महिमामयी मूरति है, इसलिये प्रेमी पुरुष ही उनको पहचान सकते हैं। इस तत्त्वको समझकर जो प्रेमसे उनकी उपासना करते हैं वे भाग्यवान् बहुत ही शीघ्र उन प्रेममयके प्रेम-पूर्ण वदनारविन्दका दर्शनकर कृतार्थ होते हैं! अतएव शरीर मन बुद्धि आत्मा सब उनके चारु चरणोंमें अर्पणकर दिनरात उन्हींके चिन्तनमें लगे रहना चाहिये। उनका प्रेमपूर्ण आदेश और आश्वासन स्मरण कीजिये—

> मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
> निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
> (गीता १२।८)

मुझमें मन लगा दो, मुझमें ही बुद्धि लगा दो, ऐसा करनेपर मुझमें ही निवास करोगे अर्थात् मुझको ही प्राप्त होओगे, इसमें कुछ भी संशय नहीं है!

क्या ईश्वरके घर न्याय नहीं है ?

एक भाई पूछते हैं कि 'जो लोग प्रत्यक्षमें पाप करते हैं, गरीबोंको सताते हैं, छल-कपटसे दूसरोंका धन हरण करते हैं, व्यभिचार करते हैं वे तो धन पुत्र मान आदिसे बड़े सुखी देखे जाते हैं। और जो बिचारे धर्मके मार्गपर रहते हुए भगवान्- [illegible] करते हैं [illegible] ऐसा

इन भाई साहेबको सबसे पहले यह बात सदाके लिये मनमें दृढ़तासे धारण कर लेनी चाहिये कि 'ईश्वरके घरमें कभी अन्याय नहीं होता। वहां तो सदा ही न्याय है, केवल न्याय ही नहीं, दया भी पूर्ण है। ईश्वर न्यायकारी होने-के साथ ही परम दयालु भी है, उसकी प्रत्येक [illegible]

दिखलायी नहीं पड़ती !' इस विषयपर आगे चलकर कुछ लिखा जायगा।

यह बात भी सर्वथा निश्चित नहीं है कि प्रत्यक्ष पाप करनेवाले, गरीबोंको सतानेवाले, छल कपटसे दूसरोंका धन हरण करनेवाले और व्यभिचार करनेवाले सभी लोग धन-पुत्र-मान आदिसे सुखो हैं और धर्मके मार्गपर चलने तथा भजन करनेवाले सभी बड़े दुखी हैं। हमने इसके विरुद्ध कई उदाहरण प्रत्यक्ष देखे हैं! हां, यह अवश्य है कि जिन लोगोंके पास भोग-सामग्रीका अभाव होता है, जिनपर सांसारिक संकट अधिक आते हैं वे भगवान्का भजन अधिक करते हैं, क्योंकि दुःखमें ही परमात्माकी स्मृति हुआ करती है। जब मनुष्य सब तरफसे निराश और निराश्रय हो जाता है, तभी वह एकान्तचित्तसे भगवान्को पुकारता है, इसीसे कुन्तीने भगवान्से दुःखका वरदान मांगा था। इसके विपरीत धन पुत्र मान बड़ाईसे छके हुए लोग ईश्वरस्मरण बहुत ही कम करते हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वे सुखी हैं, मतलब यह है कि जैसे शराबखोर जबतक नशेमें पागल रहता है तबतक वह अपनी असली स्थितिको भूला रहता है, वैसे ही ये लोग भी कुछ कालके लिये विषय-मदसे उन्मत्त होकर भूले हुए रहते हैं, इसीसे [illegible]हरिने पुकारकर कहा था 'पीत्वा मोहमयीं [illegible]मदिरामुन्मत्तभूतं जगत्' मोहमयी प्रमाद-मदिराको पीकर जगत् उन्मत्त हो रहा है।

थोड़ी देरके लिये यह मान भी लिया जाय कि पाप करनेवालोंके धन सन्तान आदिकी वृद्धि होकर वे सुखी होते हैं एवं सत्कार्य करनेवाले दुखी रहते हैं तो इसका मतलब यह नहीं है कि उन दोनोंके इसी जन्मके कर्मोंका ही यह फल उन्हें मिल रहा है। अनन्त जन्मोंके सञ्चित कर्मोंमेंसे जिन कर्मोंके द्वारा यह शरीर प्राप्त हुआ है, वे कर्म प्रारब्धरूपसे इस समय उन्हें फल भुगता रहे हैं। जिस प्रारब्ध कर्मका फल [illegible]

कर्म उससे बहुत प्रबल हुए बिना फलदानोन्मुख प्रारब्धको रोक नहीं सकता। अच्छे बुरे जो कुछ भी कर्म मनुष्य अभी कर रहा है सो उसके सञ्चित बन रहे हैं। हां, यदि कोई ऐसा प्रबल कर्म बन जाय तो हाथों हाथ प्रारब्ध बनकर फलदानोन्मुख प्रारब्धको रोककर पहले अपना फल भुगता दे, तो दूसरी बात है–जैसे किसीके प्रारब्धमें पुत्र नहीं है, उसने विधिवत् साङ्गोपाङ्ग पुत्रेष्टि यज्ञ किया, उस यज्ञरूप कर्मका प्रारब्ध अभी बन गया और उसके पुत्र हो गया। इसीप्रकार अच्छे बुरे कर्म जो अति बलवान् होते हैं वे तुरन्त प्रारब्ध बनकर अपना फल पहले भुगता देते हैं परन्तु ऐसे प्रसङ्ग बहुत कम होते हैं, और जो होते हैं उनका भी हमें पूरा पता नहीं लगता, क्योंकि हमारे प्रारब्ध और वर्तमान सभी कर्मोंके बलाबलका पूरा निर्णय हमारी बुद्धि नहीं कर सकती। M.B

एक शहरके किसी स्कूलमें एक मुहल्लेके दो लड़के एक क्लासमें साथ पढ़ते थे, दोनोंमें मित्रता थी, स्कूलोंकी मित्रता प्रायः निष्कपट हुआ करती है। स्कूलोंसे निकलकर भिन्न भिन्न मार्गोंका अवलम्बन करने तथा स्थितिमें छोटे बड़े होनेपर मित्रता रहना, न रहना दूसरी बात है। अच्छे लोग तो श्रीकृष्ण–सुदामाको तरह हैसियतमें बड़ा भारी अन्तर पड़ जानेपर भी लड़कपनकी मित्रता निबाहा करते हैं परन्तु ऐसे लोग बिरले ही होते हैं। अधिकांश तो राजा द्रुपदकी भांति धन या उच्चपद मिलनेपर लड़कपनके प्यारे मित्रका उसकी गरीब हैसियत होनेके कारण प्रायः तिरस्कार ही किया करते हैं। धन या पदके मदसे अन्ध हुए उन लोगोंको एक गरीब कङ्गालको मित्र मानने या कहने कहलानेमें बड़ी लज्जा मालूम होती है। आजकल तो पढ़े लिखे सभ्य बाबू और धनवान् पुत्रोंके लिये अपने सीधे सादे गरीब ग्रामीण पिताको भी अपने [illegible]

दोनों मित्र पढ़कर स्कूलसे निकले, एक सदाचारी धर्मपरायण भक्त ब्राह्मणका लड़का था, दूसरा एक घूसखोर और दुराचारी धनी राजपूतका ! घरकी संगतका असर बालकोंपर सबसे ज्यादा हुआ करता है । ब्राह्मणका बालक स्कूलसे निकलकर पिताकी भांति पाठ पूजा तथा भक्तिभावमें लग गया और राजपूतका लड़का दुराचारमें प्रवृत्त होगया ! अच्छे बुरे गुण सभीमें होते हैं किसीमें ज्यादा किसीमें कम । राजपूत-बालक धनी और दुराचारी होनेपर भी गरीब ब्राह्मण-बालकसे मित्रताका सम्बन्ध कभी नहीं भूला । दोनों मित्र समय समयपर मिलते, एकान्तमें एक दूसरेके सुख दुःखकी बातें कहते सुनते । जो जिस काममें रहता है उसमें उसे स्वाभाविक ही सुखकी प्रतीति होने लगती है । इसीसे वे दोनों अपने अपने मार्गमें आनन्दकी अधिकता बतलाकर परस्पर अपनी अपनी तरफ खींचनेकी चेष्टा करते, परन्तु दोनोंका एकमत कभी नहीं होता । प्रेममें कमी न होनेपर भी मतभेदके कारण दोनोंका मिलना जुलना स्वाभाविक ही कम हुआ करता। ब्राह्मणकुमार भक्तमण्डलीमें रहना अधिक पसन्द करता तो राजपूतको शौकीन-मण्डलीमें ज्यादा आनन्द मिलता !

ब्राह्मण बिचारा भीख मांगकर बड़े कष्टसे घरका काम चलाता, उधर राजपूतके यहां रोज गुलछर्रे उड़ते । कईबार वह राजपूत अपने मित्र ब्राह्मणसे कहता भी कि 'तू हमारी मण्डलीमें क्यों नहीं आ जाता ।' कई बार वह धन भी देना चाहता; पर संतोषी ब्राह्मण अन्यायोपार्जित धनसे अन्तःकरण अपवित्र हो जानेके भयसे कभी लेता नहीं । तब वह कहता, 'भाई ! तेरे भाग्यमें ही दुःख लिखा है तब मैं क्या करूं ।' ब्राह्मणको अपनी निर्धनतापर असन्तोष नहीं था, वह अपनी स्थितिमें सन्तुष्ट था, परन्तु इधर उस राजपूतको पिताकी ओरसे काफी धन मिलनेपर [illegible] क्योंकि खुशामदी गुण्डोंकी जेब भरनेके लिये, उसको धनकी सदा जरूरत ही रहती थी !

निर्जला एकादशीका दिन था । ब्राह्मणने एकादशीका निर्जल उपवास किया, रातको जागरणके लिये वह मन्दिरमें गया । रातभर जागकर हरि-नाम-कीर्तन किया । प्रातःकाल मन्दिरसे निकलकर नंगे पांव वह घर लौट रहा था, रास्तेमें एक कांचका टुकड़ा पड़ा था, अचानक पैरमें गड़ गया, खूनकी धारा बह निकली । गर्मीका मौसम, छत्तीस घण्टेका भूखा प्यासा, रातभरकी नींद तिसपर यह वेदना ! ब्राह्मण घबरासा गया !

नगरमें एक नयी वेश्या हाल ही आयी थी, रातको उसका गाना था, शौकीन बाबुओंका जमघट वहींपर था । बिजलीके पंखे चल रहे थे, शराब कबाबकी कोई कमी नहीं थी । जागे इतने सुरीले सुरोंका आनन्द और मनमें आया, सो गये तब नींदका सुख ! बाबुओंने बड़े सुखसे रात बितायी । कहना नहीं होगा कि ब्राह्मणका मित्र भी वहां जरूर पहुंचा था । प्रातःकाल वेश्याके यहांसे निकलकर सब अपने अपने घर जाने लगे । सभी नशेमें चूर झूम रहे थे । एककी पाकेटसे 'मनीबैग' गिर गया, उसमें पांच हजारके नोट थे । उसको नशेमें क्या पता था कि मेरा मनीबैग कहीं गिर गया है । राजपूत कुमार पीछेसे आरहा था, उसने भाग्यवश कुछ शराब कम चढ़ाई थी इससे कुछ होशमें था । चलते चलते 'मनीबैग' पर उसकी नजर पड़ी, उठाकर देखा तो पूरे पांच हजारके पांच नोट, वह आनन्दके मारे उछल पड़ा ! सोचा, पिताजीने इधर कुछ हाथ सिकोड़ लिया था, चलो कई दिनोंके लिये मौज शौकका सामान सहज ही मिल गया ! बैग जेबमें रखकर वह चलता बना ।

जिस रास्तेसे वह जारहा था, उसी रास्तेमें [illegible] पैरमें कांच लगा था, वह [illegible]

खून पोंछकर जलकी पट्टी बांध रहा था, मित्रको देखकर उसे कुछ हिम्मत हुई, पूछनेपर उसने सारी कथा सुना दी। राजपूतने कहा 'भाई! तुम तो किसीकी बात मानते नहीं। दिन रात पाठपूजा और रामनाममें व्यर्थके बखेड़ेमें लगे रहकर जीवन बरबाद कर रहे हो! भला क्या होता है रामराम बड़बड़ाने और मन्दिरोंमें जानेसे? खानेको पूरा अन्न मिलता नहीं, कमायी करना तुम जानते नहीं, बात बातमें तुम्हें पापका डर लगता है। बाल बच्चे दुखी हो रहे हैं, तुम्हारी तो हड्डियां ही चमक रही हैं, तिसपर कहते हो धर्म और रामनाम तार देगा। मरनेपर बैकुंठ मिलेगा! कोई देखकर आया है कि मरनेपर आगे क्या होता है? भाई! आगे पीछे कुछ नहीं होता, व्यर्थमें शरीरको कष्ट मत दो, खाओ पीओ मौज करो, जबतक जीओ सुखसे जीओ, इन्द्रियोंसे आराम भोगो। मर जानेपर तो सिवा खाकके और कुछ होता नहीं। मुझे देखो, कितनी मौजमें हूं, रातदिन चैनकी बंसी बजती है। रातको गया था परी गुलशनका गाना सुनने, बड़े आनन्दसे रात कटी, सुबह वहांसे निकला तो पूरे पांच हजारके नोट मिले।' यह कहकर उसने मनीबैगमेंसे नोट निकालकर दिखलाये और फिर बोला, 'छोड़ो इन बखेड़ोंको, मेरे साथ चलो और आरामसे रहो।'

ब्राह्मण घबराया हुआ था, विपत्तिके समय सहानुभूति भरे हृदयसे जो बातें कही जाती हैं उनका असर विपद्‌ग्रस्त मनुष्यपर अवश्य होता है, अतएव ब्राह्मणके हृदयपर भी मित्रकी बातोंका कुछ असर हुआ, थोड़े समयके लिये उसे अपने धर्म-मार्गपर सन्देह हो गया, वह सोचने लगा 'ठीक ही तो है, मैं जिन कामोंको महापातक समझता हूं उन्हींमें यह दिन रात रत रहता है तब भी इसे कितना सुख है और मैं दिन रात भजन पूजनमें रहता हूं, भला कल तो मेरे चौबीसों घण्टे केवल भजनमें ही बीते थे, जिसपर मुझे तो यह संकट मिला और इसे पांच हजार रुपये मिल गये!' इन विचारोंके पैदा होते ही अभ्यस्त शुभ संस्कारोंने जोर दिया, मन ही मन ब्राह्मण पहले विचारोंका खण्डन करने लगा। उसने सोचा 'यह तो सर्वथा पाप है, क्या हुआ जो इसे रुपये मिल गये, पराया धन लेना क्या अच्छी बात है? जिस बिचारेके रुपये खोये हैं उसको इस समय कितना क्लेश हो रहा होगा! मुझे ऐसा सुख नहीं चाहिये।' इस तरह अनेक सङ्कल्प-विकल्प हुए। अन्तमें ब्राह्मणको उस महात्माकी बात याद आयी जो उस समय नगरमें आये हुए थे, बड़े सिद्ध योगी थे, भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालकी बातें जानते थे। राजा प्रजा सबपर उनका प्रभाव फैलता हुआ था। वे कई लोगोंको कईप्रकारके चमत्कार दिखला चुके थे। ब्राह्मणने सोचा, इसका निर्णय भी उन्हींसे कराना चाहिये। उसने अपने मित्रसे यह प्रस्ताव किया। राजपूतने कहा 'भाई! निर्णय तो कुछ कराना है नहीं, प्रत्यक्ष ही प्रमाण है परन्तु तुम कहते हो तो चलो उन्हींके पास।' राजाकी श्रद्धा होनेकी वजहसे इस धनी राजपूत-पुत्रके मनमें भी उस महात्मापर कुछ श्रद्धा थी। दोनों वहां पहुंचे, हाथ जोड़ प्रणाम किया और अपनी सारी कहानी उन्हें सुना दी!

(शेष पृष्ठ ५१५ पर है) (शेष फिर)

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

[मणि ३]

(गताङ्कसे आगे)

नचिकेताके धीरता, वीरता, उदारता तथा विवेक-वैराग्ययुक्त वचन सुनकर यमराज प्रसन्न होते हुए बोले 'हे नचिकेता! तेरे तीव्र वैराग्यसे मैं अत्यन्त ही प्रसन्न हूं! तू ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेका पूर्ण अधिकारी है-मुझसे ाधिक वैराग्यसम्पन्न है! सत्पात्र शिष्यको विद्याका उपदेश देनेसे गुरुका परिश्रम सफल ाता है और उत्तम शिष्य गुरुकी कीर्ति बढ़ाने-ाला होता है। तुझ अधिकारीके पास जानेसे ह्मविद्या भी प्रसन्न होगी! अब जो कुछ मैं ुझसे कहूं, सो श्रद्धासे सुन!

N.B

श्रेय और प्रेय

यमराज बोले-'हे नचिकेता! श्रेय और प्रेय ो प्रकारके फल हैं। श्रेय निःश्रेयस्वरूप मोक्षका ेतु है, इसीको विद्या भी कहते हैं। प्रेय अभ्युदय-रूप स्वर्गका साधन है, इसको कर्म कहते हैं। ोक्षरूप नित्य सुख सबसे उत्कृष्ट—उत्तम होनेसे ्रेय कहलाता है, बुद्धिमान् पुरुषोंको यही प्रीति-कारक है। विषयजन्य सुख सांसारिक और अनित्य है, मूढ़ पुरुषोंको यह प्रिय है श्रुति भगवती इसको प्रेय कहती है। स्वरूप, साधन, [illegible] भेदोंसे श्रेय और प्रेय भिन्न हैं। मोक्षरूप श्रेयका स्वरूप नित्यसिद्ध फल आनन्दरूप आत्मा है, मैं ब्रह्मरूप हूं, इसप्रकारका अभेद ज्ञान श्रेयका साधन है, उपनिषद्रूप वेदान्त श्रेयका प्रमाण है और विवेक, वैराग्य, शम दमादि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता इस साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न पुरुष श्रेय-का अधिकारी है। विषयजन्य अनित्य सुख प्रेयका स्वरूप है, यज्ञादि कर्म प्रेयके साधन हैं, वेदका कर्मकाण्ड भाग प्रेयका प्रमाण है और सकाम पुरुष प्रेयका अधिकारी है। ॐ [illegible]

हे नचिकेता! श्रेय और प्रेय इन दो प्रकारके फलोंमें जो अधिकारी पुरुष श्रेय फलको सम्पादन करता है, वह अपने प्रयोजनसे भ्रष्ट न होकर कृतकृत्य होजाता है और जो मूढ़ पुरुष प्रेयरूप फलको सम्पादन करता है वह इस संसारकी घटमालाके जन्म-मरणरूप चक्रमें पड़कर दुःख भोगता रहता है। जैसे सुखकी अभिलाषा कर मछली कांटेमें लगे हुए चूनको खाने जाकर मृत्युको प्राप्त होती है वैसे ही सुखकी अभिलाषासे इसलोक और परलोकके भोग भोगकर जो पुरुष अपना प्रेय करना चाहता है, वह जन्म-मरणके चक्रमें पड़कर दुखी होता है। बुद्धिमान् निष्काम पुरुष संसारमें रहते हुए भी श्रेय सम्पादन करनेका ही निश्चय करता है और मूढ़ सकाम पुरुष संसारमें आकर अधिक भोगोंकी

इच्छासे कर्मोंमें प्रवृत्त होकर जन्म-मरणकी घटमालामें जुड़ जाता है। वेद पुराणादि शास्त्रोंके अध्ययन करनेसे जब उनके अर्थका यथार्थ ज्ञान होता है, तब वह श्रेय और प्रेयका स्वरूप समझता है और उन दोनोंमेंसे किसी एकको अपनी बुद्धिके अनुसार सम्पादन करनेका निश्चय करता है जो अत्यन्त तीक्ष्णबुद्धि होते हैं, उनकी श्रेयमें प्रीति होती है और विषयासक्त सामान्य बुद्धि-वालोंको प्रेयकी इच्छा होती है।

हे नचिकेता! सकाम पुरुषोंको स्त्री पुत्रादि प्राप्त करने और उनका रक्षण करनेकी इच्छा होती है परन्तु वे मूढ़ पुरुष ऐसा विचार नहीं करते कि उनकी प्राप्ति और उनका रक्षण दैवाधीन है। हे नचिकेता! तुझ जैसा वैराग्यवान् और बुद्धिशाली पुरुष ही स्त्री-पुत्रादिकी प्राप्ति और उनके रक्षणको दैवाधीन मानता है इसलिये उनकी प्राप्ति या अप्राप्तिमें वह दुखी नहीं होता और निष्काम कर्म करता हुआ प्रेय और श्रेयका इसप्रकार विचार करता है। प्रेयकी इच्छावाला पुरुष हमेशा यही चाहा करता है कि केवल जगत्‌की सुख देनेवाली वस्तुएं ही मुझे प्राप्त होती रहें, दुःखकारक कोई भी वस्तु न प्राप्त हो, परन्तु ऐसा होता नहीं! इसलिये इसमें कोई कारण होना चाहिये, दुःखके लिये कोई प्राणी उद्यम नहीं करता, फिर भी दुःख होता ही है। अतएव उसमें दुःख उत्पन्न करनेवाला कोई दोष होना चाहिये।

शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार कर्म करनेसे स्वर्ग आदि फलकी प्राप्ति होती है। यदि कोई विगुणता हो जाय तो फलकी प्राप्ति नहीं होती प्रत्युत उल्टा दुःख प्राप्त होता है। इससे सिद्ध होता है कि फलकी अप्राप्ति और अन्यथा प्राप्तिमें विगुणता ही कारण है। शास्त्रमें यज्ञादि करनेकी जो विधि बतायी है, उससे न्यूनाधिक हो जानेको विगुणता कहते हैं। काम्य कर्मोंका फल अन्तमें दुःखरूप ही होता है, निष्काम कर्म करनेसे कभी दुःख नहीं होता। इसलिये संसारमें रहते हुए और कर्म करते हुए भी उनमें फलकी कामना नहीं करना, यह श्रेयका मार्ग है। ऐसा न करनेवालोंको परिणाममें दुःख ही उत्पन्न होता है। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जो अपने अपने वर्णाश्रम धर्मके अनुसार यथान्याय धन सम्पादन करके उससे स्त्री, पुत्र, भोग, वैभव आदि प्राप्त करते हैं, लोकार्थ पुण्य-दान करते हैं, यज्ञ-यागादि वेदविहित कर्मोंका आचरण करते हैं और दीनजनोंपर उपकार करते हैं, वे पुण्यशाली सकाम पुरुष स्वर्गादिकी प्राप्ति रूप सुख भोगते हैं और जो अनर्थसे धन कमाकर उससे इस लोकका सुख भोगनेके लिये अधर्ममें प्रवृत्त होते हैं, उनको नरककी प्राप्ति होती है। पुण्यशालीका पुण्य-कर्म और पापी-[illegible] पाप-कर्म पूरा होनेपर उन दोनोंको [illegible] होनेसे पुनः जन्म धारण कर संसारकी घट[illegible] घूमना पड़ता है, इसप्रकार कर्मानुसार [illegible] अथवा अशुभ कर्म करनेसे स्वर्ग नरककी [illegible] होती रहती है। संसारचक्रसे उनका छुटका[illegible] नहीं होता। वास्तवमें सकाम पुरुष जिन पदार्थ[illegible] को अपने सुखका साधन मानता है, वे स[illegible] अनात्म पदार्थ दुःखरूप वृक्षके बीजके समान [illegible] इसलिये वे त्यागने योग्य ही हैं!

सकाम पुरुष कर्मोंके द्वारा धनादि प्रा[illegible] करता है और धनादिसे जिन स्त्री पुत्रादि सु[illegible] भोगता है वे सब उसे वास्तविक सुख न[illegible] दे सकते, वे तो निरन्तर दुःख ही देते रहते हैं [illegible] जैसे प्रिय वस्तुकी अप्राप्तिसे दुःख होता है वैस[illegible] ही अप्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे दुःख होता है। जिस [illegible] शरीरको जीव अपना मानता है, उसके लिये भी उसको रातदिन चिन्ता करनी पड़ती है इसलिये दुःख ही होता है, 'यह शरीर कब छूटेगा और मेरा क्या होगा?' इसप्रकारकी चिन्तामें सकाम पुरुष रातदिन जला करता है। स्वर्गकी प्राप्ति होनेपर भी अब आगे क्या होगा ?' [illegible]

इस लोक और परलोक दोनोंमें ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ये तीन प्रकारके दुःख जीवोंके पीछे हमेशा ही लगे रहते हैं । इस संसारमें जीवोंको किसी जगह, किसी काल या किसी अवस्थामें लेशमात्र भी वास्तविक सुख नहीं मिलता ! जीव सदा दुखी ही रहते हैं। परन्तु जैसे छोटे बालकको अपथ्य भोजन प्यारा लगता है वैसे ही सकाम पुरुषको संसारके भोग सुखरूप दिखायी देते हैं, इसीसे वह प्रेय फलके लिये अनेक प्रकारके कष्ट उठाता है परन्तु उनमें उसको सुख नहीं मिलता और वस्तुतः मिलना भी न चाहिये क्योंकि अनित्य और केवल दुःखसे भरे हुए इस संसारमें सब अनात्म ही है, जो अनात्म है सो नाशवान है और नाशवान् वस्तु दुःखरूप ही होती है । हे नचिकेता ! इसप्रकार ...रकर विद्वान् और बुद्धिशाली पुरुष प्रेयके ... यत्न नहीं करता किन्तु यथाप्राप्त प्रेयमें ...कामताका अनुभवकर सदा श्रेयकी ही ...छा करता है ।

इस विचारसे बुद्धिमान् पुरुष यही निश्चय करता है कि सब दुःखोंसे रहित सुखरूप मोक्ष ही श्रेय है, उसके सिवा अन्य कुछ भी सुखकारक नहीं है, मुझे उसीका सम्पादन करना चाहिये । श्रेयकी प्राप्ति ब्रह्मवेत्ता पुरुषके उपदेश बिना नहीं होती इसलिये वेदका तात्पर्य जाननेवाले ब्रह्मवेत्ता गुरुके पास जाकर अधिकारी पुरुषको श्रेयका स्वरूप ...ना चाहिये । हे नचिकेता ! जगत्में इस तरहका तुझ जैसा निष्काम पुरुष कोई बिरला ही होता है । मैंने तुझे स्त्री, पुत्रादि प्रेय वस्तुएँ देनी चाहीं परन्तु तूने बन्धन करनेवाली समझकर उनका ग्रहण नहीं किया और केवल श्रेयको जाननेकी ही इच्छा की, इसलिये मैं तुझसे बहुत ही प्रसन्न हूं ।

स्त्री पुत्रादि सोनेकी बेड़ीके समान हैं, ऊपरसे ...रूप मालूम होते हैं । उनमें प्रीति करनेवाला ...

बेड़ी दुःखरूप है, उसमें बँधकर विद्वान् और बुद्धिशाली पुरुष भी प्रेयके चिन्तनमें अनेक जन्मों-तक लगे रहते हैं, उससे छूट नहीं सकते । जब शास्त्रवेत्ता और बुद्धिमान् पुरुष भी प्रेय पदार्थोंकी आसक्तिरूप बेड़ीमें बँधकर संसाररूप समुद्रके बाहर नहीं निकल सकते तब शास्त्रविचाररहित बहिर्मुख अज्ञानी पुरुषोंकी तो बात ही क्या है ? वे तो बिचारे संसारसागरमें ही डुबकियां मारते रहेंगे । मतलब यह है कि श्रेय मार्गपर चलना बड़ी टेढ़ी खीर है ।'

हे डोरूशङ्कर ! इसी बातको, यमराज फिर तीन मन्त्रोंसे समझाते हैं:—

'हे नचिकेता ! इस लोकमें एक यज्ञादि कर्म-रूप और दूसरा आत्मज्ञानरूप ये दो मार्ग हैं । कर्मरूप मार्ग जन्म-मरणरूप चक्रमें घुमानेवाला है और आत्मज्ञानरूप मार्ग परम मोक्षका देने-वाला है । कर्म मार्गके दो भेद हैं, एक शास्त्रविहित यज्ञादि शुभ कर्म और दूसरा शास्त्रनिषिद्ध हिंसादि अशुभ कर्म । शुभ कर्मरूप प्रथम मार्गका अनुसरण करनेवाला अज्ञानी और सकाम पुरुष समझा जाता है । जिन फलोंकी वह इच्छा करता है, वे सब अविद्यारूप संसारजन्य हैं । सकाम कर्म करने-वाला पुरुष जन्मादिके बन्धनसे नहीं छूट सकता। ऐसा कर्मठ पुरुष अपनेको ज्ञानी मानता है परन्तु वह स्वयं सकाम कर्म करता है और दूसरोंको भी उन्हींमें प्रवृत्त कराता है । जैसे अन्धा और उसके पीछे जानेवाला दूसरा अन्धा दोनों कुएंमें गिरते हैं इसीप्रकार कर्मठ और उसके अनुयायी सब जन्म-मरणरूपी गहरे कूपमें पड़ते हैं ।

सकाम अज्ञानियोंमें एक पुण्यरूप अदृष्ट-द्वारा सुखकी इच्छा करनेवाले और दूसरे दृष्ट उपायद्वारा सुख चाहनेवाले, ये दो पक्ष हैं । पहिले पक्षवाले वेदको प्रमाण मानते हैं और दूसरे नहीं मानते, वे केवल प्रत्यक्ष प्रमाण और प्रत्यक्ष वस्तुको ही मानते हैं । वेदोक्त कर्म

करनेवाले कर्मकाण्डी सकाम पुरुष अपने शिष्यों और पुत्रोंको सकाम कर्म करनेका ही उपदेश देते हैं। कर्मके सिवा उन्हें किसी प्रकारका तर्क या विचार नहीं करने देते। इसप्रकार कर्मठोंकी अन्धपरम्परावाले केवल सांसारिक फलदायक कर्म किया करते हैं और उनके परिणाममें कभी स्वर्ग, कभी नरक भोगते हैं, यों जन्म-मरणकी घटमालामें ऊपर नीचे फिरते रहते हैं। जो मूढ़बुद्धि मनुष्य इस अन्धपरम्पराका उपदेश देनेवाले कर्मठोंके अनुसार चलते हैं, वे संसारसे मुक्त नहीं होते। वे लोग अपने सामने किसी प्रकारका अन्य प्रश्न ही नहीं करने देते इसलिये उनकी गति कुण्ठित हो जाती है।

दूसरे प्रकारके अशुभ कर्म करनेवाले तो इनसे भी अधिक निकृष्ट हैं क्योंकि वे स्वर्गादि फलको भी नहीं मानते। केवल इस संसारमें प्रत्यक्ष स्त्री, पुत्रादिको ही सुखरूप मानते हैं और उस सुखके लिये अनेक पापकर्म करते रहते हैं। वे अधर्मीपुरुष अन्तमें रौरव नरकमें जाते हैं ऐसे लोगोंको सत्यका मार्ग कभी नहीं सूझता, इन शुभाशुभ कर्म करनेवालोंको शान्ति नहीं मिलती और उन्हें अपने हृदयमें रहनेवाला परमात्मा भी नहीं भासता, उनकी जन्म-मरणरूप घटमाला चला ही करती है। हे नचिकेता! पूर्व जन्ममें जिसका कोई अपूर्व संचित कर्म होता है, उसको ही ऐसा विचार होता है कि यह संसार दुःखरूप है। इस विचारसे उस पुरुषको संसारसे मुक्त होनेके लिये आत्मज्ञानरूप भावना होती है।

हे नचिकेता! जो लोग ऐसा मानते हैं कि देहसे भिन्न कोई आत्मा नहीं है, वे कुतर्की तो सर्वदा यही विवाद किया करते हैं कि मरनेके बाद जब स्थूल देह जलाकर उसकी राख कर दी जाती है तब उसमें रहा हुआ आत्मा फिर किसके आधारसे परलोक जाता है, अतः न तो कोई परलोक है और न कहीं जीव जाता है! जैसे धौंकनीकी हवा निकलकर बाहरकी हवामें मिल जाती है वैसे-ही प्राणवायु भी देहसे निकलकर बाहरके वायुमें मिल जाता है। देहके किये हुए कर्म तो देहके साथ ही नष्ट हो जाते हैं। एक पुरुषका किया हुआ कर्म दूसरा नहीं भोग सकता इसलिये इस देहसे किये हुए कर्मोंका फल परलोकमें गया हुआ आत्मा ही भोगेगा, यदि उसे दूसरा देह न प्राप्त हो तो इस देहसे किये हुए कर्मोंका फल भोगे ही नहीं। देहमें रहे हुए आत्माको कर्मोंका कर्ता कहा जाय तो वह नित्य नहीं कहा जा सकता, यदि क्रिया करनेवाला होनेपर भी नित्य माना जाय तो फिर देह और आत्मामें भेद ही क्या रहा? यदि आत्मा क्रियावाला माना जाय तो उसे स्पर्श गुणवाला भी मानना चाहिये, यदि स्पर्श गुणवाला होगा तो वह देह जैसा ही होगा इसलिये वास्तवमें देहसे भिन्न न तो आत्मा है न परलोक है। परदेश गया हुआ मनुष्य जै[...]
समय बाद लौट आता है वैसे ही यदि [...]
परलोकमें जाता हो तो कुछ समय बाद उ[...]
लोकमें लौट आना चाहिये और अपने सम्बन्धि[...]
से मिलना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता इस[...]
लिये इस लोकसे भिन्न कोई परलोक नहीं है[...]
वेदमें जो बातें परलोक और आत्माके सम्बन्ध[...]
कही हैं वे किन्हीं पेट भरनेवालोंने अपने स्वार्थ[...]
लिये कही हैं। इस लोकमें ब्राह्मणोंको दिये [...]
अन्नजलसे परलोकमें पितरोंकी तृप्ति होती [...]
ऐसा कहनेवाले स्वार्थियोंसे पूछना चाहिये [...]
परलोकमें तो क्या, तुम्हारे घरमें भूखों तरस[...]
हुए माता पिताको एक कोनेमें बैठाकर [...]
घरमें बैठे हुए ब्राह्मणको तृप्त करनेसे क्या तुम्हा[...]
वे माता पिता तृप्त हो जायंगे। जब घरमें [...]
ऐसा नहीं हो सकता तब श्राद्धमें दिये हुए पिण्ड[...]
अन्न, जल, वस्त्र और दान परलोकमें पितरोंक[...]
किसप्रकार मिलेंगे और उनकी तृप्ति कैसे होगी[...]
वेदमें जो ऐसी बातें हैं वे स्वार्थी ब्राह्मणोंक[...]
घुसेड़ी हुई हैं!

हे नचिकेता! वे[...] न माननेवाले सका[...]
[...]

और इस लोकके स्त्री पुत्रादि भोगोंकोही सुखका साधन मानते हैं। ऐसा विचार करनेवाले वे वेद-बहिर्मुख पुरुष बारम्बार मेरे किङ्करोंके हाथोंमें पड़कर महान् दुःख भोगते हैं। नरक-भोगके बाद उनको अनेक नीच योनियोंमें जन्म धारण करना पड़ता है और कभी कभी वृक्षादि-रूप जड़ होकर असहायकी तरह धूप वर्षामें खड़े रहना पड़ता है। ब्राह्मण और वेदकी निन्दा करनेवाले नास्तिक कुतर्कवादियोंको पछाड़कर जब मैं यमराज उन्हें पापका फल भुगवाता हूं तब 'वे दीनकी तरह दुखी होकर रोते चिल्लाते हैं' परन्तु उनके उस चिल्लाने करनेपर भी उनको होश नहीं आता और जैसे किसी वृक्षपर चढ़ा हुआ बन्दर रक्षकका तीर लगनेसे घायल होनेपर भी फलोंके लोभसे बारम्बार वृक्षकी एक शाखासे दूसरी शाखापर उछलता रहता है इसीप्रकार वे पापात्मा नास्तिक पुरुष बारम्बार मेरे दूतोंके हाथसे पिटते हुए भी संसारमें पड़कर नास्तिकवाद ही किया करते हैं।

हे नचिकेता! 'प्रत्यक्ष दीखनेवाली वस्तु ही यथार्थ है' ऐसा कुतर्क करना उचित नहीं क्योंकि सामान्य व्यवहारमें भी ऐसे बहुतसे अवसर आ जाते हैं जहां प्रत्यक्ष नहीं होनेपर भी फल देखनेमें आता है। प्रत्यक्ष प्रमाण ठीक ही हो, यह नियम नहीं है। आकाशका कोई रङ्ग नहीं है, फिर भी नीलता सबको दिखायी देती है। देश-कालसे भी प्रत्यक्ष प्रमाण बदल जाता है। दीपकका उजियाला दिनमें नहीं होता, रातमें होता है। मन्त्र किसीने देखा नहीं है, फिर भी उससे अग्निकी शक्ति रुक जाती है, सर्प कील दिये जाते हैं, दूरदेशसे बुला लिये जाते हैं। नवग्रह, तुला आदि दान करनेसे रोगी अच्छे होते हुए देखनेमें आते हैं, इच्छाशक्तिसे भी रोगकी निवृत्ति हो जाती है इसीप्रकारसे श्राद्धादिसे प्रेतका प्रेतत्व निवृत्त होना भी मानना चा[illegible] आस्तिकोंके वचनोंसे आस्तिक पुरुषको शास्त्रमें अविश्वास नहीं करना चाहिये और कुतर्क छोड़कर वेदके वचनपर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिये, तथा अपने कल्याणके लिये वेदविहित कर्म करना चाहिये। हे नचिकेता! यद्यपि वेद-बहिर्मुख पुरुष अनेक प्रकारकी युक्तियां लगाते हैं फिर भी उनका कथन सत्य सिद्ध नहीं होता और वेद भगवान्के ऊपर पूर्ण श्रद्धा रखनेवाला आस्तिक पुरुष उनकी युक्तियोंपर विश्वास नहीं करता। नास्तिक-वृत्तिसे कुतर्क करनेसे आत्माका सत्य-स्वरूप समझमें नहीं आता। जो श्रद्धालु और पूर्ण अधिकारी होते हैं, उनको ही ब्रह्मवेत्ता गुरुके वचनोंसे आत्मज्ञानका बोध होता है, अविद्याके सम्बन्धसे स्वयं ज्योतिरूप आत्मा जीवभावको प्राप्त होकर कर्ता भोक्ता बन गया है। जब उसको ब्रह्मविद्यासे बोध कराया जाता है तब वह अपने स्वरूपको जानकर ऐसा समझता है कि अपने सिवा सब मायारूप ही है, और अपनेमें ही परमानन्द है।'

हे डोरूशङ्कर! इसप्रकार संसारी पुरुषोंको दशा दिखलाकर अब सातवें मन्त्रसे यमराज आत्मज्ञान-श्रवणकी दुर्लभता बतलाते हैं।

आत्मज्ञान-श्रवणकी दुर्लभता

यमराज बोलेः—'हे नचिकेता! अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पांच प्रकारके क्लेशोंसे मोहित हुए पापात्मा पुरुषको तो आत्मदेवके श्रवणका भी लाभ नहीं होता। वेदमें ऐसा कहा है कि सुषुप्ति और मरण अवस्थामें प्रत्येक जीवका अपने हृदयदेशमें रहनेवाले सत्य परमात्माके साथ अभेद हो जाता है। इस वेदवाक्यको सुनकर भी किसी प्रकारके प्रतिबन्ध (अटकाव)के कारण कितने ही पुरुषोंको आत्माका निश्चय नहीं होता। जैसे महात्मा पुरुषोंके महान् कार्योंके गौरवको बालक नहीं जान सकता, वैसे ही आत्मस्वरूपका

ज्ञान मूढ़पुरुषको नहीं हो सकता, इसलिये आत्मज्ञान दुर्लभ है। आत्मा मन तथा वाणीका विषय नहीं है, फिर भी जो बुद्धिशाली गुरु आत्मस्वरूपको वर्णन करना जानता है और जो सूक्ष्मबुद्धिवाला मुमुक्षु उसको समझ सकता है, उन दोनोंको धन्यवाद है। आत्माका प्रतिपादन, श्रवण और ज्ञान ये तीनों बहुत ही आश्चर्यकारक हैं। गुरुके उपदेश किये हुए महावाक्यसे उत्पन्न जो निर्विकल्पक ज्ञान है, उस अत्यन्त सूक्ष्मज्ञानसे ही आत्मदेव जाना जाता है इसलिये वेदमें आत्मज्ञानवाले पुरुषको कुशल कहा है। आत्माके अपरोक्ष ज्ञानवाला कुशल गुरु जब अधिकारी पुरुषको उपदेश करता है तब उस आत्माका वास्तविक स्वरूप उसके समझमें आता है। परोक्ष ज्ञानवाले गुरुके उपदेशसे अधिकारी पुरुषको अपरोक्ष ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। गुरुके उपदेशसे जिसको आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ ऐसा अज्ञानी पुरुष यदि किसी शिष्यको बहुत कालतक भी आत्मोपदेश करता रहे तो भी उसको ज्ञान नहीं हो सकता। अनेक प्रकारके तर्कोंद्वारा चिन्तन करनेसे भी मनुष्यको आत्मज्ञान नहीं होता किन्तु यथार्थ आत्मज्ञानी गुरुके उपदेशसे ही आत्मज्ञान उत्पन्न होता है। यथार्थ आत्मज्ञानी ब्रह्मवेत्ता और कुशलको ही गुरु करना चाहिये। कुशल गुरुके बोध करानेसे ही शिष्यको सर्वात्मभावकी प्राप्ति होती है, दूसरे किसीसे नहीं होती। सब लक्षण-युक्त ब्रह्मवेत्ता गुरु इस जगत्में कोई विरला ही होता है!

हे नचिकेता! जीवात्मा सूक्ष्मतर पदार्थोंसे भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे दुर्विज्ञेय है। इसलिये केवल तर्कसे वह जाननेमें नहीं आता। गुरुमुखसे श्रवण करनेपर मनन और निदिध्यासनद्वारा उसका साक्षात्कार होता है। श्रवणके बाद शिष्यको चाहिये कि कुतर्कोंको काटनेके लिये स्वयं भी अनेक प्रकारकी युक्तियोंसे आत्मस्वरूपको समझनेका यत्न करता रहे। 'तत्' पदार्थरूप ब्रह्मके साथ 'त्वं' पदार्थरूप जीवकी एकता करनी चाहिये, श्रुति और गुरुके वचनोंपर श्रद्धा रखकर मनन करना चाहिये। ऐसा करनेसे आत्माकार बुद्धि उत्पन्न होती है। नास्तिकोंके कुतर्कोंका खण्डन और श्रुति तथा गुरुके वचनोंका मण्डन करते रहनेसे ब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञान उत्पन्न होता है।

नास्तिक कैसी कैसी कुतर्कें करते हैं, यह पीछे कह आये हैं। वे लोग इस स्थूल प्रपञ्चको ही सर्वस्व मानते हैं और लुब्ध होकर उसीमें रचेपचे रहते हैं। जिनको श्रुति वचनपर विश्वास नहीं है, उनकी कदापि आत्माकार बुद्धि नहीं होती क्योंकि श्रद्धा और विश्वास बिना ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। जब निश्चयात्मिका बुद्धि किसी विचारका मनन करती है तब ही ब्रह्मभावकी प्राप्ति होती है। संशययुक्त बुद्धिसे तो सदा कुतर्कें ही उठा करती हैं!

हे नचिकेता! तुझ जैसे किसी पूर्वसंचित पुण्य पुरुषको ही आत्माकार बुद्धि प्राप्त होती है, दूसरोंको नहीं होती। मैंने तुझे अनेक प्रकारके लोभ दिये परन्तु तू चलायमान नहीं हुआ। तूने मुझसे आत्मज्ञान सुनानेकी ही प्रार्थना की इसलिये तुझ जैसा पुरुष धन्य है! जो शिष्य गुरुके लोभ देनेपर भी अपने निश्चयसे न डिगे, वही शिष्य उत्तम है। तू मेरा शिष्य अचल धैर्यवाला है। तुझ जैसा धैर्य मुझमें भी है या नहीं, इस बातका मुझे संशय है। हृदय देशमें स्थित आत्मानन्दको जानकर भी स्त्री पुत्रादि पदार्थोंमें तेरे समान तीव्र त्याग-वृत्ति मुझमें नहीं है। यज्ञादि अनित्य-कर्म हैं, ऐसा जाननेपर भी मैं अग्निचयन और पशु इष्टकादि यज्ञ करता हूं और ऐसा करनेसे ही मैं लोकपालकी पदवीको प्राप्त हुआ हूं। लोकपाल होनेसे मुझे बिना यत्न ही सब प्रकारके भोग-पदार्थ सुलभ हैं। मुझे पूर्व जन्ममें किये हुए कर्मोंसे ये सब भोग प्राप्त हुए हैं किन्तु तुझे तो ये सब भोग यत्न किये बिना स्वाभाविक ही प्राप्त हैं। जिस आत्माके साक्षात्कार करनेके लिये तूने इन सब विषयोंका त्याग किया है, उस आनन्द-स्वरूप आत्माका साक्षात्कार और अनुभव करता हुआ भी मैं तेरे [illegible] ाग

नहीं कर सकता, इसलिये तेरा त्याग मुझसे बढ़कर है इस तेरे त्यागको धन्य है।

हे नचिकेता! भूमिलोकसे ब्रह्मलोकतक जितना विषयजन्य आनन्द है, वह सब एक आत्मानन्दके अन्तर्भूत है। आत्मा सब जगत्का आधार और आनन्दमात्रका आदिस्वरूप है। आनन्दस्वरूप आत्मासे यह चराचर जगत् आकाशके समान ओतप्रोत–सर्वत्र भरा हुआ है, इन्द्रादि देवताओंसे स्तुति करनेयोग्य एक आत्मदेव ही है, जगत्की उत्पत्तिका आदि कारणरूप भी आत्मदेव ही है और अन्तमें सब जगत् जिसमें लयभावको प्राप्त होता है, वह भी आत्मदेव ही है। अनेक प्रकारके सङ्कल्पोंका प्रवर्तक भी आत्मदेव ही है। देश, काल और वस्तु परिच्छेदसे रहित अनन्तरूप भी आत्मदेव ही है और प्राणीमात्रको अभय देनेवाला भी यही आनन्दस्वरूप आत्मदेव है। जगत्के अपार आनन्दके बीजरूप परमानन्दके लिये तूने समस्त प्राकृत आनन्द और स्त्री पुत्रादिकी स्पृहा नहीं की इसलिये तुझसे श्रेष्ठ कौन है? तूने आत्मज्ञानके लिये सब विषयोंका त्याग किया है इसलिये तुझे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होनी ही चाहिये। जिसको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छा हो, उसको विषयोंका त्याग अवश्य करना चाहिये!

जिस आत्माके लिये तूने स्त्री, पुत्र-धनादिका परित्याग किया है, वह आत्मदेव बहुत ही दुर्विज्ञेय है और बुद्धि आदि सब संघातका साक्षीरूप है। नेत्रादि इन्द्रिय तथा मनका जिसने संयम नहीं किया है, वह आत्मदेवको नहीं जान सकता। जैसे काष्ठमें अग्निदेव गुप्त रहता है, ऐसे ही आत्मदेव भी सब शरीरोंमें गुप्तरूपसे रहा हुआ है। जैसे आकाश घट मठादि उपाधियोंमें रहा हुआ है वैसे ही परमात्मा भी जगत्में सर्वत्र व्याप्त है। आत्मदेव ही हृदय-देशमें रहकर बुद्धिरूप गुफामें निवास करता है, और वही भविष्य तथा वर्तमान कालमें एकरस और सत्यरूपसे प्रतीत होता है। निदिध्यासन-रूप योगके द्वारा ही आत्मदेव जाना जासकता है। हे नचिकेता! आनन्दस्वरूप आत्माके साक्षात्कारसे तुझ जैसा अधिकारी पुरुष ही हर्षशोकसे रहित होता है, अन्य नहीं!

हे नचिकेता! जो अधिकारी पुरुष 'तत्त्वमसि' महावाक्यका तात्पर्य गुरुमुखसे सुनकर उसका मनन करता है, वही अधिकारी पुरुष निदिध्यासन-द्वारा आत्मदेवका साक्षात्कार करके आनन्दको प्राप्त होता है। 'तत्' और 'त्वं' इन दो पदोंमें, सर्वत्र परिपूर्ण मायाविशिष्ट सर्वज्ञ ईश्वर 'तत्' पदका अर्थ है और अज्ञानविशिष्ट अल्पज्ञ जीवात्मा 'त्वं' पदका अर्थ है। अधिकारी पुरुष गुरुमुखसे 'तत्' 'त्वं' पदार्थका श्रवण करके 'तत्' पदार्थके माया सर्वज्ञादिरूप वाच्य भागका त्याग करके एक चेतनमात्र लक्ष्यभागका ग्रहण करता है। इसीप्रकार 'त्वं' पदार्थके अविद्या अल्पज्ञत्वादि वाच्य भागका त्याग करके एक चेतनमात्र लक्ष्य-भागका ग्रहण करता है। इसप्रकार दोनों पदोंके चैतन्यरूप लक्ष्यभागका ग्रहण करके मैं अद्वितीय ब्रह्म हूं, ऐसा मानता है। ऐसा अधिकारी पुरुष आनन्दरूप मोक्षको प्राप्त करके सर्वदा आनन्दमें ही मग्न रहता है। सब प्राणियोंको आनन्द उत्पन्न करनेवाला, यह 'तत्त्वमसि' महावाक्यका तात्पर्य परमात्मा ब्रह्मके अखण्ड और अनन्त आनन्दमें ही है। दूसरी श्रुतिमें भी कहा है—आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही सर्व प्राणियोंके आनन्दका कारण है। हृदय ब्रह्मानन्दका घर है। उसमें अधिकारी पुरुषका ही प्रवेश होता है। चित्तकी अन्तर्मुखतासे ही यह अधिकारी पुरुष इस ब्रह्मानन्दके घरमें प्रवेश कर सकता है। विषयाकार अन्तःकरण इसमें प्रतिबन्धरूप है।

हे नचिकेता! तू विषयाकार वृत्तिरूप पाशसे मुक्त हुआ है अतएव तेरे लिये ब्रह्मानन्दरूप हृदयगृहमें प्रवेश करना कुछ कठिन नहीं है। तुझे कोई भी शक्ति इस द्वारमें प्रवेश करनेसे नहीं रोक सकती, ऐसा मैं मानता हूं।' क्रमशः

(शेष पृष्ठ 523 पर है)

आत्म-समर्पण

(लेखक—स्वामी श्रीचिदात्मानन्दजी)

(गताङ्कसे आगे)

यह बतलाया जा चुका है कि कैवल्य वा परमपदकी प्राप्तिके लिये वैराग्य परमावश्यक है। यही पहली मंजिल है जहांसे होकर साधक आत्मोन्नति और भगवत्-प्रेमके शिखरपर पहुंच सकता है। इस ध्येयकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंने मुख्यतः तीन मार्ग बतलाये हैं, कर्म, भक्ति और ज्ञान। यह तीनों मार्ग अधिकारी भेदसे निर्दिष्ट किये गये हैं। तीनों ही कैवल्य प्राप्तिके लिये स्वतंत्र मार्ग हैं। कर्मका अधिकारी अर्थात् कर्मपथपर चलनेकी रुचि रखनेवाला मनुष्य कर्मयोगी कहलाता है ऐसे ही भक्तिका अधिकारी भक्तियोगी और ज्ञानका अधिकारी ज्ञानयोगी कहा जाता है। प्रत्येक मनुष्य अपने पूर्वजन्मोंके सञ्चित कर्मोंके अनुकूल स्वाभाविक प्रकृति लेकर जन्म लेता है। वर्तमान जन्ममें भी यदि वह उसी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है तो अधिकाधिक उन्नति करता जाता है पर विपरीत चेष्टा करनेसे उसे कदापि सफलता नहीं मिलती। जिसने जीवनका विशेष समय जिस कला या विद्याभ्यास करनेमें व्यतीत किया हो, उसी कला या विद्याका अधिक अभ्यास करते रहना उसके लिये सुलभ ही नहीं वरन् उस अभ्याससे वह उसमें पारंगत भी हो सकता है परन्तु यदि वह उसे छोड़ किसी दूसरी ओर परिश्रम करने लगे तो वही बात होती है कि 'दुविधामें दोनों गये माया मिली न राम।'

कोई विशेष चिन्तन वा कर्म करते रहनेसे मनको उधर ही दौड़नेकी बान पड़ जाती है। देखा जाता है कि जिस मनुष्यकी रुचि नाना-प्रकारके कर्म करनेमें अधिक होती है उसके शरीरमें फुर्ती होती है, कितना ही कठिन काम उसपर क्यों न आ पड़े, वह उसे उत्साहसे कर डालता है, कभी धैर्य नहीं खोता और न इधर उधर जाने आनेमें कभी आलस्य करता है, परन्तु उससे कोई एक जगह बैठकर भगवद्भजन वा आत्म-विचार करनेको कहे तो यह उससे नहीं बनता, इसमें उसे आलस्य आने लगता है, नींद घेर लेती है, मन ही नहीं लगता। ऐसे कर्म करनेमें उत्सुक मनुष्यके लिये कर्मयोग ही सहज है।

हमारे प्राचीन ऋषियोंने सब प्रकारके मनुष्योंके लिये एक ही लक्ष्यस्थानपर पहुंचाने-वाले भिन्न भिन्न पथ दिखला दिये हैं, सबको एक ही लाठीसे नहीं हांका। यही हिन्दू-धर्ममें विशेषता है, इसी कारण यह धर्म इतना विशाल है, समस्त भूमण्डलके मनुष्योंको इसमें स्थान मिल सकता है। कर्म-मार्गमें सकाम और निष्काम दोनोंका निर्देश है। दोनोंके अन्तर भी शास्त्रोंने दिखा दिये हैं। सकाम कर्मसे स्वर्ग प्राप्ति होती है परन्तु पुण्यक्षय होनेपर जीवको पुनः पृथ्वी-पर आकर जन्म-मरणके बन्धनमें पड़ना होता है। निष्काम कर्म आवागमनके चक्रसे छुड़ा देता है। भगवान्ने गीतामें [illegible] है—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

बुद्धिमान मनुष्य कर्मोंके फलको त्यागकर जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो अविनाशी या कैवल्यपदको प्राप्त होता है। निष्काम कर्मसे अहङ्कारका नाश होकर परमपदकी प्राप्ति होती है। कर्मयोगी भगवान्की सृष्टिके जीवोंकी सेवा करना ही अपना ध्येय समझता है, वह स्वार्थ-बुद्धिका नाश कर देता है, उसके मन सिद्धि असिद्धिकी परवा नहीं रहती, वह कर्मोंका फल भगवान्पर छोड़कर निर्द्वन्द्व हो जाता है, यन्त्रकी न्याईं यन्त्रीके वशीभूत होकर चेष्टा करनेसे उसके समस्त मानसिक विकार नष्ट हो जाते हैं, समस्त संसारको परमात्माका रूप समझ सबकी सेवा करना ही उसका एक कर्तव्य बन जाता है।

जाति, देश तथा समस्त जगत्की सेवाके लिये निष्कामभाव ही महत्वकी चीज है। वास्तविक सेवा वही कर सकता है जिसके मनमें स्वार्थभाव नहीं होता। स्वार्थपरायणतासे न किसी दूसरेका उपकार होता है न अपना, क्योंकि स्वार्थीके सारे काम विषैले वृक्षकी तरह विषैले फल ही उत्पन्न कर सकते हैं न उससे अन्य किसीका भला होता है और न अपना ही उपकार होता है; यही कारण है कि जो इसप्रकारके लोग हैं, वे जब नेता बन जाते हैं तब उनकी स्वार्थपरायणताके कारण देशका भला होना तो दूर रहा उल्टी हानि ही होती है। कोई नामके लिये, कोई धन बटोरनेके लिये तो कोई और किसी स्वार्थवश कर्मक्षेत्रमें आता है परन्तु ऐसे स्वार्थी नेताओंकी पोल खुले बिना नहीं रहती। ऐसे विरले ही महात्मा पुरुष होते हैं जो सब स्वार्थ त्यागकर तन मन धनसे केवल सेवा करना ही जानते हैं। लोग बुरा कहैं या भला, यह जिनके मन समान है ऐसे पुरुषश्रेष्ठ सब कर्मोंका फल भगवान्को सौंपकर यन्त्रवत् काम किया करते हैं, वे अहंभावका नाश कर देते हैं। ऐसे महानुभाव अपना कल्याण तो करते ही हैं पर साथ ही वे जगत्का भी उत्थान करते हैं। ऐसे सत्पुरुष जो काम दस पांच वर्षमें कर जाते हैं, दूसरे सौ वर्षमें भी वैसा नहीं कर पाते, यह है कर्मयोग। इस मार्गका अनुयायी भी भगवत्प्राप्ति या आत्मज्ञान लाभ कर लेता है। इसीमें हठयोग और राजयोग-का भी समावेश होजाता है, कहीं कहीं राजयोग-को अलग भी माना गया है।

दूसरा पथ ज्ञानमार्ग है। जो मनुष्य तीव्रबुद्धि हैं और जिनमें विचारशक्ति अधिक बढ़ी हुई है वे इस मार्गके अधिकारी कहलाते हैं। ज्ञानी इस दृश्य जगत्के तत्त्वकी खोज किये बिना सन्तुष्ट नहीं होता। इस परिवर्तनशील संसारमें ऐसी कौनसी सार वस्तु है जो सदैव एकरस रहकर सृष्टिका आधार है, उसे ढूंढ़ निकालना ज्ञानके पथिकका एकमात्र उद्देश्य है। समष्टिमें जो परम तत्त्व अन्तर्हित है वही व्यष्टिमें भी विद्यमान है, इस भावको निश्चयात्मिका बुद्धिसे स्थिरकर अपने व्यक्तित्वको समस्त जगत्से अभेद करके साधक अभयत्वको प्राप्त होजाता है, समस्त संसारको अपना ही रूप समझ प्रेम करता है ब्रह्म, जीव और प्रकृतिको अभिन्नताका अनुसन्धानकर ऐसा ज्ञानी शान्तिका अनुभव करता है परन्तु जबतक ब्रह्म या आत्मसाक्षात्कार नहीं होता तबतक पूर्ण आनन्द और शान्ति दूर रहती है। बुद्धि उस परम तत्त्वतक नहीं पहुंच सकती इसलिये बुद्धिसे भी आत्माको पृथक् करनेकी चेष्टामें रत होकर जब धीरे धीरे वह स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है तब समाधि अवस्थाका आनन्द भोगता है, उसका द्वैत-भाव मिट जाता है, यही ज्ञानकी चरम सीमा है।

परन्तु इस लेखका उद्देश्य न तो कर्मकी ही विस्तृत व्याख्या करना है और न ज्ञानकी ही। हमारा मन्तव्य अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार आत्म-समर्पणपर कुछ लिखनेका है जो भक्तिमार्गका परम अङ्ग है। इसमें न नाना प्रकारके कर्मोंकी आवश्यकता है और न ज्ञानके गहन वनमें प्रवेश कर[illegible]की जरूरत। इस सरल समधुर और सरस

ध्येयकी प्राप्तिके लिये केवल भक्तिमार्गकी आवश्यकता है, सच्चे सरल हृदयकी जरूरत है। हृदयको स्वच्छ और कोमल बनाकर प्यारेके दर्शनका आनन्द लूटना ही भक्तोंका एकमात्र उद्देश्य होता है। यह मार्ग बड़ा रसीला है, नीरस नहीं। इसीसे प्रेमी भक्त मुक्तिकी भी चाह नहीं करता। प्रियतमके नित्य समागमके सामने उसे सब कुछ तुच्छ प्रतीत होता है। प्यारेके एक क्षणका वियोग भी उससे सहा नहीं जाता। जैसे कामी सदा कामिनीकी धुनमें लगा रहता है—निरन्तर उसीकी चिन्तामें मग्न रहता है, जरासी देरके लिये भी अपनी आंखोंसे उसका ओझल होना नहीं सह सकता, इसी तरह भक्त अपने प्रियतम भगवान् श्यामसुन्दरकी दिव्य ज्योतिर्मयी छटाका वियोग सहनेमें असमर्थ होता है। कामिनीका प्रेमी वह मूर्ख तुच्छ क्षणभंगुर विष्ठा-मूत्रसे भरे शरीरके मिलनके लिये कितना विह्वल रहता है, कैसे कैसे कष्ट भोगता है, नहीं सोचता कि यह मोहजनित लाभ बालूकी भीतकी भांति क्षणभरमें ही लुप्त हो जायगा—कालकी गति सब मनोरथोंपर पानी फेर देगी। परन्तु अनन्त अखण्ड सच्चिदानन्दकी प्राप्ति तो परमानन्दको देनेवाली है—विनाशरहित अनन्त असीम है। भक्त उसी निर्मल शीतल चन्द्रमाकी ज्योतिका चकोर है। उसी सर्व तापनाशक अगाध समुद्रमें निमग्न रहकर वह परम शान्तिका अनुभव करता है। कामिनीके प्रेमीमें प्रेमका अंकुर अवश्य है परन्तु वह उल्टे मार्गमें लगा दिया गया है, अनमोल रत्न कांचके बदलेमें लुटाया जा रहा है! किसी सहृदय दयालु महात्माके सावधान करनेपर जब वह सचेत हो जाता है, तब थोड़े ही संकेतकी उसे जरूरत होती है जिससे वह मोहनिद्रासे तुरन्त जाग पड़ता है, वैराग्यके प्रादुर्भावसे भगवद्भक्त बन जाता है। जो प्रेम भ्रमसे क्षणिक दुःखमूलक पदार्थमें लगकर नानाप्रकारके क्लेशका कारण होता है वही प्रेम अविनाशी परमात्मासे जुड़कर परमानन्दका देनेवाला होजाता है। तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई आदि थोड़ेसे इशारेसे ही अपने जीवन-पथको पलटकर भगवत्-पदारविन्द-की शरण हो परम कल्याणके भागी बन गये, स्वयं भी संसार-समुद्रसे पार हुए और दूसरे अनेक जीवोंके भी पथ-प्रदर्शक बने, जिनकी प्रेमविभोर कविताके रसास्वादनसे आज इस घोर कलि-कालके मनुष्य भी अपूर्व आनन्दका अनुभव करते हुए भगवद्भक्तिको प्राप्त कर लेते हैं।

भगवान्‌की कृपा चाहिये, वही इस अपनी अनिर्वचनीय मायाके जालसे जीवका उद्धार करते हैं। उनकी कृपाका पात्र हुए बिना कोई भी इस दुस्तर मायाजलधिसे उत्तीर्ण नहीं होसकता, वही कृपासिन्धु जब दया करके जीव-पर इस मोहिनी शक्तिके भेदको खोलते हैं तभी उसे ज्ञान होता है, नहीं तो इस मायाजालमें लिपटे हुए प्राणीकी क्या शक्ति है कि वह जरासा भी कुछ जान सके? उनका कृपापात्र होनेके लिये सब सहारोंको त्यागकर उनके अनन्यशरण होना ही एकमात्र उपाय है। शरणागत जीव कभी व्यामोहमें नहीं पड़ता, वह सदा प्रभुके स्मरणमें ही संलग्न रहकर उनकी मायाके खेलों-को देख देखकर आनन्द लूटता है। बाजीगरके आश्चर्यजनक खेल तमाशे अन्य देखनेवाले लोगोंको अचम्भेमें डाल देते हैं, परन्तु बाजीगर-के लड़केके लिये उसमें कुछ भी अचरजकी बात नहीं होती क्योंकि वह अपने पिताके सब खेलों-के भेद जानता है, अतएव भगवान्‌की शरण होना ही बुद्धिमत्ता है। एकबार उनकी गोदमें बैठ जानेपर फिर संसारकी भूलभुलैयोंमें भटकना नहीं पड़ता, निर्द्वन्द्व होकर आनन्द लेनेका एकमात्र उपाय यही है।

एक आदमी अपने दो पुत्रोंको साथ लिये एक मैदानसे गुज़र रहा था। एकको तो वह अपनी गोदमें लिये था और दूसरा उसका हाथ पकड़े साथ साथ चल रहा था। उन्होंने एक पतंग उड़ते देखा। जो लड़का हाथ पकड़े था,

वह पतंगको देखकर ताली बजाने और यह चिल्लाने लगा कि 'देखो वह पतंग उड़ रहा है'। ज्यों ही उसने ताली बजानेके लिये हाथ छोड़ा त्यों ही ठोकर खाकर गिर पड़ा। परन्तु जो लड़का बापकी गोदमें था, वह आनन्दसे ताली भी बजाता रहा और गिरा भी नहीं क्योंकि पिता उसे गोदमें लिये हुए थे। इसीप्रकार आत्मज्ञान लाभ करनेके लिये जो अपने भरोसेपर रहकर अपने बुद्धिबलके सहारे परिश्रम करते हैं वह उस बालकके तुल्य हैं जो पिताका हाथ पकड़े है परन्तु जो सब भरोसा त्यागकर परमपिताकी गोदमें अनन्यशरण होकर जा बैठते हैं वे महा-भाग्यवान् निःशंक होकर परम आनन्दका भोग करते हैं। उनके गिरनेका कोई भय नहीं रहता, वे सब परिश्रमों और झंझटोंसे सदा मुक्त रहते हैं। ऐसे भक्तोंको फिर चिन्ता ही क्या? समस्त विश्वके स्वामीके गोदमें बैठकर भी प्राणी यदि चिन्ता और भयमें डूबा रहे, तो उससे अधिक मूर्ख और कौन हो सकता है? वह तो निर्भय पद है, अनन्त आनन्दका स्थान है, वहां चिन्ताका क्या काम? परमपिता जैसा उचित समझें, करें, अनन्य भक्तको किसी बातकी भी चिन्ता नहीं रहती।

भक्तिमार्गका अनुयायी उस बालक जैसी निश्चित स्थितिपर पहुंचकर जब अपना सर्वस्व श्यामसुन्दरको सौंप देता है, उस अवस्थाका नाम 'आत्मसमर्पण' कहलाता है। आत्मसमर्पण पूर्णतया तभी कहा जासकता है कि जब भक्तको अत्यन्त वैराग्य होजाय, अपनी बुद्धिका भरोसा सर्वथा जाता रहे। अनन्यभक्त अपने हितके लिये बुद्धिको भी विघ्नरूप ही समझता है, वास्तवमें बुद्धि उस परम तत्त्वतक पहुंचनेमें नितान्त अशक्य है, कुछ दूरतक तो अवश्य जाती है परन्तु उस अचिन्त्य धामतक पहुंचनेकी उसकी शक्ति नहीं! इसलिये जब भक्त इसका भी आधार छोड़ अत्यन्त निराधार हो अनन्य भगवत्परायण होता है तब वह आत्मसमर्पणका अधिकारी बनता है। जबतक बुद्धिका घमण्ड बना है तबतक वह अपनी अल्प बुद्धिपर भरोसा रख नाना शास्त्रोंपर तार्किक भावसे विवेचना करता ही रहता है, बालकी खाल निकालनेमें ही अपनी शक्तिका उपयोग करता रहता है। किसीसे तर्क, किसीसे वितर्क करनेका जिसका व्यसन है उसके लिये अनन्यपरायण भाव बहुत दूर है। प्याजके छिलकोंको उतारते उतारते अन्तमें कुछ भी पल्ले नहीं पड़ता, वृथा परिश्रम ही रहता है। यही दशा वृथा तर्क करनेवालोंकी होती है। मोहकी महिमा विलक्षण है, परन्तु बुद्धिपरायण मनुष्य परम धामका अनुभव किये बिना ही उस अचिन्त्य वस्तुकी कल्पनामात्र ही करके यह समझ लेता है कि मैंने परम पदको पा लिया, इसीलिये वह ललित मनोहर शब्दोंमें उसका वर्णन करता है। यह वही दशा है कि काशी देखे बिना केवल पुस्तक पढ़कर ही कोई काशीका वर्णन करने लगे, यह विडम्बनामात्र है। कठोपनिषद्की श्रुति कहती है कि:—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तमाहुः परमां गतिम्॥

जब पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ और मन निष्क्रिय हो जाते हैं और बुद्धि भी कुछ चेष्टा नहीं करती, शान्त हो जाती है उस अवस्थाको परम गति कहते हैं। केनोपनिषद्की श्रुति भी वर्णन करती है कि—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानतां॥

जो यह निश्चयपूर्वक जानता है कि ब्रह्म इन्द्रियोंका विषय नहीं है इन्द्रिय मन बुद्धि उस-को नहीं जान सकते, उसने ब्रह्मको जाना है, और जो यह जानता है कि ब्रह्मको मैंने जाना है उसने नहीं जाना। जानना बुद्धिकी क्रिया है और वह अल्प है इसलिये बुद्धि उस अनन्त वस्तु ब्रह्मको कैसे जान सकती है?

परमहंस रामकृष्णदेव कहा करते थे कि

भगवान्‌से आदेश पाये बिना किसीको अधिकार नहीं कि वह दूसरोंको ब्रह्मका उपदेश दे। जबतक किसीके पास सरकारी चपरास नहीं होती तब-तक उसकी बात कोई नहीं मानता। चपरास धारण किये हुए पुरुषके कहने मात्रसे ही सब लड़ाई दङ्गे शान्त हो जाते हैं। ऐसे ही परमात्मा-का साक्षात्कार हुए बिना किसीके उपदेशका प्रभाव नहीं पड़ा करता, लाख बकवाद करो, कौन सुनता है? कानको लुभानेका ही ऐसे कथनोंका व्यसनमात्र है। देशमें आज सैकड़ों धर्मोपदेशक उपदेश देते फिरते हैं। अपनी मीठी वक्तृताके बलसे एक दो घड़ीके लिये श्रोताओंको प्रसन्न कर देते हैं परन्तु वह सब उपदेश जलपर लकीरकी भांति घर पहुंचते पहुंचते लोप हो जाता है। बात यह है कि मनका मनपर असर पड़ता है, आत्माका आत्मापर। जो कथन केवल परिवर्तन-शील मनसे ही निकलता है वह दूसरोंके मनपर ही प्रभाव डाल सकता है, चञ्चल मनकी तरह वह कथन भी चञ्चल बन जाता है। आत्माके बलसे निकला हुआ वाक्य आत्मापर सीधा प्रभाव डालता है और वही प्रभाव स्थायीरूपसे अङ्कित रहता है। इस लिखनेसे यह प्रयोजन नहीं कि लोग भगवत्-चर्चा ही त्याग दें, परन्तु इस कथन-का यह अभिप्राय है कि दूसरोंको उपदेश करनेके घमण्डको त्यागकर केवल अपनी आत्माके उपकारके लिये ही भगवत्-गुणानुवाद करें, समुदायमें भगवत्-चर्चा करें, लेखोंद्वारा भगवत्-सम्बन्धी विषयोंपर अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार व्याख्या करें। किसीपर उपकार करनेके अहङ्कार-को त्यागकर यह सब अपनी आत्माके विकासके लिये ही किया जाना चाहिये। जब आत्म-साक्षात्-कारका सौभाग्य प्राप्त हो, तब वह ब्रह्मोपदेश करनेका अधिकारी होता है और उसीसे लोगोंका कल्याण हो सकता है। उस समय ब्रह्मवेत्ताकी दशा भगवान् रामकृष्ण परमहंस जैसी हो जाती है और वह कह सकता है 'कि मां! जिस तरह तू मुझसे कहलवाती है वैसा ही मैं कहता हूं, जैसे मुझसे कराती है वैसा ही करता हूं, मैं नहीं, मैं नहीं, तूही है तूही है! मैं यन्त्र हूं तू यन्त्री है!' यह है आत्मसमर्पण। इस अवस्थामें पहुंचनेपर भक्तके सब पाश टूट जाते हैं, जीवन्मुक्ति इसीका नाम है। वह निर्द्वन्द्व है, सब कर्तव्य अकर्तव्यसे परे है, सब प्रकारसे बेपरवा है, यहांतक कि अपने शरीरकी भी वह सुध नहीं रखता। जब सुध रखनेवाली मां है तो वह क्यों वृथा चिन्ता करे? उसीने पैदा किया, वही रक्षा भी करे। मनुष्य तो अहङ्कारसे ही मोहवश अज्ञानद्वारा अपना अपना करके जालमें फंसता है अहङ्कारका नाश हुआ कि वह तुरन्त मुक्त है। भगवान् कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

अनन्यचित्त होकर जो मुझे नित्य निरन्तर स्मरण करते हैं, हे अर्जुन! ऐसे नित्ययोगीके लिये मैं सुलभ हूं।

जो अनन्य भावसे मेरी उपासना करते हैं उन नित्ययुक्त भक्तोंके योगक्षेमका भार मैं अपने ऊपर लेता हूं।

तैल-धारावत् जब श्यामसुन्दरका चिन्तन अटूट बना रहे तब भगवान् निकट ही हैं। बारम्बार अभ्यासकी जरूरत है। जीवकी भूल ही तो बन्धन है, अन्तर्यामी परमात्माको भूल जाना जीवका स्वभाव पड़ गया है। संसारके माया मोहमें फंसकर जीव उसे भुला बैठा है, इतना गहरा परदा अपने ऊपर डाल दिया है कि अपने आपको ही वह भूल गया। अभ्यास वैराग्यद्वारा इस मायाके परदेको धीरे धीरे क्षीण करनेसे ही उस जगत्-व्यापी अपूर्व ज्योतिका दर्शन हो सकता है। भगवत्-स्मरणकी बान पड़नेसे उनका

मिलना कठिन नहीं और फिर अपने योगक्षेमकी चिन्ता भी चली जाती है ! अन्तमें तो भगवान् यहांतक कह गये हैं कि—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

'सब धर्मोंको छोड़ केवल मेरी ही शरणमें आजा, मैं तुझे सब पापोंसे बचा लूंगा, सोच मत कर अर्थात् सब प्रकारके कर्मोंके अभिमानको छोड़ मेरा ही निरन्तर चिन्तन करता हुआ यंत्रवत् चेष्टा किये जा ! विहित वा अविहित कर्मोंके साधनकी चिन्तामें न पड़, इन कर्मोंके न करनेके पापसे मैं तुझे मुक्त कर दूंगा। भगवान्का तात्पर्य इस साहसी उपदेश देनेसे यह था कि अर्जुनके कर्तापनका अभिमान जाता रहे । वास्तवमें भगवान् ही तो सब चराचर जगत्में नानारूपसे चेष्टा कर रहे हैं, जीव मिथ्याभिमानसे अपने आपको कर्ता मान रहा है इसीसे वह जन्म-मरणके बन्धनमें पड़ा है। सारे शास्त्रोक्त कर्मोंके करनेका अभिप्राय भी तो भगवत्-प्राप्ति है। नित्य निरन्तर स्मरण करनेवाला भगवान्को जिस तरह पा लेता है वैसे और कोई कर्मसे नहीं पा सकता। भगवान्की शरण होकर जो कठपुतलीकी तरह निरभिमान हो चेष्टा करता है वही परमज्ञानी है। यही भक्तिकी पराकाष्ठा है । योग, यज्ञ, तप और दूसरे विहित कर्मोंके करनेकी उस अनन्य भक्तको जरूरत नहीं । जिसने भगवान्को नित्य स्मरण रखनेकी बान डाल ली है, वह उनकी परम सुखद गोदमें बैठा हुआ निर्भय पद प्राप्त करके अकथनीय आनन्द भोगता है । वह सर्वत्र उन्हीं सर्वव्यापक प्रभुके मनोहर सौन्दर्यको देखता हुआ जगत्के किसी पदार्थमें राग-द्वेष नहीं रखता । चिन्ता और भय उसके पास नहीं फटकते ! काम क्रोधादि भयानक शत्रु भी उस कृपालु भक्तके मित्र बन जाते हैं और परम सहायक हो जाते हैं । अनन्यपरायण भक्तमें न जाने कैसी मोहिनी शक्ति होती है कि उसके संसर्गसे नाना प्रकारके मनोविकार भी हितकारी बन जाते हैं । प्रियतम माधवकी अनुपम छटाका सौन्दर्य छिटक जानेपर समस्त ब्रह्माण्ड मनोहर-सुन्दर बन जाता है । पहिले जो जगत् दुःखमय और डरावना प्रतीत होता था और जिसके विषय-भोगोंसे वह विरक्तिकी चाहना करता था, वह अज्ञानरूपी अन्धकारका चरित्र था। भक्ति और प्रेमरूपी प्रकाशके उमड़ आनेपर वही जगत् और इसके सब पदार्थ सुन्दर सुखद दिखायी देने लगते हैं। अनन्य भक्ति ज्ञानका प्रकाश अनायास ही कर देती है।

भस्मासुर दैत्य (मन) ने शिव (आत्मा) से वरदान पाया कि जिसके ऊपर हाथ रक्खे वही भस्म हो जाय अर्थात् ब्रह्ममय जगत्पर जब मन या अज्ञान अपना हाथ रखता है तब वह अनन्त सर्वव्यापक ब्रह्म भी, जिसके सिवा और कुछ है ही नहीं, सत्वादि गुणोंके विकारसे नानारूप हो भासने लगता है । भस्मासुरने शिवके ऊपर हाथ रखना चाहा कि पहिले वह उन्हें ही भस्म करे, शिव (आत्मा) विष्णु भगवान् (सत्त्व-गुणी श्रुति) की शरण गये तब विष्णु भगवान्ने अपने मोहिनीरूप ('सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति) से भस्मासुर दैत्य (मन या अज्ञान) को भस्म करके शिवको अभय पद दे दिया । जिसने समस्त चराचर जगत्का श्यामसुन्दरका रूप समझ लिया, उसके लिये उस प्रियतमके सिवा और कोई वस्तु रह ही नहीं गयी । भयानक हिंस्र जीव भी प्यारेका रूप ही बन जाते हैं। उन्हें वह प्रेमसे आलिङ्गन करता है और उनमें भगवान्का अद्भुत रूप देखकर मुग्ध हो जाता है ! प्रह्लादको सर्वत्र प्रभु ही प्रभु नजर आते थे फिर डर क्या था ? अग्नि भी प्रभुका रूप है, हाथीमें भी वही विराजमान हैं, जड़ पदार्थ पर्वतादि भी उन्हींकी छटा है। सब कुछ वही हैं तो फिर भय कहां ? ऐसा समदर्शी भक्त नित्य-मुक्त है, आनन्दमय है और ज्ञानका भंडार है।

(शेष पृष्ठ ५५१ पर ६)(क्रमशः)

पुराणोंके रत्न

शुकदेव मुनि कैसे हुए ?

एक समय महर्षि वेदव्यासको विवाह करके गृहस्थधर्म पालनकी इच्छा हुई, बहुत सोच विचारकर वे जाबालि मुनिके पास गये और उनकी कल्याणमयी कन्या वटिकाके लिये उनसे प्रार्थना की । जाबालिने बड़े हर्षसे व्यासजीके साथ अपनी कन्याका विवाह कर दिया । महर्षि व्यास वानप्रस्थाश्रममें मैथुनधर्मका आचरण करते हुए वनमें रहने लगे । समयपर व्यासपत्नी गर्भवती हुई, शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी तरह व्यास-भार्याका गर्भ बढ़ने लगा । गर्भ बढ़ते बढ़ते बारह वर्ष बीत गये, परन्तु प्रसव नहीं हुआ ! व्यासजी-की कुटियामें सर्वदा हरिचर्चा हुआ करती थी, अपने ज्ञानकी विशेषतासे गर्भस्थ बालक जो कुछ सुनता सो स्मरण कर रखता । इसतरह उस बालकने गर्भमें ही साङ्ग वेद, स्मृति, पुराण और सम्पूर्ण मुक्ति-शास्त्रोंका अध्ययन कर लिया । वह गर्भमें ही दिन रात स्वाध्याय किया करता । गर्भसे निकलनेके बाद बढ़ना चाहिये, इस बात-की उसे तनिक भी चिन्ता नहीं थी !

गर्भस्थ-बालकके बहुत बढ़ जाने और प्रसव न होनेसे माताको बड़ी पीड़ा होने लगी । एक दिन भगवान् व्यासदेवने आश्चर्यचकित होकर बालक-से पूछाः-'तू मेरी पत्नीके कोखमें घुसा बैठा है सो कौन है ? किसलिये बाहर नहीं निकलता ? क्या गर्भिणीकी हत्या करना चाहता है ?' गर्भने कहा, 'मैं ! राक्षस, पिशाच, देव, मनुष्य, हाथी, घोड़ा, बकरी, मुर्गा सब कुछ बन सकता हूं, क्योंकि मैं चौरासी हजार योनियोंमें भ्रमण कर आया हूं इसलिये यह कैसे बतलाऊं कि, मैं कौन हूं ? हां, इतना अवश्य कह सकता हूं कि, इस समय मैं मनुष्य होकर उदरमें आया हूं । मैं किसीतरह भी गर्भसे बाहर नहीं निकलना चाहता । इस दुःखपूर्ण संसारमें सदासे भटकता हुआ अब मैं भवबन्धनसे छूटनेके लिये गर्भमें योगाभ्यास कर रहा हूं । मैं यहींसे निश्चयरूपसे कल्याणरूप मोक्षमार्गमें जाऊंगा । हे द्विजश्रेष्ठ ! जबतक जीव गर्भमें रहता है तबतक उसे ज्ञान, वैराग्य और पूर्व जन्मोंकी स्मृति बनी रहती है । गर्भसे निकलते ही भगवान्‌की मायाके स्पर्शमात्र-से उसके समस्त ज्ञान, वैराग्य छिप जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है ! इसलिये मैं गर्भमें ही रह-कर यहींसे सीधा मोक्षकी प्राप्ति करूंगा, मैं बाहर नहीं निकलना चाहता ।' व्यासजीने कहाः-'तुझ-पर वैष्णवी मायाका असर नहीं होगा, तू इस गर्भवासरूप घोर नरकसे निकलकर योगका आश्रय करके कल्याणके मार्गमें प्रवृत्त हो । मुझे अपना मुखकमल दिखला, जिससे मैं पितृऋणसे मुक्त हो सकूं । गर्भने कहा, 'मुझपर मायाका असर नहीं होगा, इस बातके लिये यदि आप भगवान् वासुदेवकी जमानत दिला सकें तो मैं बाहर निकल सकता हूं, अन्यथा नहीं ।'

गर्भकी यह बात सुनकर व्यासदेव उसी समय द्वारका गये और वहां भगवान् चक्रपाणिको अपनी सारी कष्टकहानी सुनायी ! भक्ताधीन भगवान् जमानत देनेके लिये तुरन्त उनके साथ हो लिये और व्यासजीके आश्रममें आकर गर्भस्थ

बालकसे बोले,'हे बालक! गर्भसे बाहर निकलनेपर तेरी माया नाश करनेकी जिम्मेवारी मैं लेता हूं, तू शीघ्र निकलकर सर्वश्रेष्ठ कल्याणमार्गमें गमन कर!'

भगवान्के वचन सुनते ही बालक गर्भसे बाहर आकर माता पिताको प्रणामकर तुरन्त वनकी तरफ जाने लगा। प्रसव होनेपर बालक बारह वर्षका प्रायः जवान सा दीख पड़ता था। पुत्रको वन गमन करते देखकर व्यासजी बोले, 'पुत्र! घरमें रह, जिससे मैं तेरा जात-कर्मादि संस्कार करूं!' बालकने कहा 'मुनिवर! अनेक जन्मोंमें मेरे हजारों संस्कार हो चुके हैं, इन बन्धनकारी संस्कारोंने ही मुझे संसारसागरमें डाल रक्खा है!' बालककी यह बात सुनकर भगवानने व्यासजीसे कहा, 'मुनिवर! आपका पुत्र शुककी तरह मधुर बोल रहा है, अतएव इस योगविद्याविचक्षण पुत्रका नाम 'शुक' रखिये। यह मोह माया-रहित शुक आपके घरमें नहीं रहेगा, इसे इच्छानुसार जाने दीजिये। इसपर अब आप स्नेह न बढ़ाइये। पुत्रमुख देखते ही आप पितृऋणसे छूट गये हैं, यह मैं आपसे सत्य कहता हूं, अब मुझे आज्ञा हो' इतना कहकर भगवान तो गरुड़पर सवार होकर द्वारकाकी तरफ चल दिये। भगवान् व्यास फिर पुत्रको समझाने लगे। दोनोंमें इस प्रकार बात चीत हुई!

व्यास—गृहस्थधर्म त्यागनेवाले लोगोंके पितृवचन नष्ट होते हैं, जो पुत्र पिताके वचनोंके अनुसार नहीं चलता, वह नरकगामी होता है इसलिये हे पुत्र! तू मेरी बात मानकर घरमें रह!

शुक—आज मैं जैसे आपसे उत्पन्न हुआ हूं, इसी प्रकार दूसरे जन्ममें आप कभी मुझसे उत्पन्न हो चुके हैं। पिता पुत्रका नाता यों ही बदला करता है, कृपया मुझे आप तपोवनमें जानेसे न रोकिये!

व्यास—जहां वेदोक्त संस्कारोंको पाकर मनुष्य मोक्षकी प्राप्ति कर सकता है, ऐसे ब्राह्मणकुलमें बहुत पुण्यसे जन्म होता है!

शुक—शुभकर्म किये बिना यदि संस्कारोंसे ही मुक्ति मिलती होती तो व्रतधारी ढोंगियोंकी भी मुक्ति होनी चाहिये थी!

व्यास—संस्कार किये हुए मनुष्य ही पहले ब्रह्मचारी, फिर गृहस्थ, फिर वानप्रस्थ और उसके बाद संन्यासी होकर मुक्ति पाते हैं।

शुक—यदि केवल ब्रह्मचर्यसे ही मुक्ति होती तो नपुंसक जरूर ही मुक्त होजाते! गृहस्थमें मुक्ति होती तो फिर सारा जगत् ही मुक्त है! वनवासियोंकी मुक्ति होती तो फिर सब पशु क्यों नहीं मुक्त होजाते? और यदि धनके त्यागमें ही मुक्ति हो तो दरिद्रोंकी सबसे पहले होनी चाहिये!

व्यास—सत्यमार्गपर चलनेवाले गृहस्थीका यह लोक और परलोक दोनों सधते हैं, यह बात तो मनु महाराज ही कहते हैं।

शुक—जो लोग घरकी रक्षासे सुरक्षित और बन्धु-बान्धवोंके बन्धनसे बंधे हैं उन मोहरोगियोंका सत्यमार्गपर रहना ही असम्भव है।

व्यास—वनवासमें मनुष्यको बड़ा कष्ट होता है, वहां नित्य कर्म ही नहीं होसकते, सारे दैवपितृ-कर्म रुक जाते हैं, इसलिये घरमें रहना ही सुखकर है!

शुक—वनवासी महातपस्वी भावभावित मुनियोंको समस्त तपोंका फल आप ही मिल जाता है, उनको बुरा संग तो कभी होता ही नहीं, यही उनके लिये बड़ा सुख है।

व्यास—गृहस्थी पुरुषोंको अनेक प्रकारकी इकट्ठी की हुई सामग्री उन्हें इसलोक और परलोकमें बड़ा सुख देती है। यहां भोगसे सुख होता है और दान करनेसे परलोकमें सुख मिलता है!

शुक–अग्निसे सर्दी या चन्द्रमासे चाहे गर्मी मिल जाय पर संसारमें परिग्रहसे किसीको न तो आजतक कभी सुख हुआ, न है और न होगा!

व्यास–सुन्दर पुण्यबलसे मनुष्यशरीर मिलता है और मनुष्यशरीर पाकर गृहस्थ-धर्मको जाननेवाला पुरुष क्या नहीं प्राप्त कर सकता!

शुक–जन्मके समय मनुष्य यदि ज्ञानसम्पन्न भी होता है तो जन्म होनेके बाद अपनी अवस्था देखकर वह ज्ञान भूल जाता है!

व्यास–हे पुत्र! संसारमें राखसे लिपटा गदहेकी तरह चिल्लानेवाला पुत्र भी लोगोंको सुख देनेवाला होता है।

शुक–संसारमें जो मनुष्य अपवित्र बालकोंका धूलमें खेलना देखकर और उनकी मीठी बोली सुनकर प्रसन्न होते हैं वे मूर्ख हैं!

व्यास–यमराजके यहां एक पुत् नामक महान् नरक है। पुत्रहीन मनुष्यको उसी नरकमें जाना पड़ता है अतएव संसारमें रहकर पुत्र उत्पन्न करना चाहिये!

शुक–हे महामुने! यदि पुत्रसे ही सबको मुक्ति मिलती हो तो सूअर, कुत्ते और पतङ्गोंकी मुक्ति तो अवश्य होजानी चाहिये!

व्यास–इसलोकमें पुत्रसे पितृऋण, पौत्र देखनेसे देवऋण और प्रपौत्रके दर्शनसे मनुष्य समस्त ऋणोंसे मुक्त होता है!

शुक–गृध्रकी तो बहुत बड़ी आयु होती है वह तो न मालूम कितने पुत्र पौत्र प्रपौत्रोंका मुख देखता है परन्तु उसकी मुक्ति तो नहीं होती!

इतना कहकर शुकदेव उसीसमय वनको चले गये।

(स्कन्द–पुराण)

(शेष पृ० सं० ५५५ पर)

भक्तके प्रति--

(१)

अज्ञान–तिमिराच्छन्न–भवमें, ज्ञानके आलोक हो,
मोहाग्नि-दग्ध-अशान्तको दे, शान्ति हरते शोक हो,
मानव-हृदयमें प्रेमकी रचते विलक्षण सृष्टि हो,
अति सूक्ष्म,तत्त्वज्ञान विषयक, बुद्धि देते दृष्टि हो।

(२)

पथहीन–नाविकके लिये भव-सिन्धुकी पतवार हो,
धन हो अतुल तुम दीनके असहायके आधार हो,
परिपूर्ण हो अध्यात्मविद्या, वेद–वाणी युक्त हो,
साधन बताकर सिद्धिके करते अकिञ्चन, मुक्त हो।

(३)

पीयूष–पारावार हो श्रद्धा अलौकिक भक्तिके,
हो शान्तिकी उज्ज्वल शिखा भण्डार अनुपम शक्तिके,
आनन्दकी मन्दाकिनी उरमें बहा देते तुम्ही,
सद्भक्तिका सञ्चारकर त्रयताप हर लेते तुम्ही।

(४)

निष्काम–भगवद्भक्तिका करते निरूपण हो सदा,
कर्तव्य-कर्म-रहस्यका उपदेश देते सर्वदा,
हे भक्त! तुम कल्याण–प्रद कल्याण-कर्ता हो तथा,
है भक्ति तव भव-व्याधि-नाशक पुण्यसलिला है यथा।

—रमाशंकर मिश्र 'श्रीपति'

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यस्य स्वादुफलानि भोक्तुमभितो लालायिताः साधवः,
भ्राम्यन्ति ह्यनिशं विविक्तमतयः सन्तो महान्तो मुदा ।
भक्तिज्ञानविरागयोगफलवान् सर्वार्थसिद्धिप्रदः,
सोऽयं प्राणिसुखावहो विजयते कल्याणकल्पद्रुमः ॥

भाग ३ } कार्तिक कृष्ण ११ संवत् १९८५ { संख्या ४

विषयी मनकी दशा

तिय-तन-चुम्बकमें लौह सो लगत दौरि,
हरि-ध्यान धरिबेमें उजहत कपूरसो ।
ज्ञान-धुनि-दुन्दुभी सुनत कँपै कायर ज्यों,
नारि-नैन-सायकको विसिख सहै सूरसो ॥

कामके कथाननको पीवत पीयूष जैसे,
राम-धुनि-नाद लागै माहुर-धतूरसो ।
स्वारथमें सावधान 'प्रेमसखी' रोज, पर-
-मारथमें लागै मन पकरो मजूरसो ॥

—प्रेमसखी

(लेखक–पं० श्रीरामावतारजी शास्त्री)

(१) जब ब्रह्मविद्या नामक जागरण काल आ जाता है तथा फिर कभी स्वरूप–विस्मृतिरूपी निद्रा नहीं आती, वही मुनि लोगोंका मोक्षरूपी 'प्रातर्जागरण' कहाता है।

(२) देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि, अहङ्कार तथा चित्त नामक अशुचि पदार्थोंमें जब अज्ञानके कारण आत्मबुद्धि कर ली जाती है तभी आत्मामें अपवित्रता आ जाती है। मुनिको उचित है कि अपने आत्माको वैराग्यरूपी मिट्टीसे मांज (रगड़) कर तथा साक्षित्व भावनारूपी जलसे धोकर (मैं तो इन देह आदियोंका साक्षी प्रकाशकमात्र हूं इनसे मेरा और कुछ भी सम्बन्ध नहीं है यह साक्षित्व भावना कहाती है) प्रतिदिन बड़े प्रयत्नसे 'शौच' करता रहे, जिससे देहादि अनात्म पदार्थोंकी वासनारूपी गन्धका सम्बन्ध सर्वथा छूट जाय।

(३) वैराग्यपूर्वक ज्ञानके अभ्यासमें लगे हुए पुरुषोंकी मुमुक्षा ही उनका मुख कहाता है क्योंकि उस मुमुक्षारूपी मुखसे ही ज्ञानी मुक्तिसुखका भोग करते हैं। मुनिको उचित है कि श्रद्धारूपी जलसे अपने मुमुक्षारूपी मुखको धो डाले। यही तो मुनियोंका 'मुखप्रक्षालन' कहाता है।

(४) मुनिको उचित है कि ज्ञानसूर्यके उदय होनेसे पहले सब जगत्को प्रकाशित करनेवाले, संसारकी सम्पूर्ण बुद्धियोंके एकमात्र साक्षी आत्मदेवके उस वरेण्य तेजको, उषाकाल होते ही स्मरण करले, तदनन्तर इस विचार–प्रवाहको निरन्तर बहने दे कि 'वह वरणीय आत्मदेव मुझसे भिन्न नहीं है।'

(५) कभी जाग्रत अवस्था आती है, कभी स्वप्न होने लगते हैं तथा कभी तो सुषुप्ति ही हो जाती है परन्तु इन तीनों अवस्थाओंके बदलते रहनेपर भी, मालाके पुष्पोंमें सूत्रकी तरह, जो एक तथा केवल ज्ञान तीनों अवस्थाओंमें व्याप्त (अनुगत) हो रहा है, वही ज्ञान मैं हूं।

(६) ज्ञान तथा अज्ञान, ज्ञान और अज्ञानके विषय तथा उन विषयोंका अहङ्कार ये सब पदार्थ जिस भूमा चैतन्यसे प्रकाशित हो रहे हैं वही मैं हूं।

(७) न तो मैं इस स्थूल–शरीरका स्वामी हूं, न मैं इस लिंग–शरीरका अभिमानी हूं और न मैं इस कारण–शरीर (अज्ञान)को ही अपना आत्मा समझता हूं, ये तीनों तो असत् पदार्थ हैं क्योंकि ये तो आज हैं, कल नष्ट हो जायंगे। मैं तो सत्-स्वरूप हूं, सदा इसी अपरिवर्तनीयरूपमें बना रहता हूं। ये तीनों शरीर जिससे प्रकाशित हो रहे हैं वही मैं हूं। इन प्रकाश्य पदार्थोंमें तो मैं कोईसा भी नहीं हूं।

(८) जब मुनिकी मोहनिद्राका भङ्ग होने लगे, अज्ञानान्धकार नष्ट होनेको तैयार हो, ज्ञानसूर्य विचाररूपी उदयाचलकी चोटीपर चढ़नेकी तैयारी कर रहा हो, वृत्तिरूपी दिशाओंमें थोड़े थोड़े अलौकिक प्रकाशकी झलक दिखायी देने लगे, दिग्भ्रम (दिशाओंके होनेका भ्रम) भी जब नष्ट होने लगता हो, आत्मविषयमें सन्देहरूपी उलूक भी कहीं जा छिपे हों। बस, यह विचित्र उषाकाल ही मुनि लोगोंके स्नानका उत्तम समय होता है।

(९) निरन्तर बहनेवाली ज्ञानरूपी गङ्गाके निर्विकल्प समाधिरूपी ह्रदमें ओंकार आदि मूल मन्त्रोंका जप करते हुए नखसे शिखातक पूरी

तरह डूबकर जो मुनि स्नान करते हैं, वे सदैव निर्मल रहते हैं।

(१०) ऐसा स्नान करनेके बाद आत्मविषयक प्रेम तथा चित्त स्थिरतारूपी दो निर्मल वस्त्र पहन लेनेपर जिस वृत्तिमें चैतन्यरूपी सूर्यका उदय हो वही तो मुनिकी पूर्वदिशा कहाती है। मुनिको उचित है कि उसी पवित्र वृत्तिकी ओर अपना ध्यानरूपी मुख फिरा दे और निरन्तर आत्मचिन्तन ही करता रहे।

(११) अज्ञानको हटानेके कारण पवित्र तथा अज्ञानका बेध करनेमें समर्थ तीक्ष्ण अग्रभागवाली शास्त्रोंके गम्भीर तात्पर्यरूपी कुशाओंके पवित्र (कुशाका छल्ला जो कि देवकर्मके समय पहना जाता है) बनाकर और वेदान्तके सीधे मार्गसे वेदान्तसूत्ररूपी यज्ञोपवीत पहनकर गुह्यमन्त्रोंके पाठरूपी 'शिखा बन्धन करे।

(१२) इसके अनन्तर जिज्ञासारूपी लम्बा 'तिलक' लगाकर ब्रह्मकर्मका आरम्भ कर दे।

(१३) जिसप्रकार अगस्त्य मुनिने इतने बड़े समुद्रका आचमन कर लिया था, उसीप्रकार इन समस्त जड़ पदार्थोंको आत्मानात्म विचाररूपी हथेलीपर रखकर इनका सम्पूर्ण आचमन कर जाय, जिससे फिर केवल एक आत्मा ही शेष रह सके। यही मुनियोंका 'आचमन' कहाता है।

(१४) मनका जन्म ही जगत्का जन्म और मनका नाश ही जगत्का नाश कहाता है क्योंकि मनके उन्मेष (सङ्कल्प) तथा निमेष (सङ्कल्प-विमुखता) से ही जगत्की उत्पत्ति और प्रलय होते हैं। समाधिका अभ्यास करते हुए जब किन्हीं पूर्व-संस्कारोंकी प्रबलतासे समाधिसे व्युत्थान होने लगे तो वह अवस्था मनोलय और मनोजन्मकी सन्धि कहाती है। इस सन्धि-कालके आनेपर मुनिको सन्ध्याका अनुष्ठान करना चाहिये। अनुभवी लोगोंके उपदेशसे आत्मतत्त्वका दर्शन करनेवालोंको जब व्युत्थान हो जानेपर भी आत्मदर्शन बन्द नहीं होता, वही मुनि लोगोंकी 'सन्ध्या' कहाती है।

(१५) शरीरके अन्दरका वायु प्राण और अपान कहाता है। उसकी ऊर्ध्वगति और अधोगति नामक दो मुख्य गतियां होती हैं। ऊपरको जाता हुआ वायु प्राण कहाता है और नीचेको जाता हुआ अपान हो जाता है। लकड़ीको चीरनेके लिये आरा खींचनेवाले कारीगरोंकी तरह अपान प्राणको खींचता है, तथा प्राण अपानको खींचता है। इन दोनोंकी शृङ्खलाके समान परस्परमें एक गांठ लगी हुई है। यही कारण है कि यह (प्राणोपाधिक) जीव निश्चल नहीं होने पाता। अतएव चित्तको स्थिर करनेके लिये प्राण और अपानको रोकना आवश्यक होता है। जब प्राण चलने लगता है तो चित्त भी चञ्चल हो जाता है। उसी प्राणको निश्चल कर लेनेपर फिर वह चित्त स्वयमेव निश्चल हो जाता है, ऐसा कोई मानते हैं।

(१६) दूसरे लोगोंका मत यह है कि मनके चञ्चल होनेपर(काम क्रोध आदिके समय)प्राण भी चञ्चल हो जाता है अर्थात् तीव्रगतिसे चलने लगता है तथा मनके निश्चल हो जानेपर (जब कि मन किसी गहरे विचारमें डूबा होता है) प्राण भी उतने समयतक निश्चल हो जाता है।

(१७) कोई तो प्राणपर विजय पाकर अपने मनको निश्चल करते हैं, कोई मनको विजय करके प्राणको निश्चल कर लेते हैं, तीसरे कोई मन और प्राण दोनोंको ही स्थिर करके अपने मनको आत्मामें निश्चल कर लेते हैं। इसप्रकार तीन प्रकारके योगी पाये जाते हैं।

(१८) प्राणके द्वारा मनको वशमें करना यह हठयोगियोंका मत है, विवेकरूपी मनके सहारेसे सङ्कल्प-विकल्परूपी मनके भागको स्थिर कर लेना यह पातञ्जल योग तथा सांख्यादिका मत है। मन और प्राण दोनोंको ही आत्मामें लय करनेवाले राजयोगी ही इन दोनोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ कहाते हैं।

(१९) इड़ा पिङ्गला तथा सुषुम्ना नामक तीन मुख्य नाड़ियां इस शरीरमें होती हैं। वाम नासिका

में रहनेवाली इड़ा चन्द्रनाड़ी कहाती है, दक्षिण नासिकामें रहनेवाली पिङ्गला सूर्यनाड़ी कहाती है और इन दोनोंके बीच तथा शरीरके सन्धिभागमें बहनेवाली सुषुम्नाको मोक्षनाड़ी कहते हैं।

(२०) स्वभावसे ही सबका प्राणवायु वाम तथा दक्षिण नासिकासे बहता रहता है। जब कोई सुयोगी प्राणके इन दोनों स्वाभाविक मार्गोंका रोक देता है तो इन दोनों मार्गोंके रुक जानेपर, दो मार्गोंके रुकजानेपर तीसरे मार्गको ढूंढ़नेवाले सर्पकी तरह वह प्राणवायु तीसरे सुषुम्ना नामक मार्गमें स्वयमेव प्रवेश कर जाता है।

(२१) मूलाधारचक्रमें जीवकी एक कुण्डलिनी नामक अति श्रेष्ठ शक्ति सुषुप्त अवस्थामें पड़ी रहती है। योगमार्गके साधनसे रुका हुआ वह प्राणवायु प्रथम तो उस कुण्डलिनीको जगाता है उसके पश्चात् उसे भी साथ लेकर सुषुम्नानामक मोक्षद्वारमें प्रवेश करके सीधा ब्रह्मरन्ध्रतक पहुंच जाता है।

(२२) सुषुम्नामें बहनेवाला वह प्राणवायु ज्यों ही ब्रह्मरन्ध्रमें पहुंचता है त्यों ही वहांकी अलौकिक शीतलता पाकर वह निश्चल हो जाता है। उसके निश्चल होते ही मन भी निश्चल हो जाता है। हठयोगकी विधिसे मनको लीन करनेकी यही पद्धति है।

(२३) सांख्य आदि विज्ञानयोगी जब संकल्प विकल्परूपी मनोभागको बन्द कर देते हैं तो उस मनोनाशसे प्राण तथा अपान स्वयमेव बन्द हो जाते हैं जबतक उक्त विधिसे मनको नष्ट नहीं किया जाता तबतक निद्रा मूर्च्छा आदिमें प्राण चलता ही रहता है।

(२४) परन्तु अन्तमें दोनोंका सिद्धान्त मनोलयमें ही पर्यवसित होता है। मुनियोंको इस प्रकार प्राण और मनके सिद्धान्तको जानकर मनोलय करते हुए 'प्राणायाम' करना चाहिये। केवल प्राणायामसे कुछ कालके लिये मनके रुक जानेपर भी—विषयवासनाओंके नष्ट न होनेसे मनका नाश न हो सकेगा और केवल विवेकसे कुछ कालके लिये मनके नष्ट कर डालनेपर भी जबतक कि मनका दूसरा साथी यह प्राण जीवित रहेगा तबतक वह उस मनको बारबार जगा दिया करेगा, ऐसी अवस्थामें पूर्णरूपसे मनोनाश नहीं होगा। इसलिये प्रथम तो मनके मलको हटानेके लिये प्राणायाम करना चाहिये तदनन्तर जो विवेक उत्पन्न होगा उसीसे सर्वात्मना मनोलय हो सकेगा।

(२५) भावनारूपी गङ्गाजल लेकर सर्वपापोंकी शुद्धिके लिये कर्मोंके साक्षी चिदादित्यको पूर्णाञ्जलिसे केवल तीन 'अर्घ' दे देने चाहिये।

(२६) यह सब संसार दृश्य है, मैं कूटस्थ इस सबका प्रकाशक हूं। बस, यही ज्ञानियोंका 'पहला अर्घ' कहाता है।

(२७) ब्रह्म ही तीनों कालोंमें अबाधित सत्य पदार्थ है शेष सब संसार वैसा नहीं है किन्तु अवास्तव है यही ज्ञानियोंका 'दूसरा अर्घ' कहाता है।

(२८) यह दृश्य जगत् कुछ भी नहीं है किन्तु सर्वत्र केवल मैं आत्मचैतन्य ही व्याप्त हो रहा हूं यही ज्ञानियोंका 'तीसरा अर्घ' कहाता है।

(२९) इसप्रकारके अर्घ देनेसे चिदादित्यमें निर्मलता आजाती है तथा वह अधिकारीको अपना रूप दिखानेके लिये प्रसन्न हो जाता है।

(३०) मुनिको उचित है कि आत्मज्ञानपर्यन्त पूरे फैलनेवाले अपने सांख्य योग नामक दोनों हाथोंको क्रमसे अनात्मपदार्थोंका त्याग तथा आत्मवस्तुके ग्रहणके लिये पूरे फैलाकर जगत्के प्रकाशक चैतन्यरूपी सूर्यका निम्नलिखित विधिसे 'उपस्थान' करे।

(३१) समस्त जगत्को उत्पन्न करनेवाले, समस्त जगत्के एकमात्र चक्षु, इस जगत्की उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलयके कर्ता, सत्त्व रज, तम नामक तीनों गुणोंको अपने अन्दर धारण किये हुए ब्रह्मा विष्णु और महेशरूपमें प्रकट होते

हुए, तीनों वेदोंमें वर्णित, उस चैतन्य सूर्यको हमारा प्रणाम हो।

(३२) मुनिको उचित है कि इसप्रकार विधि-पूर्वक प्रातःसन्ध्या विधिको समाप्त करके होमका अवसर आया जान यज्ञशालामें पहुंच जाय।

(३३) जिस अवस्थाके आजानेपर मनके धर्म संकल्प तथा रागादि अति सूक्ष्म हो जाते हैं वह तनुमानसा नामक तीसरी भूमिका ही मुनिकी 'यज्ञशाला' कहाती है।

(३४) मुनिको उचित है कि उस यज्ञशालामें पहुंचकर मोक्षके साधनोंको दक्षिण भागमें रख ले तथा जन्ममरणादि गति देनेवाले वाम-भागमें रखने योग्य विषयोंको वाम भागमें रख ले अर्थात् सदा ही उनकी उपेक्षा करता रहे। इन सब साधनोंका पूर्ण विचार करते हुए मुनिको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे उसे प्रायश्चित्तका भागी न होना पड़े।

(३५) क्योंकि यह समाधिरूपी ब्रह्मकर्म बड़ा ही दुःसाध्य है अतः यदि उसमें कोई विघ्न होजाय अर्थात् यदि किसी कारणसे समाधिसे व्युत्थान हो जाय तो प्रायश्चित्त (चित्तके नाश) की विधि-को जानकर तुरन्त ही वह प्रायश्चित्त कर डालना चाहिये।

(३६) यदि क्रोधके उत्पन्न होजानेसे आत्माकी स्वाभाविक स्थितिका भंग हो तो उसे क्षमासे नाश करना चाहिये! सत्यसे अनृतका संशोधन करना चाहिये। गुरु तथा वेदान्त-वाक्योंमें अश्रद्धारूपी विघ्न उपस्थित हो तो उसे श्रद्धासे विजय करे। कृपणताको सत्पात्रोंमें दानके द्वारा परास्त कर डाले।

(३७) कर्मातिपात (समाधिकर्मके भंग) को पार करनेके लिये ये उपर्युक्त चार बड़े बलिष्ठ सेतु बनाये गये हैं। इसीप्रकार यदि और कोई दोष उत्पन्न हों तो उन्हें भी इसी रीतिसे निवारण कर दे।

(३८) अभ्यास करते करते यदि निद्राके कारण समाधिकर्मका भंग हो जाय तो थोड़ी देर इधर उधर भ्रमण करके उसका निवारण करले। यदि मनमें किसी इच्छाका उदय हो तो उस संकल्पको त्यागकर उसपर विजय प्राप्त करे। लोभको संतोषसे जीत ले। मोहको—जिससे कि आत्मदर्शनमें उपेक्षा बढ़ती है—स्वात्मस्मरण-रूपी बोध-दृष्टिसे नष्ट कर देना चाहिये।

(३९) मद (सब गुणोंमें अपनेको ही सर्वाधिक समझना) मत्सर (दूसरेकी उन्नतिको न सहना) तथा कामादिको समस्त भूतोंमें अपने आत्माकी भावना (चिन्तन) करके नष्ट कर दे अर्थात् सब भूतोंमें अपनी सच्चिदानन्द आत्माका ही चिन्तन करने लगे। आत्मदर्शन करनेमें विघ्न पहुंचाने-वाले और भी बहुतसे दोषोंको नित्यानित्य पदार्थोंके विचारसे नष्ट करता रहे।

(४०) ध्यानमें लगा हुआ चित्त विषयोंसे हट जानेपर भी यदि निद्रारूपमें लीन होने लगे तो उसे यत्नपूर्वक जगाता रहे। अधूरी नींद, पेटमें अजीर्ण, अधिक भोजन तथा श्रम (थकावट) के कारण मन लीन हुआ करता है अतः इन कारणोंको भी हटाकर मनको जाग्रत करके फिर ध्यानमें लगा दे।

(४१) पूर्व अभ्यासवश यदि फिर भी इच्छा तथा भोगोंमें मन विक्षिप्त हो जाय तो या तो विषयोंके दोष दिखाकर अथवा सब दुःखोंसे रहित सकल सुखसागर आत्माके दर्शनका अलौकिक लोभ देकर उसे शान्त कर दे।

(४२) ध्यान करते हुए चित्तमें यदि अत्यन्त सूक्ष्म-वासनाएं उत्पन्न हो जायं तो उस अवस्था-को भी ध्यानपूर्वक देखता रहे। ऐसा न हो कि समाधिके भ्रममें उस कषायावस्थामें ही समय पूरा करता रहे।

(४३) परन्तु ज्यों ही वह मन समरूप ब्रह्मको प्राप्त हो जाय तो फिर उसे वहांसे हटाना न चाहिये। वह चिरकालतक वहीं लगा रहे ऐसा

प्रयत्न बराबर करते रहना चाहिये। इसीको ब्रह्माकार वृत्तिका बढ़ाना कहते हैं।

(४४) उस पुण्यावस्थाके प्राप्त हो जानेपर उसके आनन्दको भोगनेका विचार भी मनमें न आने दे। यदि उस सुखको भोगनेका विचार मनमें उत्पन्न हो जायगा तो फिर वह सुख उस समय प्राप्त न रह सकेगा। जिस प्रकार सोते हुए पुरुष अपने निद्रासुखका वर्णन निद्रा कालमें नहीं कर सकते, किंवा नदीमें डुबकी लगाये हुए पुरुष सर्दीका वर्णन उस समय नहीं कर सकते, पर नींदसे उठकर अथवा जलसे बाहर निकलकर ही कर सकते हैं। इसी प्रकार समाधि-सुखके अनुभवका विचार समाधिके समय हो ही नहीं सकता। यदि कोई करेगा भी तो उसकी समाधिका भंग हो जायगा। इसीलिये अभ्यासीको उचित है कि अपने मनमें समाधि-सुखके निरूपण करनेके विचारको न उत्पन्न होने दे किन्तु असङ्ग, शुद्ध परिपूर्ण, चैतन्य-मात्र होकर स्थित रहे। अपनी एकाग्रबुद्धिकी सहायतासे ब्रह्ममें लीन हो जाय। इस रीतिसे ही मुक्तिरूपी सिद्धिको वह प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं।

(४५) यज्ञशालामें दबी हुई गार्हपत्याग्निको बाहर निकालकर शम दमादिके द्वारा उसे परिशुद्ध कर लेनेपर, सत्यस्वरूप आत्मा ही उस अग्निमें होम करनेवाला होता कहाता है। पतिव्रता-श्रद्धा उस आत्माकी 'पत्नी' कहाती है।

(४६) यह देह ही 'गृह' कहाता है जीवात्माको 'पति' कहते हैं, मोहरूपी भस्मसे यह जीवात्मा ढक गया है, गार्हपत्याग्निरूपी जीवको जब कोई उस मोहरूपी भस्मसे बाहर निकाल देता है तो वही उत्तम 'उद्धरण' कहाता है।

(४७) अग्निहोत्रकी विधिके अनुसार ज्ञानी लोग तो केवल दो ही आहुति डाल देते हैं। प्रथम तो वे 'ममता' का होम कर डालते हैं अर्थात् स्त्री पुत्रादिमेंसे ममता हटा लेते हैं। उसके पश्चात् 'अहन्ता' का भी होम कर देते हैं अर्थात् फिर शरीरसे भी अहंभाव (मैंपने) को दूर कर लेते हैं।

(४८) यह संपूर्ण संसार 'मैं' और 'मेरा' इन दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। यदि पूर्वोक्त प्रकारसे ये दो आहुतियां गार्हपत्याग्निमें डाल दी जायं तो हम समझते हैं कि उस मुनिने तो समस्त संसारका ही होम कर डाला तथा उस मुनिकी पवित्र दृष्टिमें केवल आत्मचैतन्य ही शेष रह गया।

(४९) श्रद्धारूपी पत्नीके साथ मुमुक्षारूपी मन्दिरमें निवास करनेवाले मुनियोंके नित्य अग्निहोत्रका वर्णन यहांतक किया गया। यदि वे लोग इस अग्निहोत्रको नहीं करते तो पातकी हो जाते हैं।

(५०) अब मुनियोंके ब्रह्मयज्ञका वर्णन किया जाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह नामक पांच अंगुलियोंवाला 'यम' नामक मोक्षदायक पहला हाथ कहाता है।

(५१) शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरधारणा नामक पांच अंगुलियोंवाला 'नियम' नामक दूसरा हाथ कहाता है।

(५२) मुनिको उचित है कि नियम और संयम नामक इन दोनों हाथोंको जिनसे कि आत्माका ग्रहण तथा अनात्माका त्याग किया जाता है, जोड़कर साक्षात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी स्तुतिसे परिपूर्ण 'ब्रह्मयज्ञ' का आचरण करे। अर्थात् वेदान्तोंका स्वाध्याय करता रहे।

(५३) देव, ऋषि, पितर, तथा भूतोंको 'मैं ही ब्रह्म हूं" इस मन्त्रसे जो जला-(जड़ा)ञ्जलि दे दे, अर्थात् इस जड़ जगत्का ही सम्बन्ध इन देवादि-से है, ज्ञान हो जानेके कारण मेरा अब इनसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है क्योंकि ब्रह्मका जो सच्चिदानन्द-स्वरूप बताया जाता है, मेरा भी तो वही स्वरूप है इसीलिये अब तो मैं इस जड़

भागकी अञ्जलि इन्हींको दिये देता हूं यही तर्पण 'उत्तम तर्पण' कहाता है।

(५४) जगत्को उत्पन्न करनेवाली माया शक्ति जिनके अन्दर विलास करती है उन अनन्त ब्रह्माण्डरूपी पात्रोंके अन्दर लौकिक दृष्टिसे देखनेपर तो जो क्रीड़ा और कौतुकका रूप धारण कर लेता है परन्तु तत्त्व विचार करने पर जो सदा ही प्रत्यक् प्रकाश शुद्ध आत्मचैतन्य स्वरूप ही बना रहता है, ध्यानके भी विषयमें न आनेवाले चैतन्यसे परिपूर्ण आत्मानन्दके कारण सदा ही अद्वैतरूपको धारण किये हुए उस आत्मदेवका ध्यान करके वेदान्तके सिद्धान्तकी प्रक्रियासे सर्वात्म शिवकी 'पूजाविधि' का अब वर्णन किया जायगा।

(५५) ब्रह्मदर्शी आचार्य तथा अध्यात्मशास्त्रके वाक्योंसे उत्पन्न हुआ आत्मज्ञान ही इस देव-पूजामें 'आवाहन' रूपी उपचार कहाता है।

(५६) उस आत्मदेवको सर्वत्र व्यापक जान लेना ही उसके बैठनेका पूर्ण तथा पवित्र 'आसन' कहाता है।

(५७) तुझ सच्चिदानन्द आत्माके अतिरिक्त मैं तो और कुछ भी नहीं जानता, यह विचार ही उत्तम 'पादोदक' कहाता है।

(५८) हे शिव! मेरी बुद्धि तुझ अखण्ड आनन्दके रसमें ही अचल होकर ठहर जाय, यही तेरे लिये मुझसे दिया हुआ बढ़िया 'अर्घ' हो!

(५९) जो मेरा अन्तःकरण नाना प्रकारके विषयोंके कारण अनेक चित्रित रसवाला हो रहा है उसमें समत्वभावनारूपी मधु मिलाकर यदि मधुपर्क तैयार किया जाय तो उत्तम आत्मरससे व्याप्त यह अलौकिक मधुपर्क ही 'मुख्य मधुपर्क' कहाता है। इस उत्तमोत्तम मधुपर्कसे पूज्योंके भी पूजनीय इस परमदेवकी पूजा सदा ही करते रहना चाहिये।

(६०) जन्ममरणको देनेवाले अज्ञानसे निकलकर स्वभावसे स्वयं भी शुद्ध तथा दूसरोंको भी शुद्ध करनेवाले आत्मदर्शनरूपी अमृतके समुद्रमें डुबकी लगाकर सुखदायी स्नान करनेसे सर्वाङ्गीण सुख मिलता और अन्तःकरणकी शुद्धि बढ़ती है ऐसा 'अलौकिक स्नान' ही मुनियोंको निरन्तर शुद्ध कर सकता है।

(६१) आत्माकी सत्तासे पृथक् तुम्हें जो भी कुछ दूसरासा प्रतीत होता हो उस सबको आचमन कर जाओ अर्थात् उसकी बाधा कर दो। यदि यह उपदेश किसीके हृदयमें प्रविष्ट होजाय तो यही बढ़िया 'आचमन' कहाता है।

(६२) श्रद्धा, निर्ममता, वैराग्य, अन्तःकरण-की शुद्धि, निर्लेपता, व्यापकताका निश्चय, भक्ति, प्रेमरस, प्रसन्नता तथा आत्मसुखानुभव आदि जो जो उत्तम गुण योगिपरिषत्में प्रसिद्ध हैं उन सबको-'सोहं' इस मन्त्रकी सहायता लेकर बड़ी मनोहर विधिसे जैसे जैसे अपने आपको रुचिकर होता हो-वस्त्र किंवा अलङ्कार मानकर इस जगदाधार आत्माको भेंट कर दें।

(६३) समरसतासे मिला हुआ आत्मविषयक अद्वैत बोध ही इस आत्मदेवका अत्यन्त प्यारा 'चन्दन' होता है, ऐसा चन्दन ही इस आत्मदेवको देना चाहिये।

(६४) शान्ति (वासनाराहित्य) क्षमा, अलोलता (अन्तःकरणकी स्थिरता) सरलता, निर्मत्सरता तथा अक्रोधादि गुण, यदि विकारका कारण होनेपर भी किसी प्रकार खण्डित न हो सकें तो बस यही गुण ज्ञानिपूजाके तुषरहित शुद्ध 'अक्षत' कहाते हैं।

(६५) आत्मवासनाके कारण सुन्दर निज-भाव शुद्धरूपी खिले हुए पुष्पोंके द्वारा शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषोंको इस महेश्वरकी पूजा करनी चाहिये। मुनि लोगोंको तो यही 'कृतकृत्यता' कहाती है।

(६६) कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय दोनोंको ही यदि किसी मुनिने वैराग्यरूपी अग्निमें डाल दिया हो तो इन दसों अङ्गोंके जलनेकी गन्धवाला 'धूप' ही इस आत्मदेवको सदा प्यारा लगता है।

(६७) इस आत्मदेवकी पूजाके लिये प्रकाशके कारण श्रेष्ठ तथा 'ज्ञानमय दीपक' ही जगाना चाहिये जिसके जल उठनेपर फिर बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों जगद्का अन्धकार सदाके लिये नष्ट होजाता है।

(६८) जिसको खा डालना इनको अत्यन्त प्यारा है, जिसको खाकर ये आत्मदेव परम तृप्त होजाते हैं वह द्वैतरूपी 'उत्तम नैवेद्य' ही इनको समर्पित कर देना चहिये।

(६६) इस पूजनविधिमें आचमनके लिये 'सन्तोषरूपी अमृत' ही जलके स्थानपर रख छोड़ना चाहिये जिससे कि आत्मामें तत्काल निर्मलता आजाती है।

(७०) अपने समान ज्ञानियोंसे मित्रता, अपनेसे न्यून जिज्ञासुओंपर दया, अपनेसे अधिकको देखकर प्रसन्नता, अपने कथनपर विश्वास न लानेवालोंपर उपेक्षा ये चार 'ताम्बूल' लाकर इस आत्मदेवके सामने रख दो। ऐसे ताम्बूलोंको खानेसे इस आत्मदेवके आनन्दको भोगनेके साधन चित्तरूपी मुखपर अत्यन्त शोभा आजाती है।

(७१) जिन अनन्त जन्मोंमें मैंने अत्यन्त निष्कामभावसे उत्तमोत्तम धर्मोंका बड़े उल्लासके साथ आचरण किया. उनके फलरूपमें मुझे जो यह भगवानकी भक्ति हाथ लगी है, मैं तो उसे भी भगवानके चरणोंमें निवेदन किये देता हूं। यह भक्ति ही मेरा सब कुछ है इसलिये इस पूजा विधिरूपी सर्वस्व योगकी पूर्णताके लिये इसको और अपने चिन्तामणिरूपी मनको भी 'दक्षिणा'के रूपमें दिये देता हूं क्योंकि दक्षिणा बिना कोई भी यज्ञ पूर्ण नहीं होता। दक्षिणारूपमें इस मनको दे देनेपर तो मैं अनात्मपदार्थोंका चिन्तन ही न कर सकूंगा तथा इसके दे देनेपर भी आत्मदर्शनमें कोई विघ्न न होगा। क्योंकि आत्मा अचिन्त्य पदार्थ है उसके दर्शनमें तो यह एक अत्यन्त निरुपयोगी प्रत्युत विघ्नकारक पदार्थ होता है।

(७२) करोड़ों ब्रह्माण्डोंकी करोड़ों भूमियोंके अगणित धूलिकणोंसे भी जिस तेरे गुणोंकी गणना नहीं की जासकती, हे परम शिव आत्मदेव! इतने अनन्त गुणोंवाला होनेपर भी जब कि मुनिलोग भी तुझे निर्गुण ही बताते हैं तो फिर भला मैं ही तेरी स्तुति करनेका व्यर्थ प्रयास क्यों करूं? यदि मैं तेरे गुणोंको गिनने लगूं तो वे गिने नहीं जासकते, यदि तुझे निर्गुण समझूं तो फिर स्तुति ही कैसी? हे आत्मदेव! इसी विवशताको देखकर मैं तो मौन हुआ जाता हूं!

(७३) श्वेत किंवा कृष्ण पदार्थको प्रकाशित करनेवाला सूर्य क्या कहीं उनके अनुसार श्वेत अथवा कृष्ण ही होजाता है? इसीप्रकार जो आत्मा ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनोंसे भिन्न तथा दोनोंका समानरूपसे प्रकाशक है जिसमें द्वैत अथवा अद्वैत किसीकी भी कुछ कल्पना नहीं है, जो परम शुद्ध है, जिसका तेज जाग्रत कालके अनुभवके समान ही प्रकाशमान है उस आत्माको हमारा ऐक्यभावनारूपी 'नमस्कार' हो।

(७४) आत्मविद्याके आचार्योंके सत्संगका सौभाग्य मिलनेपर भी, मोहसे छुटकारा पाजानेपर भी तुम आत्मदेवके समरसभावसे पूर्णतया तृप्त होजानेपर भी, अभीतक हम लोग सदा ही ब्रह्ममें लीन नहीं रह सकते, यही हमारा एक बड़ा भारी अपराध है परन्तु प्रारब्ध कर्मोंके क्षय होने तक, हे सदाशिव आत्मदेव! हमारे इस अपराधको सहन करो। यही तो मुनियोंका 'क्षमापन' कहाता है।

(७५) यह आत्मा तो स्वयं ही अनन्त चैतन्यसे परिपूर्ण तथा सुखस्वरूप होनेसे सदा ही विमुक्त है फिर भला इस अनन्त आत्माको

बन्धन कैसा? तथा इस अनन्तको बांधनेके लिये बांधनेकी सामग्री भी कहांसे लायी जाय? तथा ऐसी अवस्थामें तात्त्विक गम्भीर विचार करने पर यही तो समझमें नहीं आता कि यह आत्मा बद्ध भी कैसे हुआ और मुक्त भी क्योंकर हो गया? यही सब बातें विचारते विचारते इस आत्मदेवका पूजक मैं जब विस्मयमें डूब जाता हूं तब इस चैतन्यमात्र आत्माकी पूजा करते करते आंखोंमें तो आनन्दके आंसू भर आते हैं, कण्ठ गद्गद हो जाता है तथा शरीरमें रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं। मैं तो ऊपरके इन विस्मयकारी भावोंको ही सम्पूर्ण 'पुष्पाञ्जलिके' रूपमें इस आत्मदेवको अर्पण किये देता हूं।

(७६) मोहमयी पूजाको छोड़कर ज्ञानमयी पूजा करो। इस आत्मशङ्करको आनन्दरूपी चन्दनसे पूजो। स्वरूपको भी छिपा देनेवाले लौकिक चन्दनकी कीचसे इसका लेपन मत करो।

(७७) पहले देवको पहचान लो, पीछे उसकी पूजा करो। जबतक तुम देवको पहचानोगे ही नहीं तो उसकी पूजा कैसे होसकेगी?

(७८) जबतक परिचय नहीं होता तबतक यह आत्मदेव पूजाको स्वीकार नहीं करता। परिचय होजानेके अनन्तर तो यह पूजाकी परवा ही नहीं करता।

(७९) हम तो दोनों ही पक्षोंमें इस सदाशिव आत्मदेवकी पूजाको एक दुर्घट काम समझते हैं क्योंकि ज्ञानीकी दृष्टिमें 'मैं पूजक यह पूज्य' ऐसा भाव ही नहीं रहता। अज्ञानीको अज्ञानरूपी सूतक लगा रहता है इसलिये उसे पूजा करनेका अधिकार नहीं होता।

(८०) जब हम अपने इस आत्मदेवकी पूजाका प्रारम्भ करने लगते हैं तो हमारी पूजाके साधन धूप दीप तथा अक्षतादि न जाने कहां भाग जाते हैं। हम तो तब आश्चर्यभरे नेत्रोंसे देखते हैं कि वहांपर ये अकेले चिन्मात्र आत्मदेव ही शेष रह गये हैं।

(८१) आत्मदेवके चिन्तनका विचार ज्यों ही मनमें आता है त्यों ही पूजाका क्रम याद नहीं रहता और पूजामें विघ्न हो जाता है। इसप्रकार पूजामें विघ्न पड़ जाना ही पूर्ण हुई पूजाका फल कहाता है। यदि किसीकी पूजा पूर्ण हो जाती है तो यह समझना पड़ता है कि वह पूर्ण पूजा करना ही नहीं जानता। किसीके सौभाग्यसे यदि किसीकी पूजामें ऐसा विघ्न उपस्थित होने लगे तो फिर उसे दोनों तरहकी पूजा करनेका प्रयास न उठाना चाहिये।

(८२) आनन्दके समुद्र गोविन्दकी पूजाका प्रारम्भ करते करते जब आत्मज्ञानकी स्फूर्ति होने लगी तो हमारी पूजामें ऐसा दिव्य तथा स्पृहणीय विघ्न आया कि अज्ञानी यजमान किंवा पूजक जीव-भाव ही भाग गया और मुझे तत्काल ही अपने पारमार्थिक रूपके दर्शन मिल गये।

(८३) जिज्ञासाके रहनेतक अज्ञानांशके बने रहनेसे पूज्य पूजकभाव विद्यमान रहता है। यही कारण है कि इस पूजाकी तरफ अल्पज्ञानी लोग प्रवृत्त हो जाते हैं परन्तु ज्ञानके पूर्ण होते ही जब अज्ञानभाग नष्ट हो जाता है तब फिर उस तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें पूज्य-पूजक भाव भी नहीं रहता। इससे वह पूजा करना बन्द कर देता है।

(८४) आत्मज्ञानमें प्रगाढ़ प्रेम, सुखदुःखादि द्वन्द्वोंका सहन, सत्यका पालन, आत्मानात्म-विचार तथा आत्माके पूर्णत्वका निश्चय। यही 'पांच यज्ञ' ब्रह्मज्ञानियोंको प्यारे लगते हैं।

(८५) इस मुनीन्द्र-दिनचर्यामें जब कभी पर्व-काल प्राप्त हो तो आत्मज्ञानमें दीक्षित पुरुषको उचित है कि बीच बीचमें नैमित्तिक यज्ञोंका अनुष्ठान भी कभी कभी करता रहे।

(८६) यह हमारा मनरूपी पशु जिस किसी कालखण्डकी कल्पना करे और जब वह भी (ज्ञानरूप होनेसे) इस हमारे ज्ञानयज्ञका पुरोडाश (यजमानका भोज्य हुतशेष पदार्थ) बन जाय अर्थात् जब कि यह आत्मबोध 'कालो बोधेन भक्षितः'

के अनुसार, उस कालको भक्षण करले तो देवेन्द्र (इन्द्रियरूपी देवोंके अधिष्ठाता) आत्म-चैतन्यकी नित्य-तृप्तिके लिये मुमुक्षुओंको ऐसे यज्ञ करते रहना चाहिये।

(८७) व्यवहारी लोगोंकी दृष्टिके ईश्वर और जीव नामक दोनों पक्षियोंको भाग-त्याग लक्षणासे एक बनाकर अर्थात् एकत्वको ही पारमार्थिक समझकर यदि एकीभावसे जान लिया जाय तो यही 'सुपर्णचयन' नामक यज्ञ कहाने लगता है। इस एक ही अद्भुत यज्ञ कर लेनेपर उस मुनीन्द्र-को सैकड़ों अग्निचयनोंका फल प्राप्त हो जाता है।

(८८) जब कि प्राण और अपान कहानेवाले सूर्य तथा चन्द्र नामक वायुपर वशीकाररूपी ग्रहणकाल आ जाय तो मुनिको उचित है कि समाधिके समान पवित्र तीर्थमें पहुंचते ही परमात्मा जैसे योग्यतम पात्रको नित्य ही आत्मा-के सदृश सुवर्णका दान कर दिया करें यही मुनि-का 'नित्य दान' कहाता है।

(८९) जब हम आंखसे देखते, त्वचासे स्पर्श करते, घ्राणसे सूंघते, रसनासे स्वाद लेते, कानसे सुनते, वाणीसे बोलते तथा हाथसे ग्रहण करते हैं तो इन सब अवस्थाओंमें सामान्यरूपसे चैतन्यकी स्फूर्ति होती है यदि इस बातको कोई ज्ञानी समझ लेता है तो यही मुनिका 'माध्याह्निक' कर्म कहाता है।

(९०) जब कि समस्त विश्वरूपी हविषसे इस सारे विश्वके प्रकाश आत्मदेवका यजन किया जाता है तो यही मुनिका 'वैश्वदेव' नामक कर्म कहाता है इसके करनेसे सब (सूना) दोषोंका परिहार हो जाता है।

(९१) दयालु मुनिको उचित है कि इस नव द्वारवाली पुरीमें रहनेवाले समस्त भूतों तथा इन्द्रियोंको भी खान-पान आदि रूपमें बलि दे दिया करे। यही मुनियोंका 'बलिदान' कर्म कहाता है!

(९२) अपने गुरुओं, गुरुभाइयों तथा शिष्यों-के साथ बैठकर सुरस उत्तम ज्ञानामृतका भोग लेना चाहिये जिससे मरणरूपी दुःखकी निवृत्ति हो जाय, नित्यतृप्ति प्राप्त हो तथा मोक्षरूपी फल हाथ लगे। मुनियोंके 'भोजन' की यही परिपाटी है।

(९३) सत्य, प्रिय, पथ्य तथा ब्रह्मविषयक बात ही मुंहसे निकालनी चाहिये। यही मुनियों-का 'ताम्बूलभक्षण' कहाता है जिससे कि उसके आनन्द-भोजनके साधन अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें जिनको कि मुनिका 'मुख' भी कहा जाता है, परम शोभा आ जाती है।

(९४) जबतक हमारे इस शरीरका पतन होगा तबतक हमारे प्राचीन कर्मोंने ही हमारे योगक्षेम-को नियत कर दिया है। इसलिये अब हमें उनकी कुछ भी चिन्ता न करनी चाहिये। आत्मवान्‌को उचित है कि योगक्षेमकी चिन्तासे रहित हो जाय जिससे निश्चिन्त होकर वह समाधिनिद्राका भोग कर सके।

(९५) समाधिरूपी निर्विकल्प पवित्र विस्तर-पर लेटकर, आनन्दरूपी निद्रा लेकर जब कि, समाधिनिद्राका भंग हो जाय तब कुछ देरतक-जबतक कि उस समाधिकी उदासीनता चित्तसे दूर हो, विश्राम लेकर पुराणोंका श्रवण करे। (अपूर्ण)

(बोधसारसे संगृहीत)

(शोधपु० सं० 532 पर)

भक्त-गाथा

भक्त ब्राह्मण-दम्पती

दामोदर काञ्ची नगरीमें रहते थे, जातिके ब्राह्मण थे। इनके कोई सन्तान नहीं थी, घरमें केवल एकमात्र ब्राह्मणी थी। भीख ही इनकी जीविका थी। सारे संसारमें ढूंढ़नेपर भी दामोदर-के समान दूसरा दरिद्र भिखारी मिलना कठिन था। दामोदर प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर स्नान सन्ध्या आदि नित्यकर्म करने और मस्तकपर चन्दन तथा निर्माल्य तुलसीदल धारण-कर मुखमें 'राम कृष्ण हरि' कीर्तन करते हुए भीखके लिये नगरमें चले जाते। भिक्षामें कुछ मिल गया तो अच्छी बात, न मिला तो कोई असन्तोष नहीं! रोज जो कुछ मिलता सो लाकर ब्राह्मणीको दे देते, पतिप्राणा ब्राह्मणी बड़े आनन्दसे रसोई बनाती। भगवानके भोग लगाकर दोनों प्राणी वही प्रसाद पाकर प्रसन्न होते। किसी दिन यदि कोई भूखा अतिथि आजाता तो पहले उसे भोजन कराते। कुछ बच रहता तो खा लेते, नहीं तो वह दिन उपवासमें कटता। किसी दुःखसे नहीं, दम्पति परमानन्दसे उपवास करते।

दोनोंका प्रधान काम था श्रीगोविन्दका भजन, वे रात दिन उसीमें मस्त रहते। परचर्चा नहीं, किसीकी निन्दा नहीं, हृदय जीव-दयासे सदा ही पिघला रहता। घरमें कुछ भी नहीं, पर अपने लिये भगवान्से कभी कुछ मांगते नहीं। भगवान्से वे यदि कभी कुछ चाहते तो केवल जीवोंका कल्याण चाहते। भजन करते करते जब कभी यह भाव होता कि अब भगवान् दर्शन देंगे तभी वे हाथ जोड़कर प्रार्थना करते, 'मङ्गलमय! जगत्के जीवोंने तो तुम्हारी मङ्गलमयी मूर्ति नहीं देखी, वे तो अमंगलको ही मङ्गल समझकर गले लगा रहे हैं। नाथ! उनपर दया करो, उनका भ्रम दूर करो, तुम्हारी आनन्द-मन्दाकिनीकी पवित्र धारासे उन्हें अभिषिक्त करो, हिंसा द्वेष भूलकर सभी परस्पर प्रेम करें। तुम्हारी सर्वमङ्गलमयी मूर्ति सबके हृदयोंमें सदा जाग्रत रहे।'

चमड़ेसे ढके रहनेपर भी कस्तूरीको सुगन्ध बाहर फूटे बिना नहीं रहती। इसीप्रकार दामोदरकी यश-सुगन्ध भी उसके फटे चीथड़े और टूटी झोंपड़ीके परदेको भेदकर देशभरमें फैल गयी। क्रमशः वह उस असली देशतक भी जा पहुंची! उस देशके रसिक नरेश उसी गन्धके सहारे एक दिन काञ्ची नगरीमें आ उपस्थित हुए। उद्देश्य था असल नकलकी परीक्षा करना। वे नरेश हैं बड़े मायावी! आते ही बूढ़े संन्यासी बन गये। शरीरपर भस्म, गलेमें रुद्राक्षकी माला, सिरपर जटा, कानोंमें तामेके कुण्डल, शरीर इतना दुर्बल और वृद्ध कि मानो एक कदम चलनेकी भी शक्ति नहीं है। लाठीके सहारे धीरे धीरे चलते हुए आप आ विराजे दामोदरके दरवाजेपर!

भगवान्की माया थी, दामोदरको उस दिन भीखमें एक मुट्ठी चावल भी नहीं मिला। वह खाली हाथ ही घर लौटे। पति-पत्नी दोनों भूखे ही जमीन-पर लेटकर चिन्तामणिके चारु चरणोंका चिन्तन करने लगे।

वे मन ही मन कहने लगे 'प्रभो! तुम स्वामी हो, निग्रह अनुग्रह जो चाहो सो कर सकते हो पर

दीनोंको तुम्हारे सिवा और किसका सहारा है? उनके तो एकमात्र बन्धु तुम्हीं हो, इसीसे लोग तुम्हें अपार करुणासागर और दीनबन्धु कहते हैं, जिनकी रक्षा करनेवाला और कोई नहीं है, तुम्हीं उनकी रक्षा करनेवाले हो, इसीलिये तुमने अपने चक्रमें निशान उड़ाया है। नाथ! तुम वज्र-कवचकी तरह अपने सेवकके शरीरपर रहकर उसके सारे दोष दूर कर देते हो। प्रभो! तुम दुर्जनरूप मेंढकोंके लिये कालसर्प हो, जगत्के लोगोंके लिये अमूल्य चिन्तामणि हो, मदोन्मत्त मानव-मातङ्गके लिये साक्षात् केसरी हो, सम्पूर्ण जीवोंके स्वामी हो, इसीसे आज यह क्षुद्रादपि क्षुद्र अधम जीव तुम्हारी शरणागत हुआ है। इसे एक भयसे बचाओ, प्रभो! शीघ्र बचाओ! भय और कुछ भी नहीं है, महामहिम नामकी अपार महिमासे यह दास जगत्के तुच्छ भयको तो बात ही क्या है मृत्यु-भयसे भी नहीं डरता, यह किसी ऐसे भयके नाशके लिये प्रार्थना भी नहीं करता। इसको तो भय यही है कि इस समय यदि कोई अतिथि आ गया तो उसको भोजन कहांसे दिया जायगा?'

'जहां बाघका डर था वहीं सांझ हुई' दामोदर और उनकी पत्नी यह चिन्ता कर ही रहे थे कि उनके कानोंमें अतिथिके इन करुण-स्वरोंने प्रवेश किया, 'घरमें कौन है, मैं अतिथि तुम्हारे दरवाजेपर खड़ा हूं।' अतिथिका कातर करुण कण्ठस्वर कर्णछिद्रोंमें प्रवेश करते ही दामोदर हड़बड़ाकर बाहर आये। देखा, एक थके हारे जराजीर्ण तेजोमय योगी महापुरुष खड़े हैं। दामोदरने भक्तिभावसे साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया और अत्यन्त विनीतभावसे हाथ जोड़कर संन्यासीसे पूछा—'स्वामिन्! दासके प्रति क्या आज्ञा है?' साधु बोले 'भाई! तुम्हारी बड़ी कीर्ति सुनी है। सुना है, तुम अतिथि अभ्यागतको बड़े ही आदरसे भोजन देते हो। मैं चाहे जिसके घर तो भोजन करता नहीं, अतिथिसेवामें जिसकी श्रद्धा नहीं है, ऐसे मनुष्यके गले पड़नेपर भी मैं भोजनके लिये उसके घरकी तरफ नहीं ताकता परन्तु श्रद्धालु भक्तोंका अन्न मांगकर खा लेता हूं। अतिथि-सेवकोंकी सूचीमें तुम्हारा नाम प्रायः ही सुनता हूं, इसीसे तुम्हारे अन्नके लिये मेरा मन बहुत ललचा उठा। आज सोचा चलो एकबार दामोदरदासके घर ही भोजन कर आवें, इसीलिये भाई! आया हूं! पुराना शरीर है, चलना फिरना कठिनतासे होता है. तुम्हारा अन्न खानेके लोभसे ही यहांतक चला आया, कहो, इसे एक मुट्ठी अन्न मिलेगा या नहीं?'

दामोदरदास जिस बातकी आशङ्कासे डर रहे थे वही हो गयो! अतिथिकी बात सुनकर दामोदरको बड़ी चिन्ता हुई, आखिर 'होइहैं सोइ जो राम रचि राखा' यह समझकर दामोदरने शीतल जलसे योगीके पैर धोकर मीठे स्वरसे कहा, 'महाराज! आपको बहुत ही थका हुआ देखता हूं, आप इस कुशासनपर तनिक विश्राम करें, मैं अभी आता हूं' इतना कहकर दामोदरने ब्राह्मणीके पास जाकर धीरेसे कहा,—'सति! द्वारपर अतिथि आये हुए हैं, भोजन चाहते हैं, घरमें तो कुछ भी नहीं है, अब क्या किया जाय।' ब्राह्मणी बोली-'स्वामिन्! मैं क्या बतलाऊं, आपसे तो कुछ छिपा नहीं है, घर-द्वार बेचनेपर भी एक पण कौड़ी मिलना कठिन है। घरमें एक कपड़ा होता तो उसके बेचनेपर ही कुछ मिल जाता। मेरे पास तो वह भी नहीं है। फटा चीथड़ा और मिट्टीकी यह फूटी हांड़ी, यही तो अपने घरकी सामग्री है, इनके बदलेमें कौन क्या देगा?' इतना कहनेपर अतिथि-सत्कारमें अपनी अयोग्यता समझकर सतीके आंखोंमें आंसू आ गये। पत्नीकी यह हालत देखकर दामोदरकी आंखें भी डबडबा आयीं। उसने एक लम्बी सांस छोड़कर कहा, 'तब क्या होगा सती! क्या अतिथि सेवा नहीं होगी? अतिथि भूखा लौट गया तो फिर अपना

जीवनसे ही क्या प्रयोजन है ? गोविन्द ! इतनी कठोर परीक्षा क्यों ?'

ब्राह्मणी चिन्तित होकर व्याकुल हृदयसे श्रीहरिको पुकारने लगी ! क्षणभरके बाद ही वह अपनी हँसीसे दामोदरको चौंकाती हुई बोली–'नाथ ! इतने कातर क्यों होते हैं ? हमारे प्रभु तो जगन्नाथ हैं वे निश्चय ही अतिथिके लिये अन्न देंगे। आप एक काम करें, नाईके घरसे तुरन्त एक कैंची मांग लावें, फिर मैं उपाय बतलाऊंगी' दामोदर क्या करते, जल्दीसे दौड़कर कैंची मांग लाये और ब्राह्मणीसे पूछा, 'कहो ! अब क्या करना होगा ?' उसने हंसकर अपने लम्बे लम्बे केश दिखलाते हुए कहा–'देखिये, मेरे इन सुन्दर बालोंको कैंचीसे काट डालिये, फिर हम दोनों मिलकर इनकी बेणी बांधनेकी डोरी बंट लेंगे, आप उन्हें बेचकर कुछ पैसे ले आइये। इतना होनेपर अतिथिसेवाके लिये क्या चिन्ता है ?'

दामोदर ब्राह्मणीकी इस अनोखी सूझ और उसकी मनोहर त्यागवृत्तिपर मुग्ध होकर अपने हाथों उसके बाल काटने लगे। चारों ओर थोड़े थोड़े बाल छोड़कर बीच बीचके सब केश काट डाले, दोनोंने मिलकर तुरन्त एक सुन्दर डोरी बंट ली, दामोदर उसे बेचने बाजार गये, सौभाग्यवश एक ग्राहक भी मिल गया, उसने कुछ पैसे देकर वह डोरी खरीद ली। दामोदर उन पैसोंसे अतिथिसत्कारके लिये दाल, चावल, घृत, दूध, दही, तरकारी आदि सब चीजें खरीदकर बड़े आनन्दसे हंसते हुए धर्मशीला पत्नीके पास आये और सब चीजें उसके पास रख दीं। ब्राह्मणी रसोई बनानेमें बड़ी ही निपुणा थी। देखते देखते ही उसने रसोई बना ली। दामोदरने बाहर जाकर अथितिदेवसे भोजन करनेके लिये प्रार्थना की। अतिथि घरके अन्दर आये, दोनोंने मिलकर बड़े आदरसे उनके चरण पखारे, श्रद्धा-भक्तिसे चरणोदक लिया और सिरोंपर छिड़का। आज दम्पतिके आनन्दका पार नहीं है।

वास्तवमें आज इनके भाग्यकी महिमा कौन कह सकता है ? ब्रह्मा अपने कमण्डलुमें रखकर भी जिस जलकी एक बूंद नहीं पा सकते, आज इन्होंने घर बैठे अनायास ही उस पावन पादोदकका पान कर लिया ! भगवान् भावके वश हैं। जहां भाव-कमल खिलता है, वहीं वे मधुलोभी मधुकरकी भांति आ उपस्थित होते हैं। परन्तु भावहीन मनुष्य किसी तरह भी उनसे भेंट नहीं कर सकता। अस्तु !

ब्राह्मणके घर एक टूटी चौकी थी, उसीपर बड़े आदरसे पति, पत्नीने साधुको बैठाया ! केलेके पत्तेपर भोजन परसा गया। लीलामय श्रीगोविन्द महान् आनन्दसे भोजन करने लगे। 'साधु बहुत बूढ़े हैं, अधिक नहीं खा सकेंगे' यह सोचकर ब्राह्मणीने थोड़ासा ही सामान परसा था, पर उन माया-वृद्ध हरिने सब सामान तुरन्त ही उड़ाकर कहा, 'बड़ी अच्छी रसोई बनी है, कुछ है तो और दो, आज भोजन करनेमें बड़ी ही तृप्ति हो रही है।' ब्राह्मणीने जो कुछ बच रहा था सो तुरन्त लाकर उनकी पत्तलमें परस दिया। अन्तर्यामी जान गये कि इनके घरमें खानेको और कुछ भी नहीं है, इसलिये पोंछपाँछकर सब कुछ खा गये। फिर हाथ मुंह धोकर आरामसे बैठे पान चबाते हुए सोचने लगे–'अहो ! इनका जीवन धन्य है, घरमें कुछ भी नहीं है, सामानमें एक फटा चीथड़ा और फूटी हंडिया मात्र है पर अतिथि सेवामें इनका कितना अपूर्व अनुराग है। मुझको सब कुछ खिलाकर दोनों भूखे रह गये परन्तु इनके चेहरेपर कहीं जरासा भी असन्तोष नहीं है। जिन सिरके बालोंके लिये स्त्रियां न मालूम क्या क्या करती हैं, आज अतिथिसेवाके लिये उन बालोंके कटवानेमें ब्राह्मणीमें तनिकसी भी आसक्ति नहीं देखनेमें आयी, इनकी समता जगत्में किससे हो सकती है ?'

भावके भूखे भक्तिप्रिय माधव भक्तके भावमें विभोर होकर न मालूम क्या क्या सोचने लगे,

कुछ देर बाद दामोदरदासको अपने पास बुलाकर बोलेः-

'भक्त! तुमलोगोंकी सेवासे मुझे बड़ा ही सन्तोष हुआ है, भाई! देखते हो, अब रात पड़ गयी है, वृद्ध शरीर है, मालूम होता है आज इस रातके समय मैं चल नहीं सकूंगा। रात यहीं बिताकर सुबह जाऊंगा। मेरे भोजनके लिये अधिक सामान इकट्ठा करनेकी आवश्यकता नहीं, एक हंड़िया चावलसे ही काम चल जायगा!'

दामोदरने 'जो आज्ञा' कहकर पत्नीके पास जाकर चिन्ताग्रस्त मनसे कहा-'सति! अतिथिमें आज चलनेकी ताकत नहीं है, वे रातको यहीं रहेंगे अब भोजनके लिये क्या उपाय किया जाय?', पतिव्रता ब्राह्मणीको तो उपायका पता था, उसने हंसते हुए कहा, 'इस बातकी क्या चिन्ता है? इन बचे हुए बालोंको काट डालिये, अभी डोरी बंट लेंगे आप उसे बेचकर सामान ले आइये। इतना घबराते क्यों हैं?' पत्नीकी बात सुनकर दामोदरका हृदय भर आया, उन्होंने सिरके सारे केश काट डाले। दोनोंने उसी समय डोर बंट ली, पहलेकी भांति उसे बेचकर ब्राह्मण सामान ले आये। ब्राह्मणी प्रफुल्लित चित्तसे रसोई बनाने लगी। ब्राह्मणीने केशरहित सिरको एक चिथड़ा बांधकर ढक लिया! पुण्यवती सतीके इस अद्भुत त्यागसे अतिथिसेवा सम्पन्न हुई जानकर तो दामोदरको बड़ा आनन्द है पर जब ब्राह्मणीके सिरकी ओर दृष्टि जाती है तब उनके लिये आंसू रोकना कठिन हो जाता है।

रसोई बनी, अतिथि जीमने बैठे, 'थोड़ासा और, 'थोड़ासा और' कहते कहते सारा सामान चट कर डाला। एक चींटीका काम चले इतना-सा अन्न भी नहीं बचा। अतिथिने हाथ मुंह धोया, दामोदरने उनके सोनेके लिये घासपत्तोंका फटा टूटा आसन बिछा दिया, साधु उसीपर प्रसन्नतासे सो गये!

जो नारायण शेषनागकी शय्यापर, गरुड़की पीठपर, मुनियोंके हृदयोंमें या भोलानाथ शंकरके वक्षःस्थलमें विराजते हैं, वे ही आज भक्तके प्रेमवश घास पत्तोंके बिछौनेपर आरामसे सो रहे हैं, धन्य है भक्तके विशुद्ध प्रेमको और धन्य है उस प्रेमाधीन परमात्माको!

दामोदर धीरे धीरे चरण दबाने लगे और उनकी पत्नी साड़ीके फटे आंचलसे धीरे धीरे हवा करने लगी और भगवान्-प्रेममें आत्मविस्मृत भगवान् वैकुण्ठके सुखको अत्यन्त तुच्छ समझकर मानों नींदसी लेने लगे।

अतिथिको सोये हुए देखकर ब्राह्मणीने पतिसे कहा 'अहा! साधु महाराज बहुत ही बूढ़े हैं, इस कमजोर शरीरसे यह सुबह भी कैसे चल सकेंगे? कल सवेरे आप भीखके लिये शहरमें जाइये, भाग्यवश जो कुछ मिल जायगा उससे इनकी सेवा की जायगी, हम लोग आजकी तरह कल भी भूखे ही रह जायंगे।' जैसी ब्राह्मणी, वैसे ही ब्राह्मण, उन्होंने कहा, 'हाँ हां, ठीक ही तो है।'

जो जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति तीनोंसे अतीत हैं उनका सोना जागना कैसा? भगवान् आंख मूंदे सब सुन रहे हैं, पति-पत्नीकी मधुर वाणी और उनकी अतिथिवत्सलता देखकर भगवान्‌की आंखें डबडबा आयीं, आहा! आंखके एक कोनेसे करुणाकी धारा भी बह चली! अब भगवान् नहीं रह सके, तुरन्त मायानिद्रासे ब्राह्मण-दम्पतिको सुलाकर आप उठ बैठे। देखा, दोनों चरणोंमें पड़े हैं, भगवानने तुरन्त पतिव्रताके मुण्डित मस्तकपर हाथ रक्खा और उसे फिराते हुए वे बोले-'पतिव्रता! माता! अहा, इस माता शब्दमें कितना मिठास है, जरा फिर तो कहूं, माता! माता!! तेरा मस्तक कुञ्चित केशोंसे पूर्ण हो जाय। माँ! तेरा समस्त शरीर नानाप्रकारके मणिरत्नोंके आभूषणोंसे चमकने लगे। माता! तेरे समस्त अंग सौन्दर्यसुषमासे भर उठें!' भगवान् ज्यों ज्यों बोलते गये, त्यों त्यों वैसा ही होता गया। भगवान् उठ खड़े

हुए, चारों ओर देखा, फिर करुणाभरे कण्ठसे कहने लगे—'कुटिया! तू राजमहल बन जा!' तुरन्त वैसा ही होगया, प्रभु फिर बोले 'गृहद्वार! तू धन रत्नोंसे भर जा!' वही हो गया। अब भगवान्‌ने दोनोंके मस्तकपर हाथ रखकर अमृत-वर्षा करते हुए कहा—'अरे! तुम दोनों जबतक जीओ, सुखसे जीओ और जीवन पूरा होनेपर वैकुण्ठमें चले आओ। मैं तुम्हारा जीवन मरणका साथी सदा साथ रहूंगा!' धन्य है!

भक्तको दुर्लभ आशीर्वाद देकर भगवान् अन्तर्द्धान हो गये। सवेरा हुआ, ब्राह्मणी जागी आंखें खोलते ही आश्चर्यमें डूब गयी, सोचने लगी, क्या मैं वही हूं, मेरा साड़ीका फटा चीथड़ा कहां गया? यह बहुमूल्य वस्त्र कहांसे आ गये? अरे, मेरा शरीर गहनोंसे कैसे लद गया? वह सिरपर हाथ रखकर सोचने लगी, हाथके केशों-का स्पर्श होते ही ब्राह्मणीका आश्चर्य और भी बढ़ा। हैं, मुंड़े सिरमें रातोंरात इतने बाल कैसे पैदा हो गये? अरे! इस पुराने शरीरमें इतना सौन्दर्य कहांसे आ गया? मैं स्वप्न तो नहीं देख रही हूं? वह बूढ़ा साधु कहां गया? ब्राह्मणी घबराकर उठी, अब तो उसके आश्चर्यकी कोई सीमा नहीं, न वह झोंपड़ी है न घासपत्तोंका बिछौना है, न फूटी हंड़िया है और न फटा चीथड़ा है, ब्राह्मणी भी सुदामाकी तरह हकबकाकर कहने लगी—

> फूटी एक थारी बिन टोंटनीकी झारी हुति,
> बांसकी पिटारी औ पथारी हुती टाटकी।
> बेंटे बिन छुरी और कमण्डलु हो टेकवो हो,
> टूटो हुतो पेपो पाटी टूटी एक खाटकी॥
> पथरौटा काठको कठौता कहूं दीसै नाहिं,
> पीतरको लोटो हो कटोरो है न बाटकी।
> कामरी फटीसी हुती डोकनकी माला नाक,
> गोमतीकी माटीकी न सुध कहूं माटकी॥
> [नरोत्तम कवि]

अहो, इतना बड़ा, महल, इतने बड़े बड़े कमरे सभी मणि-रत्न, धन-धान्य और गहने कपड़ोंसे भरे पूरे हैं। अरे, स्वामीका भी तो रूप बदल गया, यह कामदेवकीसी छबि कैसे बन गये? क्या आश्चर्य है? ब्राह्मणीने व्यग्र होकर पल्ला खैंचकर पतिको जगाया और ऊंची आवाजसे कहने लगी। 'नाथ! देखिये तो सही, क्या आश्चर्य है!' दामोदर आंख मलते हुए 'क्या क्या' कहकर उठ बैठे और चारों ओर आश्चर्यसे ताकने लगे। सती अब विलम्ब नहीं सह सकी, पतिका हाथ पकड़कर बाहर लेगयी और बोली—'नाथ! यह सब पीछे देखियेगा, पहले चलकर अतिथिको तो ढूंढ़िये। वे कहां चले गये, वे साधारण साधु नहीं थे!' दामोदरने देखा, पहलेकी कोई भी वस्तु नहीं है, सब कुछ बदल गया है। दुःख-दरिद्रताके भस्मस्तूपको भेदकर देवदुर्लभ ऐश्वर्यके शीतल प्रकाशकी मनोहर किरणें चारों ओर छिटक रही हैं ब्राह्मण आगे नहीं बढ़ सके, प्रेमविभोर अवस्थामें वे वहीं खड़े रहे! शरीर पुलकित हो गया, आंखोंसे अश्रुधारा बह चली! दामोदरने गद्गद स्वरसे कहा,—'प्रिये! ठहरो, वह वृद्ध अतिथि क्या कोई मनुष्य थे जिन्हें ढूंढ़ने बाहर जाऊं? वे जब दया करके दर्शन देना चाहते हैं तब अन्दर ही उनसे भेंट हो जाती है। जबतक उनकी इच्छा नहीं होती तबतक बाहर भीतर चाहे जितना भटकनेपर भी उसका पता नहीं चलता। बताओ! उन सनातन परम पुरुषको खोजने कहां जाऊं? वे हैं तो सभी जगह हैं, नहीं तो कहीं भी नहीं! दर्शन देना चाहें तो यहीं दे सकते हैं, नहीं तो कहीं नहीं! क्या अब भी तुम उनको नहीं पहचान सकी? जिनके नामसे पानीपर पत्थर तैर गये; जिनके चरणस्पर्शसे पत्थरकी अहिल्या सुन्दरी मुनि-पत्नी बन गयी, जिनके अंग-स्पर्शसे कुब्जा परम रूपवती हो गयी, उन भक्तभावन भगवान्‌के सिवा ऐसा काम कौन कर सकता है? अपने चेहरोंकी तरफ तो देखो! जो इस दृश्य विश्व-ब्रह्माण्डका सृजन पालन और संहार करते हैं

वही प्राचीन पुरुष अतिथिके रूपमें तुम्हारा घर पवित्र करने पधारे थे। सती! देवी! आओ, हम उनकी शरणागत हो जायं। कातर स्वरसे उनसे क्षमा याचना करें। अरे, हमने तो उनको साधारण मनुष्य ही समझा था, न मालूम उनकी सेवामें कितनी त्रुटियां रह गयी हैं। हाय! हमने हाथ लगा रत्न खो दिया! वे स्तुति करने लगे—

'प्रभु! करुणासिन्धु! हमारे अपराध क्षमा करो, दाससे भूल होगयी है परन्तु तुम तो नाथ! करुणाके अपार सागर हो। देव! तुम इस ब्रह्माण्डके एकमात्र स्वामी हो, प्रत्येक जीवके हृदयमें नित्य विहार करते हो, तुमसे कुछ भी तो छिपा नहीं है, इसीसे यह प्रार्थना है नाथ! हमारे अज्ञानकृत अपराधके लिये क्षमा करो!'

दामोदरदास और उनकी पत्नीने प्रेमावेशमें बहुत देरतक भगवान्‌की स्तुति की, दोनों रोये जमीनपर लोटे बेसुध होगये अन्तमें चेतना होनेपर महामहोत्सवकी तैयारी करने लगे। उनका सारा जीवन भगवत्-सेवा और भगवत्-सेवाके भावसे ही अभिन्न-भगवान् भक्तोंकी सेवा, गो ब्राह्मण तथा दीन दुःखियोंकी सेवामें ही बीता। देहावसान होनेपर दोनों दिव्य देह धारणकर वैकुण्ठमें श्रीवैकुण्ठनाथकी सेवा करने लगे! (भक्तेर जय)

प्रभुमें विश्वास

(लेखक—एक 'रामभक्त' साधु)

एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास।
स्वाति सलिल रघुनाथ जस, चातक तुलसीदास॥

कोई साधन भजन करे पर भगवान्‌पर विश्वास न रक्खे तो उसका वह सब निष्फल होता है। एक महात्मा भूख प्यास सहकर वनमें भजन करते थे। एकदिन एक ब्राह्मणने उनके पास जाकर कहा कि 'महाराज! मुझे आप कुछ ऐसा उपदेश कीजिये जिससे मैं जगत्‌की पीड़ासे बच सकूं।' महात्मा बोले, 'भाई! मुझे उपदेश देनेकी फुरसत नहीं है, क्योंकि मुझे संसारमें थोड़े ही दिन और जीना है।' ब्राह्मण तीन दिन वहीं बैठे रहे, तब महात्माने कहा कि 'पासके गांवमें जाओ, वहां एक ब्राह्मणी रहती है वह तुम्हें उपदेश देगी।' वह ब्राह्मण उस ब्राह्मणीके यहां गया और उससे सब समाचार कहे। वह बोली, 'तीन दिनोंतक मेरी दिनचर्या देखो, तब उपदेश दूंगी।' वह उसकी दिनचर्या देखने लगा। ब्राह्मणी नित्यकर्म करके भोजन करती और रातको सो जाया करती थी, इसके अतिरिक्त और कोई काम नहीं करती थी। यह देखकर तीसरे दिन ब्राह्मणने कहा कि 'तुम इतना ही जानती हो या कुछ और भी?' वह कहने लगी इसके अलावा मैं 'ईश्वरमें विश्वास करना' जानती हूं। उन्हींके भरोसे रहती हूं' जो कुछ वह भेज देते हैं उसीसे गुजर करती हूं। दूसरेसे कुछ प्रयोजन नहीं रखती। मारने जिलाने तथा पालन करनेवाला केवल उन्हींको मानती हूं। उन्हींसे तीनोंकालमें मेरा सम्बन्ध है, मैं अपना लोक परलोक उन्हींको समझती हूं। मेरा उन्हींमें निश्चय विश्वास है—

बिनु विश्वास भक्ति नहिं; तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम कृपा बिनु सपनेहु, जीव कि लह विश्राम॥

इतना कहकर ब्राह्मणी चुप होगयी। ब्राह्मण पर इन वचनोंका बड़ा प्रभाव पड़ा, उसे ईश्वरमें पूर्ण विश्वास हो गया और उसने भगवद्भजन करके अन्तमें परमपद प्राप्त कर लिया। सत्य है—

श्रुतिगुरुसाधुस्मृतिसम्मत यह, दृश्यसदादुखकारी।
तेहिबिनुतजेभजेबिनुरघुपति, विपतिसकैकोटारी॥

भगवन्नाम-माहात्म्य

भगवान् शिवशङ्करको बड़े भक्तिभावसे जप करते देखकर जगज्जननी पार्वती देवीने पूछा 'हे महेश्वर ! आप ही सब प्राणियोंके अधिष्ठान हैं, आप सर्वेश्वर हैं, आपके कोई माता पिता भाई या जाति नहीं है, आपका थोड़ा बहुत तत्त्व एक मैं जानती हूं, अन्य लोग तो वह भी नहीं जानते। आप अत्यन्त भक्तिसे प्रतिश्वासमें किसका जप और ध्यान करते हैं, कृपापूर्वक मुझे इसका सत्य तत्त्व बतलाइये।' इसपर भोलानाथने कहा—

हरेर्नाम सहस्राणां सारं ध्यायामि नित्यशः ॥
वेदसारमिदं नित्यं द्वयक्षरं सततोद्यतम् ।
निर्मलं ह्यमृतं शान्तं सद्रूपममृतोपमम् ॥
कालातीतं निर्वशगं निर्व्यापारं महत्परम् ।
विश्वाधारं जगन्मध्यं कोटिब्रह्माण्डबीजकम् ॥
सतं शुद्धक्रियं वापि निरञ्जननियामकम् ।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते क्षिप्रं घोरसंसारबन्धनात् ॥
रामेति द्वयक्षरजपं सर्वपापापनोदकः ।
गच्छंस्तिष्ठन् शयानो वा मनुजो नामकीर्तनात् ॥
इह निवर्ततो याति प्रान्ते हरिगणो भवेत् ।
रामेति द्वयक्षरो मन्त्रो मन्त्रकोटिशताधिकः ॥
न रामादधिकं किञ्चित् पठनं जगतीतले ।
रामनामाश्रया ये वै न तेषां यमयातना ॥
रमते सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ।
अन्तरात्मस्वरूपेण यच्च रामेति कथ्यते ॥
रामेति मन्त्रराजोऽयं भय-व्याधि-निषूदकः ।
रणे विजयदश्चापि सर्वकार्यार्थसाधकः ॥
सर्वतीर्थफलः प्रोक्तो विप्राणामपि कामदः ।
रामचन्द्रेति रामेति रामेति समुदाहृतः ॥
द्वयक्षरो मन्त्रराजोऽयं सर्वकार्यकरो भुवि ।
देवा अपि प्रगायन्ति रामनामगुणाकरम् ॥
तस्मात्त्वमपि देवेशि ! रामनाम सदा वद ।
रामनाम जपेद्यो वै मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥
रामोऽयं विश्वमिदं समग्रं,
स्वतेजसावाप्य जनान्तरात्मना ।
पुनाति जन्मान्तरपातकानि,
स्थूलानि सूक्ष्माणि क्षणाच्च दग्धा ॥

जो हजार हरिनाममें सार है मैं उस रामनामका नित्य जप करता हूं। यह दो अक्षरोंका राममन्त्र वेदका सार है, नित्य है, सदा पापनाशके लिये उद्यत है, निर्मल है, शान्त है, सत्रूप है, अमृत तुल्य है, कालातीत है, स्वतन्त्र है, निर्व्यापार है, महत्पर है, विश्वाधार है, विश्वस्थित है, अखिल ब्रह्माण्डका बीज है, सत् है, शुद्धक्रिय है, निरञ्जन और नियामक है, इसको जानकर मनुष्य संसार-बन्धनसे शीघ्र छूट जाता है।

यह दो अक्षरोंका राममन्त्र समस्त पापोंका नाशक है। चलते, बैठते, सोते जो मनुष्य रामनाम-कीर्तन करता है वह अन्तमें संसारसे छूटकर भगवान्का पार्षद होता है। यह दो अक्षरोंका मन्त्र करोड़ों मन्त्रोंसे अधिक प्रभावशाली है। जगत्में इससे बढ़कर फल देनेवाला और कोई भी पढ़ने योग्य विषय नहीं है। जिन्होंने रामनामका आश्रय लेलिया है उन्हें यमकी यातना नहीं भोगनी पड़ती। जो अन्तरात्मा-स्वरूप रामनामका उच्चारण करता है वह चराचर जगत्के सम्पूर्ण प्राणियोंमें रमण करता है। यह मन्त्रराज 'राम' भय व्याधिका नाशक, रण-में विजय करानेवाला और समस्त कार्य सिद्ध करनेवाला है। इसके उच्चारणसे सारे तीर्थोंका फल होता है, यह ब्राह्मणोंकी कामना भी पूर्ण करता है। इस मन्त्रराज 'रामराम' के उच्चारणसे सब मनोरथ सफल होते हैं। देवता लोग भी इस गुणोंकी खान रामनामका गान किया करते हैं। जो मनुष्य रामनामका जप करते हैं, वे सब पापोंसे छूट जाते हैं। अतएव हे देवेशि ! तुम भी सदा रामनामका जप किया करो ! यह राम ही समस्त विश्वमें आत्मरूपसे व्याप्त है और अपने तेजसे क्षणभरमें जन्मजन्मान्तरके सभी छोटे बड़े पापोंको भस्म कर डालता है !

(स्कन्दपुराण)
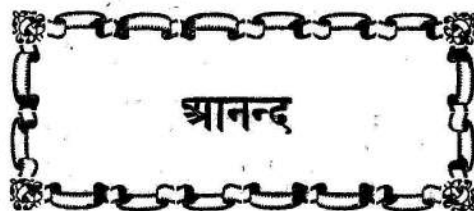
आनन्द

(लेखक-श्रीप्रबोधचन्द्रजी)

तल्लीनता आनन्दकी जननी है। चित्तवृत्ति एकाग्र होकर जब किसी विषयमें लीन हो जाती है, तभी आनन्दका उद्भव होता है। तल्लीनता मूर्त पदार्थमें भी हो सकती है और अमूर्त पदार्थमें भी, मनुष्य किसी सुन्दर पदार्थमें भी तल्लीनता प्राप्त कर सकता है और किसी सुन्दर विचारमें भी। तल्लीनताकी मात्रा जितनी अधिक होती है, आनन्द भी उतना ही अधिक मिलता है और तल्लीनताकी मात्रा जितनी कम होती है, आनन्द भी उतना ही कम होता है। आपको उच्च कोटिका आनन्द तभी प्राप्त होगा, जब आनन्ददायक पदार्थके दर्शन या ध्यानमें आपको अपने अस्तित्व-का भी भान न रहेगा। यदि आप आनन्द-दायक वस्तुसे एकता स्थापित करनेमें असमर्थ हैं, तो आप आनन्दके अधिकारी नहीं हैं। मनुष्यके हृदयमें आनन्द प्राप्त करनेकी स्वाभाविक लालसा होती है, अतएव मनुष्य आनन्दकी खोजमें भटकता फिरता है। किसीको सत्कार्योंमें आनन्द मिलता है, किसीको मद्यपान और वेश्या-गमन जैसे नीच कर्मोंमें आनन्द मिलता है, पर सत्कार्यों-से और बुरे कार्योंसे प्राप्त किये हुए आनन्दमें बड़ा भारी विभेद है। सत्कार्योंद्वारा प्राप्त किया हुआ आनन्द स्थायी होता है और बुरे कार्यों-द्वारा प्राप्त किया हुआ आनन्द क्षणिक। बुरे कार्यद्वारा प्राप्त आनन्दके बाद दुःख झेलनेकी बारी आती है, पर सत्कार्यद्वारा प्राप्त आनन्दमें यह बात नहीं होती। बुरा कार्य मनको कमजोर बनाकर तृष्णा उत्पन्न करता है, पर सत्कार्य मनको सन्तोष देता है। तृष्णासे व्यग्रता उत्पन्न होती है, पर सन्तोष तल्लीनताका सहायक है। व्यग्रता दुःखकी जननी है पर तल्लीनता आनन्द-की। यही कारण है कि बुरे कार्यद्वारा प्राप्त आनन्दके बाद दुःखका आगमन अनिवार्य है। इससे यह स्पष्ट है कि आदर्श आनन्द वही समझा जा सकता है, जिसमें चित्तवृत्तियोंकी तल्लीनता स्थायी हो तथा जो व्यग्रताका कारण न बन बैठे।

आत्मसंयम व्यग्रताको दूरकर चित्तमें एकाग्रता स्थापित करता है। आत्मसंयम पहले दुःखप्रद मालूम होता है, पर इसका एकमात्र कारण है चित्तवृत्तियोंकी उच्छृङ्खलता। थोड़े अभ्यासके बाद आत्मसंयममें सुख मिलने लगता है। आत्म-संयममें वह नशा नहीं होता, जो यश बड़ाई आदिमें होता है, पर आत्मसंयमसे एक अपूर्व शान्ति मिलती है, जो अन्यत्र अप्राप्य है।

आत्मसंयमसे चित्तवृत्तियां एकाग्र तो अवश्य होती हैं, पर आत्मसंयम उनके लिये कोई ऐसा सामान उपस्थित नहीं करता, जिसमें वे तल्लीनता प्राप्त कर सकें, अतएव आत्मसंयम अभावात्मक होता है। सिमटी हुई चित्तवृत्तियों-के लिये तो कोई ऐसी चीज चाहिये, जिसमें वे तल्लीनता प्राप्त कर सकें। यह वस्तु लोकसेवा, स्वार्थरहित प्रेम अथवा भगवच्चिन्तन ही हो सकता है। स्वार्थके अभावके कारण इनमें तृष्णाजनित व्यग्रता उत्पन्न नहीं होती और चित्तवृत्तियोंकी तल्लीनता भी स्थायी हो जाती है। यह मनुष्यके हृदयमें नैसर्गिक माधुर्यकी वह धारा प्रवाहित कर देते हैं, जिसमें परमानन्दकी लहरियां हिलोरें मारा करती हैं।

ईश्वरकी ओर झुकें

ल्याणकी पाठिका एक बहन लिखती है कि 'माताएं मोह छोड़कर बालकोंको पढ़नेके लिये गुरुकुलोंमें भेजें, गहने तथा विलायती वस्त्रोंसे घृणा करें और शौकीनी छोड़कर ईश्वरकी ओर झुकें,' इन विषयोंपर कल्याणमें कुछ अवश्य लिखना चाहिये।

एक दूसरी सुशिक्षिता बहनने वर्तमान स्कूल कालेजोंकी बुराइयां, बढ़ती हुई फैशन और कर्तव्यविमुखता, धर्म-हीनता, ईश्वरभक्तिका ह्रास, विलासिता और विदेशी सभ्यताकी तरफ शिक्षिता बहनोंकी बढ़ती हुई रुचिकी ओर ध्यान खींचते हुए इन बुराइयोंसे बचकर सब परमात्माकी ओर झुकें, इस विषयपर कुछ लिखनेके लिये विशेषरूपसे आग्रह किया है !

यद्यपि 'कल्याण'में साधारणतः अध्यात्मविद्याके प्रचार, और विलासिता त्यागकर ईश्वरकी ओर झुकनेके विषयमें प्रायः लिखा ही जाता है। हमारा विचार ईश्वरभक्ति और वैराग्य, सदाचारके सिवा अन्य बहिरंग विषयोंपर कुछ लिखनेका भी नहीं था तथापि इन बहनोंके विशेष अनुरोधसे आज प्रसंगवश इन विषयोंपर कुछ लिखना पड़ा है। किसी बहन या भाईको कोई शब्द अप्रिय लगे तो वे क्षमा करें, हमारा विचार किसीके चित्तपर आघात पहुंचानेका नहीं है, अपना मत जो कुछ हृदयसे ठीक जंचा वही लिख दिया। यह आग्रह भी नहीं है, कि कोई इसे मानें। यदि किसीको अपनी बुराइयां दीखें तो उन्हें सुधारनेका अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। पहली बहनने तीन विषय बतलाये हैं इन तीनोंपर विवेचन करनेमें दूसरी बहनकी बातोंका उत्तर भी शायद आजायगा।

(१) माताएं मोह छोड़कर अपने बालकोंको ऋषिकुल गुरुकुलोंमें भेजें।

(२) गहने और विलायती वस्त्रोंका व्यहार तथा शौकीनी छोड़ें।

(३) ईश्वरकी ओर झुकें।

इन तीनोंमें तीसरी बात सबसे पहले आवश्यक है। मनुष्यजीवन ईश्वरको प्राप्त करनेके लिये ही है। समस्त सांसारिक कार्य इसी महान् उद्देश्यको सतत सामने रखकर करने चाहिये। इसीको भूल जानेके कारण आज हम लक्ष्य-भ्रष्ट होकर अनेक प्रकारके कष्ट भोग रहे हैं, इसीसे आज हमारा जीवन अशान्त और त्रिताप-तप्त है, इसीसे तरह तरहके दुःख दावानलसे जगत् दग्ध होरहा है, इसीसे हमारा कोई कार्य शुद्ध सात्त्विकताको लिये हुए प्रायः नहीं होता! यदि मनुष्य अपने इस महान् लक्ष्यपर स्थिर होकर समस्त कर्म भगवान्की 'कुरुष्व मदर्पणम्' आज्ञाके अनुसार उनके अर्पण-बुद्धिसे करने लगे तो सारे दुःख-कष्टोंका अनायास ही अन्त होसकता है। अतएव ईश्वरकी ओर झुकना तो सबसे पहली और सबसे अधिक आवश्यक बात है। इसमें स्त्री पुरुषका कोई भेद नहीं है। ईश्वर-प्राप्तिके सब समान अधिकारी हैं। सरलहृदया स्त्रियां तो तर्कजालग्रस्त पुरुषोंकी अपेक्षा सच्ची भक्ति होनेपर संभवतः परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र कर सकती हैं।

आवश्यकता लक्ष्य बदलनेकी है, कर्मोंका स्वरूप बदलनेकी नहीं। घरका प्रत्येक कार्य ईश्वरकी सेवा समझकर निःस्वार्थ बुद्धिसे करना ईश्वर-भक्ति ही है। जो स्त्री पुरुष परमात्माका नित्य स्मरण रखते हुए सब कार्य उसीकी आज्ञानुसार उसीके लिये करते हैं, वे भी सच्चे भक्त हैं, ऐसे भक्तोंसे पाप कर्म कभी नहीं होसकते। शरीरसुखकी स्पृहा ही पाप करानेमें प्रधान कारण होती है, जब साधककी बुद्धि ईश्वरकी सेवाके महत्वको जान जाती है तब उसमें शरीर-सुख-स्पृहा नहीं ठहर सकती। जैसे सूर्यका उदय

होनेपर अन्धकारको कहीं जगह नहीं मिलती, इसीप्रकार ईश्वरप्रेमकी जागृति होनेपर विषयप्रेमका नाश हो जाता है। जब विषयप्रेम ही नहीं रहता तब विषयोंकी प्राप्तिके लिये पाप क्यों होने लगे ? अतएव हमारी मा बहनोंको चाहिये कि वे अपने जीवनकी गति ईश्वरकी ओर करदें। यह होजानेपर सारा मोह आपसे आप छूट जायगा, ईश्वरप्रेमसे सात्विक भावोंके विकासके साथ ही साथ बुद्धि इस बातका अचूक निर्णय करनेमें आप ही समर्थ हो जायगी कि कौनसा काम करना और कौनसा नहीं करना चाहिये !

आज जो माताएं बालकोंको मोहवश या मिथ्या प्यार-दुलारके कारण पाठशालाओंमें भेजनेसे हिचकती हैं, विद्यालाभकीअवधिसे पूर्व ही प्रमादवश बालकोंका विवाह-कर बधूका मुख देखना चाहती हैं, कर्तव्यका ज्ञान होनेपर वे स्वयं हानि लाभ समझकर उचित व्यवस्था करने लगेंगी। वही माता पिता बालकके वास्तविक हितैषी हैं जो उसे सत्विद्या सिखाकर इसलोक और परलोकमें सुखी बनानेका प्रयत्न करते हैं। परन्तु जो मोह या स्वार्थवश उन्हें पढ़ाना नहीं चाहते, या ऐसी विद्या पढ़ाते हैं जिससे वे किसी भी भले बुरे उपायसे केवल धन कमाना ही सीख जायं, अथवा उन्हें बाल्यावस्थामें ही विवाह-बन्धनमें बांधकर उनके ब्रह्मचर्यका नाश कर डालते हैं वे वास्तवमें बालकोंके सच्चे हितैषी मा बाप नहीं हैं।

परलोकवाद और परमात्माको माननेवाले प्रत्येक व्यक्तिको यह मानना पड़ेगा कि अपने किये हुए अच्छे बुरे कर्मोंके अनुसार परमात्माके विधानसे अच्छी बुरी योनियां और सुख दुःख प्राप्त होते हैं। अच्छे बुरे कर्मोंका होना सत्संग कुसंग और सत्विद्या कुविद्यापर विशेष निर्भर करता है, अतः जो माता पिता बालकोंको कुसंगमें रखकर या उन्हें कुविद्या दान करवाकर उनके भविष्य जीवनको-परलोकको बिगाड़ देते हैं, वे वास्तवमें उनके साथ भ्रमवश शत्रुताका ही कार्य करते हैं।

प्राचीनकालकी शिक्षापद्धति और शिक्षालयोंमें जो बात थी सो आज नहीं है। चक्रवर्ती राजाका पुत्र और दरिद्र कङ्गालका बालक दोनों ही अरण्यवासी, दयामय, ब्रह्मज्ञाननिष्ठ, विजितेन्द्रिय, सर्वविद्यानिधान, ईश्वरभक्त, सन्तोषी, समदर्शी आचार्यके यज्ञ-धूम-धूसरित नदीतीरस्थ प्राकृतिक शोभासम्पन्न पवित्र आश्रममें सहोदर भाइयोंकी भांति एक साथ रहकर युवावस्था प्राप्त न होनेतक बड़ी सावधानीसे ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए संयम, विनय और निष्कपट सेवाके बलसे शुद्ध विद्याध्ययन करते थे। आज न वैसे गुरु हैं, न गुरुकुल हैं और न वैसे शिष्य ही हैं !

इस समय जिस स्थूलवादप्रधान जड़ शिक्षाका प्रचार हो रहा है। वह तो भारतीय सभ्यता और संस्कृतिका नाश करनेवाली ही सिद्ध हो रही है। स्कूल कालेज और उनके छात्रावासोंका दृश्य देखिये। विद्यासे विनयसम्पन्न होनेकी बात तो दूर रही, आज कालेजोंके छात्र प्रायः गर्वमें भरे हुए मिलते हैं, जहां विद्यार्थीजीवनमें महान् संयमकी आवश्यकता है, वहां आज उच्छृङ्खलता इन्द्रिय-परायणता, विलासिता और फैशनका प्राधान्य हो रहा है। सजावट बनावटकी भरमार है। छात्रावासोंमें यज्ञसामग्रियों-की जगह आज चश्मा, नेकटाई, रिष्टवाच, दर्पण, कंघा, सेफ्टी रेज़र, साबुन, सेंट और तरह तरहके जूते मिलते हैं। दिल्लगियां उड़ाना, भद्दी ज़बानें बोलना, परस्पर अनुचित प्रेमपत्र भुगताना, प्रोफेसरोंके मज़ाक़ उड़ाना, बड़ोंका असम्मान करना और हर किसीकी निरंकुश आलोचना करना उनके लिये मामूली बात हैं। चरित्रबल तो बुरी तरह नाश हो रहा है, छात्र-जीवनमें ही तरह तरहकी बीमारियां घेर लेती है। स्वास्थ्य बिगड़ जाता है,आंखोंकी ज्योतिका घट जाना तो आजकलके शिक्षित नवयुवकोंकी आखोंपर चश्मोंकी संख्या देखनेसे ही सिद्ध है। जो छात्र बहुत संयमी समझे जाते हैं, वे प्रायः नवीन सभ्यता, उन्नति या क्रान्तिके नामपर घरकी बातोंसे घृणा करने और पुरानी नामधारी वस्तुमात्रको अनावश्यक और अवनति-का कारण समझ बैठते हैं। धर्मको अनावश्यक समझना, धर्म कर्मसे घृणा होना तो इस शिक्षा और शिक्षालयोंके वातावरणका सहज परिणाम है। दुःखकी बात है पर सत्य है कि आजकल हमारे स्कूल कालेजोंमें छात्रोंके चरित्रबलका बुरी तरह नाश होने लगा है। छात्रोंपर असर पड़ता है अध्यापकोंके जीवनका, परन्तु अधिकांश अध्यापक प्रायः उन्हीं कालेजोंसे निकले हुए परिमित अनुभवसम्पन्न जवान

अत्र ही होते हैं, उनसे हम इन्द्रियजयी साधनसम्पन्न ऋषिमुनियोंके चरित्रकी आशा भी नहीं कर सकते !

इसके सिवा आजकलकी शिक्षामें खर्चके मारे तो गृहस्थ तबाह हो जाता है। पुत्रको ग्रेजुएट बनानेमें गरीब पिताको कितनी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, इस बातकी उस बेपरवा मनचले छैले पुत्रको खबर भी नहीं होता। पिता बड़ी उमङ्गसे बुढ़ापेमें सुख मिलनेकी आशासे ऋण करके पुत्रको पढ़ाता है परन्तु आजकलका पढ़ा लिखा पुत्र अपने पिता पितामहोंको अपने मन मूर्ख मानने लगता है। घरका काम करनेमें उसे लज्जा मालूम होती है। किसानका लड़का पढ़ लिखकर खेती करनेमें या दूकानदारका लड़का दूकानदारी करनेमें अपनी शानमें बट्टा लगना समझता है। घरका स्वाभाविक काम छूट जाता है, नौकरी मिलती नहीं, दुर्गति जरूर होती है। आजकल भारतमें जिस बेकारीसे लोग हैरान हैं उसका एक कारण यह शिक्षा भी है। मेहनत मजदूरी या कारीगरीसे काम चलानेवालोंकी अपेक्षा सभ्य पढ़े लिखे बाबुओंकी अधिक दुर्दशा है !

कालेजोंसे निकले हुए छात्रोंमेंसे कुछको छोड़कर अधिकांश प्रायः तीन श्रेणियोंमें बंटते हैं। वकील, डाक्टर और क्लर्क। यह बात निर्विवाद है कि जितने वकील डाक्टर बढ़े हैं, उतने ही मुकद्दमे और बीमारोंकी संख्या बढ़ी है। क्लर्कोंकी वृद्धिसे चरित्रबल नष्ट हो रहा है। नौकरी चाहिये, उम्मेदवारोंकी भरमार है। सस्तेसे सस्तेमें रहनेको तैयार हैं। इधर मंहगी बढ़ी हुई है, कम नौकरीमें पेट भरता नहीं, मजबूरन चोरियां करनी पड़ती हैं 'बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्' यह इस शिक्षाका परिणाम है। खेद तो इसी बातका है कि इसप्रकारकी धर्म-संयम-हीन शिक्षाका भयानक दुष्परिणाम देखते हुए भी हम लोग व्यामोहसे उसीके प्रचारमें अपना पूरा लाभ समझ रहे हैं। यही हमारी विपरीत बुद्धिके लक्षण हैं ! मनीषियोंको चाहिये कि वे इस दूषित शिक्षाप्रणालीमें शीघ्र आवश्यक परिवर्तन करानेका प्रयत्न करें।

ऋषिकुल गुरुकुलोंकी स्थापना प्रायः इसी उद्देश्यसे हुई थी कि वे संस्थाएं इन दोषोंसे बची रहें, परन्तु अभीतक उन सबकी स्थिति भी सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि वातावरण और अध्यापक सभी जगह प्रायः एकसे ही हैं। तथापि स्कूल कालेजोंकी अपेक्षा इनमें कहीं कहीं कुछ संयम और धर्मशिक्षाकी ओर भी ध्यान दिया जाता है। कई जगह कमसे कम अठारह सालकी उम्रतक बालकको अविवाहित रखनेका अनिवार्य नियम है। यदि प्रबन्धकर्ता अच्छे हों तो अन्ततः इन संस्थाओंमें एक सीमातक ब्रह्मचर्य रक्षाकी स्कूल कालेजोंकी अपेक्षा कुछ अधिक सम्भावना की जासकती है। कमसे कम इसी लाभकी दृष्टिसे माताओंको मोह छोड़कर अपने बालकोंको ऐसी चुनी हुई संस्थाओंमें अवश्य भेजना चाहिये. जहां कमसे कम अठारह सालकी उम्रतक उनके ब्रह्मचर्यकी वास्तविक रक्षाके साथ ही धार्मिक शिक्षाका समुचित प्रबन्ध हो। माता वही है जो अपने बालकका परलोक सुधारना चाहती है देवी मदालसाने लोरीमें ही पुत्रोंको ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया था। बच्चोंका इहलौकिक और पारलौकिक सच्चा हित उनको ब्रह्मचारी, वीर, धीर, संयमी, सत्यवादी और अनन्य ईश्वरभक्त बनानेमें ही है। माताओंको इस ओर पूरा ध्यान देना चाहिये। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

'पुत्रवती युवती जग सोई,
रघुपति-भगत जासु सुत होई।
नतरु बांझ भलि बादि बियानी,
राम बिमुख सुततें हित हानी॥

गहनोंका अधिक व्यवहार भी बड़ा हानिकर है। गहनोंकी प्रथाके कारण ही भले घरके गरीब लड़कोंको प्रायः लड़कियां नहीं मिलतीं, ऋण करके भी गहने चढ़ाने पड़ते हैं। माताएं गहनोंका मोह छोड़ दें तो उनका और समाजका दोनोंका भला है। गहनोंके कारण ही घरोंमें प्रायः लड़ाइयां हुआ करती हैं। गहना पहननेवाली बहनोंको यह समझ रखना चाहिये कि शोभा गहनों कपड़ोंमें नहीं है। सच्ची शोभा शील, सदाचार और सादगीमें है जिससे लोक परलोक दोनों सुधरते हैं। इसीप्रकार विदेशीवस्त्रोंसे देशकी और धर्मकी बड़ी हानि हो रही है। आर्थिक हानि तो है ही, परन्तु लाखों मन जानवरोंकी चर्बी इन कपड़ोंमें लगती है, यही हाल यहांकी मिलोंके बने कपड़ेका है, इसलिये जहांतक हो सके, बहनोंको चरखेसे कते हुए

सूतके हाथसे बुने कपड़े ही पहनने चाहिये। इनमें चर्बी नहीं लगती, गरीब भाई बहनोंका कताई बुनाईसे पेट भरता है। उन्हें पेटके लिये पाप नहीं करना पड़ता, जीव-हिंसा नहीं होती, पवित्रता बनी रहती है, लज्जा नहीं जाती और धर्म बचता है।

अब दो शब्द शिक्षिता बहनोंसे, इस शर्तपर कि वे इस अप्रिय सत्यके लिये कृपाकर नाराज न हों--आजकल पढ़ीलिखी बहनोंमें फैशनकी बीमारी बहुत जोरसे बढ़ रही है, वे ज्यादा गहना पहनना तो पसन्द नहीं करतीं, परन्तु जो एक दो अंगूठियां, चूड़ियां या कर्णफूल आदि रखना चाहती हैं, वे जरूर बहुमूल्य चमकदार रत्नोंकी चाहती हैं। विलायतीकी जगह देशी वस्त्र या खादी पहनती हैं, परन्तु फैशनकी भावना बढ़ती जाती है, पढ़ीलिखी बहनें घरके काम-काजमें, रसोई बनाने आदिमें, पति या ससुरकी सेवा करनेमें प्रायः उपेक्षा करती हैं। इन कामोंको वे हीन और नौकर नौकरानियोंके करने लायक समझती हैं। और लेख लिखने, नाटक उपन्यास गल्प आदि पढ़नेमें विशेष रुचि रखती हैं। कई बहनोंको सन्तानके पालन पोषणमें भी कष्ट मालूम होने लगा है, यों देशी पोशाकके अन्दर धीरे धीरे विदेशी सभ्यताकी संक्रामक व्याधिका विस्तार होरहा है। यह बात धीरे धीरे बहनोंके लेखों, कविताओं, उद्गारों और उनके चरित्रोंसे सिद्ध होने लगी है। बहनोंको सावधान रहना चाहिये। यूरोपका दाम्पत्य-जीवन हमारा आदर्श कदापि नहीं है। वहांकी ऊपरी चमक दमक और स्त्रीस्वातन्त्र्यकी मधुर मोहनीमें कभी नहीं भूलना चाहिये। यूरोपकी स्त्रियां आजकल सन्तानोत्पादन और सन्तानके लालन-पालनतकको भाररूप समझकर मातृत्वका नाश करनेपर भी उतारू हो चली हैं। किसी वैराग्यसे नहीं, बेहद आरामतलबी और अनुचित विलासप्रियतासे! यूरोपका आदर्श हिन्दू-ललनाओंके लिये बड़ा ही घातक है। सुधार, संस्कृति, शिक्षा, सभ्यता, उन्नति, प्रगति या क्रान्ति आदिके नामपर कहीं सर्वस्व-नाशकारी 'विषकुम्भं पयोमुखम्' का प्रयोग न होजाय! सावधान!

वास्तवमें नश्वर शरीरको सजाकर सुन्दर बननेकी लालसा तो हास्यास्पद ही है। इसमें कौनसी वस्तु ऐसी है जो सुन्दर हो? घृणित वस्तुओंसे बने हुए इस ढांचेको सजाना प्रमादके सिवा और कुछ भी नहीं है। शरीरके सजावटकी भावना इसी वासनाके कारण होती है कि 'दूसरोंमें मैं अच्छा दीखूं।' इस भावनासे सुन्दर गहने-कपड़े पहनने न पहननेका उतना सम्बन्ध नहीं है, जितना मनका। सुन्दरता किसी वस्तुमें नहीं है, वह अपने मनकी भावनामें, कोई बहन खूब गहनोंसे लदकर बाहर निकलनेमें अपनी शोभा समझती है, तो कोई दूसरी तरहकी बाहरी टीपटापमें समझती है। अतएव बहनोंको मनसे विलासिता, फैशनका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

इसके सिवा जिस देशमें करोड़ों अपने ही जैसे शरीरधारी भाई बहनोंको पेटभर अनाज और लाज रखनेके लिये चार हाथ कपड़ा नहीं मिलता, उस देशके लोगोंको वास्तवमें गहने कपड़ोंसे सज्जित होनेका धर्मतः अधिकार ही क्या है? शरीरको सुन्दर बनाने और दिखानेकी भावनाको हटाकर जगत्की परिमित और जहां तहां बिखरी हुई अल्प सुन्दरता-का मोह छोड़कर उस सुन्दरताकी खान सर्वव्यापी, सबके अधिष्ठान अतुलित-सुन्दर परमात्माके प्रति मन लगाना चाहिये, जिसकी सुन्दरताका एक परमाणु पाकर जगत्के असंख्य नरनारी सौन्दर्यके मदमें मतवाले होरहे हैं—जिस प्रेमसिन्धुकी एक बूंदसे जगत्में, माता पिताका सन्तानमें गुरुका शिष्यमें, स्त्रीका स्वामीमें, स्वामीका स्त्रीमें, मित्रका मित्रमें, भ्रमरका गन्धमें, चकोरका चन्द्रमामें, चातकका मेघमें, कमलका सूर्यमें, इन नाना रूपों और नामोंमें बंटकर भी जो प्रेम नित्य नया बन रहा है, अनादिकालसे अबतक चला आरहा है, तथापि यह प्रेम कभी पुराना नहीं होता!

हम सबको उस परमात्माकी ओर लगनेकी ही चेष्टा करनी चाहिये। एक दिन इस शरीरको अवश्य छोड़ना होगा उस समय सब नाते छूट जायंगे। सबसे सम्बन्ध टूट जायगा जगत्का सम्बन्ध अल्प और अनित्य है, वास्तवमें नाटकवत् है। यहां तो बड़ी सावधानीसे रहना चाहिये। जैसे नाटकका पात्र नाटककी किसी भी वस्तुको, यहांतक कि पोशाकको भी अपनी न समझकर रंगमंचपर अपने स्वांगके अनुसार सावधानीसे अभिनय करता है, जैसे चतुर नमकहलाल और ईमानदार नौकर सचेत और धर्मपर डटा रहकर मालिकका काम करता है, उसीप्रकार परमात्माके नाट्यमंच

इस जगत्‌में हमलोगोंको इस जगन्नाटकके उस एकमात्र स्वामी और सूत्रधार प्रभुकी आज्ञानुसार उसीके लिये, उसीकी शक्तिके सहारे उसीके गुणोंका स्मरण करते हुए, अपना अपना कर्तव्यकर्म बड़ी सावधानीसे निर्लेप रहकर करना चाहिये। जिसके जिम्मे जो काम हो वही करे, पर करे प्रभुके लिये और प्रभुका समझकर, किसी भी वस्तुपर अपनी सत्ता न समझे, यहांतक कि अपनेपर भी अपनी सत्ता नहीं! भगवान्‌की इस आज्ञाको सदा स्मरण रखना चाहियेः—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

करुण-क्रन्दन

(१)
अगम अमित अर्णव अथाह है
नीरव रजनीका विस्तार ।
तुङ्ग तरङ्गोंसे विघुरित है
जीवन नौकाका पतवार ॥

(२)
जलद मध्य चञ्चल चपलायें
भीषण नृत्य दिखातीं व्यस्त ।
करुणा देवी सजल नेत्रसे
अविरल अश्रु बहाती त्रस्त ॥

(३)
सुमधुर तन्द्रामें रत माँझी
अलस झूमता है सुखलीन ।
किन विपुला अनन्त लहरों पर
बहती नौका छोर विहीन ?

(४)
कम्पित जीवनकी ये घड़ियाँ
चञ्चल जल छायाकी भांति ।
आशाकी अति प्रबल वञ्चना—
में हैं मचा रहीं सम्भ्रान्ति ॥

(५)
बाह्य विश्व भी क्रान्ति रूपका
धारण कर कलुषित संभार ।
अन्तस्तलके क्षुब्ध भावसे
मिला रहा है अपना तार ॥

(६)
आशा शून्य गगन ऊपर है
नीचे नील सिन्धु सञ्चार ।
जीवन तरणि जीर्ण है मेरी
विश्वपते ! सुषमा आगार ॥

(७)
विश्वपोतके मांझी वर ! क्षत
बेड़ा पार लगा देना ।
लक्ष्यहीन पथिकोंके हित अब
सुखमय हाथ बढ़ा देना ॥

—सत्याचरण "सत्य" विशारद

पारस

(लेखक—कवीन्द्र श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर)

वृन्दावन यमुनातट बैठे साधु सनातन !
जपते थे हरिनाम प्रेमसे कर निश्चल मन ।
इसी समयमें एक दीन ब्राह्मणने आकर,
सादर किया प्रणाम भक्तको शीश झुकाकर ।
पूछा उससे, 'देव ! कहांसे आप पधारे,
कहिये अपना नाम काम किस यहां सिधारे ।'
ब्राह्मण कहने लगा, 'कहूं क्या ? दर्शन पाया-
आज आपका, बहुत दूरसे भटका आया,
बर्दवानके जिले, मानकर गांव हमारा,
जीवन मेरा नाम दीन अति ही दुखियारा,
मुझसा और अभागा नहीं जगत्में कोई,
यज्ञ-यागमें बड़ी कीर्ति थी पहले, खोई ।
जगह जरासी बची, हो रहा है नीचा सिर,
थोड़ी सी है आय,नहीं चलता उससे घर ।
उन्नतिकी इच्छासे शिवकी की उपासना,
वर चाहा मैंने थी जैसी मनोकामना ।
शेष रातको एक दिवस शिवने सपनेमें-
मुझसे कहा, 'मिलेगा है जो मांगा तुमने ।'
जाओ यमुना तीर, सनातन गोस्वामीके-
पकड़ो दोनों चरण भक्त-हित-अनुगामीके ।
समझो उनको पिता-तुल्य यह निश्चय मानो,
धनका सुगम उपाय हाथ उनके ही जानो ।'
सुन ब्राह्मणकी बात, सोचने लगे सनातन,
'कुछ भी तो है नहीं इसे देनेको अब धन,
जो कुछ था सब छोड़ छाड़ वृन्दावन आया,
भीख मांगकर उदरपूर्तिका काम चलाया ।
सहसा आयी याद, भक्तने कहा तमक कर-
'हां, हां, उसदिन नदी तीरपर पारस पत्थर-
पड़ा मिला, तब वहीं धूलमें गाड़ दिया था,
आये किसके काम कभी,यह ख्याल किया था ।'
'जाओ ब्राह्मण ! उसे निकालो अभी धूलसे-
दुःख तुम्हारा तुरत दूर हो विप्र ! मूलसे ।'
ब्राह्मण आकर लगा हटाने बालू सत्वर,
ढूंढ़ निकाला मनचाहा वह पारस पत्थर ।
लोहेके ताबीज विप्रके पास रहे दो,
पारसके छूते ही सोना बने तुरत वो ।
अचरजमें पड़ ब्राह्मण तब बैठा बालू पर,
लगा सोचने मन ही मन वह विविध तर्क कर ।
यमुनाने कल्लोल-गानसे बातें कितनी—
समझायीं चिन्तित ब्राह्मणको चहिये जितनी ।
नदी पार छा रही लालिमा थी नभमण्डल ।
क्लान्त हुए दिवसान्त सूर्य पहुंचे अस्ताचल ।'
तब ब्राह्मण, गिर पड़ा भक्त-चरणोंमें जाकर'
पुलकित तन होगया कहा फिर अश्रु बहाकर ।
'जिस धनसे हो धनी आप हे साधु सनातन !
नहीं समझते कुछ भी इस पारसको निज मन ।
उस धनका कुछ अंश दीजिये मुझे दया कर ।'
फेंका पारस यमुनामें बस, इतना कह कर ।

(बंगलाका भावानुवाद)

जीवन-ध्येय

(लेखक—श्रीसीतारामजी अग्रवाल)

प्रत्येक मानवहृत्तन्त्रीकी तरङ्गित झंकार जीवनको सदा सुख शान्तिमय बनानेकी उत्कट अभिलाषा ही प्रकट करती है।

इस विनोदमय तन्त्रीका यह लीलामय नाद मानव-हृदयको स्वार्थपूर्ण इच्छाका परिचय देकर ही समाप्त हो जाता है, किसीको वास्तविक सुखका ज्ञान नहीं कराता, भ्रममें अवश्य डाल देता है!

इस तन्त्रीके मनोहारी सुमधुर स्वरोंद्वारा प्रवाहित आशा-स्रोतमें परिप्लावित होकर हम अपने जीवनको नष्ट कर देते हैं। वास्तविक सुखसे अपरिचित होनेके कारण हमारी मानसिक वृत्ति मृगमरीचिकाके समान रमणीय आवरणसे आच्छादित दुःखको ही सुख समझकर उसकी प्राप्तिसे शान्ति पानेका व्यर्थ प्रयत्न श्रान्त हो जाता है।

परम सुखरूप ध्येयकी प्राप्तिके लिये किसी भी साधनमें प्रवृत्त होनेसे पहले हमारा सबसे पहला कर्तव्य यह है, कि हम उस ध्येयका स्वरूप समझ लें, अर्थात् वास्तविक सुखका हमें पूर्णरीतिसे ज्ञान हो जाये।

हमारा पाञ्चभौतिक शरीर जड़ है। मृत्युके अनन्तर यह स्थूल शरीर पञ्चभूतोंमें लय हो जाता है, मृत्यु जीवका उपराम नहीं है। जड़ वस्तुको सुख दुःखका अनुभव नहीं हो सकता। अतः शारीरिक सुखकी चिन्ता करना सर्वथा व्यर्थ है। आत्मिक सुख ही वास्तविक सुख है।

संसारमें सम्पत्तिशाली पुरुषोंकी कमी नहीं है। परन्तु उनके जीवनका सम्यक् निरीक्षण करनेसे पता लगता है, कि उन लोगोंका जीवन भी सर्वथा दुःखमय है। प्रथम तो उन्हें उस पार्थिव सम्पत्तिके उपार्जनमें महान् कष्टोंका सामना करना पड़ता है। तदनन्तर उनके जीवनका विशेष भाग उस सञ्चित सम्पत्तिकी रक्षा और वृद्धिकी चिन्तामें ही व्यतीत हो जाता है

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

जेम्स-व्हाइट नामक सज्जन लन्दनके एक प्रसिद्ध करोड़पति थे। पर कालकी विलक्षण गति अति तीव्र है किसी भी वस्तुके नाश होनेमें देर नहीं लगती। 'सर्वे पतनान्ताः समुच्छ्रयाः'। कालचक्रने उनकी कुल सम्पत्तिका नाश कर दिया। अन्तमें उन्हें आत्महत्या करनी पड़ी! संसारमें कब किसके जीवनका स्वर्ण-शृङ्गार नष्ट होगा, किसका विलासमय अभिनय कब भंग हो जायगा, किसकी आनन्द-वाटिका कब सर्वथा विध्वंस हो जायगी, इसका कोई निश्चय नहीं है। अतः किसी भी सांसारिक वस्तुसे प्रेम करना नितान्त मूर्खता है, संसारकी प्रत्येक वस्तु अनित्य है, और उसके क्षयका समय हमारे लिये अनिश्चित है!

इससे विदित होता है कि सांसारिक क्षणस्थायी वस्तुओंमें प्रेम करनेसे आन्तरिक सुख कभी नहीं प्राप्त हो सकता क्योंकि जिस वस्तुसे हम प्रेम करते हैं वह अनित्य है, अनित्यका वियोग अवश्य होगा, जहां संयोगमें सुख होता है, वहां उसके वियोगमें अति दुःसह दुःख होना अवश्यम्भावी है।

बड़ेसे बड़े सांसारिक भोगोंसे भी आत्मिक सुख प्राप्त नहीं हो सकता। भोगोंके उपभोगके

अनन्तर हमारा चञ्चल मन कभी विश्रान्तिको प्राप्त नहीं होता, वरन् भोगलिप्सा उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है।

'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।'

इससे यह प्रमाणित है कि जबतक हमारा मन शान्त नहीं है, जबतक हमारा मन सांसारिक क्षणिक भोगोंसे निवृत्त नहीं है, तबतक हम आत्मिक सुख कदापि प्राप्त नहीं कर सकते।

मनकी चञ्चलताको दूर करनेका एकमात्र उपाय है, मनको किसी विषयमें लगाना। यह निश्चय हो चुका है कि सांसारिक वस्तुओंसे प्रेम करनेसे सुख नहीं वरन् दुःख ही दुःख है। संसारके निकटतम सम्बन्ध भी झूठे हैं। दो प्राणियोंमें प्रेम होना, एक दूसरेका शुभाभिलाषी होना सर्वथा स्वार्थपूर्ण है एवं उच्च भावोंसे हीन है अथवा यों कहा जाय कि स्वार्थका ही दूसरा नाम सांसारिक प्रेम है। अतः हमको सांसारिक बन्धनोंका सर्वथा परित्याग कर किसी नित्य-वस्तुमें मनको एकाग्र करना चाहिये। वह नित्य केवल ईश्वर है। इससे प्रत्यक्ष है कि ईश्वर-भक्ति ही मनको निश्चल करनेका एकमात्र सर्वोत्कृष्ट साधन है।

जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥

परन्तु भगवान्की भक्ति अति दुष्कर है, भगवान्की शक्तिके परिपूर्ण ज्ञानका ही नाम भक्ति है। भगवान्का पूर्ण भक्त वह है जो यह जानता है कि भगवान् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, एवं सर्वव्यापक है। भगवान्को सर्वज्ञ मानकर वह पापोंसे निवृत्त हो जाता है। सर्वशक्तिमान् माननेके कारण उसको प्रत्येक सांसारिक शक्तिमें ईश्वरीय शक्तिका आभास होता है। एवं सर्वव्यापक माननेके कारण वह सब जगत्को ब्रह्ममय देखता है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का वह पूर्ण उपासक बन जाता है। इस उपासनासे उसको एक दिव्य समदृष्टि प्राप्त हो जाती है। जिससे वह संसारी मनुष्योंकी दृष्टिमें जो भयानक दुःख है उसमें भी सुखका ही अनुभव करता है। इसीसे वह नित्य सुखी रहता है।

वास्तवमें यही वास्तविक सुख है। सांसारिक जीव समदृष्टि न होनेसे उसकी प्राप्ति नहीं कर सकते। हम तो दुःखोंको दूर करनेका प्रयत्न करते हैं पर भगवद्भक्तिमें लीन भक्तकी दृष्टिमें किसी दुःखका अस्तित्व ही नहीं रह जाता, उसको सब अवस्थामें केवल सुख ही प्रतीत होता है। समदृष्टि हो जानेके कारण वह दुःख सुखका एकसा ही अनुभव करता है।

इस विवेचनसे यह सिद्ध हो गया कि वास्तविक सुख आत्मिक सुख है और वह मनकी गम्भीर शान्तिसे प्राप्त होता है। मानसिक शान्ति समदृष्टि या सर्वत्र भगवद्दर्शनसे उपलब्ध होती है! और वह समदृष्टि भगवद्भक्तिसे मिलती है! अतएव यह निश्चित है कि भगवद्भक्ति ही मनुष्य-जीवनका वास्तविक ध्येय है।

राम नाम

राजाको राज काज साज बाज नारिन कहँ, क्यारिनतें मालीको नेकु लौ सहारो है।
जोगिन जतीनको सहारो एकन्तहिं तक, स्वारथ हित हितू हजार पगु धारो है॥
आसा न छांड़ै पिंड चाहे कोऊ कछू करै, रहत हमेस चाहे छोटी बैस बारो है।
यारो निहारो बस बिचारो 'प्रेम' चित्त दैकै, अंतहिंमें प्यारो राम नाम ही अधारो है॥

प्रेमनारायण त्रिपाठी, 'प्रेम'

मेरा क्या कर्तव्य है

(लेखक-श्रीभोलेबाबाजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

कलकत्ताके चिड़ियाघरमें वाल्मीकि गोत्रका शुचो नामका एक बुड्ढा भंगी झाड़ू दिया करता था, न्यायचन्द नामका एक युवक ब्राह्मण वहां सैर करने जाया करता था, दोनोंमें एक दिन यह बातचीत हुई।

न्याय:—वाल्मीकिजी ! मैं आपके लिये एक ताजा खुशखबरी लाया हूं, क्या सुनाऊं ?

शुची:—(हंसकर) कुंवरजी ! आप तो बहुत पढ़े हुए हैं मैंने सुना है कि आपने लौजिक (Logic)पढ़ी है,लार्ड बीकन और लार्ड स्पेंसरकी फिलोसोफी भी पढ़ी है, शहरभरमें आपकी तारीफ हो रही है, शहरभरमें ही नहीं, किन्तु आक्सफोर्ड और केम्ब्रिजकी यूनीवर्सिटियां भी आपको प्रशंसा कर रही हैं, कोई एक एम० ए० पास करता होगा, आपने कलकत्ता और केम्ब्रिज दोनों यूनीवर्सिटियोंका डबल एम० ए० (Double M. A.) पास किया है और दोनोंमें प्रथम आये हैं, यूरोपमें आपकी धूम हो रही है, पर यूरोपमें क्यों ब्रह्माण्ड भरमें भी आपकी धूम हो जाय तो क्या हुआ ? कुंवरजी ! बुरा न मानिये, मैं तो आपको पढ़ा हुआ नहीं मानता, आप भले पढ़े हों, परन्तु अभीतक गुने नहीं हैं, इसलिये पढ़े हुए होकर भी कुछ नहीं पढ़े। क्या कभी दुनियामें कोई नयी बात भी होती होगी जो आप मुझे ताजा खबर सुनानेको कहते ? श्रुतिका तात्पर्य बतानेवाली स्मृतियां चिल्ला चिल्लाकर कह रही हैं, कि एक अद्वितीय ब्रह्म सदा एकरस है, वह न घटता है, न बढ़ता है, ज्योंका त्यों रहता है और पश्चिमी फिलासोफी भी यही कहती है कि दुनियांमें कभी कुछ भी नया नहीं है(There is never nothing new in the world) फिर आप मुझे ताजा खुशखबरी कहांसे सुनावेंगे ? अभी आप बालक ही हैं ! (कुछ सोचकर) नहीं ! नहीं !! आप बालक हैं तो क्या हुआ ? हैं तो आप ब्रह्माके पुत्र ! ब्रह्माण्डभरके पूज्य हैं, मैं आपकी जूठन खानेवाला हूं, बुढ़ापेमें सब इन्द्रियां तो शिथिल हो जाती हैं, जीभमें जोर आ जाता है, आप पढ़े हुए बहुत हैं, यह मैंने सुन रक्खा था, आपके मुखसे बच्चोंकी सी बात सुनकर इतनी बातें मैंने आपके सन्मुख कही हैं ! झूठी तो नहीं हैं परन्तु सच्ची भी ऐसी क्यों कहनी चाहिये, जो दूसरेको बुरी मालूम हो ? खैर ! अब आप ताजा खुशखबरी सुनाइये, मैं भी देखूं कौनसी ताजा खुशखबरी है ? जिसको कहनेके लिये आप इतने उत्सुक हैं।

कोई तो हमसे इतनी घृणा करते हैं कि कभी कभी हम पानीतकको तरस जाते हैं और कोई कोई इतने उदार हैं कि हमें ब्राह्मणतक बनानेको तैयार हैं। दोनोंको ही भूल है, न तो हमको प्यासा मारना चाहिये, न ब्राह्मण ही बनाना चाहिये ! भंगीसे ब्राह्मण बन जाते होते तो अबतक हम भंगी क्यों बने रहते ? बनायेसे कोई ब्राह्मण नहीं बन सकता ! बताइये, भंगीपना और ब्राह्मणपना स्थूल शरीरमें है, या सूक्ष्म शरीरमें अथवा आत्मामें ? यदि आप कहें कि स्थूल शरीरमें है तो स्थूल शरीरको आप

बदल नहीं सकते, फिर मुझे ब्राह्मण कैसे बनावेंगे? यदि कहें कि सूक्ष्म शरीरमें भंगीपना और ब्राह्मणपना है, तो सूक्ष्म शरीरको भी आप बदल नहीं सकते, जब मैं शुद्ध करूंगा तभी शुद्ध होगा। यदि मुझे ब्राह्मण बननेकी इच्छा होगी तो स्वयं शुद्ध होकर आप बन जाऊंगा! यदि कहें कि आत्मा अपवित्र है, तो यह तो हो ही नहीं सकता। इसमें कोई प्रमाण ही नहीं है। मनु भगवान्ने कहा है 'स्थूल शरीर पानीसे शुद्ध होता है, मन सत्यसे, चित्त तप और स्वाध्यायसे और बुद्धि ज्ञानसे शुद्ध होती है (मनु ५। १०९) इसी बातको महाशय मंगलसैन मंत्री आ० स० बदायूं अपने पदोंसे पुष्ट करते हैं।

पानीसे फकत तनकी जिला[1] होती है।
अरु सिद्क[2]से बातिन[3]की सफा होती है॥
उर्फानोरयाज[4] रूह[5]को करते हैं पाक।
अरु इल्म[6]से अक्लको जयाँ[7] होती है॥

शरीरको शुद्ध करनेके सब उपाय हैं, आत्मा स्वभावसे शुद्ध है, शुद्धको कोई क्या शुद्ध करेगा? कुंवरजी! स्थूल शरीर तो मेरा आपका और सबका भंगी ही है, सूक्ष्म शरीर पांच सूक्ष्म महाभूतोंका है, अपने वर्णके धर्मका आचरण करनेसे वह शुद्ध होता है और स्वरूपसे तो सब ब्राह्मण ही हैं, आदिमें सब ब्राह्मण ही थे! कर्मानुसार अन्य वर्ण बन गये हैं, जिनको इस भेदकी खबर नहीं है और जो ऊपरकी टीपटापपर मुग्ध हो रहे हैं, वे सुधारा-सुधारीकी झंझटमें पड़े हुए हैं। इन बातोंसे रागद्वेष ही बढ़ता है, दूसरेके सुधारनेसे कोई सुधर नहीं सकता, जो सुधरता है, स्वयं ही सुधरता है। स्वधर्मका पालन करना, सुधरनेकी प्रथम सीढ़ी है, और स्वधर्मका त्याग पतन करनेवाला है, इसमें गीता शास्त्र आदिसे अंततक प्रमाण है। बोलिये! आप क्या नयी खुशखबरी सुनाते थे?

निर्णयः-(प्रसन्न होता हुआ) वाह! वाल्मीकिजी! पुराने चावल फार होते हैं! जो बात मैं कहना चाहता था, वह तो आपने पहले ही रद्द कर दी, अपनी युक्तियोंसे आपने मुझे मात कर दिया! सचमुच मैं अभी गुणा नहीं हूं! अच्छा! आपने जो यह कहा कि पहले सब ब्राह्मण ही थे यह कैसे है? मैंने यह पढ़ा है, कि कुछ कालमें अणुमें चेतनता आ जाती है, एक अणुसे द्वयणुक, द्वयणुकसे त्र्यणुक होजाता है, उससे प्रथम घास होती है, घाससे वृक्ष, वृक्षसे पशु, पशुसे मनुष्य और मनुष्यसे देवता होजाता है। इसप्रकार इवोल्यूशन (Evolution) होता है। यह भी पढ़ा है कि मनुष्य पहिले बन्दर था! अपने शास्त्रोंमें संसारको अनादि कहा है, फिर आदिमें सब ब्राह्मण कैसे थे?

शुचिः-कुंवरजी! सोचनेकी बात है, कि जब आप घरसे चले थे, तब पहले घरके आंगनमें आये थे, फिर देहलीमें, फिर बाहर आये। इसी प्रकार लौटकर जायंगे तो इससे विपरीत करना होगा। इसीतरह जब सब ब्रह्मसे निकले हैं तो सब ब्राह्मण ही हैं, पीछे अपने अपने कर्मानुसार क्षत्रिय आदि होगये हैं। जब कोई गिरता है तो सीढ़ी सीढ़ी होता हुआ ही गिरता है, चढ़ता भी ऐसे ही है। थोड़े कारणवश थोड़ा सरकना हो सकता है, इसलिये ब्रह्मसे ब्राह्मण होसकता है। जो ऐसा मानते हैं कि पहले चेतन नहीं रहता, पीछे आ जाता है, उनका मत मानने योग्य नहीं! असत्से सत् नहीं होसकता, बिना अधिष्ठान भूल नहीं होती। हमारे पूर्वज ब्रह्म और ब्राह्मण थे, बन्दर नहीं थे! इवोल्यूशन (क्रमविकास) वेदका सिद्धान्त नहीं है! हाँ! अविद्या, काम और कर्मके अनुसार शरीरकी बदली होती रहती है। अविद्याके निवृत्त होनेसे शरीरकी निवृत्ति होजाती है। संसारको अनादि इसलिये कहा है कि, संसार कबसे है इसका किसीको पता नहीं है, संसारका कारण

१ कान्ति, २ सत्य, ३ दिल, ४ स्वाध्याय तप, ५ सूक्ष्म शरीर, ६ ज्ञान, ७ रोशनी

अज्ञान है, अज्ञान भूलको कहते हैं, भूलकी आदि ही क्या हो?

निर्णयः—वाल्मीकिजी! आपकी बातें सुनकर तो चित्त बहुत ही प्रसन्न होता है! आपने वेद शास्त्र सभी देखे हों, ऐसा मालूम होता है! क्या तुमको वेद पढ़नेका अधिकार है? 'तुम' कहनेसे मेरा अभिप्राय शूद्रसे है! आपको शूद्र कहते हुए मुझे संकोच होता है!

शुचीः—कुंवरजी! संकोचका क्या काम है? शूद्र कहिये, श्वपच कहिये चाण्डाल भंगी आदि कुछ भी कहिये, सब नाम मेरे योग्य ही हैं। नाम कहनेसे मेरा तो कुछ बनता बिगड़ता है नहीं! मैं तो जो कुछ हूं सो ही हूं! वेद पढ़नेका शूद्रको अधिकार नहीं है, न शूद्रको वेद पढ़नेकी जरूरत ही है! वेदका कर्मकाण्डभाग संसारमें ले जानेवाला है, उसको हम नहीं चाहते और हरदम अशुद्ध रहनेसे निभा भी नहीं सकते। वेदका मन्त्रभाग संसारसे मुक्त करनेवाला है, वह हमको स्मृतियों-द्वारा प्राप्त ही है, फिर हमको वेद पढ़कर क्या करना है? आम खानेसे मतलब है, पेड़ गिननेसे क्या लाभ? हम पढ़े हुए न भी हों तो भी गुरु परम्परासे वेदका रहस्य हमको मालूम रहता है! वेदको न पढ़कर भी हम वेदके पक्के माननेवाले हैं!

निर्णयः—शुचीजी! क्या तुम लोगोंका गुरु होता है? क्या तुमने गुरु किया था? क्या गुरुने कुछ उपदेश दिया था? तुम्हारा काम तो बड़ा नीच है!

शुचीः—कुंवरजी! आप तो गीता पढ़े हुए हैं, फिर भी हमारा काम नीचा बताते हैं। काम तो सभीके नीचे हैं। अच्छा काम किसका है? हमारी समझसे तो ब्राह्मणका काम सबसे निखद्द (निषिद्ध) है। आधि, व्याधि, मरे, जीते, धर्मी, अधर्मी सभीका दान कुदान ब्राह्मण लेता है। क्या यह धर्म अच्छा है? क्षत्रियको युद्धमें भाई, बन्धु, ब्राह्मण आदिकी हिंसा करनी पड़ती है, बहुतसे मनुष्योंको फांसी देनी पड़ती है। क्या यह अच्छा धर्म है? वैश्य जमीन जोतता है तो करोड़ों जीवोंकी हत्या होती है, धन कमाना वैश्यका काम है, धन सब अनर्थोंकी जड़ है, उसीसे वैश्यको हरदम काम रहता है, तब यह धर्म भी अच्छा नहीं है। संन्यासी ब्राह्मणोंका गुरु कहलाता है, उसको मैंने देखा है, 'भंगियोंके समान दरवाजे दरवाजे पर मांगता फिरता है।' इससे सिद्ध है कि कर्म सबका दोषरूप ही है, फिर भी अपना धर्म अपने लिये बुरा होते हुए भी अच्छा ही है, करना ही पड़ता है और करना ईश्वरकी भक्तिरूप है।

हमारा गुरु होता है, मैंने गुरु किया है, उसका उपदेश यह हैः—बच्चा कभी किसीसे घृणा मत किया कर, जैसे माता पिता बच्चोंका गू मूत धोया करते हैं, इसी प्रकार मनुष्य-मात्रको अपना बच्चा समझकर अपने धर्मका पालन करना! घृणा बहुत बुरी वस्तु है, तू पहले ब्राह्मण ही था, तूने उस जन्ममें भंगीसे घृणा की थी, इसीसे तूने भंगियोंमें जन्म लिया है! अब घृणा करेगा तो मनुष्यपनसे भी गिर जायगा! ऊंचा बननेकी कभी इच्छा मत करना, क्योंकि सबके शरीर एकसे ही तो हैं। शरीरसे तो सब भंगी ही हैं। ऊंचा नीचा माया मात्र है। अपना धर्म पालना ही उत्तम है! हमारे पूर्वजोंको राजाओंने पूजा है! श्वपचको भोजन करानेसे युधिष्ठिरका यज्ञ पूरा हुआ था। जो अपने धर्मका आचरण करता है, उसीकी जय होती है। ब्राह्मण बड़ा कहलाता है क्षत्रिय छोटा, फिर भी धर्मका पालन करनेवाला क्षत्रिय उत्तम है, और स्वधर्मका पालन न करनेवाला ब्राह्मण पूज्य नहीं है! राम और परशुरामका वृत्तान्त इस बातका साक्षी है। दोनों ईश्वरावतार होते हुए भी, स्वधर्मका पालन करनेवाले रामकी जय हुई, लक्ष्मणजीने स्वधर्म बलसे परशुरामका निरादर किया, फिर भी उनपर परशुरामका फर्सा न चला। लौकिक ऐश्वर्यकी और पूज्य होनेकी मूर्ख इच्छा करते हैं। सम्यग्दर्शी इन दोनोंको तुच्छ समझता है, एकमात्र ईश्वर-प्राप्तिकी ही इच्छा

करता है । ईश्वर ही ऐश्वर्यवाला है और ईश्वर ही पूज्य है । ईश्वर समान है, इसलिये समदर्शी-को ही ईश्वरकी प्राप्ति होती है । समवर्ती होनेकी आवश्यकता नहीं है । समवर्ती शरीरधारी कभी हो भी नहीं सकता, समवर्ती तो एक यमराज ही है । जो सम बर्ताव करना चाहते हैं, वे मूर्ख हैं। जो जिसका कार्य होता है, उसीको वह करता है, शरीर एक होते हुए भी इन्द्रियां अपना अपना भिन्न कार्य ही करती हैं । घोड़ेका कार्य घोड़ा ही करता है, आदमी नहीं ! दफ्तरमें अनेक शाखाएँ और अनेक क्लर्क होते हैं, कार्य सबका भिन्न भिन्न होता है ! अपना धर्म ही कल्याणकारक है, उसीका आचरण किया कर ! ऐसा करनेसे तेरा कल्याण होगा ! तीनों वर्णको अन्न जल देनेका अथवा छूनेका तुझे अधिकार नहीं है ! ब्राह्मण आदिसे छू जाय तो स्नान किया कर, अशुद्ध हो गया है, इसलिये स्नान नहीं है, किन्तु छूनेका प्रायश्चित्त है ! स्थूल शरीर मांसादिका बना हुआ अपवित्र है, शुद्ध कभी नहीं हो सकता। सूक्ष्म शरीर ईर्षा, घृणा आदि करनेसे अशुद्ध होता है और उदारता समता प्रेम और प्रसन्नतासे शुद्ध होता है, ईर्षा आदिका त्याग और उदारता आदिका ग्रहण तेरा कर्तव्य है । आत्मा स्वरूपसे शुद्ध है ही, उसकी न जाति है, न जन्म है, न मरण है ! स्वधर्मका पालन उसकी प्राप्तिका उपाय है। इस उपदेशको अपने चित्तमें लिख ले, इसीका अनुकरण स्वयं करना और पुत्र आदिसे कराना !

कुंवरजी ! यह मेरे गुरुका उपदेश है, इसीके अनुसार वर्तता हूं । एकबार काशीमें हम लोगोंकी पंचायत हुई, मैं भी वहां बुलाया गया था, बात यह थी कि काशीके ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंने विलायती खांडका बहिष्कार कर दिया और जो खांड मौजूद थी, उसको गंगाजीमें बहा देनेका निश्चय किया। किसी किसीकी यह सम्मति हुई कि खांड बहायी न जाय, भंगियोंको दे दी जाय। जब यह बात भंगियोंसे कही गयी तो उन्होंने पंचायत की और मुझे सभापति बनाया । माल हजारों रुपयोंका था, लोभ बुरी बला है, अच्छे अच्छेको धर्मसे डिगा देता है । बहुतोंकी नीयत लेलेनेकी देखकर मैंने कहा 'भाइयो ! धर्म है तो सब कुछ है, धर्म गया तो सब कुछ गया । मान लिया कि हम तीनों वर्णोंकी जूँठन खानेवाले हैं, नीच गिने जाते हैं, फिर भी यदि हम शास्त्रोक्त अपने धर्मका पालन कर रहे हैं तो चाहे दूसरे हमको भले ही नीच कहें, हम नीच नहीं हैं । अपनी अपनी जातिमें सब चौधरी होते हैं, यदि हम ब्राह्मणोंकी सभामें चौधरी नहीं होसकते तो ब्राह्मण भी हमारी जातिका चौधरी नहीं होसकता! हमारा धर्म जूंठन खाना है, यही ठीक है, जूठी चीज लेनेका हमको अधिकार है ! बिना जूठी तिरस्कार की हुई वस्तु लेनेका अधिकार नहीं है, यदि आप सबकी सम्मति हो तो यह कह देना चाहिये कि ब्राह्मण आदि खांडकी बोरियोंको जूठी करते जायं और हमको देते जायं !' सबने मेरी यह बात मान ली और ब्राह्मण आदि सब इस बातको सुनकर दांतोंके नीचे अंगुली दबाने लगे ! कुंवरजी, अपना धर्म बड़ा है । भगवान‌का यही कथन है और मेरे गुरुने भी मुझे यही उपदेश दिया है । जो भगवान् और गुरुका वचन नहीं मानते, वे अवश्य नरकगामी होते हैं !

निर्णयचन्द एकान्तमें जाकर विचारने लगा, ओहो ! हमसे तो अच्छा यह भंगी ही है ! कितना दृढ़ निश्चयवाला है ! खराबसे खराब काम करता है, फिर भी किंचित् घृणा नहीं करता ! इतनी उदारता किसी ब्राह्मणमें भी न होगी ! गीताके अध्याय१८ श्लोक १०में भगवानने त्यागका स्वरूप जो बताया है, इस भंगीमें घटता है ! हम अपने-को चतुर समझते हैं और काम मूर्खोंकेसे करते हैं, किसीसे राग-किसीसे द्वेष करते हैं, धनकी हानि, जानकी हानि होती है ! मनमें अशान्ति रहती है ! चारों तरफ जहां देखो वहां द्रोहकी आग भड़क रही है ! सब एक सिलके ही तो बट्टे हैं, फिर भी परस्पर द्वेष करते हैं, आश्चर्य है ! परमात्मा

सबको सुबुद्धि दे ! राग-द्वेष दूर करके सबके दिलोंमें शान्ति उत्पन्न करे !

भाई ! ईर्षा न करना, दीन न होना, घृणा न करना, यह उदारता है । जिसमें उदारता है, वह शरीरसे शूद्र होते हुए भी शूद्र नहीं है ! शोक करनेवाला शूद्र होता है, उदारको शोक नहीं होता, इसलिये उदार बन ! उदारका अर्थ ऊपर कह आये हैं । (क्रमशः)

(शेष पृष्ठ सं० ५७१ पर)

समुद्र-गर्जन

(लेखक—श्रीभूपेन्द्रनाथ संन्याल)

जानते हो समुद्र रात दिन क्यों गरजता है ? वैज्ञानिक विद्वान् इसका कुछ उत्तर अवश्य देंगे । परन्तु समुद्रके प्राणोंकी भीतरी बात बतलाना बड़ा ही कठिन है । समुद्रके प्राणोंमें आठों पहर कितनी व्याकुलता लहरें मारती हैं, इसका पता तो उसकी चञ्चलता देखते ही लग जाता है । 'होगी व्याकुलता पर वह है तो जड़ ।' एक तरहसे क्या हम लोग भी जड़ नहीं हैं ? पर उसके अन्दर भी वह चेतना तो है ही जो सारे विश्वमें व्याप्त है, तब उसमें व्याकुलता क्यों नहीं रह सकती ? 'वह बोल नहीं सकता' क्या इसीसे उसमें व्याकुलता नहीं है ? शायद वह अपनी भाषामें बोलता हो, जिसको हम नहीं समझते । कीटपतङ्गोंकी भी तो भाषा है पर क्या वह सब हम समझते हैं ? समझनेकी चेष्टा करनेपर शायद समझ सकते । बहुतसे पाश्चात्य पण्डितोंने पशु, पक्षी, कीट, पतङ्गोंकी भाषा समझनेकी चेष्टा की है और यह नहीं कहा जा सकता कि उनको कुछ भी सफलता नहीं मिली । हमारे यहां भी तो तपस्वी ऋषि दूसरे जीवोंकी भाषा समझ सकते थे । शकुन-शास्त्र देशमें अब भी कुछ वर्तमान है । जिस भाषामें हम बोलते हैं उस भाषाको कितने मनुष्य समझते हैं ? एक प्रान्तके मनुष्य दूसरे प्रान्तकी भाषा नहीं समझ सकते । पर एक ऐसी भाषा भी है जो सब जीवोंकी एक भाषा है । उसका नाम है 'पश्यन्ती वाणी, ऋषिगण चित्तका संयम करनेपर इस अवस्थाको प्राप्त करते थे, उस देशकी भाषामें बाह्य शब्द नहीं है परन्तु, वहां कहना सुनना मजेमें चलता है, अवश्य ही पाश्चात्य पण्डितोंने पशु पक्षियोंकी भाषा समझनेमें जो चेष्टा की, उसकी प्रणाली यह नहीं है, वह दूसरी है । उन लोगोंने बाहरी शब्दोंकी सहायतासे ही मनका भाव समझनेकी चेष्टा की है, परन्तु उनकी यह प्रणाली असम्पूर्ण है । जो बोल सकते हैं, वे भी भाषामें मनके सारे भाव प्रकट नहीं कर सकते । भाषाकी वह पूर्णता अभी नहीं हो पायी है । कभी होगी या नहीं यह भी नहीं कहा जा सकता !

जो कुछ हो, मनुष्य है बड़ा अहंकारी जीव ! इसीसे वह दूसरे किसी जगत्के ज्ञान, बुद्धि, भाव, भाषा आदिका स्वीकार नहीं करना चाहता । पर यह सब 'छातीके जोर' के सिवा और कुछ भी नहीं है । एक बाघ भी मनुष्यका गला पकड़कर उसका खून पीते हुए यह सोच सकता है, कि मनुष्य अज्ञानी जीव है, ज्ञानी तो हम हैं । तभी तो इनका गला पकड़कर खून पी रहे हैं । वास्तवमें जहां भाव है वहां भाषा भी है । यह बात समझ लेनी चाहिये । खैर, अब जरा समुद्रके प्राणोंकी बात समझनेकी चेष्टा कीजिये—

मैं एक दिन समुद्रके किनारे बैठा उसकी तरङ्गोंके खेल देख रहा था, उसका गर्जन सुन

रहा था। बहुत दूर तक फैली हुई उसकी वह सुनील जलराशि और शुभ्र फेण-विमण्डित तरंग-मालाओंका उत्थान पतन प्राणोंमें कैसे विलक्षण भावकी जागृति कर रहा था! समुद्रके उस सीमा-हीन जलमें मेरी सीमाबद्ध इन्द्रियोंकी सारी शक्तियां डूबने लगीं। मेरे पास एक मनुष्य और बैठे थे, वह कहने लगे 'बाबा, आठों पहर यहां तो यही शों शों शब्द होता है, यहां भी कभी मन स्थिर हो सकता है? मैंने यह शब्द सुनकर सोचा, अवश्य ही बाहरसे देखनेपर तो यही समझमें आता है परन्तु मैंने अनेक बार परीक्षा की है, समुद्रका गर्जन सुनकर एकबार चित्त अवश्य विक्षिप्त होता है परन्तु कुछ समय तक चुपचाप सुनते रहने पर मनका कार्य स्वयमेव बन्द होने लगता है, फिर मन किसी भी दूसरे शब्दकी ओर नहीं जाना चाहता। क्रमशः जब उस शब्दमें और भी सूक्ष्म एकतानता हो जाती है तब तो बाहरके शब्दोंकी तरफ मन बिल्कुल ही नहीं जाना चाहता। फिर देखा जाता है कि, वह सूक्ष्म एकतानता हमारे प्राणोंमें और समुद्रमें क्रमशः जम रही है। इसके बाद थोड़ी ही देरमें हमारी हृत्तन्त्रीके तार समुद्रके वीणा-तारोंके साथ एक साथ एकतानसे बज उठते हैं, केवल एक ही ध्वनि निकलती है। उस समय यह पहचानना कठिन होजाता है कि कौनसा स्वर किसका है?

फिर उसमें भी नीरवता छाने लगती है। सारे शब्द मानों एक महाशून्यमें मिलकर विलीन होजाते हैं। समुद्रमें डुबकी लगाने पर भी ऊपरके शब्द कानोंतक नहीं पहुंचते। एक गंभीर नीरवतामें समस्त चञ्चलता मानों सर्वथा शान्त होजाती है। यहां सारे स्वर मिलकर एक अव्यक्तभावमें मिल जाते हैं और सारी भाषा और शब्दोंकी यहां समाप्ति होजाती है। सबके 'सर्व' के साथ इस सुरको मिला दे सकने पर कोई झंझट नहीं रह जाता। जीवके साथ जीवके सुर जहां मिलते हैं, ठीक वहीं बजाने पर सबके अन्दरसे एकसा ही स्वर निकलता है। तब यह बात समझमें आती है कि हम सब सबके साथ अभिन्नभावसे एक हैं और एक ही जगह पर स्थित हैं। भगवान्‌के साथ भी इसीतरह सुर मिला देना चाहिये, यही तो उन्हें पानेका साधन है। उनके सुरके साथ जहां हमारे सुरका मिलान होता है उस जगहका पता लगाना हो तो हमें इस शब्द मुखरित, वासना-विक्षोभित मन-समुद्रके अतल तलमें डुबकी लगानी चाहिये। बार बार डुबकियां लगाते लगाते क्रमशः एक अव्यक्त अवस्थाका तत्त्व हम समझ सकेंगे। उस अवस्थामें इस जगत्‌के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सभी एकाकार होकर एक साथ मिल जायंगे, एक गंभीर एकतानतामें मनके सारे विक्षेप-सारी चञ्चलताएँ मूर्च्छित होजायंगी! उस समय हमारे और विश्वके हृदयके साथ भगवान्‌के एक अखण्ड संयोगकी उपलब्धि होगी। निर्वात दीपशिखाकी तरह मन एकाग्र, निश्चल और स्तब्ध होजायगा। इसी अवस्थाको योगी 'द्वन्द्वातीत' अवस्था कहते हैं। उसी अवस्थामें यथार्थ ज्ञानी और भक्त 'मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा' मोदनीयको पाकर प्रमुदित होते हैं। उस समय अन्तःकरणमें जो मनोहर एकतान संगीत-ध्वनि होती है उसे सुनते ही सारे बन्धन खुल जाते हैं। वह शब्द बड़ा ही मधुर, बड़ा ही प्राणोंको शीतल करनेवाला होता है। उदात्त अनुदात्त स्वरोंमें, विश्व और मनुष्यके हृदयके साथ भगवान्‌का अनादि महिमान्वित एकतान सुर मिलकर सारे सुर एक साथ एक स्वरसे बज उठते हैं, तब केवल सुनायी पड़ता है— ॐ ॐ ॐ!

विवेक-वाटिका

जिसने दुष्कर्मोंसे मुख नहीं मोड़ा, जिसने इन्द्रियोंका दमन नहीं किया, जिसने बुद्धिको एकाग्र नहीं किया और जिसने मनको नहीं जीता, वह उस परमात्माको नहीं पा सकता। परमात्मा तो प्रज्ञानसे ही मिलता है—

कठोपनिषद्

* * * *

काम क्रोधसे रहित, मनपर विजय पाये हुए आत्मज्ञानी पुरुष सब ओरसे ब्रह्मको प्राप्त ही हैं। श्रीमद्भगवद्गीता

* * * *

जैसे बढ़ी हुई अग्नि काठको जलाकर भस्म कर देती है इसी प्रकार भगवद्भक्ति भी सारे पापोंको जलाकर भस्म कर देती है। श्रीमद्भागवत

* * * *

यह कभी मत सोचो कि परमात्मासे रहित तुम केवल अकेले हो। वह तुम्हारे साथ सर्वदा विचरण करता है तथा तुम्हारी भली बुरी सभी क्रियाओंका द्रष्टा है। राजर्षि मनु

* * * *

जो कुछ मिले उसमें संतोष करना और दूसरोंकी ईर्ष्या न करना, यही शांतिके कोषकी कुंजी है। धम्मपद

* * * *

जो प्रत्येक कार्य करनेमें प्रभुकी इच्छा देखता है वह निष्कर्म हो जाता है और वही सच्चा भक्त है। राधास्वामी

* * * *

ईश्वर कहता है कि जो मुझसे मिलनेको एक पद बढ़ेगा, उससे मिलनेको मैं दो पद आगे बढ़ूंगा। जिसकी मृत्यु श्वास पर अवलम्बित है, वह श्वास निकल जाने पर मरजाता है। किन्तु, जो मुझपर विश्वास करता एवं निर्भर रहता है वह कभी नहीं मरता। पारसभाग

* * * *

जिसका जीवन-आधार मैं (परमात्मा) नहीं हूं, वह मृत्युको प्राप्त होता है, किन्तु जिसका जीवन आधार मैं हूं वह अमर है। ईसा

* * * *

जो मनुष्य विपत्तिमें भी ईश्वरकृपाका अनुभव करता है वह कभी मृत्युके अधीन नहीं होता।

अब्बू हाफिज खुरासानी

* * * *

सज्जनोंके लिये मरना संसारके कलहपूर्ण वातावरण एवं विप्लवसे मुक्त होकर शान्ति प्राप्त करनी है किन्तु दुर्जनोंके लिये घोर कष्ट और अशान्तिका सामना करना है।

मारकस आरिलियस

* * * *

धर्मका निवास दूर नहीं है, जो धर्मकी अन्वेषणा करता है उसके पास ही धर्म रहता है। जिसने एक बार भी अपनी शक्ति लगायी, उसने उसे प्राप्त कर लिया। सज्जनोंको दूसरेके दोषोंके भीतर भी धर्मका आभास दृष्टिगोचर होता है। कनफ्यूशस

* * * *

जो मनुष्य सज्जनताके व्यवहारमें कुशल है उसके लिये कोई पदार्थ दुर्लभ नहीं है। कांशीचौ (चीनी)

* * * *

प्रिय क्या है? करना और न कहना। अप्रिय क्या है? कहना और न करना। जालीनूस

* * * *

वह देश सबसे धनी है, जो सबसे अधिक संख्यामें उदार-हृदय एवं सुखी-मनुष्योंका पालन करता है! वह मनुष्य सबसे धनी है जो अपने जीवनके कार्योंमें पूर्णता प्राप्त कर दूसरोंके जीवनपर विस्तृत एवं सहायक प्रभाव रखता है। जान रस्किन

* * * *

अनीश्वरवादका संग्राम

(लेखक—श्रीसदानन्दजी, सम्पादक 'मेसेज')

म्प्रति संसारके कोने कोनेसे यह ध्वनि बड़े जोरसे सुनाई दे रही है कि 'क्या ईश्वरकी सत्ता है ? और यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि ईश्वर है, तो ऐसी अवस्थामें क्या धर्मकी आवश्यकता है ?' आधुनिक शिक्षित समुदायमें बहुतसे ऐसे व्यक्ति हैं जो अपनेको राजनीतिज्ञ कहते हैं, और उनका यह हार्दिक विश्वास है कि 'धर्म, जातिमें केवल स्त्रियोचित दुर्बलता उत्पन्न कर उसे सदाके लिये दासत्वकी श्रृंखलासे बांध देता है ।' इटलीके उद्धारकर्ता मेज़ोनीसे बढ़कर कोई राजनीतिज्ञ तथा देशभक्त नहीं है, उनके शब्दोंको सुनिये, वे कहते हैं:—

"परमात्मा है, इसको सिद्ध करनेकी न हमें आवश्यकता है और न हम सिद्ध करनेका प्रयास ही करते हैं। ऐसा करना ईश्वरकी निन्दा या अपमान करना है और उसके अस्तित्वको अस्वीकार करना तो निरा पागलपन है! प्रभु हमारे हृदयमें है, वह मनुष्यताके हृदय एवं चतुर्दिक् ब्रह्माण्डमें है। हमारा हृदय सुख दुःखके समय उसे पुकारता है। जो मनुष्य दुःखपूर्ण रात्रिके समय, अपने प्रियतमकी समाधिके समक्ष, तथा प्राणोत्सर्ग करनेवाले वीरोंकी फांसीके तख्तेके सामने, ईश्वरके अस्तित्वको अस्वीकार करता है, वह भाग्यहीन और महान् पातकी है!"*

ईश्वरकी सत्तामें यह दृढ़ विश्वास उस महात्माकी शक्तिका रहस्य था, जिसने अपने देशकी रक्षा की तथा सर्वदाके लिये अमर होगया!

प्रकृतिवादी अथवा अनात्मवादी संसार आजकल ईश्वरकी सत्ता या धर्मकी आवश्यकता, दोनोंमें विश्वास नहीं करना चाहता, किन्तु क्या वह अपने उन पूर्वजोंसे अधिक सुखी है, जिनका ईश्वरमें पूर्ण विश्वास और धर्मके प्रति प्रेम था ? कभी नहीं !

क्या यह आधुनिक उथलपुथल, दुःख-कष्ट और महान् कठिनाइयोंका विषाक्त वायुमण्डल ईश्वरमें अविश्वास तथा धर्मके प्रति उदासीनता-का परिणाम नहीं है ? इस प्रश्नका उत्तर केवल वही लोग दे सकते हैं, जिन्होंने अपने विश्वासका मधुर फल चक्खा और भगवत्-प्राप्तिका अमृत पान किया है। एक मनुष्य जिसने किसी विशेष मधुरतम फलका जन्मभरमें कभी आस्वादन नहीं किया, वह उसका वर्णन सुनकर घबरा उठेगा और स्वाभाविक ही उसकी सत्तामें अविश्वास करने लगेगा। किन्तु वह यदि अपने उस मित्रकी बातोंमें किसी तरहका अविश्वास न करके,-जिसने स्वयं उस फलको देखा और उसके आस्वादनका आनन्द लूटा है,—यथार्थ तत्त्वकी खोज करे तो उसे एकदिन निश्चय ही सफलता प्राप्त होगी। एक वैज्ञानिक जो अपने अन्वेषणीय पदार्थमें पूर्ण विश्वास नहीं रखता, कभी सफल

* "God exists. We ought not, do not want, to prove it; to attempt that would be blasphemy, to deny it madness. God lives in our conscience, in the conscience of Humanity, in the Universe around us, our conscience calls to Him in our most solemn moments of sorrow and joy. He who denies God before a sorry night, before the graves of his dearest ones, before the martyr's scaffold, is a very wretched or a very guilty man." —'*Mon. Mazzini*'

नहीं हो सकता। इसीप्रकार जो मनुष्य महात्माओं-के अनुभूत प्रमाणोंमें विश्वास कर सत्यकी खोज करनेके बदले प्रारम्भसे ही उसे अस्वीकार कर देता है, उसे कभी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती!

हम एक ऐसे शिक्षित सज्जनको जानते हैं जो सदा यह कहा करते थे, कि 'ईश्वर क्या है? धन ऐश्वर्यके अतिरिक्त परमात्मा और कुछ भी नहीं है' किन्तु साथ ही वह यह भी स्वीकार करते कि 'मैं बड़ा भाग्यहीन मनुष्य हूं।' निस्सन्देह वह भाग्यहीन थे। एकदिन कुछ अज्ञात एवं आकस्मिक कठिनाइयोंसे व्याकुल होकर वे हमारे पास परामर्श लेनेके लिये आये। हमने उस दुःखी मनुष्यके लिये ईश्वरसे प्रार्थना की। तत्काल ही ईश्वरीय महिमासे उनकी कठिनाइयाँ जादूकी तरह दूर होगयीं। उस समय उनके मुखसे सहसा यह आशातीत शब्द निकल पड़े "अब मैंने समझा कि ईश्वर है।"

हमें ऐसे बहुतसे उदाहरण ज्ञात हैं और हमने कई अवसरों पर स्वयं अनुभव किया है कि परमात्मामें दृढ़ विश्वास रखनेवाला मनुष्य आवश्यकताके समय कैसी अद्भुत शक्तिका प्रयोग कर सकता है। समस्त भारतवर्षको मुग्ध करने-वाले महात्मा गांधीकी शक्तिका रहस्य राज-नैतिकता नहीं है, पर वह उनका मनुष्यत्वमें विश्वास और उससे भी बढ़ कर परमात्मामें अमिट विश्वास है।

दूसरी ओर दृष्टिपात करनेसे हमें ज्ञात होता है, कि नेताओं और देशभक्तोंके एक विशेष समुदायकी 'ईश्वरविहीन राजनैतिकता' हमें प्रतिदिन शान्ति, प्रेम तथा शुभेच्छाकी जगह दुःख और कठिनाइयोंकी ओर जोरसे घसीटे लिये जा रही है। हम उनकी निष्कपटताकी उपेक्षा नहीं करते किन्तु समस्त राष्ट्रोंके एकमात्र भाग्य-विधायक ईश्वरमें विश्वास न होनेके कारण उन लोगोंको सत्कार्य और सत्यमार्गसे च्युत हो विपरीत मार्ग अवलम्बन करते देखकर हमें उनपर दया आती है।

किसी राष्ट्रके विकासमें ईश्वर-विश्वासका कितना प्रभाव और बल रहता है, इसे मेज़ीनीने स्वयं प्रकट कर दिया है। उनका विश्वास था कि कोई भी राष्ट्र तबतक महान् नहीं बन सकता जबतक कि परमात्माकी ज्योति उसपर अवतीर्ण नहीं होती। यही शिक्षा हिन्दू धर्मशास्त्रोंकी भी है। ईश्वरीय-ज्योति तभी अवतीर्ण होती है, जब लोग अपनी शक्तियोंको परमात्माकी विशाल शक्तिके अधीन कर सम्मिलित अन्तःकरणसे मुक्तिके लिये केवल आत्म-शक्तिकी ओर ध्यान लगा देते हैं।

अतएव हम इस 'अनीश्वरवादके संग्राम'के विरुद्ध,-जिसकी लहर केवल भारतवर्षमें ही नहीं, वरन् सारे संसारमें अप्रतिहत गतिसे बढ़ती चली जा रही है,—प्रत्येक मनुष्यको चेतावनी देना चाहते हैं। क्योंकि हम इस बातको प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि अनीश्वरवाद संसारमें सुख शान्तिके बदले केवल संकटमय वातावरण ही उत्पन्न करता है!

इंगलैंडके प्रसिद्ध दार्शनिक एवं साहित्यज्ञ श्री बर्नर्ड शाके वचन भी सुनिये, वह कहते हैंः—

"सत्तर वर्षकी अवस्थामें जीवन पर विचार करते हुए मैं आज इतना जानता हूं कि धर्महीन मनुष्य नैतिक कायर होते हैं, उनमें चुपचाप बैठनेवाले तो शारीरिक कायर भी होते हैं। धर्मके अभावमें सभ्यताका अस्तित्व नहीं रह सकता, चाहे उस धर्मका नाम हम जीवनशक्ति, विश्वशक्ति, महाप्रबल प्राण अथवा उत्पादक-धारा आदि कुछ भी रखलें। किन्तु धर्महीन जीवन तो अर्थहीन असम्बद्ध घटनाओंकी भाँति (निरर्थक) है।"*

This much I know, looking at life at seventy, men without religion are moral cowards, and mostly physical cowards, too, when they are sober. Civilization cannot survive without religion. It matters not what name we bestow upon our divinity---Life Force, World Spirit, Elan Vital, Creative Evolution-without religion life becomes a meaningless concatenation of accidents. ----'*Bernerd Saw*'

सुख-स्पृहा

(ले०—आचार्य श्रीमदनमोहनजी गोस्वामी वे०दर्शनतीर्थ भागवतरत्न)

सुखं मे भूयात् दुःखं माभूत्

प्रत्येक जीवकी यही इच्छा रहती है कि मुझे सुखकी प्राप्ति हो, दुःख न हो। सुख दुःखका सम्बन्ध एक दूसरेके साथ प्रकाश तथा अन्धकारके समान है। सुख प्रकाशस्थानीय है; दुःख अन्धकाररूप है। प्रकाशसे जैसे अन्धकार स्वयं भाग जाता है, उसको भगानेका प्रयास नहीं करना पड़ता, इसी तरह सुखके आनेपर दुःख स्वयं दूर हो जाता है। मनुष्य सुखकी लालसासे सर्वदा इधर उधर दौड़ता है किन्तु वह वास्तविक सुखको भूला हुआ है। मायिक सुखमें उन्मत्त हुआ घूमता है। वास्तविक सुख तो श्रीभगवत्प्रेममें है। श्रीभगवत्प्रेम ही सुखकी सीमा है। उसी प्रेमसे जीवके दुःखोंकी निवृत्ति हो सकती है। इस विषयकी मीमांसा श्रीपाद जीव गोस्वामीकृत प्रीतिसन्दर्भमें वर्णित है। जिसका तात्पर्य यह है कि 'शास्त्रप्रतिपाद्य परम तत्त्व ही 'सदनन्त परमानन्द' स्वरूप है। उस एक आनन्दकी तीन सम्मिलित अवस्था हैं, इसलिये उनकी तीन आख्या (नाम) हैं। सत् कहनेसे सब देशमें, सब कालमें, सब वस्तुमें विद्यमानता समझी जाती है। अनन्त शब्दका तो अर्थ स्पष्ट ही है। परम शब्दका अर्थ है उत्कृष्ट-सब प्रकारसे श्रेष्ठ। मतलब यह कि सर्वव्यापी अनन्त सर्वातिशय आनन्दका नाम ही सदनन्त परमानन्द है। इसीका निष्कर्षार्थ-सच्चिदानन्द है। आनन्दकी मीमांसा करनेसे इसीमें आनन्दका पर्यवसान है, श्रुतिमें लिखा है कि, 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति।'

मनुष्यानन्दकी अपेक्षा प्राजापत्यानन्द दश-गुण अधिक है, उसकी अपेक्षा ब्रह्मानन्द अयुत-गुण अधिक है, सुतरां मनुष्यानन्दकी अपेक्षा ब्रह्मानन्द लक्षगुण अधिक है। इस ब्रह्मानन्दके ऊपर आनन्दमयकी अवस्थिति है। वह आनन्द अपरिमेय है अर्थात् उसकी गणना करनेका किसीमें भी सामर्थ्य नहीं है। वह आनन्द अलौकिक अनन्त होनेसे मन वाणीके अगोचर है। इसीसे कहा है,

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'

श्रीभगवान् नाना स्वरूप-धर्मशाली होने पर भी सिद्धान्तमें केवल आनन्दरूप हैं। सूर्यमण्डल जैसे केवल ज्योतिर्मय है, भगवान् भी उसी तरह केवल आनन्दमय हैं। लौकिक आनन्द तो केवल दुःखमय है। परन्तु उस आनन्दमें दुःखका लेश भी नहीं है। अतएव आनन्द शब्दसे भगवदीय आनन्द ही समझना चाहिये। जिसमें दुःख शब्दका पुछल्ला लगा है, वह आनन्द 'आनन्द' शब्द वाच्य नहीं हो सकता। इसीसे लौकिक आनन्दको वास्तविक आनन्द नहीं कहना चाहिये।

अनन्त जीवोंके दुःख-सम्बन्धका कारण संक्षेपमें यह है कि, जीव श्रीभगवान्के सदृश ही आनन्दजातीय वस्तु है। वस्तु विचारमें दोनों एक ही हैं। यह जीव ज्ञानसंसर्गके अभावसे माया पराभूत हो जाता है। मायाके कारण मोह प्राप्त होनेसे उसके स्वरूप ज्ञानका लोप हो जाता है और माया-कल्पित उपाधिसे उसका प्रगाढ़ आवेश हो जाता है, इसीसे संसाररूपी दावानलसे दग्ध होकर वह दिनरात विषम यन्त्रणा भोग करता रहता है। श्रीपरमात्म-सन्दर्भमें लिखा है:—

'अथ जीवस्य तदीयोऽपि तज्ज्ञानसंसर्गाभाव-युक्तत्वेन तन्मायापराभूतः सन् आत्मस्वरूपज्ञानलोपान्

मायाकल्पितोपाध्यावेशाच्चानादि संसारदुःखेन सम्बध्यत इति ।'

इस विषयमें जो विस्तारसे जाननेके इच्छुक हों, उनको परमात्म-सन्दर्भकी आलोचना करनी चाहिये।

परमतत्त्वका साक्षात् लक्षण यही है कि, उस ज्ञानका आविर्भाव हो परमानन्द प्राप्ति है। वही परम पुरुषार्थ। आत्माके अज्ञान और दुःखातिशय निवृत्तिका एकमात्र कारण वास्तविक ज्ञान लाभ है। अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे ही अपने स्वरूपका अनुभव होता है और उसी अज्ञानकी निवृत्तिके साथ साथ दुःखोंकी निवृत्ति तथा वास्तविक सुखकी प्राप्ति होती है। उस अवस्थामें देहादिमें अहं बुद्धि नहीं रहती। कामादि जितने भी अनर्थ हैं सब दूर हो जाते हैं, दुर्वासनाएं हट जाती हैं। अन्तःकरण शुद्ध गङ्गाजलके समान निर्मल हो जाता है। स्थावर-जङ्गममें भगवद्भावकी स्फूर्ति होने लगती है। जैसा कि श्रीचैतन्यचरितामृतमें वर्णित है:—

'महाभागवत देखे स्थावर जंगम।
ताहां तांहां हय तार श्रीकृष्ण स्फुरण॥'

जब किसी महान् व्यक्तिको ऐसी सौभाग्य-दशा प्राप्त होती है, तब उसको संसारी पुरुष पहचान नहीं सकते। उस समय वह महापण्डित होने पर भी पागलके समान घूमता है। विवेकी होकर भी बालकके समान व्यवहार करता है परम निपुण होकर भी जड़वत् रहता है। उसका मन सर्वदा श्रीभगवान्के नाम-रूप-गुण-लीलामें लगा हुआ आनन्दसमुद्रमें मग्न रहता है। वह आनन्द लौकिक आनन्दके समान क्षुद्र तथा सीमाबद्ध नहीं है। वह अलौकिक अपरिमेय और असीम है!

एक बौद्ध भिक्षुकी शान्ति

(लेखक—बाबा राघवदासजी)

भगवान् बुद्धदेवके अनेक शिष्योंमें एकका नाम था पूर्ण। वह बड़ा ही नम्र और शान्त था। एकदिन उसने भगवान्के पास जाकर उपदेशके लिये प्रार्थना की। बुद्धदेवने दया करके उसे उपदेश देनेके बाद पूछा 'पूर्ण! तुम किस प्रदेशमें जाकर सेवाका कार्य करोगे?'

पूर्ण—भगवन्! मैं आपका उपदेश ग्रहण करके 'सुनापरत' नामक प्रदेशमें जाना चाहता हूं।

बुद्ध—सुनापरतके लोग तो बड़े क्रूर हैं। वे तुम्हारा उपदेश सुनकर तुम्हें गालियां देंगे, तुम्हारी निन्दा करेंगे, तब क्या होगा?

पूर्ण—मैं उनको अच्छा ही समझूंगा, क्योंकि वे केवल शब्द कहकर ही रह जाते हैं, मुझे मारते तो नहीं!

बुद्ध—यदि वे तुम्हें मारने लगें?

पूर्ण—तब भी मैं उनका कृतज्ञ रहूंगा क्योंकि वे मुझे पत्थरसे तो नहीं मारते?

बुद्ध—अच्छा! पत्थरसे मारने लगें तो?

पूर्ण—फिर भी मैं उनको अच्छा ही कहूंगा, क्योंकि वे मुझपर शस्त्रप्रहार तो नहीं करते। यह भी उनका उपकार ही है!

बुद्ध—शस्त्रप्रहार करें तब?

पूर्ण—तब भी उनका कृतज्ञ रहूंगा, क्योंकि वे मुझे जानसे तो नहीं मार डालते हैं!

बुद्ध—कदाचित् वे तुम्हें जानसे मार डालें?

पूर्ण—भगवन्! कितने भिक्षु इस शरीरसे ऊबकर प्राण त्याग कर देते हैं, फिर यदि वे सुनापरतके लोग मेरा शरीर नष्ट कर देंगे तो वह मुझ पर उनका उपकार ही होगा! इसलिये मैं उन्हें अच्छा ही समझूंगा।

बुद्ध—साधु! साधु!! इसप्रकार शमदमसे युक्त होकर तुम सुनापरतमें अवश्य ही धर्मोपदेशका पवित्र कार्य कर सकोगे!

भगवान् श्रीरामका बाल-विनोद

(रचयिता–पं० परमानन्द भट्टाचार्य पौराणिक, अजयगढ़ राज्य*)

कुंचित कुटिल कल अलकैं कपोलन पै,
कुण्डल वलित मुकतालि चलि चलि जात।
कज्जल कलित लोल लोचन चितौन चारु,
दाड़िम दशन द्युति देखि दलि दलि जात॥
"परमानन्द" प्यारे राम–ललाकी हसन मृदु,
वसन छटातैं विज्जु छटा छलि छलि जात।
सुषमा सदन खेलैं भूपके सदन आली,
जननी विलोकि बार बार बलि बलि जात॥१॥

किलकत डोलत न बोलत बनत बात,
हाँ करत हूँ करत झाकि झुकि झूमि झूमि।
धावन चहत पै न पावन सों चल्यो जाइ,
आँगुरी लै चलत सुआँगनकी भूमि भूमि॥
"परमानन्द" प्यारे राम--ललाकौं उठायौ तब,
कौशिलाकी कनियाँ तैं कूद परैं लूमि लूमि।
पौंछि पौंछि आछैं अछैं धूरकन झारैं, कहि
प्यारे पय प्याइरही माइ मुख चूमि चूमि॥२॥

ललकि लडाइ पय प्याइकै खिलाइ माइ,
दियें हैं दिखाइ लाइ अखिल खिलोना है।
पौंछकै मुखारबिन्द डीठि लगबेके डर,
साँवरे वदन पर दीनौं जो दिठौना है॥
ताहि लखि आली कहै आपुसमें आली, राम–
ललाके दिठौनानैं किन्हों कछु टौना है।
सांची तौ बताओ या चितौनहीमैं टौना,
किधौं जानी है न जात कौसिलाके कर टौना है॥३॥

भोरे भाइ भरत छबीले लाल शत्रुहन,
लाड़िले लखनलाल सुवन सुमित्राके।
पाछैं पाछैं आवैं रघुनन्दन–ललाके, धरैं
धनुष तुनीर तीर कनक विचित्राके॥
निज निज चातुरी बखानैं भूप ही सों, धन्य–
भाग कौशिलाके पुण्य परम पवित्राके।
हेली मन्दहास रामचन्द्रके वदनचन्द्र,
जाहि लखि हारे कोटि चन्द्र चारु चित्राके॥४॥

महाराज दशरथके आली आज आँगनमैं,
चारहू कुमार खेलैं खेल ये अनेक भांत।
पैंजनी पगन सिरपैंचहू लगाये ताज,
पीतपट कटि तट मंजुल मृदुल गात॥
मुसक्यात "परमानन्द" खेलत सखन साथ,
देत न छुवाई सब थाकीं धाइ धाइ मात।
जहां जात भरत तहांई रिपुसूदन हैं,
जहां जहां राम तहां लखन पिछानैं जात॥५॥

जा दिनतैं राम प्रगटे हैं दशरथ–गेह,
ता दिनतैं देवनकी अवध अथाई है।
रूपकौं छिपाइ चतुरानन गिरीश इन्द्र,
नितही निहारि जात ललित लुनाई है॥
पाइ "परमानन्द" वसिष्ठ हू कछू न कहैं,
कर लै विभूति मन्त्र पढ़िकैं लगाई है।
जेती यह अखिल त्रिलोक सुन्दराई, मनौं
तनु धरि आई राम रूप ही में पाई है॥६॥

सुन्दर कुँवर चार सहज सिंगार धरि,
मज्जनके हेत आवैं सरजू बिमल बारि।
तिनहिं बिलोकिबेकौ अवध नगर नारि,
लगि लगि झांकती झरोखन झरफ डारि॥
देखि राम–रूपकी लुनाई "परमानँद" जू,
नैनन समाइ ताहि लेतीं निज हिये धारि।
केतीं दृग लेतीं मोदमैं मगन केतीं,
भूषन रतन तन मन देतीं वारि बारि॥७॥

ध्यावत जाहि गिरीस रहैं न,
मुनीसनके मन दौरिकै पावै।
कीरति जासु फनीस कहैं,
सनकादिक नारदहू गुन गावैं॥
जो अवधेसके मन्दिरमें,
"परमानँद" बाल--चरित्र दिखावै।
ता हरिकौं नृपकी ललना,
ललना कहि कैं पलनान झुलावैं॥८॥

* श्रीपीताम्बर नेत भट्टाचार्य काव्यपुराणभूषणकी कृपासे प्राप्त।

ईला
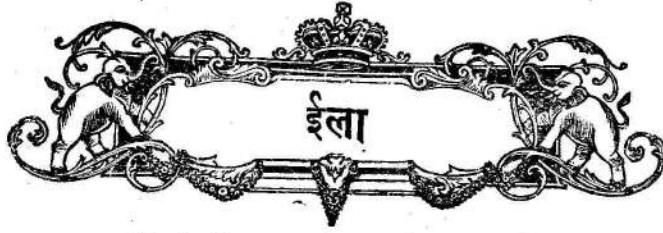
(लेखक—श्रीयुत बा० गुप्तेश्वरप्रसादजी श्रीवास्तव)

नाथ ! अब और कितना ? यंत्रणा थकित हो गयी ! ताड़ना त्रस्त हो गयी ! पीड़ा कराहने लगी ! किन्तु, हाय ! अब भी उन्हींका प्रयोग ! भला किस अपराधके लिये यह कड़ी परीक्षा ?

नाथ ! मैं दोषी नहीं, दीन हूं, मैं ज्ञानी नहीं, बालक हूं । मेरे चारु चन्दनका तिलक नहीं, यह वैराग्यकी विभूति है । यह भाल रोली तुम्हारे भक्तकी ध्रुव-तरिका है । और यह हृदय-राज्य तुम्हारे ही नाम पर न्योछावर की हुई हरिश्चन्द्रकी मनोहर राज्य-नगरी है ।

मैं दिनरात नेमसे तुम्हारे सम्मुख सतृष्ण अपनी झोली फैलाये बैठा रहता हूं, किन्तु दुर्भाग्य ! दाताओंके आदर्श दयाके आगार होकर भी तुम उसमें कुछ नहीं डाल देते ! प्रेमके भिखारीके प्रति करुणागार ! इतना नैष्ठुर्य ? जब मैं रोता हूं, तब तुम मुंह फेर लेते हो, और जब तुम्हारा अलख जगाता हूं, तो अपने कर्णद्वारको बन्दकर समाधिमें तन्मय हो जाते हो ! मेरे भगवन् ! भक्तपर क्या यही कृपाकोर है ?

कभी कभी मुझे ठुकराकर जब तुम्हें समाधिमें भी चैन नहीं मिलता है, तो थिरककर मुझसे मेरी अभिलाषा पूछते हो ! कैसे कहूं कि हृदय उछला पड़ता है, अभिलाषाएं एक एक करके झंकार उठती हैं । मैं सजल नयनोंसे और गद्गद वाणीसे तुमको सभी बातें कह सुनाता हूं । परन्तु तुम पूछते हो यदि तुम्हारी समस्त चिरसंचित अभिलाषाओंको पूर्ण कर दूं तो इससे तुम्हें क्या ? मैं कहता हूं नाथ ! आनन्दके लिये ही तो लोग याचना करते हैं । और यदि मेरी अभिलाषाएं पूर्ण हो जायें, तो मुझे भी वही प्राप्त होगा । किन्तु, इस पर तुम मुझसे तर्क करने लगते हो । भला मैं तुम्हारे मुखकी ओर तो देख ही नहीं सकता, फिर प्रश्नोंका उत्तर क्या दे सकता हूं ? अन्तमें तुम स्वयं ही कहते हो 'मेरे सामने अभिलाषाओंकी याचना करना तुम्हारी धृष्टता है । यदि ऐसी ही रही तो तुम्हें मेरे दर्शन भी प्राप्त न होंगे, मैं तुम्हारे हृदय-मन्दिरका स्थान त्यागकर कहीं और चल दूंगा ।' हाय ! यह सुनते ही मेरे हृदयकी प्रस्फुटित उत्कण्ठा मुरझाकर मलीन हो जाती है और आशाकी सुन्दर नवीन पल्लविका झुलस जाती है । भगवन् ! यह तुम्हारे वाक्यबाण हैं, पर उन्हें भी मैं पुष्पवृष्टि समझता हूं ।

आह ! मेरी कारुणिक गाथाको कोई क्या जाने ? मेरे हृदयकी असीम वेदनाको कोई क्या समझे ? नाथ ! मेरी परीक्षाकी विधि कठिन होते हुए भी अच्छी है, किन्तु प्रभो ! यदि तुम भी इसी श्रेणीके विद्यार्थी होते तो क्या आहें न भरते ?

निष्ठुर देव ! लो मैं भी तुम्हें चुनौती देता हूं कि कड़ीसे कड़ी परीक्षा ले लो, यदि तुम्हारी कृपा रही तो उत्तीर्ण ही होता जाऊंगा, और क्या कहूं ? तुम सबल हो, सभी तुम्हारे अधीन हैं । किन्तु मुझसे यह अभिमान न छीनना कि 'तुम मेरे हो' बस यही विनय है ।

कर्मकी प्रधानता

(लेखक—पं० श्रीगङ्गाप्रसादजी अग्निहोत्री)

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।

(गीता ३ । २४)

धन और प्रभुताके मदसे उन्मत्त होकर राजा नहुष और ययातिने जबतक सर्पयोनि और स्वर्ग-पतनके घोर दुःख नहीं भोगे तबतक उन्हें इस बातका ज्ञान ही नहीं हो पाया कि स्वकर्तव्य कर्मके नहीं करनेसे मनुष्यको कौन कौनसे अतर्क्य और अचिन्त्य दुःख भोगने पड़ते हैं। इस समय भारतमें जो लोग धनवान् और विद्वान् हैं, उनमें उन लोगों-की संख्या बहुत ही कम होगी जो राजा नहुष और ययातिके इतिहासको सुन पाते हों । इस परिस्थितिमें भी उन लोगोंकी संख्या तो कम नहीं जो गीताका रसपान प्रतिदिन किया करते हैं । जिनके हाथोंमें गीताकी पुस्तक और जिह्वापर गीताके मन्त्र अहोरात्र बने रहते हैं, वे गीतागायक गोपाल और गोविन्द श्रीकृष्णके निम्नलिखित मन्त्रोंके उपदेशोंको अवश्य ही जानते होंगे ।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

गोपरिपालन विज्ञानके पारगामी (गोविन्दो वेदनाद्गवाम्) पण्डित भगवान् श्रीकृष्ण उक्त मन्त्रमें अर्जुनसे कहते हैं, कि 'तीनों लोकोंमें ऐसी कोई स्पृहणीय वस्तु नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो, पर तो भी मैं स्वकर्तव्य–कर्मोंका पालन करता ही रहता हूं ।' क्योंकि—

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

मैं यह जानकर कि मुझे तो सब चीजें प्राप्त हैं, यदि मैं धर्मका पालन बन्द कर दूं, तो लोग मेरा अनुकरण करने लगेंगे और अपना अपना कर्तव्य-कर्म नहीं करेंगे इससे वे अवश्य ही नष्ट हो जायंगे 'उत्सीदेयुरिमे लोकाः ।' और इस प्रजा नाशका कलङ्क मुझ पर लगेगा। प्रजानाशके कलङ्कसे बचनेके अभिप्रायसे मैं सदा अपना कर्तव्य-कर्म करता रहता हूं ।

आश्चर्य और आश्चर्यसे भी बढ़कर खेद और लज्जाकी बात है कि जो भारतीयजन अहोरात्र गोविन्दके नामका और गीताका पाठ किया करते हैं, उनके चित्तोंमें यह बात क्यों नहीं आती कि गीतागायक गोविन्दने जब स्वयं शास्त्रविहित रीतिसे गोपरिपालन कर गोविन्द नाम प्राप्त किया था, तब हम गोपरिपालन त्यागकर केवल उनके नामका जप करके गोलोक और कल्याणके अधिकारी कैसे हो सकते हैं ? धनवान् लोग अपने विभव-विस्तरमें राजा नहुषकी न्याईं प्रमत्त होकर गोपरिपालनकी जो उपेक्षा कर रहे हैं, उसका दुष्परिणाम श्रीकृष्णके शब्दोंमें प्रत्यक्ष दीख रहा है कि साधारण जनता भी उनका अनुकरण करनेमें गोपरिपालनको भूलकर अपना नाश अपने हाथों कर रही है । धनवान् लोग जो घोड़े, मोटर और कुत्तोंके पालनेमें धन फूंका करते हैं, उसका न्यूनांश ही शास्त्रविहित

गोपरिपालनमें खर्च किया करें तो जनता उनका अनुकरण करने लगेगी और गोपरिपालनके प्रसादसे उसके अन्न वस्त्रका कष्ट दूर हो जायगा।

जो धनवान् पिंजरापोलों और गोशालाओंमें लाखों रुपये प्रति वर्ष खर्च किया करते हैं, वे यदि उस धनके प्रधान अंशको गोपरिपालनकी शिक्षाके प्रचारमें खर्च करने लगें और साथ ही अपने पिंजरापोलों और गोशालाओंको आदर्श गोशालाओंमें परिवर्तित कर दें तो दस वर्षोंके भीतर वे देख सकेंगे कि अभी जितने विकलांग गोवंशज प्राणी, उनके पास प्राणरक्षार्थ और कसाईखानोंमें प्राणत्यागार्थ जाते हैं, उनकी संख्या बहुत घट जायगी । इस समय पिंजरापोलों और कसाईखानोंमें विकलांग पशुओंकी संख्याके बढ़ानेका प्रधान कारण यही है कि, भारतके आधार गोभक्त धनवानोंने उचित गोपरिपालन स्वरूप निज कर्तव्य-कर्मका त्याग कर दिया है । गोपरिपालन सम्बन्धी उनका मोह, अज्ञान और आलस्य यहांतक बढ़ गया है कि उन लोगोंके समझमें यह बात भी नहीं आती कि गोरक्षाका स्थान किसानों और ग्वालोंके घर नहीं है । वर्तमान पिंजरापोल और गोशालाएं अथवा पशुओंके वे बाजार जिनमें कसाई लोग ही खरीदार रहते हैं, गोरक्षाके स्थान नहीं हैं ! क्योंकि उक्त स्थानोंमें पहुंचनेके पहले ही गोरक्षा की जा सकती है । उक्त स्थानोंमें पहुंचनेवाले सब प्राणियोंकी रक्षा करना तो बहुत ही कष्टसाध्य है । बुद्धिमानी तो उसी काममें है, जिसके करनेसे अल्प परिश्रम और अल्प धनव्यय हो और बहुत प्राणियोंको सुख हो । ऐसा काम गोपरिपालन ही है। उसीके प्रभावसे गोधनकी रक्षा सम्भव है ।

प्राचीन समयमें आजकलकी तरह समाचार-पत्रोंकी सुविधा नहीं थी, तो भी व्यास वसिष्ठ और नारदादि ऋषिगण, भ्रमणकर गोपरिपालन-की महत्ता और आवश्यकताका ज्ञान लोगोंको कराते रहते थे । उक्त प्रकारकी चर्चा दीर्घकालसे उठ जानेके कारण, वर्तमान भारतवासियोंके नेतातक गोपरिपालनके रहस्यको भूल गये हैं । उनकी धारणा होगयी है कि नगरोंमें बसनेवाले थोड़ेसे धनवानोंकी बहू बेटियां पर्देका त्याग कर देंगी तो भारतका उत्कर्ष सहज ही हो जायगा । अतः वे पर्देको बहा देनेके लिये व्याख्यान देते हैं, लेख लिखते हैं और सत्याग्रह करते हैं । पर जिस गोधनके भीषण नाशके कारण समूचा भारत अन्न वस्त्रसे दुखी हो रहा है, उस गोधनकी रक्षा और वृद्धिके लिये गोपरिपालनकी शिक्षाके आन्दोलनकी ओर ध्यान ही नहीं देते । इसी उपेक्षाको प्राचीन लोग 'मुनीनां च मतिभ्रमम्' कहा करते थे ।

भारतमें भारतीय नेताओं, पत्र-संपादकों और गोविन्दके भक्तोंसे मेरी यह विनीत प्रार्थना है कि आपलोग अज्ञान, आलस्य और संकीर्णताका त्याग कर गोपरिपालनकी शिक्षाके प्रचारार्थ बहुत बड़ा भारतव्यापी आन्दोलन कीजिये । आप लोगोंके आन्दोलनसे गौको प्रत्येक भारतवासीके घरमें उसका उचित स्थान मिलेगा । उसकी शास्त्रविहित रीतिसे सेवा की जायगी । उस सेवासे प्रसन्न होकर वह और उसके पुत्र धरतीको यथेष्ट मात्रामें जोतकर इतना सात्त्विक भोज्यान्न पैदा करेंगे कि उसे खा पीकर हम लोग बलवान् वीर्यवान् और मेधावी बनकर सुख समाधानके भोक्ता और अधिकारी हो सकेंगे । तात्पर्य, हमें गोपरिपालन कर्मकी प्रधानताका आदर करना सीखना चाहिये। उसके अनादरके कारण हम लोग इस समय अन्नवस्त्रका जो कष्ट भोग रहे हैं वह तभी दूर होगा, जब हम गोपरिपालन कर्मकी प्रधानताको स्वीकृत कर उसका यथोचित और यथेष्ट पालन करेंगे ।

शक्ति-सञ्चार

(लेखक—श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)

यह एकप्रकारसे प्रत्यक्ष है कि संसार और उसके पदार्थ, शरीर, परिवार आदि सभी नश्वर हैं, और इनके संयोगसे आरम्भमें किञ्चित् सुख मिलनेपर भी परिणाममें तो ये दुःखद ही हैं। प्राचीन कालमें बड़े बड़े चक्रवर्ती राजा हुए, परन्तु आज उनके वैभवका कोई चिह्न भी देखनेमें नहीं आता, कितनोंके तो नाम भी आज कोई नहीं जानता। जिसकी प्राप्ति और स्थितिके लिये लोग विशेष व्यग्र रहते हैं, वह लक्ष्मीदेवी भी परम चञ्चला हैं, कभी न कभी उनका वियोग अवश्यम्भावी है। यही दशा पृथ्वीकी भी है, उसका भाग भी एकके आधिपत्यसे दूसरेके पास अवश्य जाता है, इसके सिवा वह कभी एकसी भी नहीं रहती, आजकल जहाँ मनुष्योंका वासस्थान है, वहां कभी समुद्रकी लहरें हिलोरें लेंगी और आज जहां समुद्र है वहां कभी मनुष्योंका निवास-स्थल हो जायगा। काल सबका ग्रास करता है, बालक तरुण आदि किसीका भी वह तनिक विचार नहीं करता। मनुष्यके स्वास्थ्यकी स्थिति भी सर्वथा अनिश्चित है, जो एक दिन बड़े नीरोग, बलिष्ठ और हट्टे कट्टे देखनेमें आते हैं थोड़े दिनोंके बाद ही वह रोगी, क्षीण और असमर्थ होकर क्लेश सहते देखे जाते हैं, और कई तो अकालमें ही कालके भी ग्रास हो जाते हैं।

अनेक लोग केवल यश और नामवरीके लिये व्याकुल रहते हैं और उसकी प्राप्तिके लिये पर्याप्त व्यय और कष्ट सहन भी करते हैं परन्तु प्रथम तो मृगतृष्णाकी भांति इसकी प्राप्ति कठिन है और कहीं किञ्चित् प्राप्ति भी हो जाय तो उससे संतोष न होकर अशान्ति ही बढ़ती है, क्योंकि यह देखा जाता है कि जिस स्वार्थ-परायण मनुष्यकी सौ व्यक्ति किञ्चित् प्रशंसा करते हैं तो दो सौ उसकी निन्दा भी करते हैं। इसीप्रकार आयु, स्वास्थ्य, लक्ष्मी, पृथ्वी, सुख सामग्री और यश आदि जो आजकल लोगोंके परम इष्ट हैं और जिनकी प्राप्तिको ही जीवनका मुख्य लक्ष्य मानकर लोग विविध चेष्टाओंमें व्यग्र हुए अत्यन्त व्याकुलतासे घुड़दौड़की सी दौड़में प्रवृत्त हैं वे सब पदार्थ वास्तवमें क्षणभंगुर, निःसार, नश्वर और दुःखप्रद ही हैं।

लोगोंको इन विषयोंकी क्षणभंगुरता और नश्वरता विदित है और यह भी विदित है कि जो पुरुष असत, तम और नश्वर पदार्थकी आसक्ति त्यागकर सत्, चैतन्य और अमृतरूप परमार्थ तत्त्वको अपने जीवनका लक्ष्य बनाता है, वह संसृतिके दारुण दुःखसे सदाके लिये मुक्त होसकता है—परमानन्दकी प्राप्ति कर सकता है। परन्तु परम आश्चर्य है कि इन बातोंको जानने और प्रत्यक्ष नेत्र-गोचर करनेपर भी हम लोग संसृतिके प्रवाहमें बहना ही पसन्द करते हैं और इससे निकलनेका आश्रय मिलनेपर भी उसे त्याग देते हैं। इसीलिये हम आंखें रहनेपर भी अन्धे हैं, जागृत रहनेपर भी सुप्त हैं, क्योंकि, हस्तगत परमानन्दको त्यागकर दुःख बटोर रहे हैं, चिन्तामणिको देकर बदलेमें चमकीले कांचके टुकड़े लेरहे हैं। गोसाईंजी कहते हैं—

'जाके पास रहे चिन्तामणि सो कत कांच बटोरे'

परन्तु हम तो वही कर रहे हैं!

महाभारतमें कथा है, धर्मराज युधिष्ठिरसे यक्ष पूछते हैं कि 'संसारमें सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है?' इसके उत्तरमें धर्मराज बहुत ठीक कहते हैं—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम् ।
शेषा स्थैर्यमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥

'प्रतिदिन प्राणी मरते हैं, किन्तु, जो बचे हैं, वे समझते हैं कि हम नहीं मरेंगे। इससे अधिक आश्चर्य और क्या होसकता है ?' महाराज भर्तृहरिने भी कहा है—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितम् ।
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते ॥
दृष्ट्वा जन्म-जरा-विपत्ति-मरणं त्रासश्च नोत्पद्यते ।
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥

'सूर्यके उदयास्तसे प्रतिदिन जीवन क्षय हो रहा है परन्तु व्यापारके बड़े कार्यकी भीड़में समयका बीतना मालूम नहीं होता। जन्म, बुढ़ापा, विपत्ति और मृत्युके क्लेशको देखकर भी भय नहीं उत्पन्न होता, क्योंकि जगत्के लोग मोहमयी प्रमादमदिराको पीकर पागल हो गये हैं।' इस लापरवाही तथा जान बूझकर कल्याणप्रद मार्गको परित्यागकर सर्वथा दुःखप्रद मार्गके अनुसरण करनेका कारण अविद्या, माया, मोह, अज्ञान, असावधानी और प्रमादादि हैं। अब प्रश्न यह है, इनसे छुटकारा कैसे हो? इसका उत्तर है कि सत्संग, अनुशीलन, विचार, विवेक आदि ही छुटकारा पानेके उपाय हैं। इन उपायोंसे ही वैराग्य, ज्ञान और भक्ति आदि प्रकट होकर अविद्याके अन्धकारका नाश कर देते हैं।

आजकल सत्संग परम दुर्लभ है और असत्संग तथा असत् उपदेशोंकी भरमार है, जिनसे अज्ञानता और भी अधिक बढ़ी जा रही है। सुधार होना तो दूर रहा किन्तु कुसंस्कार उत्पन्न होकर परिणाममें पथभ्रष्ट कर देते हैं। ऐसी अवस्थामें धर्म, ज्ञान और भक्ति आदिकी ओटमें अनेक बुराइयां की जाती हैं और इसी अवस्थामें अधर्मको धर्म और पापको पुण्य माननेकी विपरीत भावना उत्पन्न होती है। धर्मके नामपर आज विपुल व्यवसाय चल रहा है और 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' इस श्रुतिके अनुसार उपदेष्टा और श्रोता दोनों ही, रसातलकी ओर चले जा रहे हैं! रामचरितमानसमें गोसाईंजी महाराजने ठीक कहा है—

'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता ।'

यथार्थ ही भगवानकी कृपा बिना साधुसंग नहीं मिलता। अतएव वास्तविक साधुसंगकी प्राप्तिके लिये भगवत्-कृपा प्राप्त करनेका प्रयत्न पहले करना चाहिये।

पुस्तकोंका अवलोकन करना भी एक प्रकार सत्संग है किन्तु आजकल पुस्तक पढ़कर या उपदेश सुनकर जो किञ्चित् विवेक उत्पन्न होता है वह केवल भावना मात्र ही रह जाता है, वासना तथा कुसंगतिकी प्रबलतासे कार्यरूपमें परिणत नहीं हो पाता। अनेकानेक जन्मोंसे हम लोगोंकी प्रवृत्ति केवल विषय-भोगोंकी ही ओर हो रही है और परमार्थ तत्त्वकी सर्वथा विस्मृति है, इस दीर्घकालके प्रबल संस्कारका विनाश करनेके लिये अभ्यास भी निरन्तर और दीर्घकालव्यापी ही होना चाहिये, जो इन कुसंस्कारोंको सर्वथा समूल नष्ट कर हमारे अन्तःकरणमें उत्तम संस्कार उत्पन्न कर सके। परन्तु भगवान्की कृपा और उनकी दिव्यशक्तिकी सहायता बिना इस अविद्याके अन्धकार और मोहपाशसे मुक्त होना असम्भव है। भगवान् कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

'मेरी अलौकिक त्रिगुणमयी माया अत्यन्त दुष्कर है जो मेरी शरण आते हैं वे ही इससे पार पाते हैं।' श्रीभगवान्की शरण होना केवल उनकी

परा अर्थात् दैवीशक्तिकी सहायतासे ही सम्भव है। गीतामें भगवद्वाक्य है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

'हे पार्थ! महात्मागण मेरी दिव्य शक्तिका आश्रय लेकर मुझे सब जीवोंका मूल और अविनाशी मानकर अनन्य भावसे मेरा भजन करते हैं।' इससे सिद्ध है कि श्रीभगवान्‌का यथार्थ भजन भी श्रीभगवान्‌की दिव्य शक्तिके आश्रयसे ही होता है अन्यथा कदापि नहीं। गीताके अध्याय ७ श्लोक ५ में श्रीभगवान् अपनी इस पराशक्तिको जीवका कारण और आधार चिन्मयतत्त्व कहकर परिचय देते हैं। इसी शक्तिका नाम गायत्री महाविद्या, वैष्णवीशक्ति और दुर्गा आदि है अतएव सबसे पहले इस शक्तिके सञ्चय करनेका प्रयत्न करना परमावश्यक है। इसी कारण द्विजको प्रथम गायत्रीकी दीक्षा दी जाती है। इसी शक्ति-सञ्चयसे स्थायी विवेक, वैराग्य, शम, दम आदिकी प्राप्ति सम्भव है। इस शक्तिसंचयके कतिपय उपाय यह हैं—

सबसे पहले आधारकी शुद्धि आवश्यक है, जिनके शुद्ध होने पर ही उनमें इस शक्तिका सञ्चालन होना सम्भव है, अन्यथा नहीं। यह परम दिव्य-शक्ति शुद्ध और निर्मल आधारमें ही कार्य करती है, अतएव सात्त्विक भोजन, संस्कार और एकादशी आदिके व्रतोपवासद्वारा शरीरकी शुद्धि करनी चाहिये। गीता अ० १७ श्लोक ८ से १० तकमें सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भोजनका वर्णन है, उनमेंसे तामसिक राजसिक त्यागकर केवल सात्त्विक भोजन (जिसके पदार्थ न्यायसे प्राप्त हो) का व्यवहार करना चाहिये। भगवान्‌का काम समझकर उनके निमित्त निःस्वार्थ भावसे किसी प्रकारके परोपकारी कार्य करनेमें (जो श्रीभगवान्‌का यथार्थ कैङ्कर्य है) शरीरकी शुद्धिमें विशेष लाभ होता है।

स्थूल शरीरके सिवा सूक्ष्म शरीर अन्तःकरण आदि भी आधार हैं, जिनकी शुद्धि स्थूल शरीरकी शुद्धिसे भी अधिक आवश्यक है। आधार काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष और मत्सर आदि दुर्गुणोंसे कलुषित होते हैं। इन दुर्गुणोंके दोष और उनसे होनेवाली हानि तथा इनके विपरीत सद्गुणोंकी उत्तमता, पवित्रता और उनसे होनेवाले लाभकी निरन्तर भावना करते रहनेसे दुर्गुणोंका पराभव और सद्गुणोंका सञ्चार होता है। सबसे पहले यह आवश्यक है कि किसी दुर्गुण सम्बन्धी भावनाको चित्तमें कदापि आने ही न दे क्योंकि यह भावना ही आगे चलकर दुर्गुण बन जाता है। गीताका वचन है—

'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।'

विषयका ध्यान करनेसे ही उसमें आसक्ति उत्पन्न होती है। यह विषयभोगकी आसक्ति ही सारे अनर्थका मूल है। यदि हम इस अनर्थ बीजको चित्तमें स्थान न दें, तो अनेक आपत्तियोंसे अनायास ही बच सकते हैं। पातञ्जल-योगदर्शनके वाक्य हैं—

'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्। वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्। यथाभिमतध्यानाद्वा॥'

दुर्गुणोंके दमनके लिये उनके प्रतिकूल भावना करनी चाहिये, हिंसा आदि जो लोभ क्रोध मोह द्वारा की जाती है और उनके दोषोंके कारण जो मृदु मध्य और अधिक मात्रामें दुःख और अज्ञानके व्यापक फल होते हैं, उनकी भावना करना प्रतिपक्ष भावना है। जो अपेक्षित गुण हो उसीकी भावनासे उसकी प्राप्ति होती है। क्रोध दमनके लिये क्षमाके गुणोंकी भावना करनी चाहिये। कामनिग्रहके लिये ब्रह्मचर्यके सुमधुर फलोंका चिन्तन करना चाहिये, लोभ नाशके लिये वैराग्यके विलक्षण प्रभावकी आलोचना करनी चाहिये, असत्यसे बचनेके लिये सत्यकी महिमाका स्मरण करना चाहिये, हिंसासे छुटकारा पानेके लिये अपनी हानि करके भी परो-

पकारका (जो यथार्थ यज्ञ है) प्रभाव स्मरण करना चाहिये। स्तैयनाशके निमित्त दानकी भावना और अभिमान तथा मत्सर नष्ट करनेके लिये सर्वात्मभावकी भावना करनी चाहिये।

इसप्रकार स्थूल और सूक्ष्म आधारोंकी शुद्धि होनेपर इन्द्रियोंकी वासना बहुत कुछ क्षीण तो हो जाती है, किन्तु समूल नष्ट नहीं होती। वासनाकी लिप्साका बीज बना ही रहता है, जो समयान्तरमें किसी विशेष अवस्थामें अंकुरित होकर प्रकट हो जाता है। यही कारण है कि कभी कभी अच्छे साधकमें भी किसी एक विषय वासनाका प्रादुर्भाव होकर उसे सत्यमार्गसे स्खलित कर देता है। कारण यही है कि उसके अन्दर बीज रूपमें वासना वर्तमान थी। वासनाका सबीज नष्ट होना तभी सम्भव है जब कि साधक बुद्धिसे भी ऊपर जाकर आत्मामें स्थित हो जाय। भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

'(शरीरसे) इन्द्रियां उच्च हैं, इन्द्रियोंसे भी उच्च मन है, मनसे उच्च बुद्धि और बुद्धिसे भी जो ऊपर है वही यथार्थ आत्मा है। इसप्रकार आत्माको बुद्धिसे ऊपर जानकर अन्तःकरण शरीरादिको उसके अधीन करके तुम उस कामरूपी दुर्वृत्त शत्रुको जीतो।'

कामका पूर्ण दमन बुद्धिसे परे आत्मामें स्थित होने और शरीर, प्राण, मन, चित्त, बुद्धि तथा आत्मामें समता एवं एकता स्थापित होनेसे होता है। यह समता और एकता तभी स्थापित होती है, जब कि शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि आत्माके अनुकूल हो जाते हैं और विषय-भोगकी वासनामें प्रवृत्त न होकर स्वार्थत्यागपूर्वक आत्माके दिव्य गुणोंका प्रकाश करना ही जब इनका मुख्य उद्देश्य बन जाता है। इन गुणोंका वर्णन गीताके १६ वें अध्यायके प्रारम्भके तीन श्लोकोंमें दैवी-सम्पत्तिके नामसे है, जिनकी प्राप्तिका फल मोक्ष है।

जीवात्मा श्रीभगवान्का अंश है (गीता अ० १५ श्लोक ७) अतएव उनकी परा प्रकृतिका ही रूप है, इस परा प्रकृतिका आश्रय लेना और इस दिव्यशक्तिका सञ्चार करना ही साधनका प्रधान लक्ष्य है, जैसा पहले कहा जा चुका है। कुत्सित वासना और दुर्गुणोंके नाश होनेपर आधारकी शुद्धि, निष्कामता और सद्गुणोंकी प्राप्ति होनेसे ही इस दिव्यशक्तिकी जागृति और इसका संचार होता है। अतएव हमें इसीके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

शील

(लेखक—स्वामी शिवानन्दजी)

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥

होन चहत जो देव सम, धारौ उत्तम शील।
देवनको गुण शील है, दानव गुण दुःशील॥

सद्गुणोंमें शीलका महत्व विशेष है, शील बिना संपूर्ण गुण पंगुवत् होजाते हैं शील सब गुणोंका भूषण है शील आदर्श वस्तु है, शीलके प्रभावसे ही मनुष्य सत्पुरुष सज्जन सन्त कहलाता है। गीतामें 'अहिंसासत्यमक्रोधः' आदि दैवीसम्पदाके लक्षण कहे हैं उनमें अहिंसाका प्रथम स्थान है। पातञ्जल-योगसूत्रमें 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' यमके निरूपणमें भी अहिंसाको

ही सबसे प्रथम स्थान दिया है। वेदोंमें तो 'अहिंसा परमो धर्मः' जगह जगह अहिंसाका उपदेश भरा है। इस अहिंसाका पालन शीलवान् पुरुष ही कर सकता है, जो शीलवान् होगा वह दयालु भी होगा। दयाके बिना अहिंसाव्रतका पालन नहीं हो सकता।

एक महात्मा किसी वनमें तप कर रहे थे, ध्यानमें स्थित थे, समाधि लगी थी, किसी दुष्टने आकर महात्माकी जंघा पर धूनीमेंसे जलती हुई लकड़ी निकालकर रख दी। थोड़ी देर बाद किसी सज्जन पुरुषने आकर वह लकड़ी दूर फैंक दी। महात्माकी जंघा जल गयी थी। उस सज्जनने जाकर राजासे कहा, अमुक व्यक्तिने महात्माकी जांघ जला दी है। महात्मा प्रसिद्ध सन्त थे, राजा उन्हें बहुत मानता था। अतः यह सुनकर तुरन्त महात्माके पास गया, महात्माकी जली हुई जंघामें मांस निकल रहा था। राजाने दुखी हो तुरन्त हाथ जोड़कर विनयपूर्वक कहा–'भगवन्! आपके व्यर्थ कष्ट देनेवालेको मैं अवश्य प्राणदण्ड दूंगा' महात्माने कहा–'राजन्! मेरी उस व्यक्तिसे कोई शत्रुता नहीं है। शत्रुता है तो दुष्टतासे है, वास्तवमें उस दुष्टताको ही दण्ड मिलना चाहिये। तुम सारे राजमें यह घोषणा करा दो कि सब मनुष्य ईश्वरसे यह प्रार्थना करें, कि 'उस व्यक्तिके हृदयकी दुष्टताका परमात्मा नाश करदें।' राजाको भक्त साधुकी यह बात सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ पर सन्तकी आज्ञासे उसे घोषणा करानी पड़ी। फल तत्काल हुआ। दुष्टको अपने दुष्कृत्य पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ! वह महात्माके शीलकी सराहना करता हुआ उनके शरण होगया और अन्तमें शिष्य बनकर वही उत्तम महात्मा हुआ। यह है भक्तके शीलका सुन्दर परिणाम! भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके जीवनमें शीलकी ही प्रधानता पायी जाती है, वे तो शीलके भण्डार ही थे। कैकेयीकी आज्ञासे राम न्यायसे प्राप्त राज्यका स्वत्व तृणवत् त्यागकर वन जाते हैं, जगज्जननी सीताजी लक्ष्मणजी साथ हैं। रावण धोखा देकर सीताजीको हर लेगया है, सीताके शोकमें प्रेमवश राम व्यथित हैं। परन्तु कैकेयीके प्रति कभी कोई दुर्भावना नहीं करते! यही तो शील है।

वास्तवमें जिसने शीलको अपना ध्येय बना लिया, उसने अपने जीवनको पवित्र बना लिया। शीलवान्का जगत्में कोई शत्रु नहीं होता और वह अपने प्रेमसे सब पर विजयी होता है।

एक समय समुद्रने नदियोंसे कहा, तुम हमारे लिये बेंतका वृक्ष लाओ, स्वामीकी आज्ञा पालन करनेके लिये नदियां प्रसन्नतापूर्वक बेंतके वनोंकी ओर चलीं, और बड़े वेगसे प्रहार करने लगीं। पर जब नदियोंका प्रहार आता तब बेंत झुककर पृथ्वीसे लग जाते थे। नदियोंका वेग ऊपरसे व्यर्थ ही चला जाता था। सम्पूर्ण नदियां मिलकर भी बेंत न तोड़ सकीं आखिर हैरान होकर लौट आयीं और समुद्रसे कहने लगीं कि 'हे स्वामिन्! हमारे सम्पूर्ण बलसे भी बेंत नहीं टूटते, क्योंकि उनमें कठोरता नहीं है, उनकी नम्रताने हमारा सब परिश्रम व्यर्थ कर दिया।' समुद्रने हंसते हुए कहा 'नदियो! ठीक है, जिसमें नम्रता है उसका संसारमें कोई भी कुछ नहीं कर सकता।' नदियां लज्जित होकर रह गयीं।

जो नदियां पर्वतोंको भी तोड़ देती हैं उनसे बेंतके मामूली वृक्ष भी नहीं टूटे। इसीप्रकार जो सम्पूर्ण विश्वको विजय कर सकता है वह भी शीलवान्के सामने हार जाता है। शील ही मनुष्यकी उन्नतिका परम कारण है।

एक शील बिना नर ऐसा है,
दीपक बिन मंदिर जैसा है।
जिमि बिना पुरुषकी नारी है,
जिमि पुत्र बिना महतारी है।

प्राण बिना जिमि काया है,
ज्यों सूम संचरी माया है।
जिमि मूढ़ संपदा खोई है,
ज्यों लवण विहीन रसोई है।

शीलवान्का सम्पूर्ण विश्व मित्र होता है। शीलवान् सर्वत्र पूजा जाता है, अतः शीलवान् बनो! शीलवानोंके चरित्रका चिन्तन करो, सत्संगमें जाकर शीलकी रक्षा करो, शीलकी वृद्धिके लिये प्रयत्न करो, दुष्टोंका संग सर्वथा त्याग दो, काम क्रोधको पास भी न आने दो, सबसे मधुर प्रिय हितकर भाषण करो, नम्रताका बर्ताव करो, सबका हित चाहो, प्राणीमात्रपर दया करो, परोपकार करनेसे जी न चुराओ, सर्वदा चंदनकी तरह शीतल रहो और दूसरोंको भी शीतल करो और सबको अपना मित्र समझो। फिर देखो, सारा संसार सहज ही तुम्हारा मित्र हो जायगा—सुखरूप हो जायगा, यही शील और शीलका लाभ है!

इष्टदेवसे--

पूजाका सामान लिये जब,
आया मैं मन्दिरके द्वार।
भक्त अनेक तुम्हें पहनाते—
थे मंजुल फूलोंके हार॥

धीरे-धीरे साहस कर मैं भी,
आ गया तुम्हारे पास।
ज्योंही चाहा करूं वन्दना,
उमड़ पड़ा यह हृदय हताश॥

स्मृति-रेखा खिंच गयी सामने,
नयन लगे बरसाने मेह।
निष्ठुरता बह चली तुम्हारी,
हुआ प्रदर्शित मुख पर स्नेह॥

इतने दिन तक मुझे मिला था,
जीवन-वनमें दारुण शूल।
क्षणमें दया तुम्हारी पा मैं,
गया विश्व-बाधाएं भूल॥

—श्रीजगन्नाथ मिश्र गौड़ 'कमल'

कामना

(१)

जहँ तव प्रेम विरह-विरही जन—
बैठे हों सरिताके कूल।
तव दर्शन-हित रो, रोकर—
बरसाते हों आँसूके फूल॥
यदि इस अधम, अकिञ्चन, जन पर—
किञ्चित भी तुम हो अनुकूल।
अवशि बनाना नाथ! उसी—
पावनतम-तलकी थोड़ी धूल॥

(२)

जिस पथसे तव दर्शन प्रेमी—
आते हों हियमें अति फूल।
जहां तुम्हारे प्रेमी-पागल—
नाच रहे हों सुख दुख भूल॥
भरे पड़े हों जहां तुम्हारी—
पद-रज-कणसे बासे फूल।
अवशि बनाना नाथ! उसी—
पावनतम-तलकी थोड़ी धूल॥

'जीवन'

सन्त कौन है ?

(लेखक—पं० श्रीपुरुषोत्तमलालजी त्रिपाठी)

इतने गुन जामें सो सन्त ।

श्रीभागवत मध्य जस गावत, श्रीमुख कमलाकन्त ॥
हरिको भजन, साधुकी सेवा, सर्व भूत पर दाया ।
हिंसा लोभ दम्भ छल त्यागै, विष सम देखैं माया ॥
सहनशील आशय उदार अति, धीरज सहित विवेकी ।
सत्यवचन सबको सुखदायक, जेहि अनन्य ब्रत एकी ॥
इन्द्रियजित् अभिमान न जाके, करै जगतको पावन ।
भगवतिरसिक तासुकी संगति, तीनहुं ताप नसावन ॥

पाखण्डी कौन है ?

भेषधारि हरिके उर सालें ।

लोभी दंभी कपटी नटसे, सिस्नोदरको पालें ॥
गुरू भये घर घरमें डोलैं, नाम धनीको बेचैं ।
परमारथ सपने नाहिं जानैं, पैसन ही को खैचैं ॥
कबहुंक बकता बनकर बैठे, कथा भागवत गावैं ।
अर्थ अनर्थ कबहुं नाहिं भासै, पैसन ही को धावैं ॥
कबहुंक हरिमन्दिरको सेवैं, करैं निरन्तर बासा ।
भावभगतिको लेश न जानैं, पैसन ही की आसा ॥
नाचैं गावैं चित्र बनावैं, करैं काव्य चटकीलो ।
सांच विना हरि हाथ न आवैं, सब रहनी है ढीलो ॥
बिनु विवेक वैराग भगति बिनु, सत्य न एकौ मानै ।
भगवत विमुख कपट चतुराई, सो पाखण्डै जानै ॥

जगत्का कल्याण कैसे हो ?

आज सारे संसारमें खासकर भारतवर्षमें, घोर विपत्तिके बादल उमड़ रहे हैं। जहां देखिये वहीं कलह और वैमनस्यका जोर है। प्रेमका प्रायः अभाव ही हो गया है। राजा-प्रजा, पिता-पुत्र, भाई-भाई, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य और स्वामी-सेवक आदि किसीमें भी परस्पर सर्वथा शुद्ध भाव प्रायः नहीं पाया जाता। सभी अपने-अपने स्वार्थके दाव-पेंच खेल रहे हैं। सत्य तो लुप्तप्राय हो गया। जहां देखिये, वहीं बेईमानी और झूठ दिखायी देता है। हम लोग इतने गिर गये हैं कि आज किसी प्रकारके पापको 'पाप' नहीं मानते, पापाचारको तो आज हम चतुरता, दक्षता, वीरता और राजनीतिज्ञता आदिके नाम देकर अपना रहे हैं। इस समय प्रायः कोई भी व्यक्ति अपने सच्चे धर्मपर स्थिर नहीं है। धर्मके नामपर भांति भांतिके गुप्त प्रकट पाप किये जा रहे हैं। मतमतान्तर नित्य बढ़ते चले जारहे हैं। वास्तविक आध्यात्मिक तत्त्वसे प्रायः सभीको अरुचि हो गयी है। सारा भूमण्डल आधिभौतिक(Materialism) सुखकी उपासनामें निमग्न है। धर्म या मजहबका नाम सांसारिक स्वार्थका एक साधन मात्र रह गया है। वर्णाश्रमका कोई नियम नहीं है। 'ब्रह्मचर्य' को तो देश निकाला ही दिया जा रहा है।

स्त्रियों और अन्त्यज नामधारियोंपर अन्याय किया जा रहा है। सुधार-संस्कारके नाम पर अनर्थोंसे बचनेकी जगह सुख-स्रोतका मूलोच्छेद करनेकी घोर चेष्टा हो रही है। कोने कोनेसे धर्मका विरोध हो रहा है, बरसाती मेंढकोंकी भांति आसुरी गुणसम्पन्न मनुष्य बढ़ रहे हैं। दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, हिंसा और उद्दण्डता आदि दुर्गुणोंका विस्तार हो रहा है। स्वार्थबुद्धिने बढ़कर प्रायः सबके हृदयको पाप-कलुषित कर दिया है। सात्त्विक वृत्तियोंकी जगह तामस वृत्तियां बढ़ रही हैं। धर्मशास्त्र केवल नामके लिये रह गये हैं और उनको भी समूल नष्ट करनेका प्रयत्न जारी है। बाह्य आडम्बर बढ़ गया है, सदाचार नष्ट होरहा है, व्यभिचारकी मात्रा बढ़ रही है। माता, पिता, आचार्य, देवता यहांतक कि ईश्वर पर भी हाथ साफ होने लगे हैं। हिंसा-वृत्ति बढ़ जानेसे बेचारे गूंगे पशुओं पर विपत्तिकी बाढ़ आगयी है। सभ्यता और धर्मके नाम पर इनका नाश होने लगा है। गोवंशका तो इतने तेजीसे ध्वंस होरहा है, कि कुछ दिनोंमें शायद इनका पता भी न लगे। संक्षेपमें, दैवीसम्पत्तिके सभी गुण—चित्तकी प्रसन्नता, ज्ञान प्राप्तिके उद्योग, दान, इन्द्रिय-निग्रह, वेदाध्ययन, तप, निष्कपट व्यवहार, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, अनासक्ति, शान्ति, पर-निन्दा-विमुखता, दया, कोमलता, लज्जा, स्थिरता, तेज, क्षमा, धैर्य, अद्रोह, निरभिमान और पवित्रता आदि गुण बुरी तरहसे नष्ट किये जा रहे हैं। अधःपतनका क्रम इस वेगसे चल रहा है कि मानों थोड़े ही समयमें महान् अन्धेर मच जायगा।

खेद तो यह है कि इस अधोमुखी प्रवृत्तिको आजकल हम लोग प्रगति और उन्नतिके पूर्व लक्षण मान रहे हैं। परन्तु हमारे पापोंका फल हमें हाथों हाथ मिलने लगा है। प्रकृतिमें गड़बड़ी मच गयी है, और उसके भयंकर दुष्प-रिणाम पूर्णरूपसे दृष्टिगोचर होने लगे हैं। इन्द्रदेवने समय पर पानी बरसाना बन्द कर दिया है। वायु प्रचण्डरूप धारण करने लगा है। आकाशमें तरह तरहके पुच्छल तारे उगने लगे हैं। वज्रपात और नक्षत्रपात भी शुरू हो गये हैं

आयेदिन अकाल, बाढ़, भूकम्प, हैजा, महामारी, और मलेरिया आदि बीमारियोंके कारण हमारी पीड़ा बहुत बढ़ गयी है। संसारव्यापी युद्धाग्निके धुएंने तो सभी देशोंके निर्मल आकाशको धुंधला बना दिया है।

इन विपत्तियोंको हटाकर स्वतन्त्रता और सुख-शान्ति प्राप्त करनेके लिये अनेकानेक उपाय किये जा रहे हैं। हजारों सभा, सम्मेलन, लोग, कांग्रेस, कान्फरेन्स, समाज, मण्डल और दूसरी संस्थाएं स्थापित हुईं तथा हो रही हैं। शान्तिवादी, क्रान्तिवादी, साम्यवादी, साम्राज्यवादी, पूंजीवादी, नरम, गरम, कृपण, उदार, मजदूर, सहयोगी, असहयोगी, शुद्धि-संगठनवादी, सत्याग्रही, स्वतन्त्रवादी दल बने और बन रहे हैं। कितने युवकोंने विविध यन्त्रणाएं सहकर आत्म-बलिदान दे डाला। इसके अतिरिक्त भी और न मालूम कितने गुप्त प्रकट उपाय काममें लाये जा रहे हैं, परन्तु यह बात स्पष्ट है कि 'काहू ते कछु काज न होई' विपत्तिके बादल तो प्रतिदिन घने और काले ही होते चले जा रहे हैं!

भारतवर्ष तो धर्मप्रधान देश है। धर्म ही इसके जीवनका आधार है। परन्तु सम्प्रति धर्मपर आघात होनेसे इसके सब यन्त्र ढीले पड़ गये हैं, जब जब ऐसा होता है तभी भक्तोंकी पुकार सुनकर, उस चतुर कारीगरको अपने सारे दिव्य औजार लेकर यहां आना पड़ता है। पुराकालमें एक समय इससे भी भयङ्कर स्थिति हो गयी थी, दुष्टोंके पापाचरणसे धर्मका नाश होकर इस पुण्यभूमिमें चारों ओर हाहाकार मच गया था। सज्जनोंपर दुराचारियोंका महान् आतङ्क छागया था। उस समय सच्चा मत प्रकट करना सर्वथा न्यायविरुद्ध माना जाता था।

'सकल धर्म देखहिं विपरीता।
कहि न सकहिं रावन भयभीता॥'

अत्याचार, अनाचार और स्वेच्छाचारके प्रबल भारसे अकुलाकर और पापोंसे पीड़ित होकर पृथ्वी

देवी एक कृपणा गौका रूप धर उस सभामें पहुंची जहां बड़े बड़े महर्षि और देवगण बैठे गोष्ठी कर रहे थे। पृथ्वीने उनके सामने रो रोकर अपने ऊपर होनेवाले अत्याचारोंका वर्णन किया। सबने सुनकर विचार किया और अपनी अपनी बुद्धि दौड़ायी, परन्तु इस अधर्मके भयानक झञ्झावातको रोकनेका यथार्थ उपाय किसीको नहीं सूझा। अतएव पृथ्वीको साथ लेकर सब बूढ़े पितामहके पास गये–

'ब्रह्मा सब जाना मन अनुमाना मेरो कछु न बसाई।
जाकर तैं दासी सो अबिनासी हमरो तोर सहाई॥'

ब्रह्माजी आश्वासन देते हुए धरा देवीसे बोले–

'धरणि धरहु मन धीर, कह बिरंचि हरिपद सुमिरि।
जानत जनकी पीर, प्रभु भंजहिं दारुण बिपति॥'

निदान, यह निश्चय हुआ कि 'उसी जगन्नियन्ता करुणा-वरुणालयकी शरणमें जाकर अपनी विपद्-कहानी उन्हें सुनायी जाय। इस समय दूसरा कोई भी सहायता नहीं कर सकता' आज चरित्र-बल-विहीन स्वेच्छाचारी-संसार ईश्वरको हृदयसे निकालकर धर्मभावको भुलाकर अपने शरीरबलसे दुःख दूर करनेके लिये व्यर्थ प्रयास कर रहा है, इसीसे तो दुःखोंकी मात्रा दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ो जा रही है! अस्तु,

तदनन्तर इसपर विचार होने लगा कि 'भगवान्‌के दर्शन कहां मिलेंगे?' बड़ा मतभेद हो गया। किसीने कहा कि 'वैकुण्ठ चला जाय।' कोई बोला 'क्षीरसागर' में मिलेंगे। तीसरेने 'गोलोक' और चौथेने 'साकेत' जानेकी राय दी। कुछ भी निश्चय नहीं हो सका। अन्तमें भक्त-प्रवर भगवान् सदाशिव श्रीभोलानाथजीने डमरू बजाकर सबको शान्त किया और प्रेमपूर्ण दिव्यवाणीसे बोलेः—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेमते प्रगट होय मैं जाना।

देशकाल दिसि बिदिसिहुँ माहीं ।
कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ॥
अग जग मय सब रहित बिरागी ।
पवनते प्रगट होत जिमि आगी ॥

जिसका ठीक पता नहीं चलता था तथा जिसके समीप पहुंचना अत्यन्त कठिन जान पड़ता था। 'वह समभावसे सभी जगह वर्तमान है और उसको प्रकट करनेकी 'कुंजी' केवल 'सच्चा प्रेम' है' इस बातको सुनते ही सब देवता मारे हर्षके उछल पड़े और प्रेममूर्ति श्रीशङ्कर-पर 'साधुवाद' की पुष्पवर्षा होने लगी!

डूबतेको सहारा मिल गया। त्राण पानेकी आशा बँधने लगी। 'अपना किया अब कुछ नहीं होगा जिसका जो अधिकार है वह कार्य वही कर सकता है। ईश्वरका कार्य ईश्वर ही कर सकता है, जो प्रमाद और अहंकारवश अपनी मायामोहित परिमित बुद्धिके भरोसे ईश्वरका कार्य करना चाहता है, वह कभी सफल नहीं होता।' इस बातका सबको पूरा पता लग गया। सबका चित्त परमात्माकी ओर झुका। नेत्र सजल और शरीर पुलकित हो गये। हाथ जोड़कर हृत्तन्त्रीकी सुमधुर वीणा बजाकर देवता गद्गदकण्ठ परम कातर स्वरसे उस गो-द्विज-हितकारी, असुरारी, प्रणतपाल, सहज-कृपालु दीनदयालुसे विनीत प्रार्थना करने लगे—

जेहि सृष्टि उपाई सहज बनाई संग सहाय न दूजा ।
सो करहु अघारी चिन्त हमारी जानिय भक्ति न पूजा ॥
जो भव भय भंजन जन मन रंजन गंजन बिपति बरूथा
मन बचक्रम बानी छाड़ि सयानी सरण सकल सुरयूथा
सारद श्रुति शेषाऋषय अशेषा जाकहँ कोउ न जाना
जेहि दीन पियारे वेद पुकारे द्रवहु सो श्रीभगवाना ॥

जब किसी विपत्तिको हटानेमें अपनी शक्ति और बुद्धि काम नहीं देती और दूसरोंसे भी सहारा मिलनेकी कोई आशा नहीं रह जाती, उस समय शरणागतके सच्चे हृदयसे निकला हुआ आर्त्तनाद, परम-पिता जगदीश्वरके कानों-तक अवश्य पहुंचता है! देवगण, वसुन्धरा और महर्षियोंको सभय शरणमें आये हुए देख तथा उनका करुण-क्रन्दन सुन करुणार्णव भगवान्‌की करुणा-लहरियां उमड़ पड़ीं और तत्काल शोक सन्देह दूर करनेवाली परम गम्भीर आकाशवाणी हुई—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेशा ।
तुमहि लागि धरिहौं नरवेषा ॥
हरिहौं सकल भूमि गरुआई ।
निर्भय होहु देव समुदाई ॥

श्रीमुखकी वाणी सुनकर सबका भय दूर हो गया कुछ कालके उपरान्त स्वयं परमात्माने भारत भूमिपर अवतीर्ण हो सारे अधर्मको दूर करके श्रीरामराज्यकी स्थापना की। क्योंकि उनकी यह प्रतिज्ञा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

जो लोग यह मानते हैं कि परमात्मा जगत्‌के निर्माता और विधाता हैं, ब्रह्माण्डके सारे कार्य केवल उन्हींकी सत्तासे होते हैं, वह परम दयालु सदा निःसहायोंकी सहायता किया करते हैं और हमारी तथा जगत्‌की उन्नति उन्हींकी शक्ति और कृपापर अवलम्बित है। ऐसे लोगोंको देश, जगत् या धर्मकी इस शोचनीय अवस्थाका विचारकर इसी सिद्धान्तपर आना होगा कि 'हमें उसी सहज त्राण-कर्ताके शरणमें जाकर उसीसे रक्षाके लिये प्रार्थना करनी चाहिये।' यदि यह बात सत्य है (अवश्य और ध्रुव-सत्य है) कि ग्राह-ग्रसित गजराज और दुःशासन-पीड़िता द्रौपदीकी पुकार सुनकर भगवान तत्काल पहुंच गये थे, तो हमारा भी ऐहिक-पार-लौकिक दुःख सदाके लिये वही दूर करेंगे। विश्वास रखिये कि वह आज भी हमारा दुःख दूर करनेके लिये खम्भ फाड़कर नृसिंहरूपमें

प्रकट होनेको तैयार हैं आज भी वह शालिग्राम शिलासे श्रीराधारमणके मनोहर विग्रहमें पलट जानेके लिये प्रस्तुत हैं, फिर भी वह एकवार शची-माताके गर्भसे कलियुग पावनावतार श्रीचैतन्यका कलेवर धारण कर सकते हैं। कमी है तो केवल एक प्रह्लादकेसे दृढ़ विश्वासकी, श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामीकेसे प्रेमकी और अद्वैत महाप्रभुकेसे कठिन तप और भजनकी!

जबतक ऐसा नहीं होगा तबतक हमारे दुःखोंका अन्त नहीं आयेगा, जो दुःखनाशकी बाट जोह रहे हैं उन लोगोंको अपना कर्तव्य निश्चय करके शीघ्र ही काममें लग जाना चाहिये।

श्रीस्वामी रामतीर्थजी कहा करते थे कि 'देशके कल्याणके लिये अत्यावश्यक है कि कुछ शुद्ध आचरणके प्रेमी सज्जन एकान्तमें बैठकर परमात्मासे प्रार्थना करें और देशमें प्रेमभाव फैलनेकी दृढ़ भावना करें।'

अतः परमात्माके अनुभवी प्रेमी लाडलोंसे प्रार्थना है कि वे इस ओर तुरन्त ही ध्यान दें। जगत्‌के कल्याणका यही सर्वोत्तम साधन है!*

सत्सङ्गसे लाभ

(लेखक—भाई घनश्यामदासजी नुंवेवाला)

सत्सङ्गसे सब कुछ सम्भव है, नीचसे नीच मनुष्य भी सत्सङ्गके प्रतापसे बहुत शीघ्र परम-पदको प्राप्त कर सकता है। गीता अध्याय १३ का २५ वां श्लोक इसमें प्रमाण है। शास्त्रप्रमाणोंके सिवा ऐसे इतिहास और प्रत्यक्ष घटनाओंकी भी कमी नहीं है जिनसे यह पता लगता है कि वाल्मीकिकी भांति महान् पापी भी सत्सङ्गके प्रतापसे सच्चा महात्मा बन सकता है। सत्सङ्गसे ही मनुष्यके अवगुणोंका नाश होता है। जबतक मनुष्य सत्सङ्ग नहीं करता तबतक उसे अपने अवगुणोंका पता ही नहीं लगता, बिना पता लगे अवगुणोंका नाश नहीं होता। जो मनुष्य सत्सङ्गका महत्व समझकर श्रेष्ठ पुरुषोंके वचनोंपर पूर्ण विश्वास करके उनके वचनोंको जितना जितना अधिक काममें लाता है, उतना ही अधिक उसे लाभ होता है, वास्तविक लाभ उसके भावोंपर ही निर्भर है।

कोई भाई यदि ऐसा कहे कि मुझे सत्सङ्ग करते बहुत समय हो गया, परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ, तो इसका उत्तर यह है कि यदि उसने वास्तवमें सत्सङ्ग किया है तो उसे लाभ अवश्य हुआ है। सत्सङ्गका महत्व न समझने या विश्वासकी कमी होनेके कारण अल्प अवश्य हुआ है। यदि वह वास्तवमें सत्सङ्गकी कीमत समझता तो सारे काम छोड़कर केवल सत्सङ्गके ही परायण हो जाता। पर जबतक वह स्त्री-पुत्र-धनादिको अच्छा समझता है तबतक यह नहीं माना जा सकता कि वह सत्सङ्गको ही सर्वोपरि मानकर उसीके परायण हो गया हो।

बहुतसे लोग तो धन जन मान आदि अनेक प्रकारकी कामनाओंमेंसे किसी एक या अधिकको मनमें रखकर स्वार्थसाधनके लिये ही सत्सङ्गमें जाया करते हैं। उनको अपनी भावनाके अनुसार ही फल भी मिलता है। कहीं कहीं तो सूक्ष्म स्वार्थ हृदयकी इतनी गहराईमें छिपा रहता है कि उसका पता ही नहीं लगता। अन्य स्वार्थोंका तो पता लग भी जाता है परन्तु मान बड़ाई प्रतिष्ठा आदिका पता लगना बहुत ही कठिन होता है। बहुत बार मनुष्यका मन ही उसे धोखा दे डालता है। अच्छे अच्छे साधक इसके फेरमें पड़ जाते हैं। अतएव जबतक इन सारे स्वार्थोंका समूल नाश नहीं होता, तबतक सत्सङ्गका पूरा फल नहीं मिलता। इन सबका नाश करके जो पुरुष सत्सङ्ग करता है उसे भगवत्-प्राप्ति होनेमें विलम्ब नहीं होता। परन्तु इनके नाश करनेका उपाय भी सत्सङ्ग ही है अतएव श्रद्धा—विश्वासयुक्त हृदयसे सदा सत्सङ्ग करना चाहिये!

*यह लेख हरद्वार प्रवासी एक प्रतिष्ठित सज्जनका भेजा हुआ है। नाम प्रकाश करनेकी आज्ञा नहीं है —सम्पादक।

अमूल्य नव-रत्न

(१) यह छः ठौरमें जो संसारी बार्ता तथा प्रमाद करते हैं तिनका तीन वर्षका किया सकल सुकृत नष्ट हो जाता है १ प्रभुमन्दिरमें २ श्मशानमें ३ मृतक समीप ४ पिछली रात ५ सन्तोंके समीप ६ नाम स्मरण यह छः ठौर सावधानी चाहिये।

(२) जो पापी मनुष्य होते हैं. तिनकी प्रीति छः पदार्थोंसे होती है। प्रथम–मायासाथ, दूसरे–शिकदारी साथ, तीसरे–षटरस साथ, चौथे–नारी साथ, पांचवें–सोने साथ, छठे–संसारी ऐश्वर्य साथ।

(३) जिस समय निर्धनताई तेरे पास आवे, तो तू महामुदित होयके सन्तोषी रहु और दौलतके आये अपने पापका उदय जान। जो पार चाहता है तो प्रभु बहुत हैं। साथी चाहता है तो चित्रगुप्त बहुत हैं। जो उपदेश चाहता है तो श्मशानकी भूमि बहुत है। जो सत्सङ्ग चाहता है तौ सद्ग्रन्थ बहुत हैं।

(४) धिक्कार है उस मानुषको जो गरीबको धनहीन जानिके निरादर करता है और धनी जानिके आदर करता है। सो प्रभुविमुख है।

(५) कपटी मनुष्यकी परलोकमें दो रसना आगे पीछे होयगी। दोनोंमें कोढ़ चूवैगा। लोहू पीव प्रवाह। याते भीतर बाहरकी रीति भिन्न भिन्न रही। तिसका यह सजा है।

(६) संसारमें आठ चीज बहुत भली है। प्रथम-अदब औरतोंमें, दूजे--वैराग्य जवानीमें, तीजे--भजन पण्डितोंमें, चौथा--उदारता धनवानोंमें, पंचम प्यार मित्रोंमें, छठा--वफादारी सुन्दरोंमें, सातवां इन्साफ बादशाहोंमें, आठवा--मारफत फकीरोंमें।

(७) आठ बिना आठ तुच्छ है (१) नारी बिना अदब ऐसी है जैसे लोन बिना भोजन (२) पढ़िके अखंड सुमिरन नहीं किया सो वृक्ष है फल बिना। (३) जवानीमें त्याग नहीं। सो बादल है बरषा बिना (४) धनी उदारतारहित सो सर है पानी बिना (५) मित्र है प्यार नहीं सो देह है चैतन्य बिना (६) सुन्दर है वफा बिना सो कमान है बिना रोदेके (७) बादशाह है बिना इन्साफके सो सहर है मानुष बिना (८) फकीर बिना मारफतके, दीपक है प्रकाश बिना।

(८) स्वानसे १० गुण सन्त लेते हैं। प्रथम गुण भूखा रहता है यह चिह्न भलोंका है। दूजे गृहरहित है--सो विरक्तका गुण है। तीजे सारी रात जागना यह गुण प्रीतिवालोंका है। चौथे मरने पीछे कुछ नहीं निकलता। यह मुख्य विरक्तोंका गुण है। पाँचवाँ-स्वामीका द्वार नहीं छोड़ता यह सेवकोंका गुण है। छठाँ थोड़ी ठौरपर गुजरान करता है यह गरीबकी रीति है। सातवाँ जहाँसे कोई उठाय दे उठिजाय है। यह गुण राजी रहनेहारोंका। आठवाँ-उठाये जाता है बुलाये आता है यह गुण अमानियोंका है। नवाँ सांई जब चाहे तब दे। मांगता नहीं। यह गुण तपस्वियोंका है। दशवीं शिक्षा यह--जो उसके तर्फ ताकता है तो वह धरतीकी ओर नजर करता है। यह लक्षण मजजूबोंका है।

(९) सांई साथ प्यार इतना कर। जितना सुख चाहता होय। और पाप इतना करो जितनी नरककी आंच सहनेकी शक्ति होय। विश्वमें विस्तार इतना कर जितना दिन रहना होय। जितना है तितना कह। जितना कह तितना कर। मनको बन्धनमें राख जो मनको जीता सो प्रभुके समीप रहेगा। एकान्त वास, सदा सत्सङ्ग, भोजन लघु, मौन, जागृत करते रहना तब इस रहस्य वचनका स्वाद मिलेगा।*

—परलोकवासी स्वामी श्रीयुगलानन्यजी महाराज

*यह वचन काशीनिवासी श्रीसियारघुनाथशरणजीकी कृपासे मिले हैं और ज्योंके त्यों लेखककी भाषामें ही छापे जाते हैं। —सम्पादक

दर्पहारी भगवान्‌की दया !*

भगवान् बड़े दयालु हैं, वह अपने भक्तमें किसी भी दोषका रहना पसन्द नहीं करते, इसीलिये अपनी कृपासे अवस्थाके अनुसार व्यवस्था कर भक्तकी मानसिक व्याधि-को दूर कर देते हैं। महाभारतके पात्रोंमें वीर कर्णका नाम दानियोंमें सबसे पहले लिया जाता है, जिस कर्णने अपनी स्वाभाविक दानशीलताके सामने शरीरको भी तुच्छ समझा और याचकरूपसे उपस्थित हुए इन्द्रको जानबूझकर कवच-कुण्डल उतार दिये। भगवान् श्रीकृष्ण कर्णकी दानशूरतापर बड़े प्रसन्न थे और समय समयपर सखा अर्जुनके सामने कर्णके दानकी प्रशंसा किया करते थे। अर्जुन यद्यपि भगवान्‌के सामने कुछ बोलना तो नहीं चाहते थे परन्तु कर्णकी प्रशंसा उनके लिये कर्णकटु अवश्य थी, श्रीकृष्णके मुखसे कर्णकी बड़ाई सुनकर उन्हें बड़ी ईर्षा होती थी। भगवान् अन्तर्यामी सब कुछ जानते थे। शत्रुके भी गुणोंका सम्मान और मित्र-के दुर्गुणोंका तिरस्कार करना शिष्टोंका कर्तव्य होता है, भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखा भक्त अर्जुन-में यही बात देखना चाहते थे। इसी उद्देश्यसे वे कर्णके दानकी बारबार बड़ाई कर दिया करते। एक दिन अर्जुनसे नहीं रहा गया, उन्होंने कहा 'सखे कृष्ण!' तुम कर्णकी इतनी बड़ाई क्यों किया करते हो, क्या मैं दान नहीं करता? क्या मेरे द्वारसे कभी कोई अतिथि लौट गया है? क्या दीनोंके दुःखसे मेरे हृदयमें दुःख नहीं होता? आजतक कर्णने मुझसे बढ़कर कौनसा काम किया है?' अर्जुनके इन शब्दोंसे यह स्पष्ट हो गया कि वे अपने शत्रु कर्णकी सच्ची बड़ाई नहीं सह सकते थे और उन्हें अपनी दानशीलताका बड़ा गर्व था।

दर्पहारी भगवान् दर्प तो किसीका भी नहीं रहने देते जिसमें भक्तका गर्व मिटानेके लिये तो वे सदा कमर कसे तैयार ही रहते हैं, यह इसी-लिये कि भक्त उन्हें विशेष प्रिय हैं। भगवान्‌ने उस समय कुछ भी उत्तर न दिया, कुछ समय बीत गया। अर्जुन उस बातको भूल गये।

वर्षा ऋतु थी, कई दिनसे लगातार बादलों-ने झड़ी लगा रक्खी थी। वन, उपवन, शहर, घर सभी जगह जल ही जल हो रहा था। अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण दोनों मित्र एक जगह बैठे प्रेम-विनोद और शास्त्रचर्चा कर रहे थे। इतनेमें ही एक परम तेजस्वी ब्राह्मण आये। अर्जुनने बड़ी नम्रतासे प्रणामकर उन्हें इस समय आनेका कारण पूछा। ब्राह्मणने कहा 'महाराज! मेरी पत्नीका अभी देहान्त हो गया है, वह मरते मरते मुझसे प्रतिज्ञा करके यह कह गयी है कि मेरे शरीर-का दाह केवल चन्दनसे करना। मैंने आप लोगों-की उदारताके भरोसे उसके अन्तिम वाक्य स्वीकार कर लिये। बड़ी कठिनतासे भींगता भींगता यहांतक आया हूं। कृपापूर्वक मुझे शीघ्र ही बीस मन चन्दन दिलवाइये, सूर्य अस्त हुआ जाता है देर होनेसे आज दाहक्रिया नहीं होगी।'

ब्राह्मणकी यह बात सुनकर अर्जुनने भण्डारी-को बुलाकर आज्ञा दी कि ब्राह्मणको बीस मन चन्दन तुरन्त दे दो। पाण्डवोंके राजभवनमें चन्दनका बहुत काम हुआ करता था, इससे उनके यहां सदा ही चन्दनका ढेर लगा रहता, परन्तु आज भगवान्‌की मायासे भण्डारीको कोना कोना खोजनेपर भी कहीं एक टुकड़ा चन्दन नहीं मिला। बाजारमें भी पता लगाया गया पर कहीं चन्दन नहीं मिला। भण्डारीने आकर अर्जुनसे निवेदन किया कि चन्दन तो कहीं नहीं मिलता। अर्जुनने

* लेखककी आज्ञा न होनेसे उनका नाम प्रकाशित नहीं किया गया।

पेड़ कटवाकर चन्दन देनेकी आज्ञा दी। तब ब्राह्मणने कहा कि 'राजन्! कहीं गीले चन्दनसे दाहक्रिया हुआ करती है? अच्छा होता, आप पहले ही मना कर देते, तो इतना समय यहां व्यर्थ न खोकर दूसरी जगह चेष्टा करता।' अर्जुनने बड़ी विनयसे कहा, 'देव, जो चीज है ही नहीं उसके लिये मैं क्या करूं? आप नाराज न हों। चन्दन छोड़कर और आप जो चाहें सो निःसङ्कोच मांग लें।' ब्राह्मणने कहा, 'अर्जुन! मेरी स्त्रीका दाहकर्म अन्य वस्तुओंसे नहीं हो सकता, मैं निःस्पृही ब्राह्मण हूं, संग्रह करता नहीं, मुझे आपके धन ऐश्वर्यसे क्या मतलब है? मैं जाता हूं।' ब्राह्मण यों कहकर वहांसे चला गया और उसने कर्णके यहां जाकर वही बात कही। कर्णने भी पहले भण्डारीसे पूछा, फिर बाजारमें पता लगाया परन्तु हरिमायावश कहीं चन्दन नहीं मिला। यह देखकर ब्राह्मणने कहा 'महाराज कर्ण! यदि आप प्रबन्ध नहीं कर सकते तो कोई आपत्ति नहीं है, मैं चला जाता हूं।' कर्ण बोले 'देव! आप नाहक नाराज क्यों होते हैं? मैंने आपसे कब कहा कि मैं चन्दन नहीं दूंगा आप शान्तिसे थोड़ी देर बिराजें, मैं अभी प्रबन्ध करता हूं।' इतना कहकर कर्णने उसी समय बढ़ई लोगोंको बुलाकर उन्हें आज्ञा दी कि मेरे महलमें जो चन्दनके खम्भे लगे हैं, उन्हें इसी समय फौरन निकाल दो।' बढ़ई लोगोंने आश्चर्यमें पड़कर कहा 'महाराज! यह आप क्या कहते हैं? खम्भे निकालनेसे तो सारा महल ढह जायगा। बिना खम्भे इतनी बड़ी इमारत कैसे ठहरेगी और इतना सुन्दर महल दुबारा बनना तो आप असम्भव ही समझें।' कर्णने कहा भाइयो! इस बातको समझते हुए ही मैं तुम लोगोंको यह आज्ञा दे रहा हूं। इस कर्णको धन ऐश्वर्य, महल, बगीचे इतने प्रिय नहीं हैं, जितना उसे दान प्यारा है। इसलिये तुरन्त खम्भे निकालकर महल गिरवा दो, कुछ भी परवा न करो।'

मकान बनाते तो बहुत देर लगती है परन्तु उसके ढाहनेमें विलम्ब नहीं होता। चारों तरफ मजदूर लग गये और उसी समय खम्भे निकाल दिये। महल बातकी बातमें तहस नहस हो गया। कर्णने बड़े प्रसन्नचित्तसे गाड़ियोंपर लदवाकर चन्दन श्मशान-भूमिमें भिजवा दिया। 'सूमको करोड़ोंकी सम्पत्ति देख देखकर जीनेमें वह आनन्द नहीं मिलता, जो एक उदार-हृदय पुरुषको सर्वस्व दान देकर ऐश्वर्यहीन और कङ्गाल बन जानेमें मिलता है। सेवा करनेमें जो सन्तोष और सुख होता है, वह करानेमें कदापि नहीं हो सकता।'

वर्षा बन्द होगयी, सन्ध्याका समय है, सुन्दर शीतल मन्द हवा चल रही है। श्मशानमें ब्राह्मणीकी दाहक्रिया हो रही है, भगवान् श्रीकृष्ण प्रिय अर्जुनके साथ वन उपवनोंकी सैर करते करते श्मशान-भूमिके समीप जा पहुंचे। चन्दनकी सुगन्धसे सारा वन भर रहा है। अर्जुनने कहा, 'सखे! इतनी मनोहर सुगन्ध कहांसे आ रही है?' भगवान् तो सब जानते थे, सारी उन्हींकी माया-रचना थी, तुरन्त अर्जुनको श्मशान-भूमिमें ले गये। अर्जुनने देखा, चन्दनकी चिता जल रही है और वही ब्राह्मण जिसको अर्जुन चन्दन नहीं दे सके थे, चिताके समीप बैठा हरि-नाम-कीर्तन कर रहा है। अर्जुनको यह देखकर बड़ी लज्जा हुई। भगवान्ने समीप जाकर ब्राह्मणसे पूछा 'महाराज! चन्दन कहांसे लाये? ब्राह्मणने कहा, 'राजन्! पृथ्वीपर एकसे एक अधिक उदार पड़े हैं, हम भिखमंगोंके लिये तो सभीके दरवाजे खुले हैं, यहां नहीं मिला तो वहां सही, अर्जुनके नटजाने पर मैं कर्णके पास गया, उसके भण्डारमें भी चन्दन नहीं था। परन्तु वाह रे दानी कर्ण! धन्य है उसके माता पिता और उसकी उदार बुद्धिको, जिसने बातकी बातमें अपना मनोहर महल तुड़वाकर तुरन्त चन्दनके खम्भे मेरे लिये निकलवा दिये। मुझे आज यदि वहां चन्दन न मिलता तो मेरी बड़ी दुर्दशा होती। भगवान् दाता कर्णका भला करें।'

अर्जुन बड़े लज्जित हुए,मुख म्लान हो गया, उनका सारा गर्व गल गया, चेहरेपर विषाद छा गया। भगवान्ने कहा 'भाई! इसीका नाम दानशीलता है, मैं इसीलिये उसकी प्रशंसा किया करता हूं। क्या तेरे महलोंमें कर्णके महलोंकी अपेक्षा चन्दनके खम्भे कम थे? क्या तेरे महलोंके दरवाजे और हजारों खिड़कियोंके किवाड़ चन्दनके नहीं बने थे? क्या तेरे घरकी अलमारियोंके चन्दनका बोझ सैकड़ों मन नहीं था? परन्तु तुझे यह बात सूझ ही नहीं पड़ी, तेरी यह भावना ही नहीं हुई, तुझे स्मरण ही नहीं आया कि मेरे घरमें भी चन्दन है। इसीलिये कर्ण सबसे श्रेष्ठ दानी है। मैं यह नहीं कहता कि तेरे गुण उससे न्यून हैं मैं तो यह चाहता हूं कि तू सारे सद्गुणोंका भण्डार बन जा। भाई! शत्रुके गुणोंका सम्मान न करना एक बड़ा दुर्गुण है, यों करनेवाले उन गुणोंसे वञ्चित रह जाते हैं पर जो शत्रुके भी गुणोंका सम्मान करना जानते हैं,किसीके भी गुणका अनादर नहीं करते, वे सहज हीमें उस गुणको ग्रहण कर उससे भी श्रेष्ठ बन सकते हैं। जो शत्रुके गुणोंकी बड़ाई और अपने दोषोंकी निन्दा सबके सामने निःसंकोच होकर मुक्तकण्ठसे कर सकते हैं वे ही महानुभाव और महाशय हैं।

भगवान्के इस उपदेशसे अर्जुनका चित्त दोषरहित होकर शान्त हो गया, उनके मुखमण्डलपर विषादकी छायाके बदले परम प्रसन्नता झलकने लगी, अर्जुन कृतज्ञता भरे हृदयसे मुसकराकर बोले, 'प्रभो! जिस अर्जुनकी पद पदपर श्रीकृष्ण इतनी संभाल रखते हैं उसके समान भाग्यवान् और कौन है? भगवान्ने कहा 'भाई! बुद्धिका गर्व छोड़कर मेरी शरण हो जो अपने आपको सम्पूर्णरूपसे मुझे सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है, उसकी रक्षा हर तरहसे मुझे करनी ही पड़ती है, स्मरण रख, मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता, "न मे भक्तः प्रणश्यति।"

भगवान् किसपर प्रसन्न होते हैं ?

परापवादं पैशुन्यमनृतञ्च न भाषते।
अन्योद्वेगकरञ्चापि तोष्यते तेन केशवः॥
परपत्नीपरद्रव्यपरहिंसासु यो मतिम्।
न करोति पुमान् भूप तोष्यते तेन केशवः॥
न ताडयति नो हन्ति प्राणिनोऽन्यांश्च देहिनः।
यो मनुष्यो मनुष्येन्द्र तोष्यते तेन केशवः॥
देवद्विजगुरूणां यो शुश्रूषासु सदोद्यतः।
तोष्यते तेन गोविन्दः पुरुषेण नरेश्वर॥
यथात्मनि च पुत्रे च सर्वभूतेषु यस्तथा।
हितकामो हरिस्तेन सर्वदा तोष्यते सुखम्॥
यस्य रागादिदोषेण न दुष्टं नृप मानसम्।
विशुद्धचेतसा विष्णुस्तोष्यते तेन सर्वदा॥

महामुनि और्व सगर राजासे कहते हैं:—

जो परायी निन्दा और चुगली नहीं करता, जो कभी झूठ नहीं बोलता, जो कभी किसीके मनमें उद्वेग पैदा नहीं करता, परस्त्री—परधन और हिंसामें जिसकी बुद्धि कभी नहीं लगती, जो किसी भी जीवको कभी कष्ट नहीं देता, किसीको कभी मारता नहीं, जो देवता, ब्राह्मण और गुरुकी सेवामें सदा तत्पर रहता है। जो समस्त प्राणियोंका अपने पुत्रकी तरह भला चाहता है और जिसका हृदय राग-द्वेषादि दुर्गुणोंसे दूषित नहीं है उस शुद्धचित्त पुरुषपर भगवान् विष्णु सदा ही सन्तुष्ट रहते हैं।

(विष्णुपुराण)

श्रीमद्भगवद्गीता-जयन्ती

के अवसर पर

गीता-प्रदर्शनीका अपूर्व समारोह।*

कलकत्तेके 'गीता प्रदर्शनी विभाग'के मन्त्री महोदय लिखते हैं—"कई वर्षोंसे भारतवर्षके अनेक नगरोंमें 'श्रीमद्भगवद्गीता-जयन्ती' का उत्सव बड़े समारोहके साथ मनाया जा रहा है। भारतवर्षके लिये यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है। इस देशके ये वास्तविक उन्नतिके चिह्न हैं। भारतके लिये इस समय यदि कोई परम ध्येय है तो वह 'श्रीमद्भगवद्गीता' ही है।

ऐसे हमारे परम ध्येय, इस अलौकिक ग्रन्थ-रत्नकी जयन्तीका महत्व यदि हम भारतवासी समझने लगें और देशके कोने कोनेमें इसका प्रचार करके इसमें बतलाये हुए उपदेशोंके अनुसार चलनेका प्रयत्न करें तो शीघ्र ही भारतकी विजय-वैजयन्ती संसार-नभमें फहराती हुई दिखायी दे सकती है।

आगामी मिति मार्गशीर्ष शुक्ला ११ रविवार (ता० २३ दिसम्बर सन् १९२८)को कलकत्तेमें भी 'श्रीमद्भगवद्गीता-जयन्ती'का उत्सव मनानेका विचार किया गया है। उसी अवसरपर 'श्रीमद्भगवद्गीता-प्रदर्शनी' भी बड़े समारोहके साथ करनेका आयोजन हो रहा है।

इसके लिये भिन्न भिन्न भाषाओंकी सब प्रकारकी 'गीताएं' संग्रह हो रही हैं और संस्कृत, हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, कनाडी, अंग्रेजी, जर्मनी आदि भाषाओंकी कुछ गीताएं आ भी गयी हैं।

सब भाइयोंसे साग्रह निवेदन किया जाता है कि वे नीचे लिखे प्रश्नोंका उत्तर शीघ्र ही हमें लिख भेजें, जिससे हम गीता-संग्रह करनेमें सहज ही सफल हो सकें।

१-श्रीमद्भगवद्गीतापर किसी भी प्रकारका—

(क) भाष्य, टीका, टिप्पणी, व्याख्या, अनुवाद, पद्यानुवाद आदि।

(ख) लेख, व्याख्यान, समालोचना, निबन्ध, सार-संग्रह आदि।

२-श्रीमद्भगवद्गीता—हस्तलिखित, ताड़पत्र, या भोजपत्र आदिपर लिखी हुई, प्राचीन गीता, गीतासम्बन्धी चित्र आदि।

३-श्रीमद्भगवद्गीताको छोड़कर भिन्न भिन्न दूसरी गीताएं।

४-राजा, महाराजा या पब्लिकके बड़े बड़े पुस्तकालयोंके अध्यक्ष, एक सप्ताहतक 'श्रीमद्भगवद्-गीता-प्रदर्शनी'में रखनेके लिये, उपर्युक्त गीता-सम्बन्धी सब प्रकारकी सामग्री हमें किन किन शर्तोंपर दे सकते हैं?

उपर्युक्त प्रश्नोंके सम्बन्धमें सर्वसाधारण जनता, पुस्तकाध्यक्ष, पुस्तक-विक्रेता और गीता-प्रेमी सज्जन जो कुछ भी जानते हों (उनके नाम, पते, मूल आदि विवरण) हमें यथासाध्य शीघ्र ही लिख भेजनेकी कृपा करें। विद्वान् लोग इस विषयमें अपनी सम्मति शीघ्र ही प्रकट करें, जिससे कि हम इस सम्बन्धमें उचित सुधार कर सकें।

उपर्युक्त जो सामग्री बिकाऊ होगी, उसे प्रदर्शनीके लिये उचित मूल्यमें खरीदनेका भी प्रबन्ध किया गया है, विक्रेताको पूरे विवरणसहित निम्नलिखित पतेसे शीघ्र सूचना देनी चाहिये।

मन्त्री—गीता-प्रदर्शनी-विभाग

'श्रीमद्भगवद्गीता-जयन्ती-उत्सव'

पता—श्रीगोविन्द-भवन कार्यालय

३०, बांसतल्ला गली, कलकत्ता।

गीता-परीक्षा-समिति

कई केन्द्रोंकी ओरसे हमसे यह पूछा गया है कि अबतक किस केन्द्रसे आवेदनपत्र अधिक आये हैं। अतएव यह सूचित किया जाता है कि हमारे पास धूली बसन्तपुर विद्यालय केन्द्रसे १०१ आवेदनपत्र आचुके हैं, जो सबसे अधिक हैं। और अभी आ ही रहे हैं।

संयोजक

* हम 'कल्याण' के प्रेमी पाठकों और विद्वानोंका ध्यान इस सूचनाकी ओर आकर्षित करते हुए उनसे प्रार्थना करते हैं कि इस सम्बन्धमें मन्त्री महोदयकी यथोचित सहायता अवश्य करें और पत्र-सम्पादकगण इस सूचनाको अपने अपने पत्रोंमें प्रकाशित करनेकी कृपा करें। —सम्पादक

भगवत्प्रेम ही विश्वप्रेम है

गत महायुद्धके बाद सभी बड़े बड़े राष्ट्रोंमें निःशस्त्रीकरण और चिरकालीन शान्ति स्थापनकी प्रबल चर्चा चल रही है। बड़े बड़े दिग्गज विद्वान् और प्रसिद्ध परिष्कृत और सुसंस्कृत-मस्तिष्क राजनीतिज्ञ इस शुभ प्रयासमें लगे हुए हैं। राष्ट्रसंघके बड़े बड़े अधिवेशन इसी उद्देश्यसे किये जाते हैं, नये नये समझौते हो रहे हैं, विविध प्रकारसे युद्धनिवारण और पारस्परिक प्रेमवृद्धिके उपायोंकी आयोजना की जा रही है। कुछ लोग कहते हैं कि इन सारे प्रयत्नोंमें दम्भ छिपा हुआ है। परन्तु मेरी समझसे इन प्रयत्नोंमें लगे हुए सज्जनोंमें सम्भवतः अधिकांश ऐसे होंगे, जो आये दिनकी अशान्ति और ध्वंसात्मक शस्त्र-झङ्कारसे उकताकर या अन्य किसी भी कारणवश वास्तवमें शान्ति चाहनेवाले हैं और वे सच्ची भावनासे ही इस स्तुत्य प्रयत्नमें संलग्न हैं।

इतना होनेपर भी राष्ट्रोंकी भीतरी योजनाओं और उनके अप्रतिहत उद्योगोंपर दृष्टि डालनेसे पता लगता है कि वहां दूसरे विश्वव्यापी महासमरके भीषण भीष्मपर्वकी तैयारीका उद्योगपर्व चल रहा है। प्रायः सभी बड़े बड़े बलवान् राष्ट्र अपनी अपनी जलस्थल शक्ति और सैन्य बढ़ानेका अदम्य उद्योग कर रहे हैं। यहांतक कि साम्यवाद-प्रधान रूसमें भी नकली युद्धोंकी योजना उसकी भयङ्कर युद्धाकांक्षाको प्रत्यक्ष प्रकट कर रही है। दलित राष्ट्र किसी तरह अपना सिर न उठा सकें, इसलिये विजेता राष्ट्रोंकी ओरसे बीच बीचमें ऐसी न्यायहीन चेष्टाएं होती हैं, जिनसे उनके आभ्यन्तरिक भावोंका भलीभाँति पता लग जाता है। प्रायः सभी एक दूसरेको सन्देहकी दृष्टिसे देखते हुए तथा ईर्ष्या, प्रतिहिंसा और लोलुपतापूर्ण हृदयसे चुपचाप अपना अपना बल बढ़ाते हुए नदी-तीरपर मछलीकी ताकमें बैठे हुए ध्यानस्थ कपटी बगुलेकी भाँति किसी सुविधाजनक अवसरकी प्रतीक्षासी कर रहे हैं!

यह तो राष्ट्रोंकी बात है। समष्टिको छोड़कर यदि व्यष्टिपर दृष्टि डाली जाती है तो यहां भी वही दशा देखनेमें आती है। यदि हम सच्चे मनसे अपना हृदय टटोलें तो हमारे अधिकांशके अन्दर, दुर्बलको सताने, किसी भी प्रकारसे सांसारिक सुख प्राप्त करने और छल, बल, मायासे परस्वापहरण करनेकी भावना मिलती है, इस स्थितिमें यह सहज ही अनुमान होता है कि लोगोंके दिल साफ नहीं हैं, नीयत शुद्ध नहीं है, हृदय सच्चे प्रेमसे शून्य है। इसका परिणाम क्या होगा सो तो परमात्मा ही जानें, परन्तु इस समयके लक्षणोंसे तो यही प्रतीत होता है कि यदि बहुत ही शीघ्र प्रेमवृद्धिके यथार्थ उपायका अवलम्बन नहीं किया गया तो दूसरा विश्वव्यापी महायुद्ध धन-जन और शान्ति-सुख नष्ट करनेमें शायद पहलेकी अपेक्षा और भी भयानक होगा!

यह प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ रहा है कि जितनी जितनी वर्तमान भोग-सुख-लिप्सा-पूर्ण सभ्यताकी वृद्धि हो रही है। सुधार-संस्कृति या उन्नतिके नामपर जातियाँ जितनी जितनी इस माया-मोहिनी सभ्यताकी ओर अग्रसर हो रही हैं, उतना उतना ही छल, कपट, दम्भ और भूतद्रोह अधिक बढ़ रहा है। अशान्तिकी प्रज्वलित अग्निमें घृताहुतियां पड़ रही हैं।

रक्तपानकी हिंस्र लालसा बढ़ रही है। आजका जगत् मानो भस्म होनेके लिये पतङ्गकी भाँति मोहवश आपात-रमणीय अग्निशिखाकी ओर प्रबल वेगसे दौड़ रहा है। इसीसे आज मानव-रक्तसे अपनी सुखपिपासा शान्त करने, मानवीय अस्थिचूर्णसे धरणीके पवित्र क्षेत्रको उपजाऊ बनाने और भाँति भाँतिके वैज्ञानिक आविष्कारोंकी सहायतासे गरीब पड़ोसियोंके सर्वस्व विनाशमें आत्म-गौरव समझनेकी घृणित धारणा बद्धमूल होती जा रही है। जबतक इसका यथार्थ प्रतीकार नहीं होगा तबतक इन बड़े बड़े शान्तिकामी राष्ट्रविधायकोंके प्रयत्नोंसे कोई भी सुफल होनेकी आशा नहीं करनी चाहिये। ऊपरसे शस्त्रसंन्यास, शान्तिस्थापन और विश्व-प्रेमकी बातें होती रहेंगी तथा अन्दर ही अन्दर परस्वापहरण-लोलुपता और परसुख-कातरताके कारण विद्वेषाग्नि भस्माच्छादित अग्निकी तरह सुलगती रहेगी जो अवसर पाते ही ज्वालामुखी-की तरह फटकर सारे विश्वके सुखनाशका प्रधान कारण बन जायगी !

विश्वप्रेम जबानकी चीज नहीं है, इसमें बड़ा भारी त्याग चाहिये। त्याग ही प्रेमका बीज है। त्यागकी सुधाधाराके सिंचनसे ही प्रेमबेलि अंकुरित और पल्लवित होती है। जबतक हमारा हृदय तुच्छ स्वार्थोंसे भरा है तबतक प्रेमकी बातें करना हास्यास्पद व्यापारके सिवा और कुछ भी नहीं है। ममतासे त्याग होता है, माताकी अपने बच्चेमें ममता है इसलिये वह उसको सुखी बनानेके हेतु अपने सुखका त्याग कर देती है और उसीमें अपनेको सुखी समझती है। जिसकी जिसमें जितनी अधिक ममता होती है, उतना ही उसमें अधिक राग होता है, जिसमें अधिक राग होता है उसीमें मुख्यबुद्धि रहती है। मुख्यबुद्धिके सामने दूसरी सब वस्तुएं गौण हो जाती हैं।

इसी मुख्यबुद्धिका दूसरा नाम अनन्यानुराग है। जिसकी मुख्यवृत्ति स्त्रीमें होती है वह उस स्त्रीके लिये अन्य समस्त विषयोंका त्याग कर सकता है-सारे विषय उस स्त्रीके चरणोंमें सुखपूर्वक अर्पण कर सकता है। पतिव्रता स्त्री पतिमें मुख्यबुद्धि रहनेके कारण ही अपना सर्वस्व पतिके चरणोंमें समर्पणकर उसके सुखमें ही अपनेको सुखी मानती है। इसीप्रकार माता, पिता, पुत्र, स्वामी, गुरु, सेवक, कीर्त्ति, परोपकार, सेवा आदि जिस वस्तुमें जिसकी मुख्य-बुद्धि होती है, उसीके लिये वह दूसरी सब वस्तुओंका जो दूसरोंकी दृष्टिमें बड़ी प्रिय हैं, अनायास त्याग कर देता है।

हरिश्चन्द्रने सत्यके लिये राज्य त्याग दिया, कर्णने दानके लिये कवचकुण्डल देकर मृत्युको आलिङ्गन करनेमें भी आनाकानी नहीं की, प्रह्लादने रामनामके लिये हंसते हुए अग्निप्रवेश किया, भरतने भ्रातृप्रेमके लिये राज्य त्यागकर माताकी आज्ञा नहीं मानी, युधिष्ठिरने भक्त कुत्तेके लिये स्वर्ग जाना अस्वीकार किया, शिविने कबूतरके लिये अपना मांस दे डाला, रन्तिदेवने गरीबोंके लिये भूखों मरना स्वीकार किया, दधीचिने परोपकारके लिये अपनी हड्डियां दे दीं, परशुरामने पिताके लिये माताका बध कर डाला, भीष्मने पिताके लिये कामिनी-काञ्चन-का त्याग कर दिया, ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं। सारांश यह कि, जिस विषयमें मनुष्यकी मुख्य-बुद्धि होती है उसके लिये वह अन्य सब पदार्थों-का त्याग सुखपूर्वक कर सकता है। उस एककी रक्षाके लिये वह उन सबके नाशमें भी अपनी कोई हानि नहीं समझता, वरन् आवश्यकता पड़नेपर उस एकके लिये स्वयं सबका प्रसन्नतापूर्वक त्याग कर देता है।

भक्त इसीलिये भगवान‌को अधिक प्यारा होता है कि वह अपनी ममता सब जगहसे हटा-कर केवल भगवान‌में कर लेता है, इसीसे उसका अनन्यानुराग और मुख्यबुद्धि भी भगवान‌में ही हो जाती है। वह भगवान‌के लिये सब कुछ त्याग देता है। तुलसीदासजीने इस

सम्बन्धमें भगवान् रामके शब्द इसप्रकार गाये हैं-

जननी जनक बन्धु सुत दारा,
तनु धन भवन सुहृद परिवारा।
सबकै ममता ताग बटोरी,
मम पद मनहिं बांध बट डोरी।
सो सज्जन मम उर बस कैसे,
लोभी हृदय बसत धन जैसे।

देवर्षि नारद भी भक्तिका लक्षण बतलाते हुए कहते हैं-

'तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।'

'अपना सर्वस्व उसके चरणोंमें अर्पण करके निरन्तर उसे स्मरण करता रहे, कदाचित् किसी कारणसे स्मरणमें भूल हो जाय, उस समय हृदयमें ऐसी व्याकुलता हो जैसे मछलीको जलसे निकालनेपर होती है' यही भक्ति है। जिसमें मुख्य-वृत्ति रहती है, उसका निरन्तर चिन्तन होना और चिन्तनकी विस्मृतिमें व्याकुलताका होना अनिवार्य है। ऐसे भक्तोंको भगवान् अपने हृदयमें कैसे रखते हैं जैसे लोभी धनको रखता है क्योंकि उसकी मुख्य-वृत्ति धनमें ही रहती है। इस प्रकारके भक्तका भगवान् कभी त्याग नहीं करते। उनके वचन हैं-

ये दारागारपुत्राप्तान्प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
(श्रीमद्भागवत)

जो भक्त स्त्री, घर, पुत्र, परिवार, प्राण, धन लोक और परलोक सबको त्यागकर मेरा आश्रय ले लेते हैं, उनको भला मैं कैसे त्याग सकता हूं?

जिसने इतना त्याग किया हो, उसका अत्यन्त प्रिय लगना स्वाभाविक ही है। भक्तोंका भगवान्पर अनन्य ममत्व है इसीलिये तो भक्तोंपर भगवान्की ममता भी अधिक है। भगवान् कहते हैं-

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति मया तेभ्यो मनागपि॥
(श्रीमद्भागवत)

'-वे साधु मेरा हृदय हैं, मैं उनका हृदय हूं, वे मेरे सिवा किसीको नहीं जानते तो मैं उनके सिवा किसीको नहीं जानता।' यह भगवान्में मुख्यबुद्धि होनेका ही परिणाम है। अस्तु!

एक सम्मिलित कुटुम्बका वहींतक प्रेमपूर्वक निर्वाह हो सकता है जहांतक सबमें परस्पर ममता (मेरापन) बना रहे। जहां 'पर' (पराया) भाव आया वहीं कलह आरम्भ हो जाती है। एक कुटुम्बमें सब मिलाकर दस मनुष्य हैं। जिनमें कमानेवाले दो भाई हैं। वे दोनों जहांतक यह समझते हैं कि घरके सब लोग हमारे हैं, वहांतक रातदिन कठिन परिश्रम करके भी उन सबका भरण-पोषण करनेमें उन्हें सुख मिलता है। पर जब किसी कारणसे एकके मनमें यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि मैं अपने स्त्री पुत्रोंके सिवा दूसरे लोगोंके लिये क्यों इतने बखेड़ेमें पड़ूं। तब फिर एक दिनके लिये भी उनका भरण-पोषण करना उसके लिये भारी और दुःखद होने लगता है। कारण यही कि उसका ममत्व उन सबमेंसे निकलकर केवल स्त्री-पुत्रोंमें ही रह जाता है। ममताके साथ ही राग और मुख्यबुद्धि भी चली जाती है। ऐसी अवस्थामें यदि माता पिता जीवित होते हैं तो उन बेचारोंपर बड़ी विपत्ति आ पड़ती है!

एक मनुष्य स्वयं कष्ट सहकर देशकी सेवा क्यों करता है? इसीलिये, कि देशमें उसका ममत्व है, देशके हानि-लाभमें वह सचमुच अपना हानि-लाभ समझता है। इसीका नाम देशात्मबोध है और यही यथार्थ देशभक्ति है। एक दूसरे मनुष्यको देश-जातिका नाम भी नहीं सुहाता, वह अपने परिवारपालनमें ही मस्त है। उसे देशकी कुछ भी परवा नहीं, यह इसीलिये कि, देशमें उसकी ममता नहीं है।

ममता ही आगे चलकर 'मेरा मेरा' करते करते 'अहंता' में परिणत हो जाती है। अनन्तकालसे इस नश्वर शरीरको हम मेरा मेरा करते आये

हैं, इसलिये इसमें 'मैं' बुद्धि हो गयी है। शरीरमें रोग होता है, हम कहते हैं, 'मैं बीमार हूं' जन्म मृत्यु क्षय वृद्धि रूपान्तर आदि शरीरके होते हैं। 'मैं' (आत्मा) जो सदा निर्विकार शुद्ध एकरस है, वह ज्योंका त्यों रहता है। वह पहले लड़कपन और खेलकूदका द्रष्टा था, फिर युवावस्था और काम-मदादिका द्रष्टा हुआ, अब वही वृद्धावस्था और इन्द्रियोंकी शिथिलताका द्रष्टा है, तीनों अवस्थामें वह एक रूप है परन्तु भ्रमवश शरीरमें अहंभाव हो जानेके कारण कहता है,'मैं पहले बालक था तब तो सारी उम्र खेलकूदमें खो दी, जवानी-में काम-मदमें समय बिता दिया, अब मैं बूढ़ा हो गया, कमजोर हो गया, भजन कैसे करूं? मैं तो व्यर्थ ही मर जाऊंगा।' अजन्मा और अविनाशी होनेपर भी वह इसप्रकार क्यों समझता है? इसीलिये कि, उसने शरीरको मैं (आत्मा) समझ लिया है। इसीका नाम 'देहात्मबोध' है। यही माया-का बन्धन है। एक बालक दर्पणमें मुख देख रहा था, दर्पण था लाल, उसे अपना शरीर भी लाल दिखलाई दिया, 'मेरा शरीर लाल हो गया' 'मेरा लाल हो गया' 'मैं लाल हो गया' इसप्रकार कहते कहते वह अपने मूल सत्यस्वरूपको भूलकर दर्पणकी उपाधिसे दीखनेवाले प्रतिबिम्बको अपना रूप मानकर दर्पणके विकार ललाईका अपनेमें आरोपकर व्यर्थ ही अपनेको लाल मानकर दुखी हो गया। यही अनात्मवादियोंका देहात्मबोध है।

देहात्मबोध जब जोर पकड़ता है तभी भेदको ठहरनेके लिये जगह मिल जाती है। एक ही अनेक प्रकारसे विभक्त हुआसा जान पड़ता है। मैं अमुक हूं, दूसरा अमुक है, मुझे सुख मिलना चाहिये, मुझे सुखी होनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। इस अवस्थामें तो मनुष्य कभी कभी सोचता है, 'सभी मेरे सरीखे ही मनुष्य हैं उनको भी सुख मिले, मुझको भी मिले' कभी कभी वह स्वयं दुःख सहन करके भी दूसरोंको सुख पहुंचाता है परन्तु भेद-बुद्धिकी जड़ जमने और भोग-सुखस्पृहा बढ़ने-के साथ ही उसका प्रेम संकुचित होने लगता है, स्वार्थकी सीमा छोटी हो जाती है। तब वह सोचता है, 'दूसरेको सुख मिले तो अच्छी बात है परन्तु उसके लिये मैं दुःख क्यों भोगूं? मैं अपने प्राप्त सुखका परित्याग क्यों करूं?' फिर सोचता है, 'मुझे सुख मिलना चाहिये, दूसरोंको मिले या न मिले इससे मुझको क्या?' फिर सोचता है, 'मेरे सुखमें यदि दूसरोंका सुख बाधक है तो उसका नाश क्यों न कर दिया जाय?' इस स्थितिमें वह अपने सुखके लिये दूसरोंके सुखका नाश करने लगता है, फिर सोचता है, 'बस, मुझे सुख मिले दूसरे चाहे दुःखसागरमें डूब जायं।' इस अवस्थामें उसकी बुद्धि सर्वथा तमसाच्छन्न होजाती है, उसके मनसे दया, करुणा, प्रेम, सहानुभूति आदि गुण लुप्त हो जाते हैं और वह अपनेको सुखी बनानेके लिये क्रूरताके साथ दूसरों-को दुःख पहुंचाने लगता है। अन्तमें उसका स्वभाव ही ऐसा बन जाता है कि वह दूसरोंके दुःखमें ही अपनेको सुखी मानता है, दूसरोंकी विपत्तिके आंसुओंको देखकर ही उसका चित्त प्रफुल्लित होता है, यहांतक कि वह अपनी हानि करके भी दूसरोंको दुःखी करता है। ऐसा मनुष्य राक्षससे भी अधम बताया गया है। कहना नहीं होगा कि दूसरोंके साथ ही उसके भी दुःखोंकी मात्रा बढ़ती ही जाती है।

एक मनुष्यने भगवान् शिवकी आराधना की, शिवजी प्रसन्न हुए, उसका पड़ोसी भी बड़े भक्ति-भावसे शिवजीके लिये तप कर रहा था, शिवजी-ने दोनोंकी भक्तिका विचारकर आकाशवाणीमें उससे कहा कि 'मैं तुझपर प्रसन्न हूं, इच्छित वर मांग, पर तुझे जो मिलेगा उससे दूना तेरे पड़ोसी-को मिलेगा, क्योंकि उसके तपका महत्त्व तेरे तपसे दूना है।' यह सुनते ही वह बड़ा दुखी हो गया, उसने सोचा 'क्या मांगूं? पुत्र धन और कीर्तिकी बड़ी इच्छा थी परन्तु यह सब कैसे मांगूं? जो एक पुत्र मांगता हूं तो उसके दो होते हैं, जो लाख रुपये मांगता हूं तो उस नालायक-को दो लाख मिलते हैं, जो कीर्ति चाहता हूं

तो उसकी मुझसे दूनी होती है। अन्तमें उसने खूब सोच विचारकर शिवजीसे कहा, 'प्रभो! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मेरी एक आंख फोड़ डालिये।' उसने सोचा 'मेरा तो काम एक आंखसे भी चल जायगा, परन्तु वह तो दोनों फूटनेसे बिलकुल निकम्मा हो जायगा, इससे अधिक सुखकी बात मेरे लिये और क्या होगी?' मित्रो! इस दृष्टान्तको पढ़कर हंसियेगा नहीं, हमें चाहिये कि हम अपने हृदयको टटोलें, क्या कभी उसमें इस प्रकारके भाव नहीं पैदा होते?' 'मेरे चाहे पचास हजार रुपये लग जायं पर तुझको तो नीचा दिखाकर छोड़ूंगा,' 'मेरा चाहे जितना नुकसान हो जाय पर उसको तो सुखसे नहीं रहने दूंगा' इस मामलेमें 'मेरा घर चाहे तबाह हो जाय लेकिन उसको तो भिखमङ्गा बनाकर छोड़ूंगा।' इस प्रकारके विचार और उद्गार हम लोगोंके हृदयमें ही तो पैदा होते और निकलते हैं। इसका कारण यही है कि हम लोगोंने देहात्मबोधके कारण अपनी ममताकी सीमा बहुत ही संकुचित बना ली है, छोटे गढ़हेका पानी गंदला हुआ ही करता है। इसी प्रकार संकुचित ममता भी बड़ी गन्दी हो जाती है! हमारे प्रेमका संकोच हो गया है। तभी यह दशा है! इसीसे आज लौकिक और पारलौकिक सभी क्षेत्रोंमें हमारा पतन हो रहा है!

इसके विपरीत भगवत्कृपासे ज्यों ज्यों ममताका क्षेत्र बढ़ता है त्यों ही त्यों उसमें पवित्रता और सात्त्विकता आती है, हृदय विशाल होने लगता है, प्रेमका विकास होता है। इस अवस्थामें स्वार्थकी सीमा बढ़ने लगती है, वह व्यक्तिसे कुटुम्बमें, कुटुम्बसे जातिमें, जातिसे देशमें और फिर सारे विश्वमें फैल जाता है। तभी मनुष्य प्रकृत उदार होता है, 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्'से ऐसे ही महानुभावोंका निर्देश किया गया है। उपर्युक्त भावोंमें जो जितना जितना अग्रसर होता है, उतना उतना ही उसके प्रेमका विस्तार और सीमाबद्ध स्वार्थका नाश हो जाता है। फिर वह भगवान् बुद्धकी भांति प्राणिमात्रका दुःख दूर करनेके लिये अपना जीवन अर्पण कर देता है। इस अवस्थामें उसे जिस सुखका अनुभव होता है, उसे वही जानता है।

जब समस्त विश्वमें मेरापन छा जाता है तब उसका प्रेम भी विश्वव्यापी हो जाता है। फिर उसके द्वारा किसी भी हालतमें किसीकी बुराई नहीं हो सकती। अमृतसे किसीकी मृत्यु चाहे सम्भव हो पर उसके द्वारा किसीका बुरा होना सम्भव नहीं! वह विश्वके हितमें ही अपना हित समझता है, यही ममताका व्यापक और विशालरूप है और यही वाञ्छनीय है। यथार्थ विश्वप्रेम इसीसे सम्भव है।

यही ममता जब मेरा मेरा करते करते शुद्ध 'मैं' बन जाती है तब सारा विश्व ही उसका अपना स्वरूप बन जाता है। विश्वकी व्यापक सत्तामें उसकी भिन्न सत्ता सर्वथा मिल जाती है तब केवल एक 'मैं' ही रह जाता है। यही सच्चा 'मैं' है। इस 'मैं' की उपलब्धि कर लेनेपर कौन किससे वैर करे, अपने आपसे कोई वैर नहीं करता, अपने आपको कोई नहीं मारता!

यह विश्वव्यापक 'मैं' ही परमात्माका स्वरूप है, इस व्यापक रूपका नाम ही विष्णु है, इसीको विश्व कहते हैं। हमारे विष्णुसहस्रनाममें सबसे पहले भगवान्को 'विश्व' नामसे ही बतलाया गया है। इसीका नाम श्रीकृष्ण है, जो व्रजमण्डलमें अपनी प्रेम-माधुरीका विस्तार कर मधुर वंशी-ध्वनिसे विश्वको निरन्तर प्रेमका मोहन सुर सुना रहे हैं! जो ममता, आसक्ति या स्वार्थ संसारके पदार्थोंमें रहनेपर बन्धनका कारण होते हैं, वही जब श्रीकृष्णके प्रति हो जाते हैं तब सारे बन्धनोंकी गांठें आपसे आप खुल जाती हैं। इसीसे भक्त कहते हैं कि 'भगवन्! हमारी आसक्तिका नाश न करो परन्तु उसको जगत्से हटाकर अपनी ओर खैंच लो।' इस अवस्थामें भक्तको समस्त संसार वासुदेवमय दिखायी पड़ता है, तब वह

मस्त होकर प्रेममें झूमता हुआ मुरलीके मोहन सुरमें सुर मिलाकर मीठे स्वरसे गाता है—

अब हौं कासों बैर करौं।

कहत पुकारत प्रभु निज मुख तें घट घट हौं बिहरौं॥

इसलिये यदि हम सुख-शान्ति चाहते हैं तो हमें सबसे पहले उसका असली उपाय ढूंढ़ना चाहिये, हमें उस स्थानका पता लगाना चाहिये जहां सुख-शान्तिके स्रोतका उद्गम है। यदि हम प्रमादसे उसे भुलाकर—उसका सर्वथा तिरस्कार-कर मृग-मरीचिकाके जलसे अपनी सुख-तृष्णा शान्त करना चाहेंगे तो वह कभी नहीं होगी!

जो सारे संसारमें व्याप्त है, जो सबमें ओतप्रोत है, जो सबका सृष्टिकर्ता और नियामक है उसे हृदयसे निकालकर कृत्रिम उपायोंसे सुख-शान्तिकी स्थापना कभी नहीं होसकती। यदि सुख-शान्ति और विश्वप्रेमकी आकांक्षा है तो जगत्में इस बातका प्रचार करना चाहिये कि "समस्त जगत् परमात्माका रूप है, हम उसीके अंश हैं अतएव सब एक हैं, एक ही जगहसे हमारी उत्पत्ति हुई है, एक ही जगह जा रहे हैं और इस समय भी उस एक हीमें स्थित हैं। पराया कोई नहीं है। सब अपने हैं, सब आत्मरूप हैं, सब अभिन्न हैं। जो मेरा आत्मा है वही जगदात्मा है, जो परमात्मा तुममें है वही मुझमें है और वही अखिल विश्व चराचरमें है।" जब लोग इस बातको समझेंगे, तभी वास्तविक विश्वप्रेम और शान्तिकी स्थापना होगी। जबतक हमारे हृदयोंमें स्वार्थ भरा है, जबतक हम एक दूसरेको अलग समझते हैं, जबतक सबके साथ आत्माका एक संयोग नहीं मानते, तबतक वास्तविक प्रेम और शान्ति असम्भव है। अल्प तामस-ज्ञानसे कभी सुख नहीं मिल सकता। सुखका उपाय सात्त्विक ज्ञान है। सात्त्विक ज्ञान-का रूप है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

जिस ज्ञानसे मनुष्य भिन्न भिन्न समस्त प्राणियोंमें एक अविनाशी परमात्म-भावको विभागरहित समान भावसे एकरस स्थित देखता है उसी ज्ञानका नाम सात्त्विक ज्ञान है।

इस ज्ञानकी उपलब्धि करना ही 'विश्वप्रेम' को प्राप्त करनेकी यथार्थ साधना है।

अतएव कृत्रिम बाह्य साधनोंका भरोसा छोड़कर इसीके लिये सबको प्रयत्नशील होना चाहिये। जब यह ज्ञान प्राप्त होगा तब हृदयमें ईश्वरकी विमल छटा दिखायी देगी, फिर सारे जगत्में—अखिल विश्वमें उसी छटाका विस्तार दीख पड़ेगा। तब भक्ति-प्रणत चित्तसे विश्वरूप भगवान्के सामने हमारा मस्तक आपसे आप झुक जायगा। सुख-शान्तिकी बन्द सरिताका बांध टूट जायगा। प्रेममन्दाकिनीकी त्रिधारा वेगसे बहकर स्वर्ग, भूमि और पाताल तीनोंको प्रेमके प्रबल प्रवाहमें बहा देगी। फिर सब तरफ दीखेगा—केवल प्रेम, आनन्द और शान्ति। यही भगवत्-प्रेम है और इसीका नाम 'विश्वप्रेम' है।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार।

जय जगदीश हरे!

जय जगतपति! जगदीश! जगदाधार! जन-रञ्जन! हरे!
जय जगत-नाथ! अनाथ-नाथ! अपार दुख-भञ्जन! हरे!
'विकसित' मगन मन हो कहो जगदीश! ईश! हरे! हरे!
हे राम! राम! हरे! हरे! हे कृष्ण! कृष्ण! हरे! हरे!

—ज्योतिःस्वरूप द्विवेदी 'विकसित'

भक्ति और ज्ञानका समन्वय*

(लेखक—श्रीअरविन्द घोष)

प्रसंगक्रमसे गीतामें अनेक दार्शनिक तत्त्वोंको स्थान मिल गया है परन्तु असलमें गीता निरा दार्शनिक तत्त्वालोचनाका ग्रन्थ नहीं है, कारण गीतामें केवल आलोचना करनेके लिये ही किसी भी तत्त्वकी अवतारणा नहीं की गयी है। गीताने उस श्रेष्ठ सत्यकी खोज की है, जो श्रेष्ठ कार्यमें लग सकता है। केवल तर्कबुद्धि या आध्यात्मिक ज्ञानपिपासाकी शान्तिके लिये ही नहीं किन्तु वह हमारा उद्धार कर सकता है—इस वर्तमान मर-जीवनकी अपूर्णतासे हमें मृत्युहीन पूर्णतामें पहुंचा सकता है। अतएव इस (सप्तम) अध्यायके पहले चौदह श्लोकोंमें हमारे लिये एक आवश्यक मूल दार्शनिक सत्यका वर्णनकर, बादहीके सोलह श्लोकोंमें उसके प्रयोगकी विधि बतायी गयी है। इस सत्यसे ही गीताने कर्म ज्ञान और भक्तिके समन्वयकी सूचना की है, इससे पहले केवल कर्म और ज्ञानमें जिस समन्वयकी आवश्यकता है, पहलेके छः अध्यायोंमें उसीका सम्पादन हुआ है।

हमारे सामने तीन शक्तियां (Powers) हैं—पुरुषोत्तम, आत्मा और जीव (हम लोगोंको जिस परिणतिकी प्राप्ति करनी है उसीका चरम सत्य पुरुषोत्तम है) इन तीनोंको इसतरह भी कहा जा सकता है—परात्पर (the Supreme) नामरूपसे अतीत आत्मा (the impersonal spirit) और बहुरूपी जीवात्मा, (the Multiple soul) जो हमारे आध्यात्मिक व्यक्तित्वकी कालातीत भित्ति है, सत्य और सनातन व्यष्टि है—'ममैवांशः सनातनः' यह तीनों ही भागवत-सत्ता हैं, तीनों मिलकर ही भगवान् हैं। जो सबसे उत्तम आध्यात्मिक प्रकृति है—अविद्याकी खण्डतासे रहित पराप्रकृति है, वही पुरुषोत्तमकी प्रकृति है। नैर्व्यक्तिक नाम-रूपातीत आत्मामें भी वही दिव्य-प्रकृति स्थित है। परन्तु यहां वह है चिर-विश्राम अवस्थामें—साम्य, निष्क्रियता, निवृत्तिकी अवस्थामें। परिणाममें क्रियाके लिये, प्रवृत्तिके लिये वही पराप्रकृति बहुरूपी आत्मा (the multiple spiritual personality) हो गयी है—जीव बन गयी है। परन्तु इस उत्तमा प्रकृतिकी जो गूढ़ क्रिया है वह सर्वदा ही आध्यात्मिक है, दिव्य है। दिव्य पराप्रकृतिकी शक्ति ही,—भगवान्‌की सचेतन इच्छा ही जीवकी विभिन्न आध्यात्मिक गुणशक्तियोंके रूपमें प्रकट होती है, वह मूल शक्ति ही जीवका स्वभाव है। जो कर्म या भाव इस आध्यात्मिक शक्तिसे साक्षात्‌रूपसे उत्पन्न हैं वे सभी दिव्य भाव† हैं और शुद्ध आध्यात्मिक कर्म हैं। इससे सिद्धान्त यह निकलता है कि दिव्य कर्म करनेके लिये मनुष्यको अपने सत्य आध्यात्मिक स्वरूपकी ओर लौटकर अपने समस्त कर्मोंके प्रवाहको पराप्रकृतिसे ही प्रवाहित करनेकी चेष्टा करनी चाहिये; आत्माके अन्दरसे और अन्तरतम निगूढ़ सत्यके अन्दरसे ही कर्मोंका विकास होना चाहिये। मनके चिन्तन या प्राणोंकी

* गीता सप्तम अध्याय, श्लोक १५ से २८।

†'भाव' शब्द यहां धातुगत अर्थमें लिया गया है।

वासनासे नहीं! समस्त कर्म भगवत्-इच्छाके शुद्ध प्रवाहमें परिणत हो जाने चाहिये। सारा जीवन दिव्य-प्रकृतिकी जीती जागती मूर्तिके रूपमें परिणत हो जाना चाहिये!

परन्तु एक त्रिगुणमयी निम्न श्रेणीकी प्रकृति भी है। इसका स्वरूप है, अज्ञानका स्वरूप और इसके कर्म हैं अज्ञानके कर्म—मिश्रित, भ्रान्त और विकृत। यह कर्म नीचेकी सत्ताके कर्म हैं 'अहं'के कर्म हैं, यह आध्यात्मिक व्यक्तिके कर्म नहीं हैं प्राकृत व्यक्तिके कर्म हैं। इस नीचे दर्जेके मिथ्या व्यक्तित्व (false personality) से ऊपर उठनेके लिये ही हम लोगोंको नामरूपातीत व्यक्तित्वरहित आत्मा (the impersonal self) को ग्रहण करना और उसके साथ अपनी एकता करनी चाहिये, ऐसा करनेपर हम'अहं' के व्यक्तित्वसे छूटकर पुरुषोत्तमके साथ सत्य व्यष्टिके सम्बन्धका पता लगा सकते हैं। कर्म और प्रकृतिके कालाधीन विकासमें यह पुरुषोत्तमका अंश और विशेषरूप मात्र है। ऐसा होना अवश्यम्भावी है। कारण, यह व्यष्टि है। तथापि मूलसत्तामें पुरुषोत्तमके साथ इसका एकत्व है। नीचेकी प्रकृतिसे छूटकर फिर हम ऊपरकी दिव्य-आध्यात्मिक प्रकृतिमें स्थित हो सकते हैं। अतएव आत्मासे कर्म करनेका यह अर्थ नहीं है कि वासनामय आत्मासे कर्म करना चाहिये। क्योंकि, यह वासनामय आत्मा ऊपरकी निगूढ़ वस्तु नहीं है। यह तो नीचेका प्राकृत और बाह्यरूप है, सत्य वस्तुका आभास या उसकी छाया है। निगूढ़ प्रकृति या स्वभावके अनुसार कर्म करनेका यह अर्थ नहीं है कि "अहं' के काम क्रोधादि शत्रुओंके वश होकर कर्म करना चाहिये, निर्विकार चित्तसे या आसक्तिसे प्राकृत प्रेरणाके अनुसार और गुणत्रयकी चञ्चल क्रीड़ाके अनुसार पापपुण्यका अनुष्ठान करना चाहिये।" शत्रुके वशमें होना, स्वेच्छा या जड़तासे पापके स्रोतमें अपनेको बहा देना उच्चतम नैर्व्यक्तिक (Highest impersonality) सत्ताके आध्यात्मिक शान्त निष्क्रियत्वकी प्राप्तिका मार्ग नहीं है, अथवा जो दिव्य मानव परमपुरुषकी इच्छाका यन्त्र बनना चाहता है, पुरुषोत्तमकी साक्षात् शक्ति या विग्रह बनना चाहता है उसके कर्मके दिव्य भावोंकी प्राप्तिका भी यह पथ नहीं है।

गीताने पहलेसे ही इस बातका निर्देश कर दिया है कि दिव्यजन्म—उच्च-जीवन प्राप्त करनेके लिये सबसे पहले आवश्यकता है, राजसिक वासना और उससे उत्पन्न अन्यान्य शत्रुओंको नष्ट करनेकी। मतलब यह कि पापको सर्वथा छोड़ना होगा। *

'आत्माद्वारा किये जानेवाले प्रकृतिके सब प्रकारके आत्मसंयम और आत्मजयके उच्च प्रयत्नोंके विरुद्ध विद्रोही होकर निम्नस्थ प्रकृति अपनी अज्ञान, मूढ़ या दुर्द्धर्ष राजसिक और तामसिक वृत्तियोंके अशुद्ध भोगके लिये जो कुछ कर्म करती है, वही पाप है।' नीचेकी प्रकृति इस प्रकारसे जिन नीच राजसिक और तामसिक भावोंके द्वारा मनुष्यको अशुद्ध भोगोंकी ओर खींच ले जाती है उससे बचनेके लिये हमें प्रकृतिके सर्वोच्च भाव-सत्त्वगुणका आश्रय लेना पड़ेगा। सात्त्विक भाव सर्वदा ही ज्ञानके आलोक और कर्मकी सत्य नीतिका अन्वेषण किया करता है। हमारे अन्दर जो पुरुष स्थित है, जो आत्मा प्रकृतिके गुणोंकी भिन्न भिन्न प्रेरणाओंका अनुमोदन करता है, उसे सात्त्विक प्रेरणासे अनुमति देनी पड़ेगी! सात्त्विक इच्छा ही हमारे अन्दर इस सात्त्विक प्रेरणा, इस सत्य नीतिका सन्धान करती है। हमें सात्त्विक प्रेरणाके वशमें होकर चलना होगा, राजसिक और तामसिकके वशमें

* काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ (गी० ३। ३७)
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ। पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ (गी० ३। ४१)

होकर नहीं। कर्मोंमें समस्त उच्च यौक्तिकता और सब प्रकारकी प्रकृत नैतिकताका यही अर्थ है। यह हमारी प्रकृतिका नियम है। प्रकृतिके नीच विश्रृंखल कर्मोंसे वह उसके ऊपरके सुश्रृंखल कर्मोंका विकास करना चाहती है। शत्रुके वश होकर,अज्ञानके वशहोकर कर्म करनेसे शोक, दुःख और अशान्तिकी प्राप्ति होती है। ऐसा न करके ज्ञान और प्रबुद्ध इच्छाशक्तिकी अधीनतामें कर्म-कर आन्तरिक सुख, स्थिरता और शान्तिकी प्राप्ति करनी चाहिये। यदि हम अपने अन्दर पहले श्रेष्ठ गुण सत्त्वके धर्मका विकास नहीं करेंगे, तो हम गुणत्रयके ऊपर नहीं उठ सकते!

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
(गीता ७।१५)

'मूढ़ नराधम पापी लोग मुझे नहीं पासकते। क्योंकि माया उनके ज्ञानको हरण कर लेती है और वे आसुरभावको प्राप्त होजाते हैं।' प्रकृतिमें स्थित आत्मा 'मैं' के कपटसे मोहित होकर इस तरह विमूढ़ बन जाता है। पापी भगवान्‌को नहीं पाता, क्योंकि वह मानवीय प्रकृतिकी नीचीसे नीची तहमें पड़कर सदा इस 'मैं' देवताको तृप्त करनेमें ही लगा रहता है! असलमें यह 'मैं' ही उसका 'भगवान्' है। उसके मन-बुद्धि तीनों गुणोंकी मायासे अपहृत हो जानेके कारण वह आत्माका यन्त्र न बनकर स्वेच्छासे ही वासनाका गुलाम बन जाता है, अथवा आत्म-प्रतारणासे वासना-तृप्तिका यन्त्र बन जाता है। वह देखता है केवल अपनी नीचेकी प्रकृतिको ही, वह अपने उच्चतम आत्मा या श्रेष्ठ सत्ताको नहीं देख पाता, उसमें और संसारमें जो भगवान् स्थित हैं उनको भी वह नहीं देख सकता। अपने 'मैं' और वासनाको केन्द्र बनाकर ही वह संसारको देखता है और केवल इस अहङ्कार और वासनाकी ही सेवा करता है।

उच्च प्रकृति, उच्चतर जीवनधारा प्राप्त करनेकी कुछ भी इच्छा न रखकर अहङ्कार और वासनाकी सेवा करना ही असुरका मन या आसुरीभाव है। ऊर्ध्वकी ओर उठनेके लिये सबसे पहले आवश्यकता है, ऊपरकी प्रकृतिमें चढ़ने-ऊर्ध्वके धर्ममें प्रतिष्ठित होनेकी आकांक्षा-(aspiration) की आवश्यकता है। वासनाकी अपेक्षा और भी किसी श्रेष्ठ नीतिके अनुसरण करनेकी, आवश्यकता है इस 'मैं' की ही पूजा न कर—'मैं' को ही बड़ा मान उसे देवताके आसनपर न बैठाने तथा उससे किसी महत्तर देवके जानने तथा पूजा करनेकी, और आवश्यकता है सत्य चिन्तन करने तथा सत्य-कर्मके कर्मी बननेकी! परन्तु केवल इतना ही यथेष्ट नहीं है, क्योंकि सात्त्विक मनुष्य भी त्रिगुणकी क्रीड़ासे मोहित होजाता है, कारण इस सत्यमें भी वह इच्छा और द्वेषके अधीन है। यहां भी वह प्रकृतिकी नामरूपमयी चतुःसीमामें ही भटकता है, अभी वह उच्चतम ज्ञानकी प्राप्ति नहीं कर सका है, प्रपञ्चातीत (transcendental) और अखण्ड ज्ञान उसे नहीं मिला है। तथापि सर्वदा सत्य चिन्तन और सत्य कर्म करनेके उच्चाकांक्षाकी फलसे शेषमें वह पापोंके मोह यानी राजसिक वासना और शत्रुओंके फन्देसे छूटकर विशुद्ध प्रकृतिको पा जाता है,तब उसके लिये त्रिगुणमयी मायाके राज्यसे निकलना सम्भव होता है। मनुष्य केवल पुण्यसे ही श्रेष्ठ गति नहीं पा सकता, पुण्यसे* उसे सर्वश्रेष्ठ गति पानेके लिये पहले योग्यता और अधिकार मिलता है। कारण,

* अवश्य ही यहां 'पुण्य' शब्द गतानुगतिक भावसे सामाजिक या लौकिक विधि-निषेधोंका अनुसरण करनेके अर्थमें नहीं है, अन्दरके सत्यभावसे पुण्य, चिन्तन, भाव, उद्देश्य और कर्मोंकी जो सात्त्विक पवित्रता होती है उसीके द्वारा मनुष्य ऊर्ध्व गतिका प्रथम अधिकार पाता है।

असंस्कृत राजसिक 'मैं' को अथवा जड़भावापन्न तामसिक 'मैं' को लांघकर आगे बढ़ना जितना कठिन है, सात्त्विक 'मैं' उतना कठिन नहीं है और अन्तमें जब यह अपनेको यथेष्ट शुद्ध बुद्ध कर लेता है तब इसे लांघ जाना, इसका रूपान्तर या ध्वंस करना सहजमें ही हो सकता है !

अतएव मनुष्यको सबसे पहले नीतिपरायण, सुकृति (ethical) होना चाहिये, तदनन्तर केवलमात्र नीतिपरायणतामें ही न फंसे रहकर उससे भी ऊपर उठना चाहिये, आध्यात्मिक प्रकृतिके प्रकाश, विस्तार और शक्तिमें स्थित होना चाहिये। इस स्थितिमें पहुंचनेपर वह द्वन्द्व-मोहसे अतीत हो जायगा। फिर वह अपना व्यक्तिगत कल्याण और सुख नहीं ढूंढ़ेगा, अथवा व्यक्तिगत दुःख और यन्त्रणाओंसे बचना नहीं चाहेगा, क्योंकि इन सबके द्वारा उस समय वह विचलित नहीं होगा। उस समय वह यह नहीं कहेगा कि 'मैं पुण्यवान् हूं' 'मैं पापी हू" परन्तु अपनी उच्च अध्यात्म-प्रकृतिमें भगवान्की इच्छाद्वारा परिचालित होकर वह विश्वकल्याणके लिये कार्य करेगा। यह पहले कहा जा चुका है कि इस स्थितितक पहुंचनेके लिये सबसे पहले आत्मज्ञान, समता और नैर्व्यक्तिक भाव (impersonality) की आवश्यकता है। ज्ञानके साथ कर्मका सामञ्जस्य करनेके लिये, आध्यात्मिकताके साथ सांसारिक कार्योंका सामञ्जस्य करनेके लिये और कालातीत आत्माकी अचल निष्क्रियताके साथ प्रकृतिकी क्रियाशीला शक्तिकी अनन्त लीलाओंका सामञ्जस्य करनेके लिये यही मार्ग है। परन्तु जिस कर्मयोगीने इस तरहसे कर्मयोग और ज्ञान-योगका समन्वय कर लिया है, गीता अब उसके लिये एक और भी महान् प्रयोजनीय बात कहती है, अब उससे केवल ज्ञान या कर्म ही नहीं मांगा जाता परन्तु भक्ति भी मांगी जाती है। चाहिये भगवद्भक्ति, भगवत्प्रेम और भगवदुपासना; चाहिये पुरुषोत्तमको पानेके लिये आत्माकी आकांक्षा।

यहांतक स्पष्टरूपसे इस आवश्यकताकी बात नहीं कही जानेपर भी इसके लिये शिष्यको पहलेसे ही तैयार कर लिया गया था। जब गुरुने कहा था कि मेरे योगसे सम्पूर्ण कर्म क्रमशः हमारे जीवनके ईश्वरके लिये यज्ञरूपमें परिणत करने ही पड़ेंगे—समस्त कर्म ईश्वरमें समर्पण करनेसे ही यह योग पूर्ण होगा। केवल हमारे नैर्व्यक्तिक आत्मा (impersonal self) का ही समर्पण नहीं परन्तु नैर्व्यक्तिक भावके द्वारा (सब कर्म) उन भगवान्में समर्पण करने होंगे, जिनसे हमारी समस्त इच्छाओं और सारी शक्तियोंकी उत्पत्ति होती है। वहां जो बात इशारेसे कही गयी थी वही यहां स्पष्टरूपसे कह दी गयी है और अब हम गीताके उद्देश्यको और भी पूर्णभावसे देखने लगे हैं।

अब हमारे सामने तीन परस्पर-सापेक्ष प्रक्रियाएं रख दी गयी हैं, जिनके द्वारा हम इस साधारण प्राकृत जीवनसे मुक्त होकर दिव्य अध्यात्मजीवनमें पहुंच सकते हैं।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥
(गीता ७।२७)

इच्छा-द्वेषसे जिन सब द्वन्द्वोंकी उत्पत्ति होती है, उन्हींके मोहसे संसारके सभी जीव भ्रममें पड़ जाते हैं। वह अज्ञान, वह अहङ्कार भगवान्को सर्वत्र नहीं देख सकता—नहीं पा सकता; क्योंकि वह केवल प्रकृतिके द्वन्द्वोंको ही देखता रहता है तथा सदा अपनी स्वतन्त्र सत्ता एवं अपनी वासना और विरागोंमें ही फंसा रहता है। इस चक्रसे निकलनेके लिये हमारे कर्मोंमें सबसे पहले आवश्यकता है राजसिक 'मैं' के पापसे छूटनेकी, शत्रुके तापसे और राजसिक प्रकृतिकी वासनाके उपद्रवोंसे मुक्त होनेकी। हमें अपने नैतिक जीवनकी सात्त्विक

प्रेरणाको सुदृढ़ करके इसीका सम्पादन करना चाहिये। जब ऐसा हो जायगा,—'येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्' अथवा जब इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिये साधन होने लगेगा,—कारण, कुछ आगे बढ़ते ही ज्यों ज्यों सात्त्विक प्रकृतिका विकास होगा, त्यों ही त्यों एक उच्च श्रेणीकी शान्ति, समता और मुक्ति पानेकी शक्ति बढ़ने लगेगी–तब आवश्यकता होगी सब द्वन्द्वोंसे ऊपर उठने और नैर्व्यक्तिक भाव या समता प्राप्त करनेकी, अक्षरके साथ एकात्मभाव, सर्वभूतोंके साथ एकात्मभाव प्राप्त करनेकी। अध्यात्मभावका इस तरहका विकास ही हमारी सम्पूर्ण शुद्धि कर देगा। परन्तु जब यह होता रहेगा, जब जीवका आत्मज्ञान बढ़ता रहेगा, तभी उसे साथ साथ भक्ति भी बढ़ानी होगी। क्योंकि जीवको समताके एक उदारभावको लेकर केवल कर्म ही करना चाहिये, इतनी ही बात नहीं है, उसे ईश्वरार्थ यज्ञ भी करना होगा। ईश्वर सब भूतोंमें स्थित हैं, उनको अभी वह पूर्णरूपसे नहीं जानता परन्तु उनको इस भावसे वह जान सकेगा 'समग्रं माम्'। जब सर्वत्र और सम्पूर्ण भूतोंमें एक आत्माको देखनेकी स्थिर-दृष्टि उसे प्राप्त हो जायगी, समता और एकत्वदर्शनकी जब पूर्णरूपसे प्राप्ति हो जायगी–'ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः' तब उसके जीवनकी सम्पूर्ण और एकमात्र नीति होगी—उत्तमा भक्ति, भगवान्‌के प्रति सर्वतोमुखी भक्ति! कर्तव्याकर्तव्यकी अन्यान्य समस्त नीतियां इस आत्मसमर्पणमें डूब जायंगी 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'। उस समय जीव इस भक्तिमें सुदृढ़ हो जायगा। उसका सारा जीवन, ज्ञान और कर्म आत्मनिवेदन करनेके सङ्कल्पसे सुदृढ़ हो जायगा। कारण, उस समय वह सर्वनियन्ता भगवान्‌के सम्बन्धमें पूर्ण और समस्त ऐक्यसाधन ज्ञानमें ही अपनेको निश्चितरूपसे स्थित देखेगा, उसे जीवन और कर्मकी चरम भित्ति मिल जायगी–'ते भजन्ते माम् दृढव्रताः'।

साधारण भावसे देखनेपर ज्ञान और नैर्व्यक्तिक भावकी प्राप्तिके बाद फिर भक्तिकी ओर लौटना या हृदय-वृत्तिके कर्मोंको चलने देना, पीछे लौटनेके समान ही समझा जा सकता है। कारण, भक्तिमें सभी समय व्यक्तित्वके भाव, यहांतक कि व्यक्तित्वकी भित्ति भी रहती है। क्योंकि भक्तिकी मूल प्रेरणा है जगदीश्वरके प्रति व्यष्टिगत आत्मा या जीवका प्रेम या उसकी श्रद्धा! परन्तु गीताकी दृष्टिसे देखनेपर यह आपत्ति बिल्कुल नहीं उठ सकती, क्योंकि गीताका लक्ष्य नामरूपसे अतीत अनन्त नैर्व्यक्तिक सत्तामें (the etern al impersonal) में लय होना, या निष्क्रिय होना नहीं है--गीताका लक्ष्य है, समस्त जीवनमें होते हुए पुरुषोत्तमके साथ मिल जाना।

यह सत्य है कि उस योगमें अपनी नैर्व्यक्तिक और अक्षर आत्मसत्ताकी उपलब्धिकर वह नीचेके व्यक्तित्वसे छूट जाता है परन्तु तब भी वह कर्म करता है, एवं समस्त कर्मोंका अधिपति प्रकृतिकी क्षरलीलामें रत बहुधा आत्मा ही रहता है। निरतिशय निष्क्रियताका संशोधन करनेके निमित्त यदि हम भगवान्‌के लिये किये जानेवाले यज्ञका आदर्श सामने नहीं रखते हैं तो हमारे अन्दर जो कर्म हो रहा है, उसे इस प्रकार देखना होगा कि 'वह हमारा कदापि नहीं है, वह मानो तीनों गुणोंकी क्रीड़ाका ही कुछ अवशिष्टांश है, उसके पीछे दिव्य सत्य कुछ भी नहीं है। हमारा जो 'अहं' जो 'मैंपन' लय हो गया है, उसीका एक शेषरूप या निम्नस्थ प्रकृतिके खेलका ही वह एक तार है। उसके लिये हम दायी नहीं हैं, कारण, हमारा ज्ञान उसे रोकता है और उससे मुक्त होकर विशुद्ध निष्क्रिय अवस्थाको प्राप्त करना चाहता है।'

परन्तु अद्वितीय आत्माके शान्त नैर्व्यक्तिक भावके साथ ईश्वरके लिये यज्ञार्थ की जानेवाली प्रकृतिकी कर्मलीलाको मिलाकर तो इस द्विविध

साधनाके द्वारा हम नीचेके अहंभाव-पूर्ण व्यक्तित्वसे छूटकर अपने यथार्थ आध्यात्मिक स्वरूपकी पवित्रतामें पहुंच सकते हैं। उस समय हम नीचेकी प्रकृतिसे बंधे हुए, अज्ञानी 'मैं' नहीं रहते, परन्तु दिव्य पराप्रकृतिके मुक्त जीव हो जाते हैं। तब फिर हम इस ज्ञानमें नहीं रहते कि एक अक्षर नैर्व्यक्तिक आत्मा और यह क्षर-बहुधा प्रकृति दोनों परस्पर विरुद्ध सत्ता हैं। हम तो अपने जीवनकी इन दोनों दिशाओंसे एक साथ ऊपर उठकर पुरुषोत्तमके आलिङ्गनमें निवास करते हैं। यह तीनों ही आध्यात्मिक सत्ता है, इनमें तीसरी सत्ता ही उच्चतम है और जो यह दो सत्ताएं परस्पर विरोधिनी दीखती हैं, सो इस तीसरी सत्ताकी ही दो सामने-सामनेकी दिशाओंके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। श्रीकृष्ण आगे चलकर कहेंगे।*

'आध्यात्मिक पुरुष दो हैं-एक नामरूपसे अतीत नैर्व्यक्तिक (impersonal) अक्षर पुरुष और दूसरा नामरूपयुक्त (Personal) क्षर पुरुष। परन्तु एक और भी उत्तम पुरुष हैं जिनको परमात्मा कहते हैं। वे समस्त जगत्में प्रविष्ट होकर उसे पकड़े हुए हैं। वे ईश्वर हैं, अव्यय हैं। मैं ही वह पुरुषोत्तम हूं, मैं क्षरसे ऊपर, यहांतक कि अक्षरसे भी उत्तम हूं, उससे भी ऊपर हूं। जो मुझको 'पुरुषोत्तम' मानकर जानता है वह सभी ज्ञानोंके साथ सर्वभावसे, अपने यथार्थ जीवनकी सब दिशाओंसे मुझे भजता है-मेरी भक्ति करता है।' यह जो सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण आत्मनिवेदनयुक्त भक्ति है, गीताने यहांसे उसीका विस्तार करना आरम्भ किया है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि गीताने शिष्यसे ज्ञानयुक्त भक्ति चाही है। अन्यान्य प्रकारकी भक्तियां अपने अपने भावोंमें अच्छी होनेपर भी गीता कहती है कि वे सब नीची श्रेणीकी भक्ति ही हैं, साधनमार्गमें वे अवश्य कल्याण करनेवाली होती हैं परन्तु गीताका चरमलक्ष्य जो आत्माकी चरमसिद्धि है, वे सब भक्तियां वह वस्तु नहीं हैं। जो लोग राजसिक 'मैंपन' के पापको हटा चुके हैं और भगवान्की ओर बढ़ चुके हैं उनको गीताने चार श्रेणीके भक्तोंमें बांट दिया है।† कोई संसारके दुःखकष्टोंसे छूटनेके लिये उनकी ओर जाता है। 'आर्त'। कोई उनको ऐहिक कल्याणदाता समझकर उनकी उपासना करता है-'अर्थार्थी'। कोई ज्ञानकी आकांक्षासे उनके निकट आता है- 'जिज्ञासु'। और कोई ज्ञानसहित उनका भजन करता है-'ज्ञानी'। गीताने इन सबकी ही प्रशंसा की है, परन्तु सम्पूर्णरूपसे अनुमोदन केवल चौथेका किया है। इन सब चेष्टाओंमें कोईसी भी बुरी नहीं है-सभी उदार और कल्याणकारिणी हैं- 'उदाराः सर्व एवैते' परन्तु ज्ञानसहित जो भक्ति है वही सबसे श्रेष्ठ है-'विशिष्यते'। इन कई प्रकारकी भक्तियोंको क्रमसे यों भी कह सकते हैं, भावप्रवण प्रकृतिकी भक्ति (आर्त), कर्मप्रवण प्रकृतिकी भक्ति (अर्थार्थी), चिन्तन-प्रवण प्रकृतिकी भक्ति (जिज्ञासु) और सर्वोच्च अन्तर्ज्ञानमय सत्ता (the highest intuitive being) की भक्ति (ज्ञानी)। यही सत्ता प्रकृतिके अन्यान्य अंशोंको लेकर भगवान्के साथ एकत्व प्राप्त करनेका साधन करती है।

जो कुछ भी हो, कार्यतः अन्यान्य प्रकारकी भक्तियां प्राथमिक साधनरूपमें ली जा सकती हैं,

---

* द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ (अ० १५।१६से१९)

† चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ (अ० ७।१६)

कारण गीताने स्वयं यहां कहा है कि बहुत जन्मोंके बाद * सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्तकर और उस ज्ञानके अनुसार जीवनका संगठन करनेपर अन्त-में मनुष्य उस विश्वातीत भगवान्को पा सकता है। क्योंकि जो कुछ है सो सभी भगवान् है ऐसा ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है और जो इस प्रकार समग्रभावसे भगवान्को देख सकते हैं और जो अपनी समस्त सत्ताको साथ लेकर, प्रकृतिके सारे भावोंको लेकर भगवान्में प्रवेश कर सकते हैं, 'सर्ववित् सर्वभावेन'। ऐसे महात्मा अत्यन्त दुर्लभ हैं।

यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि जो केवल इह-लौकिक लाभके लिये भगवान्की उपासना करते हैं, संसारके दुःख-कष्टोंसे बचनेके लिये ही भगवान्-की शरण ग्रहण करते हैं, केवल भगवान्को ही पानेके लिये जो उनकी उपासना नहीं करते, उनको वह भक्ति उदार और महान् कैसे हुई 'उदाराः ?' इस तरहकी भक्तिमें क्या अहङ्कार, दुर्बलता या वासनाका प्राधान्य नहीं है? यह क्या निम्नस्थ प्रकृतिकी ही क्रीड़ा नहीं है? एक बात और भी है, जहां ज्ञान नहीं है वहां भक्त, भगवान्-को समग्रभावसे—सर्वतोभावसे समझकर—'वासु-देवः सर्वमिति' भगवान्की ओर नहीं बढ़ सकता! परन्तु अपूर्ण नामरूपोंमें ही वह भगवान्की कल्पना करता है, जिन सबकी उसे अपने लिये आवश्यकता होती है और जो स्वभाव तथा प्रकृतिकी प्रतिच्छायाके सिवा और कुछ भी नहीं है। तथा इन्हीं सब नामरूपोंकी पूजासे वह अपनी प्रकृत वासनाकी तृप्ति चाहता है। भगवान्को कोई इन्द्र या अग्निरूपसे, कोई विष्णु या शिवरूप-से, कोई ईशु या बुद्धरूपसे कल्पना करता है, कोई भगवान्को कुछ प्राकृत गुणराशियोंकी समष्टि समझकर कल्पना करता है—वे प्रेममय हैं, क्षमा-शील हैं, कोई समझता है भगवान् अत्यन्त कठोर न्यायपरायण और विचारपरायण हैं, कोई भगवान्को क्रोधपरायण भीषण दण्डदाता समझ-कर भयमिश्रित भक्तिसे देखता है, कोई इन सब लक्षणोंको किसी प्रकार मिलाकर भगवान्की कल्पना करता है—भीतर और बाहर भगवान्की वेदी स्थापन करता है और उनके सामने धरती-पर लोट लोटकर पार्थिव-सुख और कल्याणके लिये अथवा शोक-दुःखमें सान्त्वना पानेके लिये प्रार्थना करता है या अपने भ्रान्त हठपूर्ण पर-मत-असहिष्णु साम्प्रदायिक ज्ञानका समर्थन करता हुआ प्रार्थना करता है।

यह सारी बातें कुछ कुछ अंशोंमें सर्वथा सत्य हैं। जो कुछ है सो सभी सर्वव्यापी वासु-देव ही है, इस ज्ञानसे सम्पन्न महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है, 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'। विविध बाह्य वासनाओंद्वारा परिचालित होकर मनुष्य विपथगामी हो जाते हैं, ये वासनाएं उनकी आभ्यन्तरिक ज्ञान-क्रियाको हर लेती हैं, 'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः'। वे अज्ञानी हैं, अन्य देवताओं-की आराधना करते हैं, वे भगवान्के उन सब अपूर्ण स्वरूपोंकी पूजा करते हैं जो उनकी वासनाके अनुरूप होते हैं, 'प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः'। वे स्वयं क्षुद्र हैं इसीलिये इन सब सङ्कीर्ण नियम या मतवादों-की स्थापना करते हैं जिनसे उनकी प्रकृतिका प्रयोजन सिद्ध होता है, 'तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया' और इसीसे वे अपनी व्यक्तिगत प्रेरणाके द्वारा बाध्य होते हैं। वे अपनी प्रकृतिकी ही इस सङ्कीर्ण आवश्यकताका अनुसरण करते हैं और उसीको परमसत्य समझकर ग्रहण करते हैं। अनन्तको उसकी विशालतासहित ग्रहण करनेका सामर्थ्य उनमें नहीं होता। यदि उनकी श्रद्धा पूर्ण होती है तो भगवान् इन सब भिन्न भिन्न नामरूपोंके द्वारा ही उनकी मनोकामना पूर्ण कर देते हैं परन्तु यह सब फल और भोग क्षणस्थायी होते हैं। जिनका मन क्षुद्र है, बुद्धिका भी विकास नहीं हुआ, केवल वे ही लोग इस सङ्कीर्ण मार्गको

* बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (७-१९)

धर्म और जीवनकी नीति मानकर ग्रहण करते हैं। इस मार्गमें यदि कोई आध्यात्मिक लाभ है तो वह केवल देवताओंके समीप-तक पहुंचने-मात्रका है, क्षर प्रकृतिकी लीलामें भगवान्ने जो भिन्न भिन्न नामरूप ग्रहण कर रक्खे हैं और उसका फल प्रदान कर रहे हैं, इस मार्गके लोग भगवान्को केवल प्रकृतिके उन सब नामरूपोंमें ही पाते हैं। परन्तु जो प्रकृतिके अतीत सम्पूर्ण सत्तासे भगवान्की उपासना करते हैं वे यह सब भी पाते हैं और इन सबका ही रूपान्तर भी कर देते हैं। देवताओंको उनके उच्चतम स्थानपर-प्रकृतिको उसके उच्चतम शिखरपर चढ़ा देते हैं और उन सबको लांघकर वे एकदम भगवान्के समीप ही पहुंच जाते हैं, विश्वातीत परमवस्तुको प्राप्त कर लेते हैं-'देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि'।

तथापि परमेश्वर भगवान् इन सब भक्तोंको उनकी अपूर्ण दृष्टि समझकर त्याग नहीं करते, क्योंकि इन सब आंशिक प्रकाशोंके अतीत भगवान्का जो अज, अव्यय और श्रेष्ठ भाव है, उस भावसे भगवान्को जानना किसी जीवके लिये भी सहज नहीं। * मायाके विराट् आच्छादनसे उन्होंने अपनेको ढक रक्खा है। वे जो जगत्के साथ एक होकर भी जगत्से अतीत, सर्वत्र अनुस्यूत होकर भी अगोचर, सबके हृदयमें अधिष्ठित होकर भी सबके सामने प्रकाशित नहीं होते, इसमें कारण उनकी योगमाया ही है। प्रकृतिसे बंधा हुआ मनुष्य यह समझता है कि प्रकृतिमें भगवान्का जो प्रकाश है, बस, वही भगवान्का सब प्रकाश है, परन्तु वस्तुतः वह सब भगवान्की क्रिया हैं, उनकी शक्ति है उनका घूंघट है। वे भूत, भविष्यत्, वर्तमान सबको पूर्णरूपसे जानते हैं, परन्तु उनको अभी कोई नहीं जान सका। † भगवान् प्रकृतिमें अपनी लीलाद्वारा इस तरहसे लोगोंको विमूढ़ कर रखनेपर भी यदि उस प्रकृतिमें ही उनको दर्शन न दें तो फिर मनुष्यके लिये, मायासे आबद्ध किसी जीवके लिये भगवान्को पानेकी कोई आशा ही नहीं रह जाती। अतएव अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार जो जिस जिस भावसे भगवान्की ओर अग्रसर होता है, भगवान् उन सबकी भक्ति ग्रहण करते हैं और भगवत्-प्रेम तथा दयाद्वारा उनका बदला चुकाते हैं। यह जो भिन्न भिन्न देवताओंके रूप हैं, वस्तुतः उन्हींमें मनुष्यकी अपूर्ण बुद्धि भगवान्का स्पर्श पाती है, यह जो वासनाओंका अनुसरण है, प्रथमतः इन्हींमेंसे मनुष्य भगवान्के सम्मुख मुख फिराता है। कोई भक्ति कितनी ही असम्पूर्ण क्यों न हो, वह सर्वथा व्यर्थ या निरर्थक नहीं है। उसमें सबसे बड़ी एक आवश्यक वस्तु रहती है,-'श्रद्धा' (faith)। 'जो भक्त श्रद्धाके साथ मेरे जिस किसी रूपकी पूजा करता है मैं उसीमें उसकी श्रद्धा दृढ़ और अचल कर देता हूं'। ‡ उसका अपने मनके अनुसार की जानेवाली पूजामें जो विश्वास है उस विश्वासके बलसे ही वह अपनी वासनानुसार फल प्राप्त करता है और उसी समय 'वह आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करनेके योग्य है' यह सिद्धि भी पाता है। अपना सम्पूर्ण कल्याण भगवान्से चाहते चाहते शेषतक वह केवल भगवान्को ही एकमात्र अपना कल्याण समझकर उसीके लिये प्रार्थना करने लगेगा, अपने सारे आनन्दके लिये भगवान्पर निर्भर करते करते वह भगवान्में ही अपने सारे आनन्दकी खोज करना सीख जायगा। भगवान्को उनके नाम रूप और गुणोंमें समझ समझ कर वह अन्तमें यह समझ जायगा कि भगवान् ही सब

* नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः। मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ (गीता ७। २५)

† वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ (गीता ७। २६)

‡ यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ (७। २१-२२)

कुछ हैं, वे विश्वके अतीत और सभी वस्तुओंके मूल हैं।*

इस प्रकार आध्यात्मिक विकासके द्वारा भक्तिकी ज्ञानके साथ एकता होती है। जीव क्रमशः एकमात्र भगवान्‌में ही आनन्द प्राप्त करता है, वह जानता है कि भगवान् ही सम्पूर्ण सत्ता चेतना और आनन्द हैं, भगवान् ही सब वस्तु, सब जीव और सब घटनाएं हैं। वह प्रकृतिमें भगवानको जानता है, आत्मामें भगवान्‌को जानता है और भगवान् जो आत्मा और प्रकृतिसे अतीत है इस बातको भी जान लेता है। वह सर्वदा भगवान्‌के साथ मिलकर स्थित रहता है—'नित्ययुक्तः'। जिस विश्वातीत सत्तासे परे और कुछ भी नहीं है, जिस विश्वव्यापी सत्ताके सिवा और कोई नहीं है, कुछ भी नहीं है; उनके साथ चिरन्तन योग ही है उसका समग्र जीवन और सारी सत्ता। उन्हींपर उसकी सम्पूर्ण भक्ति एकान्त भावसे टिक जाती है—किसी अंश-देवता, विधि वा मतवादपर नहीं। यह ऐकान्तिक भक्ति ही उसके जीवनकी सारी नीति होती है, वह सारे साम्प्रदायिक मतों और विश्वासोंके ऊपर चला जाता है, समस्त नैतिक विधि-निषेधोंके और समस्त व्यक्तिगत वासना-कामनाओंके ऊपर उठ जाता है। तब फिर उसके लिये ऐसा कोई शोक-दुःख रह ही नहीं जाता जो उसे दूर करना पड़े। कारण, वह तो सम्पूर्ण आनन्दके आधारको प्राप्त कर चुका है। किसी वासनाकी तृप्तिके लिये फिर उसे ललचाना नहीं पड़ता। कारण, जो सब कुछ हैं, सबके ऊपर हैं, उन्हें वह पा चुका है। जो सब सिद्धियोंके दाता हैं, वह उन सर्वशक्तिमान्‌का सामीप्य प्राप्त कर चुका है। उसके फिर कोई संशय, कोई अतृप्त ज्ञान-पिपासा बाकी नहीं रहती। कारण, वह जिस दिव्य-ज्योतिमें निवास करता है उसीसे सम्पूर्ण ज्ञान प्रकाशित होते हैं। भगवान्‌के प्रति उसका पूर्ण प्रेम है और वह भगवान्‌को प्यारा है। कारण, उसे भगवानसे जैसा आनन्द मिलता है, भगवान् भी उससे वैसा ही आनन्द पाते हैं।†

ज्ञानके साथ जो भगवान्‌का भजन करता है वह ज्ञानी भक्त है, यही उसका स्वरूप है। गीतामें भगवान् कहते हैं 'ऐसा ज्ञानी मेरा आत्मा है' 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' दूसरे भक्त केवल प्रकृतिके भिन्न भिन्न रूपों और भिन्न भिन्न शक्तियोंका आश्रय लेते हैं परन्तु ज्ञानी भक्त तो एकदम पुरुषोत्तमकी आत्म-सत्ता और लीलाका आश्रय लेता है, उन्हींके साथ वह युक्त है। उसीका हुआ है परा प्रकृतिमें दिव्य जन्म, उसीका है जीवन पूर्ण विकसित, वही है इच्छाशक्तिमें पूर्ण, प्रेममें अनन्त और ज्ञानमें सिद्ध और उसीमें जीवकी विश्वलीला सार्थक हुई है क्योंकि वह अपनेको लांघ गया है और इस प्रकार अपने जीवनके पूर्णतम उच्चतम सत्यको प्राप्त कर चुका है। (भारतवर्ष)

---

* नीचेकी जो तीन प्रकारकी भक्तियां हैं, सर्वोत्तम सिद्धि प्राप्त करनेके बाद भी उनके लिये एक स्थान रहता है परन्तु उस समय वे रूपान्तरित हो जाती हैं, फिर उनमें संकीर्ण व्यक्तिगत भाव नहीं रहता। दुःख, पाप और अज्ञान दूर हों, इस प्राकृत जगत्‌में सर्वोत्तम कल्याण, शक्ति, आनन्द और ज्ञानका उत्तरोत्तर विकास हो, ये पूर्णभावसे प्रकट हों। इस प्रकारकी वासनाका वेग उस समय भी हृदयमें रह सकता है।

† ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। (गीता ४। ११)

(पृष्ठ ३५१ से आगे)

(लेखक—स्वामी श्रीभोलेबाबाजी)

[मणि ३]

(गतांकसे आगे)

चिकेता बोला, 'हे भगवन! आपने श्रेय और प्रेय दो प्रकारके मार्ग कहे। प्रेयका अनुष्ठान करनेवाला स्वर्ग आदि लोकोंको प्राप्त होता है और प्रेयके अनुष्ठान न करनेवालेको नरककी प्राप्ति होती है, यानी धर्मका आचरण करनेवालेको शुभ फलकी प्राप्ति और अधर्मका आचरण करनेवालेको अशुभ फलकी प्राप्ति होती है। इन दोनोंसे विलक्षण श्रेयका अनुसरण करनेवाले अधिकारीको आनन्दस्वरूप आत्माका साक्षात्कार होता है । आपके इस कथनसे मैं ऐसा मानता हूं कि आत्मा इस देहसे भिन्न है इसलिये आप उसी आत्माका उपदेश कीजिये, जो शास्त्रविहित यज्ञादिरूप धर्मसे और शास्त्र-निषिद्ध हिंसादिरूप अधर्मसे भिन्न है तथा कार्य, कारण और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान कालसे भी भिन्न है। इस प्रकारकी सिद्ध वस्तुको आप जानते हैं अतएव उस आत्मरूप सिद्ध वस्तु-तत्त्वको मुझसे कहिये!

हे डोरूशंकर! साधन बिना तत्त्व-ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिये यमराज तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्तिके साधन ॐकारकी उपासना नचिकेतासे कहते हैं। वाचक और प्रतीक भेदसे ॐकाररूप उपास्य दो प्रकारका है यानी ॐकार परमात्मा-का वाचक भी है और प्रतीक भी है, इसलिये उपासना भी दो प्रकारकी है।

यमराज बोले, हे नचिकेता! जिस परब्रह्मका अधिकारी पुरुष ब्रह्मचर्यादि साधनोंसे साक्षात्कार करता है, जिस परब्रह्मका ऋगादि वेद कथन करते हैं, कृच्छ्र-चान्द्रायणादि तपसे जिसकी प्राप्ति होती है, उस परब्रह्मको तू प्रणवरूप जान। ब्रह्मभावकी प्राप्ति चित्त-शुद्धि बिना नहीं होती इसलिये कृच्छ्र-चान्द्रायणादि तप भी ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाले हैं। जिस ब्रह्मचर्यसे परब्रह्मकी प्राप्ति होती है वह ब्रह्मचर्य आठ प्रकारका है। स्मरण, भाषण, क्रीड़ा, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, चिन्तन, अध्यवसाय और सम्भोग, इन आठ प्रकारके मैथुनके अभावका नाम ब्रह्मचर्य है और वह ब्रह्म-साक्षात्कार करानेका साधन है। इस प्रकारके उत्तम ब्रह्मचर्यसे जो प्राप्त होता है, वही ब्रह्माकाररूप प्रणवका वास्तविक अर्थ है। जिस वस्तुमें दूसरी वस्तुका आरोपण करके ध्यान किया जाय, उसको प्रतीक कहते हैं। प्रणव ब्रह्मका प्रतीक है, इसलिये तू प्रणवको ब्रह्म जान। जो अधिकारी प्रणवरूप अक्षरका ब्रह्मरूपसे ध्यान करता है, वह हिरण्यगर्भ और ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। (इति प्रतीकोपासना)

हे नचिकेता! ॐकाररूप प्रणवमें अकार

उकार मकार और अर्धमात्रा ये चार पाद हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण और तुरीय ये चार अवस्थाएं क्रमसे प्रणवकी वाच्य हैं। इन चारों अवस्थाओंसे उपहित जो शुद्ध चेतन है, वही 'मैं' हूं। ऐसे निरन्तर चिन्तन करनेको आलम्बन उपासना कहते हैं।

हे नचिकेता! प्रणवरूपी आलम्बन हिरण्यगर्भके ध्यानमें उपयोगी है, उस अवलम्बनसे जो अधिकारी ॐकारकी उपासना करता है, वह ब्रह्मलोकको प्राप्त होकर वहांसे परब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है। ऋषि मुनि उपर्युक्त प्रतीक और आलम्बन उपासनाएं करते हैं। उपासना करनेसे शुद्ध चित्त होनेपर वे ऐसा विचार करते हैं:-'स्वयंज्योति ब्रह्म सब विकारोंसे रहित है। इस जगत्‌में जो जो पदार्थ उत्पन्न होनेवाले हैं, उन सबका कोई न कोई कारण अवश्य होता है परन्तु आत्माका कोई कारण जाननेमें नहीं आता। आत्मासे कोई कार्य उत्पन्न भी नहीं होता। माया-के सङ्गसे मायाका विकार ही आभासमात्र जगत्-स्वरूप भासता है। आत्मा जन्मरहित और नित्य है। जैसे घड़ेमें रहे हुए आकाशका घड़ेके नाश होनेपर भी नाश नहीं होता वैसे ही उपाधिरूप इस शरीरके नाश होनेसे आत्माका नाश नहीं होता। आत्मा न तो किसीको मारता है और न आप मरता है। उपाधिवालेको ही लोग मरता और मारता हुआ मानते हैं। देह और इन्द्रिय नष्ट होनेवाले हैं इसलिये वे कार्यरूप हैं। जो कार्य होता है, उसका कोई न कोई कारण अवश्य होता है। ब्रह्म ही उनका कारण है। अविनाशी और अक्रिय आत्माको जो कर्ता और कर्मरूप जानते हैं, वे शास्त्रज्ञ होनेपर भी स्थूल दृष्टिवाले मनुष्य ही हैं, ऐसा जानना चाहिये।'

अविनाशी और अक्रिय आत्मामें क्रियाके आरोप करनेका नाम विपरीत-ज्ञान है। जो वस्तु सत्य है, उसका कभी नाश नहीं होता। आत्मा सत्य है इसलिये उसका नाश कभी नहीं होता। आत्मा जैसा सूक्ष्म और आत्मा जैसा महान् पदार्थ कोई है ही नहीं! आत्माकी महिमा वाणी नहीं वर्णन कर सकती। इसलिये आत्मा अवर्ण्य और अगाध कहलाता है। वह अपनी महिमामें ही स्थित है, ऐसा माननेमें आता है। जैसे देह पराधीन है वैसे आत्मा पराधीन नहीं है। जब मनुष्य निद्रामें होता है तब देह शयनसे बाहर नहीं जा सकता परन्तु मन चाहे जहां जा सकता है। इस मनका कौन साक्षी है? आत्मा या कोई दूसरा? अवश्य आत्मा ही है, तब आत्मा देहसे भिन्न सिद्ध हुआ। उपाधियां लग जानेके कारण आत्मा नाना प्रकारका प्रतीत होता है, वस्तुतः वह किसी प्रकारके विकार, आकार, स्वरूप और परिणामसे रहित अखण्ड ज्योतिरूप है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म मोह और शोक करनेवाले हैं। मोह और शोक अज्ञानसे उत्पन्न हुए हैं। इसलिये जो पुरुष विवेकसम्पन्न है, उसपर अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले शोक मोहादि विकारोंका असर नहीं होता।

'हे नचिकेता! विभु और स्वयं प्रकाशरूप आत्माका-जिसका स्वरूप मैंने तुझे समझाया है, ज्ञान चारों वेदोंके पढ़ने अथवा पढ़ानेसे नहीं होता, शास्त्रोंके अवलोकनसे भी उसका ज्ञान नहीं होता किन्तु सद्गुरुके उपदेशसे ही उसका ज्ञान होता है। बहिर्मुख पुरुषोंके लिये दुर्लभ होनेपर भी अन्तर्मुख पुरुषोंके लिये आत्मज्ञान सुलभ है। जो पापकर्मोंसे निवृत्त नहीं हुए, शम दमादिसे रहित हैं, जिनका मन स्थिर नहीं हुआ है, जो ध्यान करनेमें असमर्थ हैं और जो चञ्चल तथा अश्रद्धालु हैं, उनको कभी भी ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं होता। राग-द्वेषसे रहित साधनसम्पन्न अन्तर्मुख पुरुषको ही आत्माका साक्षात्कार होता है। 'मैं ब्रह्म हूं, मेरे सिवा कुछ भी नहीं' दृढ़ बुद्धिसे इस प्रकार माननेवाला अपने हृदय-देशमें स्थित आत्माका साक्षात्कार कर सकता है। समस्त जगत् और मृत्युको भी भक्षण कर जानेवाला जो माया-विशिष्ट ईश्वर है, उसका शुद्ध स्वरूप जाननेपर ही परम मोक्षकी प्राप्ति होती है। (दूसरी वल्ली समाप्त)

शुद्धात्मज्ञान-निरूपण

यमराज बोले 'हे नचिकेता! इस शरीरमें 'तत्' और 'त्वं' पदार्थके शोधन करनेसे आत्माका ज्ञान होता है, उन दोनोंका स्वरूप बताता हूं सुन! जैसे किसी वृक्षपर दो पक्षी रहते हैं। वैसेही इस शरीररूप वृक्षके ऊपर 'तत्' पद-वाचक ईश्वर और 'त्वं' पद-वाचक जीव ये दो पक्षी रहते हैं। यद्यपि बुद्धिरूपी उत्कृष्ट स्थानमें वे दोनों साथ ही रहते हैं तो भी छाया और धूपके समान विरुद्ध स्वभाववाले हैं। ईश्वर अभोक्ता और सर्वज्ञ है, जीव भोक्ता और अल्पज्ञ है। जीवरूपी पक्षी पुण्य-पापका सुख-दुःखरूप फल भोगता है और ईश्वररूपी पक्षी स्वयं नहीं भोगता, किन्तु जीवको भुगवाता है। यह बात ब्रह्मज्ञानी, पंचाग्नि-विद्या जाननेवाले और त्रिनाचिकेता तीनों कहते हैं। गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्य ये पंचाग्निवाले गृहस्थ अथवा पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री इन पांचोंमें अग्नि दृष्टि करनेवाले पंचाग्निवाले कहलाते हैं। विराट्रूप नाचिकेत अग्निको तीन बार पूजनेवाले त्रिनाचिकेता कहलाते हैं।

नाचिकेत-नामक विराट्रूप अग्नि यज्ञ करनेवाले कर्मोंका सेतु यानी दुःखरूप समुद्रसे पार उतरनेका उपाय है। वह परब्रह्म अक्षर-नाशरहित है। उत्पन्न होना, बढ़ना, बदलना, घटना, और नाश होना, इन छः विकारोंसे रहित प्रत्यक् स्वरूप और भयसे रहित है। कर्म और उपासनासे जिसका चित्त शुद्ध हो जाता है, वही ब्रह्मज्ञानका अधिकारी है। जिसका चित्त शुद्ध नहीं हुआ है, उसको हृदयमें रहे हुए आत्माका साक्षात्कार नहीं होता। जैसे मलिन दर्पणमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, वैसे ही अशुद्ध अन्तःकरणमें आत्मा नहीं दीखता। कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनोंका क्रमसे अनुसरण करनेसे ही आत्मज्ञान होना सम्भव है, अन्यथा नहीं!

जिस अधिकारी पुरुषका बुद्धिरूप सारथी वैराग्यरूपी कवच धारण किये हुए होता है, वह शरीररूप रथको सीधे मार्गसे ले जा सकता है। जब इन्द्रियरूप घोड़े बुद्धिरूप सारथीके वश नहीं होते, तब शरीररूप रथ इस संसाररूप वनमें इधर उधर भटकता रहता है। जब बुद्धिरूप सारथी इन्द्रियरूप घोड़ों और मनरूपी लगाम को वशमें रखकर इस शरीररूप रथको सन्मार्गमें चलाता है तब वह शरीररूप रथ जीवरूप रथारूढ़ रथीको ब्रह्ममें ले जाता है। भाव यह है कि स्थिर बुद्धि और दृढ़मनवाला अधिकारी पुरुष ही ब्रह्मभावको प्राप्त होता है।

हे नचिकेता! संसारमें कार्य और कारण दो वस्तुएं हैं। कार्य स्थूल, संकुचित और बाह्य होता है तथा कारण सूक्ष्म, विस्तारवाला और भीतर होता है। बाह्यभाव कार्यकी तरफ ले जानेवाला बन्धनरूप है और अन्तर्मुखभाव कारणकी तरफ ले जानेवाला मोक्षरूप है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यह पांच विषय आकाशादि पांच भूतोंके साररूप हैं इसलिये ये श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियोंके कारण कहे जाते हैं। शब्दादि विषयोंके ग्रहण करनेमें मन श्रोत्रादि इन्द्रियोंको प्रवृत्त करता है, इसलिये मन विषयोंसे पर है। 'मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूं' इत्यादि भावना उत्पन्न करनेवाला मन है परन्तु भावना उत्पन्न करनेके लिये मनको बुद्धिकी अपेक्षा है क्योंकि निश्चयरूप बुद्धि बिना भावना उत्पन्न नहीं हो सकती, इसलिये भावना उत्पन्न करनेमें मनको बुद्धिकी अपेक्षा है। निश्चयरूप व्यष्टि बुद्धिको अपनी उत्पत्तिके लिये समष्टिरूप हिरण्यगर्भकी बुद्धिकी अपेक्षा है। हिरण्यगर्भकी बुद्धि समस्त स्थूल जगत्का कारणरूप है। हिरण्यगर्भकी बुद्धिको श्रुतिमें 'महत्त्व' कहा है। हिरण्यगर्भ भगवान्की समष्टिरूप महत्त्व बुद्धि व्यष्टिरूप बुद्धिका कारणरूप है। इसलिये वह व्यष्टि बुद्धि से भी पर है। महत्त्वरूप समष्टि बुद्धि भी अपनी उत्पत्तिके लिये मायासहित समष्टि सूक्ष्मशरीरकी

अपेक्षा रखती है। मायासहित सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीरसे बहुत ही विलक्षण है इसलिये, श्रुतिमें उसको अव्यक्त कहा है। यह अव्यक्त, महत्त्व समष्टि-बुद्धिका कारणरूप है इसलिये अव्यक्त, समष्टिरूप महत्त्वबुद्धिसे भी पर है। अव्यक्तको माया और अविद्या भी कहते हैं। अव्यक्तको अपने आश्रय और विषयकी प्राप्तिके लिये चेतन पुरुषकी अपेक्षा है। इसलिये चेतन पुरुष अव्यक्तसे भी पर है। हे नचिकेता! चेतन पुरुष अपनी उत्पत्ति और ज्ञानके लिये किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये वह सबसे पर है। इस चेतन पुरुषका ज्ञान करानेके लिये ही शास्त्रवेत्ताओंने इन्द्रियोंसे लेकर चेतन पुरुष-तक कार्य और कारणोंकी परम्परा दिखायी है। चेतन पुरुषसे आगे कोई कारण दिखायी नहीं देता इसलिये यह पुरुष ही अनन्त और अनादि सत्यब्रह्म है, ऐसा मुनि कहते हैं। श्रुतिके मूल मन्त्रका अर्थ इस प्रकार हैः-इन्द्रियोंसे अर्थ-विषय पर हैं, अर्थसे मन पर है, मनसे बुद्धि पर है। बुद्धिसे महत्त्व पर है। महत्त्वसे अव्यक्त पर है और अव्यक्तसे चेतन पुरुष पर है, इससे पर कोई नहीं है, इसलिये यही परमगति है।

हे नचिकेता! यह चेतन पुरुषरूपी संवित् दिशा-कालादि कल्पनाओंका भी अधिष्ठानरूप है, समस्त जगत्‌का विवर्त-कारणरूप है और इससे पर कुछ भी नहीं है। 'तत्त्वमसि' आदि महा-वाक्योंके मथनसे सूक्ष्मबुद्धि उत्पन्न होती है। उस सूक्ष्मबुद्धिसे चेतन संवित्‌का ज्ञान होता है। यद्यपि सर्वभूतोंमें गुप्तरूपसे स्थित आत्मा मूढ़ पुरुषोंको दिखायी नहीं देता परन्तु अधिकारी पुरुषोंको गुरुके उपदेशसे हृदयकमलमें प्रतीत हो सकता है। शास्त्रमें कहा हैः-सर्वभूतोंमें गूढ़ रहा हुआ आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म-झीनी दृष्टि—नजरसे देखनेवालेको ही दिखायी देता है।

हे नचिकेता! जिसको आत्माके साक्षात्कारकी इच्छा हो, उसको प्रथम चार अवस्थावाला योग करना चाहिये। सुखकी कामनासे मन, श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रिय और वागादि पांच कर्मेन्द्रियोंको उनके व्यापारमें लगाता है इसलिये अधिकारी पुरुष श्रोत्रादि इन्द्रियोंको मनमें लय करे। जैसे ऊधमी घोड़ोंको अश्वशालामें बन्द करनेसे उनका ऊधम करना कम होजाता है, ऐसे ही श्रोत्रादि घोड़ोंको मनरूपी अश्वशालामें बन्द कर देनेसे उनका बाह्य व्यापाररूप ऊधम कम होजाता है। ऐसा होनेसे मन शरीरसे बाहरके व्यापारमें प्रवृत्त नहीं होता, शरीरके भीतर ही काम करने लगता है। इच्छा और गर्ववाला मन उन्मत्त हाथीके समान सर्वदा प्रमादमें रहता है। जैसे महावत मदोन्मत्त हाथीको अंकुशसे वशमें रखता है इसी प्रकार अधिकारी पुरुष बुद्धिरूपी अंकुशसे मनको वशमें रखे यानी मनको बुद्धिमें लय करे। पश्चात् इस बुद्धिको हिरण्यगर्भकी बुद्धिमें लय करे। हिरण्य-गर्भकी महत्त्वरूप समष्टि बुद्धि 'मैं हूं' इस प्रकारके सामान्य ज्ञानको उत्पन्न करती है। यानी ऐसा पुरुष सम्पूर्ण जगत्‌को अपने स्वरूप जैसा देखता है। सर्वात्म बुद्धि होनेसे उस पुरुषका सब व्यापार हो जाता है। सामान्य ज्ञानरूप समष्टि-बुद्धिको विद्वान् अधिकारी पुरुष आत्मानन्दमें लय करे, इस प्रकारसे इन्द्रियोंको मनमें, मनको बुद्धिमें व्यष्टि-बुद्धिको समष्टि-बुद्धिमें और समष्टि बुद्धिको आत्मानन्दमें लय करे, यही योगकी चार अवस्थाएं कहलाती हैं।

हे नचिकेता! श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियां और वागादि पांच कर्मेन्द्रियां सुखकी प्राप्तिके लिये शुभाशुभ कर्मोंमें प्रवृत्त होती हैं। 'यह अच्छा है और मुझे प्रिय है' इत्यादि मनके विलासके कारण इच्छा उत्पन्न होती है। इससे सिद्ध होता है कि सुखकी इच्छा और स्मृति मनके धर्म हैं, ऐसा चञ्चल मन निश्चयरूप बुद्धि बिना उत्पन्न नहीं होता। जिसको निश्चय नहीं होता, उसको इच्छा और स्मृतिरूप ज्ञान नहीं होता, इसलिये बुद्धि मनका उपादान कारण है

इसी कारण मन बुद्धिमें लय हो सकता है क्योंकि जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है, उसीमें उसका लय होता है दूसरेमें नहीं होता, जैसे मिट्टीमेंसे उत्पन्न हुआ घड़ा मिट्टीमें लय होता है इसी प्रकार बुद्धिसे उत्पन्न हुआ मन बुद्धिमें ही लय होता है। समष्टि-बुद्धि इन सब जगत्का कारण-रूप है इसलिये निद्रामें पड़ा हुआ पुरुष अपनी बुद्धिके बलसे आकाशादि पंचभूत उत्पन्न कर लेता है, शरीरोंको उत्पन्न कर लेता है और अपनी इच्छानुसार अन्य पदार्थोंको रच लेता है। ऐसे ही हिरण्यगर्भकी इच्छारूपी बुद्धि इस जगत्के जालको खड़ा कर देती है। स्वप्न-द्रष्टा पुरुष जैसे अपनी उपजायी हुई सृष्टिका कारण-रूप है, ऐसे ही हिरण्यगर्भ भगवान् अपनी समष्टि बुद्धिके बलसे इस जड़ चेतनरूप जगत्को उत्पन्न-कर स्थावर जंगमरूप शरीरोंमें निवास करता है। जैसे महाकाशसे घटाकाश भिन्न नहीं है वैसे ही समष्टि-बुद्धिसे व्यष्टि-बुद्धि भिन्न नहीं है इस-लिये समष्टि-बुद्धिमें व्यष्टि-बुद्धिका लय हो जाता है। हिरण्यगर्भकी समष्टि-बुद्धिका उपादान कारण मायाविशिष्ट परमात्मा देव है। इसलिये, समष्टि-बुद्धि मायाविशिष्ट ईश्वरमें लय भावको प्राप्त होती है। जैसे छिलकेवाला चावल बीजवाला होनेसे उपजकर विस्तारको प्राप्त हो सकता है। ऐसे ही मायाके आवरणवाला आत्मा ही बीजरूप होकर जगत्की उत्पत्ति कर सकता है। जैसे बिना छिलकेका शुद्ध चावल बीजभावसे रहित है ऐसे ही शुद्धात्मा भी उत्पत्ति भावसे रहित है।

हे नचिकेता! जब पापकर्मका क्षय हो जाता है और गुरुके उपदेशसे सन्मार्ग सूझने लगता है तभी अधिकारी पुरुषको व्यष्टि-बुद्धिका अभिमान जाता रहता है और समष्टि-बुद्धिका अभिमान उत्पन्न हो आता है और 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकारके निश्चयसे वह सब प्रपञ्चसे मुक्त होजाता है। 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा ज्ञान होनेसे अविद्या नष्ट होजाती है और इन्द्रियोंसे लेकर बुद्धिपर्यन्तका सम्पूर्ण जीवभाव परमात्मामें ही अपनेको देखता है।

हे नचिकेता! स्थावर-जंगमरूप इस सब जगत्का कारण माया है। जिसको ब्रह्मज्ञान होजाता है, उसके पास माया नहीं जाती। परन्तु जो अज्ञानरूप अँधेरेमें पड़ा होता है, उसको माया अनेक प्रकारके लोभ दिखाकर जगत्के जालमें फँसा देती है। बाहर और भीतर पुरुषको लुभाने-वाली माया ही है। इसलिये विद्वान् पुरुष मायाको त्यागकर योगकी प्रक्रियाओंसे, जैसे कछुआ अपने अंगोंको अपने महा अंगमें सिकोड़कर खींच लेता है, ऐसे ही मनसे इन्द्रियोंको खींचकर सबको हृदयकमलमें स्थित आत्मामें लय कर दे, ऐसा करनेसे ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है। जहां ब्रह्म साक्षात्कार हुआ, वहीं केवल आनन्दघन ही व्यापक होजाता है। ज्ञानी पुरुषका आत्मा स्थूल शरीरमें रहनेपर भी परब्रह्मभावको प्राप्त होनेके कारण मायाको नहीं देखता। अज्ञानी जीव इस स्थूल देहसे चले जानेपर भी वासनारूपी मायासे ढका रहता है और वही माया उसको अनेक प्रकारकी योनियोंमें भटकाती है।

हे नचिकेता! माया अबल-स्वरूप-बल-रहित है, फिर भी उसकी घटना अघटित है। माया मनुष्य और देवताओंको ही नहीं किन्तु भेदरहित परब्रह्ममें भी भेद दिखाकर जगत्की अनेक प्रकारकी लीलाओंमें प्रवेश कराती है। जो स्वयं प्रपञ्चरहित, भेदरहित और परम ज्योतिरूप है, उस आत्माको भी माया ऐश्वर्यकी अपेक्षासे महेश्वरताकी पदवी दिलवाती है। माया न सत्य है, न असत्य है। यदि माया असत्य हो तो उससे कुछ भी बने नहीं, यदि सत्य हो तो छूटे नहीं, इसीलिये मायाको अनिर्वचनीय कहा है। यद्यपि वेदान्तशास्त्रमें मायाविशिष्ट चैतन्यको जगत्का उत्पन्न करनेवाला कहा है तथापि मायासे रहित शुद्ध चैतन्यमें जगत्का कर्तापना नहीं है। इसलिये वास्तविक रीतिसे मायामें ही

कर्तापना घटता है किन्तु वह स्वतन्त्र नहीं है इसलिये मायाविशिष्ट चैतन्य कर्ता कहलाता है। अनादि भाववाला होने पर भी माया ज्ञानसे नष्ट होजाती है तो भी उसका दुर्घट स्वरूप समझना कठिन है, क्योंकि अनादि भाववाली वस्तु नष्ट न होनी चाहिये और माया तो ज्ञान होनेसे नष्ट हो जाती है, यह वार्ता सिद्ध है। ब्रह्मज्ञानसे मायाका नाश होता है इसलिये ब्रह्मज्ञान मनुष्योंके लिये हिततम और श्रेयस्कर है।"

हे डोरूशंकर ! 'आत्मामें दृश्य प्रपञ्चका अभाव है' इस बातको अब यमराज समझाते हैं।

यमराज बोलेः-"हे नचिकेता ! उपर्युक्त प्रकारसे भगवती श्रुतिने अधिकारी पुरुषोंको आत्मज्ञानका बोध किया है और यह भी दिखलाया है कि ब्रह्ममें यह दृश्य लेशमात्र भी नहीं है। सब शरीरोंमें आनन्द-स्वरूप आत्मा अद्वितीय रूपसे स्थित है तो भी वह मन अथवा वाणीका विषय नहीं है। स्वयंज्योतिरूप ब्रह्मका उपदेश तो कोई प्रतापी गुरु ही अपने प्रिय शिष्यको करता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पांच गुणोंसे रहित होनेसे निर्गुण आत्माको श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण, ये पांच ज्ञानेन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकतीं। इन्द्रियां रूप गुणवाले द्रव्यका ही ग्रहण कर सकती हैं, आत्मा गुणोंसे रहित है इसलिये इन्द्रियोंद्वारा उसका ग्रहण नहीं हो सकता। जो पदार्थ धीरे धीरे नष्ट होता रहता है, वह व्यय कहलाता है। आत्माका कभी नाश नहीं होता इसलिये आत्मा अव्यय कहलाता है। उत्पत्ति और नाशसे रहित होनेसे आत्मा अनादि कहलाता है। हिरण्यगर्भकी समष्टिरूप बुद्धिसे अव्याकृत-मायाविशिष्ट ईश्वर पर है और आत्मदेव तो अव्याकृतसे भी पर है। ऐसे परमज्योति आत्माको गुरुसे सुनकर शिष्य श्रुति-अनुकूल युक्तियोंसे उसका मनन करे। फिर चित्तवृत्तियोंके प्रवाहको निरन्तर उसीमें लगाये रखना रूप निदिध्यासन किया करे। जन्म-जन्मान्तरमें ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। जिसको श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे आत्मज्ञान उदय हो आता है, वह पुरुष इस संसारके जालसे मुक्त हो जाता है और देश काल तथा वस्तु परिच्छेदसे रहित ब्रह्मज्ञानसे मृत्युको निवारण कर सकता है। (इति तृतीय वल्ली)

हे डोरूशंकर! यहां तक संक्षेपसे ब्रह्मका स्वरूप बताया है, अब उसी ब्रह्मका स्वरूप विस्तारसे वर्णन करनेके लिये आगेके ग्रन्थकी रचना है।

यमराज बोले-'हे नचिकेता ! जगत्को उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर है। परमेश्वरने श्रोत्रादि इन्द्रियोंको अन्तरात्मासे बहिर्मुखी रचा है। जैसे कोई चतुर राजा अपना रहस्य गुप्त रखनेके लिये अपने निजके अधिकारियोंको अपने पाससे दूर देशान्तरमें भेज दिया करता है इसी प्रकार आत्मा भी अपने स्वरूपको न समझने देनेके लिये श्रोत्रादि इन्द्रियोंको अपने स्वरूपसे बहिर्मुख रखता है। जैसे देशान्तरमें भेजे हुए राजाके अधिकारी शत्रुके वशमें आकर शत्रुके भोग होजाते हैं ऐसे ही श्रोत्रादि इन्द्रियां भी काम क्रोधरूपी शत्रुओंके वश होकर उनका भोग हो जाती हैं, जैसे दूर गये अधिकारियोंको राजा देखता है ऐसे ही आत्मा भी इन्द्रियोंको देखता है किन्तु इन्द्रियां आत्माको देख नहीं सकतीं। राजा तो चर द्वारा अधिकारियोंको देखता है, आत्मा साक्षात् इन्द्रियोंको देखता है, इतना भेद है।

मन दो प्रकारका है, एक सकाम और दूसरा निष्काम। सकाम मन श्रोत्रादि इन्द्रियोंके वशमें होता है। जब इन्द्रियां विषयोंकी तरफ दौड़ती हैं तब मन भी उनके साथ दौड़ जाता है। जब इन्द्रियोंका निग्रह किया जाता है तब मन निष्काम होजाता है। निष्काम मन बाहरके विषयोंमें नहीं भटकता। देहाभिमानी पुरुषसे इन्द्रियोंका संयम नहीं होता। कोई विरला ही शमदमादि साधनसम्पन्न पुरुष इन्द्रियोंको निरोध करके अन्तर्मुख कर सकता है। यदि नव द्वारवाले घरमें बन्दरको

घुसाकर, उसका द्वार बन्द कर दिया जाय तो उसमें घुसा हुआ बन्दर जैसे बाहर नहीं निकल सकता, ऐसे ही इस नव द्वारोंवाले देहरूपी घरमें घुसा हुआ मनरूपी बन्दर भी इन्द्रियरूपी द्वार बन्द कर देनेसे बाहर नहीं जा सकता। जब मन बाहर नहीं जा सकता तब वह भीतर ही भीतर परिश्रम करते करते थककर अन्तमें ठहर जाता है। श्रोत्रादि इन्द्रियोंके द्वार बन्द करनेसे मन आत्मबोधवाला होजाता है। आत्मबोधवाला मन मनन और निदिध्यासनद्वारा आत्माका साक्षात्कार करनेमें समर्थ होजाता है। इन्द्रियां जालके समान और मन मत्स्यके समान है। हे नचिकेता! इस लोक अथवा परलोकमें जब मनरूप मत्स्य शब्दादि विषयोंको ग्रहण करनेके लिये इन्द्रियरूपी जालमें घुसता है तब उसमें फँसकर वह मत्स्यके समान बन्धन और मृत्युको प्राप्त होता है। इसलिये मुमुक्षु पुरुषोंको इन्द्रियों-का निरोध कर मनको वशमें करके उसे आत्म-चिन्तनमें लगानेका यत्न करना चाहिये।

हे नचिकेता! ब्रह्मासे लेकर स्तंबपर्यन्त जितना जगत् है, वह सब अन्तमें मृत्युके वश होता है, ऐसा विचार करके विवेकी पुरुष कर्म और उपासनाके फलका अनित्य मानकर स्वर्गादिसे होनेवाले सुखकी इच्छा नहीं करता किन्तु केवल अमृतरूप ब्रह्मकी ही जिज्ञासा करता है।

नील पीतादिरूप, मधुर आदि रस, सुरभि और असुरभि दो प्रकारका गन्ध, वर्णरूप और ध्वनिरूप दो प्रकारके शब्द, शीतोष्ण, कोमल-कठिन स्पर्श, स्त्रीसंसर्गजन्य सुख ये सब जिस अपरोक्ष साक्षी स्वरूप आत्मा करके जाननेमें आते हैं, जिसके साथ तादात्म्यको प्राप्त होकर-एकमेक होकर सब मनुष्य अनुभव करते हैं, यह वही है, जिसको तूने पूछा है। यह आत्मा धर्माधर्मसे अतीत-पर है, यही साक्षी चेतन है, यदि कोई कहे कि रूपादिको तो इन्द्रियां जानती हैं, आत्मा नहीं जानता, तो ऐसा नहीं है। इन्द्रियां जड़ हैं इसलिये रूपादिको जान नहीं सकतीं। यह आत्मा देहसे भिन्न है, इसीके द्वारा सब जाननेमें आता है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसको आत्मा न जानता हो। आत्मा सबको जानता है इसलिये वह सर्वज्ञ है।

हे नचिकेता! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाएं हैं, इन तीनों अवस्थाओंको जिस आत्मा करके लोग देखते हैं, वही आत्मा महान् व्यापक और विभु—अनेक प्रकारका है। वह आत्मा चैतन्यस्वरूप आत्मरूपसे सबका साक्षी है। उसका साक्षात्कार करके धीर पुरुष किसी प्रकारका शोक नहीं करता। धीर पुरुषके सिवा दूसरा कोई आत्माको जान नहीं सकता। जो तीनों शरीरोंको शोधन करके तीनों शरीरोंसे भिन्न, तीनों शरीरोंके साक्षीभूत आत्माको जान लेता है, वही धीर है-वही आत्माका साक्षात्कार करके शोकरहित होता है।

हे नचिकेता! जीव और ईश्वरमें उपाधिसे भेद है, वस्तुतः दोनोंमें भेद नहीं है। आत्मा सर्वथा द्रष्टा प्रत्यक्चेतन है, जो अधिकारी पुरुष इस आत्माको जान लेता है, वह पुरुष आत्म-ज्ञान होनेके पश्चात् आत्माकी रक्षा नहीं करता क्योंकि भय दूसरेसे होता है, आत्माको जानने-वालेकी दृष्टिमें दूसरा कोई रहता ही नहीं। जब दूसरा ही नहीं तब भय किसका और रक्षा किसकी? द्वैतकी निवृत्ति होते ही भय, रक्षा आदि भावोंकी निवृत्ति होजाती है। यह आत्मा कर्मफलके भोगनेवाले जीवको समीपता-मात्रसे धारण करनेवाला और भूत, भविष्यत् वर्तमान तीन कालरूप प्रपञ्चको नियममें रखने-वाला है। नचिकेता! जिस आत्म-तत्त्वको तूने पूछा था, वह यही प्रत्यक्चेतन रूप आत्मा है।

हे नचिकेता! परमात्मदेवसे प्रथम हिरण्यगर्भ उत्पन्न होता है, फिर आकाशादि पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं। हिरण्यगर्भ जीवोंके पूर्व-जन्ममें किये हुए पुण्य-पापोंके फलके कारण

से उत्पन्न होता है और पीछे कर्मफल भोगनेके लिये इस संसार-जालको उत्पन्न करता है। जैसे मकड़ी अपनी इच्छासे बड़ा भारी जाल बना लेती है और उसमें नाना प्रकारकी क्रीड़ा करती है ऐसे ही आत्मदेव अपनी इच्छासे इस जगत्-जालको उत्पन्न करके कर्मवशसे उसमें अनेक प्रकारकी क्रीड़ा करता है और जब उसे विराम होनेकी इच्छा होती है, तब उस जालको अपनेमें लय कर लेता है। आत्मा मन वाणीका विषय नहीं है इसलिये हिरण्यगर्भके विराट् स्वरूपकी कल्पना करके मुमुक्षुको ध्यान करनेको कहा है क्योंकि कार्यका कारणसे अभेद है। जाति, गुण और क्रियावाले पदार्थका ही शब्दार्थसे कथन हो सकता है। आत्मा जाति, गुण अथवा क्रियावाला नहीं है, इसलिये उसका कथन नहीं हो सकता। सामान्य लोगोंको समझानेके लिये कल्पना स्वरूपसे ही आत्माका कथन किया जाता है। विराट् स्वरूप अथवा अन्य स्वरूपसे जो आत्माका कथन है, वह सामान्य मनुष्योंके लिये है। ज्ञानियोंके लिये तो ज्ञान ही आत्मप्राप्तिका परम साधन है। हे नचिकेता! जिस आत्मासे हिरण्यगर्भ आदि सब उत्पन्न होते हैं और जो प्राणियोंके हृदयरूपी गुहामें प्रवेश करके स्थित है, वही वह आत्म-तत्त्व है, जिसको तूने पूछा है।

हे नचिकेता! प्राणरूप हिरण्यगर्भसे सूर्य आदि उत्पन्न होते हैं और प्राणमें ही लय होते हैं। अग्नि आदि देवता प्राणमें ही रहते हैं। रथके चक्रकी नेमीमें जैसे आरे रहते हैं इसी प्रकार वागादि सब इन्द्रियां और अग्नि आदि सब देवता सर्वदा प्राणमें ही रहा करते हैं। किसीमें प्राणको उल्लङ्घन करनेकी शक्ति नहीं है। इसलिये परमात्मदेवके स्वरूपभूत प्राणका ध्यान करना चाहिये, जिस परमात्मासे इस प्राणकी उत्पत्ति हुई है, वही हे नचिकेता! वह आत्मतत्त्व है, जिसको तूने पूछा है।

हे नचिकेता! हिरण्यगर्भसे विराट् उत्पन्न हुआ है, विराट् अग्नि स्वरूप है। यह गुप्तरूपसे सबमें व्यापक है, दो लकड़ियोंको मन्थन करनेसे प्रकट हो जाता है। जैसे गर्भिणी स्त्री पथ्य भोजन करके गर्भकी रक्षा करती है इसी प्रकार निद्रासे रहित योगी विराट्रूप अग्निका ध्यान किया करते हैं और यज्ञ करनेवाले मनुष्य घृत आदि हवनकी सामग्रीसे उसको धारण करते हैं। हे नचिकेता! यह विराट् भी वही ब्रह्म-स्वरूप आत्मदेव है, जिसको तूने पूछा है।

जो चैतन्यदेव हिरण्यगर्भ और विराट् भगवान्‌के शरीरोंमें है, वही तेरे मेरे और सब जीवोंके शरीरमें है, वही बुद्धिकी सब वृत्तियोंका साक्षी है। सूर्य आदि तेज उसीसे उत्पन्न होते हैं और उसीमें लय होजाते हैं। सब देवता उसीमें स्थित हैं उसका कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता, यह वही आत्मदेव है, जिसको तूने पूछा है!

जैसे अखण्ड आकाशमें किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं है वैसे ही अखण्ड चैतन्य देवमें भी किसी प्रकारका भेद नहीं है। जैसे आकाशमें घट मठ आदि उपाधियोंका भेद है ऐसे ही अव्याकृत सूक्ष्म, स्थूल आदि उपाधियोंसे चैतन्यमें भेद दिखायी देता है। इस जड़ जगत्‌के कारण चैतन्यमें भेद भासता है और यह भेद भी अज्ञानीकी दृष्टिमें है, विद्वान्‌की दृष्टिमें वस्तुतः भेद नहीं है। विवेकी और आत्मदर्शी पुरुषोंको आत्मामें किसी प्रकारका भेद दिखायी नहीं देता। जिनको आत्मामें भेद प्रतीत होता है वे बारम्बार मरते और जन्मते रहते हैं। जो चैतन्य जीवकी उपाधिमें सब वृत्तियोंका साक्षी है, वही ईश्वरकी उपाधिमें है और जो ईश्वरकी उपाधिमें है, वही जीवकी उपाधि है। जो पापी पुरुष आत्मामें भेद देखता है, वह मरण-भावको प्राप्त होता है इसलिये मुमुक्षु आत्माको भेदरहित अखण्ड परमानन्दघन स्वरूप जाने। भेद केवल उपाधियोंमें है, उपाधियां आत्मामें किसी प्रकारका भेद नहीं कर सकतीं। जो जगत् दिखायी देता है, वह उपाधिवाले ईश्वर-

रूप द्रष्टाकी परम्परा दृष्टि ही है। ब्रह्मके सिवा सब पदार्थ नरशृंगके समान असत्य हैं। असत्य पदार्थसे सत्य आत्मामें भेद नहीं हो सकता और है भी नहीं !

हे नचिकेता ! अद्वितीय परमात्मदेव जीव-रूपसे मनुष्योंके हृदयमें रहता है। हृदयदेशमें स्थित अंगुष्ठमात्र परिमाणवाले आत्माको जो जान लेते हैं, उनको इस जगत्‌में और कुछ जानना बाकी नहीं रहता। हृदयमें रहा हुआ अंगुष्ठ जैसा परमात्मा ईशान कहलाता है और वह स्वयंज्योतिरूप है। भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान कालमें वह ज्योंका त्यों एकसा ही रहता है। वह तीनों कालोंका नियामक है। यह वही आत्मदेव है, जिसको तूने पूछा है। अस्ति, भाति और प्रिय इत्यादि रूपसे आत्माका भेद नहीं होता।

जैसे पर्वतके शिखरसे पड़ा हुआ जल नीचे भूमिमें पड़ता है ऐसे ही भेदभाववाला जीवात्मा अनेक प्रकारकी नीच ऊंच योनियोंमें जन्मता रहता है।

जैसे शुद्ध जल, रंगवाली भूमियोंमें बहता हुआ अनेक रंगका हो जाता है ऐसे ही उपाधियों-के सम्बन्धसे आत्मा अनेक प्रकारका प्रतीत होता है। जैसे शुद्ध जल स्वच्छ जलमें मिलनेसे शुद्ध प्रतीत होने लगता है, वैसे ही आत्मा भी शुद्ध विचारोंमें पड़नेसे पवित्र अखण्ड आनन्द-स्वरूप हो जाता है। अन्तःकरणके सम्बन्धसे आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म दीखते हैं नहीं तो आत्मा सर्वदा निर्विकार है। (इति चौथी वल्ली) (क्रमशः)

(शेष पृष्ठ सं० ४९५ पर)

कब ?

खिले सुमन सो गये बनोंके,
चली गई ऊषा किस ओर ?
अकस्मात हो गया आह, धूमिल—
मेरे जीवनका छोर ॥

स्वप्न-स्मृति-बन्धनमें जकड़े,
सिसक रहे मेरे उद्‌गार।
ज्योति अयुत-किरणोंकी पथमें
आ जाने दो खोलो द्वार ॥

दौड़े जाते पथिक तुम्हारी
वीणाका सुनकर आह्वान।
किस प्रकार पथ उन्हें दिखाई
पड़ता है, तममें अनजान ?

तमके इस विशाल गह्वरमें ही
तुम यदि हो मेरे प्राण।
पश्चिमके अस्ताचल-सीमासे,
क्यों उठता है आह्वान ?

ले लो देव, अश्रु-बूंदोंको
होंगे ये गिर चकनाचूर।
मैं ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता हूं,
ध्वनि होती जाती है दूर ॥

यह मेरा उच्छ्वास-काल कब
बीतेगा हूंगा स्वाधीन ?
पाऊँगा पथ अपना, देखूँगा,
प्रकाशकी रेख नवीन ॥

—श्रीजगन्नाथ मिश्र गौड़ 'कमल'

झूलन-पूर्णिमा

(लेखक—श्रीभूपेन्द्रनाथ संन्याल)

इस वर्ष झूलन-पूर्णिमाका उत्सव समाप्त हो चुका। वृष्टिके अजस्र वारि-वर्षणमें नव-नीरद श्यामसुन्दरकी यह हिंडोल-क्रिया मुग्ध जीवको मानो एक अज्ञात-देशका समाचार सुना रही है। मेघाच्छन्न आकाश, निविड़ श्याम अरण्य, घन-पत्राच्छादित सुनील वनस्पतिकी श्यामल शाखा और श्याम-पत्रसमूहोंके अन्दर भी आज उसी चिरनवीन श्यामसुन्दरका झूलन-उत्सव हो रहा है। चन्द्रदेव भी मानो आज उस नव-नीरद श्याम-शोभासे मुग्ध होकर झूलन-उत्सवका अभिनय कर रहे हैं। वे कभी मेघोंके परदेमें अदृश्य हो जाते हैं, थोड़ी ही देर बाद झलमल करते हुए हंसीकी ज्योत्स्नाको फैलाकर उसी समय फिर एक दूसरे अदृश्य गर्भमें छिप जाते हैं। ताल तालपर पदक्षेपकी भांति शब्दायमान वारिपतनके गम्भीर घोषके साथ आज भुवन-व्यापिनी श्यामायमान घनघोर घटाका कैसा प्रचण्ड नृत्य हो रहा है। समस्त आकाश कैसा घन-मेघाच्छन्न है, कहीं एक भी नक्षत्रके दर्शन नहीं होते! क्या हमारा चित्ताकाश भी आज इसी तरह भगवत्-प्रेमरूपी मेघसे आच्छन्न होगा जब कि किसी भी तरहके दूसरे क्षीण प्रकाश या विषयज्ञानकी क्षीण ज्योति इस आत्ममग्न संवित्को चमकित नहीं कर सकेगी! क्या ऐसा होगा?

श्यामसुन्दरके इस झूलन-उत्सवको देख देखकर यह विचार होता है कि इस जनहीन अरण्यमें श्यामसुन्दरका यह झूलन-उत्सव किस लिये हो रहा है? सारी सखियां उन्हें झुला रही हैं और उनका मुखारविन्द आनन्द-ज्योतिसे भरा जाता है—उसीकी ओर ताक ताककर मानो वे कृष्ण-प्रिया गोपाङ्गनाएं आनन्द-मुग्ध होकर जगत्को भूली जा रही हैं। उनको बाह्य चैतन्य नहीं रहा, संसारकी किसी बातका भी स्मरण नहीं है, शिशु जैसे पूर्णचन्द्रकी स्निग्ध किरणमाला देखकर पुलकित हो उठता है और एकदृष्टिसे उसीकी ओर देखा करता है। इसी तरह आज कृष्णप्रभुकी चमकती हुई मुखप्रभासे हतज्ञान हुई गोपबालाएं अन्य किसी ओर भी ध्यान नहीं दे सकतीं! वे मन ही मन कह रही हैं— 'इन चरण-कमलोंमें इस तरहसे तुमने खैंच लिया है प्रभो! कि अब किसी भी दूसरी ओर ताकनेकी इच्छा नहीं होती! अब न तो हम और कुछ देखना सुनना चाहती हैं और न देख सुन पाती ही हैं—तुम्हारे इस प्रभात-कमलकी अम्लान सुषमासे पूर्ण मुखकमलने जगत्की सारी बातें भुला दी हैं। 'इतररागविस्मारणं, सुरतवर्द्धनं शोकनाशनम्' यह तुम्हारी आकर्षणी शक्ति इतनी प्रबल है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता, हम तो केवल यही समझ सकी हैं कि तुम्हारा कथामृत ही इस संतप्त-जीवके लिये एकमात्र अमृतस्वरूप है। उसी भवकल्मषापहारी तुम्हारे वचनामृतने आज हमारे मनको सब पदार्थोंसे जबर्दस्ती निकालकर तुम्हारे चरणकमलोंमें लगा दिया है। इसीसे

अब इन चरणोंको छोड़कर कहीं भी जानेकी हमारी शक्ति नहीं रही !

ओ सुन्दर ! ओ मनोहर ! तुम कितने सुन्दर हो, किस तरहसे मन खैंच लेते हो ? ओ ! तुम इतने अनूपरूप हो कि तुम्हारे सामने नजर कर लेनेपर फिर कभी पलक ही नहीं पड़ती ! इसीसे आज हम अपने आपको सम्हालकर नहीं रख सकतीं। विकसित कमल-गन्धसे मुग्ध मधुकरकी भांति आज हमारी सभी इन्द्रियां अपने अपने विषयोंको छोड़कर उन्मत्तवत् तुम्हारी ओर दौड़ रही हैं। क्या आकर्षण है ? कैसी टान है ? संसारके सैकड़ों बन्धन पटापट टूटे जा रहे हैं। क्या यही तुम्हारे प्रेमकी टान है ? क्या यही तुम्हारे नयनबाण हैं ? क्या यही तुम्हारी मुरलीकी तान है अथवा क्या यही तुम्हारा आकर्षक 'कृष्ण' नाम है ? जो इसे सुनता है, वही इस प्रचण्ड प्रवाहमें बहनेके लिये कूद पड़ता है। तुम उसे एकदम अपने असीम नील जलधिरूप रूपराशिके समुद्रमें लाकर सदाके लिये डुबो देते हो ! सब कुछ भुला देते हो, उसके जगत्को केवल कृष्णमय या ब्रह्ममय बनाकर छोड़ते हो !

कब तुम्हारा वह गान सुननेको मिलेगा नाथ ? कब उस मुरलीकी मधुर तानसे मुग्ध व्रजबालाओंकी तरह व्याकुल होकर मैं वन वनमें मन ही मन तुम्हारी गुण-गाथा गाता भटकूंगा ? कब अन्य किसी भी वस्तुकी स्मृति नहीं रहेगी ? कब तुम्हारे चिन्तनमें मत्त होकर समस्त चिन्ताओंसे छुटकारा पाऊंगा ? कब तुम्हारे बनाये हुए इन सुन्दर धरणी-वक्षविहारी तरुगुल्मलताओंसे भी व्याकुल होकर तुम्हारी ही गाथा पूछूंगा ? इसीसे तो परमज्ञानी उद्धव गोपियोंके प्रिय विरहके मर्मभेदी दारुण-क्रन्दनसे चकित होकर कह उठे थेः—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां,
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा,
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥

(भा० १० । ४७ । ६१-६३)

'इन गोपियोंको धन्य है जिन्होंने दुस्त्यज स्वजन और लौकिक धर्मका त्यागकर श्रुतियोंको भी जिसका मिलना कठिन है उस मुकुन्दपद-पदवीको प्राप्त कर लिया है। प्रभुसे मेरी प्रार्थना है कि अगले जन्ममें इन गोपियोंके चरणोंकी रज जिनपर पड़ती है, उन वृन्दावनको लता ओषधि और झाड़ियोंमेंसे मैं कोई न कोई अवश्य होऊं। जिन गोपियोंका हरि-गुण-गान त्रिभुवन-को पवित्र करता है उन सब नन्दके व्रजकी स्त्रियोंके चरणरजको मैं बारम्बार प्रणाम करता हूं।'

प्रियके प्रति ऐसा अनुराग तो जीवमात्रमें ही हैं—परन्तु वह 'इतर राग' है 'कृष्णानुराग' नहीं। इसीसे हमारी समस्त चेष्टाएं, सारे प्रयत्न व्यर्थ हुए चले जा रहे हैं पर हमें प्रियतमकी प्राप्ति नहीं होती ! इस जगत्में सभी प्रियके अन्वेषणमें लगे हैं—सभी आनन्दके भिखारी हैं। चन्द्रकिरणोंके छिटक जानेपर जैसे जगत्की प्रत्येक वस्तु अपूर्व शोभासे भर जाती है, इसी प्रकार आनन्द-घन आत्म-चैतन्यके प्रतिबिम्बसे आज जगत्का सब कुछ मानो हंस रहा है, इसीसे मधुलोभ-मुग्धा पिपीलिकाओंकी भांति आज समस्त नर-नारी उस पूर्णचन्द्र सदृश पूर्णानन्दमय परमात्मा-का स्पर्श करना चाहते हैं, पर कर नहीं पाते। केवल उनकी किरणरेखाओंसे प्रकाशित विषयोंकी ओर ही उन्मत्तकी तरह दौड़ रहे हैं। सोचते हैं इनसे ही हमारे प्राणोंकी पिपासा मिट जायगी ! हाय रे मुग्ध जीव ! हाय रे पथभ्रान्त पथिक ! क्या कायाको छोड़कर छायाकी ओर दौड़नेसे कभी सुखस्पर्श-का आनन्द मिल सकता है ? जो परमदेव अखिल

विश्वमें व्याप्त हो रहे हैं, समस्त देहोंमें जो अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हैं, वही सच्चिदानन्दमय आत्मा हैं। वही सब जीवोंके अत्यन्त चित्ताकर्षक हैं, वही सबके अत्यन्त प्रिय हैं, इसीसे उनका नाम है 'श्रीकृष्ण'!

'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्'।

इस आत्माका स्वरूप ही 'सच्चिदानन्द' है 'ब्रह्मानन्दरूपममृतम्' इस आनन्दको जान लेनेपर फिर किसीका भी भय नहीं रह जाता—'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचन'।

सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः,
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीराः,
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥

यह आनन्द ही ब्रह्म है और हम सब इस आनन्दको ही चाहते हैं। केवल विचार-दोषसे विपर्यय बुद्धि हो जानेके कारण हमें निरानन्दमें आनन्दका भ्रम हो गया है। विषयोंमें आनन्दका स्पर्श देखकर हम प्राणोंकी बाजी लगाकर उन्हींकी ओर दौड़ते हैं और विषय-विषास्वादनसे संतप्त होकर पुनः पुनः इस जन्ममृत्युका दुःखान्त नाटक खेलते फिरते हैं।

जब विषयोंमें आनन्द नहीं है तो फिर वह आनन्द है कहां? वह चितचोर श्यामसुन्दर कहां मिलता है? कहां जानेसे, किसमें मन लगानेसे प्राणोंकी यह महत्त्वाकांक्षा पूरी होती है? हम सभी उस त्रिभुवनमोहन समस्त प्राणियोंके परम प्रियतम, परम सुन्दर आनन्दघन श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-भिखारी हैं। इसीसे विषयानन्दमें निरानन्द प्रकट होता है और उससे जीवकी तृप्ति नहीं होती। कोई भी विषयसुख जीवको सदाके लिये मुग्ध करके नहीं रख सकता। इसीसे समस्त जगत् क्रन्दन और हाहाकारकी ध्वनिसे भर रहा है। सभीके प्राण व्याकुलतासे रो रोकर यही चिल्ला रहे हैं—

'कहां है वह सुन्दर? वह जगजनमनोहर, वह आनन्दरस-सिन्धु, हमारा जीवन-सर्वस्व रसराज परमात्मा! प्यारे' कहां हो तुम?

सबमें आनन्द बिखेरकर, सभी वस्तुओंको श्याम शोभासे पूर्णकर, सारे जगत्को शोभन-सुषमासे भरकर, कौन हो तुम, जो इस आनन्दोत्सवमें मग्न हो रहे हो? परन्तु तुम हो कहां? समस्त शोभाओंमें, सारे सौन्दर्यमें अपनेको बिखेरकर भी तुम कैसे छिपकर बैठे हो? छिपे छिपे कितने कौतुक कर रहे हो? क्या यही तुम्हारा 'यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः' है? क्या यही तुम्हारी रमणेच्छा है? इसीलिये तो आज यह विश्वभुवन नाच उठा है। सूर्य-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र, नदी-समुद्र, वृक्ष-लता, मानव-मानवी और जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, संयोग-वियोग आदि सभी पदार्थ आज क्या ही सुन्दरतासे तालके इशारेपर नाच रहे हैं। वेदने कहा है—'रसो वै सः' परमात्मा आनन्दस्वरूप है। प्रेमकी भाषामें वह 'रसराज रसिकशेखर' है। उस आनन्दके लिये ही जब जीव व्याकुल है, तब उसकी वह आनन्दकी बलवती स्पृहा ही क्या परमात्माके स्वरूपानुसन्धानको प्रस्फुटित नहीं कर रही है? हो चाहे वह स्पृहा विषयोंमें सनी हुई, परन्तु जिस आनन्दके अन्वेषणमें इस जीव-निर्झरणीने उत्तुङ्ग शैलमालाका वक्ष विदीर्णकर उस महासिन्धुका सन्धान पानेके लिये जीवनयात्रा आरम्भ की है, वह आज नहीं कल, इस जन्ममें नहीं किसी आगामी जन्ममें उस परमानन्दधाम रससिन्धुको प्राप्त किये बिना कभी रुक नहीं सकती! उसकी चेष्टाएं, उसका अभिसार उद्यम भले ही बारम्बार निष्फल होता रहे, परन्तु एक दिन ऐसा अवश्य ही आवेगा, जिस दिन वह अपने जीवनके इस चरम लक्ष्यकी सन्निधिमें पहुंचकर अपनी जीवन-यात्रा पूरी करेगी। इससे पहले जीव भूमानुसन्धानसे कभी निवृत्त नहीं हो सकता। यद्यपि यह सम्भव है कि इन्द्रियोंकी भ्रान्त धारणा और

जीवको अविवेकताके कारण कई बार पैर फिसले, कई बार धोका हो, गिरना उठना पड़े, तथापि उस सत्य-स्वरूपको, उस हृदयैक-बन्धुको, उस मनवाञ्छित प्रेमीको ढूंढ़े बिना इन्द्रियोंकी यह आनन्दस्पृहा कभी मिट नहीं सकती। इन्द्रियां अभी जिन पदार्थोंका रसास्वादन कर रही हैं, उनमें उस असली रसका स्वाद न मिलेगा तबतक किसी भी समय उनकी सुखस्पृहाका नशा नहीं उतर सकता। अतएव उस प्रियतमको खोजनेकी अदमनीय चेष्टा कभी रुक ही नहीं सकती। उस आनन्दके मिलने पर ही, उस पूर्णको पहचानने पर ही हम अभय हो सकेंगे!

हमारे प्राणोंकी इतनी आर्ति, इतनी पिपासा, इतनी व्याकुलता, अन्य कुछ भी नहीं है वह केवल उस परमानन्द-रससिन्धुकी मिलना-कांक्षाको ही प्रकट कर रही है!

यह आनन्द ही हमारा आश्रय है यह आनन्द ही हमारा जीवन है, यह आनन्द ही हमारी जीवन-व्यापिनी क्षुधाके लिये श्रेष्ठ भोजन है। श्रुति कहती है—"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। एषास्य परमागतिरेषास्य परम सम्पद्, एषोऽस्य परमो लोकः एषोऽस्य परमानन्दः।"

इस आनन्दभोगके लिये ही संसारकी रचना हुई है। इसी आनन्दके हिलोरोंसे संसार नाच रहा है। जहां प्रियजनोंसे मिलन या एकता होती है वहां तो आनन्द प्रत्यक्ष ही है, परन्तु प्रियजनोंके विच्छेदमें हमलोग जो रोते हैं, वह भी एक प्रकारके आनन्दका ही सुर है। वहां भी हम एक रस भोगते हैं। अवश्य ही वह सुर सुननेवालोंको विहाग-रागिनीसे ही मुग्ध करता है। इस आनन्दरसको भोगनेके लिये ही पिता-माता पुत्रस्नेहसे व्याकुल हैं, बन्धु प्रियबन्धुके लिये इतना आग्रहशील है पति पत्नीके लिये, पत्नी पतिके लिये, भाई बहिनके लिये, बहिन भाईके लिये, गुरु शिष्यके लिये, शिष्य गुरुके लिये, नौकर मालिकके लिये और मालिक नौकरके लिये इतने व्याकुल हैं! सभी इस प्रेमपूर्ण मधुर सम्बन्धसे ही उस रसरूप परमानन्दका भोग कर रहे हैं "एषोऽस्य परमानन्द एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रां उपजीवन्ति" इस परमानन्द-रसाम्बुधिके एक कणको पाकर ही आज समस्त जगत् तृप्तिका अनुभव कर रहा है। यह आनन्द ही विश्वचराचरके समस्त भूत-समुदायका एकमात्र उपजीव्य है। यह आनन्द न होता तो यह जगत् एक पलभरके लिये भी जीवित नहीं रह सकता!

अथात्र विषयानन्दो ब्रह्मानन्दांशरूपभाक्।
निरूप्यते द्वारभूतस्तदंशत्वं श्रुतिर्जगौ॥

विषयानन्द भी इस ब्रह्मानन्दका ही अंश और द्वारस्वरूप है। अर्थात् इस विषयसुखका आकर्षण देखकर ही मनुष्य ब्रह्मानन्दकी ओर शीघ्रतासे आगे बढ़ता है। ब्रह्मानन्द और विषयानन्दमें भेद यही है कि वह परमानन्द ब्रह्मानन्द अखण्ड और एकरसमय है पर यह विषयानन्द खण्डित और बहुभावमय है। इतना होनेपर भी विषयानन्द है आनन्द ही, इसलिये वह ब्रह्मानन्दसे सर्वथा पृथक् तो नहीं है। परन्तु जैसे गंगाजल और मैला बहानेवाले नालेका जल, जलरूपमें दोनों एकरूप और सर्वथा अभिन्न होनेपर भी जैसे आधार भेदसे बड़ा भेद रखते हैं। इसी प्रकार विषयोंका स्पर्श होनेके कारण हमें इस आनन्दमें महान् भेदका अनुभव होता है। कहा है—

विषयसुखमपि स्वरूपसुखान्नातिरिच्यते, विषय-प्राप्तौ सत्याम् अन्तर्मुखे मनसि स्वरूपसुखस्यैव प्रति-बिम्बतां स्वाभिमुखे दर्पणे मुखप्रतिबिम्बवत्।

विषयसुख उस स्वरूपसुखसे भिन्न नहीं है। विषयभोगके समय भी चित्त अन्तर्मुखी होता है और उस अन्तर्मुखी चित्तमें ही सुखका यानी आत्मस्वरूपका प्रतिबिम्ब पड़ता है। जैसे सामने रक्खे हुए दर्पणमें अपने मुखका प्रतिबिम्ब दीखा करता है!

इससे यह बात समझमें तो आ गयी होगी कि विषयोंमें सुखकी प्रतीति क्यों होती है? परन्तु इस विषयपर कुछ और स्पष्ट आलोचना की जाती है। सारा जगत् सुखकी इच्छा करता है परन्तु उस सुखका स्वरूप क्या है? उस सुखभोगकी अवस्था कैसी है और उस सुखभोगके समय हमारी इन्द्रियोंकी वृत्तियां किस अवस्थामें रहती हैं, इस बातको समझ लेनेसे ही सुखके स्वरूपका निर्णय हो जायगा! हमारे सामने जब कोई विषय आता है तब इन्द्रिय और तन्मात्रा (चिन्तन स्मरण) द्वारा लिप्त होकर अन्तःकरण सुख भोग करता है। यदि अन्तःकरण लिप्त न हो तो बाह्येन्द्रिय और कर्मेन्द्रियके चाहे जितने लिप्त रहनेपर भी इसकी प्रतीति बिलकुल नहीं होती। इस रसकी प्रतीतिका कारण क्या है? यह देखा जाता है कि जगत्में जो मनुष्य जिस वस्तुकी या व्यक्तिकी अत्यन्त आकांक्षा करता है, वह उसीके चिन्तनमें एकाग्र हो जाता है। एकाग्र इसलिये होता है कि उस समय समस्त इन्द्रियोंकी अलग अलग वृत्तियां एक जगह सिमटकर जम जाती हैं। चिन्तन चाहे धनका हो, स्त्रीका हो, वैभवका हो या भगवान्का हो, परन्तु इन्द्रियोंके भिन्न भिन्न वेग एक ही वेगमें जब मिल जाते हैं तभी सुखकी प्रतीति होती है। नाना प्रकारकी चिन्ताओंके लगे रहनेसे किसी एक विषयपर चित्त नहीं जमता इसीलिये जगत्में आनन्दके बदले इतना निरानन्द देखनेमें आता है। योगीके योगाभ्यास, ज्ञानीके तत्त्व-विचार और भक्तकी भजन-क्रियासे यह चित्त एकमुखी होता है। चित्तके एकमुखी होनेकी जो पराकाष्ठा है उसीको भाव या समाधि कहते हैं। इस भाव या समाधिसे जो कुछ मिलता है, वही ज्ञानीका अद्वय ज्ञानतत्त्व, योगीका आत्म-साक्षात्कार और भक्तका भगवच्चरण-चुम्बन है। क्रमशः

(शेषपृष्ठ प्र० 592 पर है)

माधव!

(लेखक—पं० रामसेवकजी त्रिपाठी, मैनेजिंग-एडीटर माधुरी)

माधव, विश्वके आधार।

अखिल जगके अलख स्वामी, अमित पारावार। माधव०
इधर भक्तोंकी तपस्या, उधर अत्याचार;
इसलिये, अवतार लेना था तुम्हें स्वीकार। माधव०
विषम-विषमय थी समस्या विश्वकी उसबार;
साम्य-सुरसरिको बहाकर, दिया सबको तार। माधव०
सृष्टिके सौन्दर्य्य, प्रतिमा प्रेमकी साकार;
संतरक्षक, दुष्टभक्षक, पतित-तारन-हार। माधव०
मुकुट-मुरलीधर कन्हैया, मोहनी निज डार;
नन्दबाबाके अजिरमें करत-फिरत विहार। माधव०
धन्य वे नर हैं रहे जो दास तब अविकार।
भजत उनके चरण सेवक, नमत बारम्बार। माधव०

भक्त-भारती

(लेखक—पं० तुलसीरामजी शर्मा 'दिनेश')

अजामिल-उद्धार

दोहा

सुनो अजामिलकी कथा, राजन्[1] ! देकर ध्यान ।
नाम-नाव आरूढ हो, भव-नद तरा महान ॥

राजन् ! ऐसा कौन रोग है जिसका हो उपचार नहीं,
करने पर उद्योग, विघ्नके मिटते लगती बार नहीं ।
है पुरुषार्थ रूपमें हरि ही, इनको त्यागे भद्र कहां ?
तटका कर्कट क्यों छोड़ेगा, देगा झाल समुद्र जहां ॥

तन मन और वचनसे जो कुछ पातक होते रहते हैं,
प्रायश्चित्त बिना वे प्रतिपल रह रह अन्तः दहते हैं ।
पातक-दाग मिटानेको ही हरि-पद-सरसिज साबुन हैं,
श्रीहरिके उस दया-भवनमें होते अवगुन भी गुन हैं ॥

बड़ा मनुज ही जाने पावे ऐसा वह दरबार नहीं,
सबकी गति है अटल वहांपर निर्दय पहरेदार नहीं ।
हरि-चरणोंमें जानेका जो नर करता पुरुषार्थ नहीं,
मनुज देहके पानेका वह समझा अर्थ यथार्थ नहीं ॥

जिसने हरिको भुला दिया है अन्य याद रखनेसे क्या ?
जिसने पीया सुधा नहीं है अन्य स्वाद चखनेसे क्या ?
हरिके नाम-विटपकी छायाको जिसको आधार नहीं,
त्रैतापोंकी प्रखर धूपका कर सकता प्रतिकार नहीं ॥

दोहा

हरि-चरणोंमें मन लगा, रक्खे अति उत्साह ।
सहज कर्म करता रहे, पावे भव-नद थाह ॥
सहज कर्म शुभ पथ्य युत, तज कुपथ्य दुर्भोग ।
बिन ओषधि भी जीवके नशते यों सब रोग ॥

महा अधमसे अधम पुरुष भी महापुरुष पद पाता है,
हो करके निष्कपट, विकल जो हरिके सम्मुख जाता है ।
हरिका आश्रय जिसे न नाशे ऐसा कोई पाप नहीं,
सुतको रोता देख न पिघले ऐसा कोई बाप नहीं ॥

हरिसे रहना विमुख सर्वदा सबसे बढ़कर पाप यही,
हरिके सम्मुख हो जानेपर रहते पाप-कलाप नहीं ।
कल्प कल्पके पापोंके फल एक पलकमें भुगतावे,
ऐसा है वह महा दयामय, क्यासे क्या कर दिखलावे ॥

उसका नाम दयानिधि है जब क्यों न दया वह लावेगा ?
पातक-भीत शरण-आयेको कहो न क्यों अपनावेगा ?
राजन् ! उसकी कृपा-वारिसे जीव-विटप फल फूल रहे,
भूल यही है, निजको फूला देख उसे हैं भूल रहे ॥

होते सब अनुकूल उसीपर जिसपर हरि अनुकूल रहें,
बाल न बाँका हो सकता है, अखिल विश्व प्रतिकूल रहें ।
जिसने हरिको हृदय दे दिया, यमके भयसे विगत हुआ,
मुक्त हुआ वह अनायास ही, सुपना सा यह जगत् हुआ ॥

दोहा

कान्यकुब्ज वर देशमें, विप्र अजामिल एक ।
लिखा-पढ़ा सद्गुण-सदन, धर्माधर्म विवेक ॥
जप, तप, व्रत, परहित-निरत, पातक-विरत सुजान ।
जनक, जननि, जगदीशका, सात्विक भक्त महान ॥

एक दिवस वह कुसुम कुशादिक लेकर वनसे आता था,
सत्त्वगुणी वह शान्त सुधीवर आता हरि- गुण गाता था ।
देखा मगमें एक अचानक दृश्य काम-उद्दीपनका,
मानो पर्दा पलट गया है आज उसीके जीवनका ॥

देखा एक युवतिके सँगमें युवक विषय-क्रीडा करता,
मद पीकर उन्मत्त हुआ वह तनिक नहीं व्रीडा करता ।
वह मद-छाकी युवति कामके वशमें तन सुधि भूल रही,
तन-पट खिसका, अर्द्ध मुँदे दृग मदन-नशेमें झूल रही ॥

वह वेश्या अति रूपवती थी ब्राह्मणका मन खींच लिया,
रोका बहुत चित्तको उसने, पर मन्मथने विवश किया ।
गया सतोगुण उसका ऐसे वायु-विताड़ित मेघ यथा,
मानो जकड़ा उसे किसीने खड़ा सह रहा मदन-व्यथा ॥

---

१ महाराजा परीक्षितके प्रति

जैसे अति स्वादिष्ट दुग्धको फाड़ दिया करता अमचूर,
जैसे धर्म कर्मको पलमें विनशा देता लोभी क्रूर।
जैसे भरी सभामें खल जन विघ्नरूप होजाता है,
पकी पकाई खेतीको ज्यों पलमें उपल नशाता है॥

दोहा

हुआ विप्रके चित्त यों, कामोद्दीपन-दृश्य।
धर्म कर्म सब भूलकर, हुआ कामिनी वश्य॥
अब तो उसके मिलनकी, लगी लालसा खूब।
द्विज-मन-मीन रहा अहा! रूप-सरोवर डूब॥

धर्म-पत्निसे अब तो द्विजका मन बिलकुल ही दूर हुआ,
एक क्षण उस नयी प्रियाकी, फिरै नशेमें चूर हुआ।
द्विजका चित्त-पतङ्ग कामिनी छबि-डोरीसे उड़ा रही,
सैनोंकी सै दे देकर वह लज्जा-बन्धन तुड़ा रही।

तन, मन, धन सब उसके अर्पण किया कामके पागलने,
वेश्या-दीप-शिखामें प्रस्तुत हुआ शलभ सम वह जलने।
करके वेश्या-संग पङ्कसी अपनी आप जला डाली,
धर्म-पत्नि नव त्याग मराली, अपना ली नागिन काली॥

भूल गया निज कर्म धर्म सब पर्दा ऐसा कड़ा पड़ा,
जगत न दीखा जबसे तियका रूपाञ्जन घल गया कड़ा।
छुटे सहज षट-कर्म हाय! अब खुट कर्मोंमें लीन हुआ,
अन्तःकरण मलीन हो गया दासीके आधीन हुआ॥

ज्यों ज्यों मन विषयोंमें विरमा त्यों त्यों धनकी चाह बढ़ी,
पातक-पङ्कज ऊपर आया ज्यों ज्यों मन-सर झाल चढ़ी।
द्यूतादिक दुरुपाय-रज्जुसे दैव-कूपसे धन-जलको—
काढ़ पिया चाहे वह पागल, कौन सुझाये इस खलको॥

दोहा

गणिका-तन-शीशी सुघर, कर रति-मदिरा पान।
पाप-नशा चढ़ कर हुआ, द्विज उन्मत्त महान॥

विषय विलासोंमें यों बीता अनजाने वय-भाग बड़ा,
शक्ति क्षीण होगयी, अनेकों रोगोंका दुर्जाल पड़ा।
रोग-जालमें काल-व्याधने द्विज-मृग फाँदा पुष्ट बड़ा,
भरता है दिन रात 'आह' अब खटिया ही पर पड़ा पड़ा॥

राम नाम अब जपता कैसे जब पहले था काम जपा,
अब खटियामें ताप तप रहा, पहले सात्विक तप न तपा।
यदपि पुत्र हैं दश अति दृढ़ तन पर पीड़ा न बँटा सकते,
दश दर्वाजे घिरे मृत्युसे उसको वे न हटा सकते॥

तन-वन, असु-मृग, काल-व्याधने रोग-जालमें फान्द लिये,
ऐसी स्थितिमें कौन सहायक बिन हरिको आवाज दिये।
था जिसके हित सर्वस त्यागा पास खड़ी वह रोती है,
हँस हँस तन, मन धन ग्रसिनी वह कुछ न सहायक होती है॥

अब द्विजके दुष्कर्म-कुफल सब मूर्तिमान आ खड़े हुए,
दे देकर अति दुःख भयङ्कर असु हरनेको अड़े हुए।
यम किङ्कर दृढ़ पाश दंडधर अरुण नेत्र विकराल महा,
देखे खटिया पास खड़े जब अजामेल बेहाल महा॥

दोहा

यमदूतोंने शीघ्र जब, डाला गलमें पाश।
सुसंस्कार वश होगया, उर हरि-नाम प्रकाश॥

'हे नारायण! हे नारायण!!' द्विज बोला यों विकल हुआ,
छोटा सुत जो नारायण था उसने आ झट शीश छुआ।
उधर स्वामिका नाम श्रवणकर पार्षद आकर खड़े हुए,
सुन्दर वेष सुघड़ तन जिनके हैं रत्नोंसे जड़े हुए॥

सिर पर श्रेष्ठ किरीट जगमगें करमें कङ्कण पड़े हुए,
पीत वसन मन-हरन सर्वथा, छबिके हाथों गढ़े हुए।
यमदूतोंसे बोले 'इसको छोड़ो अपने घर जाओ,
सभी भाँति है पावन यह तो, इसे न अब भय दिखलाओ॥

विस्मित हो यम-किङ्कर बोले—'कौन' कहांसे आये हो?
क्या करनेको, हमें बताओ, जो तुम आये धाये हो।
क्यों हमको तुम रोक रहे हो, हम जग-शासकके किङ्कर,
है यह पापी-पुरुष इसे हम ले जावेंगे अब सत्वर॥

यम-नगरीमें इसे यातना हम दिलवायेंगे भारी,
है यह अत्याचारी, इसकी बातें लिखी पड़ी सारी।
सुन्दर पुरुषों! धर्म-कार्यमें क्यों तुम बाधा करते हो?
ऐसे अधम जनोंमें क्यों तुम नाहक साहस भरते हो?

दोहा

इसे न अब पापी कहो, हे यम-किङ्कर वृन्द!
इसका मन हरिमें लगा, करो इसे स्वच्छन्द॥
जो तुम सेवक धर्मके, कहो धर्मका तत्व।
लक्षण कहो अधर्मके, पालो निज दूतत्व॥
पड़ा अजामिल भूमिपर, नारायण सुत पास।
नारायण—पार्षद खड़े, गल यम-किङ्कर-पाश॥

'हे पार्षदगण ! धर्म वही है जिसे वेदने गाया है,
है अधर्म वह जिसे वेदने त्याज्य कर्म बतलाया है।
वेद कहो या ईश्वर इसमें किंचित् भी तो भेद नहीं,
नृपकी आत्मा राज्य-नियममें जैसे रहता सही सही॥
जगत्-पिता सम्राट् श्रेष्ठ है, वेद-नियम है, जीव-प्रजा,
जो नियमोंको तोड़ेगा, वह पावेगा कैसे न सजा?
रविशशि अनल पवन नभ संध्या दिवस निशा जल धर्म दिशा।
यही जीव-कृत कर्मोंके हैं साक्षी, समझो नहीं मृषा,
तनु-धारीको कर्म किये बिन एक विपल भी नहीं सरे,
कर्म शुभाशुभ दोनों होते, कौन पुरुष जो नहीं करे?
कर्म-बीज पड़ जानेपर जो नहीं उगे यह बात नहीं,
कर्मोंके फल चखने होंगे नहीं चखे, यह हाथ नहीं॥
दुष्कर्मोंके फल देनेको है प्रस्तुत यमराज सदा,
किसी जीवका कर्म एक भी उनसे छानी नहीं बदा।
अज्ञ जीव इस व्यक्त देह बिन पूर्वापर क्या जान सके?
निद्रित प्राणी स्वप्न देहसे जागृत-तन क्या मान सके?

दोहा

पर्दा पड़ता मृत्युका, नश जाता सब ज्ञान।
अपने पिछले जन्मसे, हो जाता अज्ञान॥

सत, रज, तमकी सृष्टि जीवको हर्ष शोक देनेवाली,
सत्व-शक्ति है सहज जीवको ऊर्ध्व-लोक देनेवाली।
कामादिक छः प्रबल शत्रुओंसे यह जीव घिरा बेवश,
उनके द्वारा कर्म-जालमें फंसू जाता है यह हँस हँस॥
पूर्वजन्म-कृत कर्मज है जो 'दैव' वही तो कारण है,
सूक्ष्म तथा इस स्थूल देहका, उसका कठिन निवारण है।
जीव इन्हीं दो देहोंसे ही दुख-सुख भोगा करता है,
इसका यह आदर्श अजामिल पड़ा सिसकियाँ भरता है॥
इसने सब कुछ अच्छा करके हाथीकासा स्नान किया,
वेश्याके संग रमा रात दिन, तिसपर मदिरा पान किया।
सांपिनने डस लिया प्रथम, फिर घोंट धतूरा पी जावे,
ऐसेका उपचारक भी तो जगमें ठठ्ठा करवावे॥
अब तो इसको दाव दवा है, वैद्यराज यमराज बड़े,
तप्त तैलसे हम ही इसका, विष तारेंगे खड़े खड़े।
यही अजामिल भोग यातना, पाप-निरुज हो जायेगा,
भूले अपने उसी मार्गको फिरसे यह अपनायेगा॥'

दोहा

पड़ा अजामिल सुन रहा, यह सब उनकी बात।
पल पल कटती कल्प सम, भयसे कम्पित गात॥

सेवा-धर्म

जगतमें सेवा-धर्म प्रधान।

सहृदय शुद्ध-हृदय निर्मल-मन, पाकर भक्त सुजान।
करुणाकर हरि करते अपनी, अविरल भक्ति प्रदान॥ जगत०
सेवकहीकी करते सेवा, भक्ति-भाव पहिचान।
बने सारथी पारथ-रथके, करुणा-निधि भगवान॥ जगत०
है अमोल निःस्वारथ सेवा, कहते शास्त्र बखान।
सेवा-धर्म-कुशल प्राणीका, यहां वहां कल्याण॥ जगत०
'विह्वल' जो रहता सेवामें, तजकर मान गुमान।
वही मनुज सेवाके बदले, पाता उच्च स्थान॥ जगत०

वैद्यनाथ मिश्र 'विह्वल'

भगवन्नाम-माहात्म्य

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः ।
जलं भित्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम् ॥

भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीसे कहा:—

'तुमने जो पूछा था सो कहता हूं, मन लगाकर सुनो। यह अत्यन्त गोपनीय विषय है, तुम्हारी प्रीति देखकर ही कह रहा हूं। जो मनुष्य मन, कर्म और वाणीसे मेरे शरणागत है उसके सब मनोरथ पूरे होते हैं। जो मनुष्य 'कृष्ण कृष्ण' सम्बोधन करके सदा मेरा स्मरण करता है, जैसे जलको भेदकर कमल ऊपर निकल आता है, वैसे ही मैं उसका संसार-सागरसे उद्धार कर देता हूं। मरते समय जो 'कृष्ण' नाम उच्चारण करते हैं वे पापी होनेपर भी यमराजका दर्शन नहीं पाते। मरण-समय 'कृष्ण' नाम स्मरण करनेवाले निस्सन्देह मुझे प्राप्त होते हैं। मृत्यु-समय जो विवश मनुष्य "महान् कृष्णको नमस्कार है" ऐसा उच्चारण करता है वह निश्चय ही मेरा पद पाता है। 'श्रीकृष्ण' नाम उच्चारण करके प्राण त्यागनेवालेको यमदूत दूरसे ही देखा करते हैं। 'कृष्ण, कृष्ण' कीर्तन करते रास्ते या श्मशानमें मृत्यु होनेपर भी मनुष्य मुझे प्राप्त होता है। जो मेरे भक्तका दर्शन करते हुए मरता है, वह तो बिना ही स्मरणके मुक्त हो जाता है—

'दर्शनान्मम भक्तानां मृत्युमाप्नोति यः क्वचित् ।
विना मत्स्मरणात्पुत्र ! मुक्तिमेति स मानवः ॥

कृष्णनाम उच्चारण करनेवालेको, तीक्ष्ण दांतवाले कलिकालरूपी सर्पसे कोई भय नहीं है क्योंकि श्रीकृष्णनामसे निकली हुई अग्नि उस सर्पको दग्ध कर डालती है। जो संसार-सागरकी महापातकरूपी तरंगोंमें पड़े हैं उन्हें 'श्रीकृष्ण' स्मरणके समान अन्य कोई भी गति नहीं है। पापी मनुष्योंकी मरते समय 'श्रीकृष्ण' नाम उच्चारणकी इच्छा नहीं होती, परन्तु यमपुरीमें जानेवालोंके लिये 'श्रीकृष्ण' नाम स्मरणके सिवा अन्य कोई पाथेय नहीं है। जिस घरमें नित्य 'कृष्ण कृष्ण' शब्दका उच्चारण होता है वहां गया, काशी, पुष्कर और कुरुक्षेत्रादि तीर्थ निवास करते हैं। जिसकी जीभ सतत 'कृष्ण कृष्ण' रटती है उसका जीवन जन्म सफल है—"जीवितं जन्म साफल्यं"। जो मनुष्य मेरा कृष्ण नाम उच्चारण करता है उसके मन और शरीरको पाप नहीं बेध सकता। दक्षिणके स्वामी यमराज श्रीकृष्ण नाम रटनेवाले जीवके अनेक जन्मार्जित पाप माफ कर देते हैं। सैकड़ों चान्द्रायण और हजारों पराक व्रतोंसे जो पाप नष्ट नहीं होते, वे कृष्ण-नाम कीर्तनसे नष्ट हो जाते हैं।

मुखे भवतु मा जिह्वासती यातु रसातलम् ।
न सा चेत्कलिकाले या श्रीकृष्णगुणवादिनी ॥
स्ववक्त्रे परवक्त्रे च वन्द्या जिह्वा प्रयत्नतः ।
कुरुते या कलौ पुत्र श्रीकृष्णगुणकीर्तनम् ॥
पापवल्ली मुखे तस्य जिह्वारूपेण कीर्त्यते ।
या न वक्ति दिवारात्रौ श्रीकृष्णगुणकीर्तनम् ॥
पततां शतखण्डं तु सा जिह्वा रोगरूपिणी ।
श्रीकृष्ण कृष्ण कृष्णेति श्रीकृष्णेति न जल्पति ॥

कलिकालमें जो असती जिह्वा श्रीकृष्णका गुणानुवाद नहीं करती, वह जीभ मुखमें न रहकर रसातलमें चली जानी चाहिये ! कलिकालमें जो जीभ श्रीकृष्णका गुण गाती है, चाहे अपने मुखमें हो या दूसरेके, वह सदा सादर वन्दनीय है। जो जीभ दिनरात श्रीकृष्णका गुण-कीर्तन नहीं करती वह मुखमें पापकी बेलके समान है। जो जीभ 'श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण' इस प्रकार नहीं रटती, उस रोगरूपिणी जीभके सौ टुकड़े होकर गिर जाने चाहिये।

(स्कन्द-पुराणसे)

स्वार्थ और परमार्थ

(लेखक—श्रीसदानन्दजी सम्पादक 'मैसेज')

स्वारथ पूजाकेर पुजारी,
कस मिलिहहिं हरि सरजनहारी ॥
ज्ञान विवेक प्रेम हिय नाहीं,
तत्त्व छांड़ि शठ मुकती चाहीं ॥
सुत कन्या वाहन चह नाना,
धन, धरती, बाटिका मकाना ॥
शत्रु नाश लगि साधन करहीं,
देव विविध पूजा आचरहीं ॥
घूंस देहिं रुपये भरि थरी,
समुझत मन महं देव भिखारी ॥
सुनहु 'सदानंद' कहत पुकारी,
पूजा तव यह मिथ्याचारी ॥
परम दयाऽकर निर्गुण हरि हैं,
जीव! भक्ति बिनु कबहुं न तरिहैं ॥

भारतमें एक ऐसा समय था जब देशके प्रत्येक कोणसे प्रतिदिन प्रतिक्षण भगवान्‌की नामध्वनि सुनायी पड़ती थी। लोग कहते हैं कि उस समय भारतका प्रत्येक धूलिकण, प्रत्येक अणु परमाणु भगवत्-प्रेमसे सिक्त था। भारतके उस गौरवकालमें भारतवासी आजकी तरह शोक, दुःख, अभाव और अकाल मृत्युके अधीन नहीं थे। जरा-व्याधिसे किसीको इतनी व्यथा नहीं थी। दशों दिशाएं आनन्दसे परिपूर्ण थीं। यह सब इसी कारण था कि उस कालमें भारतवासियोंने भगवान्‌को ही संसारका केन्द्र बना रक्खा था। सोते जागते केवल भगवच्चिन्तन करना ही उनका प्रधान कर्म था। प्रत्येक कार्यके आरम्भ और समाप्तिमें भगवान्‌का स्मरण करना वे अपना आवश्यकीय कर्तव्य मानते थे। परन्तु आज क्या है? आज हम स्वार्थरूपी शैतानके दास बन गये हैं, इसीसे हमारी सुखशान्ति लुप्तप्राय हो गयी है। आनन्दका स्थान आज निरानन्दके अधिकारमें चला गया है। चारों ओर हाय हायके करुणक्रन्दनकी विषादमयी ध्वनि सुनायी पड़ रही है। भगवान्‌को विस्मृतकर स्वार्थके दासत्व स्वीकार कर लेनेका ही यह भीषण परिणाम है! इस समय हमारे हृदयके समस्त स्थानपर प्रायः स्वार्थका ही अधिकार है। हमने स्वार्थदेवके चरणतलपर धर्म कर्मका विसर्जन कर दिया है। स्वार्थके लिये हम बुरेसे बुरा पापकर्म करनेके लिये भी प्रस्तुत हैं। भला इस अवस्थामें हमें सुख-शान्ति कैसे मिल सकती है?

स्वार्थ और परमार्थ परस्पर-विरोधी हैं, एक दूसरेके स्थानपर अधिकार नहीं कर सकते। स्वार्थ चाहनेवालेके पास परमार्थ नहीं ठहर सकता और परमार्थकामीको स्वार्थका सर्वथा परित्याग करना पड़ता है। स्वार्थ प्रेय और परमार्थ श्रेय है, इन दोनोंकी सेवा एक साथ नहीं की जा सकती। परमार्थ समस्त सुख, शान्ति और आनन्दको प्रदान करता है, परमार्थसेवी पुरुष शोक, ताप, जरा, व्याधि और अभाव-अशान्तिसे अतीत है। परमार्थको भुलाकर—शान्तिके प्रस्रवणको त्यागकर कोई भी शान्ति नहीं पा सकता! हिन्दूशास्त्र पद पदपर हमें इसीका स्मरण कराते हैं। ऋषि मुनि इसी सत्यको प्रकाशित कर गये हैं। साधु सन्तोंने यही उपदेश दिया है। परतु उनकी सुने कौन? स्वार्थने आज हमें बधिर कर डाला है। हजारों दृष्टान्त प्रतिदिन

हमारे सामने आते हैं पर हम देखें कैसे ? स्वार्थ-की पट्टीसे हमारी आंखें बन्द हैं। स्वार्थ-पाशसे बँधकर हम अपनी स्वाधीन चिन्ताशक्तिको खो चुके हैं, हमारा मनुष्यत्व लोप हो गया है! विपत्कालमें भगवान् पर दोषारोपण कर देना-मात्र ही हमने सीख रक्खा है, अपनी करनीकी ओर तो हमारी दृष्टि ही नहीं जाती ! आज जिन धर्मविप्लव, राजविप्लव और समाजविप्लव आदिसे जगत्की शान्ति नष्ट हो रही है, उसका मूल कारण हमारा यह स्वार्थ ही है !

'हमारे पूजा-पाठ, योग-यज्ञ, ध्यान-धारणा और अर्चना-प्रार्थना सभीमें स्वार्थ भरा है। 'पुत्रं देहि, धनं देहि, वित्तं देहि, सुखं देहि' बस, यह देहि देहि शब्द ही आज हमारी प्रार्थनाका मन्त्र है। हमें सुख मिलनेमें दूसरेका सर्वनाश हो जाय इसकी हमें तनिक भी परवा नहीं। यदि आज हम देवताकी पूजा करते हैं तो वह हमारे स्वार्थमें बाधा देनेवाले शत्रुओंके नाशके लिये ही करते हैं। द्वेष, हिंसा, परसुखकातरता यही हमारी पूजाकी सामग्री हैं ! इसीसे आज हम दुःखार्णवमें गोते खा रहे हैं ! पहले ऐसी बात नहीं थी, उस समय लोगोंकी दृष्टिमें एक परमार्थके सिवा सब कुछ तुच्छ था। उस समयके लोग संसारकी समस्त सामग्रियोंको, विषय-भोगादि पार्थिव वस्तुओंको अनित्य समझकर उनकी ओरसे उदासीन रहते हुए केवल एक नित्य, सत्य, अनन्त ईश्वरके ध्यानमें लगे रहते थे, उस समय उनकी यही प्रार्थना थी–

'हे परमात्मन् ! हम पुत्र नहीं चाहते, विषय नहीं चाहते, वैभव नहीं चाहते, मान बड़ाई नहीं चाहते। हम चाहते हैं केवल तुमको! विषय-वैभव आदि मायिक पदार्थोंको जो तुमसे मिलनेके मार्गमें कण्टक हो रहे हैं–हमसे दूर हटाकर हमें पूर्ण अन्तःकरणसे तुम्हारी उपासना करने लायक बना दो, जिससे हम अन्तमें तुम सच्चिदानन्दके साथ मिलकर भूमानन्द लाभ कर सकें।' ऐसे लोग यथार्थ सुख-शान्तिके अधिकारी क्यों न हों?

कहना नहीं होगा कि धर्महीन स्वार्थपूर्ण पाश्चात्य शिक्षाने ही हमको इस दशामें लाकर डाल दिया है ! जबतक हम इस धर्महीन विदेशी शिक्षाके आधीन नहीं थे तबतक कुशलसे आनन्दमें थे। परन्तु इस स्वार्थपर पाश्चात्य कुशिक्षाने हमारे हृदयपर अपना इतना प्रभाव डाला है कि हम आज अपनी प्राच्यशक्तिसे वञ्चित होकर सुखकी आशाको भी खो बैठे हैं। देशके रत्नको त्याग परदेशी कांचके टुकड़ोंके मोहमें पड़कर आज हम भिखारी बन गये और सुख-शान्तिका मार्ग पानेके लिये दीन-दृष्टिसे पाश्चात्य जगत्की ओर ताक रहे हैं। हमारा यहांतक पतन हो गया है कि हमारे धर्मशास्त्रोंके उच्चतम सिद्धान्त भी जबतक विदेशी सांचेमें ढलकर नहीं आते, तबतक हम उन्हें ग्रहण करने योग्य नहीं समझते! फल प्रत्यक्ष है, दिनोंदिन धर्म-पथसे च्युत होते हुए आज हम केवल स्वार्थधर्मके सेवक बन गये हैं। इसी कारण आज हम देशमें एक ऐसे नूतन सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा देख रहे हैं जो समग्र भारतवर्षसे धर्मका लोप करनेके लिये घोर आन्दोलन करनेकी व्यवस्थामें बद्धपरिकर है–जो धर्मबलकी उपेक्षा-कर पशुबलका प्राधान्य स्थापित करना चाहता है इस धर्महीन नीतिके प्रचारसे देशका बड़ा भारी अमङ्गल होगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ! इस नवीन सम्प्रदायका मत यह है कि धर्म-ने ही हमारे देशका सर्वनाश कर दिया है, धर्मने ही हमें निर्बल और निर्धन बना दिया है, सुतरां धर्मको देशसे निर्वासित किये बिना हमारा कुशल नहीं है। दुःखका विषय है कि यह धर्महीन मन्त्र हमारी जातीय मज्जामें प्रवेशकर रहा है। इसका कारण यह है कि हमारे पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त युवक यथार्थ धर्मशिक्षाका अवसर न पाकर विचित्र बुद्धिका आश्रय लेने लगे हैं। धर्मबल कितना शक्तिशाली है, इस बातको समझनेकी सुविधा न मिलनेके कारण ही उनकी बुद्धिमें मोह हो गया है !

यथार्थ धर्म विगतविरोध है, उस ईश्वरीय

यथार्थ धर्मका मूलमन्त्र है-प्रेम, साम्य, सख्य और सत्य। नाना मतमतान्तरयुक्त भारतवर्षमें यदि शान्ति और एकताकी स्थापना करनी है तो वह इसी ईश्वरीय धर्मके प्रचारसे होगी! भारत यदि पूर्ण स्वाधीन होगा तो इसी प्रकृत धर्म-बलसे होगा, पशुबलसे कदापि नहीं!

अतएव भाइयो! यदि अपना हित चाहते हो, यदि देशका मङ्गल चाहते हो, यदि शान्ति चाहते हो और यदि वास्तविक स्वाधीनता चाहते हो तो परमेश्वरकी सब सन्तान हिन्दू बौद्ध, जैन, सिख, मुसलमान और ईसाई, आओ! आओ! आज सब मिलकर इस ईश्वरीय प्रेमधर्मकी साधना करें और भगवान्‌के चरणोंमें भक्ति-प्रणतचित्तसे आत्मसमर्पण कर अपने हृदयकी प्रेमतन्त्रीके तारोंको सुरीले और जगमनमोहन सुरोंमें बजानेके लिये उनका आह्वान करें-

अपने मङ्गल हाथोंसे मम हृत्तन्त्रीको बजने दो!
नव वेदोंके नूतन मन्त्रोंसे जगको जागृत कर दो!
लहर लहरमें नाच उठे जग एकसाथ मिलकरके सब
मुक्तिमार्गमें दीखें नव दृश्यावलि नव्य-प्रेमकी अब!
मिल जायें अतीतमें धर्माधर्मोंका घात-प्रतिघात!
जाति जातिके वैर दूर हों प्रबल प्रेमके झंझावात!
नव्य-प्रेमयुगके प्रभातमें धन्य अखिल जगको कर दो
अपने मङ्गल-हाथोंसे मम हृत्तन्त्रीको बजने दो!

अपनी कमी

मानव जीवनमें जारी है, भारतका भीषण संग्राम।
अर्जुनसे ही आकुल हैं हम, वैरी क्रोध मोह मद काम॥
मामा, कृष्ण नहीं हैं लेकिन, सुलभ हमें है गीता-ज्ञान।
एक मात्र बस कमी यही है, नहीं पार्थ पुरुषार्थ महान॥
द्वापरमें थे एक सुदामा, अब तो हैं अनेक धन-हीन।
देही कृष्ण दूर बसते थे, अब वह घट घट है आसीन॥
दीन सुदामाके तण्डुल थे, हमें चाहिये केवल भाव।
सब तो है पर नहीं हृदयमें, है हरिसे मिलनेका चाव॥
हैं दुर्योधन दुःशासनसे, अन्यायी छाये भर देश।
पाञ्चालीसी अबलायें हैं, अपमानित हो पातीं क्लेश॥
करुणासागर कृष्ण बचानेको बैठे भी हैं तय्यार।
कहां सुनाई देती लेकिन द्रुपद-सुताकी करुणपुकार॥
अतिथि कृष्णको विदुर-प्रियाने, छिलके छील दिये दो चार।
मन्दिरमें जाकर हम प्रतिदिन, भोग लगा आते दो बार॥
मेरे भोग धरे रहते हैं, छिलका क्षणमें चट हो जाय!
है अनन्यताका अभाव फिर, क्यों मेरे मनकी हो पाय॥
हमें चाहिये धन, जन, यौवन-जीवनके सुखसाज अनेक।
पर सुखप्रद हरिशरण त्याग दी, कैसा है छाया अविवेक॥
मन! तेरी सम्पत्ति अतुल है, शक्ति अलौकिक है कुछ ध्यान?
जल्दी जाग, त्याग जड़ता, जुड़ जा श्रीहरिसे हे मतिमान!

-विन्ध्याचलप्रसाद 'विशारद'

पुराणोंके रत्न

(पृ० सं० 350 से आगे)

नारद-इन्द्रद्युम्न संवाद

भक्ति और भक्तका स्वरूप

भक्तिकी महिमा

भगवान् नारद भक्तवर राजा इन्द्रद्युम्नसे कहने लगेः–

'हे राजन् ! हजारों जन्मोंके अभ्याससे भगवान् विश्वम्भरके प्रति मनुष्यकी भक्ति हुआ करती है। भगवानकी भक्तिसे अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारोंकी प्राप्ति सहजमें हो जाती है, भक्ति होना अल्प तपस्याका फल नहीं है 'नाल्पतपःफमम्'। अनादिकालीन अविद्याने जड़ जमा रक्खी है, इससे केवल पञ्च क्लेश ही बढ़ते रहते हैं। इस अविद्याका नाश एकमात्र विष्णुभक्तिसे ही हो सकता है-'एकैवेयं विष्णुभक्तिस्तदुच्छेदाय जायते'। दुःख-संकटपूर्ण संसार-काननमें भटकते हुए मनुष्यके लिये एकमात्र भक्ति ही सुखप्रदा है। सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वोंकी आंधीसे उछलती हुई संसार-सागरकी भीषण तरङ्गोंमें निराधार पड़े हुए मनुष्योंके लिये भगवानकी भक्ति ही सुदृढ़ जहाजके समान है। सन्तगण इस जननीरूप भक्तिकी शरण होकर ही सुखसे रहते हैं, इसीसे उन्हें कभी शोक नहीं होता। जो महात्मा भक्ति-सुधा पानकर आह्लादित हो चुके हैं, उन विमुक्त पुरुषोंके सामने ब्रह्मपद भी अत्यन्त तुच्छ है 'ब्राह्मं पदं स्वल्पलाभा'। भक्तिरूप प्रज्वलित दावानलमें जीवोंकी त्रिविध (कायिक, वाचिक और मानसिक) पापराशि पतङ्गके समान भस्म हो जाती है। प्रयाग, गङ्गादि तीर्थ-सेवन, तप, अश्वमेध यज्ञ, प्रचुर दान और हजारों व्रत-उपवासादि सत्कर्मोंका महान् आचरण भक्तिके हजारवें भागके बराबर भी नहीं हो सकता। भक्तिकी महिमा अनिर्वचनीय और अतुलनीय है!'

इसप्रकार भक्तिकी महिमा सुनकर राजा इन्द्रद्युम्नने 'भक्तिका स्वरूप' जाननेकी इच्छासे भगवान् नारदसे कहा–'हे मुने! आपने जिस भक्तिकी महिमा सुनायी, उसका स्वरूप समझनेकी मेरी बहुत दिनोंसे इच्छा है, अतः कृपापूर्वक मुझे इस भक्तिके लक्षण बतलाइये, इस विषयमें आपके समान जानकार सद्वक्ता मुझे पृथ्वीपर और कोई नहीं मिल सकता।

भक्तिका स्वरूप

नारदजी बोलेः–हे राजन्! तुम सच्चे भक्त हो, सत्पात्र हो इसीसे भक्तिके यथार्थ लक्षण मैं तुम्हें समझाता हूं। पापपरायण दुष्टहृदय मनुष्योंके सामने यह बातें नहीं कही जा सकतीं। हे निष्पाप नरपते! तुम मन लगाकर सुनो, मैं उस सनातन भक्तिको सामान्य और विशेषरूपसे बतलाता हूं।

'अत्यन्त कष्ट आ पड़नेपर मनुष्यके लिये एकमात्र भक्तिका ही आश्रय रह जाता है, यह (गौणी) भक्ति गुणोंके भेदसे तीन प्रकारकी है। इसके सिवा एक चौथी भक्ति और है जिसे निर्गुण भक्ति कहते हैं। 'जो लोग काम क्रोधके वशमें हैं और केवल दृष्ट पदार्थोंको माननेवाले हैं ऐसे लोगोंके द्वारा सांसारिक लाभके लिये जो भक्ति की जाती है, वह तामसी है'। यश

कीर्ति या परलोकके लिये श्रद्धापूर्वक जो भक्ति की जाती है वह राजसी है।' 'एक यही स्थिर है, संसारके अन्य सभी दृष्ट पदार्थ नष्ट होनेवाले हैं, यह समझकर अपने अपने वर्ण और आश्रम-धर्मका त्याग न करके आत्मज्ञानकी इच्छावाले मनुष्योंद्वारा जो भक्ति की जाती है, वह भक्ति सात्त्विकी कहलाती है।' और यह जगत् ही जगन्नाथ है-'जगच्चेदं जगन्नाथः' इसका अन्य कोई कारण नहीं है, न तो मैं उससे भिन्न हूं और न वह मुझसे भिन्न है। बाह्य उपाधियां-स्थूल शरीर और इन्द्रियोंके भोग केवल भ्रमसे ही प्रीति उपजाते हैं, इनसे परमात्मा नहीं मिल सकते। यह निश्चय करके जो भक्ति केवल परमात्माके लिये ही की जाती है, वह अद्वैतसंज्ञक दुर्लभा भक्ति कहलाती है। इसी भक्तिसे भगवान्का अपुनरावर्ती परमधाम मिलता है!

सात्त्विकी भक्तिसे ब्रह्मलोक, राजसीसे इन्द्र-लोक और तामसीसे पितृलोककी प्राप्ति होती है। परन्तु भक्तका कभी नाश नहीं होता, पुनर्वार भक्त संसारमें आकर आगे बढ़ता है, तामसी भक्ति करनेवाला राजसी करता है, राजसी करनेवाला सात्त्विकी करता है और सात्त्विकी भक्त अद्वैत भक्तिको पाकर परमात्माको प्राप्त होता है। अतएव किसी भी प्रकारसे परमात्माकी भक्तिका आश्रय लेनेपर क्रमसे मनुष्य मुक्ति-मार्गमें अग्रसर हो सकता है।'एकामपि समाश्रित्य क्रमान्मुक्तिपथं व्रजेत्'।

भक्तिहीन मनुष्यके श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित कर्म, प्रायश्चित्तादि, तीर्थयात्रा, कृच्छ्रादि व्रत, तप, सत्कुलमें जन्म और शिल्प-विद्या आदि सभी केवल लौकिक भूषण हैं और असती स्त्रीके व्यभिचारके समान हैं, इन सब विषयोंसे उसे केवल शारीरिक कष्ट ही मिलता है। जितेन्द्रिय और दृढ़ भक्तिमान् पुरुष कुलाचारहीन होनेपर भी प्रशंसाके योग्य है परन्तु अष्टादश विद्याओंका ज्ञाता कुलीन धार्मिक पुरुष भी भक्तिहीन होने-पर प्रशंसनीय नहीं है। भक्तिसम्पन्न पुरुष ही भाग्यवान् है, भक्तिसे ही मानव-जीवन सफल होता है। विद्या वही है जिससे भगवान् जगन्नाथ जाने जाते हैं और शुभ-कर्म वही है जिससे भगवान्में प्रेम होता है।

भक्तकी महिमा

'हे राजन्! ऐसा भक्ति और विद्यासम्पन्न दृढ़व्रत पुरुष ही भगवान्का भक्त है, ऐसे भक्तके चरणरज-स्पर्शसे चराचर जगत् पवित्र होजाता है,-'पुनीत सचराचरं विश्वम्।' ऐसे भक्तके लिये पृथ्वीके आधिपत्य और स्वर्गादिकी कामना अत्यन्त तुच्छ है क्योंकि वह (अपने आपको भगवान्में मिला देनेके कारण) स्वेच्छासे ही सृष्टि-स्थिति और नाश करनेमें समर्थ है। इस प्रकारके भक्त और भगवान्में कोई भेद नहीं समझना चाहिये।

भक्तोंके लक्षण

अब मैं उन भक्तोंके लक्षण बतलाता हूं—

'भक्तोंका चित्त सदा ही शान्त रहता है, वे सौम्य और जितेन्द्रिय होते हैं, मन, वाणी या कर्मसे कभी किसीका बुरा नहीं करते, उनका हृदय दयासे भरा रहता है, वे चोरी और हिंसा कभी नहीं करते, दूसरेके गुणोंका खण्डन नहीं करते, सदाचारसे रहते हैं, और दूसरेके सुखको अपना ही सुख मानते हैं। निर्मत्सर होकर समस्त प्राणियोंमें परमात्माको ही देखते हैं, सदा दीनों-पर दया और पर-हित करते हैं। देवताओंका कुमारवत् पोषण करते हैं और विषयोंको काल-सर्पके सदृश समझकर उनसे डरते हैं। विषयी पुरुषोंका भोगोंमें जितना प्रेम होता है, उससे करोड़ों गुना अधिक प्रेम भक्तोंका भगवान्में होता है। भक्तगण शिव और पितृगणोंको भगवान्का स्वरूप समझकर ही नित्य उनकी पूजा करते हैं। वे समस्त जगत्को ही विष्णुमय देखते हैं परन्तु अपनेको सेवक और भगवान्को अपना स्वामी समझते हैं। सर्वगत सर्वरूप

मानकर ब्रह्माजी जिनके चरणकमलोंमें प्रणाम करते हैं, भक्तगण उन्हीं हरिको नित्य प्रणाम करते और उन्हींमें चित्त लगाकर उनका नाम-कीर्तन करते हैं। ऐसे भक्तोंकी दृष्टिमें समस्त लोक तृणवत् तुच्छ होते हैं।

'सदा परोपकारमें लगे हुए, दूसरोंके कुशलमें ही अपना कुशल समझनेवाले, पराये दुःखोंसे दुखी, सदाशय, दयालु, दूसरोंकी सम्पत्तिको पत्थर या मिट्टी समझनेवाले, परस्त्री और कांटोंसे पूर्ण शाल्मलीको समान देखनेवाले, कुटुम्बी मित्र और शत्रुओंमें एक ही आत्मा माननेवाले, चित्तको निरन्तर परमात्मामें एकाग्रतासे लगाये रखनेवाले, गुणवानोंका आदर करनेवाले, दूसरोंकी गुप्त बातोंको ढकनेवाले, सदा सबसे प्रिय बोलनेवाले, कंसहन्ता भगवान् कृष्णका मधुर तथा पापनाशकारी शुभ नाम भक्तिभावसे कीर्तन करनेवाले, ऊंचे स्वरोंसे सर्वदा उनकी जय बोलनेवाले, शरीर मन वाणीसे हरिमें आत्मसमर्पण करनेवाले, दिनरात हरि-चिन्तनमें ही विभोर रहकर सुख दुःखको समान समझनेवाले, नम्रवाणीसे श्रीहरिकी स्तुति करनेवाले और उनकी पूजामें ही लगे रहनेवाले पुरुष भगवान्के भक्त हैं।'

'जो भक्त उपर्युक्त लक्षणोंसे सम्पन्न होकर भुजाओंपर भगवान्के 'बाने' रथ, चक्र, गदा, पद्म, शंख, मुद्रा आदि चिह्नोंको तथा मस्तकपर तिलक धारण करते हैं। मुरारिके अंगस्पर्शसे सुगन्धित तुलसीपत्रोंको भगवान्के प्रसादरूप माला चन्दनादिको धारण करते हुए भक्तिभावसे केवल मुक्तिके लिये भगवान्की पूजा करते हैं, उनकी जय होती है। जिनका दर्प अभिमान और अहंकार नष्ट हो गया है, देवबन्धु भगवान् नरहरिकी पूजासे जिनका चित्त शुद्ध हो गया है, हरि-चरण-सेवासे जिनका शोक नष्ट होगया है, ऐसे वैष्णव भक्तोंकी सर्वतोभावसे विजय होती है।'

भगवान् और भक्तोंकी महिमा कहते कहते नारदजीका चित्त भगवत्-प्रेमसे विह्वल हो गया और वे भगवान्को सम्बोधन करके कहने लगे कि 'हे भगवन्! आपके भक्तोंको कभी धनकी इच्छा नहीं होती, उन्हें कभी शारीरिक क्लेश नहीं होता, वे सदा शान्तभाव और मृदु वाणीसे आपका नाम-कीर्तन, भजनोत्सव तथा आपके दास और दास्यभावका ही चिन्तन किया करते हैं।

अभक्तोंके लक्षण और उनकी संगति छोड़नेके लिये आदेश–

नारदजी फिर कहने लगेः—'अभक्त मनुष्य स्वयं दुराचारमें लगे रहनेपर भी दूसरोंके उत्तम चरित्रपर दोष लगाया करते हैं, वे अच्छी या बुरी किसी भी अवस्थामें भगवान्का स्मरण नहीं करते, उन्हें विषयोंमें ही सुख दीखता है, इससे वे क्षणमात्रके लिये भी अपने हृदयमें परम सुखास्पद भगवच्चरणोंका चिन्तन नहीं करते बल्कि, मतवाले होकर श्रीहरिनामको मिथ्या जालोंसे ढकनेकी ही चेष्टा किया करते हैं। ऐसे भक्तिहीन मनुष्य परधन और परस्त्रियोंके बड़े लोभी होते हैं, उनकी बुद्धि अत्यन्त नीच होती है और वे दिनरात केवल अपने उदर-पोषणके कार्यमें ही लगे रहते हैं। भाग्य और भयके फेरमें पड़े हुए ही वे जीवन बिताते हैं, ऐसे मनुष्योंको नर-पशुओंके सिवा और क्या कहा जा सकता है? जो उस नरहरि भगवान्के चरणोंका स्मरण नहीं करते, आठों पहर कुसंगतिमें फंसे रहते हैं, दूसरोंकी बुराईमें लगे रहना और हिंसा करना ही जिनको अच्छा लगता है, ऐसे नराधमोंका संग दूरसे ही त्याग देना चाहिये—'नरमलिनाः खलु दूरतो हि वर्ज्याः।' (स्कन्दपुराण)

(पृष्ठ सं० 347 से आगे)

आत्म-समर्पण

(लेखक—स्वामी श्रीचिदात्मानन्दजी)

(पूर्व प्रकाशितसे आगे)

आत्मसमर्पण करके भगवान्‌का निरन्तर स्मरण करना जितना कहनेमें सुलभ प्रतीत होता है, उसपर दृढ़ होना उतना सहज नहीं है। विषयोंमें अत्यन्त वैराग्य हुए बिना इसका साधन कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है। जो मनुष्य सम्पत्ति-विपत्ति, सुख-दुःख, लाभालाभ आदि द्वन्द्वोंमें समभाव नहीं रख सकता, उसे अपनेको भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पणका अधिकारी मान लेना विडम्बनामात्र है। आत्मसमर्पणमें तो अपने आपको सर्वथा भूल जाना पड़ता है, भगवान्‌का निरन्तर अविच्छिन्न स्मरण रखना होता है, यथालाभ सन्तुष्ट होकर सब प्रकारकी भविष्यचिन्ता और शरीर-निर्वाहतककी चिन्ता भी भगवान्‌को ही सौंप देनी पड़ती है। जब सब कुछ उन्हें अर्पण कर दिया जा चुका तब वही मालिक हैं, इस शरीरको जैसा चाहें वैसा रख सकते हैं, ऐसे अनन्यपरायण भक्तको शरीरके रहनेमें हर्ष और जानेमें शोक क्यों होगा ? उसके लिये तो नाना प्रकारके सङ्कटोंकी प्राप्ति अथवा विविध वैभवकी प्राप्ति दोनों समान ही है।

किसी ग्राममें एक जुलाहा रहता था, वह बड़ा धर्मात्मा भक्त था। उसपर सभीका विश्वास था और सभी उसे प्यार करते थे। जुलाहा अपने बुने हुए कपड़े बाजारमें ले जाकर बेचा करता था, जब ग्राहक दाम पूछते तब वह कहता 'रामकी इच्छासे सूतका मोल एक रुपया, मेहनत चार आने, रामकी इच्छासे नफा दो आने, कुल कीमत एक रुपया छः आने।' लोगोंको उसपर इतना विश्वास था कि वे तत्काल उसे दाम देकर कपड़ा ले लेते थे। वह बड़ा भक्त था। रातको भोजन करके चण्डी-मण्डपमें बैठकर ईश्वरका चिन्तन और उनके नाम-गुणका कीर्तन किया करता। एक दिन बड़ी रात हो गयी, फिर भी उसकी आंख न लगी, इसी समय उस रास्तेसे डाकुओंका एक दल डाका डालने जा रहा था, उनको एक मुटियेकी जरूरत थी। चण्डी-मण्डपमें जुलाहेको अकेला बैठा देखकर उन्होंने कहा कि 'हमारे साथ चल' और वे हाथ पकड़कर उसे ले गये। आगे जाकर उन्होंने एक गृहस्थके घर डाका डाला, कुछ चीजें जुलाहेके सिरपर लाद दीं, इसी समय पुलिस आ पहुंची, डाकू तो भाग गये पर जुलाहा सिरपर सामानका गट्ठर रक्खे पकड़ा गया। पुलिसने रात भर उसे हवालातमें रखकर दूसरे दिन सवेरे मैजिष्ट्रेटके सामने पेश किया, इस मामलेकी खबर पाकर गांवके बहुतसे लोगोंने इजलासमें हाजिर होकर कहा, 'हुजूर! यह आदमी कभी डाका नहीं डाल सकता।' मैजिष्ट्रेटने जुलाहेसे पूछा 'क्योंजी! क्या बात है ? सच सच कहो' जुलाहेने कहा—'हुजूर! रामकी इच्छासे रातको मैंने रोटी खायी, इसके बाद रामकी इच्छासे मैं चण्डी-मण्डपमें बैठा हुआ था, रामकी इच्छासे रात बहुत हो गयी, मैं रामकी इच्छासे उनका चिन्तन

कर रहा था और भजन गा रहा था, इसी समय रामकी इच्छासे डाकुओंका एक दल उसी रास्तेसे आ निकला, रामकी इच्छासे वे लोग मुझे पकड़कर घसीट ले गये, रामकी इच्छासे एक गृहस्थके घर उन्होंने डाका डाला, रामकी इच्छासे मेरे सिरपर गट्ठर लाद दिया, इसी अवसरमें रामकी इच्छासे पुलिस आगयी, रामकी इच्छासे मैं पकड़ा गया तब पुलिसने रामकी इच्छासे मुझे हवालातमें बन्द कर दिया और आज रामकी इच्छासे आपके सामने ले आये।' मैजिस्ट्रेट साहबने उसे धर्मात्मा और सच्चा जानकर छोड़ दिया। जुलाहेने रास्तेमें अपने मित्रोंसे कहा 'रामकी इच्छासे मैं छूट गया।'

इसे कहते हैं आत्मसमर्पण, इस अवस्थामें किसी वस्तुसे रागद्वेष नहीं रहता, सब झंझट भाग जाते हैं, उसे यह अनुभव होता है कि सब कुछ वही कर रहे हैं, सभी रामकी इच्छा है। इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिये न शास्त्रोंमें पारङ्गत होनेकी आवश्यकता है और न तीव्र बुद्धिकी जरूरत है। जरूरत है केवल भगवान‌में पूर्ण विश्वासकी और अखण्ड प्रेमकी, सरलताकी और निरन्तर भगवत्-स्मरणकी। दम्भ पाखण्डके लिये यहां गुञ्जायश नहीं, अपनी विद्या और बुद्धिबलसे यहां काम नहीं चलता, केवल उन्हींपर भरोसा रखना होता है। इस कोटिका भक्त तो यह भी नहीं सोचना चाहता कि 'मैं कौन हूं कहाँसे आया हूं और कहां जाऊंगा?' उसे निश्चय है कि वे सब कुछ जानते हैं। मेरे लिये समझनेकी जरूरत होगी तो वे खुद समझा देंगे। वह तो इतना ही जानता है कि 'रामकी इच्छासे मैं संसारमें रक्खा गया हूं जैसी उनकी इच्छा होती है, मुझसे वैसा ही काम होता है और वही सब कुछ जानते हैं। उन्हें दर्शन देनेकी इच्छा होगी तो दर्शन दे देंगे, अज्ञानमें रखनेकी इच्छा होगी तो अज्ञानमें रक्खेंगे, मुझे इन सब बातोंके जाननेकी क्या आवश्यकता है?'

इस अवस्थामें यह सारे प्रश्न सर्वथा लुप्त हो जाते हैं कि 'जीव स्वतन्त्र है या परतन्त्र? जीव अपने कर्मोंका उत्तरदायी है या नहीं?' क्योंकि यहां अहं बुद्धिका सर्वथा अभाव है, मैं और मेरेका नितान्त नाश है। सब कुछ वही हैं, उन्हींकी अचिन्त्य मायासे सारा जगत् नाच रहा है। रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे कि 'मैं सब जीवोंको ऐसे देख रहा हूं मानो मोमके बने खिलौने सिर हिला रहे हैं।'

यहां यह शंका हो सकती है कि 'यदि हम अपनी स्वतन्त्र विवेकबुद्धिसे काम नहीं लेंगे तो सम्भव है कि आत्म-समर्पणके नामपर हम दुष्कर्म भी करने लगें और यह मान लें कि यह सब कुछ परमात्मा ही हमसे करा रहे हैं। यदि स्वतन्त्र विचार-शक्तिसे काम लेंगे तो भले बुरेको परखकर बुरे मार्गसे बच जायंगे।' इस शंकाको मिटानेके लिये हमें इतना तो विचारना चाहिये कि जब हमने सब कुछ उनको सौंप दिया तो क्या वह सर्वात्मन, सर्वशक्तिमान् कृपार्णव प्रभु हमें कभी कुमार्गपर ले जायंगे? क्या स्नेहमयी माता उस नन्हें अबोध बालकको जिसका आधार केवल मां ही है और जिसने अपना हाथ मांको पकड़ा रक्खा है, कभी ऐसे भयानक मार्गसे ले जायगी, जहां ठोकर लगने या गिरनेका तनिक भी भय हो। जब अल्पज्ञ सांसारिक माता-पिता अपने बच्चेकी इतनी सम्हाल और रक्षा कर सकते हैं तब क्या वह सर्वान्तर्यामी प्रभु अपने शरणागत जीवकी सदैव कुमार्गसे रक्षा न करेंगे?

यदि थोड़ी देरके लिये तर्ककी दृष्टिसे यह मान भी लें कि पूर्णतया आत्म-समर्पण करनेपर भी भगवान् हमें बुरे मार्गमें ले जायंगे तो फिर हमारी हानि ही क्या है? सारा उत्तरदायित्व तो उनपर है, हम तो बेपरवा हैं, हमारे मन खोटा खरा समान है, ममत्वका अभाव है। हम सुख-दुःख, हर्ष-शोकसे परे हैं और सब तरहकी चिन्ताओंसे दूर हैं। जब सब कुछ उन्हें सौंप चुके तब शरीर, मन, बुद्धि आदिपर हमारा कोई स्वत्व

नहीं रहा, सब उनके अधिकारमें है वे चाहे जिस तरह उन्हें काममें ले सकते हैं। परन्तु वास्तवमें सच्चे आत्म-समर्पणकी अवस्थामें शरणागत भक्त कभी बुरे मार्गका अवलम्बन नहीं कर सकता। मनुष्य मोहके वश होकर ही दुष्कर्म किया करता है, झूठी स्वार्थ-परायणतासे ही विषय-लोलुपता बढ़ती है, नश्वर शरीरादिमें गाढ़ प्रीति और आसक्ति ही जीवको कुमार्गकी ओर ले जाती है। अनन्यशरण जीवके हृदयमें तो मोह-मायाका लेश भी नहीं रहता, किसी भी वस्तुमें उसकी ममता नहीं रहती। इसलिये उसके द्वारा निन्दित कर्म बननेकी कोई भी सम्भावना नहीं है।

अब यह विचारणीय है कि सच्चा आत्म-समर्पण किसे कहते हैं और शरणागत मनुष्यके भाव और उसका व्यवहार कैसा होता है? जिसका एकमात्र आधार श्रीभगवान् हैं, वह वास्तवमें गुणातीत हो जाता है, द्वन्द्वातीत होना उसकी स्वाभाविक स्थिति है, समयानुसार जो कुछ भी गुण वर्तते हैं वह उनसे किञ्चिन्मात्र भी लिप्त न होकर हर्ष-शोकसे सदा परे रहता है। अर्जुनने भगवान्से जब गुणातीत पुरुषके लक्षण पूछे, तब भगवान्ने कहाः-

> प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
> न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥
> उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
> गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥
> समदुःखसुखःस्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
> तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
> मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
> सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
> मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
> स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

हे अर्जुन! सत्त्वगुणके कार्य प्रकाश, रजोगुणके कार्य प्रवृत्ति और तमोगुणके कार्य मोहको, गुणातीत पुरुष इनके प्रवृत्त होनेपर न तो इनको बुरा समझता है और न निवृत्त होनेपर इनकी आकांक्षा करता है।

जो उदासीनकी तरह स्थित होकर गुणोंके द्वारा विचलित नहीं होता और गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं यह निश्चय करके जो एकभावमें स्थित रहता है, कभी चलायमान नहीं होता।

जो धीर पुरुष आत्मभावमें स्थित हुआ दुःख सुखको समान समझता है, लोहा पत्थर सोना जिसके मन बराबर है और जो प्रियवस्तु या अप्रियवस्तुकी प्राप्तिमें सम और निन्दा स्तुतिमें भी समान चित्त रहता है।

जो मान-अपमानमें समचित्त है, शत्रु-मित्रको बराबर समझता है, जो सब कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है वह गुणातीत कहलाता है।

और जो अन्यभावसे भक्तियोगद्वारा मेरी सेवा करता है, वह तीनों गुणोंको अच्छी तरह उल्लंघन करके ब्रह्ममें एकीभावमें स्थित होने-योग्य होता है।

ऐसा अनन्यपरायण भक्त सब काम करते हुए भी अकर्ता है, वह अपने हृदयमें विराजमान प्यारेके आदेशानुसार कठपुतलीकी तरह शरीरसे कर्म किये जाता है परन्तु उसकी अन्त दृष्टि सदैव भगवान्में ही लगी हुई रहती है। यह सुखमय अवस्था और यह निरपेक्ष स्थिति उसी अकिञ्चन भक्तकी होती है जिसने अपना कुछ रक्खा ही नहीं। वास्तवमें वही सुखी है जिसने अहंकारका नाश करके ऐसी निर्द्वन्द्व गति प्राप्त की है।

प्रिय पाठकवृन्द! जरा अपनी ओर ध्यान दो, जब तुम बालक थे, तब कैसे सुखी थे? न किसी-का भय था, न कोई चिन्ता थी। उस समय माँके आंचलमें जो सुख था क्या युवावस्थामें कभी वैसे सुखका अनुभव हुआ है? उस समय न तुम्हें खाने पीनेकी चिन्ता थी और न पहनने ओढ़नेकी। तुम्हारी सब प्रकारसे रक्षा करनेकी चिन्ता तुम्हारी मांको थी। तुम निश्चिन्त थ।

वह जैसा तुम्हें खाने पीने पहननेको देती थी, उसीमें तुम बड़े सन्तुष्ट थे। मां तुम्हें अच्छेसे अच्छा खाना कपड़ा देकर कितना आनन्द पाती थी,उसे अपनेको चाहे कितना भी कष्ट क्यों न सहना पड़े, पर तुम्हें सुखी देखकर वह फूली नहीं समाती थी। वह अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय समझकर तुम्हें रखती थी। जरा विचारो तो सही, वह दिन तुम्हारे लिये इतने सुखके क्यों थे? इसीलिये कि उस समय तुम्हारा एकमात्र आधार तुम्हारी मां थी, वही तुम्हारा सर्वस्व थी, किसी दूसरेको तुम जानते भी न थे और इस दुष्ट अहंकारने मानो तबतक तुम्हारे हृदयमें जन्म ही नहीं लिया था। जब इस अवस्थासे पार होकर तुमने युवावस्थामें प्रवेश किया तब यह अहंकार भी तुम्हारे भीतर प्रवेश कर गया! इसीसे तुम अपने आपको बड़ा बुद्धिमान् समझने लगे, नाना प्रकारके कर्मोंमें उलझना तुम्हें भला लगने लगा! जवानीमें किसी स्त्रीसे विवाह किया, सन्तान पैदा की, तब अपने और कुटुम्बके पालन पोषणकी चिन्ताने तुम्हें आ घेरा। रातदिन किसी भी तरह धनोपार्जनमें लगे रहना ही तुम्हारा एकमात्र कर्तव्य बन गया। तुम धनके पीछे यहांतक पड़े कि दिनरात एक कर दिया; न खानेकी फुरसत रही, न सोनेको समय मिला, अपने शरीरकी भी सुधि जाती रही। धन ही तुम्हारा एकमात्र इष्टदेव हो गया। उस वक्त भगवान्‌की पूछ कहाँ? अपनी बुद्धिपर तुम्हें घमण्ड हो गया। एकदिन जिस माँपर तुम्हें पूरा विश्वास था, जो तुम्हारा सर्वस्व थी, अब वही तुमको अपनी बुद्धिके सामने तुच्छ प्रतीत होने लगी। अब माँपरसे वह अनन्य-प्रेम उठ गया, स्त्री-पुत्रादिमें बँट गया। परन्तु मां तो इस समय भी तुम्हें देख देखकर आनन्दसागरमें डूबी जाती थी। तुम्हारे स्त्री-बच्चोंको देखकर अपने जीवनको धन्य समझती थी। किसीने ठीक कहा है, 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति'। परन्तु भाई! सच्चे दिलसे कहना कि तुम इन दोनोंमेंसे किस अवस्थामें विशेष सुखी थे? जवानीमें मनुष्यके ऊपर कितना भार हो जाता है या यों कहिये कि वह जान बूझकर अपने ऊपर इतना भार लाद लेता है कि रातदिन चिन्ता उसका पीछा नहीं छोड़ती!

सुख भाग गया, शरीर क्षीण होने लगा, जराके जोरसे इन्द्रियां तेजहीन हो गयीं, रोगोंने भी आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। अब किसी वस्तुमें आनन्द नहीं मिलता, नाना प्रकारकी व्याधियोंसे पीड़ित होकर मन सदैव दुखी रहने लगा। इस अवस्थामें दुःखोंसे तप्त होकर मनुष्य भगवान्‌का स्मरण करनेकी इच्छा करता है परन्तु जी ही नहीं लगता। मनकी बान तो सदैव सांसारिक प्रपञ्चोंमें रहनेके कारण बहिर्मुख होनेकी पड़ गयी थी, अब इस निर्बल अवस्थामें वह तुम्हारी क्यों सुनने लगा? अतएव वह अब भी बलात्कारसे उसी गोरखधन्धेमें फँसाता ही रहता है, मरते समय मनुष्य न जाने किन किन मनोरथोंका गट्ठर मनमें रखकर ले जाता है सो वही जाने।

यह तो सभी जानते हैं कि बाल्यावस्था मनुष्य-जीवनमें सब अवस्थाओंसे अधिक सुखकी होती है क्योंकि उस अवस्थामें बालकका अनन्य प्रेम एक मांपर ही होता है, अन्य किसी वस्तुपर उसका ममत्व नहीं होता। इसीप्रकार इस जीवनमें भी यदि वास्तविक सुख शान्तिकी इच्छा हो तो जगदाधार अनन्त भगवान्‌की अनन्यशरण होनेके सिवा अन्य कोई भी उपाय नहीं है। यही बुद्धिमत्ता है, यही परम ज्ञानकी सीमा है, यही आवागमनसे छूटनेका उपाय है और इसीको जीवन्मुक्तिकी अवस्था भी कहना चाहिये।

जहां अनन्य-प्रेम और आत्म-समर्पणकी चर्चा की जाती है वहां प्रातःस्मरणीय व्रजललनाओंका स्मरण हुए बिना नहीं रह सकता। इन महाभागा देवियोंने साक्षात् मूर्तिमान् आत्म-समर्पण बनकर संसारको यह दिखला दिया कि

भगवत्-प्रेम किसे कहते हैं और अनन्यपरायणता क्या वस्तु है? खेद तो इस बातका है कि जहां शुकदेव जैसे परमज्ञानी मुनियोंने गोपियोंके अद्भुत प्रेमका वर्णन करके अपने आपको कृतार्थ समझा, वहां आजकलके क्षुद्र मनुष्य अपनी तुच्छ तामसी बुद्धिपर घमण्ड करके उन महा-भाग्यवती व्रजबालाओंको गंवार, अपढ़ और मूढ़ बतलाते हैं। कोई कोई तो बाललीलापटु श्रीकृष्ण भगवान् और गोपियोंको व्यभिचारी कहनेमें भी नहीं लजाते! बात यह है कि जिनके मन कामादि वासनाओंसे भरे पड़े हैं वह लोग अपने दुर्भावके अनुसार ही जगत्को देखा करते हैं। आंखोंपर जिस रंगका चश्मा लगाया जाता है, सब वस्तुओंका रंग वैसा ही दिखायी दिया करता है। कामी पुरुषों-को जगत् स्त्रीमय और कामके साधनोंसे भरा हुआ ही दीखता है, वह भला इस अनिर्वचनीय पवित्र प्रेमका मर्म क्या जानें? उन्हें तो इस अनन्य प्रेममें स्वाभाविक ही दोष दीखेगा!

परन्तु भगवान् श्यामसुन्दरके प्रेमी भक्तका हृदय तो गोपीप्रेमकी बात सुनकर दिव्य आनन्द-से परिपूर्ण हो जाता है, उसके रोमांच खड़े हो जाते हैं, आंखोंसे प्रेमाश्रुधारा बहने लगती है। इन दोनों प्रकारके मनुष्योंमें प्रत्यक्ष भेद पाया जाता है। निन्दा करनेवाला अपने मनको कुबुद्धि और कुविचारसे दूषित करता है और भगवान् नटनागरका प्रेमी आनन्द-सागरमें मग्न होकर अपने जीवनको सफल करता है। सच तो यह है कि यदि हमें भगवत्कृपासे गोपियोंके प्रेमका कोट्यंश भी स्पर्श कर जाय तो हमारा जीवन कृतकृत्य हो सकता है! कहां वह अद्भुत अप्राकृत प्रेम और कहां हमारी विषय-विमुग्ध तुच्छ बुद्धि? वह बुद्धि जो नाना प्रकारके मनोरथोंसे दूषित है,-जो भोग-वासनाओंसे भरी है! इसप्रकारकी बुद्धिमें ऐसे गंभीर प्रेमभावोंको समझनेकी शक्ति नहीं हो सकती। हम जैसे क्षुद्र जीव इस प्रेमपर कुछ लिखने-का साहस करें तो यह हमारी धृष्टता ही है। 'छोटे मुंह बड़ी बात' वाला हमारा यह साहस है। परन्तु उस माखनचोर व्रजचन्द्रकी स्वाभाविक दयाके भरोसे उसकी चर्चा करके उसे पुकारते हैं। शायद कभी हमारे चित्तको भी चुरानेकी बारी आ जाय!

स्वामी विवेकानन्दजीने कहा है कि 'जिन मनुष्योंके हृदय कामवासनासे भरे हैं उन्हें कोई अधिकार नहीं कि वे गोपियोंके अनन्य प्रेमपर कटाक्ष करें', वास्तवमें इस प्रेमके तत्त्वको नारद शुकदेवादि जैसे पवित्रात्मा ही समझ सकते हैं। जिनका हृदय निर्मल है, वही इस अप्रतिम प्रेमके महिमाको भलीभांति जान सकते हैं। स्वामी रामकृष्ण परमहंसको तो श्रीमती राधाके कृष्णप्रेमकी कथा सुनते ही समाधि हो जाती थी। वह इस तत्त्वको जानते थे क्योंकि उनका मन कामवासनाके स्पर्शसे कभी कलुषित नहीं हुआ था, उन्हें समस्त स्त्री-जाति मां कालीका अंश प्रतीत होता था। उन्होंने अपनी विवाहिता धर्मपत्नीको भी कभी पत्नी-भावसे नहीं देखा, उन्हें भी वे मां ही कहते थे अतएव कामहत क्षुद्र जीवोंका क्या सामर्थ्य है कि वे उस पवित्र गोपी-कृष्ण प्रेमका अनुभव कर सकें? जिन गोपियोंने सर्वस्व भगवान्पर न्यौछावर कर दिया, जिनके हृदय मुरलीमनोहरकी बांकी छबिसे सदा ही परिपूर्ण रहते थे, जिन्हें क्षणभरका भी कृष्ण-वियोग पागल बना देता था, उन विशुद्ध प्रेममूरति देवियोंके अद्भुत प्रेमकी व्याख्या करना हमारी तुच्छ बुद्धिसे परेकी बात है!

भगवान्के मथुरा चले जानेपर गोपियोंकी विरहाग्निको शान्त करनेके लिये उन्हें योगका उपदेश देने उद्धवजी वृन्दावन जाते हैं, तब गोपियां कहती हैं—

ऊधो सो मूरत हम देखी।
शिव सनकादि सकलमुनि दुर्लभ ब्रह्म इन्द्र नहिं पेखी॥
खोजत फिरत युगों युग योगी योग युगततें न्यारी।
सिद्ध समाज स्वप्न नहिं दरसी मोहनि मूरत प्यारी॥

निगम अगम विमला यश गावत रहत सदा दरबारी।
तिलभर वारपार नहिं पायो कह कह नेति पुकारी॥
नाथ यती अरु योगी जंगम ढूंढ़ फिरे बनमाहीं।
भेख धरे धरती भ्रमि हारे तिनहूं दरसी नाहीं॥
सो हम गृह गृह नाच नचाये तनक तनक दधि दैके।
रामदास हम रँगी श्यामरँग जाहु योग घर लैके॥

सांसारिक अल्पबुद्धिपर घमण्ड रखनेवाले मनुष्यो! इस अवस्थाको समझना तुम्हारी बुद्धिशक्तिसे बाहर है। इसको समझनेके लिये पहले संसारके समस्त विषयसुखोंको छोड़ना होगा, निष्कपट भावसे भगवान्‌में प्रेम बढ़ाना होगा। गोपियोंकी तरह भगवान् श्यामसुन्दरको अखण्ड सच्चिदानन्द परिपूर्ण ब्रह्म समझकर ही उनसे अनन्य प्रेम करना होगा। जबतक ऐसा नहीं होगा तबतक यह प्रेमतत्त्व कभी नहीं जाना जा सकता। गोपियाँ नन्हेंसे बालक कृष्णको जन्म-मरणशील विकारी मनुष्य नहीं समझती थीं, उनकी दृष्टिमें वह साक्षात् परब्रह्म थे। मुरलीमनोहरकी मुरलीध्वनि सुनकर जब गोपियाँ रात्रिके समय घर परिवार और शरीरकी सुधि भूल वनमें उनसे मिलीं तब श्यामसुन्दर उन्हें उलाहनासा देकर बोले, 'पति पुत्र और घरबार छोड़कर तुम्हें इस तरह पागलोंकी भांति रातको वनमें नहीं आना चाहिये था, यह लोकप्रतिकूल बात है।' यह सुनकर प्रेम-मतवाली व्रजबालाएं कहने लगीं:—

बेहोश किया है तेरी छबिने घनश्याम।
जब होश नहीं तो होशियारी कैसी॥
घरवालोंसे काम है न घरसे मतलब।
जोड़ी इक तुमसे सबसे तोड़ी हमने॥
दुनियाँको गये हैं भूल तेरी ख़ातिर।
क़िस्सेको दिया है तूल तेरी ख़ातिर॥
जाँ देके हुआ है जानका उल्टा दुश्मन।
क़ातिलको किया क़बूल तेरी ख़ातिर॥

फिर कहती हैं:—

तेरे ख्वाहां हैं सौदाई नहीं हैं।
ख़ुदाईके तमन्नाई नहीं हैं॥
अलग होवे तो हिज्रो-वस्ल मानें।
अगर दिलसे निकल जाये तो जानें॥
सरासर हेच है दुनिया ओ उक़्बा।
नहीं जुज़ तेरे कुछ तुमसे तमन्ना॥

सच तो यह है कि इस अलौकिक प्रीतिकी रीतिको कोई सच्चा भगवत्-प्रेमी ही समझ सकता है, दूसरे लोग इसका मर्म क्या जानें? हम जैसे मनुष्योंका तो इसपर कुछ लिखना केवल उद्दण्डतामात्र है। काम-वासना सब वासनाओं-से अधिक प्रबल है, जिसके वशीभूत होनेसे ऋषिमुनियोंके तप नष्ट हो गये! सांसारिक जीव तो इसके प्रहारसे मानो मरे ही हुए हैं। परन्तु यह वासना तभीतक मोहप्रद और दुर्दशाजनक है जबतक इसका उपयोग विष्ठा मूत्रसे भरे हाड़ मांसके क्षणभंगुर नाशवान् पुतलेपर किया जाता है। कामातुर जीवको कामदेव बन्दरकी तरह नचाता है, उसके विवेकका नाश कर देता है और उसे कामान्धकर तत्काल मोहरूपी गढ़ेमें फेंक देता है। परन्तु वही कामासक्ति परिपूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्दघन भगवान् वासुदेवपर अर्पित की जानेपर मनुष्यको प्रेमानन्दसागरमें निमग्नकर तन्मय बना देती है। गोपियां इसका साक्षात् उदाहरण हैं। यह भगवदीय कामवासना जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त कर देती है, मनुष्यको भगवान्‌के परमधामतक पहुंचा देती है। काम-वासना वास्तवमें हृदयके किसी परमप्रिय मनोवाञ्छित ध्येयको पानेकी उत्कट चाह और उसके मिलनकी प्रबल लालसा'का ही नाम है। यह क्षणभंगुर पदार्थके संसर्गसे क्षणिक सुख अवश्य देती है परन्तु वह मोहजनक है और मोह अन्तमें दुःख-प्रद होता है, वह ज्ञान नष्ट करके मनुष्यको अधोगतिमें डाल देता है। परन्तु अविनाशी

सच्चिदानन्दघन विभु परमात्माके संसर्गसे तो सारा मोहविष नष्ट हो जाता है। मोहरूपी विषके नाश होनेपर कामका भयंकर रूप बदलकर अति मनोहर और उपयोगी बन जाता है। लोहा अग्निके संसर्गसे भयानक रूप धारणकर समस्त पदार्थको जलानेकी शक्ति पैदा कर लेता है परन्तु वही लोहा पारसका स्पर्श पाकर सुन्दर मूल्यवान् स्वर्ण बनकर अनेक प्रकारसे मनुष्योंका भला करता है। ऐसे ही यह कामवासना भी अपवित्र क्षणभंगुर अनित्य पात्रके संसर्गसे मनुष्यको नानाभांति कष्ट और क्लेश देकर अत्यन्त पीड़ित करती है और यही अविनाशी सच्चिदानन्दघन परमात्माके दिव्यस्पर्शसे परमानन्दके देनेवाली बन जाती है।

गोपियोंके प्रेमका आनन्द गोपियां ही जानती थीं, हम जैसे पामर जीव उस अचिन्त्य आनन्दका क्या वर्णन कर सकते हैं? वह भगवान् सच्चिदानन्द मुरली-मनोहर बुद्धिका विषय नहीं है, जो सारा अपनापन उन्हें सौंपकर उनका होकर रहता है, भक्त-मोहापहारी भगवान् उस शरणागत भक्तको ही प्रेमका उपहार देते हैं, अन्यथा उसका मिलना असम्भव है। उनकी अपरिमित कृपाका प्रवाह तो अविच्छिन्नरूपसे निरन्तर बह रहा है, अहंकाररूपी बांधके टूटनेकी देर है, जहां वह टूटा कि भगवत्कृपा हृदयरूपी खेतको तुरन्त भरपूरकर हराभरा कर देती है। यह अहंकार-पिशाच भगवान्के अनन्य-शरण हुए बिना कभी भाग नहीं सकता। अतएव भगवान्की शरण ग्रहण करना ही प्रेमप्राप्तिका परम साधन है।

शरणागत जीव अभयपद पा जाता है, वह भगवान्की कृपाका पात्र बन जाता है, फिर उसे किसी भी झंझटमें पड़नेकी जरूरत नहीं रहती। नानाप्रकारके धर्म-कर्म तप योगादि कर्मोंसे ऐसे भक्तको कुछ गरज नहीं रहती। जिसने गोपियोंकी तरह सब कुछ उन्हें अर्पित कर दिया है उसके लिये और कुछ भी कर्तव्य बाकी नहीं रहता!

यह स्मरण रखना चाहिये कि अनन्य-शरण हो जानेपर मनुष्यसे कोई अधर्म बन ही नहीं सकता। क्योंकि उसके हृदयमें अन्य कोई वासना ही नहीं रह जाती, वह तो तैलधारावत् निरन्तर भगवान्के स्मरणमें लगा रहता है। जीवसे पाप तभी होते हैं जब वह दीनबन्धु अन्तर्यामीको भूल जाता है, उन्हें भूलना ही सब दुःखों और पापोंकी जड़ है। अनन्यचेता मनुष्य निरन्तर तद्गत-चित्त रहता है इसलिये वह सदा ही पापोंसे मुक्त है, उसको सदैव आनन्द ही आनन्द है, पापोंका वहां क्या काम? वह तो निरपेक्ष है—जीवन्मुक्त है!

जो परा भक्ति है, वही परम ज्ञानकी चरमावस्था है। ऐसे भक्तके हृदयमें भगवान् मधुसूदन सदैव वास करते हैं। वह परमभक्त समस्त जगत्को कृष्णमय देखता है। उसे समस्त पदार्थ कृष्ण ही कृष्णरूप भासते हैं। इसलिये वह सभीसे प्रेम करता है, छोटेसे छोटे जीवके लिये भी वह अपने प्राणतक देनेको तैयार रहता है, निष्कपट भावसे सबकी सेवा करनेमें उसे अद्भुत आनन्दकी प्राप्ति होती है। विषधर भुजङ्ग हम अज्ञानी जीवोंके लिये भले ही भयजनक हो परन्तु उस भक्तकी दृष्टिमें तो भगवान् श्यामसुन्दर ही उस रूपमें लीला कर रहे हैं, इसलिये वह बड़े चावसे उस सर्पसे भी आलिङ्गन कर सकता है। उसके अपरिमित प्रेमके सामने हिंस्र जीव भी अपने कुटिल स्वभावको छोड़ देते हैं। वह भक्त मानो अहिंसाकी साक्षात् मूर्ति ही बन जाता है, उसके संसर्गसे वैर भावका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। महर्षि पतंजलिका योगसूत्र भी यही कहता है कि "अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" अर्थात् जिसके हृदयमें अहिंसा परिपक्व हो गयी है उसके चारों ओर ऐसा वायुमण्डल विस्तृत हो जाता है कि वहां वैरभाव एकदम नष्ट हो जाता है। अनन्य भक्तका हृदय एक ऐसा

डायनेमो (Dynamo) है, जिससे प्रेमरूपी बिजलीका प्रवाह निरन्तर जारी रहकर समस्त जगत्को प्रेमज्योतिसे आच्छादित कर देता है, इससे वहां द्वैत-अन्धकार रहने ही नहीं पाता।

भगवान् शंकराचार्यके रज्जु सर्पके उदाहरण-की तरह उसके लिये फिर जगत् वह जगत् नहीं रहता, जिसे साधारण मनुष्य द्वैतभावसे देखते हैं। अँधेरेमें रज्जुमें सर्पकी प्रतीति होती है, भय लगता है, मनुष्य भागता है, हृदय धड़कने लगता है, सम्भव है कि घबराहटमें किसी दीवालसे टक्कर लगकर उसका सिर फूट जाय, खून बहने लगे और होश जाता रहे। परन्तु यह सब अवस्थाएं केवल अज्ञानवश होती हैं, न कोई वास्तवमें सर्प था और न कुछ भयका कारण था। ऐसे ही अज्ञानके कारण मनुष्य जगत्को भी अपनी अपनी रुचि और मानसिक अवस्थाके अनुसार कल्पित कर लेता है, इसीसे किसीके लिये यह संसार सुखमय है और किसीको इसमें दुःख ही दुःख भासता है। परन्तु शरणागत भक्त अपने अनन्य प्रेमके प्रभावसे समस्त द्वैतभावका नाश करके जगत्को कृष्णमय ही बना लेता है। उसे भीतर बाहर सब जगह केवल मधुसूदनकी मनमोहनी छटाका ही अनुभव होता है।

गोपियां अन्तर्धान हुए अपने प्रियतम व्रजकिशोरको ढूंढ़ते ढूंढ़ते जब थक गयीं तब उन्हें कण कणमें केवल कृष्ण ही दीखने लगे। वे कहती हैं—

बांसुरी ओ ! लबे जमना पै बजानेवाले !
चांदनी रातमें ओ ! आग लगानेवाले !!

खाके अश्शाकसे दामनके बचानेवाले !
देखता जा हमें मुंह फेरके जानेवाले !!

न छिपेगा न छिपेगा कभी जलवा तेरा !
देख हर ज़र्रेमें है हुस्न सरापा तेरा !!

वो सितमगर गलत लुत्फ़ो करमका था गुमां !
ओ निराकार ! कहां तुझमें मुहब्बतका निशां !!

काश बदनाम न होजाये मुहब्बत तेरी !
बेवफ़ा देख न खुल जाये हकीकत तेरी !!

जब विरहका दर्द बहुत बढ़ गया और सारी सुधबुध जाती रही तब उन विरहिणी गोपियोंमें-से एक कहने लगीः—

तुम्हीं क्या हो तुम्हारा मुद्दआ क्या ।
रज़ाय यारमें चूनो चरा क्या ॥
हैं विष्णो रुद्रो ब्रह्मा ग़ाफ़िले राज़ ।
तुम्हें सामाने ज़ाहिर पर हुआ नाज़ ॥
कहीं सायेमें साया धूपमें धूप ।
हज़ारों रूपमें है एक ही रूप ॥
यही बेहतर है बेतकरार होकर ।
रहो महवे जमाले-यार होकर ॥
नजातो मोक्ष है यादे गरामी ।
है वस्ले अस्ल ज़िक्रे नामे नामी ॥
नहीं दुनिया आमाफ़ीहासे कुछ काम ।
यहीं बैठी भजो हरनामका नाम ॥

मेरी समझसे तो यही ज्ञानकी परमावस्था है। यही आत्म-समर्पणका आदर्श है । निरन्तर भगवत्-स्मरण ही मोक्ष है, उनकी हर पलकी याद ही उनसे मेल है ! नाम और नामीमें भेद नहीं होता, जिसने नामको पकड़ लिया उसने नामीको भी पा लिया, इसमें सन्देह ही क्या है ? गोपियोंने इस भेदको जान लिया था इसी कारण उनके स्मरणकी तीव्रतासे भगवान्को प्रकट होना पड़ा। अब भी कोई सच्चे हृदयसे सारा भरोसा छोड़कर उन्हें विह्वल होकर पुकार देखे, वे तुरन्त प्रत्यक्ष होंगे ! परन्तु बड़ी लगन चाहिये, जैसे डूबते हुएको केवल सांसकी ही इच्छा होती है, वैसे

ही उनसे मिलनेकी जब तीव्र चाह होगी तभी उनके साक्षात् दर्शन होंगे !

प्यारे सज्जनो ! अपने अपने हृदयोंको टटोलो और देखो, 'क्या तुम्हें भक्त-वत्सल व्रजविहारी-से मिलनेकी उत्कट इच्छा है? क्या उनके मिले बिना तुम्हें जीवन व्यर्थ मालूम होता है? क्या उनके विरहतापसे तुम्हारा हृदय जला जाता है? क्या धन, दौलत, कुटुम्ब, परिवार और यह शरीर तुम्हें उनके बिना सूखे तृण-सम तुच्छ,नीरस प्रतीत होता है और क्या तुम उनके लिये सर्वस्व न्यौछावर करनेको तैयार हो ?' यदि हो तो तुम बड़े भाग्यशाली हो, भगवान्‌के प्यारे हो ! तुम्हारे ही जैसोंके कारण वह अहैतुक कृपासिन्धु परमात्मा गरुड़ जैसे द्रुतगामी वाहनका भरोसा छोड़कर पैदल दौड़े आते हैं और भक्तको सन्तुष्ट करते हैं ! भक्त और भगवान्‌में भेद नहीं होता, इसलिये हम तुम्हें हृदयसे साष्टांग प्रणाम करते हैं और विनती करते हैं कि 'हे प्रियतमके प्रेमी भक्त ! हमपर भी कृपादृष्टि रक्खो और अपनी इस सच्ची कमाईमें हमारा भी थोड़ासा हिस्सा रखनेकी कृपा करो। हमारे पास न प्रेमधन है, न तुम्हारे जैसी लगन है, न हमें संसारके प्रलोभनोंसे विरक्ति है और न भगवन्नामका आधार है। हम नितान्त दीन हीन असमर्थ हैं। परन्तु यह सब होनेपर भी तुम जैसे अहैतुक भक्तोंके बलके सहारे हम निराश नहीं हैं, तुम्हारा हृदय विशाल होता है, दीनोंपर कृपा करना तुम्हारा स्वभाव है, तुम्हारी तनिकसी कृपादृष्टि हमारे जन्म जन्मान्तरके मैलको धो डालेगी और हमें भी तुम्हारी तरह उस पतितपावन मुरलीमनोहरके कृपापात्र बननेका अधिकार मिल सकेगा।

अब उन महानुभावोंसे-जो हमारी ही तरह प्रेमधनके भिखारी हैं-यही प्रार्थना है कि,'मित्रो ! सांसारिक प्रपञ्चोंसे प्रीति न जोड़कर बस, उस मदनमोहन व्रजचन्द्रके अनन्यशरण हो जाओ ! उन्हींकी मंगल गोदमें बैठनेपर महामोहरूपी पिशाचसे छुटकारा मिलेगा। हम लोगोंको और कहीं भी गति नहीं है ! वह दीनबन्धु हैं, अवश्य कृपा करेंगे ! अपने अपने कर्तव्य कर्म धर्मभावसे करते रहो, परन्तु मन सदा उन परम प्यारेके चरणोंमें रक्खो ! प्रातःकाल जब सोकर उठो, अपने आपको उनके चरणोंमें डाल दो और उन्हींकी प्रसन्नताके लिये संसारका कार्य करो ! वही हृदयमें बैठे इस ढांचेको चला रहे हैं, तुम कौन हो जो वृथा अभिमानसे 'मैं मैं' करते फिरते हो ? इसी अज्ञानने तुम्हें माया-मोहकी हथकड़ी पहना रक्खी है। अतएव सब काम करते हुए भी भगवत्-स्मरण कभी न भूलो, रातको सोनेसे पहले उन्हींका स्मरण करके शयन करो, उनकी माधुरी मूरतिका ध्यान करते करते उन्हीं-की परम सुखद गोदमें सो रहो। सारांश यह कि उनका होकर रहनेमें ही भलाई है, अन्यथा संसारके भयानक दावानलसे छुटकारा मिलना असम्भव है। अज्ञानरूपी अन्धकारमें ठोकरें खा खाकर भटकते फिरनेमें कभी सुख न मिलेगा, मुफ्तमें जान जायगी और फिर उसी चक्करमें फंसना होगा। यदि कुछ चतुराई रखते हो और अपने सिरके असह्य भारको हलका करना चाहते हो तो सब कुछ भगवान्‌को सौंपकर निर्द्वन्द्व हो जाओ; अनेक प्रकारके कर्तव्य अकर्तव्य कर्म, तथा धर्माधर्मके बड़े भारी बोझसे दबाकर क्यों इन प्राणोंको व्यर्थमें खोते हो ! सुनो उनकी निश्चित अभय वाणीः-

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

अतएव 'आओ ! हम भी श्रीरामकृष्ण परमहंसकी तरह सर्वस्व उनके चरणोंमें रखकर कहें कि 'यह लो अपना ज्ञान और यह लो अपना अज्ञान, मुझे शुद्ध भक्ति दो; यह लो अपना धर्म यह लो अपना अधर्म, मुझे शुद्ध भक्ति दो, यह लो अपनी शुचि, यह लो अपनी अशुचि, मुझे शुद्ध भक्ति दो।' श्रीकृष्णार्पणमस्तु !

महात्मा कबीर

(लेखक-श्रीसत्याचरणजी 'सत्य' विशारद)

विश्व-मञ्चकी अतीत यवनिकापर जहां बड़े बड़े राज्योंके सर्वनाश एवं उत्थानकी गाथाएं अङ्कित हैं वहां सन्तों तथा कवियोंकी मनोरम भावनाएं भी नृत्य कर रही हैं। उनकी साधना और कल्पनाएं अनन्त युगतक सैकड़ों पुरुषों एवं स्त्रियोंको अनन्त धारामें प्रवाहित होकर तृप्त करती रहेंगी। भौतिक शरीरके नाशमात्रसे काल्पनिक काव्यमय जगत्का अस्तित्व लुप्त नहीं होता। वह अमर गाथाकी भांति संसारचक्रकी प्रत्येक जातिमें उसका दिव्य संदेश भरता है जिससे समस्त भूमण्डल ओतप्रोत हो अमरत्वको प्राप्त हो। ऐसी भावनाओंके सूत्रपातका समय निश्चित अथवा नियमित नहीं होता। जब उनकी आवश्यकता पड़ती है, उसी समय वे किसी भावुकके रहस्यमय हृदयसे दैवी प्रेरणावश उद्गारस्वरूप निकलती हैं। इसी उद्गारमालाकी पुनीत गङ्गामें साधारण जन भी स्नानकर अपने जीवनको सफल बनाते हैं।

कोई ऐसा भाग्यहीन देश नहीं है जो महात्मा अथवा कविसे शून्य हो। ये दोनों किसी भी सभ्य समाजके आवश्यकीय अङ्ग हैं। जहां महात्माओंका जीवन आध्यात्मिकताका उत्कृष्ट पाठ पढ़ानेमें लगता है वहां कवियोंका ध्येय मनुष्योंका चरित्र-चित्रण, दोष-गुणोंका विवेचन तथा हृदयग्राही भावोंद्वारा यथार्थ शिक्षण होता है। अतः इन दोनों अङ्गोंकी उपेक्षा करना किसी भी जातिके लिये अधःपतनका चिह्न है। सभ्यताके इतिहासपर यदि हम दृष्टिपात करें तो यह विषय सर्वथा स्पष्ट हो जायगा कि जबतक कोई देश असभ्य रहा है तबतक न हमें किसी महात्मा और न किसी कविका ही वर्णन मिलता है। बात भी सत्य है, क्योंकि ये दोनों सभ्यताकी चरम सीमाके सूचक हैं।

भक्त रैदासके विषयमें लिखते समय यह बतलाया गया था कि कवियोंकी दो श्रेणियां होती हैं। एक तो केवल बाह्य सृष्टिका वर्णन ही अपनी कृतीका मुख्य लक्ष्य समझते हैं, दूसरे मानसिक भावोंके विश्लेषक होते हैं। दूसरी श्रेणीके कविका स्थान उत्कृष्टतर होता है। भक्त रैदासकी भांति महात्मा कबीरदास भी इसी कोटिके कवि थे। उनका हृदय साधुत्व तथा कवित्वका एक मनोरम मिश्रण था। किन्तु एक कोटिमें महात्मा कबीरदास तथा रैदासजीको रखनेसे यह समझ लेना उचित न होगा कि दोनों ही ध्यान, धारणा विद्या तथा बुद्धि आदिमें समान थे। यों तो महात्माओंकी तुलना करना कोई स्तुत्य बात नहीं है किन्तु उनके जीवनमें कुछ ऐसे चिह्न अवश्य मिल जाते हैं जिनके द्वारा हम स्वतः एक दूसरेकी महत्ता अथवा न्यूनताके विषयमें अनुमान कर लेते हैं। इन्हीं लक्षणोंके आधारपर यदि महात्मा कबीरदासजीको भक्त रैदासजीसे ऊंचा आसन दिया जाय तो कोई अनुचित बात न होगी। कवित्वकी दृष्टिसे तो उनका स्थान अत्यन्त ही ऊंचा है और उनके धार्मिक सिद्धान्तोंके प्रभावका इससे अधिक सुन्दर उदाहरण क्या हो सकता है कि भारतवर्षके अन्यान्य भागमें कबीरके अनुयायी अधिक संख्यामें पाये जाते हैं।

महात्मा कबीरदासजीकी जन्मतिथि भी अन्य

महात्माओंकी भांति विवादसे रहित नहीं है। अनुमानका आश्रय यहां भी लेना पड़ता है, कई इतिहासज्ञों तथा विद्वानोंने यह निर्णय किया है कि कबीरदासजीका जन्म १३९९ ईस्वीमें हुआ था। उन्हीं इतिहासज्ञोंकी सम्मतिसे यह भी ज्ञात होता है कि कबीर साहबके समयमें भारतका शासक सिकन्दर लोदी था। भक्तमालकी घटना द्वारा इसका पर्याप्त पुष्टीकरण भी हो जाता है, क्योंकि वहां इस प्रकारका उल्लेख मिलता है कि सिकन्दर लोदीने कबीरदासजीको मरवा डालनेके लिये प्रयत्न किया था। कीन साहबकी पुस्तक 'टेक्स्ट बुक आव इण्डियन हिस्टरी' तथा 'कबीर-कसौटी' आदि पुस्तकोंसे भी उस समय सिकन्दर लोदीके वर्तमान होनेका प्रमाण मिलता है।

महात्मा कबीरदासजीकी जन्म-कथा बड़ी विचित्र है। इस सम्बन्धमें बहुत सी लोकोक्तियां प्रचलित हैं किन्तु कुछ ग्रन्थकारोंके अनुसार कबीरदासजीके पिताका नाम नूरअली तथा माताका नाम नीमा था। कबीरदासजी नीमाके पेटसे उत्पन्न हुए थे अथवा नहीं, यह बहुत विवाद-ग्रस्तसा विषय है। कुछ लोगोंकी रायसे वह नीमाके ही पेटसे उत्पन्न हुए थे किन्तु विशेषकर यह सुना जाता है कि एक दिन नूरअली जुलाहा गङ्गा अथवा लहरतारा तालाबके किनारे सूत धो रहा था। अचानक उसकी दृष्टि एक बहते हुए बालकपर पड़ी। उसने उस नवजात शिशुको निकालकर नीमाको उसके पालन पोषणके लिये सौंप दिया। यही बालक कुछ कालके पश्चात् कबीरदासके नामसे संसारमें प्रख्यात हुआ। इस कथनमें कहांतक तथ्य है इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। हमारा उनके उपदेश तथा उनके जीवनकी पवित्र क्रियाओंसे विशेष सम्बन्ध है।

कबीरदासजी स्वामी रामानन्दजीके शिष्य थे किन्तु उनकी गति स्वामीजीसे कम नहीं थी। लोग कहते हैं कि गुरुकी मर्यादाको स्थिर रखनेके लिये ही महात्मा कबीरदासजीने स्वामी रामानन्दको गुरु बनाया था किन्तु इससे यह समझ लेना कि, कबीरदासजी उनके अनुयायी अर्थात् वैष्णव थे, अनुचित होगा। महात्मा कबीर एक सत्य पुरुषके उपासक थे। अपनी समस्त वाणियोंमें उन्होंने उसी परमपुरुष और उसके ध्वन्यात्मक नामकी महिमा गायी है। अस्तु, महात्मा कबीरके स्वामी रामानन्दके शिष्य होनेमें कुछ विद्वानोंकी सम्मतिका उद्धरण देना श्रेयस्कर होगा। महात्मा कबीरके प्रमुख शिष्य श्रीधर्मदासजी थे। उन्होंने 'कबीरकसौटी' नामक ग्रन्थमें इस प्रकार लिखा है:—

काशीमें प्रगटे दास कहाये, नीरूके गृह आये।
रामानन्दके शिष्य भये, भवसागर पंथ चलाये॥

पुनः महात्मा कबीरने भी स्वयं कहा है:-

भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट करी कबीरने, सात दीप नौ खंड॥

(चौरासी अङ्गकी साखी, भक्तिका अङ्ग)

उपर्युक्त उद्धरणोंसे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि कबीरदासजी स्वामी रामानन्दजीके शिष्य थे। अब यह प्रश्न रहा कि कबीर साहब मुसलमान थे अथवा हिन्दू? इस विषयमें भी लोगोंकी भिन्न भिन्न सम्मतियां हैं किन्तु पक्षपातसे रहित होकर यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो कबीर साहब वास्तवमें हिन्दू सिद्ध होंगे। जुलाहेके गृहमें पालन-पोषणमात्रसे उन्हें मुसलमान कहना उपयुक्त न होगा। इसके निर्णय करनेके समय हमें कबीर साहबकी शिक्षा तथा उनके जीवनका अध्ययन करना आवश्यक है क्योंकि इन्हींके द्वारा किसीका हृदयस्थ भाव तथा मत जाना जा सकता है। यह बात सर्वथा ठीक है कि वह जिज्ञासुके रूपमें किसी भी मतावलम्बीके पास जानेमें हिचकते न थे। हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन आदि चाहे कोई मतावलम्बी हो, यदि वह परमात्माके अगम ज्ञानका पथ-प्रदर्शन कर सकता है तो कबीर साहबको उसके समक्ष मस्तक नत करनेमें कोई बाधा नहीं थी। रेवरेंड जी० एच० वेसकट एम०

ए० ने अपनी पुस्तक 'कबीर एण्ड दी कबीर पंथ' में एक फारसी इतिहासज्ञ मुंहसिनफनी कश्मीरवालाकी पुस्तक 'दबिस्ता' से निम्न वाक्य उद्धृत किया है:—

'कबीर जुलाहे और एकेश्वरवादी थे। आध्यात्मिक पथ-दर्शक मिले इस इच्छासे वे हिन्दू साधुओं एवं मुसलमान फकीरों दोनोंके पास गये' (कबीर एंड दी कबीर पंथ पृष्ठ ३७)

अतः इन वाक्योंसे कबीर साहबकी आत्मज्ञानकी अन्वेषणा ही ज्ञात होती है, अब उन वाक्योंको भी सुनिये जिनके पढ़नेसे यह सहज ही ज्ञात हो जायगा कि कबीर साहब मुसलमान नहीं थे।

सुनत कराय तुरुक जो होना, औरतको का कहिये।
अरध शरीरी नारि बखाने, ताते हिन्दू रहिये॥
(शब्द ८४ कबीरबीजक पृष्ठ ३६३)

कितो मनावें पांय परि, कितो मनावैं रोई।
हिन्दू पूजैं देवता, तुरुक न काहुत होई॥
(साखी १८७ कबीरबीजक पृष्ठ ५९६)

'हरिऔध' जीने कबीरसाहबके हिन्दू होनेके सम्बन्धमें बड़ी ही सुन्दर युक्ति दी है—

यदि वे (कबीर साहब) मुसलमान धर्माचार्योंद्वारा प्रभावित होते, तो उनकी रचनाओंमें अहिंसावाद और जन्मान्तरवादका लेश भी न होता। जो हिंसावाद मुसलमान धर्मका प्रधान अङ्ग है, उस हिंसावादके विरुद्ध जब वे कहने लगते हैं, तो ऐसी कड़वी और अनुचित बातें कह जाते हैं जो एक कर्मोपदेशकके मुखसे अच्छी लगतीं। क्या हिंसावादका उन्हें इतना विरोधी बनानेवाला मुसलमान धर्म या सूफी सम्प्रदाय हो सकता है? उनका सृष्टिवाद देखिये वही है जो पुराणोंमें वर्णित है। उनकी रचनाओंमें जितना हिन्दू-शास्त्र और पौराणिक कथाओं एवं घटनाओंके परिज्ञानका पता चलता है उसका शतांश भी मुसलमान धर्म-सम्बन्धी उनका ज्ञान नहीं पाया जाता।………इन बातोंसे क्या सिद्ध होता है यही कि,'उन्होंने किसी परम विद्वान् हिन्दू महात्माके सत्संगद्वारा ज्ञानार्जन किया था और स्वामी रामानन्दके अतिरिक्त उस समय ऐसा महात्मा कोई दूसरा नहीं था।' उपरोक्त बातों द्वारा यह निर्विवादसा प्रतीत होता है कि कबीर साहब वास्तवमें हिन्दू थे। यहांपर केवल इसी कारणसे उनके हिन्दूपनपर विचार किया गया है कि प्रायः भक्तोंमें भी यह भ्रमपूर्ण बात फैली रहती है कि वह मुसलमान थे।

कबीर साहब विवाहित थे अथवा नहीं इस विषयमें मतान्तर है। कबीरपंथियोंके अनुसार वे विवाहित नहीं थे। कमाल और कमाली ये दोनों उनकी सगी सन्तान नहीं थीं, अपितु उन्हें मृतक अवस्थामें देखकर कबीर साहबने दया की और वे दोनों पुनः जीवित हो उठे। जीवनलाभके पश्चात् वे कबीर साहबके साथ ही रहने लगे और उनके पुत्र तथा पुत्रीके रूपमें विख्यात हुए। अनुमान किया जाता है कि कबीरपंथियोंने निम्न कथनपर ही कबीर साहबको अविवाहित होना सिद्ध किया है:-

नारि नसावै तीन गुन, जो नर पासे होय।
भक्ति मुक्ति निज ध्यानमें, पैठि सकै नहिं कोय॥
नारीकी झाईं परत, अंधा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी कौन गति, नित नारीको संग॥
(चौरासी अङ्गकी साखी, कनककामिनीका अङ्ग)

किन्तु अन्य लोगोंकी सम्मतिमें महात्मा कबीरका विवाह लोई नामकी स्त्रीसे हुआ था। यह बड़ी सदाचारिणी और कबीर साहबकी दृढ़ शिष्या थी। यह उक्ति न्यायसंगत उचितसी जान पड़ती है क्योंकि यदि लोई विवाहिता स्त्री न होती तो उसका कबीर साहबके सन्निकट आजन्म रहना कठिन था।

महात्मा कबीरदासजीके विवाहकी एक बड़ी

रोचक कथा उपलब्ध होती है जो उनके शील और गुणोंके ऊपर पर्याप्त प्रकाश डालती है। एक बार कबीर साहब भ्रमण करते हुए गंगाके किनारे निर्जन पर्णशालाके पास पहुंचे। वहां एक बीस वर्षीया युवतीको छोड़कर और कोई न था। उसने इनका स्वागत किया। कुछ समयके पश्चात् कुछ साधू और आये। युवती अतिथि धर्मको दृष्टिमें रखकर कुछ दूध लायी। साधुओंने उस दूधको सात भागोंमें विभक्तकर पांच भाग तो स्वयं लिया और एक एक भाग युवती तथा कबीर साहबको दे दिया। कबीर साहबने दुग्ध-पान करनेके बदले उसे पृथ्वीपर रख दिया। युवतीने लज्जावश संकोचके साथ दुग्ध न पान करनेका कारण पूछा तो महात्मा कबीरने उत्तर दिया कि 'देखो गंगाके दूसरे पारसे एक और साधू आ रहा है, उसीके लिये मैंने इस दूधको छोड़ रक्खा है।' इसको सुनकर युवती कबीर साहबकी सज्जनतापर मुग्ध हो गयी और उसी समय उनके साथ घर चली आयी और विवाहितरूपसे उनके पास रहने लगी। इसीका नाम लोई था और कमाल तथा कमाली इसीकी सन्तान थीं।

भक्तोंको प्रत्यक्ष प्रमाणोंद्वारा गूढ़से गूढ़ सिद्धान्तोंके ज्ञान करानेकी विधि कबीर साहबमें अद्भुत थी। एक बार एक भक्तको, जो भक्तिके वास्तविक स्वरूपकी जिज्ञासासे कबीर साहबके पास आये थे, यथार्थतः भक्तिका रूप दिखलाया। विधि इस प्रकार थी कि वह लोईके साथ मध्याह्न-के समय ताना बुन रहे थे। धीरेसे उन्होंने लोईके बिना जाने ही ढरकीको निकालकर अपनी झोलीमें छिपा लिया और लोईसे उसे खोजनेके लिये कहा। लोई बहुत देरतक पृथ्वीपर उसे खोजती रही किन्तु अन्तमें न पाकर कांपती हुई उसने प्रार्थना की कि ढरकी नहीं मिलती। इसको सुनकर कबीर साहब रुष्ट होकर बोले कि 'अंधेरेके समय बिना दीपक जलाये तुम्हें ढरकी किस प्रकार प्राप्त हो सकती है?' यह सुनकर लोईको सचमुच चारों ओर अंधेरासा प्रतीत होने लगा और उसने दीपक जलाकर ढरकीको खोजना प्रारम्भ कर दिया किन्तु पुनः उसे पूर्ववत् निराश होना पड़ा। अन्तमें कबीर साहबने झल्लाकर कहा कि 'देख मैं खोजता हूं' यह कहकर उन्होंने ढरकीको अपनी झोलीसे पृथ्वीपर गिराकर उसे उठा लिया और कहा कि 'देख, तू अन्धी है, तुझे नहीं दिखलायी देता था, ढरकी यहांपर है।' लोईने नयनोंमें अश्रु भरकर क्षमा-याचना की। तब कबीर साहबने उस जिज्ञासु भक्तसे कहा कि 'देखो, भक्तिका यही यथार्थ स्वरूप है; जो भगवन्त कहें उसी समय वही चारों ओर दिखायी देने लगे।' वास्तवमें भक्ति एकप्रकारकी मादकमय धारा है जिसमें स्नपित होकर भक्त विवेचना-शक्तिसे रहित हो जाता है। उसकी सारी इन्द्रियाँ एकत्रीभूत होकर एक ही अन्तिम ध्येयकी प्राप्तिकी ओर अग्रसर होती हैं, जहाँ तर्कका अन्त होता है वहाँ ही अनुभवकी प्रवृत्ति होती है। यही अनुभव भक्तिका प्रथम सोपान है।

कबीर साहबकी एक और आश्चर्यजनक घटनाका वर्णनकर उनकी कविताओंके विवेचन-का प्रयास करूँगा। काशीके पण्डितोंका कबीर जैसे अब्राह्मण एवं असंस्कृतज्ञसे द्वेष होना अस्वाभाविक नहीं था। कहते हैं उन्होंने एक बार द्वेषवश कबीर साहबकी ओरसे सैकड़ों मनुष्योंको भोजनके लिये निमंत्रण दे दिया। निर्धारित समयपर बहुतसे साधू एवं गृहस्थ कबीर साहबके गृहपर उपस्थित हुए। यह देखकर कबीर साहबने बड़े शान्त भावसे अपने एक सेवकको एक हांड़ीमें थोड़ासा भोजन बनवाकर उसे कपड़ेसे ढककर सबको भोजन करानेके लिये आज्ञा दी। सेवकने आज्ञा मानकर उसी प्रकार सबको भोजन कराना आरम्भ करा दिया। अन्तमें सभी लोग भोजन-कर सन्तुष्ट हो चले गये। पश्चात् हांड़ी खोलनेपर पूर्ण निकली। इस घटनाको पढ़कर हमें महात्मा ईसाके भी उस आश्चर्यजनक घटनाका स्मरण हो

आता है, जब कि उन्होंने केवल एक रोटीमें कितने ही पुरुषोंकी उदरपूर्ति की थी।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक सन्तके गर्भमें अथाह शक्तियाँ अदृश्यरूपसे केन्द्रीभूत रहती हैं। वह उसका प्रयोग प्रत्येक समय नहीं करता। इसीमें उसकी महत्ता है कि वह साधारण मनुष्यकी भाँति जीवन व्यतीत करते हुए उचित मार्गका दिग्दर्शन कराये। अवतारवादका सिद्धान्त माननेवालोंसे यह बात छिपी नहीं है कि मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम, भगवान् कृष्ण तथा अन्य अवतार ईश्वरके ही प्रत्यक्षस्वरूप थे। उनमें शक्तियां थीं किन्तु उनका आविष्करण प्रत्येक समय उन्होंने नहीं किया, क्योंकि इससे उनकी मनुष्य-श्रेणीमें गणना नहीं होती और न इससे साधारण मनुष्योंपर प्रभाव ही पड़ता। यह प्रायः देखा जाता है कि साधारण जनता जितनी प्रत्यक्ष बातोंसे सन्तुष्ट होती है उतनी वह काल्पनिक अथवा अदृश्य सिद्धान्तोंसे नहीं होती। यही कारण है कि समय समयपर महात्माओंका जन्म हुआ है जिन्होंने अपने क्रियात्मक जीवन-द्वारा जनताके समक्ष उचित मार्गको उपस्थित किया है। अतः यदि प्रत्येक महात्मा अथवा सन्त किसी विशेष सन्देशका वाहक कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा।

महात्मा कबीरदासजी भी एक महान् सन्देश-वाहक थे। यद्यपि वह पढ़े लिखे नहीं थे तथापि उनमें वह ईश्वरप्रदत्त शक्ति थी जिसके द्वारा वह अपने कार्यमें पूर्णतया सफल हुए। उनमें वाणीकी मधुरता, सरल तथा चुभती हुई भाषामें समझानेकी पटुता इतनी विलक्षण थी कि मनुष्य हठात् उनकी ओर आकर्षित हो जाता था। वह एक परमपुरुष अर्थात् ब्रह्मके उपासक थे। स्थान स्थानपर उन्होंने रामनामकी महिमा गायी किन्तु यहां रामनामसे उन्होंने किसी व्यक्ति-विशेषका ग्रहण नहीं किया है। राम शब्दका अर्थ उन्होंने ब्रह्मपदसे लिया है और उसीकी प्राप्तिको अन्तिम ध्येय बताया है। इन सब बातोंके होते हुए भी वह अपने उदार हृदयके लिये अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। वह मैत्रीके संदेशवाहक थे। धर्मके नामपर परस्पर वैमनस्य अथवा विद्वेषकी भभकती हुई अग्नि वह सहन नहीं कर सकते थे। इसी कारण उन्होंने किसी मतविशेषका खण्डन नहीं किया। उनका अनवरत परिश्रम सब धर्मोंके मिलानेका था। वह यह सहन नहीं कर सकते थे कि हिन्दू मुसलमान केवल धर्म-भेदके कारण आपसमें युद्ध करते रहें। उनका यह परम विश्वास था कि प्रत्येक धर्मद्वारा मनुष्य उस प्रभुकी प्राप्ति कर सकता है जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है 'नदिया एक घाट बहुतेरा।' लक्ष्य तो एक ही है केवल मार्ग भिन्न भिन्न हैं। यदि लक्ष्य-प्राप्तिकी हृदयमें उत्कट इच्छा है तो मार्ग चाहे कोई हो, कभी न कभी लक्ष्यकी प्राप्ति अवश्य हो जायगी। केवल निम्न पंक्तियोंसे पता लग जायगा कि वह हिन्दू तथा मुसलमानोंके पारस्परिक कलहसे कितने दुखी थे और उन्हें मिलानेका कैसा प्रयास करते थे।

हिन्दू कहत है राम हमारा, मुसलमान रहमाना।
आपसमें दोउ लड़े मरत हैं, दुविधामें लिपटाना॥
घर घर मंत्र जो देत फिरत हैं, महिमाके अभिमाना।
गुरुवा सहित शिष्य सब बूड़े, अन्तकाल पछताना॥

ऐसे पूर्ण साधुका १२० वर्षकी अवस्थामें १५१६ ईस्वीमें बस्ती जिलेके अन्दर मगहर नामक स्थानपर देहान्त हुआ। अबतक वहांपर महात्मा कबीरदासजीकी समाधि बनी हुई है जो उस प्राचीन महात्माकी सजीव स्मृति दिलाती है। नाभादासजीने महात्मा कबीरके देहान्तके विषयमें लिखा है:—

भजन भरोसे आपने, मगहर तज्यो शरीर।
अविनाशीकी गोदमें, बिलसैं दासकबीर॥

महात्मा कबीरदासजीके संक्षिप्त जीवनका परिचय करनेके पश्चात् अब उनके कुछ पदोंको

उद्धृत करता हूं जिससे उनके काव्यका विहग-दृष्टि-चित्र (Bird-eye-view) मात्र उपस्थित कर सकूं। कबीरदासजीके पदोंको पढ़ते समय यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि उनके पदोंमें भले ही कहीं पदभङ्ग, गतिभङ्ग, आलङ्कारिक व्यतिक्रम तथा रस आदिका अनौचित्य हो किन्तु भावोंकी इतनी सुन्दर उड़ान तथा गूढ़तम विचारोंका इतनी सरलतम भाषामें प्रकाशन कदाचित् ही कहीं मिले। लक्षण ग्रन्थोंद्वारा प्रतिपादित अनौचित्य यदि कहीं हो भी तो वह महात्मा कबीरदासजीके लिये सर्वथा क्षन्तव्य है, क्योंकि वह सन्त थे। उनका कार्य आकर्षक शब्दोंमें प्रभुका सन्देश सुनाना था, उन्होंने साहित्यदर्पण तथा काव्यप्रकाशकी कारिकाएं अथवा सूत्रोंको घोंटा नहीं था। अस्तु, एक प्रेमपूर्ण पदका उदाहरण लीजिये—

प्रीति जो लागी घुल गई पैठि गई मन माहिं।
रोम रोम पिउ पिउ करै मुखकी सरधा नाहिं॥
नैनोंकी करि कोठरी पुतली पलँग बिछाय।
पलकोंकी चिक डारिके पियको लिया रिझाय॥

यहां विस्मृतिकी चरम सीमा है। प्रेमके आवरणमें ही आच्छादित होकर केवल प्रभुका दर्शन करना और सारे वायुमण्डलमें केवल उसीकी शक्तिको अनुभव करना भक्तकी वास्तविक अनुभूतिका परिचायक है। योगी अष्ट समाधिकी अवस्थामें प्रभुकी सत्तामें अपनेको विलीन हुआ पाता है। वह उसीकी छविका दर्शन करता है और रोम रोमसे प्रणवका जाप होने लगता है। किन्तु यह केवल पहुंचे हुए योगियोंके लिये ही सम्भव है।

अंखियां तो झाईं परीं पंथ निहार निहार।
जीहड़ियां छाला परा नाम पुकार पुकार॥
अंखियां प्रेम बसाइया जनि जाने दुखदाय।
नाम सनेही कारने रो रो रात बिताय॥

सब ही तरुतर जाइके सब फल लीन्हों चीख।
फिर फिर मांगत कबीर है दरसन ही की भीख॥
सुरति करो मेरे साइयां हम हैं भवजल माहिं।
आपे ही बह जायंगे जो नहिं पकरौ बाहिं॥
अवगुन मेरे बापजी बकस गरीबनिवाज।
जो मैं पूत कपूत हौं तऊ पिताको लाज॥

महात्मा कबीरकी इस वचनावलीमें कितना प्रेम तथा विनय टपकता है। प्रभुकी मिलनोत्कण्ठा है और उसीके प्रेममें निकले हुए ये विनयपूर्ण उद्गार हैं। भक्तोंके लिये परमपिताके सिवा और कोई आधार नहीं है। उसी त्रैलोक्याधिपतिके चरणोंमें बिलखनेसे पाप-ताप दूर होते हैं और सत्य-मार्गकी प्राप्ति होती है। पुनः एक काव्य-सौन्दर्य-पूर्ण पद लीजिये। शरीर रचनाका कितना भावपूर्ण वर्णन है:—

झीनी झीनी बीनी चादरिया।
आठ कँवल दल चरखा डोलै
पांच तत्त गुन तीनी चादरिया० ॥१॥
साईंको सियत मास दस लागे
ठोक ठोकके बीनी चादरिया० ॥२॥
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी
ओढ़के मैली कीनी चादरिया० ॥३॥
दास कबीर जतनसे ओढ़ी
ज्योंकी त्यों धर दीनी चादरिया० ॥४॥

शरीरकी रचना दस मासतक तो गर्भमें होती है। संसारमें प्रवेश करनेके पश्चात् वह अपनी दैनिक क्रियाओंका सम्पादन करता है किन्तु अन्तमें वह समय आता है जब कि शरीर उसी प्रकार यहां छूट जाता है और उसका क्रियाशील प्राण पुनः उस महान् अनन्तमें विलीन हो जाता है जहांसे उसकी उत्पत्ति होती है। पुनः एक दूसरे ज्ञानपूर्ण पदका उदाहरण लीजिये!

इस गगन गुफामें अजर झरे ।
त्रिकुटीमध्य इक बाजा बाजे रुनक झुनक झनकार करै।
बिन चंदा उजियारी दरसे जहँ तहँ हंसा नजर परै ॥
दसो दुवारे ताड़ी लागी अलख पुरुष जाको ध्यान धरै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो अमर होय कबहूं न मरै ॥

कबीरदासजीका भाव इतना उच्च है कि कहीं सूक्ष्म भावोंके तारका पकड़ना कठिन हो जाता है। उपर्युक्त पदमें ध्यान तथा धारणाका विशद समावेश है। इनकी कवितामें इन्हीं उच्च भावनाओंके कारण अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है। एक और उदाहरण उनकी प्रेमातुरताका लीजिये-

नाचु रे मेरो मन नट होय ।
ज्ञानको ढोल बजाय रैन दिन, शब्द सुने सब कोई।
राहू केतु नवग्रह नाचै, जमपुर आनँद होई ॥
छापा तिलक लगाय बांस चढ़,हो रहा जगसे न्यारा ।
सहस कला कर मन मेरो नाचै, रीझै सिरजनहारा ॥
जो तुम कूद जाव भवसागर, कला बँधाओं मैं तेरो।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, हो रहैं नौ-निधि चेरो ॥

कितना प्रेमपूर्ण पद है। परमात्माकी आराधनामें केवल मन ही नहीं नाचता अपितु कविका भक्तिमय मन समस्त ब्रह्माण्डको प्रेम-पूर्ण नृत्य करते हुए देखना चाहता है। कविकी हृदय-तन्त्रीके साथ विश्व-तन्त्री निनादित हो जाय तथा जल, थल, स्वर्ग-स्थानतक उस प्रेममय प्रभुकी स्मृति अल्हड़पनका नृत्य हो। अहो! कितनी सुन्दर कल्पना है। पद पढ़ते पढ़ते ही हमारा भी हृदय नाच उठता है। सच्चे हृदयकी अनुभूति किसको नहीं नचा सकती ?

महात्मा कबीरदासजीकी काव्यशैली अथव काव्य-ग्रन्थोंका विवेचन करना इस छोटेसे लेखमें सर्वथा कठिन है। उनके सभी पद अनमोल हीरे हैं। उद्धरण देते समय हृदयमें ही घोर संग्राम मचने लगता है कि कौन पद उद्धृत करें, क्योंकि प्रत्येक पद एकसे एक बढ़कर हैं। स्थानाभावके कारण केवल कुछ छोटे छोटे पदोंको छांटकर उद्धृत किया है। इन्हीं पदोंसे ही अनुमान किया जा सकता है कि महात्मा कबीरदासजी कितने उच्च कोटिके सन्त थे। कवीन्द्र रवीन्द्रके शब्दोंमें कि 'अभी वह युग आनेवाला है जब लोग कबीरकी कविताओंको अत्यन्त आदरकी दृष्टिसे देखेंगे। उनकी कविताओंमें वह रहस्यमय जादू है जो कि उन्हें सर्वदाके लिये अमर बनाये रहेगी।'

प्रभो !

जिस प्रकारसे व्यथा मिटे सब, दो वे परम विचार ।
इस सेवकका किसी तरहसे भी कर दो निस्तार ॥
बहुत उठाये कष्ट नाथजी, अब तो कर दो पार ।
दीन दुखी इस दास अधमको प्रभो! दीजियो तार ॥
तुम मेरे हो, स्वामि! आपका हूं मैं सेवक भी प्यारा ।
करुणा क्यों की नहीं दासपर, कर कर विनय नाथ! हारा ॥

—अवन्तविहारी माथुर

कामना

(१)

उज्ज्वल लोल तरङ्गोंसे उद्वेलित गंगा तीरे ।
प्रकृति प्रिया प्रातः फैलाती अञ्चल धीरे धीरे ॥
विहँस उषा लहरोंको कञ्चनकी मुकुटें पहनाती ।
त्रिभुवनकी विभूति दासी बन अम्बर-चँवर डुलाती ॥

किस अगम्यका अमर पथिक बन मन मेरा अकुलाता ?
अन्तरतमकी शून्य उदधिमें डुबकी गहन लगाता ॥

(२)

चञ्चल करसे जल तलपर है कौन सुनहला लिखता ?
स्वागतमय संदेश रागसे ऊर्मिमालको भरता ॥
नीरवता सा मूक बना मैं धीरे धीरे जाता ।
दृष्टि-दोष-वश स्वर्णाञ्चलपर शून्य शून्य ही पाता ॥

हे निर्मम ! नैराश्य-विधुरताकी विचित्र लीलायें ।
मिला रहीं मानस लहरीमें अति निष्ठुर पीड़ायें ॥

(३)

मन्द मन्द रवि अलस लुटाता है रत्नोंकी ढेरी ।
घूम घूमकर लूट रही पृथ्वी बन उसकी चेरी ॥
थल अम्बर तक स्वर्णमयी यह देख मधुर रविलीला ॥
आओ नभ तलको विदीर्णकर करते नटवर क्रीड़ा ।

अश्रु-बिन्दु पर छाया मनहर यदि तेरी पड़ जावे ।
इन विरही नयनोंको सारा जग प्रभुमय बन जावे ॥

—श्रीसत्याचरण 'सत्य' विशारद

सन्तोष

लोग सोचते हैं राजा सम, कौन सुखी रह सकता है ।
जो पालक जगतीका है वह, स्वयं न क्या कर सकता है !!
नृपति सोचता है मनमें, हूं यद्यपि छत्र-चँवर-धारी ।
मुझसे अधिक सुखी हैं जगमें योगी भिक्षा-व्रत-धारी ॥
ये दोनों भी किन्तु वस्तुतः, इस जगमें हैं सुखी नहीं ।
सन्तोषी है सुखी, तोषको, छोड़ नहीं सुख और कहीं ॥

—पद्मकान्त मालवीय

भक्त चन्द्रहास

परयुगका इतिहास है, केरल देशमें मेधावी नामक एक धर्मात्मा राजा राज्य करते थे, उनके एकमात्र पुत्रका नाम था चन्द्रहास। चन्द्रहास-की उमर जब बहुत ही छोटी थी, तभी शत्रुओंने केरलपति-को युद्धमें मार डाला। चन्द्रहास-जननी पतिव्रता रानी सती हो गयी। राज्यपर दूसरोंने अधिकार कर लिया! इस विपत्तिकालमें चन्द्रहासकी धाय उसे लेकर छुपकेसे नगरसे निकल गयी और कुन्तलपुर जाकर रहने लगी। स्वामिभक्ता धायने तीन वर्षकी उमरतक मेहनत मजदूरी करके चन्द्रहासका पुत्रवत् पालन किया, तदनन्तर वह भी कालका ग्रास बन गयी।

चन्द्रहास अनाथ और निराश्रय हो गया, परन्तु अनाथ-नाथ भगवान् निराधारका आधार है, वह विश्वम्भर सबका पेट भरता है। भगवत्-कृपावश चन्द्रहासका पालन नगरकी स्त्रियोंद्वारा होने लगा, उसके मनोहर मुखमण्डलने सबके मन हर लिये। जो स्त्री उसे देखती, वही पुत्रवत् प्यार करती, उसे खिलाती पिलाती और पहनने-को वस्त्र देती। एक दिन देवर्षि नारद घूमते घामते उधर आ निकले। बालकको योग्य अधिकारी जान उसे एक श्रीशालग्रामजीकी मूर्ति और 'रामनाम'मंत्र दे गये। शुद्ध-हृदय शिशु बड़े प्रेमसे मूर्तिकी पूजा और हरिनाम-कीर्तन करने लगा। शिशु अवस्था, सुन्दर वदन, सुहावनी सरस वाणी और श्रीहरिनाम-गान सभी साज मन हरण करनेवाले थे, इससे चन्द्रहासको जो देखता, वही मुग्ध हो जाता! वह इसी अवस्थामें परम धार्मिक और अनन्य हरिभक्त हो गया। जब वह अपने शरीरकी सुधि भूलकर मधुर तानसे हरिनाम-गान करता, तब उसके चारों ओर एक दिव्य चांदनी छिटक जाती, उस समय चन्द्रहास देखता मानो एक जन-मन-मोहन श्यामवदन बालक मुरली हाथमें लिये उसीके साथ नाच और गा रहा है, उसके प्राणमोहन सुरोंको सुनकर चन्द्रहासकी तन्मयता और भी बढ़ जाती।

× × ×

कुन्तलपुरके राजा बड़े पुण्यात्मा थे, परन्तु उनके कोई पुत्र न था। केवल एक रूप-गुणवती कन्या थी, जिसका नाम था चम्पकमालिनी। राज्यगुरु महर्षि गालवके उपदेशानुसार राजा अपना सारा समय केवल भजन-स्मरण सत्संगमें ही लगाते थे। राज्यका सम्पूर्ण कार्यभार धृष्टबुद्धि नामक मन्त्रीपर था, कुन्तलपुरका राज्य एक तरहसे वह मन्त्री ही करता था। उसके अलग भी बड़ी जमींदारी थी, धन-सम्पत्ति-का पार नहीं था। धृष्टबुद्धिके मदन और अमल नामक दो सुयोग्य पुत्र और विषया नामक एक सुन्दरी कन्या थी। मदन और अमल राजकार्यमें पिताकी यथेष्ट सहायता करते। इनमें मदन श्रीकृष्णभक्त और उदारचरित था, जिससे मंत्रीके महलोंमें जहां विलासके रागरंगका प्रवाह बहता था वहां कभी कभी सन्तसमागम, अतिथि-सत्कार और भगवन्नाम-कीर्तन भी हुआ करता था। यद्यपि धृष्टबुद्धिको इन कामोंसे कोई प्रेम नहीं था, वह रातदिन राजकार्य और धन-

सञ्चयमें ही लगा रहता था, परन्तु सुयोग्य पुत्र मदनको स्नेहवश इन कामोंसे रोकता भी नहीं था।

× × ×

सन्ध्याका समय है, चन्द्रहास स्वाभाविक ही नाम-कीर्तन करता हुआ नगरकी सड़कोंपर घूम रहा है, मधुर ध्वनि सुनकर और भी बहुतसे बालक उसके साथ हो गये हैं, सभी आनन्दसे नाच नाचकर मधुर कीर्तन करते हुए नगरवासी नर-नारियोंका चित्त अपनी ओर खींच रहे हैं। घूमते घूमते यह प्रेममत्त बाल-कीर्तन-दल धृष्टबुद्धिके प्रासादके निकट जा पहुंचा, मन्त्रीपुत्र मदनके यहां ऋषिमण्डली एकत्र हो रही है। हरिचर्चा चल रही है, मीठी हरिध्वनि सुनकर ऋषियोंकी आज्ञासे मदनने चन्द्रहासको अन्दर बुला लिया। चन्द्रहासके साथ मिलकर बालक नाचने गाने लगे, मुनिमण्डली मुग्ध हो गयी। इतनेमें वहां धृष्टबुद्धि भी आ गया, मुनियोंका मन चन्द्रहासके तेजपूर्ण मुखमण्डलकी विमल शीतल छटा देखकर उसकी ओर आकर्षित हो गया, उन्होंने उसे अपने पास बुलाकर बैठा लिया, उसके शरीरके लक्षणोंको देखसुन और योगसे उसकी प्रतिभाका पता लगाकर ऋषि एक स्वरसे कहने लगे—

सुन्दर लक्षण-युक्त बाल यह है तपधारी, मन्त्रीवर !
रक्खो, पालन करो इसे अति स्नेहभावसे अपने घर !
सभी, तुम्हारी धन-सम्पतिका यही पूर्ण स्वामी होगा !
होगा नृपति देशका, वैष्णव पदका अनुगामी होगा !

ऋषियोंके यह वचन अभिमानी धृष्टबुद्धिके हृदयमें तीरसे लगे। अज्ञात-कुल-गोत्र अनाथ बालक मेरी सम्पत्तिका स्वामी होगा! कहां मेरा पदगौरव, धन ऐश्वर्य, दोर्दण्ड प्रबल प्रताप और कहां यह राहका भिखारी छोकरा? तत्काल अभिमान द्वेषके रूपमें परिणत हो गया। धृष्टबुद्धिके मनमें भीषण हिंसावृत्ति जाग उठी, उसने अपना कर्तव्य निश्चय कर लिया। ऋषि और पुत्रोंसे कुछ न बतलाकर धृष्टबुद्धि बालकोंको मिठाई देनेके बहाने अन्तःपुरमें ले गया। वहां और सब बालक तो मिठाई देकर बाहर निकाल दिये गये, रह गया एक चन्द्रहास। थोड़ी ही देरमें मन्त्रीके संकेतसे एक विश्वासी घातक वहां आ पहुंचा, धृष्टबुद्धिने धीरेसे उसके कानमें कुछ कहकर चन्द्रहासका हाथ उसे पकड़ा दिया, घातक चन्द्रहासको ले चला, तब उसने फिर कहा, 'देखो, अभी काम बन जाय, कोई निशान जरूर लाना, पूरा इनाम मिलेगा! घातक बालकको लेकर अदृश्य हो गया।

× × ×

भीषण सुनसान जंगल है, चारों ओर अंधेरा छा रहा है, घातकने म्यानसे तलवार निकाली, चन्द्रहास समझ गया कि यह मुझे मारना चाहता है, उसने निर्भयतासे कहा 'भाई! तनिक ठहर जाओ, मुझे भगवान्की पूजा कर लेने दो, फिर खुशीसे मारना।' घातकका हृदय कुछ पिघला, उसने अनुमति दे दी। चन्द्रहासने मुंहसे शालग्रामजीकी मूर्ति निकालकर प्रेमसे आंसू बहाते हुए वनके फूल पत्तोंसे भगवान्की पूजा की। तदनन्तर गद्गद कण्ठसे उसने गाया—

गहो आज हाथ नाथ! शरण मैं तिहारी!
तात-मात बन्धु-भ्रात सुहृद सौख्यकारी।
एक तुम्हीं सरबस मम-प्रणत दुःखहारी॥
दास जानि इच्छाधीन, इच्छित शुभकारी।
मरण मांझ मोहन मोहिं मिलौ मोह टारी॥

वनस्थलीमें करुणारस छा गया, भगवान्ने यन्त्र घुमाया, घातककी आंखोंसे आंसूकी दो बूंदें टपक पड़ीं। उसका हृदय पलट गया। उसने सोचा ऐसे हरिभक्त निर्दोष बालककी हत्यासे न मालूम मेरी क्या गति होगी? बध करनेका विचार त्याग दिया, परन्तु धृष्टबुद्धिके लिये कोई निशान चाहिये वह इस चिन्तामें पड़ गया। चन्द्रहासके एक पैरमें छः अंगुलियां थीं,

अकस्मात् घातककी दृष्टि उधर गयी, उसका चेहरा चमक उठा, उसने तुरन्त ही तलवारसे छठी अंगुली काट ली, अशुभ स्वयमेव नष्ट हो गया। चन्द्रहासको वहीं छोड़कर घातक लौट गया, धृष्टबुद्धिको अंगुली दिखा दी, जिससे उसके आनन्दका पार नहीं रहा। उसने समझा आज मेरे बुद्धिकौशलसे मुनियोंकी अमोघवाणी भी व्यर्थ हो गयी!

× × ×

घोर अरण्यमें सुकुमार शिशु अकेला पड़ा है, पैरमें पीड़ा हो रही है, परन्तु मुखसे वही कृष्ण-नामकी धुन लग रही है। इतनेमें उसने देखा, एक स्निग्ध ज्योति उसकी ओर बढ़ी चली आ रही है। उसी समय अकस्मात् जादूकी तरह उसकी सारी वेदना नष्ट हो गयी। भूख-प्यास शान्त हो गयी, मुख-कमल प्रफुल्लित हो उठा, मन परम आनन्दसे भर गया। वनकी हरिणियां उसका पैर चाटने लगीं, पक्षियोंने छाया की, वृक्ष फल देने लगे, पृथ्वी कोमल हो गयी। बालक मुग्ध-चित्त और मधुर-कण्ठसे नामध्वनि करने लगा, भीषण अरण्य हरिनाम-नादसे निनादित हो उठा, पशु-पक्षी परम आत्मीयकी तरह उसके साथ खेलने लगे।

× × ×

कुन्तलपुरके अधीन एक छोटीसी चन्दनपुर-नामक रियासत थी, वहांके राजाका नाम था कुलिन्दक। राज्य छोटा होनेपर भी धर्म और धन-धान्यसे पूर्ण था, अभाव था तो एक यही कि राजा पुत्रहीन था। प्रभुकी मायावश राजा कुलिन्दक किसी कार्यसे उसी वनसे जा रहा था, जिसमें चन्द्रहासको घातक छोड़ गया था, मधुर कीर्तन-ध्वनि सुनकर राजा उसके पास गया और बालक-की मोहनी मूर्ति देखते ही वह मुग्ध हो गया! राजाने लपककर बालकको गोदमें उठा लिया और अंगकी धूल झाड़कर उसके माता-पिताके नाम धाम पूछने लगा। चन्द्रहासने कहा–

'मम मातापिता कृष्णस्तेनाहं परिपालितः'

--मात पिता श्रीकृष्ण हमारे उनसे ही मैं पालित हूं।

राजाने सोचा हरिने कृपाकर मेरे लिये ही इस वैष्णव देवकुमारको यहां भेजा है। उसने चन्द्रहासको छाती लगाकर घोड़ेपर चढ़ा लिया और घर लौट गया। रानीकी गोद भर गयी। राजाने दत्तक ग्रहणकी घोषणा कर दी, नगर भरमें आनन्द छा गया!

चन्द्रहासने पहले तो कुछ पढ़ना नहीं चाहा, गुरु जब पढ़ाते तभी वह कहता कि मेरी जीभ हरिनामके सिवा और कुछ उच्चारण ही नहीं कर सकती। परन्तु यज्ञोपवीत ग्रहण करनेके अनन्तर थोड़े ही कालमें वह चारों वेद और सभी विद्याओंमें निपुण हो गया! अपने सद्गुणोंसे वह शिघ्र ही सारे राजपरिवार और प्रजा सभीका जीवनाधार बन गया! राज्यमें धार्मिकता छा गयी। हरि-गुण-गानसे छोटीसी रियासत पूर्ण हो गयी। घर घर हरिचर्चा होने लगी, सभी लोग एकादशीका व्रत और भगवान्की उपासना करने लगे। चन्द्रहासने प्रत्येक पाठशालामें हरि-गुण-गान अनिवार्य कर दिया। उसका सिद्धान्त था–

यस्मिञ्छास्त्रे पुराणे च हरिनाम न दृश्यते।
श्रोतव्यं नैव तच्छास्त्रं यदि ब्रह्मा स्वयं वदेत्॥

'जिस शास्त्र-पुराणमें हरिनाम न हो, वह ब्रह्मा-रचित होनेपर भी श्रवण करने योग्य नहीं है।'

× × ×

चन्दनपुर रियासतकी ओरसे कुन्तलपुरको वार्षिक दश हजार स्वर्णमुद्राएं कर-स्वरूप दी जाती थीं। चन्द्रहासने उन स्वर्णमुद्राओंके साथ ही और भी बहुतसा धन, जो शत्रुराज्योंपर विजय करके उसने प्राप्त किया था-कुन्तलपुर भेज दिया!

धृष्टबुद्धिने सुना, चन्दनपुर राज्य धन-ऐश्वर्य-से पूर्ण हो गया है, वीर युवराजने बड़े बड़े राज्यों-पर विजय पायी है, वहांकी प्रजा सब प्रकारसे सुखी है, सारी रियासतमें हरि-ध्वनि गूंज रही है। तब उसकी इच्छा हुई कि एक बार चलकर

वहांकी व्यवस्था देखनी चाहिये। धृष्टबुद्धि कुन्तलपुरसे चलकर शीघ्र ही चन्दनपुर आ पहुंचा।

धार्मिक राजा और धीर वीर राजकुमारने उसका हृदयसे स्वागत किया, धृष्टबुद्धि युवराजके मुखकमलको देखकर चमकित हो गया और एकटकी लगाकर उसकी ओर देखने लगा। पर चन्द्रहासको पहचानते ही उसके हृदयमें आग लग गयी, उसने मन ही मन जाल रचा। छलसे चन्द्रहासका बध करनेका निश्चयकर उसने बड़े पुत्र मदनके नाम एक गुप्त पत्र लिखा और 'विषरस भरा कनकघट जैसे' इस उक्तिको चरितार्थ करते हुए कपटसे हंसकर पत्र चन्द्रहासके हाथमें देकर कहा, 'राजकुमार! बड़ा आवश्यक कार्य है, इससे तुम्हारा और हमारा बड़ा हित होगा, अतएव आज ही कुन्तलपुर जाकर यह पत्र कुमार मदनको दो। देखना, रास्तेमें पत्र खुलने न पावे और न इसका रहस्य मदनके सिवा अन्य कोई जाने ही!

× × ×

चन्द्रहास घोड़ेपर सवार होकर उसी क्षण चल दिया, कुन्तलपुर वहांसे चौबीस कोस था। पहुंचते पहुंचते दिन ढल गया। नगरसे बाहर कुन्तलपुर-नरेशका सुन्दर बाग था, चन्द्रहास थकान मिटाने और जल पीनेके लिये बगीचेमें ठहर गया। सुहावने सरोवरमें स्वयं जल पिया और घोड़ेको पिलाया। रास्तेकी थकावट थी, घोड़ेको एक ओर बाँधकर वह वृक्षकी छायामें लेट गया, शीतल-मन्द-सुगन्ध वायुके स्पर्शसे उसे नींद आ गयी।

उसी समय राजकुमारी चम्पकमालिनी और मन्त्री-कन्या विषया सखियों सहित बागमें टहलने आयी थीं। नाना प्रकार आमोदप्रमोदकर राजकुमारी और अन्यान्य सखियां तो चली गयीं। भगवत्-प्रेरणासे विषया वहीं रह गयी। अनङ्ग-मद-मोचन राजकुमार चन्द्रहासको देखते ही उसका मन मोहित हो गया, मन ही मन उसने राजकुमारको पतिरूपमें वरण कर लिया। उसने देखा, कुमारके हाथमें एक पत्र है। विषयाने पत्र धीरेसे खींच लिया, भाई मदनके नाम पिताजीके हस्ताक्षरयुक्त पत्र देखकर उसने कुतूहलवश खोल लिया, परन्तु पत्र पढ़ते ही उसका हृदय व्याकुल हो उठा, मुखपर विषाद छा गया! पत्रमें लिखा था—

'स्वस्ति श्री प्रियपुत्र मदन! देखत यह पाती।
विष दे देना, जिससे हो मम शीतल छाती॥
कुल विद्या सौन्दर्य शूरता कुछ न देखना।
मदन शत्रु इस राजकुँअर को हृदय लेखना॥'

'विषयाने विचार किया, ऐसे सुन्दर सलोने सिंहशावक राजकुमारको पिताजी विष क्यों दिलवाने लगे? हो न हो, मेरे योग्य वाञ्छित वर देखकर आनन्द-विह्वलतामें उनसे लिखनेमें भूल हो गयी है। वास्तवमें 'विष दे देना' की जगह 'विषया देना' लिखना चाहिये था। पिताजी छाती शीतल होनेकी बात लिखते हैं, ऐसे नरश्रेष्ठको विष देकर भला किसकी छाती शीतल होगी? बड़े भाग्यसे ऐसे जामाता मिलते हैं, इसीसे पिताजीने कुल, विद्या आदि कुछ भी न देखकर 'मदन शत्रु' यानी सुन्दरतामें कामदेवको भी परास्त करनेवाले इस नयनाभिराम राजपुत्रके हाथ तुरन्त मुझे दे देना चाहा है। परमेश्वरने बड़ा अच्छा किया, जो यह पत्र पहले मेरे हाथ लग गया, कहीं भाई साहब भ्रमसे विष दे डालते तो महान् अनर्थ हो जाता!' विषयाने तर्कसे ऐसा निश्चयकर तुरन्त 'विष दे देना' के बीचेके 'दे' को मिटाकर उसकी जगह 'या' अक्षर 'विष' शब्दसे मिलाकर लिख दिया, जिससे 'विषया देना' स्पष्ट पढ़ा जाने लगा। 'मदन शत्रु' शब्द अलग अलग थे, उन शब्दोंको भी जोड़ दिया। जिससे 'मदन शत्रु' की जगह 'मदनशत्रु' पढ़ा जाने लगा। तदनन्तर आमके गोंदसे पत्र ज्योंका त्यों बन्दकर राजकुमारके हाथमें रखकर वह कुछ दूर आगे जाती हुई सखियोंके दलमें दौड़कर जा मिली।

राजकुमारी और सखियां उससे मीठी चुटकियां लेने लगीं !

× × ×

थोड़ी ही देरमें चन्द्रहासकी आंख खुली, सन्ध्या होने आयी थी, उसने तुरन्त ही जाकर मदनको पत्र दे दिया, पत्र पढ़कर मदनको बड़ी प्रसन्नता हुई। ब्राह्मणोंकी आज्ञासे उसी दिन गोधूलि लग्नमें विषयाके साथ मदनका विवाह बड़े समारोहके साथ हो गया ! मदनने याचकोंको मुक्तहस्तसे दान देकर सन्तुष्ट किया। कन्यादानके समय कुन्तलपुर-नरेश स्वयं पधारे थे। राजकुमारकी मनमोहनी रूपगुणराशि देखकर राजाने विचार किया कि, न तो चम्पकमालिनीके लिये इससे अधिक योग्य कोई दूसरा वर ही मिल सकता है और न राज्यशासनके लिये ऐसा बल-वीर्य-बुद्धि और शील-सदाचार-सम्पन्न कोई उत्तराधिकारी ही ! राजाने उसी क्षण अपने मनमें धीर वीर राजकुमार चन्द्रहासके हाथ राजपुत्रीसहित राज्य समर्पण करनेका निश्चय कर लिया !

तीन दिनों बाद धृष्टबुद्धि लौटा, सर्वथा विपरीत दशा देखकर उसके दिलपर गहरी चोट लगी, परन्तु उसने अपने मनका कुभाव किसीपर प्रकट नहीं होने दिया, उसके द्वेष हिंसापूर्ण मलिन अन्तःकरणने यही निश्चय किया कि 'कन्या चाहे विधवा हो जाय पर इस शत्रुका बध अवश्य करना होगा !' यही दुष्टहृदयकी पराकाष्ठा है !

नगरसे दूर वनमें पहाड़ीपर भवानीका मन्दिर था, धृष्टबुद्धिने वहां एक निर्दय घातकको यह समझाकर भेज दिया कि आज सन्ध्याके बाद जो कोई वहां जाय उसीका सिर उतार लेना। इधर चन्द्रहाससे कपटकी हंसी हंसते हुए उसने कहा, 'भवानी हमारी कुलदेवी हैं, किसी भी शुभ कार्यके अनन्तर ही हमारे यहां भवानीपूजनकी कुलरीति है अतएव तुम आज ही सन्ध्याको वहां जाकर भवानीके भेंट चढ़ा आना।'

श्वसुरकी आज्ञासे सरलहृदय चन्द्रहास सामग्री लेकर भवानीके स्थानकी ओर चला। मनुष्य मन ही मन कितनी ही कुटिल कामना करता हुआ नाना प्रकारसे शेखचिल्लीकी तरह महल बनाता है, पर 'होय वही जो गुपालहि भावै।'

कुन्तलपुर-नरेशके मनमें वैराग्य उत्पन्न हुआ, उन्होंने आज ही राज्य त्यागकर परमात्मपद-प्राप्तिका साधन करनेके लिये वन जानेका निश्चय कर लिया, परन्तु जानेसे पूर्व राजकुमारीका विवाह करना और किसी को राज्यका उत्तराधिकारी बनाना, ये दो आवश्यक कार्य करने थे ! राजाने पूर्व निश्चयके अनुसार मन्त्रीपुत्र मदनको बुलाकर कहा 'बेटा ! मेरी आज ही वन जानेकी इच्छा है, चम्पकमालिनीका हाथ किसी योग्य राजपूत-बालकको सौंपना चाहता हूं राज्यका उत्तराधिकार भी देना है। हम लोगोंके सौभाग्यसे भगवान्ने कृपाकर चन्द्रहासको यहां भेज दिया है। वह सब तरहसे योग्य है, तुम अभी जाकर चन्द्रहासको यहां भेज दो !'

राजाकी बात सुनकर मदनके हर्षका पार न रहा, वह दौड़ा बहनोईको बुलाने। पिताकी दुरभिसन्धिका उसे कुछ भी पता नहीं था। चन्द्रहास भवानीके मन्दिरकी ओर जाता हुआ उसे रास्तेमें मिला। उसने राजाज्ञा सुनाकर चन्द्रहासको राजमहलमें भेज दिया और उससे पूजाकी सामग्री लेकर स्वयं सीधा ही भवानीके मन्दिर चला गया। कहना नहीं होगा कि मन्दिरमें पहुंचते ही घातककी तीक्ष्णधार तलवारने उसके शरीरके दो टुकड़े कर दिये ! चन्द्रहास बच गया—

'जाको राखै साइयां मार न सकिहैं कोय।
बार न बांका करि सकै जो जग बैरी होय॥'

इधर कुन्तलपुर-नरेशने चम्पकमालिनीका हाथ चन्द्रहासको पकड़ाकर आशीर्वाद दिया और उसी समय गालवमुनिकी आज्ञासे चन्द्रहासका राज्याभिषेक भी हो गया ! चम्पकमालिनीके साथ चन्द्रहासने मुनिकी अनुमतिसे गान्धर्व विवाह

कर लिया ! राजा सब कुछ छोड़ छाड़कर मिट्टी पत्थर और स्वर्णमें समबुद्धिकर वनको चले गये- 'वनं जगाम संत्यज्य समलोष्टाश्मकाञ्चनः।'

धृष्टबुद्धिने सोचा था कुछ और, पर हुआ कुछ और ही! 'तेरे मन कछु और है कर्ताके कछु और।' दूसरे दिन प्रातःकाल धृष्टबुद्धिने जब चन्द्रहासके साथ चम्पकमालिनीके विवाह और उसके राज्याभिषेक होने तथा प्रियपुत्र मदनके घातक-द्वारा मारे जानेका समाचार सुना तब तो उसके सिरपर वज्र टूट पड़ा! सत्य है-'परार्थे योऽवटं कर्ता तस्मिन्सम्पतति ध्रुवम्।' 'दूसरोंके लिये खाई खोदने-वाला स्वयं निश्चय ही उसमें पड़ता है।'

धृष्टबुद्धि हतबुद्धि होकर भवानीके मन्दिरकी ओर दौड़ा, वहां पहुंचकर उसने देखा कि प्राणाधिक पुत्रका शरीर दो टुकड़े हुए पड़ा है, उसने शोकसे व्याकुल होकर नाना प्रकार विलाप करते हुए उसी समय तलवारसे आत्महत्या कर ली!

श्वसुर धृष्टबुद्धिको उन्मत्तकी तरह दौडते देखकर चन्द्रहास भी उसके पीछे पीछे चला था। मन्दिरमें जाकर चन्द्रहासने देखा कि पिता पुत्र दोनों मरे पड़े हैं, चन्द्रहासने इन दोनों जीवोंकी मृत्युमें अपनेको कारण समझकर स्वयं मरना चाहा, ज्यों ही उसने तलवार म्यानसे निकाली, त्यों ही भवानीने साक्षात् प्रकट होकर उसका हाथ पकड़ लिया और उसे खींचकर अपनी गोदमें बैठा लिया! जन्मसे मातृहीन चन्द्रहासको आज जगज्जननीकी गोदमें बैठनेसे बड़ी प्रसन्नता हुई।

माता बोली, 'पुत्र चन्द्रहास! धृष्टबुद्धि बड़ा दुष्ट था, उसने तुझे मारनेके लिये बड़े बड़े जाल रचे थे, अच्छा हुआ वह मारा गया। हां, मदन भक्त और तेरा प्रेमी था परन्तु उसने तेरे विवाहके समय धन ऐश्वर्यके दानको पर्याप्त न समझकर अपना शरीर तुझे अर्पण करनेकी प्रतिज्ञा की थी, अब वह भी उससे उऋण हो गया है। तू शोक छोड़-कर राज्य कर। मैं प्रसन्न हूं, इच्छित वर मांग!'

चन्द्रहासने कहा, 'जननी! तुम वर देना चाहती हो, मुझपर प्रसन्न हो तो पहला वर तो मुझे यह दो कि 'हरौ भक्तिः सदा भूयान्मम जन्मनि जन्मनि।' 'हरिमें मेरी जन्म-जन्ममें भक्ति सर्वदा बनी रहे।'

दूसरा वर यह दो 'मेरे लिये मरे हुए ये दोनों व्यक्ति इसी समय जी उठें, मेरे श्वसुर धृष्टबुद्धिने मुझे मारनेके लिये जो कुछ किया, उसका मुझे तनिक भी दुःख नहीं है, मनुष्य अज्ञानवश यों किया ही करता है। माता! इसपर क्षमा करो, इसे सुबुद्धि दो, इसके पापोंका विनाश कर इसे भगवान्‌की विमल भक्ति प्रदान करो।'

भवानी प्रेमभरी वाणीसे 'तथास्तु' कहकर अन्तर्द्धान हो गयी! दोनों पिता पुत्र सोकर जगनेकी तरह उठ बैठे, और उन्होंने चन्द्रहासको गले लगा लिया!

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

चेतावनी

ऐरे! अभिमानी जिहि दिन्ही नरदेही तोंहि,
जगत-पिता कहँ तूं कबलौं बिसरायगो॥
कबलौं रे! जगज्जाल बंधनमें बँधो बँधो,
'सैनिक' अपार पाप-धन-कँह कमायगो॥
तेरे तन-तर्कसते श्वांस तीर जात चले,
छिन ही छिन आयु घटै, पीछे पछितायगो॥
चेत रे! अचेत!! चेत चेत अजौं!!! याद रख,
भूल मत! लेखा पल-पलको लियो जायगो॥

सैनिक।

अन्तर्भेद

'प्रेम' लखु नाटक विश्व खिलाया।

सत-चित-आनँद-चेतनरासी सबमें वही समाया॥ प्रेम०॥
फँस्यौ जीव इहि मध्य निरन्तर समुझि परै नाहिं माया।
जड़ चेतन चर अचर लुभाने आपुहिं आपु भुलाया॥ प्रेम०॥
नट अरु नटी पात्र इहिके सब लखत न आपुन काया।
केवल वही लखत निज रूपहिं जाको आपु लखाया॥ प्रेम०॥

—प्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम'

विवेक-वाटिका

राग भय और क्रोधसे छूटे हुए वेदपारग मुनियोंद्वारा ही निर्विकल्प प्रपञ्चशून्य आत्मा देखा जाता है। उपनिषद्

* * * *

जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, जो सुख दुःखादि द्वन्द्वोंसे छूट गये हैं, ऐसे पुण्यात्मा सज्जन ही दृढ़व्रत होकर परमात्माको भजते हैं। —श्रीमद्भगवद्गीता

* * * *

जो कर्म दिखावट और प्रभुत्वकी अभिलाषासे किये जाते हैं, वे निरर्थक हैं। उनसे आत्मशुद्धि नहीं होती। शरीरकी शुद्धि सुकर्मसे, इन्द्रियोंकी सत्य और दयासे, चित्तकी मनको वशमें रखने, आत्माको निर्लेप करने, मौन रहने तथा सबको सुख पहुंचानेसे होती है। —महाभारत

* * * *

पूर्ण महात्मा और सज्जनोंके संगका नाम ही सत्संग है, इसे आदमी निष्ठाके साथ करे तो वह लोहेसे सोना बन जाय। —योगवासिष्ठ

* * * *

जो प्रज्वलित क्रोधरूपी मार्गच्युत रथको रोक सकता है, वही कुशल सारथी है। केवल हाथसे लगाम पकड़े रहनेमें कोई चतुराई नहीं है। —धम्मपद

* * * *

प्रेम सदा सहिष्णु और मधुर है, प्रेममें ईर्षा, आत्म-श्लाघा, गर्व, अशिष्ट आचरण, स्वार्थ, क्रोध, अपकार और अधर्म नहीं होता। —ईसा

* * * *

मनको तरङ्गोंको रोकनेमें बड़ा सुख है, इनके बिना रोके मनुष्य ऐसे बह जाता है, जैसे हवाके झोंकेसे बिना पतवार-की नाव। —पारस भाग

* * * *

सत्य वह है जो सर्दा एकरस रहे। उस सत्यका परमात्माकी सत्तासे अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। संसारकी अन्य वस्तुएँ असत्य हैं क्योंकि मायास्वरूप होनेसे वे परिवर्तनशील हैं। —राधास्वामी

संसारके सुख क्षणभङ्गुर हैं किसी भी ऐसे सुखीका उदाहरण नहीं मिल सकता जो मृत्युको न प्राप्त हुआ हो। —सोलन

* * * *

जिस मनुष्यकी अच्छे कर्मके लिये निन्दा होती है वह बड़ा भाग्यवान् है किन्तु जो अपने भले कर्मोंके बदलेमें धन्यवाद या किसी फलकी आशा करता है वह महा अभागा है क्योंकि वह सुकर्मोंका मूल्य चाहता है। जिस मनुष्यकी उसने भलाई की हो, उसे सुखी देखनेकी प्रसन्नता ही उसके लिये पूर्ण पुरस्कार है। —मार्कस आरीलियस

* * * *

सार्वजनिक रक्षा, राष्ट्रीय प्रतिष्ठा, स्वकीर्ति आदि प्रत्येक वस्तु वैयक्तिक सदाचरणपर निर्भर है। जो अधिकारी आदर्श मनुष्यत्वको विस्मृत कर देता है वह उन दश मनुष्योंकी अपेक्षा नैतिक वायुमण्डलको अधिक हानि पहुंचाता है, जो अपने निर्दोष जिवनद्वारा लोगोंकी भलाई करते हैं। —स्टेनली

* * * *

बालकको जैसे रमण-सुख नहीं समझाया जा सकता, वैसे ही मायामुग्ध विषयासक्त संसारी जीवको ब्रह्मानन्द नहीं समझाया जा सकता। —रामकृष्ण परमहंस

* * * *

पश्चात्ताप छः बातोंसे पूर्ण होता है, (१) पिछले पापों-पर लज्जित होना। (२) पुनः पाप न करनेका प्रण करना। (३) प्रभुकी सेवामें जो त्रुटि रह गई हो उसे पूर्ण करना और (४) लोगोंकी जो हानि हुई हो उसे भरना (५) रक्त और वसा, जो हरामके खानेसे शरीरमें बढ़ी हो उसे क्षीण करना और (६) शरीरने जैसे पापमें सुख अनुभव किया है वसा ही उसे प्रभुके सेवामें कष्ट देना। —अब्बू बक्र

(पृष्ठ सं० ३८० से आगे)

हमारा क्या कर्तव्य है ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गताङ्कसे आगे)

अनन्त—महाराज! पुरुषोंके धर्म आपने कहे हैं। स्त्रियोंका कर्तव्य भी बताना चाहिये।

सन्त—भाई! घबराता क्यों है? जल्दी क्यों करता है? उनका धर्म मैं क्या बता सकता हूं! उन्हींसे तो मैं सब कुछ सीखा हूं! उन्होंने ही मुझे जन्म दिया है, उन्होंने ही दूध पिला पिलाकर मुझे मोटा किया है। जिनसे सीखा हूं, उन्हें क्या सिखाऊंगा? कोई एक माताका दूध पीता होगा, कोई दोका, मैंने तीन तीन माताओंका दूध पिया है! एक लौकिक ब्राह्मणी माताकी दो दिव्य सखियां थीं, इन तीनोंसे मुझे जो उपदेश मिला है, सो सुनाता हूं सुन! एक दिन मेरी माताकी बड़ी सहेलीने मेरे भाईको यह उपदेश दिया था—

स्त्री कहती है—

हरिगीत छन्द

अबला नहीं मैं हूं सबल, मैं सर्व शक्तीमान हूं।
वेदान्तकी माया अविद्या, सांख्यकी अनुमान हूं॥
निज तन्त्र या परतन्त्र हूं, कोई मुझे नहिं जानता।
मैं ही जनाती हूं जिसे, सो ही मुझे पहिचानता॥ १॥
पावन अपावन मैं करूं, कुछ होय कुछ दिखलावती।
मैं ही रचूं हूं जीव सारे, विश्व मैं हि बनावती॥
निस्संगको संगी करूं, छूटे हुएको बांधती।
गुण तीन पांचो भूत रच, चौदह भुवन रच डालती॥ २॥
पति पुत्र बहु उत्पन्न करती, पालती फिर मारती।
मैं आप पतिको मारती, फिर आप ही होती सती॥
मैं वस्तुतः हूं बांझ, जननी सर्वकी कहलावती।
माता बनूं भगिनी बनूं, योषित कहीं बनजावती॥ ३॥
मैं मात लक्ष्मण रामकी, मैं देवकी घनश्यामकी।
मैं परशुधरकी रेणुका, मैं रोहिणी बलरामकी॥
अवतार सब मुझसे हुए, सब देवता मैंने किये।
पण्डित, गुणी ज्ञानी मुनी, सब पेट मेरेसे हुए॥ ४॥
मेरे उदरसे होंय कवि, मेरे उदरसे हों धनी।
नारद हुए मेरी कृपासे, मम कृपासे अश्विनी॥
मेरे उदरसे होंय ज्ञानी, मम उदरसे वीर हों।
मेरे उदरसे होंय दानी, मम उदरसे धीर हों॥ ५॥
जो स्त्री मुझे है जानता, सो तीन तेरह होय है।
माता मुझे जो मानता, सुख शान्तिसे सो सोय है॥
नारी मुझे जो मानता, नाना नरकमें जाय है।
जननी मुझे जो जानता, सो विष्णु पदवी पाय है॥ ६॥
वामा मुझे जो मानता, उल्टा उसे लटकावती।
श्वानादि नीची योनियोंमें, भांति बहु भटकावती॥
भगिनी मुझे जो मानता, सो भाग्यशाली होय है।
भयसे रहे है दूर निर्मल, चित्त चिन्ता खोय है॥ ७॥
महिला मुझे जो जानता, सो जेलखानेमें पड़े।
आता रहतु है गर्भमें, जीवे मरे सूखे सड़े॥
बेटी मुझे जो मानता, सबका जनक हो जाय है।
हो सारका भी सार, सो संसारसे तर जाय है॥ ८॥
भव है भयानक भय भरा, भयभीत जङ्गल छोड़ दे।
मन जोड़ मङ्गल देवमें, सांकल अमङ्गल तोड़ दे॥
भटका बहुत अब मत भटक, तज स्वप्न मिथ्या जाग जा।
तज कामना तज नामना, भज भर्ग भवसे भाग जा॥ ९॥
सुनता नहीं जगता नहीं, हारी जगा हारी जगा।
अब भी रहा जो ऊंघता, पीछे बहुत पछतायगा॥
श्रुति मातु मार्मिक वचन सुन, 'भोला' मुमुक्षू जग गया।
विज्ञानचक्षू खुल गये, अज्ञान सपना भग गया॥ १०॥

अनन्त—महाराज! इस पद्यमें पतिको मारकर सती होना कहा है, उसका भाव मेरी समझमें नहीं आया कृपाकर समझाइये!

सन्त—तृष्णा जीवकी पतिव्रता पत्नी है, यह

तृष्णा सदा जीवके साथ रहती है, एक क्षण भी जीवको छोड़ती नहीं, जन्मभर जीवके साथ रहती है और अन्तमें साथ ही सती हो जाती है, यह सामान्य भाव है। विशेष भाव यह है कि भावनारूप भक्ति चिदाभासरूप जीवके हमेशा साथ रहती है और अन्तमें ज्ञानद्वारा चिदाभासरूप जीवको संसारसे मुक्त करके स्वयं भी मुक्त हो जाती है। अथवा यों समझिये कि शुभ और अशुभरूपसे तृष्णा दो प्रकारकी है। अशुभ तृष्णा संसारकी है जो जीवके बन्धनका कारण है और शुभ तृष्णा ईश्वरकी भक्ति रूपा है जो जीवको मुक्त करनेवाली है। अस्तु !

एक दिन जब मेरी बहिन अपने पतिके साथ पहले पहल ससुराल जा रही थी तब मेरी माताकी छोटी सखीने उसको इसप्रकार उपदेश दिया था—'हे बेटी ! तू कुलीन है, कुलीन स्त्रियोंके धर्म मैं तुझे सिखलाती हूं, ध्यान देकर सुन'—

'अपने पतिके सदा अनुकूल रहना, ईश्वरकी आज्ञाके समान उसकी आज्ञाका पालन करना। सास ससुरकी सदा सेवा करना' सबेरे उठकर बड़ी बूढ़ियोंके चरण छुआ करना, देवरानी जिठानी सबसे मेल रखना। एक साथ रहना, इसमें बड़े लाभ हैं। सबको यथाभाग बांटकर खाने पीनेकी वस्तुएं खाया करना, सबको वस्त्रादि देकर पीछे आप लिया करना जहांतक होसके सबको प्रसन्न रखनेका प्रयत्न करना, यह बात नहीं है कि सब प्रसन्न नहीं रह सकते, जो सबको प्यार करता है, उसको सब प्यार करने लगते हैं, अपने हिताहितको सब समझते हैं, अपने हित करनेवालेसे कोई वैर नहीं करता! दुनियांकी चीजें आने जानेवाली हैं, उनके लिये दूसरोंको अप्रसन्न क्यों करना चाहिये ? वस्त्राभूषणोंमें भी विशेष प्रेम करना योग्य नहीं है, जो मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहना चाहिये। भारतवर्षकी स्त्रियोंकी सादगीकी सब विदेशी प्रशंसा करते हैं। अपनी सनातन मर्यादाको छोड़ना अच्छा नहीं है। स्त्रीको जब स्वाभाविक ही परमेश्वरने मोहनी रूप बनाया है तब अन्य आभूषणोंकी क्या आवश्यकता है ? सादगी ही स्त्रीका परम भूषण है। जो स्त्रियां विशेष वस्त्र आभूषण नहीं मांगतीं, उनसे पति स्वाभाविक ही प्रसन्न रहते हैं और ईश्वर भी राजी रहता है, इच्छा न करनेवालीकी इच्छाएं स्वयं भगवान् पूर्ण करते हैं और लक्ष्मीजी स्वयं उनकी सेवा करनेको तैयार रहती हैं, जो कुछ मिलता है, सो भाग्यसे मिलता है कहा भी है 'बिन मांगे मोती मिलै, मांगे मिलै न भीख।' न मांगनेवालेकी लोक परलोक दोनोंमें प्रतिष्ठा होती है, मांगनेवालेका कोई आदर नहीं करता। भगवान्की प्रसन्नताके लिये सुमित्राजीने अपने प्यारे पुत्र लक्ष्मणको वनमें भेज दिया और उनके कष्टका कोई खयाल नहीं किया। कौशल्याजीने पातिव्रतका पालन करने और अपनी सौतको प्रसन्न करनेके लिये रामसरीखे परम प्रिय पुत्रको प्रसन्नतापूर्वक वन जानेकी आज्ञा दे दी। उनकी कीर्ति अबतक है और जबतक संसार है तबतक बनी रहेगी।

समय निकल जाता है बात बनी रहती है ! विषयभोग आगमापायी हैं, वे सुखके कारण नहीं हैं, उलटे दुःखके हेतु हैं, तू लिखी पढ़ी है, घरके काम काजमें प्रवीण है, गाना बजाना तालस्वर सब जानती है। एकान्तमें पतिको ईश्वर-भजन और वैराग्य-उत्पादक गीत सुनाया कर ! विषयभोगसे जो जो हानियां होती हैं, सो सब समझाया कर ! पतिको उपदेश देना पत्नीका धर्म नहीं है, फिर भी शुभ सम्मति देना स्त्रीका धर्म है, युक्तिसे इतिहास आदिके दृष्टान्त देकर समझाया करना, जिससे तेरी चतुराईका अभिमान प्रकट न हो, पति बुरा न मानें और सदा शुभमार्गमें चलें ! पतिव्रता सुशीला स्त्री अपने शुभ आचरण और सद्भावसे मूर्ख पतिको भी चतुर और शुभाचरणवाला बना लेती है। स्त्रीको अपने अंगोंके दोष बताकर पतिको विषयभोगसे बचानेका सदा प्रयत्न करना चाहिये ! ऐसा करनेसे दम्पति आयुभर सुखी

रहते हैं और उनकी सन्तान भी सुखी तथा शुभाचरणवाली होती है । ये सब बातें तू पहिलेसे ही जानती है, ईश्वरकृपासे तुझे पहिले हीसे सत्संग प्राप्त है । रामायण, गीता, भागवत सब तूने पढ़ी है, भागवतके दशम स्कन्धका रहस्य मैंने तुझे समझा दिया है, बेसमझ स्त्रियोंको दशम स्कन्ध मत सुनाना, बेसमझ स्त्रियां उसको उलटा समझती हैं, इसलिये उनको नहीं सुनाना चाहिये और स्वयं भी उनके सामने कभी नहीं पढ़ना चाहिये। जो प्रौढ़ा स्त्री हों, भक्तिका मर्म जानती हों, उनको रहस्य बतानेमें विशेष हानि नहीं है । चलते समयका उपदेश विशेष याद रहता है इसलिये मैंने तुझे इस समय समझाया है । अच्छा, तेरा कल्याण हो और पतिव्रतधर्ममें तेरी प्रीति हो ! यही मेरा आशीर्वाद है !'

हे अनन्त ! यह पतिव्रतधर्म मैंने तुझसे कहा, अब अन्य स्त्रियोंका धर्म सुन । देख ! मेरी माता विधवा स्त्रियोंको प्रायः इसप्रकार समझाया करती थी—'हे बहिनो ! ईश्वर जो कुछ करता है अच्छा ही करता है ! तुम्हारा विधवा होना व्यर्थ नहीं है, इसमें भी तुम्हारा कुछ न कुछ हित ही है ! तुमको मालूम ही है, मैं भी युवावस्थामें ही विधवा हो गयी थी, हां ! सन्तान हो चुकी थीं, फिर भी थी तो युवती ही ! जबसे मैं विधवा हुई हूं, तबसे मैंने अच्छा खाना पीना, वस्त्रालङ्कार छोड़ दिये हैं, हां ! सिर नहीं मुंड़वाया है क्योंकि मेरे संतान हैं और सिवा इसके, सिर मूंड़नेवाली स्त्रियां हैं नहीं परपुरुषको अङ्ग छुवाना शास्त्रविरुद्ध है। इसलिये सबकी सम्मति लेकर मैंने सिर नहीं मुंड़वाया ! एकान्तमें बैठी रहती हूं ईश्वरनामका जप किया करती हूं, बालरूप भगवान्‌का ध्यान किया करती हूं, परपुरुषका ध्यान कभी नहीं करती ! सन्त, महात्मा या आचार्य कोई भी हो, स्त्रीके लिये सभी परपुरुष हैं । भक्तिभाववाली स्त्रियोंके सिवा अन्यसे बातचीत भी नहीं करती । अकेली होनेसे मैं दुखी नहीं हूं, ईश्वरकी कृपासे सदा प्रसन्न रहती हूं, दूसरे चाहे मुझे भले ही दुखी समझें परन्तु वस्तुतः मैं सुखी हूं ! मैं अपनी प्रशंसाके लिये ऐसा नहीं कहती, अपनी प्रशंसा करना तो बड़ा भारी दोष है ! मेरा कथन तुम्हें समझानेके लिये और तुम किसीप्रकारसे खिन्न न हो, इसीलिये है ।

विषयभोग तुच्छ हैं विषयभोगोंमें सुख नहीं उलटा दुःख है, ईश्वर-भजन सार है, भजनमें बड़ा आनन्द है ! ईश्वर सुखरूप है, वही वस्तुतः सबका पति है । सबके हृदयमें विराजमान है, प्रेमसे प्रकट भी हो आता है । इसलिये ईश्वरके नामका जप किया करो, बालरूप भगवान्‌का अथवा पार्वती, सरस्वती, सीता आदि वीतराग देवियोंका ध्यान किया करो । खाली मत बैठा करो, दूसरोंके घर जाकर बेमतलबकी बातें कभी न बनाया करो, बहुत बातें बनाना दोषरूप है । कहा है—'खोय चटोरी एक घर, दो घर खोयब तोर । ईश्वर-भजन करनेसे देहासक्ति कम होती है, आनन्दका आविर्भाव होता है, मन प्रसन्न रहता है । प्राचीन समयमें स्त्रियां सती होती थीं, अब भी जो स्त्री ईश्वर-भजनमें तत्पर रहती हैं, वह सतीके समान ही हैं अथवा सतीसे भी उत्तम हैं, सतीमें बड़ा सामर्थ्य होता है, सती किसीसे भय नहीं करती । एक सतीका दृष्टान्त मैं तुम्हें सुनाती हूं चित्त लगाकर सुनो—

वीराङ्गना लाजवन्ती सती !

अकबरने चित्तौड़के किलेको घेर रक्खा था। राजपूत, राजपूतनियां और राजपूत बालक सब किलेके अन्दर थे। कईबार शूरवीर राजपूत केसरिया वस्त्र धारण कर अपनी जानपर खेल किलेसे बाहर निकले थे। परन्तु तलवारोंकी तीक्ष्ण धार और बन्दूककी गोलियोंसे उन सबके शरीर चूर्ण कर दिये गये । एक एक बालक कट कटकर मर गया किन्तु किसीने जीतेजी राजपूत जातिपर गुलामीका धब्बा न लगने दिया।

हजारों स्त्रियां, छोटी छोटी लड़कियां और युवती माताएं चिताओंपर बैठकर जल गयीं परन्तु अपने पवित्र कुलको कलङ्क नहीं लगाया! जब अकबरके वाणसे जयमल्ल मारा गया और उसके छोटे छोटे बच्चे और लड़कियां भी मारी गयीं, तब रानीकी हिम्मतकी कमर टूट गयी, उसने बचे खुचे वीर राजपूतोंको अपने हाथसे पानके बीड़े देकर मरनेकी आज्ञा दी और स्त्रियोंको चितापर जलनेकी खुशखबरी सुनायी!

यह खबर चित्तौड़के आसपास जंगलके आगके समान फैल गयी। ग्रामोंके मनचले और बांके जवान जाति देश और धर्मके लिये समूहके समूह एकत्र होगये। जिसने सुना वही हथियार लेकर आ गया और सबने मिलकर किलेको रक्षार्थ चारों तरफसे घेर लिया। फाटक खोल दिया गया और निर्भय सिंह पुरुषोंका दल समुद्रकी तरङ्गोंके समान झूमता हुआ दिल्लीपति-के सैन्यको नाश करनेके लिये बाहर निकल पड़ा। दोनों सेनाओंमें बड़ी वीरताके साथ युद्ध होने लगा। राजपूतोंकी सेना मुसलमानोंकी अपेक्षा संख्यामें बहुत कम थी, फिर भी मरता क्या न करता? एक एक राजपूत वीर दस दस बीस बीसको मारकर मरता था! अकबर दूर खड़ा उनकी बहादुरीका तमाशा देख देखकर चकित होरहा था, उसके मुंहसे बारम्बार यही शब्द निकलते थे! 'आहा! अगर मेरे पास दस बीस रिसाले भी ऐसे राजपूतोंके होते तो मैं आसानी-से दुनियां भरको फतेह कर लेता।'

युद्ध समाप्त हुआ! एक एक करके सभी राजपूत कट मरे! परन्तु किसीने दीनतायुक्त पराधीनता स्वीकार न की। दूसरी तरफ किलेमें धुएंका पहाड़ उठ रहा था! एक तड़ाकेके शब्दके साथ आग भड़क उठी और आसमानसे बातें करने लगी! राजपूत ललनाओंने पवित्र जौहर-व्रत पूर्ण किया! अकबरके हाथ क्या आया? जला हुआ शहर! टूटे हुए मकान! जली हुई हड्डियां! मांसके लोथड़ोंसे भरी हुई! यह देखकर क्रूर अकबरकी आंखोंमें आंसू भर आये। वह कहने लगा 'ओहो! राज्य बढ़ानेकी उमङ्गमें कितनी हत्याएं होती हैं।' मृत राजपूत वीरोंके जनेऊ तोले गये तो कहा जाता है वे ७४ $\frac{1}{2}$ मन निकले! तबसे हिन्दुओंमें रिवाज है कि जो चिट्ठी दूसरेके न पढ़नेकी (प्राइवेट) होती है, उसपर ७४ $\frac{1}{2}$ का अंक लिख देते हैं। मतलब यह है कि जिसके नाम चिट्ठी है उसके सिवा यदि कोई दूसरा उसे पढ़ेगा, तो उसको ७४ $\frac{1}{2}$ मन जनेऊ पहननेवालोंके मारनेकी हत्या होगी।

अकबर अपनी क्रूरतापर पछता रहा था, इतने-में कई मुसलमान सिपाहियोंने एक शस्त्रास्त्रधारी तेजस्वी युवकको अकबरके सामने पेश किया उसकी मुश्कें कसी हुई थीं! चेहरेपर बांकेपनके चिह्न थे! आंखें रक्तके समान लाल हो रही थीं! अकबरने कहा—"तू कौन है? ऐसी बीभत्स अवस्थामें क्यों यहां आया है?"

युवक-"मैं पुरुष नहीं हूं! स्त्री हूं! अपने स्वामीके शवकी खोजमें यहां आयी हूं।"

"तेरा नाम क्या है?"

"मेरा नाम लाजवन्ती है!"

"तू कहां रहती है?"

"मेरा घर डूंगरपुर है!"

"चित्तौड़ और डूंगरपुरके बीचमें कितना फासला है? तू यहां क्यों और कैसे आयी?"

"फासला बहुत है, मैंने सुना कि चित्तौड़में जौहर होनेवाला है। राजपूत वीर और वीराङ्गनाएं दोनों धर्मकी वेदीपर बलिदान होनेकी तैयारियां कर रहे हैं! इस शुभ समाचारको सुनकर मेरा स्वामी तो पहिले ही चला आया था। मुझे पीछेसे पता चला, मेरी तीव्र इच्छा थी कि भाग्यवती राजपूतनियोंके समान मुझे भी सतीत्व-की चितापर जलनेका सौभाग्य प्राप्त हो! किन्तु मेरे आनेसे पहिले ही यहां सब कुछ समाप्त हो चुका। अतएव मैं स्वामीके शवको खोजनेके

लिये रणभूमिमें चली आयी और तेरे क्रूर सिपाहियोंने मुझे पकड़ लिया !"

अकबर विस्मययुक्त हो मनमें कहने लगा 'ओहो ! मुझे सब जहांपनाह और खुदावन्द कहते हैं पर यह लड़की कितनी निडर है, जो कहती है तेरे क्रूर सिपाहियोंने मुझे पकड़ लिया ! सचमुच राजपूत-रमणी बड़ी निडर होती हैं ! शाबाश !' अकबरने कहा "तू मुझे जानती है ?"

"हां, हां ! जानती हूं ! तेरा नाम अकबर है ! तू ही तो हमारे धर्म-कर्मका शत्रु है !"

"क्या तुझे डर नहीं है; जो मेरे सामने इस तरह गुस्ताखीसे बातचीत कर रही है !"

"मनुष्यको भय उसी समयतक रहता है जबतक उसको जान प्यारी लगती है। मेरी जान तो बहुत देर हुई निकल चुकी है, अब मुझे किसका डर है ?"

"तूने कैसे समझ लिया कि तेरा स्वामी युद्धमें काम आगया ! संभव है वह भाग गया हो।"

(हंसती हुई) "अकबर ! तू राजपूतोंके धर्मको नहीं जानता राजपूत रणभूमिसे कभी नहीं भागते ! यह तेरी भूल है ! मैं जानती हूं मेरा स्वामी धर्मसे कभी डिग नहीं सकता !"

"तेरी उसके साथ कब शादी हुई थी ?"

"शादी नहीं ! केवल सगाई हुई थी। विवाह होने ही वाला था कि तूने चित्तौड़पर चढ़ाई कर दी !"

अकबरने विशेष विस्मययुक्त होकर कहा, "नेकबख्त ! तब वह तेरा शौहर (स्वामी) नहीं है ! तू घर लौट जा ! किसी औरके साथ तेरी शादी होजायगी ?"

वह क्रोधसे आंखें लाल करके बोली "अकबर ! क्या तुझे ईश्वरने इसीलिये सामर्थ्य दिया है कि किसी सती रमणीके विषयमें ऐसे अपमानजनक वाक्य अपने मुंहसे निकालनेका दुःसाहस करे ?"

बादशाह उसके तेजसे डर गया, उसने कहा, "नहीं बेटी ! मैं तेरी बेइज्जती करना नहीं चाहता ! इतनी लाशोंमें तेरे मंगतेरेकी लाश मिलना मुश्किल है ! अगर तुझमें हिम्मत है तो जा ढूंढ़ ले और तेरे जीमें आवे सो कर !"

अकबरकी आज्ञा पाकर लाजवन्तीने अपने स्वामीका शव ढूंढ़ निकाला और डेरेमेंसे लकड़ियां लाकर एकत्र की तथा शवको उसपर लिटा दिया ! पाँचबार परिक्रमा करके चकमकसे आग जलायी। जब आग जलने लगी, तब देवीके समान स्वामीको गोदमें बैठा लिया और चुपचाप शान्तभावसे सबके देखते देखते भस्म हो गयी। सिपाही आश्चर्यचकित हो अपनी भाषामें अनेक प्रकारके गीत गाकर राजपूत सतीके पति-प्रेमकी प्रशंसा करने लगे !

इन जौहर करनेवाली वीररमणियोंमें हिन्दूधर्मकी अनोखी धज थी ! ये सब जप-तप भक्ति ज्ञान और वैराग्यकी साक्षात् मूर्तियां थीं ! सच्चा हिन्दू वह है जो शरीरासक्त नहीं, किन्तु आत्मासक्त है ! जो शरीरको मृतक समझकर आत्मामें लौ लगाता है, वह मरनेसे कभी नहीं डरता ! उसकी दृष्टिमें आत्मा नित्य अजर अमर है। जो मरनेसे डरता है, वह हिन्दू नहीं है और न वह भक्ति, ज्ञान, प्रेम अथवा योगकी असलियतको जानता है !

हे बहनो ! शोक छोड़कर सदा ईश्वरभजन किया करो ! ज्यों ज्यों ईश्वरमें प्रेम बढ़ता जाता है, त्यों ही त्यों शरीरकी आसक्ति कम होती जाती है और अन्तमें जब सत्यासत्यका निर्णय हो जाता है तब असत्य संसारसे मन सर्वथा हट जाता है तथा सत्यमें स्थिति हो जाती है। सत्य ही स्त्रियोंका धर्म है, यही उनका कर्तव्य है। कालकर्मका प्रेरक ईश्वर सबका सच्चा पति है, उसीमें मन लगाना चाहिये ! ईश्वरका भजन ही सुखरूप और ईश्वरका विस्मरण ही प्रबल दुःखरूप है ! गोसांईजीके वचन हैं 'दुख हनुमन्त

जानिये सोई, जब प्रभु सुमिरन भजन न होई ।' हे बहनो ! जो ईश्वरके प्रेममें प्राणोंको लगा देती हैं, वे तो सतीसे बढ़कर हैं ! सती पतिके प्रेममें मुग्ध होकर प्राण त्यागती है और पतिको प्राप्त होती है, परन्तु ईश्वरका भजन करनेवाली तो श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञासहित चेतनरूप परमात्मामें लय हो जाती हैं, इसीसे वे उत्तम हैं । प्रत्यक्ष सती होना तो आजकलके राज्यधर्मके विरुद्ध है । परन्तु भक्तिपूर्वक ईश्वरमें लय होनेके लिये कोई प्रतिबन्धक नहीं है ! अतएव सदा ईश्वर-भजनमें लगी रहा करो, परस्पर सत्-शास्त्र सुना और सुनाया करो ! फिर तुम्हें किसी प्रकारका दुःख न होगा ! परमात्मा करें, तुम्हें अखण्ड सुखकी प्राप्ति हो ! एवमस्तु !

हे अनन्त ! इस प्रकार मेरी माता स्त्रीधर्म कहा करती थी, बोल अब क्या पूछता है ?

अनन्त-महाराज ! आपने प्रत्येक वर्ण और स्त्रियोंके धर्म कहे, अब कृपाकरके आश्रमोंके धर्म भी कहिये ।

संत-यदि तू ब्रह्मचारी है तो सामर्थ्यकी रक्षा कर ! गृहस्थ हो तो गृहस्थीमें टिका रह, पर गृहस्थमें घुस मत जा ! राम नाम लिया कर, टुकड़ा रोटीका दिया कर ! वानप्रस्थ है तो संसारके वनसे निकलकर केन उपनिषद्के वनमें प्रवेश कर जा ! हमेशाके लिये घुस जा ! संन्यासी है तो तेरेलिये त्याग ही श्रेयस्कर है नंगे सिर मत रहा कर ! तीन त्यागकी टोपी पहन ले ! तीन त्यागोंका नाम बताता हूं, सुन !

धर्म अधर्मका त्याग कर, सत्य असत्य दोनोंका त्याग कर, और फिर जिससे इनका त्याग किया है उसका भी त्याग कर दे ! बृहस्पतिका वचन इसमें प्रमाण हैः-

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥

अनन्त-महाराज ! यह तो आपने सबके असाधारण धर्म बताये । यह धर्म तो शास्त्रोंमें भी मिलते हैं, अब मनुष्यका साधारण धर्म बतलाइये, नयी रीतिसे बतलाइये, जो सब मतों और सब मजहबोंके अनुकूल हो, लोक वेद किसीका विरोध न हो ! ऐसा धर्म थोड़े से वाक्योंमें बताइये !

संत-भाई ! जो कुछ कहूंगा, शास्त्रसे ही तो कहूंगा, भला ! मेरा कहा हुआ कौन मानेगा ? बिना प्रमाणका कथन न तो कोई मानता है और न मानना ही चाहिये ! श्रद्धा उत्तम वस्तु है परन्तु अन्धश्रद्धा भी तो न होनी चाहिये ! नयी रीति कहांसे लाऊंगा ? नया कुछ होता ही नहीं । यह तो पश्चिमी दुनिया भी मानती है कि नया कुछ नहीं होता ! एक शिष्ट पुरुषने किसी पण्डितसे यही प्रश्न किया था उस समय वहां मैं भी खड़ा सुन रहा था, वही तुझसे कहता हूंः-

"पण्डितजी ! मेरा क्या कर्तव्य है ?"

"रोता हुआ आया था, रोता हुआ छोड़ जा ! हंसता हुआ चला जा, यही तेरा परम कर्तव्य है !"

"महाराज ! समझा नहीं, समझाकर कहिये !"

(हंसकर) "भाई ! क्या भूल गया ? मैयाके पेटमेंसे रोता हुआ ही तो आया था, तेरा रोना सुनकर सब प्रसन्न हो रहे थे ! अब ऐसा जीवन व्यतीत कर कि तेरे मरनेका सबको कलक हो, तेरे लिये सब रोते रह जायं, उन सबको रोता हुआ छोड़कर तू हंसता हुआ चला जा, इस दोहेको कभी मत भूल !"

आया था रोता हुआ, हंसता था परिवार ।
भोला ! जा हंसता हुआ, रोता तज संसार ॥

इतना कहकर सन्त कुछ और कहनेको थे कि अनन्तराम कंथा, कमंडलु और कोपीन छोड़कर सदाशिवेन्द्रका बनाया हुआ यह छन्द पढ़ता हुआ जङ्गलको भाग गया !

आशावसनो मौनी नैराश्यालंकृतः शान्तः ।
करतलभिक्षापात्रस्तरुतलनिलयो मुनिर्जयति ॥

इस श्लोकका आशय यह है-

दिशावस्त्र मौनी सदा, शान्त निराशायुक्त ।
करतल भिक्षापात्र तरु,-नीचे घर मुनिमुक्त ॥

सन्त भी रम गये, सभा उठ गयी।

पाठक! असम्यग्दर्शोंके लिये स्ववर्णाश्रम धर्मका पालन करना कर्तव्य है सम्यग्दर्शीका कोई कर्तव्य नहीं है, उसके लिये तो शुकदेवजीका यही अनुशासन है:—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥

दिवाली

आजसे तीन दिन बाद दीपावलि है, इसपर कुछ भी नहीं लिखा जायगा तो शायद पाठक पाठिकाओंमें कोई समझेंगे कि यह कैसा मनहूस मासिकपत्र है, जो इतने भारी त्यौहारपर भी कुछ नहीं लिखता! इसी भयसे यह पंक्तियां लिखी जाती हैं।

दिवालीपर हमारे यहां प्रधानतः चार काम हुआ करते हैं-घरका कूड़ाकचरा निकालकर घरको साफ करना और सजाना, कोई नयी चीज खरीदना, खूब रोशनी करना और श्रीलक्ष्मीजीका आवाहन तथा पूजन करना। काम चारों ही आवश्यक हैं किन्तु प्रणालीमें कुछ परिवर्तन करनेकी आवश्यकता है। यदि वह परिवर्तन कर दिया जाय तो दिवालीका महोत्सव बारहवें महीने न आकर नित्य ही बना रहे और कभी उससे जी ऊबे भी नहीं! पाठक कहेंगे कि यह है तो बड़े मजेकी बात परन्तु रोज रोज इतना खर्च कहांसे आवेगा? इसका उत्तर यह है कि फिर बिना ही रुपये पैसेके खर्चके यह महोत्सव बना रहेगा और उसकी रौनक भी इससे खूब बढ़ी चढ़ी रहेगी। अब तो उस बातके जाननेकी उत्कण्ठा सभीके मनमें होनी चाहिये। उत्कण्ठा हो या न हो, मुझे तो सुना ही देनी है-ध्यानसे सुनिये—

दिवालीपर हम कूड़ा निकालते हैं परन्तु निकालते हैं केवल बाहरका ही। भीतरी कूड़ा ज्योंका त्यों भरा रहता है, जिसकी गन्दगी दिनों दिन बढ़ती ही रहती है। वह कूड़ा रहता है-भीतरी घरमें,-शरीरके अन्दर मनमें। कूड़ेके कई नाम हैं-कामना, क्रोध, लोभ, अभिमान, मद, वैर, हिंसा, ईर्षा, द्रोह, घृणा और मत्सर आदि, ये प्रधान प्रधान नाम हैं। इनके साथी और चेले चांटे बहुत हैं। इन सबमें प्रधान तीन हैं-काम, क्रोध और लोभ। इनको साथियोंसहित झाड़ू से झाड़ बुहार बाहर निकालकर जला देना चाहिये। कूड़े कचरेमें आग लगा देना अच्छा हुआ करता है। जहां यह कूड़ा निकला कि घर सदाके लिये साफ हो गया। इसके बाद घर सजानेकी बात रही। हम लोग केवल ऊपरी सजावट करते हैं जिसके बिगड़ने और नाश होनेमें देर नहीं लगती। सच्ची सजावट है अन्दरके घरको-दैवी सम्पदाके सुन्दर सुन्दर पदार्थोंसे सजानेमें, इनमें अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, दया, शौच, मैत्री, प्रेम, सन्तोष, स्वाध्याय, अपरिग्रह, निरभिमानिता, नम्रता, सरलता आदि मुख्य हैं।

हमारी धारणा है कि साफ सजे हुए घरमें लक्ष्मीदेवी आती हैं, बात ठीक है परन्तु लक्ष्मीजी सदा ठहरती क्यों नहीं? इसीलिये कि हमारी सफाई और सजावट केवल बाहरी होती है। और फिर वे ठहरीं भी चञ्चला, उन्हें बांध रखनेका कोई साधन हमारे पास है नहीं।

हां, एक उपाय है, जिससे वह सदा ठहर सकती हैं। केवल ठहर ही नहीं सकतीं, हमारे मने करने पर भी हमारे पीछे पीछे डोल सकती हैं। वह उपाय है उनके पति श्रीनारायणदेवको वशमें कर भीतरसे भीतरके गुप्त मन्दिरमें बन्द कर रखना। फिर तो अपने पतिदेवके चारुचरण-चुम्बन करनेके लिये उन्हें नित्य आना ही पड़ेगा।

हम द्वार बन्द करेंगे तब भी वह आना चाहेंगी, जबरदस्ती घरमें घुसेंगी। किसी प्रकार भी पिण्ड नहीं छोड़ेंगी। इतनी माया फैलावेंगी कि जिससे शायद हमें तङ्ग आकर उनके स्वामीसे शिकायत करनी पड़ेगी। जब वे कहेंगे तब मायाका विस्तार बन्द होगा। तब भी देवीजी जायंगी नहीं, छिपकर रहेंगी। पतिको छोड़कर जायं भी कहां? चञ्चला तो बहुत हैं परन्तु हैं परम पतिव्रता-शिरोमणि। स्वामीके चरणोंमें तो अचल होकर ही रहती हैं। अवश्य ही फिर ये हमें तङ्ग नहीं करेंगी। श्रीके रूपमें सदा रहेंगी।

अच्छा तो अब इन लक्ष्मीदेवीजीके स्वामी श्रीनारायणदेवको वश करनेका क्या उपाय है? उपाय है किसी नयी वस्तुका संग्रह करना। दिवालीपर लक्ष्मीमाताकी प्रसन्नताके लिये हम नयी चीज तो खरीदते हैं परन्तु खरीदते ऐसी हैं जो कुछ काल बाद ही पुरानी हो जाती हैं। श्रीनारायणदेव ऐसी क्षणभंगुर वस्तुओंसे वश नहीं होते। उनके लिये तो वह अपार्थिव पदार्थ चाहिये जो कभी पुराना न हो, नित्य नूतन ही बना रहे। वह पदार्थ है 'विशुद्ध और अनन्यप्रेम।' इस प्रेमसे परमात्मा नारायण तुरन्त वशमें हो जाते हैं। जहां नारायण वशमें होकर पधारे कि फिर हमारे सारे घरमें परम प्रकाश आपसे आप छा जायगा। क्योंकि सम्पूर्ण दिव्यातिदिव्य प्रकाशका अगाध समुद्र उनके अन्दर भरा हुआ है। हम टिमटिमाते हुए दीपकोंकी ज्योतिके प्रकाशमें लक्ष्मीदेवीको बुलाते हैं, बहुत करते हैं तो आजकलकी बिजली-की रोशनी कर देते हैं, परन्तु यह प्रकाश कितनी देरका है? और है भी सूर्यके सामने जुगनूकी तरह दो कौड़ीका। श्रीनारायणदेव तो प्रकाशके अधिष्ठान हैं। सूर्य उन्हींसे प्रकाश पाते हैं। चन्द्रमामें चांदनी उन्हींसे आती है, अग्निको प्रभा उन्हींसे मिलती है। यह बात मैं नहीं कहता, शास्त्र कहते हैं और भगवान् स्वयं अपने श्रीमुख-से भी पुकारकर कहते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥
(गीता १५।१२)

जब समस्त जगत्की घोर अमावस्याका नाश करनेवाले भगवान् भास्कर, सुधावृष्टिसे संसारका पोषण करनेवाले चन्द्रदेव, और जगत्के आधार अग्निदेवता उन्हींके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं,–इन तीनोंका त्रिविध प्रकाश उन्हींके प्रकाशाम्बुधिका एक क्षुद्र कण है, तब जहां वह स्वयं आजायँ, वहांके प्रकाशका तो ठिकाना ही क्या? उनका वह प्रकाश केवल यहींतक परिमित नहीं है, ब्रह्माकी जगत्-उत्पादनी बुद्धिमें उन्हींके प्रकाशकी झलक है। शिवकी संहार-मूर्तिमें भी उन्हींके प्रकाशका प्रचण्ड रूप है। ज्ञानी मुनियोंके हृदय भी उसी आलोक-कणसे आलोकित हैं। जगत्के समस्त कार्य, मन बुद्धिकी समस्त क्रियाएं उसी प्रकाशके सहारे चल रही हैं।

अतएव पहले काम, क्रोध, लोभ रूप कूड़ेको निकालकर घर साफ कीजिये, फिर दैवी सम्पत्तिकी सुन्दर सामग्रियोंसे उसे सजाइये, तदनन्तर प्रेमरूपी नित्य-नवीन वस्तुका संग्रह कीजिये और उससे लक्ष्मीपति श्रीनारायणदेवको वशकर हृदयके गंभीर अन्तस्तलमें विराजित कीजिये, फिर देखियेगा–महालक्ष्मीदेवी और अखण्ड अपार आलोकराशि स्वयमेव चली आवेंगी! देवीका अलग आवाहन करनेकी आवश्यकता नहीं रह जायगी!

हां, एक यह बात आप और पूछ सकते हैं कि श्रीनारायणको वशमें कर देनेवाला वह प्रेम कहां, किस बाजारमें मिलता है? इसका उत्तर यह है कि वह किसी बाजारमें नहीं मिलता–'प्रेम न बाड़ी नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय'। उसका भण्डार तो आपके अन्दर ही है। ताला लगा है तो उसे खोल लीजिये, खोलनेका उपाय—चाभी श्रीभगवन्नाम-चिन्तन है। प्रेमका कुछ अंश बाहर भी है परन्तु वह जगत्के जड़ पदार्थोंमें लगा

रहनेसे मलिन हो रहा है। उसका मुख श्रीनारायणकी ओर घुमा दीजिये। वह भी दिव्य हो जायगा। उसी प्रेमसे भगवान् वश होंगे। फिर लक्ष्मीनारायण दोनोंका एक साथ पूजन कीजियेगा। इस तरह नित्य ही दिवाली बनी रहेगी। टका लगेगा न पैसा, पर काम ऐसा दिव्य बनेगा कि हम सदाके लिये सुखी-परम सुखी हो जायंगे। इसीको कहते हैं—

'सदा दिवाली सन्तके आठों पहर अनन्द'

परमधन

(लेखक —पं० भगवानदासजी शास्त्री एम० ए०)

सम्प्रति संसारके प्रतिशत नव्वे मनुष्य धनकी प्राप्तिके लिये अभिलाषा और उद्यम करते हैं। पर दुःखका विषय यही है कि वे उत्तम धनका विचार न कर केवल निकृष्ट धनकी ओर झुके हुए हैं। यह विचार करना चाहिये कि धन कितने प्रकारका होता है और उनमें कौनसा धन वाञ्छनीय है तथा कौनसा उपेक्ष्य या त्याज्य है। 'धन' शब्द प्रसिद्ध है, अपढ़ कुपढ़ स्त्री बालक सभी इसका अर्थ जानते हैं। धन शब्द उच्चारण करते ही चित्तमें किसी धातुके बने हुए रूपविशेषका स्मरण हो आता है। परन्तु वास्तवमें धन शब्दका अर्थ इससे अत्यन्त ही विस्तृत है। अधिक विस्तार न कर थोड़ेसेमें ही कहा जाता है। धन शब्दमें 'विद्याधन' 'तपोधन' गोधन' आदि सभीका समावेश हो सकता है। इससे यह सिद्ध है कि 'धन शब्द' किसी मूल्यवान् पदार्थका वाचक है। धनका निम्नलिखितरूपसे विभाग कीजिये—(१) आधिभौतिक धन, (२) विद्याधन और (३) तपोधन। आधिभौतिक धन संसारके उन मूल्यवान् पदार्थोंको कहते हैं जिनका नेत्र आदि इन्द्रियोंसे ग्रहण हो सकता है। जैसे रुपये, गिन्नी, नोट, मकान, दुकान, जायदाद, सोना, चांदी, लोहा, अन्न, वस्त्र, मोटर, हाथी, घोड़े आदि। इन दिनों मनुष्य इसी धनकी प्राप्तिके लिये भटक रहा है। इसीको उसने अपने जीवनका परम उद्देश्य समझ लिया है। इसीकी प्राप्तिके लिये वह नाना प्रकारसे पापाचरण करता है। इस धनसे हीन पतिको भी निखट्टू समझकर पत्नी उससे प्रेम नहीं करती, आदर नहीं करती। धनहीन पिताकी पुत्र सेवा नहीं करता, धनयुक्त पिताकी पुत्र मृत्यु चाहता है। एक कविने यहांतक कह दिया है कि—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः,
स पण्डितः स श्रुतिमान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः,
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति॥

परन्तु यह धन है निकृष्टतम, क्योंकि यह क्षणिक है, अस्थायी है। दो चार वर्षके लिये भी इसके बने रहनेकी गारण्टी नहीं की जा सकती। हम सदा देखते हैं, आज जो कोट्यधीश हैं, कलको वह शताधीश भी नहीं रहता! इस धनका हरण चोर डाकू करते हैं, राजकर्मचारी इसे छीन लेते हैं, यह जल जाता है, सड़ जाता है, अनेक प्रकारसे इसका नाश होता रहता है। ऐसे क्षणिक और अस्थिर पदार्थके पीछे जीवनको नष्ट करना क्या बुद्धिमानीका कार्य है?

इससे श्रेष्ठ धन है 'विद्याधन'। उसमें कई विशेषताएं हैं। धातुमय धन चोर डाकुओंद्वारा चुराया छीना जा सकता है परन्तु विद्याको कोई चुरा या छीन नहीं सकता! अन्यान्य वस्तुओंका मूल्य होता है, विद्या अमूल्य पदार्थ है। मूल्य होता तो धनी मनुष्य ही विद्वान् होते, निर्धन सर्वथा मूर्ख ही रह जाते। विद्यामें एक विचित्रता यह है कि यह खर्च करनेसे घटती नहीं, प्रत्युत बढ़ती है। इन सब तथा और भी कारणोंसे विद्या सब द्रव्योंमें उत्तम द्रव्य है। विद्याद्वारा मनुष्य उत्तमसे उत्तम पदार्थकी प्राप्ति कर सकता है।

इतना होनेपर भी यह सर्वोत्तम धन नहीं कहा जा सकता। कालान्तरमें यह भी क्षीण और नष्ट हो जाता है। पढ़ी हुई विद्याका उपयोग न किया जाय तो वह विस्मृत हो जाती है। मृत्युके अनन्तर पुनर्जन्म होनेपर विद्या फिरसे पढ़नी पड़ती है। यद्यपि कहीं कहीं कुछ संस्कार रह जाता है परन्तु बहुधा विद्या एक जन्मतक ही रहती है। इस रूपमें यद्यपि विद्याधन द्रव्यधनकी अपेक्षा अधिक काल स्थायी है तथापि अनश्वर नहीं है।

इससे भी उत्तम तीसरा धन जिसको हम तपोधन कहते हैं, सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि उसका कभी नाश नहीं होता। तपसे यहां हमारा अभिप्राय उन यज्ञ, दान, भजन, भगवदुपासनादि निष्काम कर्मोंसे है, जिनसे आध्यात्मिक उन्नतिद्वारा ब्रह्म-साक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त होती है। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि जब पुण्यकर्म स्वर्गादि भोगसे क्षीण हो जाते हैं 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।' फिर इन पुण्यकर्मरूपी तपोधनमें विद्या-धनसे क्या विशेषता रह जाती है? इसका उत्तर यह है कि सकाम भावसे किये हुए कर्मोंका ही पुण्यफल भोगनेपर नाश होता है, निष्कामका नहीं

धन सन्तान आदिकी प्राप्तिके लिये किया जानेवाला सकाम यज्ञ है, वह यज्ञरूप कर्म धन या सन्तान प्रदान करनेके अनन्तर नष्ट हो जाता है परन्तु निष्काम भावसे किया हुआ नष्ट नहीं हो सकता। निष्कामकर्म वह है जिसको कर्ता अपना कर्तव्य समझकर कृष्णार्पणबुद्धिसे करता है, बदलेमें कुछ भी नहीं चाहता। इसी निष्कामकर्मका उपदेश भगवान्ने अपने श्रीमुखसे अर्जुनको दिया है। भगवान्ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'

निष्काम शुभकर्म करनेसे मनुष्यका अन्तः-करण शुद्ध हो जाता है, शुद्ध अन्तःकरणमें अविद्या-रूपी अन्धकारके नाश हो जानेसे विद्याका आविर्भाव होता है, विद्याके आविर्भावसे जीव सांसारिक दुःखोंसे मुक्त होकर परमपदको प्राप्त करता है। इन शब्दोंकी ओर सबका ध्यान खींचता हुआ मैं सभी स्त्री पुरुषोंसे प्रार्थना करता हूं कि दुष्कर्मोंको छोड़नेकी चेष्टा करते हुए यथाशक्ति कुछ न कुछ निष्काम शुभकर्म भी अवश्य किया करें।

मुक्त हो जाओ!

शुभ वस्तु सत्यकी समीपवर्तिनी अवश्य है, पर वह सत्य नहीं है। अशुभ हमें विचलित न कर सके, यह सीखनेके बाद हमें यह भी सीखना होगा, कि शुभ भी हमें सुखी न कर सके। हमें यह समझना होगा कि हम शुभ अशुभ दोनोंसे बाहर हैं। इन दोनोंके लिये स्थान निर्दिष्ट है, यह हमें जान लेना पड़ेगा। साथ ही यह भी जानना होगा कि जहां एक रहेगा वहां दूसरा भी रहेगा ही! वास्तवमें शुभाशुभ दोनों एक ही वस्तु है, और दोनोंका स्थान हमारे मनमें ही है। मन जब स्थिर और शान्त हो जाता है, तब शुभाशुभ कुछ भी उसे स्पर्श नहीं कर सकता। शुभ अशुभ दोनोंके बन्धन काटकर एकदम मुक्त हो जाओ, फिर इन दोनोंमें कोईसा तुम्हें स्पर्श नहीं कर सकेगा। तुम मुक्त होकर परमानन्द-स्वरूप हो जाओगे! अशुभ लोहेकी बेड़ी है तो शुभ सोनेकी है, हैं दोनों ही बेड़ियां! मुक्त हो जाओ और इस बातको भलीभांति जान लो कि कोई भी बेड़ी तुम्हें बांध नहीं सकती। सोनेकी बेड़ीसे लोहेकी बेड़ीको हटा दो, फिर उसको भी अलग फेंक दो। हमारे शरीरमें अशुभरूपी कांटा है, इसी पेड़के एक दूसरे (शुभरूप) कांटेसे उसे निकालकर दोनोंको फेंक दो और मुक्त हो जाओ!

—स्वामी विवेकानन्द

मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है या परतन्त्र?

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

कोई कहते हैं कि 'संसारमें कर्म ही प्रधान है, जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल मिलता है।' दूसरे कहते हैं कि 'ईश्वर ही सबको बन्दरकी तरह नचाते हैं।' इन दोनों मतोंमें परस्पर विरोध मालूम होता है। यदि कर्म ही प्रधान है और मनुष्य कर्म करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र है तो ईश्वरका बाजीगरकी भांति जीवको नचाना सिद्ध नहीं होता और न ईश्वरकी कोई महत्ता ही रह जाती है। पक्षान्तरमें यदि ईश्वर ही सब कुछ करवाता है, कर्म करनेमें मनुष्य सर्वथा परतन्त्र है तो किसीके द्वारा किये हुए बुरे कर्मका फल उसे क्यों मिलना चाहिये ? जिस ईश्वरने कर्म करवाया, फल-भोगका भागी भी उसे ही होना चाहिये, पर ऐसा देखा नहीं जाता। इस तरहके प्रश्न प्रायः उठा करते हैं, अतएव इस विषयपर कुछ विवेचन किया जाता है!

मेरी समझसे जीव वास्तवमें परमेश्वर और प्रकृतिके अधीन है। कमसे कम फल-भोगमें तो वह सर्वथा परतन्त्र है। धन स्त्री पुत्र कीर्ति आदिका संयोग वियोग कर्मफलवश परवशतासे ही होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। नवीन कर्मोंके करनेमें भी वह है तो परतन्त्र ही, परन्तु कुछ अंशमें स्वतन्त्र भी है, या यों कहिये कि स्वेच्छासे मौका पाकर वह अनधिकार स्वतन्त्र आचरण करने लगता है, इसीसे उसे दण्ड भोग भी करना पड़ता है।

बन्दर बाजीगरके अधीन है, उसके गलेमें डोर बँधी है, मालिककी इच्छाके अनुकूल नाचना ही उसका कर्तव्य है, यदि वह मालिककी इच्छाके विपरीत किञ्चित् भी आचरण नहीं करता तो मालिक प्रसन्न होकर उसे खानेको अधिक देता है, अधिक प्यार करता है। कदाचित् वह मालिककी इच्छानुसार नहीं चलता–प्रतिकूल आचरण करता है तो मालिक उसे मारता है–दण्ड देता है। इस दण्ड देनेमें भी उसका हेतु केवल यही है कि वह उसके अनुकूल बन जाय! बाजीगर बन्दरको मारता हुआ भी यह नहीं चाहता कि बन्दरका बुरा हो, क्योंकि इस अवस्थामें भी वह उसे खानेको देता है, उसका पालन पोषण करता है।

इसी प्रकारका बर्ताव सन्तानके प्रति माता पिताका हुआ करता है, अवश्य ही बाजीगरकी अपेक्षा माता पिताके बर्तावका दर्जा ऊंचा है। बाजीगरका वह बर्ताव–भूलपर दण्ड देते हुए भी पोषण करना–केवल स्वार्थवश होता है। माता पिता अपने स्वार्थके अतिरिक्त सन्तानका वैयक्तिक हित भी सोचते हैं, क्योंकि वह उनका आत्मा है। परन्तु परमात्माका दर्जा इन दोनोंसे ऊंचा है। क्योंकि वह अहैतुक प्रेमी तथा सर्वथा स्वार्थ-शून्य है। वह जो कुछ करता है, सब हमारे हितके लिये ही करता है। वास्तवमें हम सर्वथा उसके अधीन हैं, तथापि उसने हमें दयापूर्वक इच्छानुसार सत्कर्म करनेका अधिकार दे रक्खा है। उसकी आज्ञानुसार कर्म करना ही हमारा वह अधिकार है। यदि हम उस अधिकारका व्यतिक्रम करते हैं तो वह परमपिता हमें बड़े प्यारसे हमारा दोष दूर करनेके लिये-हमें कुपथसे हटाकर सुपथपर लानेके लिये दण्ड देता है। उसका दण्डविधान कहीं कहीं भीषण प्रतीत होनेपर भी दया और प्रेमसे लबालब भरा रहता है।

यहां यह प्रश्न होता है कि सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ ईश्वर मनुष्यको अपने अधिकारका अतिक्रम करने ही क्यों देता है? वह तो सर्वसमर्थ है, क्षणभरमें अघटन घटना घटा सकता है, फिर वह मनुष्यको उसके अधिकारोंके बाहर दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त ही क्यों होने देता है? इसका उत्तर इस दृष्टान्तसे समझनेकी चेष्टा कीजिये।

सरकारने किसी व्यक्तिको आत्मरक्षार्थ बन्दूक रखनेकी सनद दी है, बन्दूक उसके अधिकारमें है, वह जब चाहे तभी उसका यथेच्छ उपयोग कर सकता है। परन्तु कानूनसे उसे मर्यादाके अन्दर ही उपयोग करनेका अधिकार है। चोरी करने, डाका डालने, किसीका खून करने या ऐसे ही किसी बेकानूनी अन्याय-कार्यमें न्यायतः वह उस बन्दूकका उपयोग नहीं कर सकता। करता है तो उसका वह कार्य अन्याय और नियमविरुद्ध समझा जाता है, परिणाममें उसकी सनद छीन ली जाती है और वह उपयुक्त दण्डका पात्र होता है। अथवा यों समझिये कि किसी राज्यमें किसी व्यक्तिको कोई अधिकार राजाकी ओरसे इसलिये दिया गया है कि अपने अधिकारके अनुसार प्रजाकी सेवा करता हुआ राजका वह काम, जो उसके जिम्मे है नियमानुसार सुचारुरूपसे करे। वह यदि सुचारुरूपसे नियमानुसार काम करता है तो राजा प्रसन्न होकर उसे पुरस्कार दे सकता है उसकी पदोन्नति हो सकती है और वह बढ़ते बढ़ते अन्त तक राज्यका उत्तराधिकारीतक भी हो सकता है। परन्तु यदि वह अपने अधिकारका दुरुपयोग करे, कानूनके विरुद्ध कार्यवाही करने लगे तो उसका अधिकार छिन जाता है और उसे दण्ड मिलता है। यह सब होते हुए भी बन्दूकका या अपने अधिकारका दुरुपयोग करते समय सरकार या राजा उसका हाथ पकड़ने नहीं आते। कार्य कर चुकनेपर उपयुक्त दण्ड मिलता है। इसी प्रकार परमात्माने भी हमें सत्कर्म करनेका अधिकार दे रक्खा है, परन्तु हम दुष्कर्म करते हैं तो वह हमें रोकता नहीं। कर्म करनेपर उसका यथोचित दण्ड देता है।

यहांपर फिर यह प्रश्न होता है कि इस जगत्की सरकार या यहांके राजा तो सर्वज्ञ या सर्वव्यापी न होनेसे कानून तोड़कर अधिकारका दुरुपयोगक रनेवालोंके हाथ नहीं पकड़ सकते, परन्तु परमात्मा जो सर्वज्ञ, न्यायकारी, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी है, उससे तो मन वाणी शरीरकी कोई क्रिया छिपी नहीं है। वह दुष्कर्म करनेवाले मनुष्यका हाथ पकड़कर उसे बलात्कारसे क्यों नहीं रोक देता? इसका उत्तर यही है कि परमात्माकी विधि इस तरह रोकनेकी नहीं है, उसने मनुष्यको अपने जीवनमें कर्म करनेकी स्वतन्त्रता दे रक्खी है। पर साथ ही दया करके उसे शुभाशुभ परखनेवाली बुद्धि या विवेक भी दे दिया है, जिससे वह भले बुरेका विचारकर अपना कर्तव्य निश्चय कर सके। और यह भी घोषणा कर दी है कि यदि कोई मनुष्य अनधिकार अन्याय चेष्टा करेगा तो उसे अवश्य दण्ड भोगना पड़ेगा। इससे यह सिद्ध हो गया कि बाजीगरके बन्दरकी भांति ईश्वर ही सबको नचाता है सभी उसके अधीन हैं परन्तु जैसे भूल करनेवाले बन्दरको दण्ड मिलता है, इसी प्रकार ईश्वरकी आज्ञा न माननेवालेको भी दण्डका भागी होना पड़ता है। अवश्य ही नाच भगवान् नचाते हैं परन्तु नाचनेमें मालिककी इच्छानुसार या उसके प्रतिकूल नाचना बन्दरके अधिकारमें है। सरकार या राजाने अधिकार दिया है परन्तु उन्होंने उसका दुरुपयोग करनेकी आज्ञा नहीं दी है। भगवान्ने भी मनुष्य जीवन प्रदानकर सत्कर्मोंके द्वारा क्रमशः उन्नत होकर परमपद प्राप्त करनेका अधिकार हमें प्रदान किया है। परन्तु पाप करनेकी आज्ञा उन्होंने नहीं दी है। जब एक न्यायपरायण मामूली राजा भी अपने किसी अफसरको अधिकारका दुरुपयोगकर पाप करनेकी आज्ञा नहीं देता तब भगवान् तो ऐसी आज्ञा दे ही कैसे सकते हैं? अतएव यह बात भी ठीक है कि मनुष्य सर्वथा ईश्वरके

अधीन है। साथ ही यह भी सत्य है कि वह ईश्वर-प्रदत्त अधिकारका सदुपयोगकर परम उन्नति और उसका दुरुपयोगकर अत्यन्त अधोगतिको भी प्राप्त हो सकता है।

अब यह प्रश्न होता है कि 'भगवान्‌की आज्ञा न होने और परिणाममें दुःखकी सम्भावनाका पता होनेपर भी मनुष्य भगवदिच्छाके विरुद्ध पापाचरण क्यों करता है ? किस कारणसे वह जान बूझकर पापोंमें प्रवृत्त होता है ? इस प्रश्न-पर विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि इस पापकी प्रवृत्तिका कारण अज्ञान है। अज्ञानसे आवृत होकर ही सब जीव मोहित हो रहे हैं। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'।

प्रकृतिके दो स्वरूप हैं, विद्यात्मक और अविद्यात्मक। इन दोनोंमें अविद्यात्मक प्रकृतिका अज्ञान ही हेतु है। इसी अज्ञानसे उत्पन्न काम आसक्ति आदि दोषोंके वश होकर मनुष्य पापमें प्रवृत्त होता है। संसारमें अविद्या आदि पांच क्लेश हैं--

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः

(यो० सा० ३)

'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभि-निवेश यह पांच क्लेश कहलाते हैं। इनमें पिछले चारों क्लेशोंकी उत्पत्ति अविद्यासे ही होती है। संसारके सब प्रकारके क्लेशोंमें ये पांच ही हेतु हैं। इन्हीं अज्ञानज पंच क्लेशोंसे मनुष्य परिणाम भूल-कर पाप करता है।

इन पांचोंकी संक्षिप्त व्याख्या यह है–अविद्या तो अज्ञानसे उत्पन्न है ही, जिससे अनित्यमें नित्यबुद्धि, अशुचिमें शुचिबुद्धि, दुःखमें सुख-बुद्धि और अनात्ममें आत्मबुद्धिरूप विपरीत ज्ञान हो रहा है। अस्मिता–अहंकार या 'मैंभाव'-को कहते हैं, जो समस्त बन्धनोंका हेतु है। 'राग' आसक्तिका नाम है, इसीसे मनुष्य पापमें लगता है। 'द्वेष' मनके विरुद्ध कार्योंमें दुःख होनेको कहते हैं। रागद्वेषरूप बीजसे ही काम-क्रोधरूप महान् अनर्थकारी वृक्ष उत्पन्न होते हैं। मरणभयको अभिनिवेश कहते हैं। अस्तु !

अर्जुनने भी भगवान्‌से पूछा था–

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

(गीता ३ । ३६)

'हे श्रीकृष्ण ! फिर यह पुरुष बलात्कारसे लगाये हुएके सदृश न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित हुआ पापका आचरण करता है। इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(गीता ३ । ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यही महा अशन यानी अग्निके सदृश भोगोंसे न तृप्त होनेवाला बड़ा पापी है। इस विषयमें इसको ही तू वैरी जान ! इन कामरूप वैरीका निवास इन्द्रियां मन और बुद्धिमें है। इन मन, बुद्धि इन्द्रियोंद्वारा ही इसने ज्ञानको आच्छादित-कर जीवात्माको मोहित कर रक्खा है। अतएव इनको वशमें करके इस ज्ञानविज्ञानका नाश करनेवाले पापी कामको मारना चाहिये।

इससे यह सिद्ध होता है कि बुरे कर्म अज्ञान-अविद्याजनित आसक्तिसे या कामनासे होते हैं। जो इनके वशमें न होकर भगवान्‌के दिये हुए अधिकारके अनुसार बर्तता है वह यहाँ सर्वतोभावसे सुखी रहकर अन्तमें परम-सुखरूप परमात्माको प्राप्त करता है !

दरिद्रनारायण

(लेखक—बाबा राघवदासजी)

पिछले दिनों महात्मा गांधीजीने ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें पूछे हुए एक प्रश्नके उत्तरमें यह लिखा था कि ईश्वरका अस्तित्व है। इसी तरह अन्यान्य श्रेष्ठ पुरुष भी ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास करते हैं। अखिल विश्वका संचालन और नियन्त्रण अवश्य ही किसी एक इन्द्रियातीत अतीत शक्तिसे हो रहा है, इसमें कोई सन्देह नहीं! परन्तु उस इन्द्रियातीत शक्तिका अन्वेषण कहां किया जाय? सन्त महात्माओंसे लेकर साधारण व्यक्ति तक सभी उस शक्तिमें अलौकिक दिव्य गुण बतलाते हैं, उन्हीं गुणोंके अनुसार उस अचिन्त्य शक्ति-ईश्वरके अनेक नाम हैं। इन नामोंमें दीनबन्धु, पतितपावन, अशरणशरण आदि नामोंको लोग विशेष प्रेमसे लेते देखे जाते हैं। क्योंकि ईश्वरमें यह गुण विद्यमान हैं। इसी कारण ईश्वरको माता पिता भाई सखा आदि सम्बन्धोंसे माननेको रीति प्रायः सभी धर्मोंमें पायी जाती है। इससे यह पता लगता है कि जनसाधारणके हृदयोंपर ईश्वरके इन गुणोंका महत्त्व विशेषरूपसे अंकित है। अतः हमें भी इन गुणोंके अनुसार ईश्वरकी खोज करनी चाहिये।

भगवान् पतितपावन हैं तो पतितोंकी आवश्यकता है? वे दीनबन्धु हैं तो दीनोंकी जरूरत है और वे अशरणशरण हैं तो आश्रयहीन जीव भी चाहिये। जहां इस प्रकारके प्राणी—इन नामोंको सार्थक करनेवाले पतित, दीन, अनाश्रय जीव हों, वहीं ईश्वरका निवास सिद्ध होता है। ऐसा हुए बिना ईश्वर बन्धु, पावनकर्ता और शरणदाता कैसे हो सकता है? अतएव भगवान्का दर्शन पानेकी इच्छा हो तो हमें इसी प्रकारके लोगोंमें उसे खोजना उचित है।

कवीन्द्र रवीन्द्रके शब्दोंमें हम यह कह सकते हैं कि, "भगवन्! जहां दीनातिदीन, नीचातिनीच और नष्ट-भ्रष्ट निवास करते हैं वहां तेरे चरण विद्यमान हैं। जब मैं तुझे प्रणाम करनेका उद्योग करता हूं, तो मेरा प्रणाम उस गहराई तक नहीं पहुंच सकता, जहां दीनातिदीनोंके बीचमें तेरे चरण विराजमान हैं।" वास्तवमें भगवान् अपने प्यारे पतितोंको छोड़कर अन्यत्र कहां रहेंगे? यही बात प्रकृतिके नियमोंसे भी सिद्ध है। जो अपने बलबूतेपर खड़े होकर सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं, भगवान्का कभी चिन्तन नहीं करते। उनकी चिन्ता भगवान्को क्यों होने लगी? वे तो स्वावलम्बी हैं। परन्तु जो अपने पैरोंपर खड़े नहीं हो सकते, जो दुर्बल हैं, जो पद पदपर अपनी पतित अवस्था और दीनताका अनुभव करते हुए उस पतितपावन दीनबन्धुकी दयादृष्टिरूपी स्वातीबूंदके लिये उसीकी ओर नित्य चातककी तरह ताक रहे हैं, उनको वे दीनबन्धु कैसे भुला सकते हैं? जो माताके गोदका लाल है उसकी रक्षा तो माताको ही करनी पड़ेगी, क्योंकि माता ही उसका सर्वस्व है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि ईश्वरके दर्शन हमें गरीबोंकी टूटी झोपड़ियोंमें, दरिद्र अनाथ मातृ-पितृहीन बालकोंके करुणक्रन्दनमें और आश्रय-अवलम्बनहीन विधवाके वेदना भरे प्राणोंमें ही हो सकते हैं! जहां ईश्वर रहते हैं, जिनके हृदयमें ईश्वर रहते हैं, वे ही ईश्वरके प्यारे हैं, ईश्वर रूप हैं, ईश्वरकी सजीव मूर्त्ति हैं। अतएव मित्रो! आइये, इन ईश्वरनिवास ईश्वररूप दरिद्रोंकी झोपड़ियोंके द्वारपर, और कीजिये इनकी सेवा प्रसन्नताकेसाथ अपना तन मन धन अर्पण करके। इन दरिद्रोंकी सेवा ही उस विराट् मङ्गलमय सर्वशक्तिमान्की सेवा है, इनके पूजनमें ही उस दीनबन्धुका पूजन है, इनके भोग लगानेमें ही उस विश्वभर्त्ताके भोग लगानेकी सत्क्रिया सम्पन्न होती है। यह दरिद्र, समाजसे कुचले

हुए दरिद्र, अकालसे पीड़ित दरिद्र, राजाके क्षोभके पात्र दरिद्र, सबसे तिरस्कृत अपमानित दरिद्र, ईश्वरके प्यारे दरिद्र ही तो नारायण-स्वरूप हैं। इन्हें प्रणाम कीजिये। प्रेमसे गले लगाइये। भोग लगाइये। पूजिये। इन दरिद्र नारायणोंका पूजन ही सर्वोत्तम पूजा है !!

यो देवः सर्वभूतेषु दीनरूपेण संस्थितः ।
नमस्तस्मै नमस्तस्मै नमस्तस्मै नमोनमः ॥

हरिनामका भूत

प्रभु श्रीचैतन्यदेव नीलाचल जा रहे हैं, प्रेममें विभोर हैं, शरीरकी सुध नहीं है, प्रेममदमें मतवाले हुए नाचते चले जा रहे हैं, भक्त-मण्डली साथ है। रास्तेमें एक तरफ एक धोबी कपड़े धो रहा है। प्रभुको अकस्मात् चेत हो गया, वे धोबीकी ओर चले, भक्तगण भी पीछे पीछे जाने लगे। धोबीने आंख घुमाकर एक बार उनकी ओर देखा, फिर चुपचाप अपने कपड़े धोने लगा! प्रभु एकदम उसके निकट चले गये। श्रीचैतन्यके मनका भाव भक्तगण नहीं समझ सके। धोबी भी सोचने लगा कि 'क्या बात है?' इतनेमें ही श्रीचैतन्यने धोबीसे कहा–'भाई धोबी! एक बार हरि बोलो!' धोबीने सोचा, साधू भीख माँगने आये हैं। उसने 'हरि बोलो' प्रभुकी इस आज्ञाकी ओर कुछ भी खयाल न करके सरलतासे कहा, 'महाराज! मैं बहुत ही गरीब आदमी हूं, मैं कुछ भी भीख नहीं दे सकता।'

प्रभुने कहा,–'धोबी! तुमको भीख कुछ भी नहीं देनी पड़ेगी, सिर्फ एक बार हरि बोलो।' धोबीने मनमें सोचा 'साधुओंका इसमें जरूर ही कोई मतलब है, नहीं तो मुझे हरि बोलनेको क्यों कहते? इसलिये हरि न बोलना ही ठीक है।' उसने नीचा मुंह किये कपड़े धोते धोते ही कहा, 'महाराज! मेरे बालबच्चे हैं' मजूरी करके उनका पेट भरता हूं। मैं 'हरिबोला' बन जाऊंगा तो मेरे बालबच्चे अन्न बिना मर जायंगे!

प्रभुने कहा,–'भाई! तुझे हम लोगोंको कुछ देना नहीं पड़ेगा, सिर्फ एक बार मुंहसे हरि बोलो, हरिनाम लेनेमें न तो कुछ खर्च होता है और न किसी काममें बाधा होती है, फिर हरि क्यों नहीं बोलते? एक बार हरि बोलो भाई!'

धोबीने सोचा 'अच्छी आफत आयी, यह साधु क्या चाहते हैं? न मालूम क्या होते क्या हो जाय? मेरे लिये हरिनाम न लेना ही अच्छा है।' यह निश्चय करके उसने कहा, 'महाराज! तुम लोगोंको तो कुछ कामकाज है नहीं, इससे सभी कुछ कर सकते हो, हम गरीब आदमी मेहनत करके पेट भरते हैं, बताइये मैं कपड़े धोऊं या हरिनाम लूं?'

प्रभुने कहा–'धोबी! यदि तुम दोनों काम एक साथ न कर सको तो तुम्हारे कपड़े मुझे दो। मैं कपड़े धोता हूं, तुम हरि बोलो।'

इस बातको सुनकर भक्तोंको और धोबीको बड़ा आश्चर्य हुआ!

अब धोबीने सोचा कि 'इस साधुसे तो पिण्ड छूटना बड़ा कठिन है, क्या किया जाय? जो भाग्यमें होगा वही होगा' यह सोचकर प्रभुकी ओर देखकर धोबी कहने लगा 'साधू महाराज! तुम्हें कपड़े नहीं धोने पड़ेंगे, जल्दी बतलाओ मुझे क्या बोलना होगा, मैं वही बोलता हूं।' अबतक धोबीने मुख ऊपरकी ओर नहीं किया था! अबकी बार उसने कपड़े धोना छोड़कर प्रभुकी ओर देखते हुए उपर्युक्त शब्द कहे। धोबीने देखा कि 'साधु करुणाभरी दृष्टिसे उसकी ओर देख रहे हैं और उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही है।' यह देखकर धोबी कुछ मुग्धसा होकर बोला–'कहो महाराज! मैं क्या बोलूं' प्रभुने कहा–'भाई बोलो 'हरिबोल'।'

धोबी बोला। प्रभुने कहा–'धोबी! फिर 'हरिबोल' बोलो, धोबीने फिर कहा–'हरिबोल।'

इस तरह धोबीने दो बार प्रभुके अनुरोधसे 'हरि-बोल' 'हरिबोल' कहा, तदनन्तर वह अपने आपेमें नहीं रहा और विह्वल हो उठा! बिलकुल इच्छा न होनेपर भी वह ग्रहग्रस्तकी तरह अपने आप ही 'हरिबोल हरिबोल' पुकारने लगा। ज्यों ज्यों 'हरिबोल' पुकारता है, त्यों त्यों विह्वलता बढ़ रही है। पुकारते पुकारते अन्तमें वह बिलकुल बेहोश हो गया, आंखोंसे हजारों लाखों धाराएं बहने लगीं, वह दोनों भुजाएं ऊपरको उठाकर 'हरिबोल, हरिबोल' पुकारता हुआ नाचने लगा।

भक्तगण आश्चर्यचकित होकर देखने लगे। अब प्रभु नहीं ठहरे, उनका कार्य हो गया, इसलिये वे वहाँसे जल्दीसे चले, भक्तगण भी साथ हो लिये। थोड़ीसी दूर जाकर प्रभु बैठ गये, भक्तगण दूरसे धोबीका तमाशा देखने लगे। धोबी भाव बता बताकर नाच रहा है, प्रभुके चले जानेका उसे पता नहीं है, उसकी बाह्यदृष्टि लुप्त हो रही है। भाग्यवान् धोबी अपने हृदयमें गौररूपका दर्शन पा रहा है।

भक्तोंने समझा, धोबी मानो एक यन्त्र है। प्रभु उसकी कल दबाकर चले आये हैं और वह उसी कलसे 'हरिबोल' पुकारता हुआ नाच रहा है।

भक्त चुपचाप देख रहे हैं। थोड़ी देर बाद धोबिन घरसे रोटी लेकर आयी। कुछ देरतक तो उसने दूरसे खड़े खड़े पतिका रंग देखा। पर कुछ भी न समझकर हंसीमें उड़ानेके भावसे उसने कहा, 'यह क्या हो रहा है? यह नाचना कबसे सीख लिया?' धोबीने कोई उत्तर नहीं दिया, वह उसी तरह दोनों हाथोंको उठाये घूम घूमकर भाव दिखाता हुआ 'हरिबोल' पुकारने और नाचने लगा। धोबिनने समझा, पतिको होश नहीं है, उसको कुछ न कुछ हो गया है। वह डर गयी और चिल्लाती हुई गाँवकी तरफ दौड़कर लोगोंको पुकारने लगी। धोबिनका रोना और पुकारना सुनकर गाँवके लोग इकट्ठे हो गये। धोबिनने डरते डरते उनसे कहा कि 'मेरे मालिकको भूत लग गया है'। दिनमें भूतका डर नहीं लगा करता, इसलिये गांवके लोग धोबिनको साथ लेकर धोबीके पास आये। उन्होंने देखा, धोबी बेहोशीमें घूम घूमकर नाच रहा है और उसके मुखसे लार टपक रही है। उसको इस अवस्थामें देखकर पहले तो किसीको उसके पास जानेका साहस नहीं हुआ। शेषमें एक भाग्यवान् पुरुषने जाकर उसको पकड़ा, धोबीको कुछ होश हुआ और उसने बड़े आनन्दसे उस पुरुषको छातीसे लगा लिया। बस, छातीसे लगानेकी देर थी कि वह भी उसी तरह 'हरिबोल' कहकर नाचने लगा। अब उन दोनोंने नाचना शुरू कर दिया। एक दूसरा गया, उसकी भी यही दशा हुई। इसी प्रकार तीसरे चौथे पांचवें क्रम क्रमसे सभीपर यह भूत सवार हो गया, यहांतक कि धोबिन भी इसी प्रेममदमें मतवाली हो गयी। प्रेमकी मन्दाकिनी बह चली, हरि-नामकी पवित्र ध्वनिसे आकाश गूंज उठा, समूचा गांव पवित्र हो गया!

श्रीगीता-परीक्षा-समिति

(१) इस वर्ष गीता-परीक्षा-समितिमें ४६ परीक्षा-केन्द्र स्थापित हुए हैं, जिनमें लगभग १००० परीक्षार्थी शामिल हुए हैं। महाराष्ट्रके सात केन्द्रोंको छोड़कर हिन्दीके ३९ केन्द्रोंमें कुल ७६३ परीक्षार्थी हैं, जिनमें ६५६ प्रथमा, ९८ मध्यमा और ९ उत्तमाके हैं। इनमें ७५८ हिन्दू हैं जिनमें जैन और बौद्ध भी शामिल हैं तथा ५ मुसलमान हैं!

(२) श्रीमान् ठाकुर गोरखप्रसादसिंहजी वकील, आनरेरी मुन्सिफ देवरियाने प्रथमपदक प्रदान करनेकी प्रतिज्ञा की है, एतदर्थ आपको धन्यवाद है। उत्तमा परीक्षाके पञ्चम प्रश्नपत्रके उत्तरमें सर्वोपरि नम्बर पानेवाले परीक्षार्थीको भी एक सज्जनने पदक देनेका वचन दिया है!

साधकोंके प्रति

हरिरेव परं ब्रह्म हरिरेव परा गतिः ।
हरिरेव परामुक्तिर्हरिर्गेयः सनातनः ॥ (भगवान् व्यास)

विघ्न विघ्न-बाधा-संकुल इस जगत्में जो मनुष्य भगवत्-प्राप्तिके लिये साधन करता है वह वास्तवमें बड़ा ही भाग्यशाली है । संसारमें अधिकांश लोग तो यथार्थतः ईश्वरके अस्तित्वको ही नहीं मानते । जो मानते हैं उनमें अधिकांशकी बुद्धि तमोगुणके अन्धकारमय आवरणसे आच्छादित रहनेके कारण वे भगवत्-प्राप्तिकी शुभेच्छा नहीं करते । जो सौभाग्यवश श्रवणादिके प्रभावसे भगवत्-प्राप्तिके महत्त्वका कुछ ज्ञान रखते हैं उनकी विक्षिप्त बुद्धि भी प्रायः विविध कामनाओंसे हरण की हुई रहनेके कारण वे भगवान्‌का कुछ भजन-स्मरण करके भी उसके बदलेमें तुच्छ भोगोंकी ही इच्छा करते हैं । इनसे भी आगे बढ़े हुए कुछ लोग बुद्धिकी सात्त्विक वृत्तियोंके अनुसार साधनका आरम्भ तो करते हैं परन्तु अध्यवसाय और उत्साहकी न्यूनता, लक्ष्यकी एकतानता और विघ्नोंकी पहचानके अभाव तथा विघ्ननाशके उपाय न जाननेके कारण चरमलक्ष्य स्थलतक पहुंचनेके पहले ही साधन छोड़कर पथभ्रष्ट हो जाते हैं—इसीसे भगवान्‌ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

(गीता ७ । ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई विरला ही मेरे लिये (भगवत्-प्राप्तिके लिये) यत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवालोंमें भी कोई विरला भगवत्-परायण पुरुष ही मुझे तत्त्वसे जान सकता है ।'

इतना होनेपर भी जीव स्वाभाविक परमात्मा-को ही चाहता है । क्योंकि सुखकी चाह सबको है, और सभी पूर्ण, दुःखरहित तथा नित्य सुख चाहते हैं । कोई भी ऐसे सुखका अभिलाषी नहीं है जो अल्प, दुःखमिश्रित और नाश होनेवाला हो । इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुत बार मनुष्य किसी अल्प सुखविशेषको ही पूर्ण सुख मानकर कुछ समयके लिये उसमें तृप्त होना चाहता है, पर कुछ ही कालके बाद जब उस सुखमें किसी अभावकी प्रतीति होती है तब वह उसमें सन्तुष्ट न रहकर अभावकी पूर्तिके लिये आगे बढ़ता है । इससे यह सिद्ध होता है कि उसे अभावमय सुख सदाके लिये सन्तुष्ट नहीं कर सकता, वह पूर्ण सुख चाहता है । पूर्ण नित्य, अभावरहित सुख सत् त्रिकालव्यापी और त्रिकालातीत वस्तुका स्वरूप है, वह वस्तु केवल परमात्मा है । इस न्यायसे विविध जीव नदियोंका प्रवाह भिन्न भिन्न पथोंसे अनेकमुखी होकर उस एक ही नित्य सुख-सागर परमात्माकी ओर सतत बह रहा है । जीवकी यह अनादिकालीन सुखस्पृहा उसकी परमात्म-मिलनकांक्षाको प्रकट करती है । जहां तक उसे अपने चरमलक्ष्यकी प्राप्ति नहीं हो जायगी वहांतक इस प्रवाहकी गतिका कभी विराम नहीं होगा ।

परन्तु अज्ञान-तिमिराच्छन्न होनेके कारण सुखके यथार्थ स्वरूपको जीव पहचान नहीं सकता । इसीसे उसके मार्गमें अनेक प्रकारके

विघ्न उपस्थित होते हैं। कभी वह मार्ग भूल जाता है, कभी रुक जाता है, कभी उलटा चलनेकी चेष्टा करता है, कभी हताश होकर बैठ जाता है और कभी किसी पान्थशालाको ही घर मानकर अल्प सुखको ही परमसुख समझकर उसीमें रम जाता है। इसीलिये ऐसे जीव पामर या विषयी कहलाते हैं। इसके विपरीत जो अपने ध्येयको समझकर उसीकी प्राप्तिके लिये बड़ी तत्परताके साथ यथाशक्ति सतत प्रयत्न करते हैं, वे (मुमुक्षु) साधक कहलाते हैं। इस प्रकार साधन-पथारूढ़ होनेके लिये सबसे पहले ध्येय निश्चित करने, लक्ष्य ठीक करनेकी आवश्यकता है।

परम ध्येय क्या है ?

मनुष्यको सबसे पहले इस बातका निश्चय करना चाहिये कि मेरे जीवनका परम ध्येय क्या है ? किस लक्ष्यकी ओर जीवनको ले चलना है। जबतक यह स्थिर नहीं कर लिया जाता कि मुझे कहां जाना है, तबतक मार्ग या मार्गव्ययकी चर्चा करना जैसे निरर्थक है, वैसे ही जबतक मनुष्य अपने जीवनका ध्येय निश्चित नहीं कर लेता कि मुझे इस जीवनमें क्या लाभ करना है, तबतक कौनसे योगके द्वारा क्या साधन करना चाहिये, यह जाननेकी चेष्टा करना भी व्यर्थ है। इस समय जगत्‌में अधिक लोग प्रायः निरुद्देश्य ही भटक रहे हैं-प्रकृतिके प्रवाहमें अन्धे हुए बह रहे हैं, उन्हें यह पता नहीं कि हम कौन हैं ? जगत्‌में मानवदेह धारण करके क्यों आये हैं और हमें क्या करना है ? किसी भी प्रकारसे धनोपार्जनकर कुटुम्बका भरण पोषण करना और उसीके लिये जीवन बिता देना, साधारणतः यही अधिकांश लोगोंकी जीवनचर्या है।

ऊपर यह कहा जा चुका है और यह प्रत्येक मनुष्यका अनुभव भी है कि हम सुख चाहते हैं, अब विचार यह करना है कि हम जिन वस्तुओंके संग्रह और संरक्षणमें अपना जीवन बिता रहे हैं वे क्या वास्तवमें सुखरूप हैं ? यह तो सभी जानते हैं कि संसारकी प्रत्येक वस्तु क्षणभंगुर और विनाशशील हैं। जो विनाशी है वह अनित्य है, जो अनित्य है उसका एक दिन वियोग अवश्यम्भावी है। जिस वस्तुकी प्राप्ति और भोगके समय सुख होता है उसके वियोगमें दुःख अवश्य होगा। अतः संसारकी प्रत्येक वस्तु वियोगशील होनेके कारण दुःखप्रद है। पुत्रके जन्मके समय बधाइयां बांटी जाती हैं, बड़ा आनन्द होता है, बच्चेको घरमें खेलता देख देखकर चित्त-प्रसूनकी कलियां खिली जाती हैं, परन्तु एक दिन ऐसा अवश्य आता है, जिस दिन या तो वह हमें छोड़कर चल बसता है या उसे छोड़कर हमें परवश परलोक सिधारना पड़ता है। अपनी मानी हुई प्रिय वस्तु जब छूटती है तब जो दुःख होता है उसका अनुभव हम सभी को होना चाहिये। इसलिये इस पुत्रवियोगमें हमें उतना ही प्रत्युत उससे भी अधिक दुःख होता है जितना सुख उसके जन्म होनेके समय और पीछे हुआ था। यही न्याय स्त्री-स्वामी, माता-पिता, गुरु-शिष्य, मान-कीर्ति और शरीर-स्वर्ग आदि सभीमें लागू होता है। सारांश यह कि, अनित्य वस्तुमें केवल और पूर्ण सुख कदापि नहीं होता, उसका अन्त तो दुःखमय होता ही है, विचार करनेपर भोगकालमें भी अनित्य वस्तुका सुख-दुःखसे सना हुआ ही प्रतीत होता है।

इस लोक और परलोकके सभी भोग-पदार्थ अनित्य हैं। परन्तु इस अनित्यके पीछे अधिष्ठान-रूपसे जो एक सत्य छिपा हुआ है, जो सदा एकरस और अव्यय है, वही नित्य वस्तु है। उसके सम्बन्धमें गीता कहती है—

> न जायते म्रियते वा कदाचित्—
> नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
> अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
> न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
> (गीता २।२०)

–'जो किसी कालमें न जन्मता है, न मरता है, न होकर फिर होनेवाला है वह, तो अजन्मा नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीरके नाशसे उसका नाश नहीं होता।' ऐसा वह परम पदार्थ केवल परमात्मा है, उस परमात्माके एकत्वमें अपनी कल्पित भिन्न सत्ताको सर्वथा विलीन कर देना–केवल उस एक परमात्माका ही रह जाना भगवत्-प्राप्ति है और यही हमारे जीवनका परम ध्येय है। उपर्युक्त नित्यानित्य वस्तु-विचारसे ही यह ध्येय निश्चित किया जाता है। इस ध्येय-की ओर सदा लगे रहनेके लिये सर्व-प्रथम साधन है—

वैराग्य

इस लोक और परलोकके समस्त दृष्ट श्रुत या अदृष्ट अश्रुत पदार्थोंसे सर्वथा वितृष्ण हो जाना वैराग्य कहलाता है। जबतक विषयोंमें अनुराग रहता है, तबतक परमात्म-प्राप्तिके चरम ध्येयपर मनुष्य दृढ़तासे स्थिर नहीं रह सकता। विषयानु-रागकी निवृत्ति विषय-विरागसे होती है। विषयोंमें चित्तका अनुराग प्रधानतया चार कारणोंसे हो रहा है–(१) विषयोंका अस्तित्व बोध, (२) विषयोंमें रमणीयताका बोध, (३) विषयोंमें सुख-बोध और (४) विषयोंमें प्रेमका बोध।

विवेकद्वारा इन चारोंका बाध करनेपर वैराग्यकी प्राप्ति होती है। इसलिये नित्यानित्य वस्तु-विवेककी आवश्यकता पहले होती है। विवेकसे वैराग्य जागृत होता है और वैराग्यसे विवेक स्थिर और परिमार्जित होता है, यह दोनों अन्योन्याश्रित साधन हैं। उपर्युक्त चारों कारणोंमें पहलेका बाध प्रायः सबसे पीछे हुआ करता है क्योंकि यह पहला ही तीनोंका मूल आधार है। जगत्‌का अस्तित्व ही बुद्धिसे जाता रहे तो फिर उसमें रमणीयता सुख और प्रेमका तो कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता, परन्तु ऐसा होना बहुत कठिन है इससे साधकको क्रमशः पिछले तीनोंका बाध करके फिर पहलेका नाश करना पड़ता है।

रमणीयताका बाध–विषयोंकी ओर चित्त-वृत्तियोंके आकर्षित होनेमें सबसे पहला कारण उनमें रमणीयताका बोध है। विषयोंमें रमणीयता-का भास बुद्धिके विपर्ययसे ही होता है। बुद्धिके विपर्ययमें अज्ञानसम्भूत अविद्या प्रधान कारण है। इस अविद्यासे ही हमें असुन्दरमें सुन्दर बुद्धि अनित्यमें नित्य बुद्धि, दुःखमें सुख बुद्धि, अपवित्रमें पवित्र बुद्धि, प्रेमहीनमें प्रेम बुद्धि और असत्‌में सत् बुद्धि हो रही है, उल्लूकी भांति रातमें दिन और दिनमें रात इस अविद्यासे ही दीखता है। इसीसे हमें अस्थि-चर्मसार-शरीर और तत्सम्बन्धीय तुच्छ पदार्थोंमें रमणीयबुद्धि हो रही है। मनुष्य जिस विषयका निरन्तर चिन्तन करता है, उसीमें उसकी समीचीन बुद्धि हो जाती है, यह समीचीनता ही रमणीयताके रूपमें परिवर्तित होकर हमारे मनको आकर्षित करती रहती है। अब विचारना चाहिये कि विषयोंमें वास्तवमें रमणियता है या नहीं और यदि नहीं तो रमणियता क्यों भासती है ?

विचार किया जाय तो वास्तवमें विषयोंमें रमणीयता बिल्कुल नहीं है। जो शरीर हमें सबसे अधिक सुन्दर प्रतीत होता है, उसमें क्या है ? वह किन पदार्थोंसे बना है ? हड्डी, मांस, रुधिर, चर्म, मज्जा, मेद, कफ, विष्ठा और मूत्र आदि पदार्थोंसे भरे इस ढांचेमें कौनसी वस्तु रमणीय है और आकर्षक ? अलग अलग देखनेपर सभी चीजें घृणास्पद प्रतीत होती हैं। यही हाल और सब वस्तुओंका है। वास्तवमें रमणीयता, किसी वस्तुमें नहीं होती, वह कल्पनामें रहती है। कल्पना ही रूढ़ी बनकर तदनुसार धारणा करानेमें प्रधान कारण होती है।

हम लोगोंको जहां गौर वर्ण अपनी ओर आकर्षित करता है, वहां हबशियोंको काली सूरत ही रमणीय प्रतीत होती है। चीनमें कुछ समय पूर्व स्त्रियोंके छोटे पैरोंमें लोगोंकी रमणीय बुद्धि थी। लड़कियोंको बचपनसे ही लोहेकी जूतियां पहना दी जाती थीं, जिससे उनके पैर बढ़ने नहीं

पाते थे। यद्यपि इससे उन्हें चलनेमें बड़ी तकलीफ होती थी परन्तु रमणीय बुद्धिसे बाध्य होकर वे प्रसन्नतापूर्वक ऐसा करती थीं। राजस्थानकी मारवाड़ी स्त्रियां बेहूदे गहने-कपड़ोंके भारी बोझसे कष्ट सहन करनेपर भी उन्हें पहनकर अपनेको सुन्दर समझती हैं, पर गुजरातकी शादी पोशाक धारण करनेवाली स्त्रियां उसे देखकर हँसती हैं। ठीक इससे विपरीत मनोवृत्ति मारवाड़ी बहनोंकी गुजराती बहनोंके गहने कपड़ोंके प्रति होती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि रमणीयता, किसी विषयमें नहीं है, वह हमारे मनकी कल्पनामें है। हमने ही विषयोंमें सुन्दरताकी कल्पना कर ली है!

विषयोंमें सुखका बाध—यह कहा जा सकता है कि मान लिया, विषयोंमें रमणीयता नहीं है परन्तु उनके भोगमें सुख तो है इसका उत्तर यह है कि विषयभोगोंमें वास्तवमें सुख नहीं है। कमरेमें लगे हुए कांचके ग्लोबमें बिजली नहीं होती, वह तो सीधी पावर-हाउससे आती है, क्योंकि उसका उद्गम स्थान वही है। इसी प्रकार सुख भी सुखके परम उद्गम स्थान आनन्दरूप आत्मासे आता है। विषयमें सुख होता तो भोगके उपरान्त भी उसमें सुखकी प्रतीति होनी चाहिये। पर ऐसा नहीं होता। बड़ी भूख लगी थी, सूखी रोटी भी बहुत स्वादिष्ट मालूम होती है, इतनेमें सुन्दर मिष्ठान्न मिल गया, खूब पेटभर खाया। अब जरा सी भी गुंजाइश नहीं रही, पेट फूलने की नौबत आ गयी। इसके बाद यदि कोई उसी मिष्ठान्नको खानेके लिये हमारी इच्छाके विरुद्ध जोरसे आग्रह करता है तो हमें उसपर गुस्सा आ जाता है। वही मिष्ठान्न, जो कुछ समय पूर्व बड़े सुखकी सामग्री था, अब दुःखरूप प्रतीत होता है। इससे पता लगता है कि उस मिष्ठान्नोंमें सुख नहीं है। हमें भूख लगी थी, भोजनरूपी विषयकी बड़ी चाह थी। जब वह विषय मिला, तब थोड़े समयके लिये—दूसरे अभावकी भावना न होनेतक चित्त स्थिर हुआ; उस स्थिर चित्तरूपी दर्पणपर सुखस्वरूप आत्माकी झलकका प्रतिबिम्ब पड़ा, सुखका आभास हुआ। हमने भ्रमसे मान लिया कि यह सुख हमें विषयसे मिला है।

इसके सिवा एक बात यह भी विचारणीय है कि यदि विषय सुखरूप है तो एक ही विषय भिन्न भिन्न प्रकृतिके मनुष्योंमें किसीको सुखरूप और किसीको दुःखरूप क्यों भासता है? एक राजाने किसी शत्रु-राज्यपर विजय प्राप्त की। इससे उसके प्रेमियोंको सुख और विरोधियोंको दुःख होता है। विषयकी एकतामें भी सुख दुःखके बोधमें तारतम्यता है। यही विषयसुखका स्वरूप है। इससे यह सिद्ध होता है कि हमने भ्रमसे ही विषयोंमें सुखकी कल्पना कर रक्खी है, वास्तवमें मायामरीचिकाकी भांति इनमें सुख है ही नहीं। इस प्रकारके विचारोंसे सुखका बाध हो जाता है, अब रहा विषयप्रेम!

विषयोंमें प्रेमका बाध—हम कह सकते हैं कि पुत्र-कलत्र-मित्रादिमें रमणीयता और सुख तो नहीं है, परन्तु प्रेम तो प्रत्यक्ष ही दीखता है। इसपर भी विचार करनेसे पता लगता है कि विषयोंमें वास्तवमें प्रेम भी नहीं है। स्वार्थ ही प्रेमके रूपमें प्रकाशित हो रहा है। गुरु नानकने गाया है—

जगतमें झूठी देखी प्रीत।

अपने ही सुखसों सब लागे, क्या दारा क्या मीत॥
मेरो मेरो सभी कहत हैं, हितसों बांध्यो चीत।
अन्तकाल संगी नहिं कोऊ, यह अचरजकी रीत॥
मन मूरख अजहुं नहिं समुझत, सिख दै हार्‌यो नीत।
'नानक' भव-जल-पार परै, जो गावे प्रभुके गीत॥

मान लीजिये घरमें आग लग गयी, गहने कपड़े नोट गिन्नी स्त्री पुत्रादिसहित हम घरमें सोये हैं। इतनेमें आंखें खुलीं, अग्निकी ज्वाला देखते ही घबराकर अपनेको बचाते हुए हम गहने

कपड़े रुपये गिन्नी बटोरने और स्त्री पुत्रादिको बचानेके लिये चिल्लाहट मचाने और चेष्टा करने लगे। आग बढ़ी, लपटें हमारी ओर आने लगीं। हम घबराकर सब कुछ वहीं पटक बाहर भाग निकले। प्यारे स्त्री पुत्रादि अन्दर ही रह गये। बाहर निकलकर अपनी जान बचाकर हम उन्हें निकालनेके लिये चिल्लाते हैं, पर अन्दर नहीं जाते। यदि उनमें यथार्थ प्रेम होता तो क्या उन्हें बचानेके लिये प्राणोंकी आहुति सहर्ष न दे दी जाती? इससे सिद्ध होता है कि हमारा उनसे प्रेमका नहीं, पर स्वार्थका सम्बन्ध है। जबतक स्वार्थमें बाधा नहीं पड़ती, तभीतक प्रेमका बर्ताव रहता है। कहा है—

जगतमें स्वारथके सब मीत।
जब लागि जासों रहत स्वार्थ कछु, तब लागि तासों प्रीत॥

स्वार्थमें बाधा पड़ते ही बनावटी प्रेमके कच्चे सूतका धागा तत्काल ही टूट जाता है। हम जो स्त्री-पुत्र-धनादिके वियोगमें रोते हैं, सो अपने ही स्वार्थमें बाधा पहुंचते देखकर रोते हैं। यहांपर यह प्रश्न होता है कि तब जो लोग देशके लिये प्राण विसर्जन कर देते हैं उनमें तो वास्तविक प्रेम है न? अवश्य ही उनके प्रेमका विकाश हुआ है, वे लोग उन क्षुद्रस्वार्थी मनुष्यों की अपेक्षा बहुत उच्चश्रेणीके हैं तथापि उनकी भी यह चेष्टा वास्तवमें आत्मसुखके लिये ही है। इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि ऐसी चेष्टा किसीको नहीं करनी चाहिये। इस प्रकारकी चेष्टाएं तो अवश्य ही करनी चाहिये। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि इन चेष्टाओंके होनेमें भी वैराग्य कारण है। अपने शरीर-सम्बन्धी क्षुद्र स्वार्थोंसे विराग न होता तो प्रेमका विकाश कभी सम्भव नहीं था। यह सब होनेपर भी उन लोगोंका कुटुम्ब, जाति या देशसे यथार्थ प्रेम सिद्ध नहीं होता, इहलौकिक या पारलौकिक सुख, कीर्ति या पदगौरवजन्य आत्मसुखाभिलाषा ही प्रायः इसमें प्रधान उद्देश्य रहता है। वास्तवमें हम अपने ही लिये सबसे प्रेम करते हैं।

हम अपने शरीरसे भी अपने ही सुखके लिये प्रेम करते हैं। जब शरीरसे सुखमें बाधा पहुंचती है, तब उसको भी छोड़ देना चाहते हैं। अत्यन्त कष्टजनक रोगसे पीड़ित होने या अपमानित, पददलित होनेपर शरीरके नाशकी कामना या चेष्टा करना इसी बातको सिद्ध करता है कि हमारा शरीरसे प्रेम नहीं है। प्रेम तो प्रेमकी वस्तुमें ही होता है। प्रेमकी वस्तु है एकमात्र आत्मा। जगत्‌से भी उसी अवस्थामें असली प्रेम हो सकता है जब कि हम जगत्‌को अपना आत्मा मान लेते हैं। इसीलिये वृहदारण्यक श्रुतिमें कहा है—"न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति इत्यादि।

यही भाव हमारे प्रति भी और सबका समझना चाहिये। इसप्रकारके विचारोंसे विषय प्रेमका बाध करनेपर एक बात शेष रह जाती है विषयोंकी सत्ताका बोध!

विषयोंकी सत्ताका बाध-मान लिया कि विषयोंमें रमणीयता, सुख और प्रेम नहीं है, परन्तु विषयोंकी सत्ता तो माननी ही पड़ेगी। सत्ता न होती तो देखना, सूंघना स्पर्श करना, बोलना, सुनना आदि सब क्रिया प्रत्यक्ष क्योंकर हो सकती हैं? इसपर यह कहा जा सकता है कि जब रज्जुमें सर्प दीखता है, उस समय क्या उस कल्पित सर्पमें सत्य सर्प बुद्धि नहीं होती? क्या उस समय वह रस्सी ही प्रतीत होती है? यदि रस्सी ही प्रतीत होती है तो उससे डरने या कांपनेका कोई कारण नहीं है। गुसाईंजी महाराजने इस विषयको एक पदमें बड़ी अच्छी तरह समझाया है—

हे हरि! यह भ्रमकी अधिकाई।
देखत, सुनत, कहत, समुझत संशय सन्देह न जाई॥

जो जग मृषा ताप-त्रय अनुभव होइ कहहु केहि लेखे।
कहि न जाइ मृग-वारि सत्य, भ्रमतें दुख होइ बिसेखे॥
सुभग सेज सोवत सपने, बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहु नाव न पार पाव सो, जब लगि आपु न जागै॥
अनबिचार रमनीय सदा संसार भयङ्कर भारी।
सम-सन्तोष-दया-विवेकते ब्यवहारी सुखकारी॥
तुलसिदास सब बिधि प्रपञ्च जग जदपि झूठ स्रुति गावै।
रघुपति-भगति संत संगति बिनु, को भव त्रास नसावै॥

स्वप्नमें समुद्रमें डूबता हुआ मनुष्य, जबतक स्वयं नहीं जाग जाता, तबतक बाहरकी करोड़ों नावोंद्वारा भी वह डूबनेसे नहीं बच सकता। यद्यपि पलंगपर सोये हुएके पास समुद्र नहीं है, पर स्वप्नकालमें तो उसे वह सर्वथा सत्य ही प्रतीत होता है, इसी प्रकार यह संसार सत्तारहित होनेपर भी अविद्यासे सत् भासता है।

भरम परा तिहुं लोकमें, भरम बसा सब ठांव।
कहै कबीर पुकारिकै, बसे भरमके गांव॥

इन विचारोंसे सत्ताका बाध करना पड़ता है। परन्तु जगत्‌की सत्ताका बाध करना कहनेमें जितना सुगम है, करनेमें उतना ही कठिन है। बड़ी साधनाका यह परिणाम होता है। इसके लिये बड़े भारी विवेककी आवश्यकता है। परन्तु जहांतक यह न हो वहांतक विषयोंमें रमणीयता सुख और प्रेमबोधका बाध करता रहे। यही वैराग्य है *।

वैराग्य बिना परमार्थ नहीं। जो लोग बिना वैराग्यके परमार्थ वस्तुकी प्राप्ति करना चाहते हैं, वे मानों आकाशमें निराधार दिवाल उठानेका व्यर्थ प्रयास करते हैं। अतएव वैराग्यकी भावना सदा ही साधकको जाग्रत् रखनी चाहिये। विचारना चाहिये कि जगत्‌का कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है। धन-वैभव, विद्या-बुद्धि, तेज-प्रभाव, गुण-गौरव, बल-रूप, यौवन-श्री आदि सभी मृत्युके साथ ही धूलमें मिल जायंगी। आज हम अपने धनके सामने जगत्‌के लोगों, अपने ही भाइयोंको तुच्छ समझते हैं। ऊंची जाति या विद्याके कारण दूसरोंको नगण्य मानते हैं। नेतृत्वमें अपना कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखते। व्याख्यानों और लेखोंसे लोगोंको चमत्कृत कर देते हैं। नीति और चतुराईमें बड़े बड़े राजनीतिज्ञोंसे भी अपनेको बड़ा मानते हैं। दानमें कर्णकी समताका दम भरते हैं, बलमें भीम कहलाना चाहते हैं, यशस्वितामें अपनी बराबरीका किसीको भी देखना नहीं चाहते। शरीर, मन, बुद्धिपर बड़ा अभिमान है, पर यह ख्याल नहीं करते कि इस कच्चे घड़ेको फूटते तनिकसी देर भी नहीं लगती। जहां यह तनका घड़ा फूटा कि सब खेल खतम हो गया। फिर इस देहकी दशा यह होती है—

जारे देह भसम है जाई गाड़े माटी खाई।
कांचे कुम्भ उदक ज्यों भरिया, तनकी यहै बड़ाई॥

(कबीरजी)

पानीका बुदबुदा उठा और मिट गया, यही इस शरीरकी स्थिति है—

पानी केरा बुदबुदा, अस मानुसकी जात।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात॥

(कबीरजी)

इसलिये कबीरजीने चेतावनी देते हुए कहा है—

कबीर नौबत आपनी, दिन दस लेहु बजाय।
यह पुरपट्टन यह गली, बहुरि न देखौ आय॥
सातों नौबत बाजती, होत छतीसो राग।
सो मन्दिर खाली पड़े, बैठन लागे काग॥

---

* 'वैराग्य' के विषयपर श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका एक महत्त्वपूर्ण लेख इसी अंकमें अन्यत्र प्रकाशित है, उसे ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये। —सम्पादक

आजकालके बीचमें, जंगल होगा बास।
ऊपर ऊपर हल फिरैं, ढोर चरेंगे घास॥
हाड़ जलै ज्यों लाकड़ी, केश जलै ज्यों घास।
सब जग जलता देखकर, भये कबीर उदास॥
झूठे सुखको सुख कहैं, मानत हैं मनमोद।
जगत चबेना कालका, कछु मुख महं कछु गोद॥
हांकै परबत फाटते, समंदर घूंट भराय।
ते मुनिवर धरती गले, क्या कोई गरब कराय॥
माली आवत देखके, कलियां करैं पुकार।
फूली फूली चुनि लई, कालि हमारी बार॥
माटी कहै कुम्हार ते, तूं क्यों रूंधै मोहिं।
एक दिन ऐसा होयगा, मैं रूंधोंगी तोहिं॥
मरेंगे मर जायंगे, कोइ न लेगा नाम।
ऊजड़ जाय बसायंगे, छांड़ बसंता गाम॥
आसपास योधा खड़े, सबी बजावें गाल।
मांझ महलसे ले चला, ऐसा काल कराल॥

जीवनकी यह दशा है। इसलिये चार दिनकी चांदनीपर इतराना छोड़कर विषयोंसे मन हटाना चाहिये। कबीरजीका एक भजन और याद रखिये-

हमकां ओढ़ावै चदरिया, चलती बिरिया।
प्रान राम जब निकसन लागे,
उलट गई दोउ नैन पुतरिया॥
भीतरसे बाहर जब लावै,
छूट गई सब महल अटरिया।
चार जने मिलि खाट उठाइन,
रोवत लै चले डगर डगरिया॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
संग चली वह सूखी लकरिया॥

विषयोंमें वैराग्य हुए बिना ईश्वरमें अनुराग नहीं हो सकता। ईश्वरानुराग बिना आनन्दकी प्राप्ति असम्भव है। अनित्य, परिवर्तनशील और क्षणभंगुर विषयोंमें आनन्दकी कोई सम्भावना नहीं!

बाहरी त्यागका नाम विषय त्याग नहीं है– **उपर्युक्त विवेचनके अनुसार मनुष्यको विषयोंका परित्याग करनेके लिये सदा सचेष्ट रहना चाहिये। अवश्य ही केवल घरबार माता-पिता, स्त्री-पुत्रादिकको त्यागकर जङ्गलमें चले जानेका नाम विषय त्याग नहीं है। विषयासक्तिका त्याग ही विषय त्याग है। जबतक आसक्ति है तबतक गृहादि त्यागसे कोई खास लाभ नहीं होता। आसक्ति अविद्याजनित मोहसे होती है। जहांतक बुद्धि मोहसे ढकी हुई है वहांतक विषयोंसे वास्तविक वैराग्य नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान्ने कहा था–**

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
(गीता २। ५२)

हे अर्जुन! जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदलसे निकल जायगी तभी तू सुने हुए और सुने जाने-वाले सब विषयोंसे वैराग्यको प्राप्त होगा। इस मोहको हटानेका ही प्रयत्न करना चाहिये। जब-तक मनसे विषयोंकी अनुरक्ति दूर नहीं होती तब-तक केवल बाहरी त्यागद्वारा मनसे यह मोह कभी दूर नहीं होता।

दाढ़ी मूंछ मुंड़ाईकै हुआ जु घोटमघोट।
मनको क्यों मूंड़ा नहीं, जामे भरिया खोट॥

अतएव—

तस्मात्तं साधनं नित्यमचेष्टव्यं मुमुक्षुभिः।
यतो मायाविलासाद्वै निर्वितं परमश्नुते॥

मुमुक्षु पुरुषको मनका मोह दूर करनेवाले उस यथार्थ वैराग्यसाधनका नित्य अन्वेषण करना चाहिये जिससे मायाके कार्य इस नश्वर जगत्से सहज ही छुटकारा मिल सके। क्रमशः

(शेष पृष्ठ सं० 569 पर है)

परमहंस-विवेकमाला

(पृष्ठ सं० ५३१ से आगे)

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

[मणि ३]

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

शरीर और जीवात्मा

हे नचिकेता! शरीर नगररूप है और शरीरमें रहनेवाला आत्मा शरीररूप नगरका राजा है। शरीर तीन प्रकार-का है—कारण, सूक्ष्म और स्थूल। कारणशरीर अज्ञान-रूप है, कारण शरीरमें जीव-को दुःखका अनुभव नहीं होता। यदि कारण-शरीरमें दुःख होता तो सुषुप्ति अवस्थामें मनुष्यको दुःखका अनुभव होना चाहिये था, सुषुप्तिमें किसीको दुःखका अनुभव नहीं होता इससे सिद्ध है कि कारणशरीरमें दुःख नहीं है। दुःखरूप न होनेपर भी कारणशरीर दुःखका कारण तो है ही, जैसे बीज अंकुरादिद्वारा फलका कारण होता है ऐसे ही अज्ञानरूप कारणशरीर भी सूक्ष्म, स्थूल शरीरद्वारा जीवोंके दुःखका कारण है। सूक्ष्म शरीर साक्षात् अज्ञानरूप मायाका कार्य है इस-लिये मायारूप कारणके नाश हुए बिना सूक्ष्मका नाश नहीं होता। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरका कारण है। स्थूल शरीर वस्त्रके समान है, सूक्ष्म शरीर उसका कारण होनेसे सूत्र कहलाता है। स्थूल शरीर धारण किये बिना सूक्ष्म शरीर भोग नहीं भोग सकता। स्थूल शरीरमें ही गुरु, शास्त्रके उपदेशद्वारा आत्माका साक्षात्कार हो सकता है। इस शरीरमें जो आत्माका साक्षात्कार कर लेता है वह शोक-मोहसे मुक्त हो जाता है। इस शरीर-रूप नगरके दो चक्षु, दो नासिका, दो कर्ण और एक मुख, ये सात द्वार ऊपर हैं। पायु और उपस्थ दो द्वार नीचे हैं, नाभि मध्यमें और ब्रह्मरन्ध्र मस्तकमें तीन हड्डियोंके बीचमें आया हुआ ग्यारहवां द्वार है। ब्रह्मरन्ध्र नामके ग्यारहवें द्वारमें सुषुम्ना नाड़ीरूप सरस्वतीका वास है। इस द्वारको कोई योगी ही जानता है। जो ब्रह्म-रन्ध्रमेंसे सुषुम्ना नाड़ीद्वारा स्थूल शरीरको छोड़कर जाता है, वह योगी पुरुष देवयान मार्गसे ब्रह्मलोकमें जाता है। कायारूपी नगरमें परमात्मारूप इन्द्र भगवान् वागादि इन्द्रियों और अग्नि आदि देवतारूप प्रजाके साथ निवास करता है। आनन्दस्वरूप आत्मा मायाके आवरणसे जीवभावको प्राप्त होकर शरीरपुरमें राज्य करता है और उसका अंग बनकर दुःख-सुख भोगता है, इस प्रकार शरीरपुरमें रहनेवाले जीवात्माको सुख-दुःखका अनुभव होता है, परम ज्योतिरूप शुद्ध आत्मा तो सर्वका साक्षीरूप हो-कर विराजता है क्योंकि वह असंग है। इसलिये इन्द्रियोंके सुख-दुःखादि धर्म उसको बाध नहीं कर सकते। उसकी शुद्ध स्वरूपता सुषुप्ति अवस्थामें तत्त्वज्ञ पुरुष समझ सकता है। चाहे जैसा दुखी मनुष्य जब निद्रामें होता है तब उसको दुःखका अनुभव नहीं होता, यह लोकसिद्ध है। इससे सुषुप्ति अवस्थामें इन्द्रियादिसे रहित आत्माकी शुद्ध स्वरूपता समझमें आती है। आत्मा सुख-दुःख और शोकसे रहित चैतन्यघन है। शरीरपुर-का जीवात्मारूप राजा होकर राज्य करते हुए

भी उसको बाहर अथवा भीतरके पदार्थ असर नहीं कर सकते इसलिये उसको निर्विकार, निःसङ्ग और आनन्दस्वरूप कहा है। शरीरमें रहकर भी शरीरके बन्धनमें परमात्मा नहीं बंधता। नित्यमुक्त होनेसे शरीरमें रहकर भी वह मुक्त है और स्वयं प्रकाश तथा साक्षी होनेसे सर्वदा नित्यमुक्त ही रहता है। किसी प्रकारका बन्धन उसे बांध नहीं सकता। स्वरूप अथवा गुणवाली वस्तुको ही रस्सी आदिसे बांधा जा सकता है, आकाशको रस्सीसे कोई नहीं बांध सकता, ऐसे ही आत्माको भी किसी प्रकारका बन्धन नहीं हो सकता। जो जिसकी उत्पत्तिका कारण होता है, वह उसमें बंध नहीं सकता, बंधनेवाला मन है। शास्त्रमें कहा भी है, मन ही मनुष्योंके बंध और मोक्षका कारण है। परमात्मा सर्वदा मनसे परे है। वह संसर्ग तथा बंधसे नित्यमुक्त है। ऐसे आत्माको समवायादिक सम्बन्ध न होनेसे बन्धन हो ही नहीं सकता। शरीरपुरमें अज्ञानावस्थामें वास करते हुए भी जो आत्मा मुक्त है, वह आत्मा ज्ञानयोगसे अपना साक्षात्कार करके मुक्त हो जाय इसमें संशय ही क्या है? वह तो नित्य मुक्त है ही!

शरीरपुरमें रहनेवाले अविद्याके आवरणवाले और जीवात्मभावको प्राप्त हुए आत्माको जब ज्ञानसे अपना साक्षात्कार होता है, तब वह अविद्यारूपी मायाके आवरणको काट देता है। अविद्या-अज्ञानरूप तिमिरका नाश करनेवाला होनेसे आत्मा हंस यानी सूर्य कहलाता है, स्वर्गमें जानेवाला होनेसे शुचिषद्, वायुरूपसे सबमें वास करनेवाला होनेसे वसु, आकाशमें रहनेसे अन्तरिक्षसत्, अग्निरूप होनेसे होता और पृथिवीरूप वेदीमें रहनेवाला होनेसे आत्मा वेदिषत् कहलाता है। सोमरूप होनेसे अतिथि, सोमरस धारण करनेवाले कलशमें स्थित होनेसे दुरोणसत् कहलाता है। अथवा ब्राह्मण होनेसे आत्मा अतिथि, यज्ञशालामें रहनेसे दुरोणसत् कहलाता है। मनुष्योंमें रहनेसे आत्मानृषत्, देवोंमें रहनेसे वरसत्, सत्यमें अथवा यज्ञमें रहनेसे ऋतसत्, आकाशमें रहनेसे व्योमसत् कहलाता है। जलचररूपसे जलमें रहनेसे आत्मा अब्जा, भूमिमें उद्भिज्जरूपसे रहनेसे गोजा, शुभाशुभ कर्ममें देहादिरूपमें रहनेसे ऋतजा, पर्वतोंमें नदी आदि रूपसे रहनेसे आत्मा अद्रिजा कहलाता है। सर्वात्मक आत्मतत्त्व ऋतं—बाध रहित बृहत्—सर्वव्यापक ब्रह्म स्वरूप है।

हे नचिकेता! आनन्दस्वरूप आत्मदेव सब जीवोंके हृदय-देशमें रहकर प्राणरूप वायुको ऊपर और अपान वायुको नीचे ले जाता है। शरीरके जीवत्वमें सहायक वायु भी आत्माके वशमें रहता है। यह वायु आत्माकी प्रतीति करानेवाला चिह्न है। जब आत्मा शरीरमेंसे निकल जाता है तब शरीर लकड़ीके समान चेष्टा रहित हो जाता है इसलिये शरीर भी आत्माके अस्तित्वको दिखानेवाला एक चिह्न है। कोई ऐसा कहता है कि शरीरमें जो प्राण और अपान वायुका सञ्चालन है, वही चैतन्यका द्योतक-बतानेवाला है, उसीको आत्मा क्यों न माना जाय? प्राण और अपान वायु भी अपने अधिष्ठान बिना अपना अपना कार्य नहीं कर सकते, इसलिये उनको शरीरके जीवनके लिये अधिष्ठानरूप चैतन्य आत्माकी सम्पूर्ण अपेक्षा है। चैतन्य आत्मा प्राणादिसे परे और उनका भी अधिष्ठाता है। श्रुतिमें कहा है-कोई भी देहधारी जीव प्राण अथवा अपानसे नहीं जीता किन्तु जिस अधिष्ठानरूप चैतन्यमें प्राण और अपान दोनों वायु स्थित हैं, उसी चैतन्यसे सब प्राणी जीते हैं।

हे नचिकेता! अब मैं तुझे गोप्य सनातन ब्रह्मका स्वरूप फिर समझाता हूं। तूने जो पूछा था कि मरनेके बाद जीव रहता है या नहीं, तेरे उसी प्रश्नका उत्तर देता हूं, इससे सिद्ध होगा कि जीवका मरनेके बाद क्या होता है।

हे नचिकेता! मरण प्राप्त होनेपर भी

आत्माका अत्यन्त अभाव नहीं होता किन्तु मरनेके बाद कितने जीव तो मनुष्यादि जंगम शरीरोंके बीज भावको प्राप्त होते हैं और कितने जीव स्थावर वृक्षादिके बीज भावको प्राप्त होते हैं। ऐसा होनेमें दो मुख्य कारण हैं–एक तो शरीर, मन और वाणीसे किये हुए पुण्य पापरूप कर्म और दूसरे पूर्व पूर्व जन्मकी ज्ञान कर्मजन्य संस्कार रूप वासना। जब पाप कर्मसे पुण्य कर्मकी अधिकता होती है तब जीव मनुष्य जैसे उत्तम शरीरको प्राप्त होता है और जब पापकर्मकी अधिकता होती है तब वह वृक्षादि स्थावर शरीर-को प्राप्त होता है। पुण्य कर्मके न्यूनाधिक प्रमाण-से जीव ब्राह्मण आदिसे लेकर कीट पतंगादि जंगम शरीरोंको प्राप्त होता है। ऐसे ही पापके सञ्चयानुसार वटादि वृक्ष और तृणादि वनस्पति रूप स्थावर शरीरोंको जीव प्राप्त होता है। सर्वस्थूल प्रपञ्चसे प्रथम उत्पन्न होनेवाले हिरण्यगर्भ भगवान् हैं। वे भी बहुतसे पुण्य और लेशमात्र पापके कारण प्रथम शरीर धारण करते हैं। उनको भी क्षुधा और भयकी प्राप्ति होती है, उसका कारण उनके कर्मोंका फल है, उनकी देह भी पुण्य पाप रूप दोनों प्रकारके कर्मोंसे उत्पन्न होती है, ऐसा श्रुति भगवती कहती है। इस प्रकार सब जगत् अपने अपने कर्म और वासनाओंके अनुसार उत्पन्न होता है। इस जगत्की उत्पत्तिमें चैतन्यका अवश्य अङ्गीकार करना होगा और आत्माकी सत्ता भी माननी होगी।

हे नचिकेता! सब जीवोंका आत्मारूप जो स्वयं प्रकाश और चेतन पुरुष है, वह स्वप्नावस्था-में पुत्र, गृह और क्षेत्रादि अनेक काल्पनिक पदार्थ उत्पन्न करता है और फिर भी आप सबसे अलग रहता है। स्वप्नावस्थामें श्रोत्रादि इन्द्रियां लय भावको प्राप्त होती हैं, ऐसा होनेपर भी चेतन पुरुष सर्वदा जागता रहता है यानी स्वप्नमें देखे हुए सब पदार्थोंका उसको ज्ञान रहता है। वह मनकी सब क्रियाओंका साक्षी है!

आत्मा चेतनरूप होनेसे स्वरूपसे शुद्ध है, उसको प्रपञ्चका अटकाव नहीं है। चौदह लोक और स्थावर, जंगम, शरीर तथा पञ्च महाभूत ये सब आत्माके आश्रयमें स्थित हैं। यदि आत्माका प्रकाश न हो तो वे कुछ भी नहीं हैं। सबका प्रकाशक, यह वही आत्मदेव है, जिसको तूने पूछा था।

हे नचिकेता! कामना, वासना और कर्म-फलका भोगरूप यह संसार सागर है। इसको तर जानेके लिये आत्मचिन्तन नौकारूप है और आत्मज्ञान मोक्षरूप है, आत्माके सिवा और कुछ नहीं है। जैसे अग्नि काष्ठस्वरूप नहीं है, काष्ठसे भिन्न है, वह काष्ठमें दिखायी नहीं देता किन्तु जब काठको रगड़ा जाता है तब वह प्रत्यक्ष दिखायी देता है और जुदे जुदे काष्ठोंमें जुदे जुदे रूपसे प्रतीत होता है किन्तु वस्तुतः तो अग्नि सर्वत्र अग्नि स्वरूप ही है। ऐसे ही स्थावर और जंगम समस्त जगत्में भरा हुआ आत्मा जुदी जुदी उपाधियोंके कारण जुदे जुदे नामवाला प्रतीत होता है किन्तु विवेक दृष्टिसे देखनेवालेको तो वह सर्वत्र एकका एक ज्योंका त्यों प्रतीत होता है।

हे नचिकेता! जैसे एक ही वायु समष्टिरूप चौदह लोकोंमें तथा व्यष्टिरूप शरीरोंमें प्राणरूपसे प्राप्त होकर शरीरोंके समान ही प्रतीत होने लगता है, ऐसे ही चेतनस्वरूप आत्मा प्रति शरीरमें भिन्न भिन्न प्रतीत होता है। वस्तुतः उसमें कुछ भेद नहीं है, शरीरोंके कारण उसमें भेद प्रतीत होता है, नहीं तो शरीरोंके भीतर और बाहर वह आत्मदेव एकसा ही है।

जैसे सूर्य भगवान् सब जीवोंके नेत्रमें तेज-रूपसे रहनेपर भी अन्धे और कानोंके नेत्र-दोषसे दूषित नहीं होते, ऐसे ही आत्मा भी सब जीवोंमें रहता हुआ किसी भी प्राणीके मरणादि दुःखसे दुःख भावको प्राप्त नहीं होता। जलसे भरे हुए हजारों घड़ोंमें प्रतिबिम्ब रूपसे प्रत्यक्ष

होकर रहनेवाले सूर्य भगवान् किसी घड़ेके नष्ट होजाने से नष्ट नहीं होते, ऐसे ही सब जीवोंके हृदय कमलमें रहनेवाला परमात्मा भी जीवोंके पाप पुण्यरूप देहके नष्ट होजानेसे अखण्ड ज्योति रूप विद्यमान रहता है। जीवोंकी और जगत्‌की परम्परा चालू रहनेपर भी आत्मदेव हमेशा एक रूप ही रहता है। नानाप्रकारके कांचमेंसे सूर्य भगवान्‌को देखनेवाला मनुष्य उनमें अनेक प्रकारके रंग देखता है परन्तु वे तो शुद्ध एक स्वरूप ही हैं। ऐसे ही भिन्न भिन्न दृष्टियोंसे भिन्न भिन्न प्रतीत होता हुआ भी आत्मदेव निरन्तर एक स्वरूप ही है, शास्त्रदृष्टिसे देखने-वालेको ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। जैसे सूर्यमें अनेक रंग दिखायी देना मिथ्या है ऐसे ही आत्मामें अनेक भेद दिखायी देना, यह भी अज्ञान-जन्य मिथ्या ज्ञान और परम्पराका अध्यास-मात्र है।

हे नचिकेता! आत्मदेव एक स्वतन्त्र और मायासे रहित है, तो भी उसको अपनी स्वतन्त्र इच्छासे माया उत्पन्न करनेकी भावना होती है और भावनाके विवर्तसे यह स्थावर जङ्गमरूप जगत् उत्पन्न होता है। आत्मदेव अपने ही अनेक रूप बना लेता है और यह केवल उसकी इच्छा ही है। इसीलिये उपनिषदोंमें कहा है: ब्रह्मको इच्छा हुई और उसने जगत् उत्पन्न किया। आत्मदेव जगत्‌में सर्वत्र ओतप्रोत है, उसीसे सब उत्पन्न हुआ है, वही सबमें भरा हुआ है। जो ब्रह्मचर्यादि साधनसम्पन्न अधिकारी है, वही गुरुशास्त्रके उपदेशसे अपने और जगत्‌में एक रस रूपसे रहे हुए परमात्माका साक्षात्कार करता है, वही मोक्षरूप नित्य सुखको प्राप्त करता है। जो पुरुष गुरु शास्त्रके उपदेशसे आत्मज्ञान नहीं प्राप्त करते वे बारम्बार जन्मते और मरते रहते हैं। आकाश, कालादि जिनको जगत्‌में नित्य मानते हैं, उनमें भी आत्मा अपनी सत्तासे नित्यता सिद्ध करता है। इसलिये आत्मा नित्यका भी नित्य कहा जाता है। क्योंकि नित्य पदार्थोंकी भी नित्यता उसीसे सिद्ध होती है। चैतन्यरूपसे प्रसिद्ध नेत्रादि इन्द्रियों और और अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें भी आत्मा अपनी चेतनतासे चेतनपना सिद्ध करता है इसलिए आत्माको चेतनका भी चेतन कहा है। यह परमात्मा ही सब जीवोंको मनवाञ्छित फलकी प्राप्ति कराता है। इस आत्माके ज्ञानसे मुमुक्षु जन मोक्ष प्राप्त करते हैं। आत्मा मन वाणीका अविषय है। जो परमात्माका ध्यान करते हैं, उनको वह हृदयकमलमें ज्योति-रूपसे दर्शन देता है। वे ही शान्तिको प्राप्त होते हैं, दूसरे तो संसार चक्रमें भटकते ही रहते हैं।

हे नचिकेता! आत्माका किसी प्रकारसे वर्णन नहीं हो सकता, इसलिए विद्वानोंने आत्माको वाणीका अविषय कहा है। जब मिष्टान्न भोजनसे उत्पन्न हुए विषयजन्य सुखको भी वाणी किसी प्रकार वर्णन नहीं कर सकती तब अखण्ड आनन्द स्वरूप परमात्माके साक्षात्कारसे उत्पन्न हुए सुखको कोई किस प्रकार वर्णन कर सकता है। मनुष्य, देव, गन्धर्व, आजानजदेव, कर्मजदेव, इन्द्र, बृहस्पति, विराट् और हिरण्यगर्भ इन सबके आनन्दसे भी ब्रह्मानन्दका सुख अधिक है, उसका अनुमान भी नहीं हो सकता, तो फिर वाणी उसका वर्णन कैसे करे? जो अनुभव करता है वही जानता है। आत्मवेत्ता गुरु और श्रुति भगवती भी आत्मानन्दके सुखको वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हैं! नेति नेति कहकर ही वे ब्रह्मानन्दके सुखका सर्वोत्तमपना दिखलाते हैं। जब श्रुति भगवती 'प्रियतम' इतना शब्द कहकर ही चुप हो जाती है, उस सुखका विशेष वर्णन नहीं कर सकती तब हे नचिकेता! ब्रह्मानन्दके अखण्ड और अवर्णनीय सुखको मैं तेरे सम्मुख किन शब्दोंसे वर्णन करनेमें समर्थ होऊं? सारांश यह है कि ब्रह्मानन्दके सुखको वर्णन करना वाणीका विषय ही नहीं है! वह तो महान् अगाध आनन्दका समुद्र है, चराचर जगत् उसीमेंसे आनन्द लूटता है। हे नचिकेता! ब्रह्मानन्दके अपूर्व आनन्दके

सुखको तू भी इस आत्मोपदेशसे अनुभव कर ! ऐसा करनेसे तुझे स्वयं अपरोक्ष अनुभव होगा कि वह सुख कैसा है ? वह गूंगेका गुड़ है ! जो खाता है, वही स्वाद जानता है ! आत्मानन्द भी स्वयं जाननेका विषय है, दूसरेके बतानेका नहीं है। आंख, कान, नाक, मुख बन्द करके लगा उसी समुद्र में डुबकी ! अभी अनुभव होगा ! तेरा मुझमें ही है, कहीं दूर नहीं है ! पास ही है ! पाससे भी पास है !!

हे नचिकेता ! आत्म-सुख यथार्थ प्रतीत होता है. अथवा नहीं होता है, यह जाननेके लिये मैं तुझे एक युक्ति बताता हूं, सुन, तत्त्वज्ञानी हमेशा यह विचार किया करता है कि कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये छः कारक और सम्बन्ध तथा गमन आदि क्रियाएं जिसमें हो सकती हैं वह पदार्थ भेदवाला होता है और जो जो पदार्थ भेदवाले होते हैं, वह वह वस्तु परिच्छेदवाली भी होती है और जो पदार्थ परिच्छेदवाले होते हैं, वह कभी नित्य सुखरूप नहीं होते। श्रुति भगवती कहती है 'यो वै भूमा तत्सुखम्' यानी जो वस्तु सर्वत्र व्यापक है वही नित्य सुख देनेवाली है। जो भेदवाला सुख है, वह सर्वदा अनित्य है। अनित्य सुख जन्म मरणका कारण होता है। विषयजन्य अनित्य सुख दुःखरूप है। भ्रमके कारण मनुष्य उसमें सुखरूपता देखता है। जब आत्मोपदेशसे अज्ञानरूप तिमिरका आवरण ज्ञानरूप ज्योतिसे दूर हो जाता है तब विषयजन्य सुखमें सुखरूपता नहीं भासती। ऊपर बताये हुए कारक आदिकी जिसको अपेक्षा न हो, ऐसा कोई नित्य पदार्थ इस अनित्य जगत्में है ही नहीं, यानी उसमें लवमात्र भी सुख होना सम्भव नहीं है। नित्य सुख नित्य वस्तुमें ही होता है और वह नित्य वस्तु परमात्मा ही है इसलिये परमात्मा जैसा दूसरा कोई सुख नहीं है, यह सिद्ध होता है। चैतन्य बिना जीवोंको सुखकी प्रतीति नहीं हो सकती, परमात्मा ही चैतन्यस्वरूप है इसलिये परमात्मा अपनी चेतनताके बलसे सुखरूपताको प्रत्यक्ष दर्शाता है। यदि आत्मामें निरतिशय सुख न हो तो इस जगत्के जीवोंको अपने में जो अत्यन्त निरतिशय प्रीति होती है, वह न होनी चाहिये। परन्तु सबके अनुभवसे सिद्ध है कि जीवमात्रको अपने अपने ऊपर निरतिशय प्रीति होती है इसलिये इसमें ही अपनेमें ही यानी अपने हृदय कमलमें स्थित परम ज्योतिरूप आत्मामें ही निरतिशय सुख है। सुख अपने भीतर है परन्तु भ्रमसे बाहर माना जाता है फिर भी वास्तविक सुख तो अपने आपमें ही प्रतीत होता है क्योंकि अत्यन्त प्रिय सुखरूप भोजन आदिमें निमग्न हुआ जीव भी जब अपने ऊपर कष्ट आता देखता है तो प्रिय भोजनको भी त्याग करके परम प्रिय आत्माकी यानी अपनी रक्षा करता है। यानी आपत्तिमें विषयजन्य अनित्य सुखको त्यागकर आत्मरूप नित्य सुखके शरणमें ही जाता है।

हे नचिकेता ! जैसे सूर्य भगवान्के उदय होते ही रात्रि निवृत्त हो जाती है ऐसे ही ब्रह्मानन्दके उदय होते ही अज्ञान-तिमिरका नाश हो जाता है और ब्रह्माकारवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। अन्तःकरणकी वृत्तिरूप उदयाचलके ऊपर सूर्य समान ब्रह्मानन्दके उदय होते ही संसाररूप-रात्रिका नाश हो जाता है। सूर्य, चन्द्र, तारागण, विद्युत् और अग्नि आदि सब ब्रह्मके तेजसे ही तेजवाले होते हैं। लोहेका गोला जैसे स्वयं तेज रहित होनेपर भी अग्निके संसर्गसे तेजस्वी बन जाता है ऐसे ही सब पदार्थ ब्रह्मके प्रकाशसे प्रकाशवाले हो जाते हैं। यदि कोई कहे कि अप्रकाश स्वभाववाली सब वस्तुएं सूर्य अग्नि आदिके तेजसे प्रकाशित होती हैं, उन्हें ब्रह्मके प्रकाशकी जरूरत नहीं है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि सूर्यका प्रकाश होनेपर भी अन्धेको घड़ा नहीं दीखता, ऐसे ही नेत्र और सूर्यका प्रकाश होनेपर भी जब तक चैतन्य आत्माका प्रकाश मनमें

नहीं होता तबतक भ्रमित और मूर्च्छित मनुष्योंको घड़ा नहीं दीखता। इससे सिद्ध है कि सूर्य आदिको प्रकाश करनेवाला परमात्मा है। 'इति पांचवीं वल्ली'

अश्वत्थरूप शरीर

हे नचिकेता! श्व कलको कहते हैं। जो आज हो और कल न रहे, उसको अश्वत्थ कहते हैं। ब्रह्मवेत्ता पुरुष शरीरको इसी कारणसे अश्वत्थ कहते हैं। इस जगत्के जीवोंका शरीर ऐसा ही है इसीसे बुद्धिमान् पुरुष एक क्षण भी उसकी स्थिति का विश्वास नहीं कर सकते। शरीररूपी अश्वत्थ वृक्षका मूल कारण ब्रह्म है और उसके अवयव इन्द्रियादि शाखा और पत्रोंके समान हैं, अश्वत्थरूप शरीरको नित्य और अनित्य दोनों प्रकारसे कह सकते हैं। स्थितिकी अस्थिरता-के कारण वह अनित्य है और बीजांकुरन्याय-से शरीर नित्य है जैसे बीजमेंसे अंकुर और अंकुरमेंसे बीज होता ही रहता है ऐसे ही शरीर भी परम्परा करके नित्य है। फिर बुद्धिमानोंने उसमें नित्यता नहीं मानी है और माननी भी न चाहिये क्योंकि शरीर दुःख और भोगका स्थान होनेसे अविश्वसनीय है। अश्वत्थरूपी शरीरका कारण ब्रह्म है, ब्रह्मकी प्राप्तिसे ही शरीर रूप अश्वत्थकी परम्परामेंसे जीव मुक्त होता है। इस शरीरका कारण परमात्मा शुक्र शुद्ध है, वही ब्रह्म-व्यापक और अमृत-अविनाशीरूप है।

एक व्यक्तिको शरीर और समष्टिको संसार कहते हैं, जो परमात्मा शरीरका कारण है, वही संसारका कारण है। इस संसाररूप वृक्षके कारणरूप ब्रह्ममें पृथ्वी आदि चौदह लोक चराचररूप स्थित हैं, कोई भी पदार्थ ब्रह्मको छोड़कर नहीं है यानी सबकी स्थिति ब्रह्मसे ही है क्योंकि कल्पित पदार्थकी सत्ता अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होती। हे नचिकेता! यह वही आत्म-देव है, जिस धर्माधर्मसे रहित ब्रह्मके विषयमें तूने मुझसे पूछा था।

हे नचिकेता! जो परमात्मा इस जगत्को उत्पन्न करके अनेक प्रकारके व्यापारोंमें आप बर्तता है, वही परमात्मा मृत्युरूप होकर इस जगत्को अपनेमें लय कर लेता है। इन्द्रके वज्रके समान परमात्मादेव सब लोकोंको भय उत्पन्न करनेवाला है परन्तु उसका साक्षात्कार करनेसे जो जीवन्मुक्त हो गये हैं, वे अमृत भावको प्राप्त हो जानेके कारण उससे भय नहीं करते, क्योंकि जैसे अग्नि लकड़ियोंको ही भस्म कर सकता है, अपने आपको वह जला नहीं सकता, ऐसे ही परमात्मा जिन देहोंमें रहा हुआ है, उनको ही नाश कर सकता है, आप उनके साथ नष्ट नहीं होता, इसलिये जो तत्त्वस्वरूप हो गया है, उसको किसी प्रकारका भय नहीं है।

सम्पूर्ण संसार परमात्माके भयसे अपना अपना कर्तव्य नियमपूर्वक करता रहता है। सूर्य और अग्नि उसके भयसे तपते हैं, चन्द्र उसके भयसे प्रकाशता है, उसके भयसे वायु वहन करता रहता है और उसीके भयसे मेघ बरसता है। मैं मृत्यु जो शासनका कार्य करता हूं, वह भी परमात्मादेवके भयसे ही बराबर करता रहता हूं। जब अग्नि आदि देवता भी परमात्मा-के भयसे इस प्रकार अपना अपना कर्तव्य करते हैं तब मनुष्य और दूसरे जीव जन्तु भयके कारण अपना अपना कार्य करें इसमें आश्चर्य ही क्या है?

हे नचिकेता! भयकी निवृत्ति परमात्माके ज्ञानसे होती है यानी परमात्माका ज्ञान होनेसे जन्म मरणकी निवृत्ति हो जाती है, जब जन्म मरण-की निवृत्ति हो जाती है तभी अधिकारी पुरुष आत्माको सर्वस्व मानता है फिर उसको किसी प्रकारका भय नहीं रहता। जिसका जन्म-मरण होता है, वह भयरहित नहीं हो सकता, उसको हमेशा भय लगा ही रहता है। इसीलिये शास्त्रमें कहा है:—

'मृत्योर्बिभेषि किं मूढ भीतं मुञ्चति किं यमः।
अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि॥

अर्थात् हे मूढ़ ! मृत्युसे क्यों डरता है । क्या डरनेसे यम छोड़ देगा । इस जगत्‌में जो जन्मता नहीं है, उसको मृत्यु नहीं ले जाता इसलिये फिर न जन्मनेका यत्न कर ! ऐसा करनेसे फिर तुझे मृत्युका भय नहीं रहेगा, मृत्यु और दुःखोंसे भयवाला यह शरीर फिर उत्पन्न न हो, ऐसा मार्ग आत्मज्ञानके सिवा दूसरा नहीं है। इसलिये मनुष्यको इस जन्ममें ही आत्मज्ञानप्राप्तिका यत्न करना चाहिये और आत्मज्ञान प्राप्त करके भयसे मुक्त होना चाहिये। यह संसार असत्य और प्रपञ्चरूप है, इसमें कोई भी वस्तु भयरहित नहीं है। आत्मज्ञानमात्र ही एक निर्भय वस्तु है इसलिये उसका सम्पादन करनेके लिये प्रयत्नपूर्वक गुरुसेवा, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और योग इत्यादि करना चाहिये।

संसारके प्रपञ्चमें पड़ी हुई मलिन बुद्धिमें परमात्माका प्रतिबिम्ब ज्योंका त्यों नहीं पड़ता इसलिये मनुष्यको विवेक और वैराग्य आदि साधन प्राप्त करके इन्द्रियोंको वशमें करके मनको बुद्धिमें स्थिर करना चाहिये क्योंकि शुद्ध दर्पणके समान शुद्ध अन्तःकरणमें ही आत्माका यथार्थ प्रतिबिम्ब पड़ता है। चञ्चल मनमें भी आत्माका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता,जैसे स्वप्नमें बहुतसे विषय होनेके कारण मन स्थिर नहीं होता ऐसे ही पितृलोकमें भी विषय अनेक हैं इसलिये पितृलोकवासियोंको आत्मज्ञान होना कठिन है।जैसे तरङ्गोंसे उछलते हुए महासागरमें नाव स्थिर नहीं रहती और सूर्य चन्द्रादिका प्रतिबिम्ब भी यथार्थ नहीं पड़ता, ऐसे ही क्षुभित मनवाली बुद्धिमें आत्मदेवका प्रतिबिम्ब यथार्थ नहीं पड़ता, इसलिये मनुष्यको प्रथम मन और बुद्धि स्थिर करना चाहिये। चाहे जितना ज्ञान हो जाय जबतक मन विषयोंमें आसक्त रहेगा तबतक ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होगा, मनुष्योंसे ऊंचे और देवताओंसे नीचे गन्धर्व लोक है, वे अपनी स्वरूपसम्पन्न स्त्रियोंमें अत्यन्त आसक्त होते हैं इसलिये उनको ज्ञान होनेपर भी आत्म-साक्षात्कार नहीं होता। उपासनासे मनुष्यको ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है वहां भी छाया और धूपके समान ज्ञान और विषय दोनोंमें मन चञ्चल रहता है इसलिये आत्मसाक्षात्कार होना कठिन है, अतएव अधिकारी पुरुषको उत्तम लोककी प्राप्ति होनेपर भी ब्रह्मजिज्ञासाको शिथिल न कर, उसमें प्रयत्नपूर्वक लगे ही रहना चाहिये।

हे नचिकेता ! आत्मसाक्षात्कार करनेके दो ही मुख्य साधन हैं एक विचार और दूसरा योग। विचारका स्वरूप कहता हूं, सुनः-आकाशादि पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न हुई भिन्न भिन्न व्यापारवाली श्रोत्रादि इन्द्रियां हैं, उनको चैतन्यसे जुदी समझनेका यत्न करना चाहिये। इन्द्रियां और बुद्धि पहिले देखे हुए प्रपञ्चको आत्मामें कल्पना करती हैं किन्तु विद्वान् पुरुषोंको विचाररूपी सांख्यसे आत्ममीमांसा करके इस कल्पनाको त्यागना चाहिये। आत्मदेव, इन्द्रियां और उनके व्यापारमात्रका साक्षी है, उसको जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता।

विशेष रूपवाली श्रोत्रादि इन्द्रियोंसे सामान्य रूपवाला मन परे है, विकल्परूप मनसे निर्विकल्प बुद्धि परे है, व्यष्टिरूप बुद्धिसे समष्टिरूप बुद्धि परे है, समष्टिरूप बुद्धिसे अव्याकृत परे है और अव्याकृतसे सबका अन्तर्यामी परमात्मा परे है। उसको जानकर ही योगी अमृतमय होकर मोक्षको प्राप्त होते हैं। इसलिये विचाररूप सांख्यसे प्रत्येक देहधारी जीवको मोक्ष प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये।

हे नचिकेता ! मनुष्यके मनमें रही हुई कामना और वासनाएँ जब समूल नष्ट हो जाती हैं तभी वह अमृत भावको प्राप्त होता है, ब्रह्मसुखका अनुभव करता है, तथा तत्त्वदर्शनका फल प्राप्त करता है। इसलोक अथवा स्वर्गलोकके सुखप्राप्तिकी जो भावना है उसका नाम राग है। जबतक राग रहता है तबतक

चित्त स्थिर नहीं होता, यह स्पष्ट है। जैसे रूप और यौवनसे सम्पन्न स्त्री अपनी स्वरूपतासे दूसरी स्त्रीकी ओरके रागको नाश करती है और जैसे ताजा और स्वादिष्ट घी अन्य चिकनाइयोंके रागका नाश करता है ऐसे ही तत्त्वभावसे जाना हुआ आनन्दस्वरूप और परम ज्योतिरूप आत्मदेव अपने सौन्दर्यसे अन्य जीवोंके सौन्दर्यके रागको नष्ट कर देता है यानी तत्त्वदर्शी पुरुषको किसीमें राग उत्पन्न ही नहीं होता। विषयजन्य सुखमें जो राग है, वही काम है, यह काम ही मृत्यु है, ऐसा जानना चाहिये। कामकी निवृत्ति होनेसे मनुष्य मृत्युभावसे रहित हो जाता है और जीवित अवस्थामें ही वह अमर भावको प्राप्त होता है। शास्त्रके तात्पर्यको जाननेवाले स्थूल शरीरके नाशको मरण नहीं कहते किन्तु सर्व दुःखोंकी प्राप्ति करानेवाला जो रागरूप काम है, उसको ही मरण कहते हैं। ब्रह्मभावको प्राप्त हुए जीवेश्वर भेदसे रहित जो ज्ञानी पुरुष हैं वे ब्रह्म समान हैं, उनको किसी प्रकारका प्रपञ्च बाध नहीं कर सकता और न उनको सुख दुःखका लेप होता है। ब्रह्मके साथ अभेद होनेके कारण वे अमृत समान अमर भावको प्राप्त हुए जीते जी परमानन्द स्वरूप हैं, ऐसा तुझे समझना चाहिये। इस देह और जीवित अवस्थामें आत्माका साक्षात्कार होना यही ब्रह्मकी प्राप्ति और मनुष्य जन्मकी महान् सार्थकता कहलाती है। आत्मा और ब्रह्ममें भेद नहीं है, आत्मस्वरूपका जानना ही, ब्रह्मका जानना है, ऐसा निश्चय कर! 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस श्रुतिमें ब्रह्मकी जो अद्वितीय रूपता कथन की है, वह आत्मामें ही घटती है। भाव और अभावसे रहित स्वयं प्रकाश और सदा आनन्दस्वरूप जो परमात्मा है, वह ब्रह्म ही है, और उसके साक्षात्कारके आनन्दके समान दूसरा कोई भी आनन्द नहीं है। अधिकारी और योगी पुरुष इस देहमें ही अपने हृदयकमलमें आत्माको देखकर परमानन्दका अनुभव करते हुए अमृतरूप हो जाते हैं। 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा ज्ञान होनेसे ही उनके सब संशय और विपर्यय नष्ट हो जाते हैं।

हे नचिकेता! नास्तिक मनुष्य ब्रह्मके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी कुतर्कें करते हैं, मुमुक्षु पुरुषोंको उनपर ध्यान न देना चाहिये। नास्तिक कहते हैं-इस जगत्में ब्रह्म कहीं है ही नहीं, यदि होता तो किसी न किसीको प्रतीत हुए बिना न रहता, यदि ब्रह्म हो तो भी वह सब धर्मोंसे रहित निर्गुण ब्रह्म है, ऐसा न कहला सकता किन्तु 'मैं कर्त्ता भोक्ता हूं' इस अभिमानसे व्यवहार करता हुआ पुरुष ही ब्रह्मस्वरूप कहा जा सकता है। नास्तिकोंकी ऐसी कुतर्कें सुनकर अधिकारी पुरुषको भी संशय और विपर्यय उत्पन्न हो आता है, परन्तु सद्गुरुके समागम और शास्त्रदृष्टिसे विचार करनेसे उनके मनसे उपर्युक्त संशय और विपर्यय नष्ट होनेपर श्रद्धापूर्वक मनन करनेसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है। जिसमें तत्त्वज्ञानकी योग्यता न हो ऐसे अनधिकारीके लिये शास्त्रमें दो गतियां बतलायी हैं, एक उपासना और दूसरा कर्म। उपासनासे चित्तकी शुद्धि होकर ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, कर्म करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है, इन दोनों गतियोंकी प्राप्ति किसप्रकार होती है सो मैं तुझे बताता हूं-सुन, हृदयकमलमेंसे १०१ नाड़ियां निकलकर ऊपर जाती हैं। उनमें सुषुम्ना नामक एक मुख्य नाड़ी है, वह मूर्द्धद्वारमें होकर सूर्यमंडल द्वारा जीवको ब्रह्मलोकमें ले जानेवाली है। जो जीव सुषुम्नाद्वारा शरीरसे निकलकर नहीं जाता किन्तु अन्य नाड़ियोंद्वारा जाता है वह अनेक प्रकारकी योनियोंको प्राप्त होता है इसलिये अवश्य करके इस जन्ममें आत्म-साक्षात्कारके लिये मनुष्यमात्रको उद्यमकर इस देहमें ही जीवन्मुक्तिको सम्पादन करना चाहिये।

देवीः-हे डोरूशंकर! इस प्रकार कठवल्ली उपनिषदमें नचिकेता और यमराजके संवादरूपसे जो ब्रह्मज्ञान कथन करनेमें आया है, उसको

श्रवण करनेसे मनुष्य जन्ममरणके भयसे मुक्त होजाते हैं। जिस प्रकार यमराजसे उपदेश की हुई ब्रह्मविद्याको जानकर नचिकेता सन्तोषको प्राप्त होकर अमृतभावको प्राप्त हुआ उसी प्रकार तू भी इस अपूर्व ब्रह्मविद्याको जानकर अमृतभावको प्राप्त हो! हे वत्स! तूने जिस कठवल्ली उपनिषद्‌की ब्रह्मविद्याको श्रवण किया है, उसका अब तू एकान्तमें मनन और निदिध्यासन कर, तुझको भी ब्रह्म-साक्षात्कार हो जायगा। जैसे नचिकेताको मनुष्यदेहमें ही ब्रह्मविद्याके प्रतापसे जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति प्राप्त हुई थी उसी प्रकार इस समय भी जो अधिकारी पुरुष गुरुके मुखसे आत्मज्ञान प्राप्त करके ब्रह्मका साक्षात्कार करता है, उसको जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति अवश्य प्राप्त होती है। यमराज और नचिकेताका यह आख्यान पूर्वमें कठ नामके ऋषियोंने त्रैवर्णिक अधिकारी शिष्योंको अपने पवित्र आश्रममें सुनाया था। जीव ब्रह्मके अभेदका बोध करानेवाली ब्रह्मविद्या अत्यन्त दुर्लभ है और उसके कहने और सुननेवालेको देवता अनेक विघ्न करते हैं। हे डोरुशंकर! ब्रह्मविद्या सम्पादन करते हुए अनेक विघ्नोंसे बचनेके लिये सावधान रहना चाहिये और आग्रहपूर्वक उसकी प्राप्ति करनी चाहिये। जो वास्तविक अधिकारी होता है, उसको देवता विघ्न नहीं कर सकते इसलिये अधिकारी पुरुषोंको विघ्नोंसे न डरकर ब्रह्मविद्या अवश्य सम्पादन करनी उचित है। शम, दम और विवेकादि साधन सम्पन्न होकर श्रद्धापूर्वक महात्मा गुरुको प्रसन्न करके और शास्त्रपर श्रद्धा रखकर मुमुक्षुओंको परम कल्याणकारिणी ब्रह्मविद्या सम्पादन करनी चाहिये। ब्रह्मवेत्ता गुरु और देवताओंकी सेवासे ही ब्रह्मविद्या प्राप्त हो सकती है, दूसरी रीतिसे नहीं। हे वत्स! स्वयं प्रकाश आत्मारूप जो मोक्षफल है, वह देवताओंके अनुग्रहके अधीन है इसलिये देवताओंको प्रसन्न रखनेके लिये मुमुक्षुओंको शान्ति पाठके मन्त्र भी अवश्य पढ़ने चाहिये। ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें आनेवाले विघ्नोंका निवारण करनेके लिये कठ और तित्तिर नामके ऋषियोंने अपने शिष्योंको उपदेश करनेसे पहिले शान्ति पाठ पढ़ाये हैं इसलिये ब्रह्मवेत्ता गुरुओं और शिष्योंको भी ब्रह्मविद्याका उपदेश करते हुए और श्रवण करते हुए शान्ति पाठ करना चाहिये, जिससे निर्विघ्न उपदेशकी समाप्ति होकर अन्तमें शिष्यको ब्रह्मका साक्षात्कार होजाय। ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति!

पाठक! प्रिय पाठक!! परम प्रिय पाठक!!! बोलते क्यों नहीं? क्या कथा सुनते सुनते नींद आ गयी? या समाधि लग गयी? अथवा यमराजका नाम सुनकर डरके मारे चिन्तामें पड़ गये? भाई! कथा सुनते हुए सो जाना, बड़ा भारी दोष है! श्रोत्रको वक्ताकी वाणीमें लगाकर एकाग्र चित्तसे कथा सुननी चाहिये। तब तो कथाका फल होगा नहीं तो वही मसल होगी:—

'गीता सुनते फूटे कान, हुआ न तो भी ब्रह्मज्ञान',

भररात सोनेको पड़ी है, खूब पैर फैलाकर खुर्राटे ले लेकर सोना! कथामें सोना अच्छा नहीं है! समाधि लगानेका भी यह समय नहीं है, तीन चार बजे उठकर ब्रह्ममुहूर्तमें सुखासनसे बैठकर गुरुदेव और शेष भगवान्‌का ध्यान करके समाधिमें प्रवृत्त हुआ करो, यह समाधिका समय नहीं है, कथा सुननेका समय है, समयका कार्य समयपर ही किया करो, नियमपूर्वक कार्य न करनेसे कार्यमें सफलता नहीं होती। जबतक नियमबद्ध नहीं होओगे तबतक स्वतन्त्र नहीं हो सकते। बंधनेके बाद ही छूटना होता है। भगवत्, भगवद्भक्त, सन्त महात्माओंके सामने समाधि लगानेका शास्त्रने निषेध किया है। इनके सामने तो नमस्कार, प्रणाम अथवा शंका समाधान होना चाहिये। एकान्तमें समाधिकी विधि है। यमराज अथवा यमराजके नामसे डरनेका भी काम नहीं है! यमराज पापियोंके लिये यमराज हैं, धर्मात्माओंके लिये धर्मराज हैं और मुमुक्षुओंके लिये समवर्ती हैं। समदर्शी तो बहुत सुननेमें आये

हैं और एकाध देखनेमें भी आये हैं। समवर्ती तो यह एक ही सुने हैं और देखे भी हैं, छोटे बड़े राव रंक, सबसे एकसा बर्ताव करते हैं। भक्तोंकी दृष्टिसे यह भी भगवत्‌के एक भक्त हैं। ज्ञानियोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो ब्रह्मवेत्ताओंमें शिरोमणि हैं और ब्रह्मकी दृष्टिसे तो खिलौनामात्र हैं। जैसे आप और हम ब्रह्मके खिलौने हैं ऐसे ही वे भी हैं। भाई! डर कुछ नहीं है, सब एक ही हैं। भेदमें भय है, अभेदमें अभय है, इसमें यमराजका वचन ही प्रमाण है। उपनिषद्‌में पढ़ ही चुके हो:-जो नाना देखता है, वह जन्मता मरता ही रहता है। आओ, खड़े हो जाओ और जिस ब्रह्मसे सब भय मानते हैं, धनुषधारी भगवान्‌का ध्यान करके, उसी ब्रह्मकी स्तुति नाराच छन्दमें पढ़ते चलो, सब भय दूर हो जायगा! निर्भय हो जाओगे!

अखण्डमेकमद्वयं नमामि ब्रह्म चिन्मयम्।
अनादिमादिमव्ययं शुचिं शिवं निरामयम्॥
अजं चिरं सनातनं ध्रुवं स्थिरं पुरातनम्।
परात्परं महात्मनं अनादि वृत्ति साक्षिणम्॥
अमोघशक्तिमच्युतं शुभाशुभादि वर्जितम्।
अजादिदेव वन्दितं ऋगादि वेद मण्डितम्॥
सदा सुखं सदात्मकं विभुं प्रभुं प्रियात्मकम्।
समस्त विश्व व्यापकं निरस्त धातु सप्तकम्॥
प्रपञ्च हीनमक्रियं असङ्गमेव निर्भयम्।
त्रिलोक एकमाश्रयं स्वयंभुवं निराश्रयम्॥
यमादि सर्व नायकं विशुद्ध बुद्धि दायकम्।
रजादि दोष भक्षकं शमादि कोश रक्षकम्॥

(तीसरी मणि समाप्त)

एक राम हैं

स्वप्न मध्यमें वही हैं जाग्रतके मध्यमें भी,
ओतप्रोत हैं सुषुप्ति मध्य तुर्य्यधाम हैं।
भूत भावी वर्त्तमान अधि ईशान शर्व,
गर्वसे सुदूर व्योमकेश आप्तकाम हैं।
गुहामें प्रविष्ट, तिष्ठ शिष्ट इष्ट बरद भी,
क्या क्या नहीं जानते हैं क्या क्या नहीं नाम हैं।
उमा परमेश्वर आनन्द दाता हंस वंश,
गणपति भक्त विघ्नहारी एक राम हैं।

—बुद्धिसागर मिश्र 'पंचानन'

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, शास्त्री, बी० ए०)

ईश्वर सर्वव्यापक[1] हैं। भक्तजन उनका पूजन सुविधाके अनुसार जहां चाहें कर सकते हैं। सर्वत्र पूजा तो सम्भव है ही नहीं, और एक स्थानके ईश्वरकी महिमा वैसी ही है जैसी कि दूसरे स्थानमें व्यापक ईश्वरकी। इससे यदि एक स्थानपर बैठकर उनका पूजन किया जाय तभी सब तरहका सुभीता रहता है—इसी सुभीतेके लिये मन्दिरोंकी कल्पना हुई। मन्दिरमें भी ईश्वर एक कोनेसे दूसरे कोनेतक ऊपरसे नीचेतक सर्वत्र ओतप्रोत हैं। वहां भी एक स्थानविशेष जगमोहन-पूजाके लिये नियत किया जाता है और वहाँ भी अर्चनाके लिये एक चिह्नविशेषकी कल्पना की जाती है जिसमें मुमुक्षुगण यथालब्ध उपचारोंसे उन जगदीश्वरके प्रति आदर भक्ति प्रदर्शित किया करते हैं। इस चिह्नविशेषका नाम है अर्चा[2], क्योंकि इसमें (व्याप्त) विश्वेशकी अर्चा अर्थात् पूजा की जाती है।

ऐसी अर्चाओंकी दूसरी उपयोगिता ध्यान करनेमें है। चञ्चल चित्तको एकाग्र करनेके निमित्त साधक जन किसी एक स्थानको अनिमिष देखा करते हैं। इस क्रियाका 'त्राटक' नाम प्रसिद्ध है। योगदर्शनमें भी लिखा है कि चित्तको किसी स्थानविशेषमें नियन्त्रित करनेसे धारणा[3] होती है और वही बढ़ते बढ़ते ध्यान हो जाता है जिसका सर्वोच्चस्वरूप 'समाधि' नामसे अभिहित है। इसी समाधिके द्वारा योगिवृन्द जगत्को विस्मय-सागरमें डालनेवाली आकाश-विचरण अन्तर्द्धान आदि विलक्षण सिद्धियां पाया करते हैं।

मनको प्रबल बनानेके लिये अर्वाचीन पुरुषोंने पयोधवल पत्रके केन्द्रमें वर्तुलाकार कृष्णबिन्दु-पर त्राटक करनेकी विधि निकाली है, परन्तु प्राचीन ऋषियोंद्वारा प्रतिपादित शालिग्रामजीकी उपयोगिता इस कृष्णबिन्दुसे अधिक है, क्योंकि यह शालिग्राममूर्ति अर्चा तथा ध्यान-साधन दोनों है।

अबतक निर्गुण ब्रह्मके प्रति पूजा-भावका वर्णन किया गया। सगुण ब्रह्म भक्तोंपर अनुग्रह-प्रकाश करनेके लिये वैकुण्ठादि दिव्य स्थानोंमें दिव्यरूपधारी होकर निवास किया करते हैं, भक्त-जन ब्रह्मके जिस रूपमें आकर्षित होते हैं, उसी रूपकी मूर्ति स्थापित करके उसमें आवाहनादि उपचारोंसे वे श्रीभगवान्‌की पूजा किया करते हैं। पहले प्रकारकी अर्चाओंमें आवाहन विसर्जन नहीं होता। कारण यही है कि सर्वव्यापी निर्गुण ब्रह्मका आवाहन क्या किया जाय? परन्तु दूसरे प्रकारकी अर्चाओंमें एक देशवासी भगवद्विग्रहका आवाहन युक्तिसङ्गत है। फिर भी दोनों प्रकारकी अर्चाएं दोनों प्रकारकी पूजामें उपयोगी हो सकती हैं—जैसे पूजक चाहे तो शिवलिंगमें कैलासविहारी कल्याणरूप श्रीसदाशिवका आवाहन करके उनकी पूजा करे अथवा किरीट-कुण्डल-

१ स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् (श्रुति)

२ ममार्चास्थापने यत्नः (श्रीमद्भागवत)

३ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (योगसूत्र)

कङ्कणादि विभूषित श्रीकृष्णमूर्तिमें सर्वव्यापी जगदाधारकी भावना करे।

विग्रहवती अर्चाएं सगुणब्रह्मके रूपोंके प्रतिरूप अर्थात् सदृश होती हैं, अतएव उन्हें प्रतिमा कहा जाता है। मूर्ति शब्दसे भी यही द्योतित होता है, परन्तु अब संस्कृतके अन्य शब्दोंकी भांति अर्चा प्रतिमा मूर्ति सब पर्याय हैं।

मूर्तियोंके निर्माणके विधानमें आज्ञा है कि वे मिट्टी[1] और धातुसे लेकर रत्नोंतककी बनायी जा सकती हैं अथवा और किन्हीं उपकरणोंसे भी जैसे कागज या शीशेपर चित्ररूपसे परन्तु जलादिद्वारा पूजा करनेसे पत्रांकित मूर्तियाँ विरूप हो जाती हैं अतः अन्य उपचारोंका प्रयोग विहित है। अग्नि[2], जल, सूर्य आदिमें भी ईश्वर-पूजा करनेका विकल्प है।

अनन्य भक्तिके दृढ़ करनेमें अर्चन (मूर्तिपूजा) एक साधन है। वही भक्ति सत्सङ्गसे भी मिलती है और शीघ्रतर मिलती है। इसीलिये कहा गया है कि क्या[3] जलमय गङ्गादितीर्थ और मृच्छिलामूर्तिमय देवगण नहीं हैं? वास्तवमें हैं, परन्तु ईश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन करनेवाले सज्जनोंसे[4] प्रतिपादित विधान तथा उपदेशोंके अनुकूल आचरणकी अपेक्षा तीर्थ तथा देवोंसे अधिक समयमें लाभ होता है।

अर्चाओंमें उपचाररूपसे ईश्वरके निवेदित वस्तुओंको अपने काममें न लाना चाहिये। यदि ईश-पूजाके निमित्त किसी सेठने मन्दिर बनवाया है तो निर्माताको चाहिये कि उस भगवच्चरणार्पित वस्तुको अपने रहनेके काममें न लावे। यही बात पुष्प दीप[5] आदिके सम्बन्धमें भी है। इस प्रकारके निषेधोंका कारण उन उन पदार्थोंको भोगबुद्धिसे व्यवहृत करनेके विचारको दूर कराना ही है। परन्तु उनके ईश्वर प्रसादरूपसे सेवन[6] करनेमें कोई हानि नहीं। तभी तो तुलसी-मिश्रित चरणोदक तथा नैवेद्य ग्रहण करनेका सम्प्रदाय है।

ऐसी रहस्यमयी अर्चनारूप साधनसे जो कल्याणगुणगणाकर श्रीभगवान्‌को प्राप्तकर उनके चरणारविन्दके परम मधुर मकरन्द रसका अनन्त समयतक पान करते हैं, वे ही धन्य हैं, उन्हींका जन्म सफल है।

कृष्णाम्बुद निकट है

सिक्ताप्यश्रुजलोत्करेण भगवद्वार्तानदीजन्मना,
तिष्ठत्येव भवाग्निहेतिरिति ते धीमन्नलं चिन्तया।
हृद्योमन्यमृतस्पृहाहरकृपावृष्टैः स्फुटं लक्ष्यते,
नेदिष्ठः पृथुरोमताण्डवभरात्कृष्णाम्बुदस्योद्गमम्।

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

हे धीमन्! भगवत्-कथानदी-जनित अश्रुजलसे सींचे जानेपर भवाग्नि-शिखा रह जायगी, ऐसी चिन्ता करना व्यर्थ है। जब शरीरकी सारी रोमावली नाच रही है, तब समझो कि अमृत-स्पृहाहारी कृपावृष्टिशील कृष्णमेघ तुम्हारे हृदयाकाशके निकट ही आ गया है!

---

१ शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती। मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता (भागवत)

२ सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावः······ ··· भद्र पूजापदानिमे (भागवत)

३ न ह्यम्मयानि तीर्थानि? न देवा मृच्छिलामयाः? ते पुनन्त्युरुकालेन, दर्शनादेव साधवः।

४ शुकदेवजीके सङ्गसे राजा परीक्षितको एक सप्ताहमें मुक्ति प्राप्त होना लोकविख्यात है।

५ अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम्।

६ ददाति प्रतिगृह्णाति नान्यथैषा प्रसीदति।

(लेखक—पं० श्रीतुलसीरामजी शर्मा 'दिनेश')

अजामिल-उद्धार

(गताङ्कसे आगे)

विष्णुदूतोंका यमदूतोंके प्रति उत्तर

हे यम-किङ्करवृन्द ! तुम्हारा कथन उचित है सभी प्रकार ,
पापी जीवोंको नित दण्डित करनेका तुमको अधिकार ।
यमका दण्ड न जगमें हो तो जीव निरंकुश होजावें ,
पातक मग सब मुक्त हो चलें, पुण्य पन्थ सब खोजावें ॥

राज्य-कार्य सञ्चालनको ज्यों होते नाना भांति विभाग ,
शासन, न्याय, प्रजा-संरक्षण शिक्षण आदिक चुंगी लाग ।
इसी भांति जगदीश-राज्यमें यमको शासनका अधिकार ,
उत्पथ-गामीको बिन पूछे तुमको त्रासनका अधिकार ॥

इसी भांति है हमें जीवको मुक्ति दिलानेका अधिकार ,
किसे मारनेका हक है तो किसे जिलानेका अधिकार ।
जिसकी आज्ञा रवि विधु विधि हर नियम सहित यम पाल रहे,
जिसकी सांकलमें बंध सागर पानी ठौर उछाल रहे ॥

जिसकी पलक पतनसे होता प्रलय, खोलते जग खिलता ,
जिसकी आज्ञा बिना वृक्षका पत्ता तक न तनिक हिलता ।
की है उसकी भक्ति इसीने प्रथमावस्थामें भारी ,
लिया नाम फिर अन्त समयमें क्या यह यमपुर अधिकारी ?

दोहा

एक बार भी जो कहे, अन्तकालमें नाम ।
शरणागत उसको समझ, देते हरि निज धाम ॥
जनक जननि द्विज नारि नृप,आदिक गो बध पाप।
तम-नाशन-हित रवि यथा, हरिका नाम प्रताप॥
जाति पतित हो म्लेच्छ हो, हो सब भांति अशुद्ध ।
श्रीहरि-नाम सुजापसे, होता सत्वर शुद्ध ॥

वर्षाके हो जानेसे ज्यों भूमि शुद्ध हो जाती है ,
जैसे झंझा वायु द्रुमोंको जड़ समेत ले जाती है ।
अति कर्कटको प्रबल अनल ज्यों भस्मीभूत बनाती है ,
जलसे विचलित जनको जैसे नौका तट दिखलाती है ॥

वेगवती सरिता ज्यों तट-तरु सागरमें ले जाती है ,
त्यों हरितक हरिनाम निसैनी पतितोंको पहुंचाती है ।
इसी नियमसे हे यमदूतो ! अब निष्पाप अजामिल है ,
पीड़न इसका बहुत हो चुका रुज-कोल्हूमें तन-तिल है ॥

बहुत रुंध चुका, अब तुम इसको दुःख देते क्यों खड़े खड़े ,
सुन सुन तीखे वचन तुम्हारे भय पीड़ित यह पड़े पड़े ।
भोग चुका निज कर्मोंके फल घोर यन्त्रणा यहीं सही ,
अति विकराल तुम्हारे दर्शन पीड़ा इसने सही सही ॥

अब इसके सत्कर्मोंके फल देनेको हम आये हैं ,
जिसने तुम्हें पठाया उसके पतिने हमें पठाये हैं ।
राजन् अन्तर्द्धान होगये, यम-चर होकर खिसियाने ,
स्वस्थ होगया विप्र उसी क्षण यमके दूत गये जाने ॥

दोहा

गद्गद होकर प्रेममें, जोड़े दोनों हाथ ।
हरि-चर-चरणोंमें दिया टेक विनय-युत माथ ॥
प्रम विवश कुछ भी विनय कर न सका यम-मुक्त ।
शीश परस हरि गुप्त-चर हुए त्वरित हा ! गुप्त ॥

देखो हरिकी दया अधमको किस अवसर पर अपनाया ,
हुई सहायक जहां न जाया, माजाया अपना जाया ।
मैंने हरिको भजा कभी था, भूल रहा था वर्षोंसे ,
कब आशा थी पातक-मेरु तुलेगा ऐसे सर्षोंसे ॥

हरिको ही कुछ दया आगयी, मेरे अवगुण लखे नहीं ,
अवगुण जो लख लेते मेरे, ठौर नरकमें था न कहीं ।
ऐसा कोई पाप नहीं जो मैं पापीने नहीं किया ,
हाय ! कलेजा अब फटता है, वृद्ध पिताको कष्ट दिया ॥

कीटादिकका खाद्य गात यह इसके हित क्या क्या न किया,
पातिव्रत-रत धर्मपत्निका हा मैंने अपमान किया ।

धन्य ब्राह्मणी फिर भी तूने अपना धर्म नहीं छोड़ा,
मैंने तोड़ पदोंसे फैंकी तू सम्बन्ध नहीं तोड़ा ॥
मेरी वृद्धा माता रोती रोती ही परलोक बसी,
मैंने उसकी कभी न सुध ली बुद्धि रही नित पाप-ग्रसी।
ब्रह्मतेजको नष्ट किया हा! फँस शूद्राके नैनोंमें,
सुधा-सदृश हरि नाम भुलाया, फँसकर विषके वैनोंमें ॥

दोहा

शूद्रासे उत्पन्न यह, दश सुत शत्रु-समान।
कोई जन मेरा नहीं बिना एक भगवान ॥
अब यह तन अर्पित किया, उसी स्वामिके हेत।
जिसके किङ्कर देखकर, यम-किङ्कर मुख श्वेत ॥

अब मैं हरि-पद-अरविन्दोंका होकर अचल मिलिन्द रहूं।
अब मैं संतत संत-समागम-सरवरका अरविन्द रहूं।
अब मैं हरि-पद-रति-असिवरसे 'मैं, मम' ग्रन्थि छुड़ाऊंगा,
अब मैं हरिकी शरण-पवनसे माया-मेघ उड़ाऊंगा ॥

अब मैं सत्य-विवेक सिन्धुमें मम पाषाण निमग्न करूं,
अब मैं सेवा-नाव बनाकर यह दुस्तर भव-सिन्धु तरूं।
हरिने मेरे दोष भुलाकर मुझको फिर अवकाश दिया,
अब भी जो मैं नहीं उठा तो मानों अपना नाश किया ॥

हुआ तुरत वैराग्य प्रबलतम, पुत्र शत्रु-सम हुए सभी,
संग्रहणीसी गृहिणी भासी सदन मशान-समान अभी।
होकर सब ही भांति स्वस्थ वह हरिद्वारको चला गया,
हरि-पद-रत, भव-त्यक्त भक्त वह पातक अपने जला गया ॥

हरिद्वारपर जाकर उसने योगासन दृढ़ लगा लिया,
हटा इन्द्रियोंको विषयोंसे मन आत्मामें पगा दिया।
हो एकाग्र चित्तको जोड़ा, आत्माको परमात्मासे,
भिन्न न देखा कुछ भी उसने परमात्मामय आत्मासे ॥

दोहा

सुमन माल गज-कण्ठसे छुटे सहज त्यों प्रान।
हरिपुरको हरि-रूप वह, बैठ चला सुविमान ॥

नाम-नाव आरूढ़ हुआ वह भव-नद पार हुआ पलमें,
हरिके आश्रय हो जानेपर तपा न नरकोंकी झलमें।
राजन्! पाप-विपिन है तबतक, जबतक भक्ति न ज्वाल जगे,
तबतक दुख-सुख भ्रम है जबतक सुख न ज्ञान-मराल जगे ॥

तबतक तीनों ताप, न जबतक हरि-चरणोंकी छांह गहे,
तबतक भवनद-मग्न, न जबतक हरि करुणाकर बांह गहे।
राजन्! जाकर यमदूतोंने यमसे जो संवाद कहा,
उसको सुनिये, जो कुछ यमने उन्हें कहा हितवाद महा ॥

यमकिङ्कर अति दुःखित, लज्जित विस्मित आदिक भाव भरे,
यमसे कहने लगे, 'प्रभो' हम दौड़ दौड़ ही वृथा मरे ॥
क्या तुमसे भी प्रबल दूसरा जगमें कोई शासक है?
जिसका शस्त्र हमारी भारी प्राणी-भीति विनाशक है।

आज उसीके गुप्तचरोंने नीचा हमें दिखाया है;
समक्ष स्वामिका सेवक हमसे बल-युत उसे छुड़ाया है ॥
'नारायण' इस नाम मात्रसे उसे बचानेको आये,
उन्हें देखकर एक साथ ही वदन हमारे मुरझाये।

दोहा

कृपया नाथ बताइये, वे थे किसके दूत।
सुन्दर सात्त्विक दिव्य तनु, धार्मिक शक्ति अकूत ॥
सुनकर यों वचनावली, विहँसे यम-भगवान्।
संशय-नाशक वचन वर, बोले सुधा-समान ॥

हे किङ्करगण! सचराचरका स्वामी और है एक बड़ा,
उसकी मायामें यह सब जग बैल-सदृश है नथा पड़ा।
यह संसार समग्र उसीमें ओत प्रोत है भरा हुआ,
विश्व-यन्त्र यह उस यन्त्रीसे सञ्चालित है करा हुआ ॥

जीवोंकी तो कथा कौन है, हम उसके आधीन सभी,
उसकी तनिक अवज्ञा भी तो हम कर सकते नहीं कभी।
मैं महेन्द्र रवि चन्द्र महेश्वर वरुण अनल विधि अनिल तथा,
सिद्ध, साध्यगण सुरगण आदिक पालें उसकी अटल प्रथा।

हम सबको उस विश्वम्भरका भेद न पूरा पाता है,
रहें घूमते उसी भांति हम जैसे हमें घुमाता है।
उन श्रीहरिके दूत उन्हींके सदृश वेषधारी होते,
दया, क्षमा, गुणयुक्त उन्हींसे जीव मुक्तकारी होते ॥

घूमा करते भूमण्डलमें जीवोंकी सुध लेनेको,
सत्कर्मी जीवोंको प्रतिपल बिन मांगे सुख देनेको।
हरि-भक्तोंको रिपुओंसे या मुझसे निर्भय करनेको,
भ्रमते रहते रात दिवस वे भक्तोंके दुख हरनेको ॥

दोहा

हरिके सच्चे मर्मका, नहीं किसीको ज्ञान ।
त्रिगुणात्मककी सृष्टिसे, है वह दूर महान ॥
शुद्ध भागवत धर्मका, हम बारहको ज्ञान ।
इसीलिये हम पालते, उनके सकल विधान ॥

उसके प्यारे भक्तोंपर है मेरा नहीं तनिक अधिकार ,
मेरा दण्ड वहां कुण्ठित है जहां तनिक हरिनाम-प्रचार ।
मेरा दण्ड वहीं तक पहुंचे जहां पापका है अधिकार ,
हरिका नाम सुखाता है बस, पलमें पातक पारावार ॥

दूतवृन्द ! वे हरिके किङ्कर हरि समान हैं पूज्य सदा ,
रखते हैं वे करमें निशदिन वही भक्त-भय-हरण गदा ।
राजन् ! ऐसा कहते कहते यमने अपने दृग मींचे ,
प्रेम-नीरसे अपने उरके सुन्दर रोम-द्रुम सींचे ॥

कहा "धन्य हैं वे जन जो हरिनाम रात-दिन जपते हैं ,
नरकानलमें सुपनेमें भी वे जन कभी न तपते हैं ।
विष्णुलोकके अधिकारी हैं पुण्यात्मा वे भारी हैं ,
जिनकी हरिमें भक्ति वही जन माया-दल संहारी हैं ॥

रहे ध्यान यह तुम्हें, भविष्यत्में न भुला देना इसको ,
तुम भग आना, हरिके पार्षद जब लेने आवें जिसको ।
राजन् ! यमने समझा करके दूतोंका सन्देह हरा ,
बतलाकर हरिका प्रभाव सब, सबके उरमें भाव भरा ॥

दोहा

जो जन यह नित शुभ कथा, पढ़े प्रेमके साथ ।
यमके दूतोंके नहीं, पड़ते उनपर हाथ ॥

(क्रमशः)

(शेष पृ० सं० 588 पर)

दशा

काम से अन्धरु मोहके फन्द परो भवकूप बनो दुखदाई ।
क्रोध अबोध करै जगमें तन छार करै पर ना दरसाई ॥
मत्त भये मदके विकसे अरु मत्सर आन दुधार घलाई ।
लोभ हँसाइ करै दिन रैन सु'प्रेम'जू चेतहु राम दुहाई ॥

उपाय

काम नसै हरि भक्ति किये अरु मोहको फन्द दे संग छुड़ाई ।
क्रोधमें चुप्प ह्वै राम भजो मदमें द्विज 'प्रेम' न आन उपाई ॥
मत्सर छार करै हरिके गुन जैसहि कंसको दृश्य लखाई ।
लोभि उदार बने जगमें मन रामको नाम बड़ो सुखदाई ॥

—प्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम'

श्रीगुरुचरणाश्रयकी आवश्यकता

(लेखक—आचार्य श्रीमदनमोहनजी गोस्वामी वै० दर्शनतीर्थ भागवतरत्न)

मनुष्य माताके गर्भसे उत्पन्न होते ही विद्वान् नहीं बनता। साधन बिना सिद्ध नहीं हो सकता। इसी तरह श्रीगुरुचरणाश्रयके बिना सदुपदेश भी लाभ नहीं कर सकता। अतः श्रीगुरुचरणोंका आश्रय लेना मनुष्यमात्रका सर्व प्रथम कर्तव्य है।

बहुतसे लोग कहा करते हैं कि, गुरु बनानेकी क्या आवश्यकता है? हम तो स्वयं ही गुरु हैं जो मूर्ख हैं वे दूसरेको गुरु बनाते हैं। किसी अंशमें यह कथन सत्य है। क्योंकि, इच्छाजन्य यत्न होता है और यत्नजन्य ग्रहण किया जा सकता है। जब इच्छा ही नहीं है तब गुरुचरणाश्रय ग्रहण किस तरह हो सकता है। कारणके न होनेसे कार्य नहीं होता। जब पूर्व सञ्चित पुण्य होता है तभी महत्संग मिलता है। उसी संगके फलसे सद्गुरुचरणाश्रयकी प्राप्ति होती है। 'वचसा का दरिद्रता' के अनुसार लोग स्वयं अपने आप गुरु बन सकते हैं किन्तु उससे वे सर्व साधारणका वास्तविक हित नहीं कर सकते। क्योंकि ऐसा विचार, प्रमाण, युक्ति सदाचारके विरुद्ध है। भगवान् कहते हैं—

'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।'

मन ही अपना मित्र है। मन ही अपना शत्रु है। मन शास्त्र, सद्युक्ति एवं सदाचारके अनुकूल होनेपर मित्रकी तरह उपकारी होता है। यदि वह मन शास्त्रकी अवज्ञा, कुयुक्ति और असदाचारमें अनुरक्त हो जाता है तो शत्रुकी तरह जीवका अहितकारी होता है। मन सुख दुःख उन्नति और अवनतिका मूल कारण है। मनको वशमें करना सबसे पहला कर्तव्य है। इसका एकमात्र उपाय सत्संग है। सत्संगके प्रभावसे मन निर्मल हो जाता है। मनकी निर्मलतासे द्वेष भाव दूर होता है। तभी उपयुक्त सत्पुरुषको गुरु बनानेकी प्रवृत्ति होती है। उस समय यह विचार नहीं होता कि, जैसा मैं मनुष्य हूं श्रीगुरुदेव भी वैसे ही मनुष्य हैं। मनके कुत्सित विचारोंसे दूषित होकर ही मनुष्य कहता है कि, मुझमें गुरुमें कोई अन्तर नहीं है, जैसा मैं वैसे गुरु इत्यादि।

स्त्रीलम्पट और सांसारिक कार्योंमें आसक्त चित्त लोगोंकी संगतिसे ही मनुष्यकी रुचि बिगड़ती है इसीसे मनुष्य सद्गुरुचरणाश्रयकी इच्छा नहीं करता। शास्त्रमें लिखा है। 'न पश्यन्ति हि धाम भूयसां'

कुलकी उत्तमतासे ही विद्या, वित्त, तपस्या आदि जीवके अनुकूल होते हैं। जैसे दुग्ध अमृत है, पर यदि सर्प पान करता है तो अमृतरूप दुग्ध भी विष हो जाता है। स्वाति नक्षत्रका विन्दु पात्रविशेषमें सफल होता है, कुपात्रमें सफल नहीं होता, इसीतरह असत्संगीका मन कभी निर्मल नहीं होता। बल्कि अहंतासे उद्दण्ड हो जाता है। इसीसे उसकी विचारशक्ति लुप्त हो जाती है। उसको महत्पुरुषकी महिमाका परिचय नहीं होता। शास्त्रमें लिखा है—

"तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्"

जब श्रीविदेह महाराजने मायासे पार होनेका उपाय पूछा तब योगिवर प्रबुद्धने उनको यह उत्तर दिया कि—

"मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीतमदात्मकम्"

'श्रीभगवान्की आज्ञा है कि मेरे तत्त्वको जाननेकी इच्छा करनेवाला पुरुष श्रीगुरुचरणोंका आश्रय करे। अवश्य ही वह गुरु शान्त, मेरी महिमाको जाननेवाले हों, मुझमें अपने मनको लगानेवाले होने चाहिये। इस महत्त्वपूर्ण आज्ञाका पालन न करनेवाला पुरुष अहंताके बन्धनमें बंधकर अपनेको भूल जाता है और उसका अधःपतन हो जाता है। शास्त्र कहता है—

"य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥"

यही अविद्यामोहित जीवका चित्र है। मायाबद्ध जीव अपनी शक्तिद्वारा मायाके बन्धनसे छुटकारा नहीं पा सकता। यदि मायाके बन्धनोंसे छुटकारा पानेकी अभिलाषा है, यदि भगवत्तत्त्व जाननेकी इच्छा है, यदि श्रीभगवान्से मिलनेकी इच्छा है तो श्रीगुरुचरणोंका आश्रय अवश्य कर्तव्य है। यह शास्त्रवाक्य है किसीकी कल्पना नहीं, श्रुति कहती है—

"तद्विज्ञानार्थं सद्गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं आचार्यवान्
पुरुषो वेद।"

अतएव जो श्रीगुरुचरणोंका आश्रय लेते हैं वही श्रीभगवान्को जान सकते हैं।

बिना श्रीगुरुचरणाश्रयके जीव दीक्षित नहीं हो सकता। अदीक्षित पुरुषके समस्त कर्म निष्फल होते हैं "अदीक्षितस्य कृतं सर्वं निरर्थकं भवति"

और भी लिखा है "गुरुपादाश्रयस्तस्मात्कृष्णदीक्षादिशिक्षणम्"। जैसे बालकको श्रीगुरुकृपा बिना अक्षर (वर्ण) परिचय नहीं होता वैसे ही साधक भी सद्गुरुकी कृपासे वञ्चित होकर श्रीभगवान्को प्राप्त नहीं होता। जैसे बालक विद्या गुरुसे पढ़कर विद्यासुखमें निमग्न होता है वैसे ही सद्गुरुकी कृपासे मनुष्य शिक्षा दीक्षा प्राप्त कर श्रीभगवत्-सुखसे परितृप्त होता है, जिसने विद्यागुरुसे क, ख, ग सीखा है या शास्त्र पढ़ा है वही दूसरेको पढ़ा और सिखा सकता है, ऐसे ही भगवत्तत्त्वके ज्ञाता श्रीगुरुके चरणाश्रयसे जिन्होंने श्रीभगवान्के तत्त्वको समझा है वही दूसरेको भी यह तत्त्व समझा सकते हैं, अन्यथा नहीं। इसीसे प्रत्येक पुरुषके लिये श्रीगुरुचरणाश्रयकी आवश्यकता है।

क्यों न अपनायेंगे!

(श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी विशारद एम० ए० एल० एल० बी०)

जिन्होंने बनाया घट घटमें निवास निज,
हृदय हमारेमें क्यों आते घबड़ायेंगे।
जिन्होंने पठाया सुरलोक दुष्ट रावणको,
भूलोंको हमारी न वे कैसे भूल जायेंगे॥
जिन्होंने घुमाया मन्दराचल मथानी सम,
पातक पहारको न वे क्या फेंक पायेंगे।
जिन्होंने चलाया रथ पारथका संगरमें,
सङ्कटमें किंकरको क्यों न अपनायेंगे॥

भक्तोंके भगवान्

(लेखक—आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी)

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ (गी०)

जो मुझे जिस प्रकारसे भजते हैं उन्हें मैं भी उसी प्रकारसे भजता हूं । हे पार्थ ! किसी भी ओरसे हो, मनुष्य मेरे ही मार्गमें आ मिलते हैं ।

श्रीभगवान्ने समय समयपर अपने उक्त वाक्यको चरितार्थ करनेके लिये, अनेक भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण करनेको अवतार लेकर जीवोंको कल्याण-पथ दिखलाया है । दयालु श्रीभगवान्ने अपने भक्तोंके विषयमें तो यहांतक कहा है कि–

यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥
तत्सर्वं भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चित् यदि वाञ्छति ॥
(श्रीभा०)

कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान और अन्य अनुष्ठानोंद्वारा भी जिस फलकी प्राप्ति नहीं होती, उसे मेरे भक्त भक्तियोगसे सहजमें प्राप्त कर सकते हैं । यदि वह इच्छा करें तो स्वर्ग, मुक्ति और मेरा धाम (वैकुण्ठ) भी प्राप्त कर सकते हैं ।

करुणामय भक्तवत्सल श्रीभगवान्ने ब्रह्माजीको नारायणरूपसे, नारदजीको विष्णुरूपसे दर्शन देकर कृतार्थ किया ।

एको नारायण आसीत् न ब्रह्मा न च शङ्करः ।
आनन्द एक एवाग्र आसीन्नारायणः प्रभुः ॥

* * *

विष्णोर्देहात् जगत्सर्वमाविरासीत्

भगवान् श्रीरामने अनेक ऋषि मुनियोंको ईश्वररूपसे, महाराज दशरथको पुत्ररूपसे, और लङ्केशको कालरूपसे पवित्रकर अपनी दिगन्त-व्यापिनी दयालुताकी पताका फहरायी ।

व्यापक एक ब्रह्म अविनाशी,
सत चेतन घन आनँद राशी ।
(रा०)

पांचहजार वर्ष पूर्व भगवान् श्रीकृष्णने आनक-दुन्दुभि वसुदेवजीको विष्णुरूपसे, देवकीको मधुसूदन और अनेक भक्तोंको उनकी इच्छानुसार दर्शन देकर उनकी अभिलाषा पूर्ण की । यथा—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान् ,
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनाम् ,
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगं गतः साग्रजः ॥
(श्रीभा० द०)

भक्ताधीन भगवान् गोकुलमें बाबा नन्दराजको नन्दकुमाररूपसे, मा यशोदाको कन्हैयारूपसे,

वृन्दावनमें सुदामा, वसुदामा, मधु मङ्गलादिको सखारूपसे और व्रजबालाओंको श्यामसुन्दर एवं गायोंको गोपालरूपसे, इन्द्रको गिरिधारी और ब्रह्माको परब्रह्मरूपसे दर्शन देते हुए, बाबा और मैयाको बाललीला, गोपियोंको माखन-लीला, सखाओंको दानलीला और व्रजरमणियों-को प्रेमलीलासे आनन्दित कर रहे हैं।

अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥
(श्रीभा०)

परब्रह्म भगवान् नारायणने कृपाकर श्रीरामानुजाचार्य स्वामी, श्रीरामानन्दजीके मनोरथ लक्ष्मीपति श्रीनारायण एवं सीतापति श्रीरामरूपसे पूर्ण किये।

करुणामय भगवान्ने श्रीमध्वाचार्य, श्री-निम्बार्काचार्य, श्रीवल्लभाचार्यजीको उनकी भावनानुरूप दर्शन देकर कृतार्थ किया।

नन्द-नन्दन व्रजचन्द्रने निजाह्लादिनी शक्ति श्रीराधिकाके साथ अपने अनन्य भक्त स्वामी श्रीहरिदासजीको रासलीलाका दर्शन कराया।

आस धीर उदोत कर रसिक छाप हरि दासकी।
जुगल नामसों प्रेम नेम जपत नित कुंज विहारी॥
भावुक प्रवीन सु पुनीत गुनगान रटैं।
बातें लोक लोक निमेसु जस सुवास हैं॥
सखीरूप दृग निसरूप सदा पान करैं।
रसिक सिरोमनि श्रीस्वामी हरिदास हैं॥
(मा० मा०)

गोपीजन-वल्लभ श्रीकृष्णने भक्तोंके हृदयको, संसारको प्रेमप्लावित करनेके लिये, दीनजनोंको अपनाने और उद्धार करनेके लिये, श्रीराधाकृष्णके सम्मिलितरूपसे नवद्वीप (बंगाल) में वि० सं० १५४२ ई० सन् १४८६ में अवतार धारणकर सोते हुए संसारको कृष्ण चैतन्यरूपसे प्रेमका पाठ पढ़ाकर प्रेमराज्यकी नींव दृढ़ की। और किया लुप्तप्राय वैष्णव धर्मका पुनरुद्धार।

'शुक्लो रक्तस्तथा पीतः' (श्रीभा०)

अवतीर्णो भविष्यामि कलौ निजगणैः सह।
शचीगर्भे नवद्वीपे स्वर्धुनीपरिवारिते॥
(अनन्त सं०)

* * *

कृष्णवर्णंत्विषा कृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैस्संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥
(श्री० भा०)

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः।
(श्वे० उ०)

यदा पश्यः पश्यते सकल वर्णम्। (वे०)

* * *

ईसता वषानि कहा करौं सो प्रमान याको,
जगन्नाथ क्षेत्र नेत्र निरषि साक्षात है।
चत्रभुज षटभुज रूप लै दिखाइ दियौ,
दियो जो अनूप हित वात यात है॥
श्रीकृष्ण चैतन्य नाम जगत प्रगट भयौ,
अति अभिराम लै महंत देही धरी है।
जितौ गौड़ देश भक्ति लेसहू न जानै कोऊ,
सोऊ प्रेम-सागरमें बोरयो कहि हरी है॥
(भ० मा०)

श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभुकी आज्ञासे श्रीरूप, श्रीसनातन, श्रीरघुनाथभट्ट, श्रीगोपालभट्ट, श्रीजीव और श्रीरघुनाथदास भक्त-श्रेष्ठ व्रजमें आये और मधुर प्रेममयी भक्तिकी पवित्र धारासे व्रज-मण्डलको प्लावित कर दिया।

एइ छय गुसाईं जवे व्रजे कइला वास।
राधाकृष्ण नित्य लीला करिला प्रकाश॥

* * *

श्रीरूप सनातन भक्ति जल श्रीजीव गुसाईं सर गंभीर।
(भ० मा०)

श्रीकृष्ण प्रभुकी आज्ञासे श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी दामोदर कुण्डसे बारह शालिग्राम शिला लाये, उन्हीं शालिग्राम शिलाओंमेंसे भक्तों-के भगवान्ने अपने निष्काम भक्त प्रिय भट्टजीकी प्रेममयी पुकार सुनकर वि० सं० १५९९ की वैशाखी पूर्णिमाके प्रातःकाल, अपने भक्तकी भावनाके अनुसार मनोहर मूर्तिसे प्रगट हो मङ्गलमय पवित्र दर्शन दिया। रासलीलाके समय विरहावस्थामें श्रीराधिकाजीके द्वारा सम्बोधन किया हुआ पवित्रनाम श्रीराधारमण हुआ। रास-स्थलीमें प्रगट होनेके कारण गोपालभट्ट गोस्वामी-जीने प्रथम ही 'राधारमण' कहकर प्रणाम और प्रार्थना की।

हा नाथ ! रमण ! प्रेष्ठ ! क्वासि क्वासि महाभुज ।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥
चरणपङ्कजं शन्तमञ्चते रमण नस्तनेष्वर्पयाधिहन् ।
(श्रीभा०)

❀ ❀ ❀

श्रीगोपालभट जू कैं हिये पै रसाल बसैं यों ।
प्रगट राधारवन सरूप है ।
नाना भोग राग करैं अति अनुराग पने ।
जगे जग मांहि हित कौतुक अनूप हैं ॥
(भ० मा०)

❀ ❀ ❀

कल्याणके वाचक वृन्द और भक्त वृन्दोंके लिये भक्तोंके भगवान् स्वयं प्रगट श्रीराधारमण-देवका चित्रपट इसी अङ्कमें दर्शनार्थ प्रकाशित है।

अभिनवजलधरपटलश्यामकमूर्तिमनोरमः ।
किमपि गोपालभट्टभाग्यं राधारमणो हरिर्जयतु ॥

क्या ईश्वरके घर न्याय नहीं है ?

(पृष्ठ ३३४ से आगे)

तदनन्तर योगीने ध्यानसे सब बातें जानकर कहा कि, 'जिसको रुपये मिले हैं, वह बड़ा पापी है और जिसके पैरमें चोट लगी है, वह बड़ा पुण्यात्मा है ! क्योंकि प्रारब्धके अनुसार पहलेको आज सम्राट्का पद मिलना चाहिये था और दूसरेको सूली होनी चाहिये थी परन्तु पहलेके प्रबल पापने सम्राट्का पद केवल पांच हजार रुपयोंमें बदल दिया और ये पांच हजार भी इसके अमुक साथीने जो पहले इसीके घरसे चुरा लिये थे वे हैं, नहीं तो पराया धन ले लेनेका भारी पाप इसे और होता तथापि इसने 'परधन' जानकर भी मन चलाया, इसका पाप तो इसे अवश्य होगा। परन्तु दूसरेके प्रबल पुण्यसे सूली टलकर केवल कांचमात्रकी चोटमें ही फल भुगत गया। इतना कहकर महात्माने योगबलसे दोनोंको उनके पूर्व-कृत कर्मोंका दृश्य दिखलाया, जिससे उन लोगोंको स्पष्ट प्रतीत हो गया कि ब्राह्मणके पूर्वकृत अच्छे नहीं थे जिससे वह दरिद्र था तथा आज उसे सूली होनी चाहिये थी, राजपूतके कर्म अच्छे थे जिससे वह धनी था और आज उसे सम्राट्का पद मिलनेवाला था। यह दृश्य देखकर ब्राह्मण और राजपूत दोनों मित्रोंको बड़ा दुःख हुआ। राजपूतको तो अपने वर्तमान कर्मोंके लिये बड़ा भारी पश्चात्ताप था और ब्राह्मण अपने मित्रके दुःखसे दुःखी था।

महात्मा कहने लगे-'ब्राह्मण ! तू अच्छे संगसे बड़े ही सन्मार्गमें चल रहा है। पूर्वके कर्म बुरे भी हों पर यदि मनुष्य इस जन्ममें अच्छे कर्मोंमें लगा रहे तो पूर्वके कर्म उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते। कर्म करनेकी स्फुरणा संचितसे होती है। सबसे पहले स्फुरणा प्रायः उस संचितकी होती है जो अत्यन्त नवीन होता

है। जैसे एक व्यापारीने किसी बड़ी गोदाममें बहुतसा माल भर रक्खा है और नित्य नया माल भरता चला जा रहा है। अब यदि उसे उसमेंसे माल निकालना होता है तो सबसे पहले वही माल निकालता है जो सबसे पीछे रक्खा गया है क्योंकि वही पहलेके मालसे आगे रक्खा हुआ है। मनुष्यने पिछले जन्मोंमें जो कुछ कर्म किये हैं वे सब संचित हैं और अब जो कुछ कर्म कर्तृत्वभावसे कर रहा है वह सब भी संचित बन रहे हैं। स्फुरणा संचितसे होती है इसलिये सबसे पहले वैसी ही स्फुरणा होगी जैसा नया संचित होगा। नये संचितसे स्फुरणा होनेमें किसीको सन्देह हो तो दो चार दिन लगातार किसी काममें लग कर देखिये, मनमें उसी विषयकी स्मृति रहती है या नहीं! रोज नाटकमें जाइये, नाटकोंकी बातें स्मरण आयेंगी, साधुओंके पास जाइये उनका स्मरण होगा। यह स्मृति ही स्फुरणा है जो नये सञ्चितसे होती है! नये संचितका आधार है कर्म। अतएव वर्त्तमान कर्म अच्छा होगा तो उसका संचित भी अच्छा होगा। संचित अच्छा होगा तो स्फुरणा भी अच्छी होगी, कर्म होनेमें स्फुरणा प्रधान है, स्फुरणा अच्छी होगी तो पुनः कर्म अच्छा होगा, अच्छे कर्मसे पुनः अच्छा संचित और अच्छे संचितसे पुनः अच्छी स्फुरणा, फिर उससे पुनः अच्छा कर्म होगा। इसप्रकार लगातार शुभकर्म बनते रहेंगे, जिनसे अन्तःकरण शुद्ध होकर कभी भगवत्कृपासे तत्वज्ञानकी उपलब्धि हो जायगी तो समस्त संचित जलकर भस्म हो जायंगे। इसलिये सबको अच्छा कर्म करना चाहिये। दुष्ट संचितवश मनमें बुरी स्फुरणा भी हो तो उसे सत्संगसे—विचारसे दबाकर अच्छे ही कर्ममें मनुष्यको लगे रहना चाहिये।

जिस विषयका मनुष्य अधिक समय स्मरण करता है क्रमशः उसीमें उसकी समीचीन बुद्धि होकर राग हो जाता है। जिसमें राग होता है उसीकी कामना होती है। जैसी कामना होती है वैसी ही चेष्टा होती है। वह चेष्टा ही कर्म है। फिर लगातार जैसे कर्म होते हैं, वैसी ही स्मृति होती है। यह तांता चला ही जाता है। इस विषयमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं। यह तो प्रतिदिनका प्रत्यक्ष अनुभव है।

'हे ब्राह्मण! तेरे पूर्व संचित अच्छे न होनेपर भी तू इस जीवनके सत्संगसे अच्छे कर्म करने लगा। जिससे तेरे हृदयकी पूर्वजन्मार्जित कर्मजन्य बुरी स्फुरणाएं दब गयीं। इस राजपूतके पूर्वसंचित शुभ होनेपर भी इसने कुसंगसे बुरे कर्म करने आरम्भ कर दिये जिनसे लगातार बुरी स्फुरणाएं हुईं और उनसे फिर लगातार बुरे कर्म होते गये। अच्छी स्फुरणाओंको प्रकट होनेका अवसर ही नहीं मिला। तेरे सत्कर्म बढ़ते रहे और इसके दुष्कर्म। फल यह हुआ कि फलदानोन्मुख प्रारब्धकर्ममें रुकावट पड़ गयी। रुकावट ही नहीं पड़ी, तेरी सूलीकी वेदना कांचकी चोटमें और इसका सम्राट्पद पांच हजार रुपयोंके लाभमें बदल गया।'

ब्राह्मणने कहा, स्वामिन्! मैंने यह सुन रक्खा है कि कर्मोंको भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं मिलता। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' संचितका नाश तो संभव है परन्तु प्रारब्धका नाश नहीं होता। वह तो छूटे हुए तीरकी भांति भोगना ही पड़ता है। फिर क्या कारण है कि हम लोगोंके प्रारब्धकर्मके फलमें इतना परिवर्त्तन हो गया?

सन्त बोले 'तेरा कहना ठीक है, प्रारब्धका फल भोगे बिना नाश नहीं होता, परन्तु पहले यह समझो कि प्रारब्ध क्या वस्तु है? अपने पूर्वकृत कर्मोंके फल स्वरूप ही तो प्रारब्ध बना है। परन्तु अबसे एक क्षण पहिले जो कर्म कर

चुके वह क्या पूर्वकृत नहीं है ? भाई ! कई कर्म ऐसे प्रबल होते हैं जो तुरन्त संचित बनकर प्रारब्धके रूपमें परिणत हो अपना फल दे डालते हैं। ऐसा न होता तो 'पुत्रेष्टि' यज्ञमें पुत्रहीन-प्रारब्ध व्यक्तिको पुत्रकी प्राप्ति कैसे होती ? यज्ञरूप क्रियमाणसे संचित होकर तुरन्त प्रारब्ध बन जाता है और वह पुत्र न होनेके प्रारब्धको पलट देता है। या यों कहो कि-वह भी एक दूसरा प्रारब्ध ही बन जाता है। दूसरे, प्रायश्चित्तादिसे जो कर्मोंकी निवृत्ति लिखी है, उसमें भी तो रहस्य है। प्रायश्चित्त वास्तवमें कर्मोंका भोग ही तो है। किसीके ऋणको कोई रुपये देकर चुका दे या उसकी चाकरी करके भर दे। दोनों ही मार्गोंसे मनुष्य ऋणमुक्त हो सकता है। इसी प्रकार नवीन प्रारब्धका निर्माण या परिवर्त्तन होता है।

अवश्य ही ऐसे हाथों हाथ प्रारब्ध बननेवाले प्रबल क्रियमाण कर्म बहुत थोड़े होते हैं। तुम दोनोंके हो गये इससे तुम लोगोंके भाग्यने भी पलटा खाया। हरिभक्ति और हरिनामसे बड़ेसे बड़े पापोंका प्रायश्चित्त अनायास ही हो जाता है। अतएव हे ब्राह्मणकुमार! इस कुसंगमें पड़े हुए अपने मित्र राजपूतको साथ ले जाओ और दोनों हरिसेवारूपी सत्कर्ममें लगे रहो। तदनन्तर सन्त राजपूतको सम्बोधनकर कहने लगे कि हे राजपूत! तेरा ही बड़ा सौभाग्य है जो तुझे ऐसा सदाचारी मित्र मिला है, अब इसके साथ रह। कुसंगति त्याग कर दे और भगवान्का भजन कर। तुम लोगोंका मंगल होगा। साधु इतना कहकर चुप हो गये। दोनों मित्र दण्डवत् प्रणाम करके घर लौट आये! और भगवद्भजनमें लग गये!

इस दृष्टान्तसे यह सिद्ध हो गया कि ईश्वरके घर अन्याय नहीं है। अपनी अपनी करनीका फल यथार्थरूपसे ही सबको मिलता है। जिन पाप-कर्म करनेवालोंकी सांसारिक उन्नति देखनेमें आती है उनके लिये यह समझना चाहिये कि या तो उनका शुभ प्रारब्ध इस समय फल भुगता रहा है, वर्त्तमान पाप कर्मोंका फल उन्हें आगे चलकर मिलेगा, या उनकी जो उन्नति देखी जाती है उससे बहुत ही अधिक होनेवाली थी जो वर्त्तमानके प्रबल पाप कर्मोंके फलसे नष्ट हो गयी। यह कभी नहीं समझना चाहिये कि पाप करनेसे उन्नति होती है। लाखों करोड़ों रुपयेकी आमदरफ्त होनेपर भी शेषमें बचता उतना ही है जितना प्रारब्धवश बचनेको होता है। रातदिनका कठिन परिश्रम, परिश्रमजन्य बीमारियां और लोभवश किये हुए पापोंका संचित और बुरे संचितसे होनेवाली कुवासना-रूपी हृदयकी बीमारियां, यह अवश्य बढ़ जाती हैं जो उसे चिरकालके लिये दुःख देनेवाली होती हैं।

अतएव पाप कर्मोंसे सर्वदा बचे रहकर श्रीभगवान्का भजन स्मरण करना चाहिये। भगवान् न्यायकारी होनेके साथ दयालु भी हैं, यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये। जो उनकी ओर एक कदम आगे बढ़ता है, भगवान् उसकी ओर पांच कदम आगे बढ़ते हैं, वे जीवोंको संतत अपनी ओर खींच रहे हैं। उनकी कृपाका प्रवाह निरन्तर बह रहा है, जो उसमें डुबकी लगा लेता है वही कृतार्थ हो जाता है।

यथेच्छसि तथा कुरु

चुन ले मन! जो हो अनुकूल।
हैं गुलाबमें शूल नुकीले और सुगन्धित फूल॥
काम कामना क्रोध द्वेष सब जानो जगके शूल।
प्रेम शान्ति समता पवित्रता मानो सुन्दर फूल॥
शूकरको जो स्वर्ग मिले मल बिना लगे प्रतिकूल।
क्षीर नीरके निर्णयमें पर हंस न करता भूल॥
इच्छा हो तो लोट नरकमें फांक सड़ककी धूल।
अथवा श्रीहरिशरण शान्तिप्रद गह ले सब सुखमूल॥

—विन्ध्याचलप्रसाद 'विशारद'

वैराग्य

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

वैराग्यका महत्त्व

कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुषको वैराग्य साधनकी परम आवश्यकता है। वैराग्य हुए बिना आत्माका उद्धार कभी नहीं हो सकता। सच्चे वैराग्यसे सांसारिक भोग पदार्थोंके प्रति उपरामता उत्पन्न होती है। उपरामतासे परमेश्वरके स्वरूपका यथार्थ ध्यान होता है। ध्यानसे परमात्माके स्वरूपका वास्तविक ज्ञान होता है और ज्ञानसे उद्धार होता है। जो लोग ज्ञान सम्पादनपूर्वक मुक्ति प्राप्त करनेमें वैराग्य और उपरामताकी कोई आवश्यकता नहीं समझते, उनकी मुक्ति वास्तवमें मुक्ति न होकर केवल भ्रम ही होता है। वैराग्य-उपरामतारहित ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं, वह केवल वाचिक और शास्त्रीय ज्ञान है जिसका फल मुक्ति नहीं प्रत्युत और भी कठिन बन्धन है। इसीलिये श्रुति कहती है—

> अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
> ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥
> (ईश म० ९)

'जो अविद्याकी उपासना करते हैं वे अन्धकारमें प्रवेश करते हैं, और जो विद्यामें रत हैं वे उससे भी अधिक अन्धकारमें प्रवेश करते हैं।' ऐसा वाचिक ज्ञानी निर्भय होकर विषय भोगोंमें प्रवृत्त हो जाता है, उसके मनमें कोई पाप भी पाप नहीं रह जाता, इसीसे वह विषयरूपी दलदलमें फंसकर पतित हो जाता है—ऐसे ही लोगोंके लिये यह उक्ति प्रसिद्ध है—

> ब्रह्मज्ञान जान्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय ।
> तुलसी ऐसी आत्मा, सहज नरकमहं जाय ॥

वास्तवमें ज्ञानके नामपर महा अज्ञान ग्रहण कर लिया जाता है। अतएव यदि यथार्थ कल्याणकी इच्छा हो तो साधकको सच्चा दृढ़ वैराग्य उपार्जन करना चाहिये। किसी स्वांग विशेषका नाम वैराग्य नहीं है। किसी कारण-वश या मूढ़तासे स्त्री पुत्र परिवार धनादिका त्याग कर देना, कपड़े रंग लेना, सिर मुड़वा लेना, जटा बढ़ाना या अन्य बाह्य चिह्नोंका धारण करना वैराग्य नहीं कहलाता। मनसे विषयोंमें रमण करते रहना और ऊपरसे स्वांग बना लेना तो मिथ्याचार—दम्भ है। भगवान् कहते हैं—

> कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
> इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥
> (गीता ३।६)

'जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर इन्द्रियोंके भोगोंको मनसे चिन्तन करता रहता है वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।'

सम्प्रति दम्भका बहुत विस्तार हो रहा है, कोई लोगोंको ठगनेके लिये दिखलौआ मौन धारण करता है, कोई आसन लगाकर बैठता है, कोई विभूति रमाता है, कोई केश बढ़ाता है,

कोई धूनी तपता है, "उदरनिमित्तं बहुकृतवेशम् ।'

इनमेंसे कोईसा भी वैराग्य नहीं है। मेरे इस कथनका यह अभिप्राय नहीं कि, मैं स्त्री पुत्र कुटुम्ब धन शिखा सूत्रादि तथा कर्मोंके स्वरूपसे त्याग करनेको बुरा समझता हूं। न यही समझना चाहिए कि मौन धारण करना, आसन लगाना, विभूति रमाना, केश बढ़ाना या मुड़वाना आदि कार्य अशास्त्रीय और निन्दनीय हैं। न मेरा यही कथन है कि घरबार त्यागकर इन चिह्नोंके धारण करनेवाले सभी लोग पाखण्डी हैं। उपर्युक्त कथन किसीकी निन्दा या किसीपर भी घृणा करनेके लिये नहीं समझना चाहिये। मेरा अभिप्राय यहां उन लोगोंसे है जो वैराग्यके नामपर पूजा पाने, और लोगोंपर अनधिकार रोब जमाकर उन्हें ठगनेके लिये नाना भांतिके स्वांग सजते हैं। जो साधक संयमके लिये, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये, साधन बढ़नेके लिये ऐसा करते हैं उनकी कोई निन्दा नहीं है। भगवान्‌ने भी मिथ्याचारी उन्हींको बतलाया है जो बाहरसे संयमका स्वांग सजकर मन ही मन विषयोंका मनन करते रहते हैं। जो पुरुष चित्तकी वृत्तियोंको भगवच्चिन्तनमें नियुक्तकर सच्ची वैराग्य-वृत्तिसे बाह्याभ्यन्तर त्याग करते हैं उनकी तो सभी शास्त्रोंने प्रशंसा की है।

वैराग्य बहुत ही रहस्यका विषय है, इसका वास्तविक तत्त्व विरक्त महानुभाव ही जानते हैं। वैराग्यकी पराकाष्ठा उन्हीं पुरुषोंमें पायी जाती है जो जीवन्मुक्त महात्मा हैं—जिन्होंने परमात्म-रसमें डूबकर विषयरससे अपनेको सर्वथा मुक्त कर लिया है! भगवान् कहते हैं:—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

(गीता २।५९)

"इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको न ग्रहण करनेवाले पुरुषके केवल विषय निवृत्त हो जाते हैं रस (राग) नहीं निवृत्त होता, परन्तु जीवन्मुक्त पुरुषका तो राग भी परमात्माको साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है।"

अब हमें वैराग्यके स्वरूप, उसकी प्राप्तिके उपाय, वैराग्य प्राप्त पुरुषोंके लक्षण और फलके विषयमें कुछ विचार करना चाहिये। साधन-कालमें वैराग्यकी दो श्रेणियाँ हैं। जिनको गीतामें वैराग्य और दृढ़ वैराग्य, योगदर्शनमें वैराग्य और पर वैराग्य एवं वेदान्तमें वैराग्य और उपरतिके नामसे कहा है। यद्यपि उपर्युक्त तीनोंमें ही परस्पर शब्द और ध्येयमें कुछ कुछ भेद है परन्तु बहुत अंशमें यह मिलते जुलते शब्द ही हैं। यहां लक्ष्यके लिये ही तीनोंका उल्लेख किया गया है।

वैराग्यका स्वरूप

योगदर्शनमें यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार भेदसे वैराग्यकी चार संज्ञाएं बतलायी हैं, टीकाकारोंने उसकी विस्तृत व्याख्या की है। वह व्याख्या सर्वथा युक्तियुक्त और मननीय है। तथापि यहां संक्षेपसे अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार वैराग्यके कुछ रूप बतलानेकी चेष्टा की जाती है, जिससे सरलता पूर्वक सभी लोग इस विषयको समझ सकें!

भयसे होनेवाला वैराग्य—संसारके भोग भोगनेसे परिणाममें नरककी प्राप्ति होगी। क्योंकि भोगमें संग्रहकी आवश्यकता है, संग्रहके लिये आरम्भ आवश्यक है, आरम्भमें पाप होता है। पाप का फल नरक या दुःख है। इसतरह भोगके साधनोंमें पाप और पापका परिणाम दुःख समझकर उसके भयसे विषयोंसे अलग होना, भयसे उत्पन्न वैराग्य है!

विचारसे होनेवालावैराग्य—जिन पदार्थोंको भोग मानकर उनके संगसे आनन्दकी भावना की जाती है, जिनकी प्राप्तिमें सुखकी प्रतीति होती है, वह वास्तवमें न भोग हैं, न सुखके साधन हैं, न उनमें सुख है। दुःखपूर्ण पदार्थोंमें-दुःखमें ही अविचारसे सुखकी कल्पना कर ली गयी है।

इसीसे वह सुखरूप भासते हैं, वास्तवमें तो दुःख या दुःखके ही कारण हैं--भगवान्ने कहा है-

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(गीता ५ । २२)

जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी निस्सन्देह दुःखके ही हेतु हैं और आदि अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं, इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान्, विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता। अनित्य न प्रतीत हो तो इनको क्षणभंगुर समझकर सहन करना चाहिये। भगवान् कहते हैं-

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥
(गीता २ । १४)

हे कुन्तीपुत्र! सर्दी गर्मी और सुखदुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो क्षण-भंगुर और अनित्य हैं इसलिये हे भारत! उनको तू सहन कर। अगले श्लोकमें इस सहनशीलताका यह फल भी बतलाया है कि-

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥
(गीता २ । १५)

दुःखसुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको यह इन्द्रियोंके विषय व्याकुल नहीं कर सकते, वह मोक्षके लिये योग्य होता है। आगे चलकर भगवान्ने यह स्पष्ट कह दिया है कि जो पदार्थ विचारसे असत् ठहरता है वह वास्तवमें है ही नहीं। यही तत्त्वदर्शियोंका निर्णीत सिद्धान्त है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
(गीता २ । १६)

'हे अर्जुन! असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं है और सत्का अभाव नहीं है, इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

इस प्रकारके विवेकद्वारा उत्पन्न वैराग्य "विचारसे उत्पन्न होनेवाला वैराग्य" है।

साधनसे होनेवाला वैराग्य-जब मनुष्य साधन करते करते प्रेममें विह्वल होकर भगवान्के तत्त्व-का अनुभव करने लगता है तब उसके मनमें भोगोंके प्रति स्वतः ही वैराग्य उत्पन्न होता है। उस समय उसे संसारके समस्त भोग पदार्थ प्रत्यक्ष दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं। सब विषय भगवत्प्राप्तिमें स्पष्ट बाधक दीखते हैं।

जो स्त्री पुत्रादि अज्ञानीकी दृष्टिमें रमणीय सुखप्रद प्रतीत होते हैं, वही उसकी दृष्टिमें घृणित और दुःखप्रद प्रतीत होने लगते हैं*। धन-मकान, रूप-यौवन, गाड़ी-मोटर, पद-गौरव, शान-शौकीनी, विलासिता, सजावट आदि सभीमें उसकी विषवत् बुद्धि हो जाती है और उनका संग उसे साक्षात् कारागारसे भी अधिक बन्धनकारक, दुःखदायी तथा घृणास्पद बोध होने लगता है। मान बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा, सत्कार-सम्मान आदि-से वह इतना डरता है, जितना साधारण मनुष्य सिंह-व्याघ्र, भूत-प्रेत और यमराजसे डरते हैं। जहां उसे सत्कार, पूजा या सम्मान मिलनेकी किञ्चित् भी सम्भावना होती है, वहां जानेमें उसे बड़ा भय मालूम होता है। अतः ऐसे स्थानोंको वह दूरसे ही त्याग देता है। जिन प्रशंसा-प्रतिष्ठा, मान-सम्मानकी प्राप्तिमें साधारण मनुष्य फूले नहीं समाते, उन्हींमें उसको लज्जा, सङ्कोच और

* इससे कोई यह न समझे कि स्त्री पुत्रादिसे व्यवहारमें घृणा करनी चाहिये। गृहस्थ साधकको सबसे यथायोग्य प्रेमका बर्ताव करते हुए मनमें वैराग्यकी भावना रखनी चाहिये।

दुःख होता है, वह उनमें अपना अधःपतन समझता है ? हम लोग जिस प्रकार अपवित्र और घृणित पदार्थोंको देखनेमें हिचकते हैं, उसी प्रकार वह मान-बड़ाईसे घृणा करता है। किसीको भी प्रसन्न करने या किसीके भी दबावसे वह मान-बड़ाई स्वीकार नहीं करता। उन्हें वह प्रत्यक्ष नरक तुल्य प्रतीत होते हैं। जो लोग उसे मान-बड़ाई देते हैं, उनके सम्बन्धमें वह यही समझता है कि यह मेरे भोले भाई मेरी हित कामनासे विपरीत आचरण कर रहे हैं। 'भोले साजन शत्रु बराबर' वाली उक्ति चरितार्थ करते हैं। इसलिये वह उनकी क्षणिक प्रसन्नताके लिये उनका आग्रह भी स्वीकार नहीं करता। वह जानता है कि इसमें इनका तो कोई लाभ नहीं है और मेरा अधःपतन है। पक्षान्तरमें स्वीकार न करनेमें न दोष है न हिंसा है, और इस कार्यके लिये इन लोगोंके इस आग्रहसे बाध्य होना धर्मसम्मत भी नहीं है। धर्म तो उसे कहते हैं जो इसलोक और परलोकमें कल्याण-कारी हो। जो लोक परलोक दोनोंमें अहित करता हैं वह कल्याण नहीं, अकल्याण ही है। पुरस्कार नहीं महान विपद ही है। माता पिता मोहवश बालकके क्षणिक सुखके लिये उसे कुपथ्य सेवन कराकर अन्तमें बालकके साथ ही स्वयं भी दुःखी होते हैं इसी प्रकार यह भोले भाई भी तत्त्व न समझनेके कारण मुझे इस पापपथमें ढकेलना चाहते हैं। समझदार बालक मातापिताके आग्रहको नहीं मानता तो वह दोषी नहीं होता। परिणाम देखकर या विचारकर मातापिता भी नाराज नहीं होते। इसी प्रकार विचार करनेपर ये भाई भी नाराज नहीं होंगे। यों समझकर वह किसीके द्वारा भी प्रदान की हुई मान बड़ाई स्वीकार नहीं करता। वह समझता है कि इसके स्वीकारसे मैं अनाथकी भांति मारा जाऊंगा। इतना त्याग मुझमें नहीं है कि दूसरोंकी जरासी खुशीके लिये मैं अपना सर्वनाश कर डालूं। त्याग बुद्धि हो, तो भी विवेक ऐसे त्यागको बुद्धिमानी या उत्तम नहीं बतलाता। जो सरलचित्त भाई अज्ञानसे साधकोंको इस प्रकार मान-बड़ाई स्वीकार करनेके लिये बाध्यकर उन्हें महान् अन्धकार और दुःखके गड्ढेमें ढकेलते हैं परमात्मा उन्हें सद्बुद्धि प्रदान करें जिससे वे साधकोंको इस तरह विपत्तिके भँवरमें न डालें।

साधनद्वारा इस प्रकारकी विवेकयुक्त भावनाओंसे भोगोंके प्रति जो वैराग्य होता है वह साधनद्वारा होनेवाला वैराग्य है। इस तरहके वैरागी पुरुषको संसारके स्त्री, पुत्र, मान, बड़ाई, धन ऐश्वर्य आदि उसी प्रकार कान्तिहीन और नीरस प्रतीत होते हैं जैसे प्रकाशमय सूर्य-देवके उदय होनेपर तारे प्रतीत हुआ करते हैं!

परमात्मतत्त्वके ज्ञानसे होनेवाला वैराग्य–जब साधकको परमात्माके तत्त्वकी कुछ उपलब्धि हो जाती है तब तो संसारके सम्पूर्ण पदार्थ उसे स्वतः ही रसहीन और मायामात्र प्रतीत होने लगते हैं। फिर उसे भगवत्तत्त्वके अतिरिक्त किसीमें अन्य कुछ भी सार नहीं प्रतीत होता। जैसे मृग-तृष्णाके जलको मरीचिका जान लेनेपर उसमें जल नहीं दिखायी देता, जैसे नींदसे जगनेपर स्वप्नको स्वप्न समझ लेनेपर स्वप्नके संसारका चिन्तन करनेपर भी उसमें सत्ता नहीं मालूम होती, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुषको जगत्के पदार्थोंमें सार और सत्ताकी प्रतीति नहीं होती। चतुर बाजीगरद्वारा निर्मित रम्य बगीचेमें अन्य सब मोहित होते हैं परन्तु जैसे उसका मर्मज्ञ-तत्त्व जाननेवाला जमूरा उसे मायामय और निस्सार समझकर मोहित नहीं होता, (हाँ, अपने मायापति मालिककी लीला देख देखकर आह्लादित अवश्य होता है) इसी प्रकार इस श्रेणीका वैरागी पुरुष भी विषय भोगोंमें मोहित नहीं होता।

इस प्रकारके वैराग्यवान् पुरुषकी संसारके किसी भोग-पदार्थमें आस्था ही नहीं होती, तब उनमें रमणीयता और सुखकी भ्रान्ति तो हो ही

कैसे सकती है? ऐसा ही पुरुष परमात्माके परमपदका अधिकारी होता है! इसीको पर वैराग्य या दृढ़ वैराग्य कहते हैं!

वैराग्य प्राप्तिके उपाय

उपर्युक्त विवेचनपर विचारकर साधकोंको चाहिये कि आरम्भमें वे संसारके विषयोंको परिणाममें हानिकर मानकर भयसे या दुःखरूप समझकर घृणासे ही उनका त्याग करें। अवश्य ही दम्भसे सदा बचे रहना चाहिये। बारम्बार वैराग्यकी भावनासे, त्यागके महत्त्वका मनन करनेसे, जगत्‌की यथार्थ स्थितिपर विचार करनेसे, मृतपुरुषों, सूने महलों, टूटे मकानों और खंडहरोंको देखने सुननेसे, प्राचीन नरपतियोंकी अन्तिम गतिपर ध्यान देनेसे और विरक्त विचारशील पुरुषोंका संग करनेसे ऐसी दलीलें हृदयमें स्वयमेव उठने लगती हैं, जिनसे विषयोंके प्रति विराग उत्पन्न होता है। पुत्र परिवार, धन मकान, मान बड़ाई, कीर्ति-कान्ति आदि समस्त पदार्थोंमें निरन्तर दुःख और दोष देख देखकर उनसे मन हटाना चाहिये। भगवान्‌ने कहा है—

> इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
> जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
> असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु॥
> (गीता १३। ८-९)

इसलोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहङ्कारका भी अभाव एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख दोषोंका बारम्बार विचार करना तथा पुत्र स्त्री घर और धनादिमें आसक्ति और ममताका अभाव करना चाहिये।

विचार करनेपर ऐसी और भी अनेक दलीलें मिलेंगी जिनसे संसारके समस्त पदार्थ दुःखरूप प्रतीत होने लगेंगे। योगदर्शनका सूत्र है—

> परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति-
> विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।
> (साधनपाद १५)

परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख-से मिश्रित होने और गुण वृत्ति विरोध होनेसे विवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें समस्त विषय सुख दुःख-रूप ही हैं। अब यहां इसका कुछ खुलासा कर दिया जाता है—

परिणामदुःखता–जो सुख आरम्भमें सुखरूप प्रतीत होनेपर भी परिणाममें महान् दुःखरूप हो, वह सुख परिणामदुःखता कहलाता है। जैसे रोगीके लिये आरम्भमें जीभको स्वाद लगनेवाला कुपथ्य! वैद्यके मना करनेपर भी इन्द्रियासक्त रोगी आपात-सुखकर पदार्थको स्वादवश खाकर अन्तमें दुःख उठाता, रोता चिल्लाता है, इसीप्रकार विषयसुख आरम्भमें रमणीय और सुखरूप प्रतीत होनेपर भी परिणाममें महान् दुःखकर है। भगवान् कहते हैं–

> विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
> परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
> (गीता १८। ३८)

जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है वह यद्यपि भोगकालमें अमृतके सदृश भासता है परन्तु परिणाममें वह (बल, वीर्य, बुद्धि, धन, उत्साह और परलोकका नाशक होने-से) विषके सदृश है, इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।

दादकी खाज खुजलाते समय बहुत ही सुखद मालूम होती है। परन्तु परिणाममें जलन होने-पर वही महान् दुःखद होजाती है। यही विषय सुखोंका परिणाम है। इसलोक और परलोकके सभी विषय सुख परिणामदुःखताको लिये हुए हैं। बड़े पुण्यसञ्चयसे लोगोंको स्वर्गकी प्राप्ति

होती है परन्तु 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।' वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं । इसीलिये गुसाईंजी महाराजने कहा है—

एह तनुकर फल विषय न भाई ।
स्वरगउ स्वल्प अन्त दुखदाई ॥

तापदुःखता—पुत्र, स्त्री, स्वामी, धन, मकान आदि सभी पदार्थ हर समय ताप देते जलाते रहते हैं । कोई विषय ऐसा नहीं है जो विचार करनेपर जलानेवाला प्रतीत न हो । इसके सिवा जब मनुष्य अपनेसे दूसरोंको किसी भी विषयमें अधिक बढ़ा हुआ देखता है तब अपने अल्प सुखके कारण उसके हृदयमें बड़ी जलन होती है । विषयोंकी प्राप्ति, उनके संरक्षण और नाशमें भी सदा जलन बनी ही रहती है । कहा है—

अर्थानामर्जने दुःखं तथैव परिपालने ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं क्लेशकारिणम् ॥

धन कमानेमें कई तरहके सन्ताप, उपार्जन हो जानेपर उसकी रक्षामें सन्ताप, कहीं किसीमें डूब न जाय, इस चिन्तालयमें सदा ही जलना पड़ता है, नाश होजाय तो जलन, खर्च होजाय तो जलन, छोड़कर मरनेमें जलन, मतलब यह कि; आदिसे अन्ततक केवल सन्ताप ही रहता है । यही हाल पुत्र, मान बड़ाई आदिका है ! सभीमें प्राप्तिकी इच्छासे लेकर वियोगतक सन्ताप बना रहता है ! ऐसा कोई विषय-सुख नहीं जो सन्ताप देनेवाला न हो !

संस्कारदुःखता—आज स्त्री-स्वामी, पुत्र-परिवार, धन-मानादि जो विषय प्राप्त हैं उनके संस्कार हृदयमें अंकित हो चुके हैं । इसलिये उनके समाप्त होनेपर संस्कारवश उन वस्तुओंका अभाव महान् दुःखदायी होता है । मैं कैसा था, मेरा पुत्र सुन्दर सुडौल और आज्ञाकारी था, मेरी स्त्री कितनी सुशीला थी, मेरे पतिसे मुझे कितना सुख मिलता था, मेरी बड़ाई जगत्‌भरमें छा रही थी, परन्तु आज मैं क्यासे क्या होगया ? मैं सब तरहसे दीन हीन होगया, यद्यपि उसीके समान जगत्‌में लाखों करोड़ों मनुष्य आरम्भसे ही इन विषयोंसे रहित हैं परन्तु उनको अभावका अनुभव न होनेसे वे ऐसे दुःखी नहीं हैं । जिसके विषय भोगोंकी बाहुल्यताके समय सुखोंके संस्कार होते हैं उसे ही उनके अभावकी प्रतीति होती है । अभावकी प्रतीतिमें दुःख भरा हुआ है । यही संस्कार दुःखता है ।

इसके सिवा यह बात भी सर्वथा ध्यानमें रखनी चाहिये कि संसारके सभी विषय सभी अवस्थामें दुःखसे मिश्रित हैं ।

गुणवृत्तियोंके विरोधजन्य दुःख—एक मनुष्यको कुछ झूठ बोलने या छल कपट, विश्वासघात करनेसे दस हजार रुपये मिलनेकी सम्भावना प्रतीत होती है । उस समय उसकी सात्त्विक वृत्ति कहती है 'पाप करके रुपये नहीं चाहिये भीख मांगना या मर जाना अच्छा है परन्तु पाप करना उचित नहीं ।' उधर लोभमूलक राजसी वृत्ति कहती है "क्या हर्ज है ? एकबार तनिकसे झूठ बोलनेमें आपत्ति ही कौनसी है ? जरासे छल कपट या विश्वासघातसे क्या होगा ? एक बार ऐसा करके रुपये कमाकर दरिद्र मिटा लें, भविष्यमें ऐसा नहीं करेंगे ।"

यों सात्त्विकी और राजसी वृत्तिमें महान् युद्ध मच जाता है, इस झगड़ेमें चित्त अत्यन्त व्याकुल और किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठता है । विषाद और उद्विग्नताका पार नहीं रहता ।

इसीतरह राजसी तामसी वृत्तियोंका झगड़ा होता है । एक मनुष्य शतरंज या ताश खेल रहा है । उधर उसके समयपर न पहुंचनेसे घरका आवश्यक काम बिगड़ता है । कर्ममें प्रवृत्त करानेवाली राजसी वृत्ति कहती है "उठो,

चलो हर्ज हो रहा है, घरका काम करो।" इधर प्रमाद रूपा तामसी वृत्ति पुनः पुनः उसे खेलकी ओर खींचती है, वह बेचारा इस दुविधामें पड़कर महान् दुखी हो जाता है।

उदाहरणके लिये दो दृष्टान्त पर्याप्त हैं।

इस प्रकार विचार करनेसे यह स्पष्ट विदित होता है कि संसारके सभी सुख दुःखरूप हैं। अतएव इनसे मन हटानेकी भरपूर चेष्टा करनी चाहिये।

उपर्युक्त भयसे और विचारसे होनेवाले दोनों प्रकारके वैराग्योंको प्राप्त करनेके यही उपाय हैं। यह उपाय पूर्वापेक्षा उत्तम श्रेणीके वैराग्य सम्पादनमें भी अवश्य ही सहायक होते हैं। परन्तु इससे अगले दोनों वैराग्योंकी प्राप्तिमें निम्नलिखित साधन विशेष सहायक होते हैं।

परमात्माके नाम जप और उनके स्वरूपका निरन्तर स्मरण करते रहनेसे हृदयका मल ज्यों ज्यों दूर होता है त्यों त्यों उसमें उज्ज्वलता आती है। ऐसे उज्ज्वल और शुद्ध अन्तःकरणमें वैराग्यकी लहरियां उठती हैं जिनसे विषयानुराग मनसे स्वयमेव ही हट जाता है। इस अवस्थामें विशेष विचारकी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे मैले दर्पणको रूईसे घिसनेपर ज्यों ज्यों उसका मल दूर होता है त्यों ही त्यों वह चमकने लगता है और उसमें मुखका प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखलायी पड़ता है, इसी प्रकार परमात्माके भजन ध्यानरूपी रूईकी चालू रगड़से अन्तःकरण-रूपी दर्पणका मल दूर होनेपर वह चमकने लगता है और उसमें सुखस्वरूप आत्माका प्रतिबिम्ब दीखने लगता है; ऐसी स्थितिमें जरासा भी बाकी रहा हुआ विषय मलका दाग साधकके हृदयमें शूलसा खटकता है। अतएव वह उत्तरोत्तर अधिक उत्साहके साथ उस दागको मिटानेके लिये भजन ध्यानमें तत्पर होकर अन्तमें उसे सर्वथा मिटाकर ही छोड़ता है। ज्यों ज्यों भजन ध्यानसे अन्तःकरणरूपी दर्पणकी सफाई होती है त्यों ही त्यों साधककी आशा और उसका उत्साह बढ़ता रहता है, भजन ध्यानरूपी साधन तत्त्व न समझनेवाले मनुष्यको ही भाररूप प्रतीत होता है। जिसको इसके तत्त्वका ज्ञान होने लगा है, वह तो उत्तरोत्तर आनन्दकी उपलब्धि करता हुआ पूर्णानन्दकी प्राप्तिके लिये भजन ध्यान बढ़ाता ही रहता है। उसकी दृष्टिमें विषयोंमें दीखनेवाले विषयसुखको कोई सत्ता ही नहीं रह जाती। इससे उसे दृढ़ वैराग्यकी बहुत शीघ्र प्राप्ति हो जाती है। भगवान्ने इस दृढ़ वैराग्यरूपी शस्त्र-द्वारा ही अहंता ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलवाले संसाररूप अश्वत्थ वृक्षको काटनेके लिये कहा है।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥

(गीता १५।३)

संसारके चित्रको सर्वथा भुला देना ही इस अश्वत्थ वृक्षका छेदन करना है। दृढ़ वैराग्यसे यह काम सहज ही हो सकता है।

भगवान् कहते हैं।—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं,
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये,
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

(गीता १५।४)

इसके उपरान्त उस परमपदरूप परमेश्वरको अच्छी प्रकार खोजना चाहिये, (उस परमात्माके विज्ञान आनन्दघन "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" का बारम्बार चिन्तन करना ही उसे ढूंढ़ना है) जिसमें गये हुए पुरुष फिर वापस संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे यह पुरातन संसार वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है उसी आदि पुरुष नारायणके मैं शरण हूं (उस परमपदके स्वरूपको पकड़ लेना—उसमें स्थित

हो जाना ही उसकी शरण होना है) इसप्रकार दृढ़ निश्चय करनेपर—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥

(गीता १५ । ५)

—नष्ट हो गया है मान और मोह जिनका तथा जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिन्होंने और परमात्माके स्वरूपमें है निरन्तर स्थिति जिनकी तथा अच्छी तरह नष्ट हो गयी है कामना जिनकी, ऐसे वे सुखदुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त हुए ज्ञानीजन, उस अविनाशी परम पदको प्राप्त होते हैं ।

वैराग्यका फल

बस, इसप्रकार एक परमात्माका ज्ञान रह जाना ही अटल समाधि या जीवन्मुक्त अवस्था है, उसीके यह लक्षण हैं । तदनन्तर ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष संसारमें किसप्रकार विचरते हैं, उनकी कैसी स्थिति होती है इसका विवेचन गीताके अध्याय १२ के श्लोक १३ से १९ तक निम्नलिखित रूपमें है। भगवान् उनके लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतःस्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

"इसप्रकार शान्तिको प्राप्त हुआ जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित एवं स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित एवं अहङ्कारसे रहित, सुख दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपना अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है । जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ, निरन्तर लाभ हानिमें सन्तुष्ट है, मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है । जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता एवं जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह मुझे प्रिय है । जो पुरुष आकांक्षासे रहित, बाहर भीतरसे शुद्ध, चतुर है अर्थात् जिस कामके लिये आया था उसको पूरा कर चुका है एवं पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, वह सब आरम्भोंका त्यागी अर्थात् मन वाणी शरीरद्वारा प्रारब्धसे होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी मेरा भक्त मुझे प्रिय है । जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोच करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है । जो पुरुष शत्रु मित्र, मान अपमान, सर्दी गर्मी और सुख दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और सब संसारमें आसक्तिसे रहित है तथा जो निन्दा स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला है

एवं जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममतासे रहित है, वह स्थिर बुद्धिवाला, भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।"

अतएव इस असार संसारसे मन हटाकर इसलोक और परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्यवान् होकर सबको परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये!

प्रेमकी पराकाष्ठा

जगाई माधाई-उद्धार

श्रीचैतन्यदेवने हरिनाम वितरण करनेके लिये श्रीहरिदास और श्रीनित्यानन्दको विशेषरूपसे आदेश दिया। प्रभुने कहा, 'इस नवद्वीपके घर घरमें मूर्ख पण्डित, साधु असाधु, ब्राह्मण चाण्डाल सभीको हरिनाम दो और उनका उद्धार करो।' दोनों ही भक्त इस काममें भलीभांति निपुण थे क्योंकि प्रथम तो ये परम दयालु और शक्तिसञ्चार करनेमें समर्थ थे। दूसरे दोनों ही संन्यासी थे। नवद्वीपमें नित्य नियमसे हरिनाम बंटने लगा। हरिदास और नित्यानन्द प्रातःकाल किसी गृहस्थके दरवाजेपर जाकर खड़े हुए, गृहस्थने तेजपुंज संन्यासियोंको देखकर जब भीख देनी चाही तब वे दोनों कहने लगे 'तुम लोग कृष्ण कृष्ण कहो, कृष्णका भजन करो—हमारी यही भीख है।" इतना कहकर भीख बिना लिये ही दूसरे घर चले गये। इसी तरह घर घर नाम प्रचार करने लगे।

उस समय जगन्नाथ और माधव नामक दो ब्राह्मण भाई नवद्वीपमें निवास करते थे, एक तरहसे वे नगरके मालिक थे। धनसे काजीको वशमें कर दोनों भाई नवद्वीपमें यथेच्छाचरण करते थे इन्हें धर्माधर्मका कोई ज्ञान नहीं था, ये सदा शराबमें मतवाले रहा करते थे। जरासी बात पर खून कर डालना और मनमाने डाके डालना इनके बायें हाथका खेल था। इनके पास बड़ी सेना थी, जिससे बलमें कोई इनसे बढ़कर नहीं था। नवद्वीपनिवासी प्रायः विद्या चर्चामें ही लगे रहते, इससे वे सब इनके प्रतीकारका कोई उपाय न कर चुपचाप अत्याचार सहा करते थे। यह दोनों भाई जगाई माधाईके नामसे विख्यात थे।

एक दिन नित्यानन्दने हरिदाससे कहा, 'चलो भाई! आज उन दोनों भाइयोंको भी प्रभुका आदेश सुनावें। सुनेंगे तो अच्छी बात है, नहीं तो अपना कुछ बिगड़ता नहीं।' यों सलाह करके दोनों जा पहुंचे। वहां दोनों भाई शराबसे मतवाले हुए बैठे थे। नित्यानन्दने जाते ही कहा 'कृष्ण कहो, कृष्ण भजो। हमें यही भीख दो।' यह सुनते ही उन दोनोंके क्रोधका पारा बहुत चढ़ गया। उन्होंने कहा; ठीक! क्या प्राणोंका डर नहीं है जो हमारे सामने इतनी बड़ी बड़ी बातें करते हो, पकड़ो तो कोई इन दोनों पाखण्डियोंको।' इतना कहकर स्वयं ही उन्हें पकड़नेको दौड़े। नित्यानन्द हरिदास जोरसे भाग छूटे। नगरके विरोधी लोग हंसते हुए कहने लगे "आज खूब हुई पाखण्डियोंमें।"

महाप्रभुके पास पहुंचकर उन्होंने सारी

कथा आद्योपान्त सुनायी। तदनन्तर नित्यानन्द कहने लगे "साधुसे तो कृष्ण नाम सभी कहला सकते हैं। जगाई माधाईके मुखसे कृष्ण नाम कहला सकें, तभी तुम्हारी बड़ाई है। इन दोनों भाइयोंका उद्धार करके जगत्‌में अपनी दयाका परिचय तुम्हें देना पड़ेगा।" प्रभु हंसकर कहने लगे, "श्रीपाद! जब तुम उन दोनोंकी कल्याण कामना करते हो तब अवश्य ही उनका उद्धार होगा।" प्रभुके इन वचनोंसे भक्तोंने समझ लिया कि अब जगाई माधाईका उद्धार हो गया। आनन्दसे भक्तगणोंने हरिध्वनिसे आकाश गुंजा दिया।

श्रीवासके घर कीर्तन हो रहा था। कीर्तनका शब्द सुनकर जगाई माधाई देखने आये, दोनों ही शराब पीकर पागल हो रहे थे। दरवाजा बन्द था इससे अन्दर नहीं जा सके। बाहर खड़े हुए भीतरसे आती हुई हरिध्वनि सुनने लगे। शराबके नशेमें दोनों नाचने लगे। सारी रात यों ही नाचते बीती। प्रातःकाल कीर्तन समाप्तकर जब भक्तोंने गंगाजी जानेके लिये दरवाजा खोला तो सामने जगाई माधाई नाचते हुए दिखायी दिये। सरलचित्त भक्त डर गये। श्रीचैतन्य एक बगलसे जाने लगे तब उन दोनोंने नशेमें ही पुकारकर कहा, "निमाई पण्डित! यह तुम्हारा क्या सम्प्रदाय है? क्या मंगलचण्डीके गीत गाते हो, तुम्हारा गान सुनकर हम बहुत सन्तुष्ट हैं। एक दिन हमारे घर भी इसीतरह गान करना होगा। श्रीचैतन्यने कोई उत्तर नहीं दिया और सबके साथ गंगास्नानके लिये चले गये।

दुपहरके समय नित्यानन्दजी प्रभुसे कहने लगे, प्रभो! साधुओंका उद्धार तो सभी कर सकते हैं। आज जगत्‌में सबसे दीन हीन जगाई माधाई हैं। इनका उद्धार करके पतितपावन नामको सार्थक करो।" नित्यानन्दने दूसरे सब भक्तोंको पहलेसे ही गांठ रखा था अतएव सभीने जगाई माधाईके उद्धारके लिये प्रभुसे प्रार्थना की।

प्रभुने कहा, "जब तुम सभी उनकी कल्याण कामना करते हो, तब श्रीकृष्ण उनका उद्धार शीघ्र करेंगे। उनकी पाप कथाएं याद आते ही हृदय सूखने लगता है। भविष्यमें मिलनेवाले पापोंके फलको विचारकर हृदय घबरा उठता है। ऐसे कठिन रोगकी एकमात्र औषध श्रीहरिका नाम है। अतएव जाओ! सब भक्तोंको बुला लाओ। सभी एक साथ कीर्तन करते करते जाकर उनको हरिनाम देंगे। आज जगत् देखेगा, हरिनाममें कितनी शक्ति है।"

भक्तगण एकत्र हो गये। नगर कीर्तनकी तैयारी हुई। श्रीचैतन्यका यही पहला नगर कीर्तन था। इससे पहले बाहरके लोगोंने कभी चैतन्यका कीर्तन नहीं देखा था। भक्तोंमें किसीके हाथमें खोल है, किसीके करताल है, किसीके शंख है, किसीने भेरी ले रक्खी है। पैरोंमें सबने घुंघरू बांध लिये हैं। सन्ध्याका समय है। श्रीनित्यानन्द, श्रीअद्वैताचार्य, श्रीवास, गदाधर, हरिदास, मुरारि, मुकुन्द और नरहरि आदि सभी भक्त कीर्तन करते हुए चल रहे हैं। श्रीचैतन्यदेव बीचमें हैं, आनन्दसे उनका शरीर डगमगा रहा है, आंखोंकी पलक पड़नी बन्द हो गयी है, प्रेमाश्रुओंकी पिचकारी छूट रही है, अनेक प्रकारसे भाव बता बताकर प्रभु नृत्य कर रहे हैं, उनके प्रत्येक अङ्गसे मानो अमृत बरस रहा है। भक्तगण उन्हें घेरकर कीर्तन करते हुए नाचते जा रहे हैं। श्रीनित्यानन्दजी सबसे आगे हैं। वे जगाई माधाईकी दुर्दशा आंखों देख चुके हैं। उन लोगोंके दुःखसे नित्यानन्दका हृदय विदीर्ण हो गया था। आज प्रभुको तैयार करके वे कमर कसकर दोनों भाइयोंका उद्धार करने जा रहे हैं। आज नित्यानन्दके गौरव और आनन्दकी सीमा नहीं है।

जगाई माधाई भर रात शराब पीकर इस समय नींदमें बेहोश पड़े हैं। शाम हो गयी है परन्तु अभी वे सोकर नहीं उठे हैं। कीर्तनकी आकाशव्यापी

ध्वनिसे उनकी नींद टूटी। हो हल्लेसे चिढ़कर उन्होंने पहरेदारसे कहा " जा! कौन हल्ला कर रहे हैं? उन्हें रोक दे जिससे हमारे सोनेमें बाधा न हो।" पहरेदारने जाकर कीर्तनमें उन्मत्त भक्तोंसे यह बात कही। पर वहां उसकी कौन सुनता था। भक्तगण और भी उच्चस्वरसे कीर्तन करने लगे। उसने लौटकर अपने मालिकोंसे कहा, "सरकार! निमाई पण्डित कीर्तन करते हुए इधर चले आ रहे हैं। मेरी बात किसीने नहीं सुनी।"

इस समय जगाई माधाईका नशा उतरा हुआ था, पहरेदारके मुंहसे आज्ञा न माननेकी बात सुनकर दोनों क्रोधसे भर उठे। कपड़े पहनते पहनते ही उठकर दौड़े। लाल लाल आंखें करके कहने लगे 'आज नदियाके इन सब वैष्णवोंका नाश कर देना है!'

भक्तगणोंने उन्हें आते देखा, परन्तु आज किसीको कोई भय नहीं हुआ, कीर्तन और नृत्य अधिक उत्साहसे होने लगा। इससे जगाई माधाईकी क्रोधाग्निमें मानों घृतकी आहुति पड़ गयी। हरिनामसे तो उनकी स्वाभाविक चिढ़ थी, दोनों भाई भक्तोंको मारने दौड़े। नित्यानन्द सबसे आगे थे, इससे सबसे पहले वही इनके सामने पड़े। उन लोगोंको क्रोधके आवेशमें सामने आते देखकर भी नित्यानन्दको भय या क्रोध नहीं हुआ, वरन् उनकी इस दशापर निताईको बड़ी दया आई। उनकी छाती फटने लगी। उन दोनों भाइयोंकी दुर्गति देखकर उनकी ओर देखते हुए वे रोने लगे। दीनदयार्द्रचित्त नित्यानन्द बड़ी ही करुणा भरी नजरसे उनकी ओर देख देखकर आंसू बहा रहे थे परन्तु इससे उन दोनों भाइयोंका हृदय द्रवित नहीं हुआ, उसमें नरमी नहीं आयी प्रत्युत उनका क्रोध और भी बढ़ा। नित्यानन्दने दोनों भाइयोंको सामने आया देखकर और माधाईकी अपेक्षा जगाईको कुछ भला जानकर रोते रोते गद्गद स्वरसे कहा "जगाई! हरि बोलो, एकबार हरिनाम उच्चारणकर-मुझे खरीद लो।" नित्यानन्दके इन शब्दोंने जगाईके हृदयको कुछ स्पर्श किया, वह चुप होकर खड़ा हो गया। परन्तु माधाईका हृदय बहुत ही कठोर था। अतः उसका मन नहीं पसीजा, वह क्रोधसे कांपने लगा। क्रोधान्ध माधाईको वहां और तो कुछ नहीं मिला, एक फूटे घड़ेका गलौवा पड़ा था उसे उठाकर नित्यानन्दके सिरपर जोरसे मारा। उन्हें गहरी चोट लगी, खूनकी पिचकारी छूट गयी। नित्यानन्द हरिनाम ले लेकर जोरसे नाचने लगे।

नित्यानन्द इसी आनन्दमें नाच रहे थे कि अब निश्चय ही इनका उद्धार हो जायगा। वे बारम्बार 'गौर गौर' पुकारने लगे। माधाई तो क्रोधमें पागल हो रहा है, एक बारकी मारसे उसे सन्तोष नहीं हुआ, उसने फिर घड़ेका गलौवा उठाकर मारना चाहा, पर उसी समय जगाईने उसका हाथ पकड़कर कहा, "भाई! क्या करते हो? इस विदेशी संन्यासीको मारनेमें तुम्हारा कौनसा पौरुष प्रकट होगा? और इसमें लाभ ही क्या है!"

नित्यानन्दने नाचते नाचते कहा, "मुझे तुमने मारा, अच्छा किया, मैं मारकी चोट सह सकता हूं परन्तु तुम लोगोंकी दुर्गति मुझसे नहीं सही जाती। भाई! मुझे मारनेमें कोई नुकसान नहीं है, एकबार मुखसे मधुर हरिनाम तो बोलो।"

इतनेमें ही एक भक्तने जाकर प्रेमोन्मत्त चैतन्यको निताईके चोट लगनेकी खबर दी, सुनते ही चैतन्य दौड़कर वहां आगये और निताईको पकड़ लिया। बड़े प्रेमसे प्रभुने नित्यानन्दको गोदमें बैठाया और वे अपने कपड़ेसे उनका खून पोंछने लगे। तदनन्तर उन्होंने कातरस्वरसे माधाईको सम्बोधन करके कहा "माधाई! तूने मेरे प्राणप्यारे निताईको किस लिये मारा?" यह कहते कहते प्रभुको क्रोध आगया, वे दोनों भाइयोंसे कहने लगे-"अरे पापात्माओ! इतने पाप करके भी तुम लोगोंको पापतृष्णा अभी शान्त

नहीं हुई ? अब भी पापोंसे अलग होनेकी इच्छा नहीं हुई ? जीवनभर पापोंमें लगे रहकर आज श्रीनित्यानन्दको चोट पहुंचाकर तुम लोगोंने आज पापव्रतकी कौनसी स्थापना की है ?

जगाई माधाईने आज तक किसीके सामने सिर नहीं झुकाया था। इस समय वे दोनों भाई अपने घरके सामने अनेक शस्त्रधारी रक्षकोंसे घिरे हुए थे। वे चाहते तो इशारेसे ही भक्तोंको मरवा सकते। एकतरहसे वे नवद्वीपके राजा थे। इतनेपर भी वे आज निमाई पण्डित (चैतन्य) के ऐसे कठोर वचन चुपचाप क्यों सह रहे हैं ? इसका कारण यह है कि जगाई तो पहलेसे ही नरम हो गया था, प्रभुको देखते ही माधाईमें भी इतनी शिथिलता आगयी कि उसमें हाथ पैर हिलानेकी शक्ति भी जाती रही। प्रभु फिर कहने लगे, "रे पापात्माओ ! नित्यानन्दने तुम लोगोंका क्या बिगाड़ा था, तुमने उन्हें क्यों मारा ? इस विदेशी संन्यासीको मारते तुम्हारे मनमें तनिकसी भी दया नहीं आयी ? तुम लोगोंके और त्रिभुवनके परम सुहृद्, क्रोध और अभिमानशून्य नित्यानन्दको घायलकर आज तुम लोगोंने अपने पापका घड़ा पूरा भर लिया है, अब दण्ड सहनेके लिये तैयार हो जाओ !"

जैसे खूनी मनुष्य हाकिमके सामने उसके मुंहकी ओर ताकता हुआ कांपा करता है, उसीप्रकार वे दोनों भाई आज क्या दण्ड होगा, इस बातकी चिन्ता करते हुए प्रभुके मुखकी ओर देख देखकर कांपने लगे। उनके मनमें यह विश्वास हो गया कि हम बड़े अपराधी हैं और प्रभु हमें दण्ड देनेमें सर्वथा समर्थ हैं। इतनेमें प्रभुने उच्चस्वरसे 'चक्र' 'चक्र' पुकारा। यह देखकर सभी स्तम्भित होगये। मुरारीगुप्तके शरीरमें हनुमानका आवेश हुआ करता था। उसने गरजकर कहा "प्रभु ! चक्रको क्यों स्मरण करते हैं, मुझे अनुमति दें। मैं अभी इन दोनोंको यमसदन पहुंचा देता हूं।"

यह सब देख सुनकर नित्यानन्द अपनी चोटकी वेदना भूल गये। उन्होंने मुरारीके दोनों हाथ पकड़कर कहा, "भाई ! क्षमा कर।" इतनेमें पीछेकी तरफ देखा तो उन्हें दिखायी दिया, मानों सुदर्शन चक्र अग्निका आकार धारणकर जगाई माधाईकी ओर बढ़ रहा है। नित्यानन्द अत्यन्त व्याकुल होकर हाथ जोड़कर कहने लगे। "सुदर्शन ! क्षमा करो, इन दोनों भाइयोंको न मारो, मैं प्रभुके चरण पकड़कर इनके लिये अभी प्राण भिक्षा लेता हूं।" इतना कहकर वे प्रभुके चरणोंपर गिर पड़े और बोले। प्रभो ! क्या कर रहे हो, क्या सब भूल गये ? इसबार तो तुम्हें किसीको दण्ड देनेका अधिकार नहीं है। अबकी बार तो भक्ति और करुणाके रसमें डुबाकर ही मलिन जीवोंका उद्धार करनेकी बात हुई थी न ? जो दुष्ट हैं, उन्हींका बध करोगे तो फिर उद्धार किसका करोगे ?"

नित्यानन्द इस तरह कह रहे हैं, जगाई, माधाई, भक्तगण और उपस्थित नागरिक चुपचाप देख सुन रहे हैं। निताई फिर कहने लगे—

"प्रभो ! इन दोनोंके प्राणोंकी मुझे भीख दो ! मैं इन दोनों जीवोंको पाकर तुम्हारे दीनबन्धु और पतितपावन प्रभृति नामोंकी महिमा रक्खूंगा।" यह सुनकर भी चैतन्य कोमल नहीं हुए। प्रभुकी यह अवस्था देखकर नित्यानन्द फिर कहने लगे— "प्रभो ! मेरे सिरमें मामूली चोट लगी थी, वह भी दैवात् लग गयी थी। जगाई माधाई तो मुझे केवल डराना चाहते थे। मुझे मारना इनका उद्देश्य नहीं था। मैं सच कहता हूं, मुझे जरासा भी दुःख नहीं हुआ। प्रभो ! अब इस मायाको छोड़ो, तुम इस समय जो कुछ कर रहे हो, सो केवल मेरा गौरव और मान बढ़ानेके लिये कर रहे हो। प्रभो ! मेरे मानको धूलमें मिल जाने दो। अपने अभयचरणोंमें इन दोनों महान् दुःखी जीवोंको स्थान दो !" इतना कहकर नित्यानन्द बड़े ही करुण भावसे रोने लगे।

इतना सब होनेपर भी चैतन्य नरम नहीं पड़े। तब नित्यानन्दने कहा, "प्रभो! एक बात और है। तुम इन दोनोंको तो दण्ड दे ही नहीं सकते। कारण जगाईने स्वयं मेरे प्राण बचाये हैं।" इतना सुनते ही प्रभुका कठोर भाव जाता रहा। वह कहने लगे, "हैं! क्या जगाईने तुम्हारे प्राण बचाये हैं?" निताईने कहा, "माधाई जब दूसरी बार मुझे मारनेको तैयार हुआ तब जगाईने ही उसे समझाकर, उसका हाथ पकड़कर रोक लिया था!"

प्रभुने कहा, "क्या यह सच है? इसी जगाईने माधाईका हाथ पकड़कर तुम्हें बचाया था? इसी जगाईने बचाया था? अरे जगाई! तूने ही मेरे नित्यानन्दके प्राणोंकी रक्षा की थी? तब तो मैं तेरा ही हो चुका। आ, इधर आ!" इतना कहकर चैतन्यने सबके सामने उस अस्पृश्य पामर सैकड़ों खून करनेवाले नराधम जगाईको जोरसे छातीसे लगा लिया! जगाईने कुछ कहना चाहा, पर ज़बान रुक गयी, वह बेहोश होकर जड़ कटे हुए पेड़की तरह ज़मीनपर गिर पड़ा!

माधाई सब कुछ देख रहा है। उसने देखा, प्रभुका रुद्ररूप! फिर देखा, जगाईपर कृपा करते हुए प्रभुका सौम्यरूप! अब देखता है, अपने सारे पापोंके आधे हिस्सेदार भाई जगाईको धूलमें लोटते हुए और श्रीगौराङ्गके दहने पैरको हृदयपर रखकर उसे अश्रुजल-धारासे धोते हुए! माधाईको होश हुआ और वह भी "रक्षा करो रक्षा करो" पुकारता हुआ चैतन्यके चरणोंमें गिर पड़ा।

प्रभु कुछ पीछे हटकर कहने लगे, "अरे! तू तो नदियाकी हुकूमतमें पागल होकर जीवोंपर अत्याचार कर रहा था, आज उस हुकूमतको भूलकर यहां धूलमें किसलिये लोट रहा है? क्या यह तेरी शानके अनुकूल है? क्या इसमें तुझे लज्जा नहीं आती?" माधाईने कातरस्वरसे कहा, "प्रभो! तुम जगत्पिता हो, यदि तुम्हीं मुझे त्याग दोगे तो मैं किसके पास जाऊंगा? हम दोनोंने साथ ही पाप किये थे, तुम दयामय हो, तुमने जगाईको अपना लिया और मुझे छोड़ दोगे? क्या यह उचित होगा?" प्रभु बोले—

"जगाई मेरा अपराधी था, उसका अपराध क्षमा करना मेरे अधिकारमें था, पर माधाई! तू तो नित्यानन्दजीका अपराधी है, भक्तद्रोहियोंको तो दण्ड ही देना उचित है।" माधाईने फिर कहा "प्रभो! मैंने जैसे भयानक कुकर्म किये हैं, उनको देखते क्षमा मांगनेका मेरे लिये कोई भी मार्ग नहीं रह गया है। इससे मैं तुमसे क्षमा नहीं चाहता, केवल अपने मनकी बात सरलतासे कहता हूं। मेरे हृदयसे आशा दूर नहीं हो रही है। तुम मुझे बिलकुल त्याग दोगे, ऐसी धारणा मेरे मनमें होती ही नहीं। मुझे बतलाओ, किस उपायसे मेरा उद्धार होगा। तुम कहोगे वही करूंगा।"

प्रभु पिघल गये हैं। मनका भाव छिपाना चाहते हैं परन्तु करुणाभरी आंखें छिपाने नहीं देतीं। तथापि यथासाध्य मनके भाव छिपाकर चैतन्यने कहा, "माधाई! तुमने नित्यानन्दके शरीरसे खून बहाया है तुम उनके अपराधी हो, श्रीनित्यानन्द दयामय हैं, उनके दोनों चरण पकड़ लो। यदि वे तुम्हारा अपराध क्षमा कर देंगे तो तुम्हारा काम बन जायगा।" नित्यानन्दजी प्रभुकी इस करुण लीलाको देख देखकर मन ही मन प्रफुल्लित और संकुचित हो रहे थे। प्रफुल्लता माधाईपर प्रभुकी कृपा देखकर हो रही थी, और संकोच प्रभुको अपना गौरव बढ़ाते देखकर हो रहा था। माधाईने तुरन्त ही संकोचसे पीछे हटते हुए नित्यानन्दजीके चरण पकड़ लिये और कहा, "प्रभो! तुम्हारे क्षमा करनेसे ही भगवान् मुझे अपने चरणोंमें स्थान देंगे।"

इतनेमें श्रीचैतन्यने नित्यानन्दका हाथ पकड़कर कहा, 'श्रीपाद! तुम बड़े दयालु हो, इसके

क्षमा चाहनेसे पहले ही तुम क्षमा कर चुके हो, यह सभी जानते हैं। परन्तु ऐसा करना कुछ अनुचित है, क्योंकि इससे पापी अपने अपराध-को कम समझने लगते हैं। अब मैं इस अधमका अपराध क्षमा करनेके लिये तुमसे विनय करता हूं, इससे इसको यह ज्ञान होगा कि मेरा अपराध बहुत भारी है। श्रीपाद! तुम माधाईको क्षमा करो, साधुगण अनुतप्त और चरणाश्रित व्यक्तियोंको सदासे ही क्षमा करते आये हैं। अतएव इस अधमका अपराध क्षमाकर इस बातका–साधु और पापियोंके भेदका परिचय करा दो।

इसपर नित्यानन्दजी गद्गद होकर कहने लगे, "प्रभो! तुम मुझे उपलक्ष्यकर इन दोनों पापियोंका उद्धार करोगे, यह मैं जानता हूं। मेरा गौरव बढ़ानेके लिये ही तुम मुझसे अनुमति चाहते हो। यही हो। मैं इसे क्षमा करता हूं। यही क्यों; यदि मैंने किसी भी जन्ममें कोई सत्कर्म किये हैं तो उन सबका पुण्य भी मैं माधाईको देता हूं। तुम इस परम दुखी अनुतप्त जीवको चरणोंमें आश्रय दो।" तदनन्तर नित्यानन्द चरणोंमें पड़े हुए माधाईको सम्बोधन करके बोले 'रे निर्बोध! देख, कृपामय प्रभुकी तुझपर पहलेसे ही कितनी कृपा है। आज तेरे लिये प्रभु मुझसे विनय कर रहे हैं। आ, आ मेरे प्यारे माधाई! तुझे छातीसे लगाऊं।' इतना कहकर नित्यानन्दने माधाईको उठाकर हृदयसे लगा लिया। परन्तु माधाई तुरन्त ही बेहोश होकर जगाईके पास गिर पड़ा। दोनों भाई धूलमें पड़े हैं, आंखें खुली हुई हैं। उनमेंसे कुछ कुछ आंसू निकल रहे हैं। बाह्यज्ञान बिलकुल नहीं है। समस्त अङ्ग शिथिल हो रहे हैं। भक्तगण 'हरि बोल हरि बोल' की ध्वनि करते हुए दोनोंको घेरकर नाचने लगे।

उस समय नवद्वीपमें इतना कोलाहल मचा कि भक्त अभक्त सभी विह्वल हो गये। जगाई माधाईको इसी अवस्थामें छोड़कर चैतन्यदेव भक्तों सहित घर लौट गये। थकावट मिटानेके लिये भक्तगण इधर उधर जा बैठे। इस अद्भुत घटनाको देखकर सभी प्रेमभावमें विभोर हो रहे थे। सन्ध्या हो गयी थी, इतनेमें ही बाहरसे पुकार सुनायी दी—'प्रभो! प्रभो!' पता लगाने-पर मालूम हुआ कि जगाई माधाई दरवाजेपर खड़े पुकार रहे हैं। प्रभुने मुरारीको उन्हें लानेके लिये बाहर भेजा। मुरारी वीरकी तरह दोनों भाइयोंको पीठपर उठा लाया। अन्दर आते ही दोनों सूखे काठकी तरह सीधे गिर पड़े। तब प्रभुने नित्यानन्दजीसे कहा "श्रीपाद! दोनोंको गंगातटपर लेजाकर कानोंमें श्रीहरिनाम दो" इतना कहकर भक्तोंके साथ प्रभु चल पड़े। जगाई माधाई बेहोश थे। सुतरां मुर्देकी तरह उन्हें उठाकर भक्तगण कीर्तन करते हुए निकले। ले जाकर घाटपर लिटा दिया। जगाई माधाईकी इस दशाको देखनेके लिये नगर उलट पड़ा। कुछ समय पहले जो नदियाके राजा थे, जो चाहते सो कर सकते थे, वे ही दोर्दण्ड प्रतापशाली राजबन्धु आज दीनकी तरह धूलमें पड़े हैं।

श्रीचैतन्यने वज्रगंभीर स्वरसे कहा, 'श्रीपाद! यह दोनों जीव मैं आपको सौंपता हूं, आप इन्हें गंगास्नान करवाकर हरिनाम प्रदान करें।' नित्यानन्द दोनों भाइयोंको पुकारकर कहने लगे, 'आओ, मेरे प्यारे जगाई माधाई! मुझे मारा, बहुत ही अच्छा किया। आओ! आज 'हरि बोल' बोलो और नाचो। तुम्हारे प्रहारका दण्ड यह हरिनाम ही है।' जगाई माधाई अभीतक बेहोश थे। भक्तोंने महान् आनन्दसे दोनोंको कन्धोंपर उठाया। जब दोनों भाइयोंको भक्तगण जलके अन्दर ले गये, तब उन्हें होश हुआ। सभीने गंगास्नान किया।

गङ्गातटपर भीड़ लग रही है, हजारों नर नारी कौतुक देख रहे हैं। चांदनी रात है अतएव दीखनेमें कोई बाधा नहीं है। भक्तोंके बीचमें

श्रीगौराङ्ग और जगाई माधाई खड़े हैं। जगाई माधाईके हाथमें तुलसी दी गयी। महाप्रभुने कहा, "भाई माधव ! भाई जगन्नाथ ! मुझे एक चीज देनी पड़ेगी। देनेकी प्रतिज्ञा करो।" जगाई माधाई तो प्राण देनेको प्रस्तुत थे, उन्होंने कहा, "प्रभो ! जो इच्छा हो सो ले सकते हो !" यह सुनकर प्रभु बोले, "भाई ! तुम लोगोंने अबतक जितने पाप किये हैं वे सब ताम्र, तुलसी और गङ्गाजल हाथमें लेकर मुझे दान कर दो। तुम लोग निष्पाप और निर्मल हो जाओ!" इतना कहकर महाप्रभुने सबके सामने पाप ग्रहण करनेके लिये हाथ फैला दिया !

इस बातको सुनकर जगाई माधाईको जो दुःख हुआ सो अकथनीय है। वे अत्यन्त कातर हो गये। उन्होंने प्रभुके करुणमुखकी ओर देखकर कहा, "भक्तगण तो तुम्हें फूल चन्दन देते हैं और हम दोनों भाई –पापात्मा, नीच, तुम्हारे हाथोंमें पाप दान करें ? प्रभो ! यह नहीं होगा। हमने अपराध किये हैं, बड़ी खुशीसे दण्ड भोगेंगे। तुम केवल इतनी ही कृपा करो कि पापोंके निमित्त चाहे जितना कष्ट सहते समय भी तुम्हारे श्रीचरणोंकी विस्मृति न हो। हम तुम्हें पाप नहीं दे सकते।"

प्रभुने उनकी बातोंका कुछ भी उत्तर न देकर केवल यही कहा, "जगाई ! माधाई ! तुम्हारे पाप मुझे देकर तुम लोग सुखपूर्वक हरिनाम लो।" जगाई माधाईने बारम्बार क्षमा मांगी, पाप देनेसे सर्वथा इन्कार किया। परन्तु शेषमें महाप्रभु और नित्यानन्दजीके आग्रहसे उन्हें बाध्य होकर पापोंका दान करना पड़ा। नित्यानन्दजीने सङ्कल्पका मन्त्र पढ़ा, प्रभुने दान लेकर गम्भीर स्वरसे कहा, तुम लोगोंके पाप मैंने ग्रहण किये।'

अन्तरङ्ग भक्तोंने देखा प्रभुका स्वर्ण वर्ण कुछ काला हो गया !

तदनन्तर स्नान करके सब घर लौट आये। भररात नृत्य कीर्तन हुआ। तबसे जगाई माधाई घर नहीं गये। आहार छोड़ दिया, उनका आर्तभाव देखकर भक्तोंको बड़ा दुःख होने लगा।

जगाई माधाई गङ्गाके तीरपर जा बैठे। फटा मैला कपड़ा पहन रक्खा है, उपवास क्रन्दन और नींदसे शरीर दुर्बल हो गया है। दो लाख नाम जप प्रतिदिनका नियम है। जो कोई घाट-पर आता है, माधाई उठकर उसीके चरणों पड़ता और कातर स्वरसे रो रोकर कहता है, "आप कृपा करके मेरा उद्धार करें। मैंने जानमें अनजानमें आपको कोई दुःख दिया है उसके लिये आप मुझ दीनको क्षमा करें।"

बालक-वृद्ध, नर-नारी, ब्राह्मण-चाण्डाल सभीके चरणोंमें पड़कर रोते हुए क्षमा प्रार्थना करना और नामजप करते रहना यही उनकी जीवनचर्या है।

माधाईने अपने हाथों एक घाट बनाया था, वह नवद्वीपमें अब भी माधाईके घाटके नामसे प्रसिद्ध है ! माधाईके वंशज अभी हैं, वे श्रोत्रिय ब्राह्मण और परमवैष्णव हैं !

(चैतन्य मङ्गल आदिसे)

निराशा

घनाक्षरी

अचल तपस्या नहीं ध्रुवके समान नाथ !
देने वरदान जिसे मृत्युलोक आवेंगे।
भक्त भी नहीं हूं प्रह्लादके सदृश अनन्य,
जिसकी रक्षाके हेतु खम्भ फाड़ धावेंगे।
"नन्दन" हूं दीन, बलिके समान दानी नहीं,
तो फिर क्यों बामन हो रूप दिखलावेंगे।
अवधनिवासी नहीं, वृन्दावनवासी नहीं,
तो ये पापराशी हग कैसे दर्श पावेंगे ?

—भगवतीप्रसाद मिश्र 'नन्दन'

मुनीन्द्र-दिनचर्या

(लेखक–पं० श्रीरामावतारजी शास्त्री)

(पृष्ठ ३२१ से आगे)

(९६) अठारह अध्यायवाली गीता जो संपूर्ण उपनिषदोंका सारभूत है, जिसमें निरूपण की गयी है उस महाभारत नामक प्रकरणको सुनना चाहिये।

(९७) उस महाभारतमें व्यासमुनिने कथाओंका सविस्तर वर्णन किया है, उस विस्तारसे उन्होंने यह दिखलाया है कि यह सम्पूर्ण संसार कथनमात्र (कहने मात्रका) ही है, अन्यथा वे महाराजा और वे महर्षिलोग, जिनका महाभारतमें वर्णन किया गया है, आज कहां हैं ? जिस प्रदीप्त आत्माग्निमें इन सबका होम हो गया, उसका स्फुट निरूपण करनेवाला गीताभाग ही महाभारतमें मुमुक्षुओंके लिये सुनने योग्य है।

(९८) भारत ग्रन्थकी समाप्तिमें व्यासमुनिने शान्तिपर्वका निरूपण किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण शास्त्र शान्ति (वासना लय-मोक्ष) में पहुंच जानेपर समाप्त हो जाते हैं।

(९९) बड़े बड़े अद्भुत आख्यानोंसे अति रमणीय मोक्ष धर्मोंका जहां तहां भारतमें निरूपण किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि मोक्ष धर्म ही सम्पूर्ण धर्मोंमें श्रेष्ठ है। उसका निरूपण करनेवाला गीताभाग ही आदरयोग्य वस्तु हो गयी है।

(१००) वृत्तिरूपी गोपियोंसे क्रीड़ा करता हुआ अर्थात् सांसारिक व्यवहार करता हुआ भी अन्तरात्मा नामक गोपाल (बुद्धि वृत्तियोंका साक्षी) जब अपने ब्रह्मचर्य (ब्रह्मचिन्तन) को न छोड़े, ऐसी अलौकिक अवस्थाका जिसमें निरूपण हो, वही उत्तम भागवत ज्ञानीको सुनना चाहिये।

(१०१) नवाभ्यासी मुमुक्षु बालकों को डस लेनेवाली भयङ्कर दुष्ट वासनारूपी पूतना नामक राक्षसीका खून पीकर मुमुक्षुओंके साथ ही उस दुष्ट वासनाको भी जब कोई आत्मपदको प्राप्त करा दे, तभी भागवतका सच्चा पूतना बध हो।

(१०२) निर्बल असहाय तथा स्वाश्रित मुमुक्षुओंको अमृतपद प्राप्त करानेके लिये आत्मा-रूपी विष्णुने काल सर्पको मारकर इस दुःखमय जगत्को आत्मानन्दसे भरपूर कर डाला , यही तो भागवतके कालियदमनका गूढ़ तात्पर्य होता है।

(१०३) प्रपञ्चरूपी नदीके तटपर बैठे हुए, सदा ही आत्मनिरीक्षणमें लगे हुए मुमुक्षुओंको भी जब कभी मोहरूपी अजगर निगल डालता हो, और आत्मारूपी गोविन्द तत्क्षण ही उनका उद्धार कर देता हो। बस, यही भागवतके अघासुरबध-का गूढ़ तात्पर्य है।

(१०४) कंस नामक महाबलशाली मूर्तिमान अहङ्कारको आत्मारूपी कृष्णने स्वयं ही उछलकर (अहङ्कारके द्रढ़ बन्धनोंमेंसे निकलकर) समूल नष्ट कर डाला।

(१०५) रामकी चरणधूलिके स्पर्शसे जिस प्रकार पत्थरकी अहल्या चेतन हो गयी थी, इसी प्रकार आत्मारूपी रामके चिदाभासरूपी कणोंसे यह सब जड़ीभूत देहादि जगत् चेतनसा प्रतीत होने लगता है। यही अहल्योद्धारका तात्पर्य समझना चाहिये।

(१०६) वानर जो कि अधूरा मनुष्य होता है,

वह भी जिस रामकी कृपा हो जानेपर सागरको पार कर गया फिर भला वैराग्यादि सम्पन्न पूरा मनुष्य उस आत्मारूपी रामके कृपा कटाक्ष हो जानेपर क्या इस संसारसागरको पार नहीं कर सकता ? हनुमानके समुद्रोल्लंघनका यही गूढ़ तात्पर्य समझना चाहिये।

(१०७) पत्थरके बने पुलसे समुद्रको पार करते हुए रामने प्रकारान्तरसे यह प्रकट कर दिया कि यदि संसाररूपी समुद्रको पार करना चाहते हो तो निर्विकल्प समाधिमें पहुंचकर तुम भी शिलारूप ही हो जाओ।

(१०८) यदि कोई आत्मप्रेमी मुमुक्षु, शान्ति (वासना राहित्य) रूपी सीताको अङ्गीकार कर ले और अज्ञानरूपी रावणको परास्त कर डाले तो बस, यही सर्वश्रेष्ठ रामायण हो जाय।

(१०९) जिस राममें योगी लोग सदा ही रमण करते रहते हैं, तथा जो राम योगियोंके इस स्मरणरूपी थोड़ेसे उपकारको भी न सहकर तुरन्त बदला देनेके विचारसे, समाधिके समय उन्हीं योगियोंके हृदयभवनमें आकर अकेला ही क्रीड़ा किया करता है, वह राम नामक तारक-ब्रह्म मेरे हृदयभवनमें सदा ही क्रीड़ा किया करे।

(११०) जरा मृत्यु आदिके वशमें कभी भी न आनेवाले पुराण पुरुषका प्रेम यदि किसीके जीमें उत्पन्न न हुआ हो तो, अठारहों पुराणोंके सुन डालनेपर भी क्या कुछ सिद्ध होगा ?

(१११) पुराना होकर भी जो कभी जीर्ण नहीं होता, उस पुराणपुरुषको यदि किसीने न सुन पाया हो और इतनेहीमें उसका यह नश्वर देह पुराना पड़कर निकम्मा हो गया हो तो फिर ऐसे पुराण श्रवणसे भी क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

(११२) जब कि अभ्यासक्रमके बढ़नेपर किसी मुमुक्षुको निर्मल आत्मतत्त्वमें विश्राम मिलने लगे तो इसीको सच्चा न्याय कहते हैं शेष सबको तो अन्याय ही कहना चाहिये।

(११३) अन्य किसी भी पदार्थकी स्मृति बीचमें न आवे और निरन्तर आत्मचिन्तनका धारावाही प्रवाह बहने लगे, ऐसा चिन्तन ही न्यायज्ञ लोगोंकी दृष्टिमें सच्चा न्याय कहाता है। इसके विपरीत अन्याय मार्गके रसिकको न्याय शास्त्री क्योंकर कहा जाता है। यह बात हमारी समझमें नहीं आती।

(११४) तार्किकका स्वयं भी यह कहना है कि "अनिष्टकी प्रसक्ति ही तर्क कहाती है" तो फिर यह कैसे सम्भव हो कि उसी तार्किकके तर्कसे मुमुक्षु लोगोंका परम इष्ट मोक्ष जैसा दुर्लभ पद हाथ आजाय।

(११५) यदि तीक्ष्ण तर्क करनेवाली मेधासे परब्रह्मकी तर्कणा न कर ली तो फिर हम समझते हैं कि इस तार्किककी तर्कचातुरी निष्फल ही रही।

(११६) हे तार्किक ! तुमने अपने लम्बे अन्वेषणोंके बाद अभीतक तो सोलह पदार्थ ही ढूंढ़ पाये हैं परन्तु तुमको यह मालूम हो जाना चाहिये कि यह तर्क तो अब भी अपनी चरमावस्था-को पाकर अवस्थित नहीं हो पाया है, इसलिये तुम्हें उचित है कि ऐसे अनवस्थित तर्कको छोड़-कर अपने मनोदेवताको तर्कातीत आत्मतत्त्वमें विलीन कर डालो।

(११७) बेचारा वैशेषिक तो सविशेष पदार्थोंका विवेचन करके ही कृतकृत्य हो जाता है, निर्विशेष परब्रह्ममें तो उस बेचारे वैशेषिककी पहुंच ही नहीं है।

(११८) वैशेषिकके तत्त्वज्ञानसे हम मुमुक्षुओं-का क्या प्रयोजन सिद्ध हो ? क्योंकि साधर्म्य वैधर्म्यसे हीन तत्त्वज्ञान ही मुक्तिका परमपद दिलानेमें समर्थ होता है, साधर्म्य वैधर्म्य जैसे तुच्छ तत्त्वज्ञानसे मुक्तिका दुर्लभ पद किसीको क्योंकर मिले ?

(११९) सकल पदार्थोंके भूल जानेपर मुक्तिके दर्शन मिलते हैं, श्रुतियोंने अनेक बार यह बात

कही है फिर भला इन सब पदार्थोंके चिन्तनसे परमप्रयोजन कैसे सिद्ध हो सकता है ?

(१२०) जब कि अद्वय परमात्मामें साधर्म्य वैधर्म्यका निशान भी नहीं है, तो फिर साधर्म्य वैधर्म्यके ज्ञानसे मुक्ति मिल जानेकी बातको क्योंकर मान लिया जाय ?

(१२१) हां, यदि वैशेषिक यह मानता हो कि पदार्थोंका विवेक (भेद ज्ञान) हो जानेपर परमात्माकी प्रतीति स्फुटरूपसे हो जाती है तो इस बातमें हमें कुछ आपत्ति नहीं, यह तो हमारा ही सिद्धान्त है।

(१२२) यह बद्ध है, यह मुक्त है, इस व्यवस्था-को स्थापित करनेके लिये ही आत्माका नानात्व माना गया है, तात्त्विक दृष्टिमें तो आत्मा एक ही है, यह बात तो गौतममुनिने भी प्रकारान्तरसे मान ही ली है।

(१२३) हमें तो तार्किककी केवल एक ही बात पसन्द आती है। उसका कहना है कि कल्पना गौरव दोष तथा कल्पनाओंकी न्यूनता ही चातुरी है। परन्तु अपने मुखसे सिद्धान्त रूपमें यह कहकर भी न्यायशास्त्री इस बातको व्यावहारिक रूपमें नहीं मानता क्योंकि उसने तो अनेक पदार्थोंकी कल्पनाओंका जाल ही फैला डाला है। इसके विपरीत हम मायावादियोंने तो केवल एक मायाको ही मानकर कल्पनाओंको न्यूनातिन्यून कर दिया है।

(१२४) हे सांख्य! तुमने तो तत्त्वोंकी असंख्य संख्याएं ही खोज डाली हैं परन्तु क्या इन संख्याओंसे किसीको परमपद मिल सकता है? तुम्हें उचित है कि संख्यातीत परब्रह्मका चिन्तन करो।

(१२५) वैसे तो तुम तत्त्वज्ञानकी चर्चा करते रहते हो, परन्तु पहले यह तो समझ लो कि तत्त्वातीत परब्रह्मके ज्ञानको ही सच्चा तत्त्वज्ञान कहते हैं क्योंकि इसी तत्त्वज्ञानसे मुक्तिका लाभ हो सकता है, तत्त्वोंका ज्ञान हो जानेसे किसीको मुक्ति नहीं मिला करती।

(१२६) पुरुषकी परीक्षाके लिये ही मैंने संख्याओंका निरूपण किया है, यही तो मेरा संख्याओंके निरूपण करनेका अभिप्राय है, ऐसा यदि सांख्यका कहना हो तब तो वह हमारे ही मतमें आ जाता है। ऐसी परिस्थितिमें सम्पूर्ण सांख्यका 'त्वं' पदार्थके परिशोधनमें ही उपयोग हो जाता है।

(१२७) असङ्ग सच्चिदानन्द परिपूर्ण पुरुषसे श्रेष्ठ तत्त्व इस संसारमें कुछ भी नहीं है, वही सब सुखोंकी अन्तिम भूमिका और चरमसीमा है, उसके प्राप्त होते ही सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक स्थितिकी प्राप्ति होजाती है। हे सांख्य! अपने इस गिनतीके कामको छोड़कर उसी परिपूर्ण पुरुषके दर्शन कर लो। इस निरर्थक गणनासे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा?

(१२८) योगमार्गियोंने मुमुक्षुलोगों को जिस परिश्रममें लगा दिया है, वह तो योगकी क्षुद्र सिद्धियोंमें फँसानेवाला है। वह सब कला-चातुरी ही है, स्वरूप स्थितिका लाभ उससे नहीं होता।

(१२९) हे योगसिद्ध! तुम्हारी यह कायव्यूह सिद्धि क्या वस्तु है? यह क्या कोई दुर्लभ पदार्थ है? अनेक शरीरोंकी रचना करके एक कालमें ही अनेक भोगोंको भोग लेना कुछ सिद्धि नहीं है, असली सिद्धि तो विदेह मुक्ति ही है।

(१३०) हे योगसिद्ध! तुम परकाय प्रवेश (दूसरेके मृत या जीवित शरीरोंमें घुस बैठना) तो जानते हो परन्तु मुमुक्षुके जीवनका उद्देश्य, परकाय प्रवेश (परात्माके स्वरूपमें लीन हो जाना) नहीं जानते हो।

(१३१) तुम्हारे जैसा परकाय प्रवेश तो भूतादि भी जानते हैं परन्तु वह कुछ सिद्धि नहीं, वह तो बन्ध है इसलिये उसे छोड़कर वेदान्त श्रवणमें आदर करना चाहिये।

(१३२) जब कभी न कभी मरना ही होगा

तो ऐसी क्षण स्थायिनी निरर्थक चिरजीवितासे भी क्या ? यदि वास्तविक कल्याणकी इच्छा हो तो जन्म, मृत्यु तथा जरा आदि महाकष्टोंको समूल नष्ट करनेवाले विज्ञानरूपी अमृतका ही पान कर डालो !

(१३३) यदि तुमने योगबलसे दूसरेके मनकी बातको पहचान भी लिया तो भी क्या उससे किसी महाफलके मिलनेकी आशा करते हो ? तुम्हारा परम हित तो इसीमें है कि अपने हृदयकी गुफामें छिपे हुए परब्रह्मका दर्शन कर डालो !

(१३४) सबसे अधिक निकट रहनेवाले आत्मदेवका श्रवण, मनन अथवा निदिध्यासन ही यदि न कर पाया तो फिर योगमार्गियोंका दूर श्रवण अथवा दूर दर्शन कोई (उत्तम)सिद्धि नहीं हो सकती।

(१३५) कुछ थोड़ासा पाप कर्म करके काक आदि योनियोंमें जाकर भी जो खेचरता (आकाशगमन) प्राप्त की जा सकती है, उस अतिसुलभ खेचरताको ही यदि तुमने योग जैसी दुर्लभ और अमूल्य वस्तुकी सहायतासे सिद्ध कर पाया है तो हम कहेंगे कि यह तो कुछ सिद्धि नहीं, ऐसी बन्धक सिद्धिसे मुक्तिका परमपद किसीको हाथ आनेवाला नहीं है। इसलिये हम मुमुक्षु लोगोंको इन परकाय प्रवेश आदि सिद्धियों-से क्या लेना है ? यह सिद्धियां तो ऐन्द्रजालिक लोगोंके लिये ही पुरुषार्थ हो सकती है ।

(१३६) बल वीर्य आदिकी सिद्धिको उत्पन्न करनेवाली सिद्धि भी कुछ सिद्धि नहीं है, यही कारण है कि योगमार्गमें निरर्थक परिश्रम करने-का वेदान्तमें निषेध किया गया है ।

(१३७) वेदान्तकी सम्मतिमें तो केवल आत्मज्ञान ही सच्ची सिद्धि है, अन्य सिद्धियां तो इस सच्ची सिद्धिके विघ्न हैं, ऐसा यदि योग-मार्गीका कथन हो तो फिर हमें कुछ भी कहना नहीं है ।

(१३८) मीमांसकका कहना है कि, यज्ञादि क्रिया बड़ी कष्टदायक (दुःखरूप) है, इसका अभिप्राय यह हुआ कि मीमांसकने आत्माको स्वयं ही कष्टभागी मान लिया। संसारके सभी लोग केवल सुखको ही इष्ट मानते हैं, सम्पूर्ण संसारका अनुभव भी इसी बातको सिद्ध कर रहा है, ऐसी अवस्थामें मीमांसकका यह आग्रह उपहासास्पद होजाता है कि वह कर्मको दुःखरूप मानकर भी उसे ही इष्ट मान बैठता है ।

(१३९) कर्मके तत्त्वको खूब पहचाननेवाले मीमांसकने कर्मको कष्टरूप मानकर ठीक ही किया, हमारी सम्मतिमें तो इस अनिष्टको निवृत्त करने-के लिये उन्हें भी ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए।

(१४०) 'कर्मसे जन्म' और 'जन्मसे फिर कर्म' यह चक्कर कदापि शान्त होनेवाला नहीं है, ऐसी अवस्थामें कर्मके इन अन्धभक्तोंको जन्म-से छुटकारा क्योंकर मिले ?

(१४१) ज्ञानको प्रधान माननेवालोंके मतमें मुक्ति ही मुख्य होती है परन्तु जो कर्मको ही प्रधान मानते हैं, उनके मतमें यह जन्ममरणरूपी संसार ही सब कुछ है।

(१४२) मीमांसक लोगोंकी कर्मविषयक अन्ध भक्तिका दुःखदायी वर्णन कहांतक करें ? वे तो अपनी कर्म जड़ताके वशमें आकर, जिन अन्धे लंगड़े आदिको अङ्गहीन होनेसे कर्ममें अधिकार नहीं होता, उन लोगोंके लिये निष्काम धर्मोंका करना बताते हैं और इसीलिये निष्काम धर्मोंको अशुद्ध कह डालनेका दुःसाहस कर बैठते हैं। फिर कर्मके भक्त उन मीमांसक लोगोंकी शुद्धि किस प्रकार हो, क्योंकि वे तो अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाले निष्काम कर्मोंमें श्रद्धा ही नहीं रखते।

(१४३) यदि मीमांसकका यह कहना हो कि कामना रहित कर्मोंसे मनकी शुद्धि होती है तो उनसे हमें यह पूछना है कि फिर तुम्हारी काम्यकर्मोंकी इतनी लम्बी कष्टकारिणी मीमांसाका क्या फल होगा ?

(१४४) कर्मोंसे चित्त शुद्ध होता है। चित्तके

शुद्ध हो जानेपर विज्ञानकी प्राप्ति होती है ऐसा यदि कर्मीलोगोंका कथन हो तब तो हम उनसे सहमत हो सकते हैं।

(१४५) धर्मशास्त्रका पूर्वापर विचार करनेपर यही एक निश्चय हाथ लगता है कि मोक्षधर्म ही सर्वश्रेष्ठ फलदायक धर्म है क्योंकि इस मोक्षधर्ममें क्रम बिगड़नेसे कुछ भी हानि नहीं होती तथा किसी कारणसे किसी दिन न करनेपर पाप भी नहीं लगता।

(१४६) धर्मशास्त्रकार याज्ञवल्क्य मुनिका कहना है–यज्ञ, अपने वर्णाश्रम धर्मोंका अनुष्ठान, बाह्येन्द्रियोंका निग्रह, सब भूतोंपर दया, सत्पात्रोंको विधिपूर्वक दान तथा स्वाध्याय इन सबमें परम धर्म तो यही है कि योगके द्वारा आत्माका साक्षात्कार कर लिया जाय।

(१४७) सम्पूर्ण वेदान्त वाक्योंका ब्रह्मात्मतामें ही तात्पर्य है, ऐसा निश्चय करके वेदान्तका श्रवण करना ही श्रौतकर्म कहाता है। श्रुतियोंमें प्रतिपादित उसी पदार्थका चिन्तन करते रहना ही स्मार्तकर्म कहाता है, तात्पर्य यह कि श्रौत और स्मार्तकर्मोंका अभिप्राय श्रवण और मननसे ही है।

(१४८) हम तो श्रौत और स्मार्तकर्मोंका मर्मज्ञ उसीको समझते हैं जो गुरुमुखसे आत्माका श्रवण कर ले और फिर कभी उसको विस्मृत न होने दे।

(१४९) जिस गुह्य शिक्षाके मिल जानेपर विदेह भाव प्राप्त हो जानेसे परमशुद्धि प्राप्त हो जाती है उस शिक्षाको यदि किसीने न पाया तो फिर इस पाणिनिशिक्षासे यदि स्वर वर्ण आदिका स्थान जान भी लिया तो क्या ?

(१५०) सब कल्पोंसे पूर्व रहनेवाले इस निर्विकल्पक आत्मचैतन्यरूपी कल्पको यदि किसीने न जान पाया तो हम समझते हैं कि विकल्प और सङ्कल्पोंसे परिपूर्ण कल्पसूत्रोंको जानकर भी क्या होगा ?

(१५१) हमारी समझमें तो जिस कल्पके सहारेसे कल्पकको ब्रह्मभावकी प्राप्ति हो सकती हो, उस तारक कल्पको यदि किसीने न जान पाया हो तो मुमुक्षु लोगोंके लिये ये कल्पसूत्र तो निरर्थक ही हैं।

(१५२) महावाक्योंके अर्थको समझनेके लिये ही पदार्थ ज्ञानकी आवश्यकता होती है, यदि उन महावाक्योंका अर्थ ही किसीकी समझमें न आया हो तो फिर मुमुक्षुओंको इस व्याकरणके ज्ञानसे लाभ ही क्या ?

(१५३) जिस परब्रह्मने इस प्रत्यक्ष दीखनेवाले जगत्‌को प्रकटरूपमें बना डाला है, उसीको यदि किसीने न पहचाना हो तो फिर इस व्याकरणके ज्ञानसे मुमुक्षुओंको क्या लाभ होगा ?

(१५४) जिस शब्दशास्त्रसे बने हुए शब्दोंकी सहायतासे बार बार इस हेय जगत और उपादेय आत्मतत्त्वको न जाना गया तो फिर मुमुक्षुओंको इस व्याकरणसे लाभ ही क्या होगा ?

(१५५) चिन्मात्ररूप आत्मचैतन्यकी अवर्णनीय अवस्था निरुक्त कहाती है क्योंकि उस अवस्थाका वर्णन उक्तिसे बाहरकी बात है तथा चिन्मात्ररूप आत्माका उपदेश भी निरुक्त कहाता है क्योंकि वहांसे वाणियां लौट आती अथवा उसका वर्णन करनेमें असमर्थ रह जाती हैं, यही कारण है कि उस अवस्थामें पहुंचनेपर चुप हो जाना पड़ता है। उक्त दोनों प्रकारके निरुक्तोंको यदि किसीने न जाना तो मुमुक्षु लोगोंको निरुक्तकी उक्तियोंसे लाभ ही क्या होगा ?

(१५६) जीवन्मुक्त लोग जिस स्वाभाविक व्यवहारमें रहकर अबोध बच्चोंकी तरह सहज बर्ताव करने लगते हैं, स्वच्छन्दता सिखानेवाले उस छन्दको यदि किसीने न जाना तो यगण रगण आदि छन्दोंसे मुमुक्षुओंको क्या मिलेगा ?

(१५७) जिस ज्योतिःस्वरूप आत्मदेवकी कृपासे सूर्यादि लौकिक ज्योतियां प्रकाशित हो

रही हैं, उस पवित्र ज्योतिको ही यदि किसीने न पहचाना तो ज्योतिष शास्त्रके बड़े बड़े पोथोंसे मुमुक्षुओंको क्या लाभ होगा?

(१५८) "जिस तुमको विवेकी लोग परमानन्द देनेवाले बताते हैं उस तुम आत्म-देवको सकल जगत्के सम्पूर्ण विषयोंकी आहुति देकर हम मुमुक्षुलोग यजन करते हैं" यदि इस सर्वाहुतिसे उस जगदात्माको किसीने तृप्त न किया हो तो फिर मुमुक्षु लोगोंका उस हौत्र कर्मसे, जिसमें ऋचाओंकी ही प्रधानता है क्या प्रयोजन सिद्ध होगा?

(१५९) रजोगुण सत्त्वगुण तथा तमोगुणके कारण जगत्की उत्पत्ति प्रकाश तथा स्वरूपा-वरण करके सृष्टिको बनानेवाली अजामायाका इस ब्रह्मसत्रमें यदि किसीने नाश न कर दिया हो तो यजुर्मन्त्रोंसे किये हुए अध्वर्युके कार्यसे क्या होगा?

(१६०) सामवेदकी छान्दोग्य उपनिषद्के द्वारा प्रेम गद्गद वाणीसे यदि किसीने ब्रह्मका गान न किया तो सामवेदमें वर्णित उद्गाताके कर्मसे भी मुमुक्षुको क्या फल मिलेगा?

(१६१) अथर्ववेदसे निकली हुई पिप्पलाद मुनिद्वारा वर्णित ब्रह्मविद्याका यदि किसीके हृदयमें चमत्कार न हुआ तो आथर्वण प्रयोगोंसे क्या होगा?

(१६२) विज्ञानामृतका पान करके यदि किसीने अमृतत्व प्राप्त न किया हो और बार बार मृत्युके वशमें आना पड़ता हो तो फिर यह आयुर्वेद भी निरर्थक ही रहा!

(१६३) प्रणवरूपी धनुषको संभालकर उस-पर ज्ञानरूपी बाण चढ़ाकर अपने अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मको यदि किसीने न बींध डाला हो तो यह धनुर्वेद भी मुमुक्षुओंके लिये तो निष्प्रयोजन ही है।

(१६४) गान विद्याके उत्तमोत्तम स्वरोंमें बड़ी ही मधुर रीतिसे गान्धर्वोंकी तरह यदि किसीने अपने आत्मदेवके अनुभूतिके आवेशमें आकर न गाया हो तो फिर इस गान्धर्व वेदके अभ्यासमें वृथा समय खोनेसे मुमुक्षुओंको क्या मिलेगा?

(१६५) धर्म अर्थ तथा काम इन तीनों नामोंसे इस संसारमें जितने भी अर्थ प्रसिद्ध हो रहे हैं तत्त्व विचार करनेपर वे सब अनर्थ ही हैं, आत्मारूपी परमार्थज्ञान ही सच्चा अर्थ कहाता है उसी परमार्थको यदि किसीने प्राप्त न कर पाया हो तो यह अर्थशास्त्र निरर्थक ही रहा।

(१६६) उपर्युक्त विधिसे पुराण श्रवण करनेके पश्चात् मुनिको उचित है कि सायंसन्ध्या करनेको उद्यत हो जाय!

(१६७) इसप्रकार ज्ञान विनोद करते करते वेद और शास्त्रोंका कुतूहल देखते देखते ही मुनियोंका सम्पूर्ण दिन बीत जाता और सायं-संध्याका समय आ जाता है।

(१६८) उक्त विनोदमें जबतक जी लगता रहे तबतक व्यवहारको देखनेवाला मुनि फिर जब कभी समाधिका स्मरण करता है तो बस, यही मुनियोंकी सायंसन्ध्या हो जाती है।

(१६९) अब मुनियोंके रात्रिकृत्यका वर्णन किया जाता है जब कि व्यवहार नामक दिन बीत जाय तथा उसके पश्चात् सन्ध्यासुख (उदासीनता आनेपर मिलनेवाले सुख) का भी थोड़ा सा भोग ले लिया जाय और जब कि ज्ञानी लोगोंका समाधि नामक निशा (रात्रि) काल प्राप्त होनेको ही हो तो अपने स्थिर चित्तकी सहायतासे इन्द्रियरूपी दशों कपाटोंपर प्रत्याहार रूपी शृङ्खला डाल दे। बस, यही ज्ञानियोंका कपाट बन्धन कहाता है।

(१७०) उक्त विधिसे कपाट बन्द करते ही शुद्ध आत्मसुखरूपी मधुरदुग्धको यथातृप्ति (यथेष्ट) पीकर 'जिससे मैं आत्मानुभव कर रहा हूं" यह अनुभव भी आत्मामें विलीन हो जाय तब उत्साही मुनिको चाहिये कि निर्विकल्प समाधि नामक सच्चिदानन्दरूपी पलंगपर लेटकर अपनी सच्चिदानन्द शक्तिरूपी किसी

अनिर्वचनीय प्रियाका भोग ले जो कि सदा ही उस मुनिके हृदयभवनमें क्रीड़ा किया करती है और अतिशय आनन्द देती रहती है।

(१७१) सब मुमुक्षुओंको इस दिनचर्याका विचार नित्य ही करना चाहिये। यदि कोई योग्य अधिकारी हो तो इस दिनचर्याका चिन्तन करते करते ही परम निश्चिन्त होकर आत्मप्रेममें स्थिर हो सकता है।

(१७२) इस प्रकरणमें बताये हुए साध्य (ब्रह्मता) साधन (ब्रह्माकार वृत्तिरूपी प्रातः शौचादि) फल (व्यवहारकालमें भी ब्रह्मत्वका स्मरण रखना) संस्कार (ब्रह्म तथा आत्माके अभेदकी वासना) तथा युक्ति (ब्रह्मात्मामें ही चित्तको स्थिर करना) की सहायतासे जब यह दिनचर्या विचारी जाती है तो फिर और कुछ भी अन्य विचारणीय शेष नहीं रह जाता। सकल शास्त्रोंको पृथक् पृथक् विचारकर जो परिणाम निकल सकता है, उतना सब केवल इस प्रकरणके विचारसे ही मिल सकता है।

(१७३) मुनीन्द्रदिनचर्याका तात्त्विकनिरूपण तो बड़े बड़े मुनीन्द्र भी सफलताके साथ नहीं कर सकते, फिर भी मैंने यह वाचालता स्वीकार की और मैं इसे वर्णन करनेका साहस कर बैठा, सदाशिव आत्मदेव मेरी इस धृष्टताको क्षमा करें। उनके आवेशमें आकर ही मैं टूटे फूटे शब्दोंमें यह पवित्र वर्णन कर सका हूं।

आत्म-सूर्यग्रहण

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

हरिगीत छन्द

पहली कृपा श्रुति मातुकी सद्गुरु कृपा दूजी भई।
बहु जन्मके अति पुण्यसे ईश्वर कृपा तीजी हुई॥
तीनों मिले पूरे धनी, ऋणमुक्त मुझको कर दिया।
अज्ञान-राहू भग गया, मम आत्म-सूर्य प्रकट भया॥

अज्ञान-राहू भागते ही काम राक्षस हट गया।
आधार बिन आधेय कैसा ? कर्म भी सब मिट गया॥
भूतेन्द्रियाँ, अन्तःकरण, प्राणादि लश्कर भग गया।
अज्ञान-राहू भग गया, मम आत्म-सूर्य प्रकट भया॥

कारण रहा नहिं कार्य ही सूतक मिटी पुर्यष्टका।
भोक्ता नहीं भोक्तव्य नाहीं, काम क्या फिर भोगका॥
मेरा मिटा तेरा मिटा मैं मिट गया तू मिट गया।
अज्ञान-राहू भग गया, मम आत्म-सूर्य प्रकट भया॥

निश्चल सदा निस्संग हूं, आऊं न जाऊं मैं कहीं।
मरता नहीं नहिं जन्मता, घटता नहीं बढ़ता नहीं॥
मिथ्या ग्रहण था भासता, सद्गुरु कृपासे छुट गया।
अज्ञान-राहू भग गया, मम आत्म-सूर्य प्रकट भया॥

कर्त्ता नहीं भोक्ता नहीं, कर्त्ता महा भोक्ता महा।
आनन्द जल परिपूर्ण सागर, दश दिशामें छा रहा॥
शाश्वत विमल निर्मुक्त, केवल ब्रह्म ही है भासता।
अज्ञान-राहू भग गया, मम आत्म-सूर्य प्रकट भया॥

माता पिता भाई बहिन तिय स्वप्नका व्यवहार है।
साथी सगे मित्रादि सब, दिन चारका संसार है॥
सुख रूप आत्मा नित्य है सो आप अपना पा लिया।
अज्ञान-राहू भग गया, मम आत्म-सूर्य प्रकट भया॥

संसार दुस्तर सिन्धु था नहिं थाह मिलती थी कहीं।
किञ्चित् कहीं अब बूंद तक भी, दीखती उसकी नहीं॥
कुछ भी नहीं लगता पता, किस कोणमें है छिप गया।
अज्ञान-राहू भग गया, मम आत्म-सूर्य प्रकट भया॥

जो दीखता है दृश्य आगे सर्व मिथ्या रूप है।
सब दृश्यमें जो पूर्ण है सो आत्म-तत्त्व अनूप है॥
अस्तित्व उसका पायके, निस्सत्त्व था सच हो गया।
अज्ञान-राहू भग गया, मम आत्म-सूर्य प्रकट भया॥

माया रहितके सामने ब्रह्माण्ड सब निस्तत्त्व है।
आकाश रविके सामने ज्यों चित्रका रवि तुच्छ है॥
ऐसा जिसे है बोध जीवन्मुक्त ज्ञानी बुद्ध है।
अज्ञान-राहू भग गया, मम आत्म-सूर्य प्रकट भया॥

एकान्त गंगातीरपर अवधूत था यह कह रहा।
सूरज ग्रहण था पड़ रहा 'भोला' खड़ा था सुन रहा॥
हरि भक्त हितकर जानकर प्रिय! मर्म वाक्य सुनाय है।
अज्ञान-कृत संसार सम्यक् ज्ञानसे मिट जाय है॥

उपासनाकी आवश्यकता

(लेखक–स्वामीजी श्रीविज्ञानहंसजी)

विचारद्वारा यह ज्ञात हो जानेपर कि, मैं इस दृश्य प्रपञ्चसे सर्वथा अलग अखण्ड चैतन्य परिपूर्ण हूं, साधकको इस कार्य-कारणात्मक स्थूल सूक्ष्म दृश्य-प्रपञ्चका बाध कर सतत अखण्ड ज्ञान समाधिमें ही स्थित रहना चाहिये परन्तु ऐसा बहुत कम होता है। मनके अत्यन्त चञ्चल होने एवं अनन्तकालसे उसपर इस दृश्य जगत्के चिन्तनरूप संस्कार पड़े रहनेके कारण मनमें जागतिक भाव–देहादिका अध्यास पुनः पुनः स्फुरित होता रहता है। इस द्वैतकी स्फुरणाको मिटाकर एक अद्वैत परब्रह्ममें स्थित हो जाना ही हमारी उपासनाका ध्येय है। अतएव बारम्बार इस दृश्य जगत्से मनको हटाकर एक अखण्ड चिन्मय परब्रह्मके स्वरूपमें लगाना चाहिये।

परन्तु ऐसा करनेमें अनेक बाधाएं हैं, जब बड़े बड़े पर्वत, नदी-समुद्र, वन-उपवन और विशाल अट्टालिकाएं हमारी आंखोंके सामने आती हैं, जब नानाप्रकारके मनोकर्षक दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं, कर्णोंमें भांति भांतिकी राग-रागिनियोंके मधुर स्वर, मत्त भ्रमरोंके सुन्दर गुञ्जारकारी शब्द, गङ्गा-यमुनाकी मधुर कलकल ध्वनि और पक्षीगणोंकी कोमल कान्तकाकली सुनायी पड़ती है, तब मन मुग्ध हो उठता है।

इस अनन्त भावोंसे भरे हुए, नानाप्रकारके देव-गन्धर्व-यक्ष-किन्नर-नाग-मनुष्य तथा विविध जीवोंसे संकुल, अनेक प्रकारके वीर, करुण, भयानक, रौद्र, बीभत्स आदि रसोंसे युक्त, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति आदि अनेक आसक्तियोंसे जड़ित, मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त आदि रसोंके समावेश स्थान, अनेक प्रकारके आमोदप्रमोद संयुक्त, मालती, चम्पक, नाग, पुन्नाग, केशर, पारिजात, बकुल आदि मोदकारी सुगन्धसे व्याप्त, ललाम ललनागणोंके क्रीड़ास्थान, जिसका वर्णन करनेमें बड़े बड़े पारङ्गत कवीश्वरोंकी उक्तियां इतिश्री हो जाती हैं, ऐसे इस दृश्य जगत्के अन्तर्गत एक एक विषयमें मुग्ध होकर महान् यति एवं साधुगण भी विराग-विस्मृत हो जाते हैं।

पुत्र पौत्रोंकी मीठी तोतली बोली, स्त्रियोंके मन्द मधुर हास्य मनुष्यको दीन बनाकर अकर्म कर्म करानेके लिये प्रवृत्त कर देते हैं। ऐसे अनेक भावोंसे आकीर्ण इस प्रत्यक्ष सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा वायुके विहारस्थान, अनेक लोक-लोकान्तरोंसे सुशोभित वसुन्धरा मण्डल और पुराणोंके पत्र पत्रमें व्याप्त स्वर्गीय सुख आदि विषयोंको सर्वथा भुलाकर उस मन वाणीसे अगोचर अखण्ड आत्मस्वरूप ब्रह्मका, जिसको श्रुति कहती है–

'यत्तदद्रश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुम-
श्रोत्रमपाणिपादं विभुं नित्यं।
सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूत-
योनिं परिपश्यन्ति धीराः॥

जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र, अपाणिपाद, विभु, नित्य, सर्वगत, अति सूक्ष्म, अव्यय और भूतोंका कारण है, जिसको धीर ही लोग देखते हैं,–निरन्तर कैसे चिन्तन किया जाय?

चिन्तन करनेमें यह दृश्य जगत् बारम्बार बुद्धिमें उदय होता है, पुनः पुनः यही दृष्ट श्रुत बातें याद आती हैं, फिर फिरकर उन्हीं भावोंकी स्मृति होती है जिनमें इतनी आयु व्यतीत हुई है, वही भूख-प्यास ऐश-आरामकी, वही देहाध्यास और हमारे तुम्हारेकी स्फुरणा होने लगती है।

'विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलाः।
न मुञ्चामः कामानहहगहनो मोहमहिमा ॥'
'विदितं किल ज्ञानतोमया जगदेतन्नितरां विनश्वरम्।
त्यजतीह मनो न वासना तव माया ननु नाथ दुस्तरा॥'
'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवतीहि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥'

ज्ञानी होनेपर तत्त्वसे जगत्का बाध जान लेनेपर भी पुनः पुनः यह जगत् बुद्धिमें उदय होता है।

ऐसा न होता तो परमहंस शुकदेवजी जैसे यतपुरुषको अपने अनुभवसे तथा पिता वेदव्यासके उपदेशसे 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' का बोध हो जानेपर भी जनकजीके पास क्यों जाना पड़ता और अन्तमें उस उपदेशसे भी शान्ति न मिलनेपर क्यों एकान्तमें अभ्यास करना पड़ता ? अतएव (शास्त्रीय) ज्ञानके अनन्तर भी यह जगत् फुरता है, इसे मिथ्या जान लेनेपर भी इसकी प्रतीति नहीं मिटती। और जबतक प्रतीति नहीं मिटती तबतक अनन्य-चिन्तन नहीं होता। वास्तवमें अनन्य चिन्तनका अर्थ यही है कि एक ब्रह्मतत्त्वको छोड़कर दूसरा विषय बुद्धिमें कभी आवे ही नहीं। जबतक दृश्य फुरते रहेंगे, तबतक चिन्तनमें व्यवधान होता रहेगा। व्यवधानमें अनन्य-चिन्तन नहीं बन सकता।

भगवान् गीतामें कहते हैं—

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ १२। ६
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ॥ १२। ७

अनन्ययोगसे (मुझसे अतिरिक्त किसी विषयका चिन्तन न कर) जो मेरा ध्यान और उपासना करते हैं, उनका मैं इस मृत्यु (अज्ञान) रूप संसारसागरसे पार करता हूं।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥
(गीता ८। ५)

अन्तकालमें जो मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है वह मुझको ही प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं।

यदि अन्तकालमें दूसरेका स्मरण हो गया तो वह दूसरेको ही प्राप्त होगा क्योंकि—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥
(गीता ८। ६)

जिस जिस भावका स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है उसी उसी भावको प्राप्त होता है। अतएव यदि ब्रह्मका अनन्य चिन्तन छोड़कर दूसरेका चिन्तन करनेकी आदत पड़ी रहेगी तो संभव है कि मृत्युकालमें शायद दूसरा ही याद आ जाय और यदि दूसरा यदि आगया तो उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होगी। इसलिये पहलेसे ही अभ्यास करके ऐसी आदत डालनी चाहिये, क्योंकि जब सावधान अवस्थामें ही अनन्य चिन्तन नहीं होता तब मृत्युकालीन वेदनाके समय तो बिना आदतके अनन्य चिन्तन होगा ही कैसे ? अतएव अभीसे अनन्य उपासनाकी आवश्यकता है। सब शास्त्र, उपनिषद्, गीता और महानुभाव महात्माओंका भी जोर इस अनन्य उपासनापर ही है परन्तु इस दृश्य जगत्के रहनेतक निरन्तर जाग्रत् स्वप्नमें व्यवधानरहित अखण्ड अनन्य उपासनाका होना भी असाध्यसा ही मालूम पड़ता है।

तब क्या किया जाय ? इसलिये, पहले तो

उस अनन्य उपासनाका स्वरूप जानना चाहिए, जो वेद-वेदान्त सम्मत हो, सहज ही अनायास-साध्य हो, थोड़ी इच्छा करनेवाले भी जिसको कर सकें और अन्तमें फल वही हो जिससे उत्तम फल कोई हो नहीं सकता। तदनन्तर वह उपासना कैसे हो सकती है, यह जानना चाहिये। श्रुति कहती है—

"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्"

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म।"

इस नामरूपमयी सृष्टिसे पहले एक अकेले सद्रूप ब्रह्म ही थे।

कुम्हार जो बर्तन बनाता है वह तो घटके प्रति केवल निमित्त कारण है, घटका उपादान कारण तो मिट्टी है। चक्र चीवर आदि और भी कारण हैं। मतलब यह है कि कुम्हार जो घड़ा बनाता है वह बाहरकी मिट्टी, दण्ड सूत्र आदिकी सहायतासे बनाता है। यदि उसे मिट्टी न मिले तो कुछ भी नहीं बन सकता। मिट्टी मिलनेपर भी यदि चक्र चीवर आदि न हो तब भी घड़ा नहीं बन सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि वह बाहरकी सामग्रियों की सहायतासे ही घड़ा बनाता है परन्तु परमात्मा ऐसा नहीं है।

परमात्मा सृष्टिके पहले स्वगत, सजातीय, विजातीय भेदत्रयसे शून्य सन्मात्र अकेला ही था, सृष्टि बनानेके लिये चक्र चीवर आदिकी तरह बाहरी साधन उसके पास मौजूद न थे, फिर उसने यह सृष्टि कैसे बनायी ?

इस स्थानपर नैयायिक गौतम, कणाद, सांख्यशास्त्रप्रवर्तक कपिल, योगी पतञ्जलि, मीमांसक जैमिनि आदि अनेक बातें कहते हैं परन्तु नैयायिकोंके परमाणुवाद और सांख्यके प्रकृति आदि मतोंका खण्डन नानाप्रकारके युक्तियुक्त प्रमाणों और दृष्टान्तोंसे शाङ्करभाष्य और खाद्यखण्डन आदि ग्रन्थोंमें अच्छी तरह किया जा चुका है! यहां इस विषयकी मीमांसा करना हमारा विषय नहीं है, इसके प्रेमियोंके लिये बहुत ग्रन्थ हैं। हमें यदि इस विषयपर कुछ कहना होगा तो स्वतन्त्र रूपसे कभी विचार किया जायगा। इस समय तो उस सिद्धान्तका, जिसको वेदभगवान् कह रहे हैं और श्रीकृष्ण, व्यास, वसिष्ठ, शङ्कराचार्य, याज्ञवल्क्य आदिने सिद्धान्त माना है तथा जो अनुभवसे भी प्रत्यक्ष करामलकवत् संसिद्ध है, विचार किया जाता है। अस्तु,

प्रश्न यह है कि अकेले परमात्माने सृष्टि कैसे बनायी ? यदि उन्होंने अकेले ही सृष्टि रची है तो इससे यही सिद्ध होता है, वे स्वयं जगत्-रूपमें भान हुए। यदि यह कह दें कि वे जगत्-रूप बन गये जैसे दूध दही बन जाता है तब तो परिणामवाद आजायगा क्योंकि दूधरूप मिटकर ही दही बना है। परन्तु परमात्मा अपरिणामी है इसलिये ऐसा कहना ठीक नहीं। यह श्रुति और अनुभवविरुद्ध है। अतएव यथार्थ बात यह है कि वह अपने रूपमें सतत एक रूप रहते हुए ही विवर्तवादसे जगत्रूपसे भास गये। जैसे रज्जु रस्सी रहती हुई ही सर्परूप भास जाती है, सीपी सीपी रहती हुई ही चांदीसी भास जाती है, इसी तरहसे परमात्मा अपने स्वरूपमें अवस्थित ही जगत्रूपमें भासने लगे। परमात्माका जगत्रूप भासना ही माया है। माया तो माया ही ठहरी, "या मा सा माया" अर्थात् जो न होकर प्रतीत हो, वही माया है।

स्वप्नका तमाशा हम नित्य ही देखते हैं, स्वप्नमें क्या क्या नहीं होता ? हंसते हैं, रोते हैं, मरते हैं, जीते हैं, सारी दुनियाँ दीखती है, पर जागनेपर क्या रहता है ? स्वप्नकी मिली थैली कभी खर्चनेमें थोड़े ही आती है ? स्वप्नकालमें तो वह सच्ची ही दीखती थी, तब तो फूले नहीं समाते थे!

इसी तरह तत्त्वके अज्ञातकालमें जो कुछ भी कहा जाय, "दुनियां उत्पन्न हुई, बन्ध हो गया,

मोक्ष हो गया आदि" कोई मने नहीं करता। पर जब होश हवासकी बातें होंगी–जब हम ज्ञानरूप जाग्रत् अवस्थामें होंगे, तबकी बातें दूसरी होंगी!

जागा हुआ व्यक्ति यदि सोते हुएको जगावे तो उसे कुछ नाम लेकर ही पुकारना या किसी क्रियाका आश्रय करके ही जगाना पड़ेगा। यद्यपि रज्जुमें सर्प कोई पदार्थ नहीं है तथापि 'यह रज्जु है, सर्प नहीं' यह बतलानेके लिये ही 'सर्प' शब्दका प्रयोग करना पड़ेगा। इसी तरह यद्यपि दृश्य जगत् अपनी सत्तासे नहीं है, तथापि अनादि कालसे इसकी सड़कोंपर हवा खानेकी आदत पड़ी रहनेके कारण इसे छुड़ानेके लिये जगत्का, ब्रह्मका तथा जीवका विचार करना पड़ेगा और इसका बीज समूल निर्मूल करनेके लिये ब्रह्मोपासना भी करनी पड़ेगी। अच्छा, तो अब फिर प्रकरणपर आइये। ब्रह्म ही जगत्‌रूप होकर भासने लगे। तब जगत् ब्रह्म ही हुआ, ब्रह्मके सिवा स्वतन्त्र-रूपसे जगत्‌की अपनी कोई भी सत्ता नहीं है। जब जगत् ब्रह्म ही है तब जगत्‌में केवल ब्रह्म ही देखना चाहिये। "ब्रह्मदर्शनं हि पाण्डित्यम्" इति श्रुतेः। अतएव जगत्का बाध करके ब्रह्मको देखना ही अनन्य उपासना है और यही अनन्य चिन्तन है। जगत्‌का बाध किये बिना अनन्य चिन्तन नहीं बन सकता!

अब जगत्‌में ब्रह्म कैसे देखा जाय इसपर विचार किया जाता है। 'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेम।' ब्रह्मने इच्छा की कि, 'मैं एकसे अनेक हो जाऊं।' ऐसी इच्छा करते ही आकाश हो गया, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी और पृथ्वीसे सब प्राणी हुए!

परमात्मासे पहला विकास आकाश हुआ तथा वह आकाश अवकाश स्वरूपवाला हुआ और यह कहा गया कि "आकाशोऽस्ति" आकाश है। आकाशमें यह जो (अस्ति) 'है' क्रिया है, सो ब्रह्म है। सत्‌रूप ब्रह्मके सत् आकाशमें अनुवर्तित होनेसे आकाश 'है' यह प्रतीति हुई। सत्‌में तो एक सत् स्वभाव ही था। आकाशमें अवकाश और सत् दो स्वभाव हो गये। सत्‌की जिस शक्तिने ब्रह्ममें आकाशकी कल्पना की, उसी शक्तिने आकाश और सत् दोनोंका अभेद भी कर दिया। एकको धर्म और दूसरेको धर्मी बना दिया। लोग कहने लगे कि आकाशकी सत्ता है यानी आकाश धर्मी बना और सत्ता उसका धर्म बन गयी। यह विपरीत दिखलानेवाला उलटापन ही मायाका मायात्व है। असलमें होना चाहिये था सत्ताका आकाश, क्योंकि सत् तत्त्वके आश्रयसे ही आकाश भान होता है। सत् निकाल लेनेपर आकाश अपने स्वरूपसे कुछ भी सिद्ध नहीं होता। सत्‌से ही आकाशका अस्तित्व है। पर कहा जाता है उलटा कि, 'आकाशकी सत्ता है।' तार्किक और लौकिक लोग ऐसा ही कहते हैं। मायाके लिये यही उचित भी है। वास्तविक रूपमें जो वस्तु जैसी होती है उसका वैसा ही ज्ञान तो विचारसे ही होता है। भ्रमसे तो अन्यथा ही भान होगा। यह अन्यथा प्रतीति ही मायाका भूषण है। यही भ्रम (अज्ञान) है। जब आकाशसे सत्‌को अलग कर लेंगे तब आकाशका क्या स्वरूप रह जायगा? आप कहेंगे 'अवकाश' परन्तु सत्‌रहित अवकाश तो मिथ्या है। यदि यह कहें कि मिथ्या भले ही हो, प्रतीत तो होता है। तो बस, जो है नहीं और प्रतीत होता है वही तो माया है। जैसे स्वप्नगत हाथी, घोड़े, मकान, महल आदि।

जब आकाश ही मिथ्या है तब उसका कार्य वायु कैसे सच्चा हो सकता है? जहां पिताका ही अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, वहां पुत्र कैसे होगा? सूखना, चलना, स्पर्श करना, वेग होना, यह चार वायुके धर्म हैं। वायुरस्ति वायु 'है' ऐसा कहा गया है। सत्‌रूप ब्रह्म है, जब वायुसे सत्‌को निकाल लेंगे तब वायु मिथ्या सिद्ध होगा। मिथ्यापन ही माया है, वायुमें जो 'विस विस' शब्द होता है वह आकाशकी शब्दानुवृत्ति है।

इसी तरहसे अग्नि 'है' उष्णता और प्रकाश अग्निके निज गुण हैं और 'है' यह अस्तित्ववाचक क्रिया ब्रह्म है। अग्निसे सत्‌को अलग कर लेनेपर

अग्नि निस्तत्त्व होगा। यह निस्तत्त्वता ही माया है। अग्निकी 'भुक भुक' ध्वनि आकाशकी शब्दानुवृत्ति है। उष्ण स्पर्श वायुकी अनुवृत्ति है। सत् निकाल लेनेपर अग्नि कुछ नहीं सिद्ध होता।

इसी तरह जल 'है'। इस प्रयोगमें जलका अपना गुण रस है। जल 'है' इसमें यह 'है' ब्रह्म है। सत्को जलसे निकाल लेनेपर जल निस्तत्त्व माया मात्र ठहरता है। जलमें 'बुल बुल' ध्वनि आकाशकी शब्दानुवृत्ति है। शीत स्पर्श वायुकी अनुवृत्ति है, शुक्लता तेजकी अनुवृत्ति है। सत् निकाल लेनेपर जल कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

इसीप्रकार पृथ्वीमें निजगुण गन्ध है। पृथ्वी 'है' इसमें 'है' ब्रह्म है, यह सत् निकाल लेनेपर उसकी निस्तत्त्वता माया है। 'कड़ कड़' शब्द आकाशकी शब्दानुवृत्ति है, कठिन स्पर्श वायुकी अनुवृत्ति है और रस (कोई स्वाद विशेष) जलकी अनुवृत्ति है, सत्के निकाल लेनेपर पृथ्वी कोई चीज नहीं है।

इसीतरह ब्रह्माण्डमें प्राणियोंके जितने शरीर हैं या जो कुछ भी वस्तुजात पदार्थ है, सबमेंसे सत् निकाल लेनेपर सभी मायामात्र रह जाते हैं। फिर वे मिथ्या ही भान होते हैं सत्‌रहित असत् पदार्थ भान होते रहें। तत्त्वदर्शीकी दृष्टिमें तो सत् ब्रह्मको छोड़कर वास्तवमें और कुछ है नहीं।

इसप्रकार विचार करनेसे घट पटादि पदार्थसे लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सभी वस्तु ब्रह्म ही है। यह सुन्दर रूप, चन्द्रमाका सुखप्रद शीतल दर्शन, सूर्यका तेजमय प्रकाश, नाना नद-नदी, समुद्र-पर्वत, सुन्दर वन-उपवन आदि जितना भी रूपजात है सब भगवान्‌का ही तो दर्शन है। दृष्टि जो जो देखती है, सब भगवद्दर्शन ही है। यह कानोंके विषयगोचर होनेवाली वेदकी ऋचाएं, छन्द, श्लोक, सूत्र, व्याख्या, साहित्य, रागरागिनियां और इनके अन्दरका मधुरत्व सब भगवत्-श्रुति ही है —भगवान् ही तो सुने जा रहे हैं।

यह नानाप्रकारके मधुर, अम्ल, लवण आदि भेद युक्त रस, विविध व्यञ्जन सब भगवान्‌का ही तो रसास्वादन है।

यह सुन्दर शीतल मन्द सुगन्ध वायुका स्पर्श भगवान्‌का ही तो स्पर्श है, यह पारिजात हरिचन्दनादि कुसुम समूहोंकी सुगन्धिद्वारा भगवान् ही तो हमारी घ्राणेन्द्रियकी प्रीति सम्पादन कर रहे हैं। गंगा यमुनाकी मधुर कलकल ध्वनिमें श्रीभगवान् ही तो अपना राग सुना रहे हैं। भ्रमरोंकी गुंजार, तपोवनस्थ कोकिलाओंकी मधुर काकलीमें वही तो गा रहे हैं। यह वीणाके छः राग, छत्तीस रागिनियों और नानाप्रकारके संगीतकला तथा विविध वाद्योंसे वही तो व्यक्त हो होकर गान कर रहे हैं। पुत्रकी उन्मादकारिणी भोली हंसीमें, ललनाओंके प्रेम-पूर्ण निरीक्षणमें उन्हींका तो प्रेम व्यक्त हो रहा है। भाई भाईकी प्रीतिमें, पिता-पुत्रकी स्नेह-श्रद्धामें, दाम्पत्यमिलनके आनन्दमें, गुरु-शिष्य-की श्रद्धारूप प्रीतिमें, मातापिताके दृष्टानुरागमें वही तो अनेकप्रकारकी रसधारा होकर बह रहे हैं। उन्हींके लिये तो श्रुति कहती है—

"श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसा मनो यत् वाचस्य वाचः स उ प्राणस्य प्राणः"

—जो कानका कान है, मनका मन है, वाणीका वाक् है और प्राणोंका प्राण है आदि श्रीगीतामें कहा है —

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

(गीता १३)

सब ओर जिसके हाथ पैर हैं, सब तरफ जिसके नेत्र सिर और मुख हैं, जो सब तरफसे सुनता है, जो सबको आवृत्त करके रहता है। उसका वर्णन क्या कोई कर सकता है ? उसके अनन्त गुणोंका क्या कोई अन्त पा सकता है ? उसके भावोंको क्या कोई व्यक्त कर सकता है ?

ज्ञानस्वरूप वेदोंने भी जिसके गुणोंका वर्णन करनेमें अपनेको असमर्थ पाकर 'नेति नेति'

शब्दका सहारा लिया, अनादिकालसे देवतात्मा हिमालय जिसकी महिमाको लाखों बरसोंतक सोचता रहा परन्तु अन्तमें उसे भी हैरान होकर चुप रह जाना पड़ा। जिसकी महामहिमाको महासमुद्र भी अपनी ऊंची ऊंची लहरोंके गम्भीर स्वरसे वर्णन नहीं कर सका। ब्रह्मासे लेकर तृण पर्यन्त सभी चकित होकर जिसकी महिमासे जीवनरूपी क्षेत्रमें अनेक प्रकारके खेल खेल रहे हैं और ज्ञानकी सागररूपा सरस्वती देवी भी जिसका वर्णन करनेमें चुप हो जाती हैं। कहा है—

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥
(शिवमहिम्न)

सुमेरु पर्वतके बराबरका कज्जल यदि समुद्ररूप दावातमें घोला जाय, कल्पवृक्षकी शाखाकी कलम बनायी जाय, लिखनेके लिए पञ्चाशत कोटि योजन विस्तीर्ण पृथ्वीमण्डल ही कागज बना दिया जाय और लिखनेमें स्वयं शारदा यदि सम्पूर्ण जीवन लगी रहें, तो भी हे ईश! तुम्हारे गुणोंका पार नहीं पाया जा सकता। अग्निके विस्फुलिङ्ग क्या कभी अग्निको प्रकाशित कर सकते हैं?

ऐसा यह अनन्त विराट् जो कुछ सृष्टिके भीतर और बाहर है, सब वही है। अतएव हम जो कुछ सुनते हैं, उसीको सुनते हैं, जो कुछ देखते हैं, उसीको देखते हैं, जो कुछ छूते हैं उसीको छूते हैं, जो सूंघते हैं उसीको सूंघते हैं और जो रसोंका आस्वादन करते हैं वह भी वही है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
(गीता ४)

अर्पण भी ब्रह्म है, हवि भी ब्रह्म है, अग्नि भी ब्रह्म है, होम करनेवाला भी ब्रह्म है और वह प्राप्त भी ब्रह्मको ही होता है। रोग भी ब्रह्म ही है, दवा भी ब्रह्म ही है, दवा करनेवाला भी ब्रह्म ही है और करानेवाला भी ब्रह्म ही है।

आपै माली आप बगीचा आपै सीचनहारा।
आपै कली आपही फूला आपै सूंघनहारा॥

एक समय एक परमहंस मधुकरी भिक्षा मांगकर लाये। संयोगसे एक कुत्ता आगया। आप उसकी पीठपर बैठकर खाने लगे। राह चलते लोग यह तमाशा देखकर हंस पड़े, तब परमहंसजी बोले--

विष्णूपरिस्थितो विष्णुः विष्णुः खादति विष्णवे।
कथं हससि रे विष्णो! सर्वं विष्णुमयं जगत्॥

विष्णुपर विष्णु बैठे हैं, विष्णु विष्णुके लिये खा रहे हैं, रे विष्णु! क्यों हंसते हो, सब जगत् विष्णुमय ही तो है।

इसतरह साक्षात् विचारके द्वारा यह निश्चय होजानेपर और बारबार इसी दृष्टिके परिपक्व करनेपर, जागते-सोते, उठते-बैठते, चलते-फिरते किसी भी क्षणमें, कोई भी अवस्था, कोई भी दृश्य ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं मालूम होता। यही अनन्य चिन्तन है, यही अनन्य उपासना है, यही पराभक्ति है, यही परम ज्ञान है, यही परम सांख्य है, यही परवैराग्य और यही समाधि है इसी 'तत्त्वको दृढ़ करानेके' लिये श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च॥
(गीता)

"प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति', यह न्याय है। किसी प्रधानके कह देनेसे नीचेके सब आजाते हैं। भगवान् कहते हैं कि समस्त प्राणियोंका आश्रय आत्मा मैं ही हूं, प्राणियोंका आदि मध्य और अन्त मैं ही हूं। श्रुति कहती है—

"आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत् मनो ब्रह्मेत्युपासीत्।"

आदित्यको ब्रह्मरूपसे उपासना करे, मनको

ब्रह्मरूपसे उपासना करे। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब निश्चय ब्रह्म है "वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।" यह सब वासुदेव है, ऐसा जाननेवाला महात्मा दुर्लभ है। अतएव अनन्य ब्रह्म-चिन्तन ही करना चाहिये।

श्रीदुर्गाजीमें कहा है—

या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता।
या देवी सर्वभूतेषु—
शान्तिरूपेण संस्थिता।
तुष्टिरूपेण संस्थिता।
पुष्टिरूपेण संस्थिता।
क्षुधारूपेण संस्थिता।
निद्रारूपेण संस्थिता। इत्यादि

"कारणस्यात्मभूता शक्तिः शक्तेरात्मभूतं कार्यम्" कारणकी आत्मभूता शक्ति है। शक्तिका आत्मभूत कार्य है। तात्पर्य यह कि जितने भाव हैं, जितनी वृत्तियां हैं सबको ब्रह्मरूपसे देखे। ऐसा दृढ़ निश्चय हो जानेपर किसी भी दशामें रहोगे, वृत्ति भगवान्मय ही रहेगी। और ऐसा चिन्तन करते करते ही इस दृश्यके अधिष्ठानमें समाधिस्थ हो जाओगे।

हरिरेव जगज्जगदेव हरिर्हरितो
जगतो नहि भिन्न तनुम्।
इति यस्य मतिः परमार्थगतिः
स नरो भवसागरमुद्धरति।

आर्त-क्रन्दन

(१)
भटक रहा है दुर्गम पथपर—
पथिक दीन! पाथेय विहीन!!
अटक रही है जीवन-नौका,
नाथ! अनाश्रित हूं मैं दीन!!

(२)
यही तुम्हारी करुणा है क्या ?
दीनबन्धु! हे करुणागार!!
बस, इतनी ही ममता तुममें,
आश्रित जिसपर जगका भार!

(३)
तात, मातु, दारा, सुत, सेवक,
प्रिय, परिजन, परिचित संसार,
क्या वास्तवमें, हैं यह अपने ?
अथवा सब मिथ्या व्यापार!

(४)
धर्म अधर्म पुण्य अव सुख दुख—
माया, मोह, प्रपञ्च अपार,
गहन कर्म गति, प्रगति विश्वकी,
क्या, मिल सकता इनका पार ?

(५)
कबसे तुम्हें पुकार रहा हूं,
खोज थका मैं कितनी बार;
देख रहा भगवन्! करते हो,
कितना तुम, दुखियोंका प्यार।

(६)
अब न दुखाओ दुखित हृदयको,
तेरा हूं, तुम मेरे देव!
अन्तर्यामी हो! क्या तुमसे—
छिपा हुआ है अन्तर्भेव ?

(७)
देख चुका हूं भलीभांति मैं,
कौन! कहांतक!! देता साथ,
केवल एक यही है आशा
"अपनाओगे मुझको नाथ"!

—रमाशंकरमिश्र 'श्रीपति'

एकही लक्ष्यके अनन्त पथिक

क्रास चिह्नके सामने घुटने टेकनेवाले ईसाई, मस्जिदोंमें बन्दगी करनेवाले मुसलमान और अग्निकी उपासना करनेवाले पारसी बन्धुओंको हिन्दू एकही दृष्टिसे देखते हैं, क्योंकि वे समझ चुके हैं कि एकही ईश्वरके पास जानेवाले अनन्त पथिक अनन्त पथोंसे जा रहे हैं। अपनी अपनी सुविधाके अनुसार जिसे जहांसे जो मार्ग सुगम होगा वह वहींसे जायगा। कोई हमारे बतलाये हुए मार्गसे न जाय तो उससे द्वेष करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। सब धर्मरूपी पुष्पोंको एक सूतमें पिरोकर एक सुन्दर गुलदस्ता बनाओ और उसे सर्वसाक्षी परमात्माके चरणोंमें अर्पण करो। हम सब परमात्माके ही स्वरूप हैं। हमारा आत्मा परमात्माका पवित्र मन्दिर है, हमें उसपर निष्कपट प्रेम करना चाहिये, यही कर्तव्य है। इसमें पुरस्कारका लोभ और तिरस्कारके भयकी आवश्यकता नहीं है। धर्म कोई कवायद या बकवाद नहीं है। वह तो परमात्म-स्वरूप बननेका एक स्वतन्त्र सोपान है।

—स्वामी विवेकानन्द

"मृत्युः सर्वहरश्चाहम्"

वैराग्यका उपदेश देनेवाले लोग कहते हैं, "मृत्युको याद रक्खो, मृत्युका भय करो।" मुझे उनका यह कथन नहीं रुचता। मृत्युको मृत्यु समझकर स्मरण रखनेकी आवश्यकता ही क्या है? और उससे भय भी क्यों करना चाहिये? जब सभी रूपोंमें तुम भरे हो तब किसी खास समयमें आनेवाले रूपसे ही तुम्हें स्मरण क्यों किया जाय? अभी जिस रूपमें सामने हो, उसीको स्मरण रखनेमें क्या हानि है? भयकी तो कोई बात ही नहीं। तुम जैसे जीवनसंगी प्रियतम सखासे भय करनेकी कल्पना ही कैसी? फिर मृत्युके लिये तो तुम स्वयं पुकार कर कहते हो,—'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्'—"सर्वहर मृत्यु' मैं हूं।" जब तुम्हीं हो, तब तुमसे भय कैसा? जो भय करते हैं, उन्होंने या तो तुम्हारे यह शब्द ही नहीं सुने हैं और सुने हैं तो उन्हें इन शब्दोंपर विश्वास नहीं है! जब हम तुम्हारे ही शब्दोंपर विश्वास न करें, तब हमारा कैसा वैराग्य और कैसी भक्ति? अतएव नाथ! मुझे तो ऐसा वैराग्य मत दो, जिससे तुम्हारे किसी भी रूपको भयजनक मानकर उसका स्मरण करना पड़े। प्रेमके अगाध उदधिमें भयकी बात सुनकर भी भय लगता है। मुझे तो नाथ! दया करके इसी भयसे बचाओ। और ऐसा बना दो जिससे सर्वथा, सर्वदा और सर्वत्र केवल तुम्हारे 'प्रेम-मय' स्वरूपके ही दर्शन कर अथाह आनन्दकी रसमयी लहरियां ही बना रहूं।

—"रागी"

देखा!

(१)

जिनका गुणगान सकल विश्वको गाते देखा!
उनको भक्तोंके लिये दौड़ लगाते देखा!

(२)

जिनका कर मनमें मनन छाना सभी वृन्दावन!
भक्तिवश हमने उन्हें द्वार पै आते देखा!

(३)

जिनकी 'मायाका' कभी 'पार' न 'जग' पाता है!
भक्त अर्जुनको उन्हें ज्ञान सिखाते देखा!

(४)

पाया 'जिनको' न 'कभी' मनमें 'न' मन्दिर मठमें!
हमने 'द्रोपदिका' उन्हें 'चीर' बढ़ाते 'देखा'!

(५)

'यों' ही अवसर पै पुकारा उन्हें जिसने स-प्रेम!
उसकी रक्षाके लिये पल न लगाते देखा!

—'कल्याण कुमार'

श्रीहरिभक्त-हिम्मतदास

(लेखक-पं० श्रीपीताम्बररावजी भट्टाचार्य, काव्य-पुराण-भूषण)

भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अटल अनुरागका उत्पन्न होना ही इस जीवनका प्रधान उद्देश्य है, इस उद्देश्यको पूर्ति पूर्व-संचित सुकृत और भगवत्-कृपापर ही निर्भर है। भगवत्-कृपा उसी समय होती है जब मनुष्य निष्काम भक्तिद्वारा उपासना करता है। निष्काम भक्ति उत्पन्न होनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण-ने अर्जुनके प्रति श्रीगीतामें यह उपदेश दिया है-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

(गीता ९ । २७)

इसी सर्वस्व अर्पणको अपना लक्ष्य बनाकर प्रत्येक जीव भगवच्छरणका अधिकारी हो सकता है। अस्तु,

प्राचीन कालमें मनुष्य दीर्घायु होते थे। और यज्ञानुष्ठान, तपश्चर्या आदिसे भगवानको प्रसन्न करनेमें सफल होते थे। परन्तु इस कलियुगमें वही भक्तवत्सल भगवान् केवल प्रेमसे प्रकट हो अपने भक्तोंको दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं। इस प्रेमकी सच्ची उपासिकाएं केवल गोपिकाएं ही थीं, जिन्होंने 'पराभक्ति' उपासनाद्वारा जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णको वशमें कर नित्य दिव्यरसोंका आस्वादन किया। इनके पश्चात् इसी मार्गके अनुसरण करनेवाले भक्त-शिरोमणि सूरदास, तुलसीदास, नरसी-मेहता, साधु तुकाराम इत्यादि हुए हैं। इन सबके चारु चरित्रोंका 'भक्तमाल'में भलीभांति वर्णन है। आधुनिक हरिभक्तोंमें इसी श्रेणीके एक महात्मा हिम्मतदास-जी ब्राह्मणकुलमें १६ वीं शताब्दिमें पन्ना राज्यके अन्तर्गत बरायछ नामक ग्राममें हुए हैं। जो पन्नासे लगभग पांच कोस है।

हिम्मतदासजीके पूर्वजोंकी भगवत्-भक्तिमें विशेष रुचि थी, और उनका समय नित्य साधु-सत्संग, कथा पुराण, हरि चर्चा आदिमें व्यतीत होता था। इसी कारण इनको भी युवा होनेके पूर्व ही साधु-सेवा और हरि-कीर्तनका अच्छा अवसर प्राप्त होता रहा, जिससे इनके हृदयमें बचपनसे ही प्रेमांकुर जम गया, और दिन दिन हरिचर्चा श्रवण करते करते वही अंकुर बढ़कर एक सुदृढ़, विशाल प्रेमवृक्षके रूपमें परिणत हो गया!

युवावस्थामें इनका विवाह किया गया। हरिकृपासे पत्नी सुशीला और पतिपरायणा मिली। इनके 'दयाराम' नामक एक पुत्र हुआ। ये दयारामजी श्रीमद्भागवतके अच्छे ज्ञाता हुए।

हिम्मतदासजीको भगवत्-गुण-कीर्तनसे विशेष प्रेम था। आप झांझें बजाकर भगवद्गुणानुवाद करते करते विह्वल हो जाया करते थे। एक बार इनकी इच्छा पन्नाके श्रीजुगलकिशोर भगवान्के (पन्नामें अद्यापि वर्तमान हैं) दर्शन करनेकी हुई। इसलिये उन्होंने उसी समय मानसिक प्रण कर लिया कि मैं प्रतिदिन श्रीजुगलकिशोरजीके दर्शन किया करूंगा। हिम्मतदासजी इस प्रणके पालनार्थ नित्य झांझें बजाकर भगवत्-भजन करते हुए

पैदल ही दस मील पन्नातक जाकर भगवान्‌के दर्शन करने लगे।

एक दिन झांझें बजाते हुए आप पन्ना जारहे थे कि मार्गमें चार चोर मिले। उनमेंसे एकने बाबाजीके सम्मुख आकर कहा कि 'बाबाजी! क्यों चिल्ला रहे हो? हम लोग चोर हैं, जो कुछ आपके पास हो यहीं रख दो।' बाबाजी उसकी बातें सुनी अनसुनी करके पूर्ववत् कीर्तन करते हुए आगे बढ़ने लगे। तब उस चोरने इनकी झांझें छीन ली और वह पूछने लगा कि 'जो कुछ लिये हो सब अभी बतलाओ। बाबाजीको दर्शनको चटपटी पड़ी थी, इधर यह झंझट सामने आ गया, बेचारे मन ही मन अपने इष्टदेव श्रीजुगलकिशोरजीका ध्यानकर कहने लगे' 'प्रभो! आज इस दाससे क्या अपराध बन पड़ा जो मार्गमें ही यह विघ्न-उपस्थित हो गया।' फिर कुछ सोचकर आप चोरोंसे बोले, भाइयो! मेरे पास तो इन झांझोंके सिवा और कुछ भी नहीं है। वे तो तुमने छीन ही ली हैं, मैं तो श्रीजीके दर्शनार्थ नित्य यही झांझें बजाता हुआ जाता हूं।' चोरोंने भी समझ लिया कि यह कोई साधु है, मालदार आसामी नहीं। अतएव वे लोग झांझ लेकर चल दिये। बाबाजीको झांझोंके छिन जानेसे बड़ा दुःख हुआ। ये विचार करने लगे, बिना झांझोंके श्रीहरिकीर्तन कैसे हो सकेगा? आज अधिक विलम्ब भी हो गया है। न जाने भगवान्‌के दर्शन हो सकेंगे या नहीं? परन्तु अब करते ही क्या? चुपचाप खाली हाथ ही प्रभु का ध्यान करते हुए आगे बढ़े।

कुछ ही आगे बढ़े होंगे कि भगवत्-इच्छासे वे चारों चोर अन्धे हो गये, और बाबाजीको जोर जोरसे पुकारकर कहने लगे, 'बाबाजी! ओ बाबाजी!! हम लोग अन्धे हो गये हैं। हमारी आंखें अच्छी किये जाओ। ये अपनी झांझें लिये जाओ।' बाबाजीने जब पुकार सुनी तब झांझें मिलनेकी प्रसन्नतासे तुरन्त ही लौट पड़े। चोरोंने ज्योंही इनका पद-शब्द सुना त्योंही वे चारों उनके चरणोंपर गिरकर विनय पूर्वक कहने लगे, 'महाराज! हम लोगोंसे बड़ा अपराध हुआ, क्षमा कीजिये। हमने आपको पहचाना नहीं था।' बाबाजीको इस आकस्मिक घटनापर अत्यन्त आश्चर्य हुआ। आप दयासे द्रवित होकर कह उठेः-

चोरीसे मुख मोड़ियो चोरनको नन्दलाल।
हमरी वस्तु दिवायके चोरन करो निहाल॥

कहते हैं, इतना कहते ही चोरोंकी आंखें ज्यों-की त्यों हो गयीं। उन लोगोंने झांझें बाबाजीको लौटा दीं और उन्हींको गुरुस्वरूप मानकर चोरी बटमारी त्यागकर, भगवत्सेवा पूजामें जीवन व्यतीत करनेका संकल्प कर लिया।

देर हो गयी थी इससे बाबाजी अति शीघ्रतासे आगे बढ़े, परन्तु आप पन्ना उस समय पहुंचे जब श्रीजुगलकिशोरजीकी संध्या-आरती ब्यारी शयन इत्यादि सब हो चुका था। जब आप मन्दिरमें प्रवेश करने लगे तब वहांके चौकीदारोंने कहा,' बाबाजी! अब तो पट बन्द हो गये हैं। इस समय आपको दर्शन नहीं हो सकते।' तब बाबाजीने श्रीजीका ध्यान करके यह साखी कहीः-

कपटिन कौं लागे रहैं हिम्मतदास कपाट।
प्रेमिनके पग धरत ही खुलत कपाट झपाट॥

इतना कहते ही मन्दिरके पट आप ही आप खुल गये। उस समय इनको श्रीजीके प्रत्यक्ष दर्शन हुए। उसी समय आपने प्रेममें विह्वल होकर यह स्तुति कीः—

लागे रहौ निसि वासर नाम सौं,
छाये रहौ छवि देख विहारी।
बैठे रहौ दरबार गुपालके,
नीके लगैं गुन ज्ञान उचारी।
तीनहू लोकके नायक हौ प्रभु,
रामलला बैदेहि दुलारी।
'हिम्मत दास' सदा उरमें,
बसबौ करौ राधिका कुंजविहारी।

इसके अतिरिक्त गीतगोविन्दके पद और अन्यान्य भजनोंसे आप श्रीजीकी स्तुति करते रहे। स्तुति करते करते मङ्गला-आरतीका समय आ पहुंचा। इसी अवसरपर महन्त गोविन्द-दीक्षितजी भी, जो उस मन्दिरके अधिकारी थे, मन्दिरमें पहुंचे। उन्होंने जब यह समाचार चौकीदारोंसे सुना, तब वे अत्यन्त आश्चर्यान्वित हुए, और हिम्मतदासजीके समीप जाकर, उनके दर्शन कर दण्डवत् प्रणाम किया।

तदनन्तर आज्ञा लेकर मङ्गला-आरतीकी वे तैयारी करने लगे। प्रातःकाल हो रहा था, उसी समय पन्ना-नरेश भी नित्य नियमानुसार भगवान्के दर्शनको पधारे। उन्होंने भी जब महात्माजीके प्रेमसे श्रीजीके मन्दिरके पट अपने आप खुल जानेका हाल सुना, तब महात्माजीको साष्टांग प्रणामकर यह प्रार्थना की कि 'महाराज! आपको बरायछग्राम नित्य आने जानेमें बहुत कष्ट होता होगा? अतः आप यहीं निवास कीजिये। मैं आपके लिये एक ग्राम अर्पण करता हूं। उसे स्वीकार कीजिए।'

महात्मा हिम्मतदासजीको तो पूर्ण सच्चिदानन्द पुरुषोत्तमके दर्शन हो चुके थे, अब इन्हें कमी ही क्या थी? इसलिये आप पन्ना नरेशके प्रलोभनमें नहीं आये। मङ्गला-आरती हो चुकनेपर अपने ग्रामको लौट गये।

इनके आश्रमपर साधु-अतिथियोंका अच्छा सत्कार होता था, जिससे इनके पास द्रव्यका संकोच सदा ही बना रहता था। आप अपने ग्रामके परमेश्वरी नामक वणिकके यहांसे निजके और कभी कभी साधु समाजकी सेवाके लिए सामान उधार मंगवा लिया करते थे और उसका हिसाब पीछे चुकता कर दिया जाता था। एकबार ऐसा हुआ कि कहींसे एक साधुओंकी जमात इनके आश्रमपर आ पहुंची। इन्हें अतिथियोंसे असाधारण प्रेम था ही, तुरन्त उनका भलीभांति आदरसहित आसनादिका प्रबन्ध कर दिया और भोजनादिके प्रबन्धके लिये बनियेके यहां पहुंचे। बनियेने उठकर बड़ी आवभगतसे इन्हें दूकानमें बैठाया और वह अपना हिसाब समझाने लगा। आप तो इस समय दूसरे ही कार्यसे आये थे। इन्होंने बनियेसे साधुओंके सत्कारके लिये सामान उधार मांगा। बनियेने कहा, 'महाराज! आपपर मेरे बहुतसे रुपये निकलते हैं। जबतक पिछला हिसाब चुकता न हो जायगा तबतक मैं और उधार नहीं दे सकता।' उसका यह कहना ठीक ही था।

बेचारे अपनासा मुंह लिये घर चले आये और धर्मपत्नीसे सब समाचार कह सुनाया। स्त्रीके पास उस समय केवल मात्र नाककी नथ ही शेष रह गयी थी। उसने साधु सेवाके निमित्त उस नथको ही गिरवी रखकर काम चलानेका आग्रह किया। महात्माजीको उस समय सुख दुःख दोनोंका सामना था। सुख इस बातका कि अब साधुसेवामें कोई त्रुटि न रहेगी। और दुःख इस बातका कि केवल एक ही गहना उस साध्वीकेपास था उसकी भी आज समाप्ति हो रही है। परन्तु किया क्या जाय? साधुसेवाव्रतीको तन मन धनसे सेवा करनेकी ही लालसा रहती है। इस लिये बिना अधिक सोच विचारके आप उस नथको लेकर सीधे बनियेके पास पहुंचे और उसे नथ देकर बोले, भाई! तुम इसे गिरवी रख कर आजका काम चलाओ तुम्हारा हिसाब पीछे कर दिया जायगा। बनियेने नथ लेकर महात्माको सब सामग्री दे दी। बड़े आनन्दसे साधु सेवा हुई। प्रसाद पाकर साधु भजनानन्दमें लग गये। प्रातः-काल साधु अपनी राह चले गये। अस्तु!

महात्माजी नित्य नियमानुसार नदी किनारे गये। उनकी स्त्रीका यह नियम था—वह प्रातः-काल उठकर पहले श्रीजीकी चौका टहल करती, पूजाके पात्र धोकर सब सामग्रियां एकत्रित करती और फिर गृह-कार्यमें लगती। तदनुसार वह अपने काममें लग रही थी। इधर श्रीजीने लीला रची। वे हिम्मतदासजीका रूप धारणकर

उस बनियेके घर गये और उससे बोले, 'भाई! अपना रुपया लो और मेरी नथ मुझे दो।' बनियेने अपनी बही देखकर कहा, 'आपपर कलकी रकमसहित पौने तीन सौ रुपये निकलते हैं, सो दे दीजिए और फिर हमारा आपका आजतकका हिसाब चुकता हो जायगा।' रुपये दे दिये गये, नथ बाबाजीको मिल गयी। उसे लेकर आप हिम्मतदासके घर पधारे और स्त्रीसे बोले, "यह नथ ले जाओ और पहन लो! वह उस समय चौका दे रही थी। चौका देते हुए ही उसने कहा, अभी तो आप धोती लोटा लेकर नदी गये थे इतनी देरमें ही यह नथ कहांसे ले आये ? हिम्मतदासरूपधारी प्रभुने तुरन्त ही उत्तर दिया वाह ! हिम्मतदासको रुपयोंकी क्या कमी है ? यह नथ लो और पहन लो।" स्त्रीने अन्दर हीसे कहा मैं श्रीठाकुरजीका चौका दे रही हूं चबूतरेपर रख दीजिये ! भगवान्ने कहा 'नहीं सुवर्णका गहना पृथ्वीपर रखना उचित नहीं है। आओ जल्दी पहन लो।' स्त्रीने प्रार्थना की 'मेरे हाथ तो गोबरमें सने हुए हैं अतः आप ही कृपा-कर पहना दीजिये।' तब प्रभुने निजकरकमलोंसे वह नथ उस भाग्यशालिनी ब्राह्मणपत्नीको पहना दी और बाहर आकर अन्तर्द्धान हो गये।

इतने में ही बाबा हिम्मतदासजी भी स्नान करके घर लौटे। अपनी स्त्रीको नथ पहने देखकर आप बोले, 'भद्रे ! यह नथ तुम्हें कहांसे मिली ?' स्त्रीने कहा, 'महाराज! क्यों हंसी करते हो ? अभी अभी आप हो तो पहनाकर गये थे। बुढ़ापेमें यह हंसी अच्छी नहीं लगती।' बाबाजी-को बड़ा आश्चर्य हुआ, उन्होंने फिर भी उससे कहा, "मैंने तुम्हें यह नथ कब पहनायी ?" स्त्री बोली, "महाराज ! अभी मैं अच्छी प्रकारसे हाथ भी नहीं धो पायी हूं। अपने ही हाथों अभी नथ पहनाकर आप बाहर गये थे। अब बाबाजी बिना ही कोई प्रश्न किये उस बनियेके पास पहुंचे और उससे पूछा, हमारी नथ तुमने किसके हाथ बेच डाली ?' उसने कहा, 'आप कहते क्या हैं ? अभी थोड़ी ही देर हुई आप ही तो नथ ले गये थे। यह देखिये, बही रक्खी है और यह आपका हिसाब चुकता होनेके दस्तखत हैं।' बाबाजीने बही देखकर आनन्द पुलकित तनसे गद्गदकण्ठ होकर कहा, 'भैया परमेश्वर ! तू बड़ा भाग्यवान् है। तुझे आज लीलामय भगवान्के दर्शन हो गये। तेरा परमेश्वरदास नाम आज सच्चा हो गया।'

यह कहकर बाबाजी घर लौट आये और स्त्रीसे बोले, 'प्रिये ! तुम्हें और उस बनियेको आज श्रीजीके दर्शन हो गये। मैंने न जाने कौन सा अपराध किया था जो मुझे नहीं हुए।' इतना कहते कहते बाबाजीके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु-पात होने लगा और वे भगवान्के विरहमें व्याकुल हो पृथ्वीपर लोटने लगे। उस दिन उन्होंने कुछ भी नहीं खाया। दिनभर ध्यान-मग्न बैठे रहे। दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही उन्हें आकाश-वाणी सुन पड़ी कि 'आजसे सातवें दिन तुम्हें वृन्दावन में दर्शन होंगे।' इतना सुनना था कि महात्माजीमें अद्भुत स्फूर्ति उत्पन्न हुई और आप तुरन्त उठकर अपनी झांझें बजाते, कीर्तन करते श्यामाश्यामकी रट लगाते वहांसे चल पड़े। सातवें दिन वृन्दावनके समीप पहुंचे ही थे कि उधरसे वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण महाराज भुवन-मोहन नटवर वेष धारण किये प्रकट हुए। दोनोंका साक्षात्कार हुआ। महात्माजीका शरीर पुलकायमान हो गया। प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगे। तन मनकी सुध जाती रही। आप बेसुध होकर मुनिजन-दुर्लभ प्रभु-पद-पंकजोंमें गिर पड़े। (प्रभु-मिलनके सुख वर्णनका सामर्थ्य क्षुद्र लेखनीमें कहां ?)

भगवान्ने इन्हें उठाकर हृदयसे लगाया और इनके सिरपर निज करकमल रख इनकी अलौकिक भक्तिकी सराहना करते हुए कहा, तुमने सात दिन मार्गमें अन्नादिके बिना अत्यन्त ही कष्ट उठाया होगा, चलो, आओ ! इस कदम्ब वृक्षकी छांहमें भोजन करें। फिर वृन्दावनके

दर्शन हों।' प्रभु-आज्ञा शिरोधार्यकर इन्होंने थोड़ासा महाप्रसाद ग्रहण किया। भगवान्‌के दर्शन-सुखसे इनकी पूर्ण तृप्ति पहले ही हो चुकी थी। बाल-भोग हो जानेपर भगवान् बोले कि 'हम तुमसे फिर मिलेंगे। अब तुम आनन्दसे वृन्दावनके दर्शन करो, ऐसा कहकर वहीं अन्तर्द्धान हो गये।

भगवान्‌के पुनर्दर्शनके लिये उत्सुक महात्माजी वृन्दावनकी कुंजोंमें विचरने लगे। अन्तमें वे जिधर देखते उधर ही उन्हें जुगलमूरति श्रीश्यामाश्याम दीखने लगे. तब इन्होंने कहा:—

जुगलरूप दरसैं सबै, मरकट विपिन मयूर।
'हिम्मत' ब्रज परसैं बिना, जियत जगतमें कूर॥

दूसरे दिन आप मनोहर घाटोंका दर्शन करते हुए श्रीयमुनाजीके तटपर पहुंचे। वहाँ क्या देखते हैं कि श्रीजी महाराज नवल हिंडोला झूल रहे हैं। अतः आप तुरन्त ही समीप पहुंचकर श्रीजीको झूला झुलाने और गाने लगे:—

नवल कुंज यमुना निकट, हीरन जटित हिंडोर।
"हिम्मतदास" झुलावहीं, झूलत जुगलकिशोर॥

इसप्रकार उस त्रैलोक्यमोहिनी मूर्तिका दर्शनकर वे आनन्द मग्न हो रहे थे कि श्यामसुन्दर अकस्मात् अन्तर्द्धान होगये। तब महात्माजी भगवान्‌के दर्शनकी लालसासे मथुराजी होते हुए गोकुल पहुंचे। वहां भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने इन्हें ग्वालरूपसे दर्शन दिये। तदुपरान्त बाबाजी व्रजके सभी पुण्य-स्थानोंका दर्शनकर, बारम्बार व्रजरज स्पर्शकर और सिर-पर धर श्रीवृन्दावन-विहारीकी अनुपम छटामें छके हुए प्रफुल्लित हृदयसे घर लौटे।

इसप्रकार महात्माजीने अपनी समस्त आयु केवल भगवत्-भजन एवं हरि-कीर्तनमें ही व्यतीत की। महात्माजीका यह कल्याणप्रद संक्षिप्त चरित्र कल्याणके प्रेमी पाठकोंके विनोदार्थ सप्रेम अर्पण है; आशा है कि भावुक महानुभावोंको यह सन्तोषप्रद होगा।

बोलो भक्तवत्सल भगवान्‌की जय।

अन्तमें—

है वह देश किधर जाकर
करते हैं जहां पथिक विश्राम।
जहां आंसुवोंके बदलेमें,
मिलता है सौदा अभिराम॥

प्रथम प्रभात उदयसे चलता हूं
—न हुआ पर पथका अन्त।
मेरे क्रन्दन-कोलाहलसे,
होगा गूंजित आज दिगन्त॥

छिपी हुई चिर आहोंकी दारुण
ज्वाला उगलेंगे प्राण।
जिसमें जलकर राख बनेंगे,
सारे अहंकार अज्ञान॥

समझ न आता खिले गगनके
अगणित तारोंका संकेत।
चारों ओर दृष्टिमें आता है
—विस्तृत ऊसरका रेत॥

अब बसन्तके आश्वासनसे
होता नहीं हृदय यह शान्त।
भरा जा रहा है आंसूसे,
धीरे धीरे जीवन-प्रांत॥

मेरे रोनेसे अनन्तका
सिंहासन हिल जायेगा।
अमर प्रकाश अन्तमें आकर
मेरा पथ दिखलायेगा॥

—श्रीजगन्नाथ मिश्र गौड़ "कमल"

एक मुसलमान सन्तका सदुपदेश

महात्मा अहमद अण्टाकी महान् साधक और तत्त्ववेत्ता पुरुष थे। आप अण्टाकिया नगरमें रहते थे। इनके सत्-वचनोंमेंसे कुछ यहां उद्धृत किये जाते हैं-

१-यदि तुम तत्त्वज्ञानी सन्तोंके साथ रहना चाहो तो श्रद्धा और निष्ठापूर्वक रहना, तभी उनकी कृपा तुम्हारे अन्तःकरणमें प्रवेशकर तुम्हें सत्मार्गपर चलानेवाला दूत बन जायगी।

२-वैराग्यके चार लक्षण हैं:-(१) ईश्वरमें विश्वास, (२) संसारसे उपरामता, (३) ईश्वरके प्रति विशुद्ध प्रेम और (४) धर्मके लिये कष्ट उठाना।

३-साधकके हृदयमें जो प्रभुके प्रति लज्जा और प्रभुका भय कम देखनेमें आवे तो उसे अल्पज्ञानी समझना चाहिये।

४-मनुष्य जितना ही अधिक ज्ञानी होता है, वह उतना ही अधिक नीतिवान् और ईश्वरभक्त होता है।

५-जब तुम अपना सच्चा कल्याण समझोगे और खोजोगे, तब तुम्हें अपनी कमजोरियाँ भी दिखायी पड़ेंगी और तब तुम मन वाणीके संयमके लिये प्रभुकी सहायता जरूर चाहोगे।

६-कौनसी दीनतासे अधिक उपकार होता है? जिस दीनतासे तुम गंभीरप्रकृति और प्रसन्नचित्तवाले बन सकते हो उस ईश्वरके प्रति रहनेवाली दीनतासे न कि मनुष्योंकी दीनतासे।

७-जो ज्ञान तुम्हें दैवी सम्पत्तिकी ओर ले जाता है, ईश्वरका उपकार माननेके लिये प्रेरणा करता है और लौकिक कामनाओंके हटानेमें सहायक होता है, वही सच्चा ज्ञान है।

८-जो इच्छाएं तुम्हारी कपटता, कृत्रिमता (बनावटीपन) और तुम्हारे आडम्बरोंको हटाती हैं वे दैवी इच्छाएं ही तुम्हारे लिये उपकारी हैं। लौकिक इच्छाएं नहीं।

९-जो मनुष्य छोटे पापोंको नाचीज समझकर करता रहता है, वह थोड़े ही समयके अन्दर महान् पापोंमें फँसकर अन्तमें बड़ी भारी विपत्तियोंका शिकार बन जाता है।

१०-उत्तम मनुष्य जहाँ अध्यात्मविद्याके सुखसागरमें डूबा रहता है, वहाँ साधारण मनुष्य मूर्खकी तरह आलस्य और अज्ञानके कँटीले जंगलोंमें भटका करता है।

११-सब कामोंकी अपेक्षा अध्यात्मज्ञान प्राप्त करना ही सर्वोपरि लाभदायक है; क्योंकि ज्ञानकी प्राप्ति ईश्वर कृपाकी प्राप्तिके सदृश है।

१२-विश्वास एक ऐसी ज्योति है कि उसके एकबार हृदयमें प्रकट होते ही उसके प्रकाश-द्वारा सारी पारलौकिक बातें अनायास ही समझी जा सकती हैं; इतना ही नहीं, उसके और परलोकके बीचमें बाधा देनेवाले सम्पूर्ण आवरण, पाप और विघ्नोंको भी यह ज्योति जलाकर भस्म कर डालती है जिससे साक्षात् प्रभुकी प्राप्ति हो सकती है।

१३-यदि तुम प्रभुके ही प्रेमी हो अथवा प्रभुकी ही कृपा प्राप्त करना चाहते हो तो, जब तुम कोई शुभ काम करो, तब उसके लिये लोग तुम्हारी वाह वाही करें, तुम्हें मान दें अथवा तुम्हारा स्मारक बनावें ऐसे लोकप्रतिष्ठाके भाव या किसी दूसरे लौकिक पदार्थकी इच्छा जरासी भी अपने मनमें मत आने दो। इसीका नाम सच्ची सात्त्विकता (या निष्काम कर्म) है।

१४–तुम सत् कार्य करो, तब ऐसी लगनसे करो कि मानों सारे जगत्में वह कार्य केवल अकेले तुमको ही सौंपा गया है, और वह भी ऐसी गुप्त रीतिसे करनेके लिये सौंपा गया है कि जिसमें उसको केवल एक मालिक ही देख सके।

१५–मनुष्य अपने जीवनके बाकी दिनोंका यदि सदुपयोग करे तो वह पहलेके सारे दोषों और पापोंको धोकर क्षमा पा सकता है।

१६–आन्तरिक रोगकी पांच दवाइयां हैं–(१) सत्संग, (२) धर्मशास्त्रका अध्ययन, (३) स्वल्प आहार विहार, (४) रातकी और प्रातःकालकी उपासना और (५) जो कुछ किया जाय सो एकाग्रतापूर्वक और सारी शक्ति लगाकर करनेकी पद्धति।

१७–सदाचरणके दो प्रकार हैं–(१) जन-समाजके साथ धर्म और नीति पूर्वक बर्ताव करना, इसका नाम बाह्य सदाचार है और (२) प्रभुके प्रति ध्यान, भजन, श्रद्धा, प्रार्थना, संतोष, कृतज्ञता, उनके दर्शनकी आतुरता, प्रेम और उनका आज्ञापालन आदि रूप जो आचरण किये जाते हैं, वे आन्तरिक सदाचार हैं।

१८–प्रभुके प्रति प्रेमके चार लक्षण हैं–(१) साधनमें आडम्बरका अभाव, (२) निरन्तर अध्यात्म-चिन्तन, (३) एकनिष्ठ प्रेम और (४) मौन भावका सेवन।

१९–सच्चा साधक जहांतक प्रभुका प्रेमी नहीं बन जाता, वहांतक लोगोंको अपना भाव नहीं दिखलाता, कोई बुलवाना चाहता है तो भी बोलता नहीं, विपत्तिमें घबराता नहीं, सम्पत्तिमें फूलता नहीं, डरता नहीं और किसीको डराता नहीं। किसीको वचन देता भी नहीं और लेता भी नहीं।

२०–भयका फल पापोंसे दूर रहना और परमात्माकी श्रद्धाका फल उसे खोजना है। जो मनुष्य अपनेको नीतिवान् या उपदेशक बताता है परन्तु पापसे दूर नहीं रहता; या जो अपनेको श्रद्धालु और भक्त बतलाकर भी प्रभुकी खोज नहीं करता या उसकी आज्ञाका पालन नहीं करता, ऐसे दोनों ही मनुष्य सर्वथा झूठे, बड़े पाखण्डी और महान् ठग हैं*।

आश्वासन !

होनी थी जो कुछ हाय ! सो तो अब हो ही चुकी,
व्यर्थ ही के लिये अब, यह रोना-धोना है !
आंसूसे भिगोना वस्त्र, खोना समयका वृथा,
याही गति एक दिन–सब ही की होना है !!
'विहल' इस देहके–वास्ते न रोना इष्ट,
यह तन मानों एक–मिट्टीका खिलौना है !
मूर्तिकार मूर्ति यूं ही बिगाड़ता नित्य-प्रति,
बनाता नमूना नित्य–दूसरा सलोना है !!

—वैद्यनाथ मिश्र 'विह्वल'

---

* मुस्लिम महात्माओंसे—

विवेक-वाटिका

जो आत्माको सब भूतप्राणियोंमें और सब भूत-प्राणियोंको आत्मामें देखता है उससे वह (परमात्मा) नहीं छिपता । —उपनिषद

* * * *

जो सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माको और परमात्मामें सम्पूर्ण भूतोंको देखता है उससे परमात्मा अदृश्य नहीं होते और वह परमात्मासे अदृश्य नहीं होता ।

—श्रीमद्भगवद्गीता

* * * *

इच्छाका त्याग करनेवालेको घर छोड़नेकी क्या आवश्यकता है ? और इच्छाके बन्धनमें रहनेवालेको वन-गमनसे क्या लाभ है ? सच्चे त्यागीका निवासस्थान ही वन तथा भजन ही कन्दरा है । —महाभारत

* * * *

जिस हृदयमें प्रभु-प्रेमको स्थान नहीं वह मसानके तुल्य है, अथवा श्वास लेनेवाली लोहारकी प्राणरहित धौंकनीके समान है । —महात्मा कबीर

* * * *

हर्षके साथ शोक और भय इस प्रकार लगे हैं जिस प्रकार प्रकाशके संग छाया । सच्चा सुखी वही है जिसकी दृष्टिमें दोनों समान हैं । —धम्मपद

* * * *

जो समय भगवान्‌के स्मरण चिन्तनमें लगाता है, वही सार्थक है । —गुरु नानक

* * * *

विषयोंमें काकविष्ठाके सदृश असत्‌ बुद्धि होनी चाहिये । —शंकराचार्य

* * * *

संसार जितना चञ्चल लक्ष्मीके पीछे पागल है, उसके शतांश परिश्रममें ही वह परमार्थका अचल धन प्राप्त कर सकता है । —पारस भाग

* * * *

शत्रुसे भी प्रेम रक्खो । दान अथवा शुभ कर्मोंमें फलकी कामना न करो, तभी प्रभु प्रसन्न होगा ।—ईसा

* * * *

प्रत्येक मनुष्यके साथ भलाई करो, किसीके साथ बुराई मत करो । यदि तुम्हारे साथ कोई बुराई करता है तो उसकी जिम्मेवारी उसपर है । तुम अपना मन कलुषित कर कर्तव्यसे न हटो । —मारकस आरीलियस

* * * *

हठका सामना हितसे करो तो सफलता प्राप्त होगी । तलवारकी तिक्ष्ण धार मुलायम रेशमको नहीं काट सकती । —सादी

* * * *

हे ईश्वर ! मुझे भूलसे मारनेवाले जीवोंका अपराध क्षमा कर । —यवन हरिदास

* * * *

सांसारिक क्रियाओंका सम्पादन करते समय दो बातें सदा स्मरण रक्खो; प्रथम ईश्वर और द्वितीय मृत्यु ! किन्तु तुम दूसरोंके प्रति जो भलाई करो अथवा दूसरा मनुष्य तुम्हारे प्रति जो बुराई करे इन दोनों बातोंको भूल जाओ । —लुकमान

* * * *

जीवनमें निम्नलिखित तीन बातोंका सदा स्मरण रक्खो–(१) क्रोधमें क्षमा, (२) अभावमें उदारता तथा (३) अधिकारमें सहिष्णुता । —इदरीस

* * * *

जो काम मद और क्रोधसे छूटकर ईश्वरके चरणोंमें लगे हुए हैं, वे सारे संसारको ईश्वरमय देखते हैं, इस-लिये वे किससे विरोध करें ? —तुलसीदास

* * * *

जिसने मनरूपी राक्षसको वशमें कर लिया, वही सर्व-श्रेष्ठ पुरुष है । —मीरा

* * * *

सेवकमें स्वामी तथा स्वामीमें दास है, अतः जिसने अपनेको नहीं पहचाना वह स्वामीको कैसे पहचान सकता है ? —दूलनदास

श्रीलक्ष्मणजी

(लेखक-ब्रह्मचारी पं० श्रीप्रभुदत्तजी)

लक्ष्मणजी महाराजा दशरथजीके तृतीय पुत्र भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके लघु भ्राता और महारानी सुमित्राके लाड़िले लाल थे। माताने इन्हें जन्मसे ही श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें नियुक्त कर दिया था। यह सदा श्रीरामचन्द्रजीके आज्ञाकारी सेवक बनकर उनके साथ रहे। विश्वामित्रजीके यज्ञकी रक्षाके निमित्त श्रीरामचन्द्रजीके साथ यह भी वनोंमें गये। राजा जनकके यज्ञमें भी यह श्रीरामचन्द्रजीके साथ उपस्थित थे। श्रीरामचन्द्रजीके साथ ही इनका विवाह हुआ। श्रीरामचन्द्रजीके वन-गमन करनेपर यह चौदह वर्षतक उनके साथ ही रहे और अन्तमें श्रीरामचन्द्रजीके साथ ही यह अवधपुरीको लौटकर आये। इनका सम्पूर्ण जीवन अपना न होकर रामचन्द्रजीका ही है। इन्हें यदि रामचन्द्रजीकी प्रतिच्छाया कहें तो अत्युक्ति न होगी!

शील और स्वभाव—लक्ष्मणजी बहुत अधिक भावुक थे। भावुकता जब सीमाका उल्लंघन कर जाती है, तब वह कहीं कहीं उग्रताके रूपमें परिणत हो जाती है। यदि इसके साथ ही साथ बल पौरुषका भी समावेश हो जाय तो फिर उस उग्रताका कहना ही क्या है? 'एक तो गिलोय वैसे ही कड़वी थी तिसपर भी नीम चढ़ी' फिर उस कड़वेपनका भला क्या पूछना है?

भावुकता एक अनिर्वचनीय गुण है, जिस मनुष्यमें भावुकता नहीं उसमें और पशुमें अन्तर ही क्या है? भावुकता ही मनुष्यताकी जान है किन्तु भावुकता होनी चाहिये मर्यादाके अन्दर ही। साथ ही साथ गम्भीरताका होना भी परमावश्यक है। यदि भावुकता आवश्यकतासे अधिक हुई और उसके साथ गम्भीरता न रही तो वह क्रोध और उग्रताका रूप धारण कर लेती है। ऐसे पुरुष अपने सामने किसीको कुछ भी नहीं समझते हैं। उनकी किसीके ऊपर सहसा श्रद्धा नहीं होती। या तो वे सदा मनमाना कार्य किया करते हैं अथवा यदि उनकी किसी-पर श्रद्धा हो गयी तो फिर वे उसके क्रीतदास बन जाते हैं। जिसके ऊपर उनकी श्रद्धा जम गयी, बस, उनके लिये वहां सर्वस्व है, फिर चाहे वह उनसे कैसे भी कार्यके लिये क्यों न कहे, वे उसके लिये 'ना' नहीं करते! लक्ष्मणजी कुछ उन्हीं पुरुषोंमेंसे थे!

यह स्वाभाविक ही पराक्रमी और बलवान थे, साथ ही परम भावुक और उग्र स्वभावके थे। श्रीरामचन्द्रजीको छोड़कर यह किसीको कुछ समझते ही न थे। पहले ही पहल महारानी कैकेयीजीने लक्ष्मणजीके स्वभावका परिचय दिया है। जब मन्थरा रामचन्द्रजीके युवराज बनाये जानेके उपलक्ष्यमें नगरको सजा हुआ देखती है, तो उसे महान् दुःख होता है। वह व्याकुल होकर दौड़ी दौड़ी भरतजीकी माताके पास जाती है। कईबार उसकी व्याकुलता और हांफनेका कारण पूछनेपर जब कैकेयीजीको कुछ उत्तर नहीं मिलता है तो वे हँसकर कुबरीसे कहती हैं—

हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे।
दीन्ह लषन सिख अस मन मोरे॥

इससे विदित होता है, कि लक्ष्मणजी नौकर चाकरोंको समयपर चपतद्वारा भी शिक्षा दे देते रहे होंगे!

* * * *

धनुषयज्ञके समय जब कोई भी राजा शिवजीके धनुषको न चढ़ा सका, तब महाराजा जनकको क्षोभ होना स्वाभाविक ही था। उन्होंने सब राजाओंको लक्ष्य करके कहा—

अब जनि कोउ माखै भटमानी।
वीर विहीन मही मैं जानी॥
जो जनतेउं बिनु भट महि भाई।
तौ प्रण करि होत्यौं न हँसाई॥

यह बात उन्होंने किसी एकसे नहीं कही थी। सभी राजाओंकी ओर संकेत था। सबमें तो श्रीरामचन्द्रजी भी आ गये। लक्ष्मणजीमें बल था, पौरुष था, जात्यभिमान था और सबसे बढ़कर उनमें अपने बलका भरोसा था। वे भला इस अपमानको कैसे सहन कर सकते थे? श्रीरामचन्द्रजी यदि उस समय वहां न होते तो न जाने वे क्या कर डालते। परन्तु श्रीरामचन्द्रके होते हुए भी वे इसप्रकारके अपमानको चुपचाप सहनेवाले पुरुष नहीं थे। बस, जनकजीके वचन कानमें पड़ने थे कि फिर लक्ष्मणजीके रूपका क्या कहना है—

माखे लखन कुटिल भइँ भौंहैं।
रदपट फरकत नयन रिसौंहैं॥

इतना सब हुआ किन्तु श्रीरामचन्द्रजीका भय अभी बना ही हुआ है। परन्तु जनकके वचनोंको फिरसे स्मरण करके और इससे समस्त राजाओंके साथ रघुवंशियोंका अपमान भी हुआ समझकर वे रामचन्द्रको प्रणाम करके बोले-

कही जनक जस अनुचित बानी।
विद्यमान रघुकुलमणि जानी॥

इतना कहकर वे अपने बल पौरुषका स्मरण करते हुए रामचन्द्रजीसे साहस और दृढ़ताके साथ कहते हैं-

जौं राउर अनुसासन पावउं।
कंदुक इव ब्रह्माण्ड उठावउं॥
काँचे घट जिमि डारौं फोरी।
सकौं मेरु मूलक इव तोरी॥
कमलनाल जिमि चाप चढ़ावउं।
सत योजन प्रमाण लै धावउं॥
तोरउं छत्रक दण्ड जिमि, तव प्रताप बल नाथ।
जौं न करउं प्रभुपद सपथ, पुनि न धरौं धनु हाथ॥

वाह वाह, धन्य है लक्ष्मणजी! बात तो ठीक कही, किन्तु आवश्यकतासे अधिक क्रोधमें आ गये! इस बातको धीरेसे प्रेमपूर्वक भी कह सकते थे, किन्तु क्रोधमें भरकर बहुत अधिक कह गये। यद्यपि तुम्हारी इस बहादुरीसे सबके छक्के छूट गये, पृथ्वी डगमगा गयी, दिग्गज अपने अपने स्थानोंसे हट गये, सब राजा लोग डर गये, किन्तु साथ ही सब लोग यह भी समझ गये, तुम बड़े क्रोधी हो। रामचन्द्रजी तो तुम्हारे स्वभावको जानते हैं। वे तुम्हारी एक एक बातसे परिचित हैं। जहां बड़े बड़े योद्धा तुम्हें अस्त्र शस्त्रोंसे भी नहीं बैठा सकते थे, वहां श्रीरामचन्द्रजीके सैनके इशारेसे ही तुम अबोध बालककी भांति उनके पास जा बैठे।

सयनहिं रघुपति लषन निवारे।
प्रेम समेत निकट बैठारे॥

* * * *

श्रीरामचन्द्रजीके धनुष तोड़नेपर क्रोधमें भरकर परशुरामजी इस बातको सुनकर सभा-मण्डपमें आ धमके। उनके आते ही सबके छक्के छूट गये। राजा लोग मारे डरके सूख गये। उस विकराल मूर्तिको देखकर सब भयसे कांपने लगे। आते ही वे पूछ बैठे-'किसने यह धनुष तोड़ा है?' अब उनके सामने उत्तर देनेकी हिम्मत किसमें थी! श्रीरामचन्द्रजीने सरल स्वभावसे कह दिया-

'धनुष तोड़नेवाला कोई आपका दास ही होगा।' यह सुनते ही परशुरामजी क्रोधमें भरकर रामचन्द्रजीसे बुरी भली कहने लगे। लक्ष्मण जैसे निर्भीक और खरी कहनेवाले भला उस समय कब चूकनेवाले थे। क्रोधी पुरुषको क्रोधमें भरा हुआ देखकर गम्भीर पुरुष चुप हो जाते हैं, इससे उसका क्रोध शान्त हो जाता है। किन्तु जिन्हें क्रोधीको उभाड़नेमें ही मजा आता है, वे उसके सामने हंस देते हैं, उसकी बातकी उपेक्षा करते हैं, तो उस पुरुषका क्रोध दुगुना हो जाता है। लक्ष्मणजीको तो छेड़नेमें ही मजा आता था, अतः—

सुनि मुनि वचन लखन मुसुकाने।
बोले परसुधरहिं अपमाने॥
बहु धनुहीं तोरी लरिकाईं।
कबहुं न अस रिस कीन्ह गुसाईं॥

यह सुनते ही परशुरामजी आग बबूला हो गये। वे बोले—'अरे छोकड़े! क्या सभी धनुष त्रिपुरारिके धनुषके समान हो जायंगे?' यह सुनते ही लक्ष्मणजी फिर ठठाका मारकर हँसने लगे और परशुरामजीकी बातकी उपेक्षा करते हुए उन्हें बनाने लगे—

लषन कहा हँसि हमरे जाना।
सुनहु देव सब धनुष समाना॥
का छति लाभ जीर्ण धनु तोरे।
देखा राम नयेके भोरे॥

'लो इसमें रामजीका क्या दोष? रामचन्द्रजीने समझा था कि नया होगा इसलिये उसे उठा लिया। वह तो जाने कबका पुराना सड़ा घुना निकला। छूते ही टूट गया, इसके लिये वे क्या करें।' कैसे उपेक्षाके वचन हैं।

इन वचनोंके सुनते ही मानों प्रज्वलित अग्निमें घी पड़ गया, परशुरामजी अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपना प्रबल फरसा लक्ष्मणजीको दिखाने लगे और कहने लगे "गर्भनके अर्भक दलन, परसु मोर अति घोर" उन्होंने समझा था, कि मेरे क्रोधके वचनोंको सुनकर लक्ष्मणजी डर जायेंगे, किन्तु उन्हें पता नहीं था, कि यह हमारे ही भाई बन्धु हैं। इसप्रकारकी बँदरघुड़कियोंमें नहीं आनेके 'उनकी बातको सुनकर लक्ष्मणजी अबके और भी अधिक जोरसे हंसे और दृढ़तापूर्वक जोरदार शब्दोंमें अपने बलको प्रदर्शित करते हुए, बनावटी शिष्टाचारके साथ बोले—

पुनि पुनि मोंहि देखाव कुठारा,
चहत उड़ावन फूंकि पहारा।
इहां कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं,
जो तर्जनि देखत मरि जाहीं।
भृगुकुल समुझि जनेउ बिलोकी,
जो कछु कहहु सहौं रिस रोकी।

ये तो आपके रिसको रोककर कहे हुए शब्द हैं। यदि रिसमें भरकर कहते, तो जाने क्या न कर डालते? और क्या कर डालते, गद्द पद्द होने लगती! उसका भी लक्ष्मणजी उत्तर देते हैं। वे इसके लिये भी तैयार हैं। 'जब ओखलीमें सिर दिया तो फिर मूसलोंसे क्या डर?' किन्तु वे ऐसा करते क्यों नहीं? उनके ही मुखसे सुनिये—

सुर महिसुर हरिजन अरु गाई,
हमरे कुल इन्हपर न सुराई।
बधे पाप अपकीरति हारे,
मारतहू पां परिय तुम्हारे।

अब समझे आप? यही कारण, 'कि अबतक गुत्थमगुत्थाकी नौबत नहीं आई है। नहीं तो जाने क्यासे क्या हो जाता? इतना सब कहनेके बाद लक्ष्मणजी कहते हैं "महाराज, इस धनुष-बाणको तो आप व्यर्थमें ही लटकाये फिरते हैं। ये आपके वचन ही करोड़ों बाणोंका काम करते हैं।" इतना कहकर जल्दीसे पूछते हैं—"ठीक है न, इसमें कुछ झूठ तो नहीं है? यदि कुछ अनुचित हो तो क्षमा कर देना!"

जब परशुरामजी बहुत अधिक झुंझला गये तो वे बहुत कुछ अंट संट कहने लगे, मारने

तकको उद्यत हो गये। तब लक्ष्मणजी कहने लगे-"महाराज आप तो मानों कालको हांककर ही ले आये हैं। इतना कहकर आप फिर उपदेशक बन गये—

> वीर-वृत्ति तुम धीर अछोभा,
> गारी देत न पावहु शोभा।
>
> शूर समर करणी करहिं, कहि न जनावहिं आप।
> विद्यमान रण पाइ रिपु, कायर कथहिं प्रलाप॥

जब परशुरामजीने देखा कि मैं जितना भी क्रोध प्रकट कर सकता था, उसके करनेपर भी यह छोकड़ा नहीं दबता, तब वे विश्वामित्रजीसे कहने लगे-"ऋषिवर, तुम्हारे शीलके ही कारण अबतक यह लड़का जिन्दा बचा हुआ है, यदि तुम्हारे साथ न होता, तो अबतक यह कबका मेरे फरसेके द्वारा यमपुर सिधार गया होता। अपने गुरुके धनुष तोड़नेवालेको यमपुर भेजकर मैं गुरुके ऋणसे तो उऋण होता।

इतना सुनते ही लक्ष्मणजीने फिर एक चुभता हुआ तीखासा व्यंग बाण छोड़ा। हां महाराज, ठीक है—

> मातुहि पितुहि उऋण भये नीके,
> गुरु ऋण रहा सोच बड़ जीके।
> सो जनु हमरेहि माथे काढ़ा,
> दिन चलि गये ब्याज बडु बाढ़ा।
> अब आनिय व्यवहरिया बोली,
> तुरत देव मैं थैली खोली।

अरे राम! राम!! जिस परशुरामने विपुल बार पृथ्वीको क्षत्रियोंसे हीन बनाकर ब्राह्मणोंको राजा बनाया हो, उसके सामने एक राजाका तनिकसा छोकड़ा इतनी कड़ी बात कह जाय? बस फिर क्या था, परशुरामजीने अपना फरसा सीधा कर ही तो लिया। हंसीमें खंसी होते देख सब लोग हाहाकार करने लगे। सबने समझा अब लक्ष्मणजीकी खैर नहीं है। परशुरामजी एक ही फरसामें काम तमाम कर डालेंगे। जब रामचन्द्रजीने देखा कि बातनि ही बातनिमें रारि हुआ चाहती है, तो वे बड़ी ही नम्रताके साथ परशुरामजीसे कहने लगे-"महाराज, अभी यह लड़का है, आप इतने वृद्ध और पूज्य होकर इस लड़केके मुंह क्यों लगते हैं? जाने दीजिये, इसपर दया करके इसे क्षमा कर दीजिये। आप जैसे शील धीर ज्ञानी मुनिके लिये क्षमा ही शोभा देती है।" रामचन्द्रजीके स्वाभाविक नम्र वचनोंसे मुनिका क्रोध कुछ ठंढा पड़ा। परन्तु लक्ष्मणजीका तो यह अभीष्ट ही न था; वे तो चाहते थे कि परशुरामजी कुछ और बकझक करें। उन्हें इसमें मजा आता था। अपने बलका उन्हें पूरा भरोसा था, वे यह जानते थे कि परशुरामजी मेरा कुछ कर तो लेंगे ही नहीं। यह नाटक थोड़ी देर और हो तो अच्छा है, परन्तु अब तो रामचन्द्रजी बीचमें पड़ गये। उनके सामने अब उत्तर देना तो अनुचित होगा। अच्छा अब वाणीसे न सही तो लाओ थोड़ा इशारोंसे ही चिढ़ावें। रामचन्द्रजी-की विनयसे उनका क्रोध थोड़ा ही शिथिल पड़ा था कि—

> राम वचन सुनि कछुक जुड़ाने।
> कहि कछु लषन बहुरि मुसुकाने॥

बस फिर क्या था? परशुरामजी आपेसे बाहर होकर कहने लगे—

> हँसत देखि नख शिख रिसि व्यापी।
> राम तोर भ्राता बड़ पापी॥
> गौर शरीर स्याम मन माहीं।
> काल कूट मुख पयमुख नाहीं॥
> सहज टेढ़ अनुहरै न तोही।
> नीच मीच सम लखै न मोही॥

अब तो लक्ष्मणजीको फिर सहारा मिल गया। परशुरामजीकी क्रोधाग्निको जोरोंसे प्रज्वलित होते देख लक्ष्मणजी जन्म-सिद्ध उपदेशक बन गये। आप झूठी गम्भीरता धारण

करके और उन्हें चिढ़ानेके निमित्त थोड़ा हँसकर समझाने लगे—

लषन कहेउ हँसि सुनहु मुनि, क्रोध पापकर मूल।
जेहि बश जन अनुचित करहिं, चरहिं विश्वप्रतिकूल॥

महाराज! इतने क्रोधित क्यों होते हैं, हम तो आपके दास हैं, यदि यह धनुष आपको बहुत अधिक प्यारा है तो कोई उपाय बताइये, कोई ऐसी चीज हो, कि जिससे यह फिरसे जुड़ जाय तो हम उसे ही लावें। आप तो बहुत देरसे खड़े हैं, खड़े खड़े पैर दुखने लगे होंगे, थोड़ा सुस्ता लीजिये!

जनकजी मन ही मन डर रहे थे, पुरके नर नारी डरसे थर थर कांप रहे थे, वे मनमें कह रहे थे 'छोट कुमार खोट अति भारी।' परशुरामजीने अब लक्ष्मणजीसे कुछ कहना उचित न समझकर रामचन्द्रजीसे कहा—तू सीधा सादा है और यह तेरा छोटा भाई है, इसीलिये मैं इसे नहीं मारता। लक्ष्मणजी यह सुनकर फिर हँस पड़े। रामचन्द्रजीने बातको अधिक न बढ़ जानेके कारण लक्ष्मणजीको सैनोंमें ही डांट दिया। बस फिर क्या था, जादू चल गया। लक्ष्मणजी सकुचकर गुरुजीके पास जाकर बैठ गये—

सुनि लक्ष्मण विहँसे बहुरि, नयन तरेरे राम।
गुरुसमीप गवने सकुचि, परिहरि वाणी वाम॥

❋　　❋　　❋　　❋

रामचन्द्रजी जब वनको जाने लगे तो दशरथजीने सुमन्तजीसे यह कहकर कि 'दो चार दिन इन्हें रथमें बिठाकर इधर उधर वनोंमें घुमा फिराकर लौटा लाना, रामचन्द्रजीके साथ भेज दिया था। गङ्गाजीके किनारेपर जाकर जब उन्होंने रामचन्द्रजीसे लौट चलनेकी प्रार्थना की तो लक्ष्मणजी अपने हृदयके भावको नहीं रोक सके। रोषमें आकर अपने सगे पिताको दस पांच खरी खोटी सुना गये। रामचन्द्रजीने उन्हें डांटकर कहा—हैं, यह क्या कह रहे हो? यह अनुचित बात है—

पुनि कछु लषन कहेउ कटुबानी।
प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी॥

रामचन्द्रजीने सोचा—'सुमन्तजी जाकर पिताजीसे इस बातको कहेंगे, संभव है पिताजी यह समझें कि ये वाक्य मेरी ही सम्मतिसे कहे गये हों। इससे उन्हें अत्यन्त दुःख होगा। यही विचारकर वे सकुचा गये। अपराध यद्यपि लक्ष्मणजीने किया, किन्तु रामचन्द्रजीने उसे अपने ऊपर ले लिया इसीलिये वे लज्जित हो गये। सुमन्तजीको अपनी शपथ दिलाकर कहा कि लक्ष्मणजीकी बातको जाकर महाराजासे न कहें—

सकुचि राम निज सपथ दिवाई।
लषन सन्देस कहब जनि जाई॥

❋　　❋　　❋　　❋

भरतजी चित्रकूट पर्वतपर श्रीरामचन्द्रजीसे सेनासहित मिलने जाते हैं, लक्ष्मणजीको भ्रम हो जाता है, कि भरतजी रामचन्द्रजीको मारकर अयोध्याके निष्कण्टक राजा बनना चाहते हैं। नहीं तो भला सेनाको लेकर यहां आनेका क्या काम था? बस, अपने इसी भ्रमके कारण वे भरतजीपर टूट पड़ते हैं। आपेसे बाहर होकर अपने सगे भाइयोंको 'समर सेजमें सुलाने' के लिये तैयार हो जाते हैं वे रामचन्द्रजीसे कहते हैं—'महाराज, राज्य पाकर किसे गर्व नहीं हुआ! राज्य ऐसी ही बुरी वस्तु है! भरतजीने समझा होगा कि रामचन्द्रजी अकेले हैं, खाली मैदान है, चलो इससे भी निश्चिन्त हो आवें। किन्तु मैं उन्हें इसका मजा चखा दूंगा।' यह कहते ही वे रोषमें भर गये। क्रोधके मारे उनके भुजदण्ड फरकने लगे। कहने लगे, जब हमारे हाथमें धनुष बाण है तो फिर किसका डर? महाराज, हम ऐसे वैसे नहीं हैं—

क्षत्रिजाति रघुकुल जनम, रामअनुज जग जान।
लातहुँ मारे चढ़त शिर, नीचको धूरि समान॥

बस, यह कहते ही उठ पड़े, मानों साक्षात् वीररस ही घोर निद्राके बाद उठ खड़ा हो

सोनेके कारण नेत्र लाल हो गये हों। सिरपर जटाओंको बांधकर और हाथमें धनुषबाण लेकर कहने लगे—

> आजु राम सेवक यश लेऊं।
> भरतहिं समर सिखावन देऊं॥
> राम निरादर कर फल पाई।
> सोवहु समर सेज दोउ भाई॥
> आइ बना भल सकल समाजू।
> प्रकट करौं रिसि पाछिल आजू॥

लक्ष्मणजी एकसाथ ही सब कसर निकाल लेना चाहते हैं। पीछेकी रिसका भी अभी भुगतान कर लेंगे। आप श्रीरामचन्द्रजीकी शपथ खाकर कहते हैं कि यदि शङ्करजी महाराज सहायता करें तो भी भरतजीको समरमें पछार डालूंगा। लक्ष्मणजीके क्रोधको देखकर और उनकी शपथको सुनकर सभी लोकपति डर गये—

> अति सरोष भाषे लषन, लखि सुनि शपथ प्रमान।
> सभय लोक सब लोकपति, चाहत भभरि भगान॥

❀ ❀ ❀ ❀

बल और पौरुष—अभिमान दो प्रकारका होता है, एक तो आत्माभिमान और दूसरा मिथ्याभिमान। जो गुण अपनेमें न हो अथवा बहुत ही थोड़ा हो और उसे अपनेमें बहुत अधिक समझे इसे मिथ्याभिमान कहते हैं। अपनेमें जो गुण यथार्थमें है ही उसका पूर्णरूपसे विश्वास हो उसे आत्माभिमान कहते हैं। लक्ष्मणजी यथार्थमें परम पुरुषार्थी और अद्वितीय शूरवीर थे, उन्हें स्वयं भी अपने बलका भरोसा था। तभी तो ये चाहे कितनी भी बढ़कर बातें कह जायं किन्तु कोई भी उसे व्यर्थकी बकवाद नहीं समझता था। श्रीरामचन्द्रजी अपने समयके अद्वितीय धनुर्धर महान् योद्धा और प्रबल पराक्रमी पुरुष थे, उन्हें भी लक्ष्मणजीके बलका भरोसा था। उन्हें इस बातका दृढ़ विश्वास था, कि लक्ष्मणजीके सामने कैसा भी वीर योद्धा क्यों न हो वह बिना पराजित हुए नहीं जा सकता।

श्रीरामचन्द्रजीने जब लंकापर चढ़ाई की थी तब भालु कपियोंको तो भीड़ भड़क्केके लिये वैसे ही साथ ले लिया था, उन्हें इस बातका पूर्ण विश्वास था, कि अकेले लक्ष्मणजी ही लङ्कापुरीके सभी राक्षसोंका संहार कर डालेंगे। जब विभीषण रावणसे लड़कर श्रीरामचन्द्रजीकी शरणमें आये तब कपियोंने उनपर भांति भांतिके सन्देह किये, किसीने कहा, यह रावणका दूत है, किसीने कहा, भेद लेने आया है, किसीने कहा, राक्षसोंकी माया जानी नहीं जाती, जाने क्यों आया है? उन सबकी बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने निर्भयपूर्वक कह दिया कैसे भी आया हो, वह आया तो हमारी शरण है, भेद ही लेने आया होगा तो क्या चिन्ता है? यह राक्षस बेचारे हैं क्या चीज? लक्ष्मणजीके बाणके सामने ये एक क्षण भी नहीं ठहर सकते—

> जगमहँ सखा निशाचर जेते, लक्ष्मण हनहिं निमिषमहँ तेते।

श्रीरामचन्द्रजीके इन वाक्योंमें लक्ष्मणजीकी महान् वीरता और युद्धचातुरीका कैसा दृढ़ विश्वास झलकता है। इसीसे इनके बल पराक्रमका अनुमान किया जा सकता है।

❀ ❀ ❀ ❀

रामचन्द्रजीको ही इनके बलका विश्वास हो सो बात नहीं। तारीफकी बात तो यह है कि एकबार जो इन्हें देख भर लेता है, वही समझ लेता है कि इनके बाणके सामने खैर नहीं है। बेचारा केवट युद्धविद्या नहीं जानता था, न उसने मनोविज्ञानकी ही शिक्षा पायी थी, किन्तु तो भी वह जानता था, कि लक्ष्मणजीके बाणके सामने मेरी बात नहीं चलनेकी। जब रामचन्द्रजीने पार जानेको नाव मांगी तो उसने साफ कह दिया—

> पदपद्म धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
> मोहिं राम रावरि आनि दसरथ सपथ सब सांची कहौं॥
> वरु तीर मारहिं लषन जब लगि मैं न पांव पखारिहौं।
> तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहौं॥

धनुषबाण तो रामचन्द्रजीपर भी थे किन्तु लक्ष्मणजीको देखते ही केवटने समझ लिया था, कि अन्यायके सामने लक्ष्मणजीका बाण कभी भी तूणीरमें नहीं रह सकता, तभी तो उसने लक्ष्मणजीके ही बाणका नाम लिया। (क्रमशः)

❀ ❀ ❀ ❀

(शेष पृष्ठ सं० 605 पर)

मधुर-मिलन

(लेखक—श्रीसत्याचरणजी 'सत्य' विशारद)

आर्थिक संघर्षके इस युगमें आस्तिकताका प्रायः लोपसा ही हो रहा है। जड़वाद, विज्ञानवाद एवं सर्वास्तित्व-वाद जैसे सन्देहास्पद सिद्धान्तोंकी रचनासे न केवल पश्चिमीय देश ही प्रभावित हैं वरन् उनका विषमय प्रभाव समस्त भूमण्डलमें शनैः शनैः फैलता जा रहा है। भारतीय दार्शनिकों-ने तर्कको बहुत उच्च स्थान प्रदान किया था, किन्तु वह तर्क सुचारुरूपसे नियमित एवं व्यवस्थित था। तर्क एक स्वतन्त्र कसौटी है जिस-पर भिन्न भिन्न विषयोंकी परख सरलतासे हो जाती है। कुछ विद्वानोंने इस कसौटीको उच्छृङ्-खलताका रूप देकर जड़वाद अथवा प्रकृतिवाद जैसे बहुतसे अनर्थकारी सिद्धान्तोंकी रचना की। फलतः आज चारों ओर अशान्तिके ही बादल मंडरा रहे हैं जिनके भयंकर गर्जनसे सारी पृथ्वी कम्पित है।

भारतके लिये अनीश्वरवादके समर्थक सिद्धान्त कोई नवीन नहीं हैं। यह सर्वथा निर्विवाद है कि भारत प्राचीनकालसे धर्मप्रधान देश रहा है। यहांकी उर्वरामें ही ज्ञान, भक्ति एवं वैराग्यके ऐसे कण भरे हुए हैं, जिनके परिणाम-स्वरूप असंख्य मनुष्योंके हृदयमें भक्तिकी धवल-धारा प्रवाहित हो चुकी है तथा अब भी हो रही है; किन्तु भारतकी आस्तिकताके युगमें भी चार्वाक आदि जैसे नास्तिक विद्वान् वर्तमान थे, तर्कका दुरुपयोग वास्तवमें इन्हीं विद्वानोंद्वारा किया गया। उनके तर्ककी आधार-शिला ही अज्ञात व्याधियोंपर रक्खी गयी थी, जिसका फल अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ। अर्वाचीन सभ्यतामें पले हुए अधिकांश स्त्री पुरुष इन्द्रियोंके दास बन केवल धनोपार्जनके यन्त्र बन गये हैं। उनका लक्ष्य केवल आर्थिक उन्नति है। यदि ईश्वरो-पासना उस उन्नतिकी प्रगतिमें बाधक है तो वह उनकी दृष्टिमें त्याज्य है। सारांशतः इन धनकी मशीनोंने संसारमें उस अधर्मयुक्त भयंकर विप्लवका सूत्रपात किया है, जिसके वृहच्चक्रमें सारा संसार बुरी तरह पिस रहा है। यह उनके कुतर्कका फल है जो जड़वाद जैसे सिद्धान्तका पृष्ठपोषण करते हैं। क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो धनी देशोंको सच्चा सुखी कह सकता है? यदि धन ही सुखका साधन होता तो कार्नेगीसे बढ़कर कोई दूसरा सुखी नहीं हो सकता था, किन्तु कदाचित् ही ऐसा कोई व्यक्ति होगा जो संसारमें उसे सबसे बड़ा सुखी स्वीकार करेगा। भारतविजयी महमूद ग़ज़नवी मृत्युशय्यापर पड़ा हुआ अपनी सम्पत्तिराशिपर दृष्टिपातकर हृदयके सतृष्ण उद्गारोंको अश्रुके रूपमें बहा रहा था। अन्तकालमें भी हीरे और मोतियोंकी विपुलराशि उसे सुख नहीं दे सकी। ऐसे सम्पत्तिशाली दुखियोंकी एक नहीं, सैकड़ों कहानियां हैं।

अब यह प्रश्न स्वाभाविक ही हृदयमें उठता है कि सुखका साधन क्या है? वह कौनसा मार्ग है जो युक्तियों और विचारोंके संकटमय पथसे निकालकर सच्चे सुखकी प्राप्ति करा सके?

इन प्रश्नोंका उत्तर एक सच्चे आस्तिकके हृदयमें है। जिसने कभी मिष्ट पदार्थका स्वाद न लिया हो उसे उस पदार्थका, स्पष्ट परिभाषा करनेपर भी ज्ञान नहीं हो सकता उसका ज्ञान तो अनुभवसे ही हो सकता है। तर्ककी प्रवृत्ति अनुभवसे पूर्वतक ही रहती है। अनुभवके राज्यमें उसका कोई कार्य नहीं। वही तर्क उपादेय एवं माननीय है जो अनुभवसे समान है। यदि तर्क तथा अनुभवके फल भिन्न भिन्न हैं तो दोनोंमें कोई दुष्ट अवश्य है, विशेषतः तर्क ही दोषी ठहराया जा सकता है। आस्तिकोंका हृदय सुतर्क एवं अनुभवकी एक लड़ी है जो निरन्तर किसी अज्ञातकी प्राप्तिके लिये गतिशील बनी रहती है। वह लड़ी अनवरत परिश्रम करनेपर भी सुखको ही अनुभव करती है। दुःख तथा बाधाएं उससे सैकड़ों कोस दूर रहती हैं।

वह अज्ञात क्या है? यों तो इसका निरूपण करना अत्यन्त कठिन है क्योंकि सब ज्ञात वस्तुके निरूपणमें कठिनाई प्रतीत होती है तब अज्ञातका क्या कहना है? किन्तु इस विषयमें हमें आचार्योंकी सम्मतिपर ही निर्भर करना है। ब्रह्मसूत्रमें 'जन्माद्यस्य यतः' आदि वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि 'जिसके द्वारा जगत्‌की उत्पत्ति, जगत्‌की स्थिति और लय होता है वही ईश्वर है।' वही सुखका साधन है और उसीकी प्राप्तिका मार्ग, सच्चे सुखका मार्ग है। वह बाह्येन्द्रियोंद्वारा अज्ञात है किन्तु अभ्यन्तरेन्द्रियोंद्वारा ज्ञात है। वह प्रेमस्वरूप है। कहा है—

"स ईश्वर अनीर्वचनीयः प्रेमस्वरूपः।"

अर्थात् शब्दोंद्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता, वह प्रेम-स्वरूप है। इसी ज्ञाताज्ञात (परमात्मा) तथा आत्माका मधुर-मिलन ही सच्चे सुखका स्थान है। आध्यात्मिक अनुभूतिकी इस कोटिपर ही परम परितुष्टि होती है। फिर समस्त सांसारिक सुख तुच्छ तथा नगण्य प्रतीत होते हैं। आत्मा उस प्रभुकी सत्तामें विलीन हो राग-द्वेषको भूल जाता है। महर्षि पतञ्जलिने इस लग्नको 'प्रणिधान' शब्दसे निर्देश किया है। भोजने 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इस सूत्रकी व्याख्यामें कहा है:—

प्रणिधानं तत्र भक्तिविशेषो विशिष्टमुपासनं सर्वक्रियाणामपि तत्रार्पणम्! विषयसुखादिकम् फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन् परमगुरावर्पयति।

(पातञ्जल दर्शन, अ० १ सूत्र २३ की भोजवृत्ति)

'प्रणिधानका अर्थ वह भक्ति है जिसमें सारे फलकी इच्छाको तिलाञ्जलि देकर अपनी सारी क्रियाओंको परम गुरु (परमात्मा) को समर्पण कर दिया जाता है।' महर्षि व्यास, प्रणिधानकी "प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण" इत्यादि व्याख्या करते हुए ईश्वरकी कृपाद्वारा समस्त वासनाओंकी पूर्ति सिद्ध करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने भी इसी आशयका वचन गीतामें कहा है—

'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत!'

ईश्वरमें प्रगाढ़ अनुराग और निष्काम भक्ति ही सुखका सच्चा मार्ग है। इन्हीं साधनाओंद्वारा वह प्राप्त किया जाता है। मनमें प्रभु-प्राप्तिकी चिन्ता-शक्ति शनैः शनैः बढ़ती रहती है और यही उसी एक पथकी ओर लगाये रहती है इस चिन्ता-शक्तिके विषयमें गीतामें कहा है—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'

'हे अर्जुन! अभ्यास तथा वैराग्यके द्वारा ही यह प्राप्त होती है।' इस चिन्ता-शक्तिका उद्गम-स्थान क्या है? इस प्रश्नका एकमात्र उत्तर दिया जा सकता है, वह है ईश्वरमें 'आसक्ति' अथवा 'प्रगाढ़ प्रेम'। आसक्तिमें मादकता मिली होती है जो द्रुत वेगसे निर्दिष्ट लक्ष्यतक पहुंचकर शान्त होती है। वह लक्ष्य-प्राप्तिके पूर्व अनियन्त्रित शैल-स्रोतकी भांति प्रवाहित होती है। इस प्रगाढ़ प्रेमका अन्तिम ध्येय परमपुरुष है। प्रभुमें सच्ची आसक्ति होना ही भक्तिकी चरमसीमा है। भक्ति-

योग भी कहता है उस परमपुरुषमें आसक्त हो उसमें लगे रहो। उपनिषद्में भी कहा है—

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या।
वाचो विमुञ्चथा मृतस्यैव सेतुः॥

(मुण्डकोपनिषद्, मुण्डक २ खण्ड २ मन्त्र ५)

केवल उसीकी चिन्ता कर और सब छोड़। अब यह देखना है कि इस आसक्तिका परिणाम सुखमय है अथवा दुःखमय। भक्तियोगकी इस विषयमें ध्रुव धारणा है कि "मैं तुम्हारे सम्बन्धमें और कुछ नहीं जानता, केवल यह जानता हूं कि तुम मेरे हो, तुम सुन्दर हो, अति सुन्दर हो, तुम स्वयं सर्वकर्मस्वरूप हो।" पुनः कठोपनिषद्में भी कहा है—

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा
विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति
सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।"

'ईश्वरके प्रेमराज्यमें सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत् तथा अग्नि प्रकाशित नहीं होती (ये केवल सांसारिक पदार्थोंको आलोकित कर सकते हैं) उसी परमात्माके अनन्तप्रकाशसे ये सब भी प्रकाशित हो रहे हैं। ईश्वरकी तन्मयतामें सच्चे भक्तको 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' प्रतीत होता है। उसे कण कणमें उसकी मनमोहक ज्योतिका आभास दृष्टिगोचर होता है। फारसीका प्रसिद्ध एवं उद्भट कवि ख़ुसरो प्रभुको स्मृतिमें नाचकर कह उठता है—

हरगिज़ न आयद दरनज़र सूरत ज़े रूये ख़ूबतर।
शमशी न दानम या क़मर या ज़ोहरये या मुश्तरी॥

× × ×

मन्तो शुदम तू मन्शुदी मन्तन शुदम तू जा शुदी।
ता कस्न गोयद बारजीं मन दीगरं तू दीगरीं॥

"तुझसे बढ़कर कोई दूसरी सूरत मुझे संसारमें दिखायी नहीं पड़ी, तेरे स्वरूपके समक्ष तो सूर्य, चन्द्र एवं तारे (अथवा सारी स्वर्गीय विभूतियाँ) सारे निकृष्टसे जान पड़ते हैं।

मैं तुम्हारा हो चुका और तुम हमारे हो चुके, मैं शरीर हूं और तुम आत्मा हो, यह कोई कहनेका साहस न करे कि तुम दूसरे हो और मैं दूसरा हूं।"

यह है एक फारसी भक्तकविके भक्ति-भावकी पराकाष्ठा! क्या अब भी कोई ऐसा हृदय-हीन व्यक्ति है जो इस 'आसक्ति' के परिणामको दुःखमय कह सकता है? यदि कह सकता है तो उसके समान दुर्भाग्यशाली कोई व्यक्ति नहीं है। हां, यह बात दूसरी है कि हम प्रभु-मिलनमें समर्थ हो सकें अथवा नहीं। किन्तु इसमें दोष किसका है? इसमें सर्वथा हमारा ही दोष है, हमारी भक्ति अथवा प्रगाढ़प्रेमकी न्यूनता ही बाधक होती है। महात्मा श्रीकृष्णचैतन्यने इसीको लक्ष्यकर कहा है—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणेन कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन्, ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनिनानुरागः॥

(श्रीकृष्ण चैतन्य)

"लोग तुम्हें कितने भिन्न नामोंसे पुकारते हैं, किन्तु इस प्रत्येक नाममें मानों तुम्हारी पूर्ण शक्ति वर्तमान है। जो उपासक जिस भावसे उपासना करता है उसके लिये तुम उसी भाव-रूपमें प्रकाशित होते हो। यदि आत्मामें तुम्हारे लिये सच्चा अनुराग उत्पन्न हो जाय तो तुम्हें पुकारनेके लिये, तुम्हें स्मरण करनेके लिये कोई निर्दिष्ट समय नहीं है। तुम्हारे पास बहुत सरलतासे पहुंचा जा सकता है। किन्तु हमारा दुर्भाग्य कि, तुम्हारे लिये हृदयमें अनुराग नहीं उत्पन्न होता है।"

परमात्मा सुखका भण्डार है। भ्रमरकी भांति भक्त लोग उसकी ओर आकर्षित होते हैं। किन्तु सांसारिक भ्रमरोंकी अवस्थासे उनकी दशा भिन्न होती है। वे तृप्ति प्राप्त करनेपर भी उसकी ओर पुनः दौड़ते हैं। उस तृप्तिमें अनिच्छा नहीं है

अपितु आकर्षण है। श्रीमद्भागवतमें कहा है:—

'आत्मारामाश्च मुनयोनिर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥
(श्रीमद्भागवत स्कन्ध १अ० ७ श्लो० १०)

'हे राजन्! हरिमें ऐसे गुण हैं कि जिन्होंने पूर्ण तृप्ति प्राप्त कर ली है और जिन्होंने हृदयकी गांठ खोल डाली है वे भी भगवान्की निष्काम भक्ति करते रहते हैं।'

आत्मा एवं परमात्माका घनिष्ठ सम्बन्ध है। आत्मामें ही ईश्वरकी अनुभूति होती है। यह सत्य है कि ईश्वरका अस्तित्व अथवा ज्योति प्रत्येक स्थानपर विकीर्ण है किन्तु इसको वही अनुभव कर सकता है जिसके ज्ञान चक्षुओंके सामनेसे लाभ मद, मोह तथा क्रोधका आवरण हट गया है। हमारा आत्मा दर्पणवत् है। उसपर अज्ञानरूपी मैल पड़ी रहती है। यदि उसे साफकर हम अपने सामने पवित्र भावनाओंका वायुमण्डल उपस्थित करें तो उस दर्पणपर उस प्रभुका प्रतिबिम्ब झलकता हुआ दिखायी देगा। जो उस प्रतिबिम्बको एकबार देख लेता है उसकी आंखोंमें भक्तिमय मादकता छाई रहती है। वह अहर्निश पृथ्वीसे आकाशतक उसी दिव्य प्रस्फुरणका अनुभव करता है। कठोपनिषद्में कहा है–

"एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥
(कठ० २ । १२)

जब यह ज्ञान हो जाता है कि समस्त ब्रह्माण्डमें चतुर्दिक् उसी प्रभुकी सत्ता व्याप्त है, एक होते हुए भी वह अनेक प्रकारकी सृष्टिका रचनेवाला है, सबका अन्तरात्मा और सबको वशमें रखनेवाला है। तब वह भक्त सकल ब्रह्माण्डमें और प्रत्येक वस्तुमें उसीका हाथ देखते हैं। उसीको सबमें देखते हैं और सबको उसीमें देखते हैं। इसीप्रकार वह प्रत्येक भांतिके ईर्षा-द्वेषसे परे होकर परमसुखको प्राप्त होते हैं। पुनः यजुर्वेदमें यह मन्त्र मिलता है:–

'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
(यजु० ४०-७)

जो उस प्रभुको प्राप्त कर लेते हैं उनको सब जगह परमात्मा ही दिखलायी देता है (मेरे और तेरेके भावका लोप हो जाता है) उनके लिये मोह कहां तथा शोक किसका? भक्तकी सारी भक्ति तथा चिन्तन शक्ति उसी एक प्रभुमें केन्द्रीभूत हो जाती है। संसारकी अनित्य तथा असार वस्तुओंके प्रति वह उदासीन हो जाता है। उसका हृदय तो परमसुखके भण्डार प्रभुसे मिला रहता है। उसके अतिरिक्त और कोई भी अन्य वस्तु कभी पास नहीं फटकती! एक फारसीके कविने कितना सुन्दर कहा है:—

"दर खयाले रुये तो बीनम दरोदीवार गुल ।
दस्त गुल पा गुल बदन गुल रफ्तने रफ्तार गुल ।"

हे प्रभो! तुम्हारे स्वरूपका स्मरण करते हुए जो मैंने (सांसारिक वस्तुओंपर) दृष्टिपात किया, तो प्रत्येक स्थान तथा दीवारको फूलके सदृश पाया। हाथ, पैर, शरीर तथा गति आदि सभी फूलके सदृश जान पड़ने लगे।

यह तन्मयताका उत्कृष्ट उदाहरण है। भक्त अनुभूतिकी ही अवस्थामें कह उठता है:--

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां
शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥
(कठ० ५-१३)

वह नित्योंका नित्य, चेतनोंका चेतन है, अकेला बहुतोंकी कामनाओंको पूरा करता है। ऐसा वह आत्मा नित्य है किन्तु प्रेमसे हीन होकर अनित्य वस्तुकी भांति मृतकवत् है। ईश्वर-

प्रेम ही आत्माका जीवन है, उसके बिना आत्मा चेतन होता हुआ भी अचेतनसा है। एक हिन्दीके कविने सच ही कहा है:—

जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जान मसान।
जैसे खाल लोहारकी, श्वास लेत बिन प्रान॥

जिस भक्तने प्रभुकी अनुभूतिका आनन्द लूट लिया है उसे उस परम पुरुषका वियोग सर्वथा असह्य है। वह बारबार उसीकी धुन लगाये रहता है, पर जिसका हृदय केवल स्फुलिंगमात्रसे भी कभी मुग्ध हो उठा है वे भी उसके अनन्तस्वरूपके दर्शनके लिये उत्कंठित रहते हैं। उत्कण्ठासे आक्रान्तहृदय विलख विलखकर कहता है:—

ख़्वाहम तोरा मेहमां कुनम ता जान दिल कुर्बां कुनम।
जाये तो दर चश्मा कुनम अज़मन चिरा रंजीदयी॥

शेख़सादी

'हे प्रभो! मेरी इच्छा थी कि मैं तुम्हें अतिथिके रूपसे आमन्त्रितकर हृदय तथा आत्मा दोनों न्यौछावर कर दूं। यदि तुम आओ तो तुम्हें नयनोंमें रक्खूं, भला तुम मुझसे क्यों अप्रसन्न होकर निष्ठुर बने हो?' प्रसिद्ध रहस्यवादी फ़ारसी कवि उमरखय्याम भी प्रभु-दर्शनके लिये दुष्कर्मोंसे बचनेकी प्रार्थना करता है तथा दयाकी भिक्षा मांगता है:—

बर सीनयेग़म फ़क़ीरमन रहमत कुन
बर जानोदिल असीरमन रहमत कुन।
बर पाये ख़राबात रू मन बख़शाये
बर दस्त पियालागीर मन रहमत कुन॥

'प्रभो! मेरे शोकको निमन्त्रित करनेवाले वक्षःस्थल, जीवन तथा बन्दी हृदयपर अपनी दयाकी वर्षा करो। पापके पथपर संचरण करते हुए मेरे पैरोंपर भी अपनी विभूति प्रदान करो (जिससे हम पापमें अग्रसर न हों) और (अन्तमें) प्यालेको ले जाते हुए मेरे हाथपर दया करो।

उपर्युक्त पदोंमें कवि प्रभुदयाकी विनम्र शब्दोंमें याचना कर रहा है, जिससे उसकी, हाथ पैर आदि सभी इन्द्रियां नरककी वीभत्समय यन्त्रणाओंसे मुक्त रहें। पुनः कहता है:—

ऐ वाक़िफ़े इसरार ज़मीर हमाकस
दर हाल्ते इज्ज़ दस्तगीर हमाकस।
या रब तू मरा तोबादह वो उज्र पज़ीर
ऐ तोबादह वो उज्र पज़ीर हमाकस॥

'प्रभो! तुम सबके हृदयके भेदोंसे परिचित हो, तुम अत्यन्त विपन्नावस्थामें सबकी सहायता करते हो, हे भगवन्! पश्चात्तापकी हमें भिक्षा दो और हमारी प्रार्थनाओंको स्वीकार करो।

भक्तहृदय जितना ही अपने दुष्कर्मोंपर पश्चात्ताप करता है उतनी ही उसके हृदयमें प्रभु-भक्ति जागृत होती जाती है। शनैः शनैः प्रेमद्वारा उसका हृदय कोमल तथा विमल हो उठता है जिसके ऊपर प्रभुकी छाया पूर्णतया अङ्कित हो जाती है। कहा है:—

When hearts made soft by love
Shall turn again to prayer.
There cemes a heavenly solace
To those in dark despair.

(*Muborka Alice Welch*)

'जब हृदय प्रेमसे कोमल होकर प्रभुभक्तिकी ओर अग्रसर होता है तब अन्धकारमय निराशामें पड़े हुए लोगोंको स्वर्गीय शान्ति प्राप्त होती है।'

विमलहृदय ही अमल प्रभुकी सत्तामें लीन होनेमें समर्थ है ऐसा साधक आत्मा परमार्थतामें मिलाकर तद्रूप हो जाता है। उपनिषद्में भी कहा है;—

यथोदके शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥

जिस प्रकार शुद्ध जल, शुद्ध और पवित्र जलमें डालदेनेसे मिलकर एक समान हो जाता है इसीप्रकार भक्तका आत्मा (तमाम मैलसे शुद्ध होकर) परमात्मामें विलीन हो जाता है। दोनोंकी सत्ता विलग नहीं रह जाती।

यह भावनाएं भारतके प्राचीन ऋषियों तथा फ़ारसके सन्त कवियोंकी हैं। यदि उन्हें प्रभु-भक्तिमें अपार आनन्द नहीं मिलता तो उन्हें इतने प्रयासकी क्या आवश्यकता थी? अर्वाचीन जड़-वादके जड़ सिद्धान्तोंसे जड़ हुआ हमारा मस्तिष्क आज भले ही प्रभुमें अविश्वासके भाव उत्पन्न करे किन्तु वे भाव किसी जातिके उत्थानके चिह्न अवश्य ही नहीं हैं। आस्तिकताकी लहरसे प्लावित हुआ हृदय सुखके अक्षय कोषका दर्शन करता है। पत्ते पत्तेमें वह अनन्त संगीतकी मधुर ध्वनि सुनता है। उसके सामने ज्योतिर्मय ब्रह्माण्ड संगीतमय हो उठता है और वह उसके स्वरमें अपना स्वर मिलाकर उसीमें तल्लीन होना चाहता है। वह पितातुल्य प्रभुसे बच्चेकी भांति निहोरा-कर कहता है।

बुलबुले बे ख़ानुमा, ये तूतिये शीरीं ज़ुबां।
क़ुमरिये बाग़े जनां या जामिये शैदास्तीं॥

प्रभो! स्थानरहित बुलबुल, मधुरभाषिणी तूतियां, तथा स्वर्गके उपवनकी कुमरियां (एक पक्षी विशेष) ही तुम्हारे प्रेममें उन्मत्त होकर नहीं जाती हैं अपितु परम पिता यह जामी भी प्रेमी बना उसी स्वरमें अपना स्वर मिला रहा है।

जब इस प्रकार भक्तकी हृत्तन्त्री प्रभुकी अनन्त तन्त्रीसे मिल जाती है तब वह उन्मत्तताके आवेशमें अपने शरीरके प्रत्यङ्गमें उस धवल ज्योतिको फूटती हुई पाती है। रोम रोममें सहस्रों चन्द्रकी ज्योत्स्नाका दर्शन करता है। यही है अज्ञात कालसे अभिलषित भक्तोंका 'मधुर-मिलन'।

लालाजीका परलोकवास

भारतके प्रसिद्ध राजनैतिक नेता पंजाब-केसरी लाला लाजपतरायजीका ता० १७ नवम्बरको प्रातःकाल साढ़ेसात बजे सहसा देहान्त हो गया। मृत्यु तो सभीके लिये अनिवार्य है पर जो व्यक्ति अपना जीवन लोकसेवामें उत्सर्ग करके मरता है, उसकी सफल-मृत्यु कहलाती है। कुत्ते बिल्लियोंकी तरह मरनेवाले बहुत लोग हैं परन्तु मनुष्योंकी तरह कर्तव्यपथ-पर डटे रहकर मरनेवाले बहुत थोड़े होते हैं। लालाजी ऐसे ही कर्तव्यशूर मनुष्य थे। उनके जीवनका अधिकांश भाग जनतारूपी जनार्दन भगवान्की सेवामें बीता। लालाजीका वियोग अत्यन्त दुःखप्रद है, पर गयी हुई वस्तुका शोक करना व्यर्थ है। हमें लालाजीकी लोकसेवा-प्रवृत्तिका अनुसरणकर उनके रिक्तस्थानकी पूर्तिके लिये उद्योगी बनना चाहिये।

स्वामि!

स्वामि! अधम पापी हूं मुझको ईश! लगा देना बस पार।
भक्ति प्रभो! ऐसी दे देना मनके जावें कुटिल विचार॥
बस मङ्गलमय मेरा पथ हो, हरषूं मैं वह मूर्ति निहार।
मेरा हृदय नाथ! बन जावे, दया शान्ति सुखका आगार॥

किसी तरहसे विभो! दासको आकर पार लगा देना।
जिस प्रकारसे प्रभो! हो सके, दुष्ट विचार भगा देना॥

—श्रीअवन्तविहारी माथुर 'अवन्त'

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यस्य स्वादुफलानि भोक्तुमभितो लालायिताः साधवः,
भ्राम्यन्ति ह्यनिशं विविक्तमतयः सन्तो महान्तो मुदा ।
भक्तिज्ञानविरागयोगफलवान् सर्वार्थसिद्धिप्रदः,
सोऽयं प्राणिसुखावहो विजयते कल्याणकल्पद्रुमः ॥

भाग ३ } पौष कृष्ण ११ संवत् १९८५ { संख्या ६

राम न जाने

कामसे रूप प्रताप दिनेससे सोमसे सील गनेससे माने ।
हरिचन्दसे साँचे बड़े बिधिसे मघवासे महीप विषै सुख-साने ॥
सुकसे मुनि सारदसे बकता चिरजीवन लोमसते अधिकाने ।
ऐसे भये तो कहां 'तुलसी' जुपै राजिवलोचन राम न जाने ॥

(गो० तुलसीदासजी)

साधकोंके प्रति

(पूर्वप्रकाशितसे आगे) (पृ० सं० ४९५ से आगे)
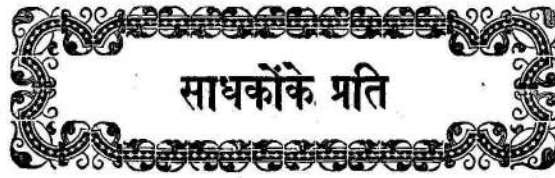
वास्तविक शुभेच्छा उत्पन्न होनेके बाद तो प्रायः वह कभी मन्द नहीं पड़ती, परन्तु आरम्भमें साधकके मार्गमें अनेक विघ्न आया करते हैं अतः उन विघ्नोंसे बचनेके लिये निरन्तर सचेष्ट रहना चाहिये। इनमें सबसे पहला विघ्न है स्वास्थ्यका बिगड़ जाना।

स्वास्थ्यका अभाव

साधकको स्वास्थ्यरक्षाके लिये संयम और नियमित खानपान करना चाहिये। स्वास्थ्य जबतक ठीक रहता है तभीतक मनुष्य साधन कर सकता है। रोगपीड़ित शरीरसे साधन बनना प्रायः असंभव है। अवश्य ही स्वास्थ्य बनाये रखनेका लक्ष्य भोगविलास नहीं, पर ईश्वरप्राप्ति ही होना चाहिये। परन्तु यह भी याद रखना चाहिये कि ईश्वरप्राप्ति साधनबिना नहीं हो सकती और साधन करनेके लिये स्वस्थ शरीरकी आवश्यकता है। इसलिये सोने, काम करने, खानेपीने आदिके ऐसे नियम रखने चाहिये जिनसे शरीरका स्वस्थ रहना संभव हो। प्रकृति-सेवन, नियमित व्यायाम और आसनोंसे स्वास्थ्यको बड़ा लाभ पहुंचता है।

खानपानमें असंयम

दूसरा विघ्न आहारकी अशुद्धि और असंयम है। बहुधा खानपानके असंयमसे ही स्वास्थ्य बिगड़ता है। इतना ही नहीं इससे मानसिक रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। इसीलिये हमारे शास्त्रकारोंने आहार शुद्धिपर बड़ा ज़ोर दिया है। अन्नके अनुसार ही मन बनता है। मनुष्य जिसप्रकारका भोजन करता है उसके भाव, विचार, बुद्धि और स्फुरणाएँ प्रायः वैसी ही होती हैं। जो लोग मांस, मद्य आदि तामसिक पदार्थोंका सेवन करते हैं, उनके अन्दर निष्ठुरता, क्रूरता और निर्दयता अधिक देखनेमें आती है। प्राणियोंकी अकारण हिंसामें भी सच्चे हृदयसे उनको दुःख नहीं होता। तामसी राजसी आहारसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, मत्सर आदि दोष उत्पन्न होकर साधकके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यको बिगाड़ देते हैं, जिससे वह साधनपथसे गिर जाता है। अधिक मिर्चवाला, अधिक नमकीन, अधिक खट्टा, अधिक तीखा, अधिक कड़वा, गरमागरम, अत्यन्त रूखा आहार राजसी तथा बासी, सड़ा हुआ, जूंठा, अपवित्र दुर्गन्धयुक्त आदि आहार तामसी माना गया है। बनपड़े जहांतक साधकको मसालोंका व्यवहार छोड़ देना चाहिये। अधिक घी और मीठेकी भी आवश्यकता नहीं है, दही नहीं खाना चाहिये। मादक द्रव्योंका सेवन बिल्कुल नहीं करना चाहिये। जिस आहारमें बहुत अधिक खर्च पड़ता हो, वह आहार भी साधकके लिये उपयुक्त नहीं है, चाहे धनी हो या गरीब। धनी यदि आहारमें बहुत ज्यादा खर्च करता है तो उसके लिये तो वह प्रमाद है ही, परन्तु गरीबोंपर भी उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। उनका भी मन ललचाता है। उनके पास पैसे होते नहीं, इन्द्रियां ज़ोर देती हैं अतएव उन्हें बहुमूल्य आहारके लिये

अन्यायसे चोरी आदि करके धन कमानेमें प्रवृत्त होना पड़ता है। जो धन अन्यायसे कमाया हुआ है उस धनके अन्नका बड़ा बुरा असर होता है। इसीलिये आहारशुद्धिमें जातिकी अपेक्षा न्याय और धर्मसे उपार्जित अन्नका महत्व अधिक है। चोर, दूसरोंकी गांठ काटनेवाले, छलीकपटी, घूसखोर, व्यभिचारी और अन्यायी ऊँची जाति-वाले पुरुषकी अपेक्षा सत्यपरायण, सत् कमाई करनेवाले, इन्द्रिय-जयी, न्यायी, सरल शूद्रका अन्न शुद्ध और पवित्र है क्योंकि उससे बुद्धिकी वृत्तियां नहीं बिगड़तीं। यथासंभव आहार अल्प करना अच्छा है।

सन्देह

तीसरा विघ्न साधनमें सन्देह होता है- मनुष्य एकबार किसीके कहनेसे साधनमें लगता है पर साधन शुरू करते ही उसे सिद्धि नहीं मिल जाती, इससे वह अपने साधनमें सन्देह करने लगता है। यह सन्देह बहुत अच्छे श्रद्धालु पुरुषोंको भी प्रायः हो जाया करता है। उसकी बुद्धिमें समय समय यह भावना होती है कि न मालूम ईश्वर हैं या नहीं, हैं तो मुझे मिलेंगे या नहीं, मैं जो साधन करता हूं सो ठीक है या नहीं। ठीक होता तो अबतक मुझे लाभ अवश्य होता, हो न हो साधनमें कोई गड़बड़ है।' इस तरहके विचारोंसे उसका साधन शिथिल पड़ जाता है। साधनकी शिथिलतासे लाभ और भी कम होता है जिससे उसका सन्देह भी और बढ़ने लगता है। यों होते होते अन्तमें वह साधनसे च्युत हो जाता है। साधकको अपने साधनपर श्रद्धा और विश्वास रखकर उसे करते रहना चाहिये। जैसे कई तरहकी बीमारियोंमें फँसे हुए मनुष्यको औषधसेवनसे किसी एक बीमारीके नष्ट होजानेपर भी लाभ नहीं मालूम होता, इसीप्रकार मलसे पूर्ण अन्तःकरणमें तनिकसा मल नष्ट होना दीखता नहीं, परन्तु यह निश्चय रखना चाहिये कि सच्चे साधनसे लाभ जरूर होता है, जितना वह साधनमें आगे बढ़ेगा उतनाही उसे लाभ अधिक प्रतीत होगा फिर उसे इस बातका पता लग जायगा कि भगवत्-सम्बन्धी बातें केवल कल्पना नहीं, परन्तु ध्रुव सत्य हैं।

सद्गुरुका अभाव

ऐसे यथार्थ साधनमें प्रवृत्त रहनेके लिये सद्गुरुकी आवश्यकता है। सद्गुरुका अभाव ही सच्चे साधनसे साधकको अपरिचित रखता है और इसीसे वह श्रद्धारहित होकर साधन छोड़ देता है। यह विषय बहुत ही विचारणीय है क्योंकि वर्तमानकालमें सच्चे त्यागी अनुभवी सद्गुरुओंकी बहुत कमी होगयी है। यों तो गुरुओंकी संख्या बहुत बढ़गयी है जिधर देखिये उधर ही गुरु और उपदेशकोंकी भरमार है। इसीसे सच्चे उपदेशकोंका भी आज कोई मूल्य नहीं रहा, परन्तु इन गुरुओंके समुदायमें अधिकांश दंभी, दुराचारी, परधन और परस्त्री-कामी, नाम चाहनेवाले, पूजा करानेवाले, बिना ही साधनके अपनेको अनन्यभक्त, परम ज्ञानी यहांतक कि ईश्वरतक बतलानेवाले कपटी पाये जाते हैं। ऐसी अवस्थामें सद्गुरुका चुनाव करना बड़ा कठिन है। तथापि मामूली कसौटी यही समझनी चाहिये कि जो पुरुष किसी भी हेतुसे धन नहीं चाहता और किसी भी कारणसे स्त्री या स्त्रीसंगियोंका संग करना नहीं चाहता, जिसका व्यवहार सरल और सीधा है और जिसके उपदेशोंके अनुसार कार्य करनेसे वास्तविक लाभ होता नज़र आता है ऐसे निःस्वार्थी पुरुषके बतलाये हुए मार्गसे चलनेमें कोई बाधा नहीं है। धन, स्त्री, मन्त्र, यन्त्र, भूत प्रेत, चमत्कार आदिकी बातें करने, चाहने, समझाने और प्रचार करने-वाले पुरुषोंसे दूर रहना अच्छा है। परन्तु किसी अच्छे पुरुषको पाकर उसके बतलाये हुए साधनको छोड़ना भी नहीं चाहिये। जहांतक उसमें कोई

भारी दोष न दीखे, वहांतक उसपर सन्देह न करके साधनमें लगे रहना चाहिये। नित नये गुरु बदलनेसे साधनमें बड़ी गड़बड़ी मच जाती है। क्योंकि अच्छे पुरुष भी भिन्न भिन्न मार्गोंसे साधन करनेवाले होते हैं, लक्ष्य एक हानेपर भी मार्ग अनेक होते हैं। आज एकके कहनेसे प्राणायाम शुरू किया, कल दूसरेकी बात सुनकर हठयोग साधने लगे, परसों तीसरेके उपदेशसे नामजप आरम्भ किया, चौथेदिन चौथेके व्याख्यानके प्रभावसे वेदान्तका विचार करने लगे, इसतरह जगह जगह भटकने और बात बातमें साधन बदलते रहनेसे कोईसा साधन भी सिद्ध नहीं होता। इसीलिये साधनमें सद्गुरुकी आज्ञानुसार एकनिष्ठा और नियमानुवर्तिताकी बड़ी आवश्यकता है।

नियमानुवर्तिताका अभाव

नियत समयपर सोना, उठना, भोजन करना मनके एकाग्र हानेमें बड़े सहायक होते हैं। नियमानुवर्तिताका अभाव साधनमें एक विघ्न है। कोई नियम न रहनेसे दिनचर्यामें बड़ी गड़बड़ी रहती है। जीवन भी इसीतरह गड़बड़ीमें बीतता है। दिनरातके चौबीस घण्टोंमें कमसे कम तीन घण्टेका नियत समय ईश्वरचिन्तन और ध्यानके लिये अलग रखना चाहिये। किसी अड़चनवश एकसाथ लगातार इतना समय न मिलता हो तो प्रातःकाल और सायंकाल दोनोंसमय मिलाकर समय निकालना चाहिये, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि समय, स्थान, आसन और प्रणालीमें सहसा परिवर्तन न किया जाय।

प्रसिद्धि

साधनमें एक बड़ा भारी विघ्न 'साधककी प्रसिद्धि' होती है। जब लोग जान जाते हैं कि अमुक मनुष्य साधन करता है तब उसके प्रति स्वाभाविक ही कुछ लोगोंकी श्रद्धा हो जाती है, जिनकी श्रद्धा होती है वे समय समयपर मन, वाणी शरीरसे उसका आदर करने लगते हैं। जिन्हें आदर, मान आदि प्रिय नहीं होते, ऐसे मनुष्य संसारमें सदासे ही बहुत थोड़े हैं। साधक भी मनुष्य है, उसे भी आदर मान प्रतिष्ठा आदि प्रिय प्रतीत होते हैं। अतएव ज्यों ज्यों उसे इनकी प्राप्ति होती है त्यों ही त्यों उसकी लालसा अधिक लोगोंसे अधिकसे अधिक सम्मान प्राप्त करनेकी होने लगती है। इससे परिणाममें उसका ईश्वर सम्बन्धी साधन सम्मान प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करनेके साधनरूपमें बदल जाता है। जिस कार्य, जैसी बोलचाल, जैसे आचरण, जिसतरहकी कार्यवाहियोंसे सम्मान मिलता हो बस, उन्हींको करना उसके जीवनका लक्ष्य बन जाता है। इससे ज्यों ज्यों उसका परमार्थ साधन घटता और छूटता है त्यों ही त्यों उसका तेज, निःस्पृहता, उदासीन भाव, उसकी सरलता, ईश्वरीय श्रद्धा, परमार्थसाधना नष्ट होती जाती है। उस हृदयमें लोगोंको रिझाकर उन्हें प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे चापलूसी कामना, पक्षपात, कपट, अश्रद्धा, परमार्थविमुख कार्योंमें प्रवृत्ति आदि गिरानेवाले भावसमूह उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे वह और भी हतप्रभ होकर अपने प्रशंसकोंसे दब जाता है। वे प्रशंसक भी अब पहले जैसे सच्चे सरलश्रद्धालु नहीं रहते, उनके आदर मान देनेमें भी कपट भर जाता है। शेषमें दोनों ही परमार्थसे सर्वथा गिरकर पापपंकमें फंस जाते हैं। शुभकर्म और सदाचरण करनेवालोंके विरोधी तामसी प्रकृतिके मनुष्य भी संसारमें सदासे रहते हैं। उनका द्वेष तो पहलेसे रहता ही है, इस समय साधक और उसकी मण्डलीको सबप्रकार हीनपुरुषार्थ देखकर उन्हें विशेष मौका मिल जाता है। वे इन्हें छल बल कौशलसे और भी गिरानेकी चेष्टा करते हैं जिससे परस्पर वैर ठन जाता है। दोनों ओरकी शक्तियां एक दूसरेके छिद्रान्वेषण और उनपर मिथ्या दोषारोपणकर उन्हें नीचा दिखाने और गिरानेमें ही खर्च होने लगती हैं, जिससे जीवन कष्ट और अशान्तिमय बन जाता है।

साधकका सत्त्वमुखी हृदय इससमय तमसाच्छादित होकर क्रोध मोह और दम्भसे भर जाता है। इन सब दोषोंपर विचारकर जहांतक बने, साधक प्रसिद्ध होनेकी चेष्टा कदापि न करे। अपने साधनको यथासंभव खूब छिपावे, उपदेशक या आचार्यका पद कभी ग्रहण न करे, जगत्‌के लोग उसमें अपनेसे कोई विशेषता न समझें, इसीमें उसका भला है। मतलब यह कि भजन-साधनको यथासंभव साधक प्रकट न करे या दिखावे नहीं। वह लोगोंसे अपनेको श्रेष्ठ भी न समझे, क्योंकि इससे भी अपनेमें अभिमान और दूसरोंके प्रति घृणा उत्पन्न होनेको स्थान रहता है। जो साधक अपने साधनकी स्थितिसे अपनेको ऊंचा समझता या लोगोंमें प्रकट करता है वह तो गिरता ही है, परन्तु वह जितना है उतना भी प्रकट करनेमें उपर्युक्त प्रकारसे गिरनेका ही भय रहता है।

कुतर्क

साधनमें एक विघ्न है तर्कबुद्धिका विशेष बढ़ जाना। जहां बात-बातमें तर्क होता है वहां साधनमें श्रद्धा स्थिर नहीं रहती। श्रद्धाका अभाव स्वाभाविक ही साधनको शिथिल कर देता है। यद्यपि इस दम्भ, कपट-पाखण्ड और बाहरी चमकदमकके युगमें, भण्ड, नररूपधारी व्याघ्र गुरुओं, भक्तों और साधु कहलानेवालोंके झुंडोंसे बचनेके लिये तर्कबुद्धिकी बड़ी आवश्यकता है, परन्तु जब तर्क बढ़कर मनुष्यका हृदय अत्यन्त सन्देहशील बना देता है तब उसके लिये किसी भी साधनमें मन लगाकर प्रवृत्त रहना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है 'संशयात्मा विनश्यति।' सत्यकी खोजके लिये तर्क करना उचित है पर हठ और अभिमानसे कुतर्कका आश्रय लेना सर्वथा अनुचित है। जो साधक शास्त्र और सद्‌गुरुके वचनोंमें विश्वास नहीं करता वह सत्यका अन्वेषणकर उसकी प्राप्ति कभी नहीं कर सकता। इसलिये कुतर्कसे सदा बचना चाहिये।

स्त्यान

साधनमें एक विघ्न है स्त्यान—यानी चेष्टा छोड़ देना। कुछ दिन साधन करनेपर मनकी ऐसी दशा हुआ करती है—साधारणतः साधक अनेक प्रकारकी असाधारण आशाओंको लेकर साधनमें लगता है उसकी वे आशाएं जब थोड़ेसे साधनसे पूरी नहीं होतीं तब वह साधनसे उदासीन होकर चेष्टारहित बन जाता है। मन निकम्मा रहता नहीं, जब यह सत् चेष्टासे हट जाता है तब कुचेष्टा करने लगता है, परिणाममें उसका पतन हो जाता है, इससे कभी उत्साहहीन होकर चेष्टा नहीं छोड़नी चाहिये।

सन्तोष

एक विघ्न है साधनमें सन्तोष करना यानी अल्प लाभको ही पूर्णलाभ समझकर साधन छोड़ बैठना। साधनमें लगा हुआ मनुष्य ज्यों ज्यों आगे बढ़ता है त्यों ही त्यों उसे विलक्षण आनन्द मिलता है। संसारमें रमे हुए मनुष्य जिस आनन्दकी कल्पना भी नहीं कर सकते। साधकने अबसे पहले जिस आनन्दका कभी स्वप्न भी नहीं देखा—वैसा आनन्द सांसारिक पदार्थोंसे प्राप्त होनेवाले आनन्दसे दूसरी ही तरहका आनन्द पाकर वह अपनेको कृतकृत्य समझ लेता है। वह इसबातको भूल जाता है कि वह जिस आनन्दधामका पथिक बना है उस परमानन्दका तो यह एक कणमात्र है। वह जिस स्वर्गीय राजप्रासादमें जा रहा है यह उससे बहुत ही बाहरकी एक छोटीसी कोठरीका कोनामात्र है। इसीलिये वह इस संसारसे विलक्षण आनन्द-धामके अपूर्ण आनन्दको पाकर उसीमें रम जाता है, और आगे बढ़नेकी आवश्यकता नहीं समझता। साधकको परमार्थके मार्गमें अनेक

विलक्षण लक्षण दीख पड़ते हैं कोई शान्तिका महान् शान्त समुद्र देखता है, कोई अपूर्व आनन्दमें मनको डूबा हुआ देखता है, किसीको जगत् अखण्ड आनन्दसे परिपूर्ण होता दीख पड़ता है किसीको परम ज्योतिके दर्शन होते हैं, कभी कभी अनेक आश्चर्यमय स्वर्गीय स्वर सुनायी देते हैं। कभी अद्भुत आनन्दमय दृश्य (Visions) दिखलायी पड़ते हैं। अवश्य ही ये सब शुभ लक्षण हैं परन्तु इन्हें पूर्ण मानकर सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये। थोड़ीसी उन्नति करके भावी उन्नतिके लिये प्रयत्न न करना बहुत बड़ा विघ्न है। रास्तेकी धर्मशालाको ही अपना घर समझकर बैठ रहनेसे घर कभी नहीं मिलता!

कामना

साधनमें एक विघ्न है विषयोंकी कामना। वैराग्यके अभावसे ही यह हुआ करती है। जिस साधकका चित्त विषयकामनाओंसे सर्वथा मुक्त नहीं हो जाता उसके साधनमार्गमें बड़े बड़े विघ्न पड़ जाते हैं, क्योंकि कामना ही क्रमशः क्रोध, मोह, स्मृतिनाश और बुद्धिनाशके रूपमें परिणत होकर साधकका सर्वनाश कर डालती है। इन्द्रियविषयोंकी ओर दौड़नेवाले चित्तका निरन्तर भगवदाभिमुखी रहना असंभव है अतएव कामनाओंको चित्तसे सदा दूर रखनी चाहिये।

ब्रह्मचर्यका अभाव

साधनमें एक विघ्न है ब्रह्मचर्यका पूरा पालन न करना। शरीरके अन्दर ओज हुए बिना साधनमें पूरी सफलता नहीं मिलती। ओजके लिये ब्रह्मचर्यकी बड़ी आवश्यकता है। साधक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ या संन्यासी हो, तब तो ब्रह्मचर्यका उसे पूरी तरहसे पालन करना ही चाहिये। कुमारी बहनें और विधवा माताएँ यदि भगवत् सम्बन्धी साधन करती हों तो उनके लिये भी यही बात है। परन्तु विवाहित स्त्री पुरुषोंको भी परमार्थसाधनके लिये यथासाध्य शीलव्रत पालन करना चाहिये। एक पुत्र होजानेके बाद तो शीलव्रत ले लेनेमें कोई हिचक करनी ही नहीं चाहिये। परन्तु परमार्थके साधकोंको पुत्र न होनेकी भी कोई परवा नहीं करनी चाहिये। मनुष्यशरीर सन्तानोत्पादनके लिये नहीं मिला है यह तो पशुयोनियोंमें भी होता है। इस शरीरसे तो साधन करके परमधन परमात्माको प्राप्त करना है। अतएव सन्तानके लिये भी यथासाध्य शीलव्रतका भंग नहीं करना चाहिये। विवाहित स्त्री पुरुषोंको अवश्य ही शीलव्रत दोनोंकी सम्मतिसे ग्रहण करना चाहिये। अन्यथा और कई तरहकी आपत्तियाँ आनेकी सम्भावना है। जो शीलव्रतका लाभ समझता हो, वही दूसरोंको प्रेमसे समझाकर अपने मतके अनुकूल बना ले। तदनन्तर यथासाध्य शीलव्रतका नियम ग्रहण करे। यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि जो जितना ही अधिक ब्रह्मचर्यका पालन करेगा वह उतना ही शीघ्र परमार्थके मार्गमें आगे बढ़ सकेगा।

कुसंगति

एक बहुत बड़ा विघ्न है कुसंगति। कुसंगमें पड़कर बहुत आगे बढ़े हुए साधकोंका भी पतन देखा जाता है। जो लोग प्रत्यक्षरूपसे पापमें रत हैं उनका संग तो सर्वथा त्याज्य है ही, परन्तु जो लोग अपनेको सन्त, भक्त, योगी या ज्ञानी प्रसिद्ध करते हों पर जिनमें छलकपट भोगविलास, धनस्त्रीका अनुराग, परनिन्दा, परचर्चामें प्रेम, गर्व-अभिमान, धूर्तता-पाखंड आदि दोष देखनेमें आते हों उनका संग भी वास्तवमें कुसंग ही है। क्योंकि जिनमें ये सब दोष होते हैं वे कभी सच्चे सन्त भक्त योगी या ज्ञानी नहीं हैं।

कुसंगसे ईश्वर, सच्चे धर्म, सदाचार और साधनमें अनादर उत्पन्न होता है। प्रतिदिन यह

सुनते रहनेसे, 'क्या रक्खा है सत्संगमें ? कहां है ईश्वर ? धर्मसे क्या होता है ?' इनमें अश्रद्धा हो जाती है। सदा सर्वदा विषयोंकी बातें होनेसे उनमें अनुराग और परदोषश्रवणसे उन लोगोंके प्रति घृणा और द्वेष जाग उठता है। स्त्री, धन, पुत्र, मान आदिकी कामना उत्पन्न होकर बढ़ने लगती है। कुतर्क बढ़ जाता है। राजस तामस भावोंकी पुष्टि होने लगती है। दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध पारुष्य और अज्ञान आदि आसुरी सम्पत्तिके दोषोंका हृदयमें संचार होने लगता है। स्वार्थपरता और पाखण्ड बढ़ जाते हैं। चित्त अशान्त हो जाता है।

ऐसे मनुष्य जगत्में बहुत ही थोड़े होंगे जिनके मनमें कभी बुरे विचार न उत्पन्न होते हों क्योंकि बुरे संचित प्रायः सभीके रहते हैं। केवल शुभ-संचित ही हों तब तो मनुष्यशरीर ही नहीं मिल सकता। मानवदेह संचित पापपुण्य दोनोंके कारण ही मिलता है। मनमें विचार संचितसे होते हैं। परन्तु यदि विवेक विचार हो तो बुरे विचारोंके अनुसार कार्य नहीं होता, वे मनमें उत्पन्न होकर वहीं नष्ट हो जाते हैं। पर यदि कुसंगसे उन विचारोंमें कुछ सहायता मिलजाती है तो वे 'तरङ्गायिता अपीमे संगात् समुद्रायन्ति।' तरंगकी भांति छोटेसे आकारमें उत्पन्न हुए बुरे विचार समुद्र बन जाते हैं और मनुष्य उनमें निमग्न होकर साधनसे सर्वथा गिर जाता है।

कुसंग केवल मनुष्योंका ही नहीं होता। जिस देश, दृश्य, साहित्य, चित्र, विचार, भाव या वचनोंसे मनमें बुरे भावोंकी उत्पत्ति होती है वे सभी कुसंग हैं। ऐसे स्थानमें नहीं रहना चाहिये जहांका वातावरण तमोगुणी हो। ऐसे नाटक, खेल, सीनेमा, चित्र या अन्य दृश्य नहीं देखने चाहिये जिनसे मनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, द्वेष आदि बढ़ते हों। ऐसी पुस्तकें या पत्र आदि कभी नहीं पढ़ने चाहिये जिनसे बुरे भावोंकी मनमें जागृति होती हो। आजकलके अधिकांश समाचारपत्रोंमें प्रायः परदोषदर्शन परनिन्दा और विषयलिप्साकी ओर, मन लगानेवाले लेख रहते हैं, यथासम्भव इनसे बचना चाहिये। ऐसे विचार या भावोंको सुनना और मनन करना उचित नहीं, जिनसे मनमें कुसंस्कार जमते हों। ऐसे वचनोंका सुनना, बोलना भी त्याग देना चाहिये जिनसे घृणा, द्वेष, वैर, काम, क्रोध, लोभादिकी उत्पत्ति और वृद्धि होती हो। कमसे कम परस्त्रीसंगी, प्रमादी, अकारणद्वेषी, सन्त-साधु-शास्त्रविरोधी, ईश्वरका खण्डन करनेवाले, दम्भी, अभिमानी, परनिन्दापरायण, लोभवश अन्यायकारी, परछिद्रान्वेषी पुरुषोंके संगसे तो साधकको यथासाध्य अवश्य ही बचना चाहिये।

परदोषदर्शन

साधनमें एक विघ्न है परदोषदर्शन। साधकको इस बातसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रखना चाहिये कि 'दूसरे क्या करते हैं,' उसे तो आत्मशुद्धिमें निरन्तर लगे रहना चाहिये। साधकको अपनी साधनाके कार्यसे इतनी फुरसत ही नहीं मिलनी चाहिये जिससे वह दूसरेका एक भी दोष देख सके। जिन लोगोंमें दूसरोंके दोष देखने की आदत पड़ जाती है वे साधनपथपर स्थिर रहकर आगे नहीं बढ़ सकते। साधकोंको नारायणस्वामीजीका यह उपदेश सदा याद रखना चाहिये—

तेरे भावें जो करो भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठिके अपनो भवन बुहार॥

जब दोष दीखते ही नहीं, तब उनकी आलोचना करनेकी तो कोई बात ही नहीं रह जाती। दोष अपने देखने चाहिये और उन्हींको दूर करने का यथासाध्य पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

साम्प्रदायिकता

साधनमें एक बड़ा विघ्न है साम्प्रदायिकता। इससे दूसरोंकी अच्छी बातें भी अपने सम्प्रदायके

अनुकूल न होनेसे बुरी मालूम होने लगती हैं। इसका यह मतलब नहीं कि साधक अपनी गुरु-परम्परा छोड़ दे या सद्गुरुके बतलाये हुए साधनपथपर श्रद्धा विश्वास रखकर तदनुसार न चले। सद्गुरुकी आज्ञानुसार निर्दिष्ट मार्गपर चलना तो साधकका अवश्यकर्तव्य है, परन्तु साम्प्रदायिक आग्रहवश दूसरोंकी निन्दा करना या दूसरोंको हीन समझना, दूसरोंके साधनमार्ग या ईश्वरकी कल्पनामें दोष दिखाना, उनका खण्डन करना, केवल बाह्य आचारोंको ही मुख्य समझना आदि साधकके लिये कभी उचित नहीं!

(क्रमशः)

दुःखोंको हम बुलाते हैं

अपनी पूर्वावस्थापर विचार करनेपर क्या हम इस बातको नहीं जान लेते कि हम जिनसे प्रेम करते हैं वे ही हमें गुलाम बना रहे हैं-परमात्माकी ओरसे विमुख कर रहे हैं-कठपुतलियोंकी भांति नचा रहे हैं। परन्तु मोह-वश हम फिर उन्हींके चंगुलमें जा फंसते हैं। संसारमें सच्चा प्रेम, सच्चा निःस्वार्थभाव दुर्लभ है, इस बातको जानकर भी हम संसारसे अलिप्त रहनेका यत्न नहीं करते। आसक्ति हमारी जान ले रही है। अभ्याससे कौनसी बात सिद्ध नहीं होती? हम चाहें तो आसक्तिको भी अभ्याससे हठा सकते हैं। जबतक हम दुःख भोगनेकी तैयारी नहीं कर लेते हैं, तबतक दुःख हमारे पास नहीं आते। हम स्वयं दुःखोंके लिये अपने मनमें स्थान बना रखते हैं, फिर यदि वे आकर उसमें रहने लगें तो इसमें उनका क्या अपराध है? जहां मरा हुआ पशु पड़ा होगा, वहीं कौए और गिद्ध उसे खाते हुए दीख पड़ेंगे। रोग जब किसी शरीरको अपने रहने योग्य समझता है तभी वह उसमें प्रवेश करता है। मूर्खता और अभिमानको हटाकर हमें पहले यह सीखना चाहिये कि हम दुःखोंके शिकार न बनें। जब जब हम व्यवहारमें ठोकरें खाते हैं, तबतब हम उसकी तैयारी पहलेसे ही कर रखते हैं। दुःखके पथप्रदर्शक हम ही हैं। बाह्यसृष्टि दुःखोंको हमारे सामने ढकेलती है, पर हम चाहें तो सहज ही उनका प्रतीकार कर सकते हैं। बाह्य जगत्पर हमारा अधिकार नहीं, परन्तु अन्तर्जगत्-पर पूरा अधिकार है। यदि हम इस भावनाको दृढ़कर पहलेसे सावधान रहें तो हमें दुःखोंका सामना करना नहीं पड़ेगा।

जब हमें कोई दुःख प्राप्त होता है, तब हम उसका दोष किसी दूसरेपर लादना चाहते हैं, पर अपनी भूल नहीं देखते। इस बातको भूल जाते हैं कि अपनी भूलबिना दुःख नहीं मिल सकता। 'जगत् अन्धा है' 'उसमें रहनेवाले सभी गदहे हैं' यों कहकर हम अपने मनमें सन्तोष कर लेते हैं परन्तु यह सोचना चाहिये कि यदि जगत् स्वार्थी है-बुरा है, तो हम उसमें क्यों रहते हैं? सभीपर यदि गदहेका आरोप किया जासकता है तो हम उस विशेषणसे कैसे छूट सकते हैं? इसलिये संसारका निरीक्षण करनेसे पहले हमें अपनी तरफ बारीकीसे देखना चाहिये। संसारको व्यर्थ दोष देकर झूठ बोलना सच्चे वीरका लक्षण नहीं है। वीर बनो और सत्य बोलो। तुममें शक्ति होगी तो दुःख तुमसे डरेगा, क्योंकि वह किसीका भेजा हुआ तुम्हारे पास नहीं आता-तुम स्वयं उसे बुलाते हो!

—स्वामी विवेकानन्द

परमहंस-विवेकमाला
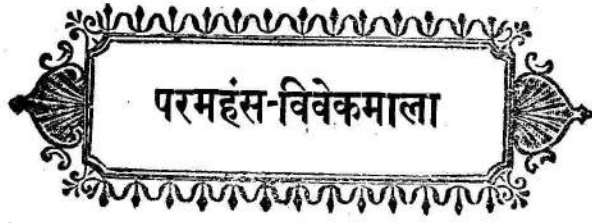
(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

[मणि ४]

कुं०-*निकला जिसमेंसे जगत्, जिसमें फिर लय होय।*
पालन कर्ता विश्वका, बंदौं ईश्वर सोय॥
बन्दौं ईश्वर सोय, श्वाससे वेद बनाता।
अद्भुत शक्ति अमोघ, लोक चौदह दिखलाता॥
निष्कल निर्गुणदेव, कला षोडश धर इकला।
ज्यों रस्सीका सर्प, जगत् जिसमेंसे निकला॥

प्रश्नोपनिषद्

देवी—डोरूशङ्कर! बोल, आज क्या पूछता है?

डोरूशंकर—माई! आपने मुझे तीन उपनिषद् सुनाये हैं, उनका मैंने विचार किया है। तत्त्व कुछ कुछ समझमें आता है परन्तु अभी टिकता नहीं है-दृढ़ निश्चय नहीं होता है। हाँ! पहिले मेरी बुद्धि जो कुण्ठितसी हो रही थी, अब विकसित होती जाती है। पहिले मैं अपनेको विद्वान् समझता था, अब मेरी समझमें आता है कि मैं कुछ भी विद्वान् नहीं हूं, अभी मुझे बहुत कुछ सीखना है। माई! किसी मुमुक्षु और ब्रह्मनिष्ठ गुरुका आख्यान सुनाइये। इसप्रकारका आख्यान सुननेसे मेरा चित्त बहुत प्रसन्न होता है।

देवी—वत्स! तेरी बुद्धि सुधरने लगी है अब वह बहुत जल्दी तत्त्वका ग्रहण करनेमें समर्थ हो जायगी। मैं तुझे आज प्रश्नोपनिषद् सुनाती हूं और फिर मुण्डकोपनिषद् समझाऊंगी। ये दोनों अथर्वण वेदके उपनिषद् हैं। इन दोनोंके अनुबन्ध एक ही हैं, इसलिये यहांपर नहीं कहती हूं। इस उपनिषद्के पढ़नेसे पहले नीचे लिखा शान्तिपाठ पढ़ना चाहिये।

हे देवताओ! कानोंसे हम कल्याण-वचन सुनें! हम उपासक नेत्रोंसे उपदेशकों और अन्य महात्माओंके स्वरूपको देखें। सूक्ष्म तत्त्व बतानेवाली श्रुतियोंसे हस्तपाद आदि स्थिर अंगवाले होकर हम सन्तुष्ट हों। हे देव! आपके प्रसादसे आयुभर हितको प्राप्त करें! हे महान् कीर्तिवाले इन्द्र! हमको पूर्ण ब्रह्मानन्द दीजिये! हे विश्वके जाननेवाले सूर्य! हमको पूर्ण ब्रह्मानन्द दीजिये! हे अकुण्ठित गतिवाले गरुड़! हमको पूर्ण ब्रह्मानन्द दीजिये! हे बृहस्पति! हमको पूर्ण ब्रह्मानन्द दीजिये! ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिये ब्रह्मचर्य आदि साधनोंका विधान करनेवाली आख्यायिका श्रुति भगवती कहती है:—

भारद्वाज गोत्रका सुकेश, शिबि गोत्रवाला सत्यकाम, गर्ग गोत्रवाला सौर्यायणी, कोशल गोत्रवाला आश्वलायन, विदर्भ गोत्रवाला भार्गव और कत गोत्रवाला कबन्धी ये छः ऋषि एक बार एक स्थानपर एकत्र हुए। ये सब वैदिक कर्ममें प्रीति करनेवाले थे। कर्म और उपासना करनेसे इनके मन शुद्ध हो गये थे। ये छओं मुमुक्षु सगुण

ब्रह्मको जानते थे और निर्गुण ब्रह्मका उपदेश लेनेके लिये आतुर थे यानी परब्रह्मकी खोज कर रहे थे। इन्होंने सुना कि पिप्पलादमुनि ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय, ब्रह्मविद्याके उपदेशक और पूर्ण महात्मा हैं। अतएव ये सब शास्त्रकी विधि-अनुसार हाथमें समिध लेकर उनके पास गये और कहने लगे, "हे भगवन्! हम सब जन्ममरणके दुःखसे भयभीत होकर आपकी सेवामें आये हैं, आप हमें ब्रह्मविद्या-का उपदेश देकर दुःखसे मुक्त कीजिये !"

सुकेशादि इन छः मुमुक्षु ऋषियोंकी प्रार्थना सुनकर भगवान् पिप्पलाद मुनि कहने लगे, 'हे ऋिषियो ! परम्पराका सम्प्रदाय यह है कि विवेकादि साधनोंसे युक्त तथा गुरुके प्रति श्रद्धा-वाला अधिकारी शिष्य भी जबतक गुरुके समीप एक वर्षतक फिर ब्रह्मचर्यका पालन न करे तबतक उसे ब्रह्मविद्याका उपदेश न करना चाहिये।' इसलिये तुम भी मेरे समीप एक वर्ष तक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए निवास करो, उसके बाद आकर मुझसे प्रश्न करना, तब मैं तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर दूंगा और तुमको ब्रह्मविद्याका उपदेश भी करूंगा। यह सुन उन सब ऋिषियोंने पिप्पलाद मुनिके पास रहकर एक वर्षतक ब्रह्मचर्यका विधिवत् पालन किया। जब वर्ष पूरा हो गया तब कत गोत्रवाले कबन्धी ऋषिने मुनिके पास जाकर प्रणाम करके इस प्रकार प्रश्न किया।

पहला प्रश्न

कबन्धी—हे भगवन्! इन प्राणियोंका जन्म किस विशेष कारणसे होता है?

डोरूशंकर—देवी! यह तो ब्रह्मविद्याका प्रकरण है, फिर ऋषिने जीवोंकी उत्पत्तिका विशेष कारण क्यों पूछा? सृष्टिका क्रम तो अपर-विद्याका प्रकरण है।

देवी—जगत्का मिथ्यापन जाने बिना वैराग्य नहीं होता और वैराग्य हुए बिना ब्रह्मविद्याका अधिकार नहीं है। अतएव वैराग्यके लिये जगत्का मिथ्यात्व सिद्ध करनेको ऋषिने जीवोंका विशेष कारण पूछा, यानी सृष्टिकी उत्पत्तिका प्रश्न किया। पञ्चमहाभूत और हिरण्यगर्भ आदि महासृष्टि जो ईश्वरसे उत्पन्न हुई है, उसको कबन्धी पहले ही जानता था, इसलिये पिप्पलादजी प्रजापतिरूप विराट्से सृष्टिका आरम्भ करते हुए कहते हैं—

पिप्पलाद—हे कबन्धी! प्रजापति विराट्की सृष्टि उत्पन्न करनेकी इच्छा हुई। उसने विचार किया कि अग्नि और सोम ये दोनों अनेक प्रकारकी प्रजा उत्पन्न करनेमें समर्थ होंगे, ऐसा विचारकर प्रजापतिने भोक्तारूप अग्नि और भोग्यरूप सोमको उत्पन्न किया। अध्यात्म और अधिदैव भेदसे अग्नि दो प्रकारका है। प्राण अध्यात्म अग्नि है और आदित्य अधिदैव अग्नि है। प्राण शरीरको धारण करता है और आदित्य ब्रह्माण्डको धारण करनेवाला है। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर आदि दिशा, ईशान आदि उपदिशा, ऊपर तथा नीचे सबको आदित्य प्रकाशित करता है। आदित्यको वेदमें विश्वरूप-सर्वरूप, हरिण-किरणवाला, जातवेदस-ज्ञानका उत्पन्न करनेवाला, परायण-सबका आश्रय, ज्योति—तेजरूप, एक-अद्वितीय, तपन्तं-भीतर बाहर तपनेवाला, सहस्ररश्मि-अनेक किरणोंवाला, अनेक प्राणिरूपसे बरतनेवाला, चराचरका प्राण सर्व व्यवहारका निर्वाह करनेवाला और सब प्राणियोंका नेत्र कहा है।

उपर्युक्त प्रजापति ही संवत्सररूप है। संवत्सररूप प्रजापतिके दो अयन हैं, एक दक्षिणायन और दूसरा उत्तरायण। दक्षिणायन सोमरूप है और उत्तरायण अग्निरूप है। दक्षिणायनको पितृयान और उत्तरायणको देवयान भी कहते हैं। जो अधिकारी गृहस्थ इष्ट और पूर्त कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, वे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं, और कर्मके क्षीण होने पर वहांसे लौटकर पुनः इस लोकमें आते हैं। अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदाज्ञाका पालन, अतिथि

सत्कार और वैश्वदेव ये इष्ट कर्म हैं और बावड़ी, कूप, तड़ाग, देवस्थान, अन्नक्षेत्र बनाना तथा बगीचा लगाना आदि पूर्त कर्म हैं, यह दक्षिणायन मार्ग प्रजाके कामनावालोंका है, इसीको पितृयान कहते हैं, यह सोमरूप है।

दूसरा मार्ग उत्तरायण है। इस मार्गसे जानेवाले चराचरके प्राण-स्वरूप सूर्यको प्राप्त होते हैं। शरीरशोषणादि तप, अष्ट प्रकारके मैथुनका त्यागरूप ब्रह्मचर्य, गुरु-वेद-वाक्योंमें आस्तिक्य बुद्धिरूप श्रद्धा, प्रजापतिकी उपासनारूप विद्या, प्राण और सूर्यको अभेदरूपसे आत्मस्वरूप मानना यानी सबका प्राणरूप सूर्य मैं ही हूं, ऐसा जानना आदि सब उत्तरायण मार्गद्वारा सूर्यलोक प्राप्तिके साधन हैं। यह सूर्यलोक प्रसिद्ध सूर्यरूप है। यही प्राण चक्षु आदि इन्द्रियोंका आश्रय है। यही आदित्य, अमृत यानी अविनाशीरूप है। यही अभयरूप है यानी घटने बढ़नेसे रहित है। यही उपासकोंका परायण यानी परमगति है। इस आदित्यमण्डलको प्राप्त होकर फिर वहांसे लौटकर आना नहीं होता। कर्म करनेवालोंको आदित्य मण्डलकी प्राप्ति ही नहीं होती, कोई कोई ऐसा मानते हैं कि यही मोक्ष है। नीचेके मन्त्रमें संवत्सरनामक प्रजापतिका स्वरूप बताया है।

हेमन्त और शिशिरको मिलाकर पांच ऋतुएं इस संवत्सररूप आदित्यके पाद हैं। इन पांचों ऋतुओंसे वर्षा और अन्नादिद्वारा सब जगत्की उत्पत्ति होती है, इसलिये ये ऋतुएं पितर कहलाती हैं। बारह मास इस आदित्यके अंग हैं। अन्तरिक्षलोकसे ऊपरके स्थानको कालवादी जलवाला बताते हैं और दूसरे कालचक्रके जाननेवाले इसको सात चक्रवाला और छः आरावाला कहते हैं। सब जगत् इन्हींमें संयुक्त है। गायत्री आदि सात छन्द सात चक्र हैं और छः ऋतुएं छः आरा हैं।

जिसप्रकार संवत्सर प्रजापतिरूप है, ऐसे ही मास भी प्रजापतिरूप है, इस मासरूप प्रजापतिके कृष्ण और शुक्ल दो पक्ष हैं। कृष्णपक्ष सोमरूप और शुक्लपक्ष अग्निरूप है। उत्तरायण मार्गवाले ऋषि शुक्लपक्षमें इष्टकर्म करते हैं और दूसरे पितृयानवाले कृष्णपक्षमें करते हैं।

इसीप्रकार दिन रात भी प्रजापतिरूप हैं। दिन रातमें तीस मुहूर्त होते हैं। मनुष्य, पितृ, देवता और ब्रह्माका दिन रात भिन्न होता है। दिन अग्निरूप है और रात सोमरूप है। दिनमें स्त्रीसंग करनेवाले अपने प्राणोंका क्षय करते हैं और रातमें स्त्रीसंग करनेवाले ब्रह्मचारी ही हैं। भाव यह है कि दिनमें स्त्रीसंगका निषेध है और रात्रिमें ऋतुकालमें अपनी भार्याके प्रति गमन करनेकी विधि है।

इसीप्रकार अन्न प्रजापति है। इस अन्नसे स्त्री पुरुषका बीजरूप वीर्य उत्पन्न होता है। उस वीर्यसे यह सब प्राणी होते हैं। इसप्रकार चन्द्र, आदित्य, संवत्सर, मास दिन-रात, अन्न तथा स्त्रीसंगरूप निमित्तोंसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है, यह निर्णय किया।

जो लोग इस प्रजापतिव्रतका आचरण करते हैं यानी ऋतुकालमें ही रात्रिके समय भार्यागमन करते हैं, वे पुत्री अथवा पुत्रको उत्पन्न करते हैं, नपुंसक उत्पन्न नहीं करते। यह प्रजापति व्रतका दृष्टफल है। पश्चात् उनको प्रजापतिके लोककी प्राप्ति होती है। तप-प्रजापति व्रतके अनुसार ब्रह्मचर्यका पालन और सच बोलना, यह भी प्रजापतिके लोककी प्राप्तिके साधन हैं।

जो ब्रह्मचारी वानप्रस्थ उपासक मिथ्या नहीं बोलते, कपट नहीं करते, हिंसादिसे बचते हैं उन उपासकोंको वृद्धि और क्षयसे रहित ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है। (इति प्रथम प्रश्न)

दूसरा प्रश्न

देवी—हे डोकरुशङ्कर! प्रथम प्रश्नमें अधिदेवरूप प्राणस्वरूप प्रजापति आदित्यकी उपासनाका

विधान किया है अब दूसरे प्रश्नमें उसी प्रजापतिके आध्यात्मिकरूप प्राणकी उपासनाका विधान श्रुति करती है।

पश्चात् विदर्भ देशके रहनेवाले भार्गवने पिप्पलाद मुनिसे इसप्रकार प्रश्न किया।

भार्गव—हे भगवन्! शरीररूप प्राणियोंको यानी अध्यात्मरूप संघातको कितने देवता धारण करते हैं, और कौन देवता प्रकाश करते हैं और उन सब देवताओंमें सबसे श्रेष्ठ कौन है?

भार्गवके इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये पिप्पलाद मुनि आख्यायिका कहते हैं:-

पिप्पलादमुनि—आकाशादि पञ्च महाभूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय मन और प्राण ये सतरह देवता इस अध्यात्मरूप संघातको धारण करते हैं। उनमें श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन, यह छः देवता रूपादि पदार्थोंका प्रकाश करनेवाले हैं, इसलिये मुख्य हैं और प्राण उन सबसे श्रेष्ठ है। एकबार सब देवता यह अभिमान करने लगे कि हम ही इस संघातको धारण करते हैं तब सबमें श्रेष्ठ जो प्राण है, उसने कहा कि, 'तुम ऐसा मोह मत करो कि हम इस संघातको धारण करते हैं क्योंकि मैं मुख्य प्राण ही पांच प्रकारका होकर इस संघातको दृढ़ करके धारण करता हूं।' आकाशादि देवताओंने प्राणके इस कथनको न माना। जब मुख्य प्राणने देखा कि ये लोग मेरे वचनका विश्वास नहीं करते और अपना अभिमान नहीं त्यागते तब प्राण उनका गर्व दूर करनेके लिये शरीरके एक सौ आठ मर्म स्थानोंमेंसे निकलकर जाने लगा तो सब देवता व्याकुल हो गये। प्राणके बिना दूसरे देवता शरीरमें नहीं रह सकते। जैसे मधुमक्षिका रानीके रहनेपर ही अन्य मक्खियां छत्तेमें रहती हैं और मधुमक्षिका रानीके निकलते ही सब मक्खियां छत्तेसे निकल जाती हैं, ऐसे ही मुख्य प्राण जबतक शरीरमें रहता है तबतक ही अन्य देवता शरीरमें टिके रहते हैं और उसके निकलते ही सब उसके साथ चले जाते हैं। प्राणका यह प्रभाव देखकर आकाशादि पञ्चभूत, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और मन सब मिलकर प्राणकी स्तुति करते हैं:-

यह मुख्य प्राण अग्निरूप है, यही सूर्यरूप है यही वर्षारूप है, यही इन्द्र है, यही वायु है, यही पृथिवी है, यही चन्द्ररूप है, यही प्रकाशमान मूर्त और अमूर्त है, यही अमृतरूप देवताओंका जीवन है अथवा मरण धर्मरहित ब्रह्मा भी यही है एवं अन्य जो कुछ भी है, सब प्राण ही है।

जैसे रथकी नाभि-धुरीमें अरा स्थित होते हैं इसीप्रकार प्राणमें अग्नि सूर्य आदि सब स्थित हैं क्योंकि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, ज्योतिष्टोमादि यज्ञ, क्षत्रिय और ब्राह्मण इत्यादि सब प्राणरूप हैं।

हे प्राण! आप प्रजापति हैं। आप ही पिताके जठरमें वीर्यरूपसे और माताके जठरमें पुत्ररूपसे चलते हैं; अथवा पिता मातारूपसे आप ही उत्पन्न होते हैं। हे प्राण! यह चराचररूप प्रजा मुख आदि द्वारोंसे आपको आहार पहुंचाती है। आप चक्षु आदि इन्द्रियोंसहित शरीरमें स्थित हैं।

इन्द्रादि देवताओंमें आप अग्निस्वरूप हैं, पितृलोक निवासियोंमें आप स्वधा हैं, यानी यजमानके दिये हुए अन्नको यजमानके पितरोंको प्राप्त करानेवाले हैं, गौतमादि ऋषियोंका आचरण किया हुआ सत्य आप हैं और इन्द्रियोंका सारभूत सत्य भी आप ही हैं।

हे प्राण! आप इन्द्र-परमेश्वर हैं, तेजसे आप रुद्र संहार करनेवाले हैं और रक्षा करनेवाले भी आप ही हैं। आकाशमें वायु आदिरूपसे आप चलते हैं और चन्द्रमा आदि ज्योतियोंके स्वामी सूर्यरूप आप हैं।

जब आप वर्षारूपसे वर्षा करते हैं तब ही ये स्थावर जंगम प्राणी चेष्टा करते हैं और

आनन्दको प्राप्त होते हैं क्योंकि वर्षा होनेसे इच्छापूर्वक अन्न होगा, ऐसा समझते हैं।

सबसे प्रथम होनेके कारण यद्यपि आप उपनयन आदि संस्कारोंसे रहित हैं तो भी स्वभावसे ही शुद्ध हैं। हे प्राण! आप एक ऋषि नामके अग्नि हैं, सब चराचर जगत्के उपसंहार करनेवाले हैं, इस विश्वके आप सच्चे स्वामी हैं हे प्राण! आप हम सबको अन्न देनेवाले और हमारे सबके पिता हैं।

हे प्राण! वाणीमें, श्रोत्रमें, नेत्रमें तथा मनमें जहां जहां आप स्थित हैं उस उस स्थानको आप शान्त कीजिये, वहांसे निकलकर बाहर न जाइये।

हे प्राण! त्रिलोकीमें जो कुछ है सब आपके वशमें है, माताके समान आप हमारी रक्षा कीजिये। अनेक प्रकारकी लक्ष्मी, लोक वेदको जतानेवाली बुद्धि और अन्य जिसमें हमारा हित हो, दीजिये। (इति द्वितीय प्रश्न)

तीसरा प्रश्न

हे डोरूशंकर! भार्गव ऋषिके प्रश्नके पश्चात् पिप्पलाद मुनिसे आश्वलायनने निम्नलिखित छः प्रश्न किये।

आश्वलायनः–हे भगवन्! (१) यह प्राण कहांसे उत्पन्न होता है? (२) किसप्रकारसे इस स्थूल शरीरमें आता है? (३) किसप्रकारसे भिन्न भिन्न स्वरूपसे स्थित होता है? (४) किस निमित्तसे अथवा किस द्वारसे इस शरीरसे निकलकर जाता है? (५) किसप्रकारसे बाहर-अधिदेव और अधिभूतको धारण करता है? और (६) किसप्रकारसे अध्यात्मरूपसे देह इन्द्रिय आदिकोंको धारण करता है?

आश्वलायनके प्रश्न सुनकर पिप्पलाद मुनि कहने लगेः—

पिप्पलादः–हे आश्वलायन! तू अत्यन्त सूक्ष्म प्रश्न पूछता है! तू ब्रह्मको जानता है, इन प्रश्नोंका उत्तर सुननेका अधिकारी है इसलिये मैं तेरे प्रश्नोंका उत्तर देता हूं।

(१) यह पांच वृत्तिवाला प्राण आत्मा-परमाक्षर पुरुषसे उत्पन्न होता है जैसे लोकमें यह प्रत्यक्ष छाया देहसे उत्पन्न होती है इसी-प्रकार आत्मासे प्राण उत्पन्न होता है। पुरुषके देहमें जैसे हाथ पैर आदि होते हैं ऐसे ही छायामें भासते हैं, वस्तुतः होते नहीं हैं इसीप्रकार ब्रह्ममें यह प्राणरूप तत्त्व छायारूप मिथ्या ही है, वास्तविक नहीं है। भाव यह है कि प्रतिबिम्ब-रूप प्राणकी सत्ता ब्रह्मरूप बिम्बसे भिन्न नहीं है। इसलिये प्राण भी आत्मरूप ही है (२) यह प्राण कर्मके निमित्त किये हुए मनसंकल्पसे इस स्थूल शरीरमें आता है। (३) जिसप्रकार सार्वभौम राजा मन्त्री आदि अधिकारियोंको उनके अधिकारपर नियुक्त करता है कि इन ग्रामोंका तुम प्रबन्ध करो और उन ग्रामोंका तुम प्रबन्ध करो, इसीप्रकार यह मुख्य प्राण अपने सिवा अन्य अपान आदि प्राणोंको भिन्न भिन्न स्थानोंपर स्थापित करता है।

मूत्र पुरीषादिके निकालनेके लिये पायु और उपस्थमें अपान नामके प्राणको नियुक्त करता है। नेत्र, श्रोत्र, मुख और नासिकामें राजारूप प्राण स्वयं स्थित होता है। शरीरके मध्य नाभिमें समान वायुको नियुक्त करता है। यह समान वायु भोजन किये हुए अन्न जलको जठराग्निमें ले जाता है। इसीसे दो नेत्र, दो कान, दो नासिका द्वार और एक मुख ये सातों पुष्ट होकर शब्दादिका प्रकाश करते हैं।

यह लिङ्गात्मा प्राण हृदयकमलके मांस पिण्डमें रहता है। इस हृदयमें शरीरको धारण करनेवाली १०१ मुख्य नाड़ियां होती हैं, उन मुख्य १०१ नाड़ियोंमें प्रत्येकमेंसे सौ सौ नाड़ियां और निकलती हैं। इसप्रकार सब १०१०० शाखानाड़ी हुईं। इन शाखानाड़ियोंसे एक एकसे बहत्तर

बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाड़ियां निकलती हैं। सब मिलकर ७२००१०१०१ बहत्तर करोड़ दश हज़ार एक सौ एक प्रतिशाखा नाड़ियां होती हैं इन सब प्रतिशाखा नाड़ियोंमें व्यान वायु चलता है, इसप्रकार सन्धि, मर्मदेश, स्कन्धरूप सब शरीरमें व्यान वायु व्यापक रहता है।

यहांतक तीन प्रश्नोंका उत्तर हुआ, अब उदानका स्थान बताते हुए किस द्वारसे प्राण उत्क्रमण करता है, इस चौथे प्रश्नका उत्तर देते हैं।(४) उन सब नाड़ियोंमें एक सुषुम्ना नामक नाड़ी ऊपरको जानेवाली है। उस सुषुम्ना नाड़ीमें उदान वायु रहता है। यह उदान वायु पुण्य कर्म करनेवालोंको पुण्यका भोग प्राप्त करानेके लिये स्वर्ग आदि लोकोंमें ले जाता है, पाप कर्म करनेवालोंको पापका फल भोगनेके लिये तिर्यगादि योनिरूप नरकमें ले जाता है और समान पाप-पुण्यवालोंको मनुष्यलोकमें यानी सुख दुःखके स्थानरूप मनुष्यदेहमें ले जाता है।

अब पांचवें और छठे प्रश्नका उत्तर देते हैं:-

आदित्यमण्डलका अभिमानी पुरुष बाह्य प्राण है। यह बाह्य प्राण आध्यात्मिक प्राणसे भिन्न मुख्य प्राण है। इसीके अनुग्रहसे चक्षुरूप प्राण प्रकाशवाला होता है। पृथिवीका अभिमानी देवता इस प्रत्यक्ष पुरुषका अपान वायु है, वही इस शरीरको नीचे गिरनेसे रोके रहता है। वायु-बाहरका पवन व्यान है और आकाश समान वायु है।

दाह और प्रकाश करनेवाला सामान्य तेज उदान वायु है। यह शरीरमें स्थित उदानवायुका अनुग्राहक है इसलिये जब तेज शान्त हो जाता है तब यह पुरुष इस शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरको प्राप्त होता है, इन्द्रियां मनमें प्रवेश करती हैं, पश्चात् इन्द्रिय और मनसहित प्राण निकलकर दूसरा शरीर प्राप्त करता है।

अन्तकालमें कर्मके अनुसार जिस शरीरमें चित्त होता है, उस संस्कारसे युक्त मन इन्द्रियों-सहित यह अन्तःकरण अभिमानी जीव मुख्य प्राणमें आ जाता है। मुख्यप्राण तेजरूप उदान-से युक्त भोक्ताको जिस लोकका संकल्प होता है, उसी लोकको ले जाता है।

जो विद्वान् पुरुष इस प्राणको यों जानता है कि यह आत्मासे उत्पन्न होता है, धर्माधर्मसे शरीर ग्रहण करता है, प्राण, अपान, व्यान, समान, उदानरूपसे चक्षु श्रोत्रादि स्थानोंमें शरीरमें स्थित होता है, आदित्य, पृथ्वी, आकाश, वायु और तेज बाहरके प्राण आध्यात्मिक प्राणके अनुग्राहक हैं, उदान वायु जीवको कर्मानुसार दूसरे लोकमें ले जाता है, ऐसे जो जानता है उसकी प्रज्ञा घटती नहीं और प्राण सायुज्यरूप अमृतको प्राप्त होता है।

मुख्य प्राणकी उत्पत्ति, आगमन, स्थान, विभुत्व, पांच प्रकारका विभाग, अध्यात्म और अधिदैवको जैसा कि ऊपर बता आये हैं, जो कोई जानता है, वह हिरण्यगर्भके सायुज्यरूप अमृतको भोगता है। (इति तृतीय प्रश्न)

चौथा प्रश्न

हे डोरूशङ्कर ! प्राणकी उत्पत्ति आदि कथन करनेसे आत्माकी सिद्धि अभीतक नहीं हुई अतएव आत्माकी सिद्धि करनेके लिये उत्तर ग्रन्थका आरम्भ किया जाता है।

आश्वलायनके पीछे गर्गगोत्रवाला गार्ग्य प्रश्न करता है।

गार्ग्य–हे भगवन् ! (१) शिर हाथ पैर आदि-वाले इस देहमें कौन कौन इन्द्रियां अपने व्यापारसे निवृत्त होकर सोती हैं ? (२) कौन कौन इन्द्रियां इस देहमें जाग्रत अवस्थामें कार्य करती हैं ? (३) कौन देव इस शरीरके भीतर स्वप्नमें जाग्रतावस्थाके समान हाथी घोड़े आदि पदार्थ देखता है ? (४) जाग्रत और स्वप्नके व्यापारके निवृत्त हो जानेपर इस सुषुप्तिके सुखका कौन अनुभव करता

है ? (५) किस एक आधारमें मनसहित सब इन्द्रियां स्थित होती हैं ?

उक्त प्रश्नोंके उत्तर पिप्पलाद मुनि क्रमसे देते हैं।

पिप्पलादमुनि–हे गार्ग्य ! जैसे सायंकालके समय सूर्यके अस्त हो जानेपर सब किरणें इस तेजोमण्डलमें एकमेक हो जाती हैं-देखनेमें नहीं आतीं और दूसरे दिन वे ही अदृश्य किरणें सूर्यके उदय होते ही पुनः सब दिशाओंमें संचार करने लगती हैं इसीप्रकार वाणी आदि सब इन्द्रियां परमदेव मनमें एकत्र हो जाती हैं। इन्द्रियोंकी वृत्तियोंकी उत्पत्ति और लय तथा सब व्यवहारका कारण होनेसे मनको परमदेव कहा है। जब सब इन्द्रियां मनमें लय हो जाती हैं तब यह प्रत्यक्ष पुरुष न तो शब्द सुनता है, न देखता है, न सुगन्ध दुर्गन्धको सूंघता है, न शीतोष्ण, कोमल कठिनका स्पर्श करता है, न बोलता है, न किसी वस्तुका ग्रहण करता है, न विशेष आनन्दको ग्रहण करता है, न मल आदिका त्याग करता है और न चलता है। उस समय इसको विद्वान् ऐसा कहते हैं कि "सोता है"। भाव यह है कि श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियां और वागादि पांच कर्मेन्द्रियां सोती हैं, यह प्रथम प्रश्न, कौन कौन इन्द्रियां सोती हैं, इसका उत्तर है।

हे गार्ग्य ! अब 'इस शरीरमें कौन जागता है' इस अपने दूसरे प्रश्नका उत्तर सुनः-

इस नव द्वारवाले देहरूपी नगरमें प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये पांच प्राण जागते हैं। ये पांचों प्राण अग्निरूप हैं। अपान गार्हपत्य अग्नि है, व्यान दक्षिणाग्नि है और प्राण आहवनीय अग्नि है। जैसे गार्हपत्य अग्नि सदा रक्षणीय है, इसीप्रकार अपान सबका आधार होनेसे रक्षणीय है, इसलिये इन दोनोंकी एकता है। व्यान भोजन किये हुए अन्नको पचाता है और दक्षिणाग्नि बाहरके अन्नको पकाता है इसलिये इन दोनोंकी समानता है। गार्हपत्य अग्निमेंसे जो अग्नि बाहर हवनके लिये दूसरे स्थानमें ले जाया जाता है, उसको आहवनीय अग्नि कहते हैं। जैसे गार्हपत्यमें-से आहवनीय निकाला जाता है ऐसे ही अपानमेंसे प्राण उठता है इसलिये प्राणको आहवनीय कहा है।

जो श्वास उच्छ्वासकी आहुतिको समान रखता है, वह समान वायु है। भाव यह है कि प्राण अपान और व्यान अग्नि हैं, उनमें हवन करनेवाला समान वायु है। मन यजमान है और इष्टफल उदान है। सब व्यापारोंको करनेवाला होनेसे मन यज्ञकर्ता यजमान कहलाता है। सुषुम्नामें चलनेवाला उदान मरणके बाद स्वर्गफल भोगने-को ले जाता है इसलिये उसे इष्टफल कहा है। वही उदान मनरूप यजमानको दिन प्रतिदिन सुषुप्तिकालमें सत्यादि लक्षणवाले एकरस आनन्दरूप ब्रह्ममें ले जाता है। प्राणादिको यागका अग्नि कहनेसे यह सिद्ध किया है कि प्राण जागते हैं, आत्मा नहीं जागता। 'त्वं' पदार्थको जानने-वाले विवेकीका स्वप्नमें याग होता है और सुषुप्तिमें यागका फल होता है।

अब 'कौन स्वप्न देखता है', इसका उत्तर सुन–मन जो कुछ देखता है, चेतन आत्मासहित ही देखता है।

स्वप्नमें मनदेव अपनी महिमाको देखता है। क्योंकि–वह स्वतन्त्र नहीं है इसलिये (मनको) देव कहना उचित नहीं है, किन्तु यहां मनको देव कहनेका यह भाव है कि मन ही स्वप्न देखता है आत्मा नहीं देखता, क्योंकि आत्मा अक्रिय है। जाग्रतमें मनने जो जो पदार्थ देखे होते हैं, उन्हींको स्वप्नमें देखता है, जो जो सुने होते हैं, उनको सुनता है, जिन जिन देश दिशा आदिका अनुभव किया होता है, उन्हींका अनुभव करता है, जो जो इस जन्ममें अथवा दूसरे जन्ममें देखा, सुना और अनुभव किया होता है, उसीको देखता, सुनता और अनुभव करता है। सबको देखता है, सर्वरूप होकर देखता है। यानी सब वासनाओंसे युक्त होकर सर्व वासनामय पदार्थोंको देखता है।

अब 'किसको सुख होता है' इसका उत्तर सुन—

जिस समय वह मनरूप देव, वासनाओंको दिखलानेवाले कर्मके शान्त हो जानेसे नाड़ीगत पित्तसे अथवा ब्रह्मसे दब जाता है यानी मनकी वासनाएँ दब जाती हैं तब वह सुषुप्तिमें स्वप्नके पदार्थोंको नहीं देखता, किन्तु उस समय इस शरीरमें जो सुख विद्यमान है, उस सुखका स्वरूप ही हो जाता है। भाव यह है कि सुषुप्तिमें मन दब जाता है, चला नहीं जाता इसलिये सुषुप्तिका आश्रय भी मन ही है क्योंकि सूक्ष्म-रूपसे मन सुषुप्तिमें भी स्थित होता है।

सब इन्द्रियां और मन किसमें स्थित होते हैं, अब इस प्रश्नका उत्तर दृष्टान्तसहित कहता हूं, सुन,—

हे प्रियदर्शन गार्ग्य! जिसप्रकार अनेक दिशाओंमें गये हुए पक्षी सायंकालको वहांसे निवास करनेके लिये आकर वृक्षपर बसेरा लेते हैं इसीप्रकार सब परमात्मामें टिकते हैं। आत्मा अविद्याके कार्य और उसके संस्कारोंसे भिन्न स्वयंप्रकाश आनन्दस्वरूप है उसीमें सब स्थित होते हैं। कौन कौन स्थित होते हैं, उनका नाम सुन—पञ्चीकृत तथा अपञ्चीकृत पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश; नेत्र, नेत्रका विषय रूप, श्रोत्र, श्रोत्रका विषय शब्द, नासिका, नासिकाका विषय गन्ध, रसनेन्द्रिय, रसनाका विषय स्वाद, त्वचा, त्वचाका विषय स्पर्श, वाणी-वाक्य, हाथ,-ग्रहण, उपस्थ,-आनन्द, पायु,-विसर्जन, पाद,-गति, मन,-मन्तव्य, बुद्धि,-बोद्धव्य, अहंकार,-अहंकर्तव्य, चित्त-चेतयितव्य, शोभा,-शोभाका विषय ये सब परमात्मामें स्थित होते हैं। इनके सिवा देखनेवाला, छूनेवाला, सुननेवाला, सूंघनेवाला, चखनेवाला मनन करनेवाला, जाननेवाला, कर्ता और विज्ञानस्वरूप पुरुष भी परमात्मामें स्थित होता है। कार्य करण-रूप उपाधियोंसे पूर्ण होनेसे जीवको पुरुष कहा है। जैसे जलमें पड़ा हुआ सूर्यका प्रतिविम्ब सूर्यमें प्रवेश कर जाता है इसीप्रकार ये सब भी सब जगत्के आधार परमात्मामें प्रवेश कर जाते हैं। यह भाव है।

हे सोम्य! सबका आधारभूत परमेश्वर अविद्यासे रहित है, अशरीर है-यानी नामरूप उपाधिसे रहित है, अलोहित है यानी लोहित आदि गुणोंसे रहित है, शुभ्र-यानी शुद्ध है, अक्षर-यानी नाशसे रहित है। जो इस परमेश्वरको अभेदरूपसे प्राप्त होता है, वह सर्वज्ञ और सर्व हो जाता है। यही बात नीचेके मन्त्रसे सिद्ध होती है।

विज्ञानात्मा-अन्तःकरणविशिष्ट आत्मा, नेत्र आदि सब इन्द्रियां, प्राण और पृथिवी आदि पञ्च महाभूत स्थूल तथा सूक्ष्म जिस अक्षरमें प्रवेश करते हैं, हे सोम्य! जो अधिकारी उसको जानता है वह सर्वज्ञ आत्मरूपसे सबमें ही प्रवेश करता है। (इति चौथा प्रश्न)

पांचवां प्रश्न

इसप्रकार चार प्रश्नोंसे 'तत्वं' पदार्थके शोधनपूर्वक उत्तम अधिकारीके लिये परमात्मा-की प्राप्तिरूप परा विद्या कही, अब जिसको मन्द वैराग्यके कारण मन्द अधिकार हो, उसके लिये ॐकारकी उपासना श्रुति कहती है। ॐकारकी उपासनासे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होकर क्रमसे परमात्माकी प्राप्ति होती है।

गार्ग्यके प्रश्नके पीछे सत्यकामने पिप्पलाद-मुनिसे यह प्रश्न किया:—

सत्यकाम—हे भगवन्! तीन वर्णोंके मनुष्योंमें से जो कोई अधिकारी मरणपर्यन्त ॐकारका चिन्तन करता है, वह कौनसे लोकको प्राप्त होता है?

पिप्पलादमुनि इस प्रश्नका उत्तर नीचे देते हैं:—

पिप्पलाद—हे सत्यकाम! पर और अपर दो प्रकारका ब्रह्म है। परब्रह्म, सत्यादि लक्षण-

वाला सर्वोत्तम है। अपरब्रह्म, कार्यस्वरूप हिरण्यगर्भको कहते हैं। ॐकार पर और अपर-ब्रह्म दोनोंका वाचक है। इसलिये इसके अवलम्बनसे अपने अपने अधिकारके अनुसार उपासक परब्रह्म अथवा अपरब्रह्मकी विधि-पूर्वक उपासना करते हैं।

अकार, उकार, मकार ये ॐकारकी तीन मात्राएं हैं। तीनों मात्राओंके क्रमसे अग्नि, वायु और सूर्य ऋषि हैं, ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर देवता हैं, भूः भुवः और स्वः अधिदैवत स्थान हैं, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अध्यात्म स्थान हैं ऋग्, यजु और साम वेद हैं। इसप्रकार विभाग-को जाननेवाला जो उपासक एकमात्रा अकारका ध्यान करता है और उसका साक्षात्कार करता है, वह उपासक शीघ्र ही इस जगत् (पृथिवी लोक) में लौट आता है, यहां ऋग्वेदका अभिमानी देवता उसको मनुष्यलोक यानी मनुष्यशरीरमें ले जाता है, वहां वह स्वधर्माचरणरूप व्रत तथा ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ श्रद्धापूर्वक वेदोक्त अर्थको आस्तिक बुद्धिसे जानकर मनुष्यके आनन्दका अनुभव करता है।

फिर यदि वह किसी पुण्यके कारण अकार उकार दो मात्राओंका ध्यान करता है तो यजुर्वेदका अभिमानी देवता उस उपासकको सोमलोक यानी पितृलोकको ले जाता है। पितृ-लोकमें मनुष्यलोकसे विशेष आनन्द है। पितृ-लोकके आनन्दका अनुभव करके वह उपासक फिर पृथिवीलोकमें लौट आता है।

जो उपासक ॐकारकी अकार, उकार और मकार तीनों मात्राओंसे यानी ओम् इस अक्षरसे सूर्यके अन्तर्गत पुरुषका अभेदरूपसे ध्यान करता है वह तेजोमण्डल सूर्यको प्राप्त होता है। जिस-प्रकार सर्प पुरानी केंचुला छोड़ देता है इसी-प्रकार सूर्यको प्राप्त हुआ यह उपासक पापोंसे मुक्त हो जाता है। पापसे मुक्त हुए उपासकको सामवेदका अभिमानी देवता ब्रह्मलोकमें ले जाता है। ब्रह्मलोक सूर्यसे ऊपर है। ब्रह्मलोकको प्राप्त हुआ उपासक सर्व शरीरोंमें प्रविष्ट जो परसे पर पुरुष परब्रह्म है, उसको प्राप्त होता है यानी ब्रह्मलोकमें ब्रह्मका साक्षात्कार करके उपासक विदेह कैवल्यको प्राप्त होता है। नीचेके दो मन्त्रोंमें यही कहा है—

ॐकारकी तीनों मात्राएँ परस्पर मिली हुई, एक दूसरेसे सम्बन्धवाली हैं, वे कभी अलग नहीं होतीं। ये तीनों मात्राएँ ब्रह्मदृष्टि बिना मारने-वाली हैं इसलिये उनमें ब्रह्मदृष्टि अवश्य कर्तव्य है, यही तीनों मात्राएँ अधिदेव और अध्यात्म-रूपसे बाहर और भीतरकी सब क्रियाओंसे युक्त हैं, इसप्रकार जाननेवाला पुरुष कभी चलायमान नहीं होता-यानी परब्रह्म और ॐकारका अभेद रूपसे ध्यान करता है।

ऋग्वेदके मन्त्र उपासकको इस लोकमें प्राप्त करते हैं, यजुर्वेदके मन्त्र अन्तरिक्षको और सामवेदके मन्त्र उस लोकको ले जाते हैं, जिस लोकको विद्वान् ही जानते हैं। ब्रह्मलोकको अविद्वान् नहीं जानते। इस ॐकारके अवलम्बन-से विद्वान् शान्त, अजर, अमर, अभयरूप परब्रह्म-को प्राप्त होता है। (इति पंचम प्रश्न)

छठा प्रश्न

ॐकारकी उपासना करनेसे जिस परब्रह्मकी प्राप्ति होती है, वह परब्रह्म शरीरमें ही प्रत्यक्‌रूप-से स्थित है यह बतलानेके लिये आगेके ग्रन्थका आरम्भ किया जाता है।

सत्यकामके प्रश्नके बाद सुकेशने प्रश्न किया।

सुकेश–हे भगवन्! एकबार कोशलदेशके राजपुत्र हिरण्यनाभने मेरे पास आकर यह प्रश्न किया, हे भारद्वाज! क्या तुम सोलह कलावाले पुरुषको जानते हो? मैंने कहा, 'हे राजकुमार! मैं उस पुरुषको जानता नहीं हूं। यदि मैं जानता होता तो क्यों न कहता। क्योंकि मैं जानता हूं कि जो कोई झूठ बोलता है, वह समूल नष्ट हो

जाता है इसलिये मैं झूठ नहीं बोल सकता। मेरे यह वचन सुनकर राजकुमार चुपचाप रथपर सवार होकर चला गया। इस सोलह कलावाले पुरुषको आप मुझे बतलाइये।

इस प्रश्नका उत्तर पिप्पलाद मुनि देते हैं।

पिप्पलाद–हे सौम्य ! जिस पुरुषसे ये सोलह कलाएँ उत्पन्न होती हैं, वह इस शरीरमें ही है शरीरके भीतर हृदय कमल है। हृदय कमलके आकाशमें वह पुरुष पूर्णरूपसे स्थित है।

हे डोरूशंकर–वह पुरुष वास्तवमें कलारहित है। कलारहितमें कलाओंका आरोप करके मुनि समझाते हैं।

पिप्पलाद–उस सोलह कलावाले पुरुषने विचार किया, 'मैं स्वयंप्रकाश आनन्दस्वरूप आत्मा किसके निकल आनेसे देहमेंसे निकला हुआ माना जाऊंगा और किसके स्थित रहनेसे शरीरमें टिका हुआ समझा जाऊंगा ? 'प्राणकी क्रियासे ही आत्मा क्रियावाला हो सकता है।' ऐसा विचारकर उस पुरुषने समष्टि प्राणको उत्पन्न किया। पश्चात् सब प्राणियोंकी शुभकर्ममें प्रवृत्ति होनेके लिये उसने आस्तिक्य बुद्धिरूप श्रद्धाको रचा, फिर आकाश, वायु, तेज, जल आदि पञ्चमहाभूत रचे। पीछे उसने इन्द्रियों और मनको उत्पन्न किया फिर सबके भोजनके लिये अन्न उत्पन्न किया। अन्नसे वीर्य, तप, मन्त्र, कर्मलोक और लोकोंके नाम उत्पन्न किये।

इसप्रकार आरोपकरके अब दृष्टान्तसहित अपवाद कहते हैं।

पिप्पलाद–जिसप्रकार गंगा यमुनादि नदियां समुद्रकी तरफ बहती हुई उस (समुद्र)को प्राप्त होकर अस्त (गायब) हो जाती हैं। उनके नामरूप नष्ट हो जाते हैं और वे समुद्र ही कहलाती हैं। इसीप्रकार सबके साक्षी पुरुषकी सोलह कलाएँ पुरुषकी तरफ जाती हुई पुरुषको प्राप्त होकर अस्त हो जाती हैं। उनके नामरूप नष्ट हो जाते हैं और वे पुरुष ही कहलाती हैं। वह पुरुष कलारहित–अमृत–अमर हो जाता है। उसके लिये यह मन्त्र है—

जिसप्रकार रथकी नाभिमें आरा स्थित होते हैं इसीप्रकार जिस पुरुषमें कलाएँ स्थित हैं, उस जानने योग्य पुरुषको जान और मरणसे दुःखको मत प्राप्त हो ! इस पुरुषको न जाननेसे ही मरणका दुःख होता है इसको जाननेपर मरणका दुःख नहीं होता।

हे शिष्यो ! इतना ही परब्रह्म है, इससे अधिक नहीं है, इतना ही मैं जानता हूं।

हे डोरूशंकर ! इतना सुनकर शिष्योंने पिप्पलादमुनिका पूजन किया और कहाः–आप हमारे पिता हैं। आपने हमको अविद्यासे पार कर दिया है। परम ऋषियोंको नमस्कार ! परम ऋषियोंको नमस्कार !! (इति प्रश्नोपनिषद्)

देवी–हे डोरूशंकर ! स्मृतिमें पांच प्रकार के पिता कहे हैंः—

जनकश्चोपनेता च यश्च विद्यां प्रयच्छति।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः।

हे वत्स ! अब इस उपनिषद्का सारांश कहती हूं सुन,–चन्द्रमा, आदित्य, संवत्सर, मास, दिन, रात, अन्न तथा स्त्री संगरूप निमित्तोंसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है। इस शरीररूप प्रजाको पञ्च महाभूत, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां मन और प्राण धारण करते हैं। इनमें पांच ज्ञानेन्द्रियां और मन सबके प्रकाशक होनेसे मुख्य हैं और प्राण सबका धारण करनेवाला होनेसे सबसे श्रेष्ठ है। यह प्राण पुरुषकी छायाके समान आत्मासे उत्पन्न होता है। धर्माधर्मरूप मानसकर्मसे शरीरमें आता है। प्राण, अपान, व्यान, समान और उदानरूपसे भिन्न भिन्न स्थानोंमें स्थित होता है और कर्म क्षय होनेपर शरीरमेंसे निकल जाता है। आदित्य, पृथिवी, वायु, आकाश और तेज ये अधिदेव प्राण आध्यात्मिक प्राणके

अनुग्राहक हैं। जो इस प्राणको जानता है, उसकी प्रजा घटती नहीं और अन्तमें वह अमरपदको प्राप्त होता है। स्वप्नमें इन्द्रियां सोती हैं। जाग्रतमें इन्द्रियां कार्य करती हैं। मन स्वप्न देखता है। सुषुप्तिके सुखका भी सूक्ष्मरूप होकर मन ही अनुभव करता है। मनसहित सब इन्द्रियां परमात्मामें स्थित होती हैं। जो यह जानता है, वह सर्वज्ञ होकर सबमें प्रवेश करता है। ॐकारकी एक मात्राका उपासक मनुष्यलोकको, दोका उपासक पितृलोकको और सम्पूर्ण ॐकारका उपासक ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है और अन्तमें वह विदेह कैवल्यको प्राप्त होता है। प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, मन, इन्द्रियां अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम ये सोलह कलाएँ आत्मामें आरोपित हैं जो ऐसा जानता है उसको दुःख नहीं होता !

पाठक ! आजकी कथा समाप्त हुई। चलो सोलह कलावाले शंकरकी स्तुति तोटक छन्दमें गाते चलें !

शिवस्तुति

जय शंकर देव प्रजेश हरे।
शिव शाश्वत मुक्त प्रपञ्च परे।
गिरिजापति मस्तक गंग धरे।
करुणानिधि सेवत दुःख टरे ॥१॥

शशिभाल त्रिपुण्ड पुरारि प्रभो।
कल षोडश निष्कल एक विभो ॥
अहिभूषण दूषण हारत हो।
अघ शोषक भक्तन तारत हो ॥२॥

तव शक्ति विना नहिं काम चले।
नहिं कान सुने नहिं जीभ हिले ॥
नहिं पांव बढ़े नहिं हाथ छुवे।
नहिं चित्त फुरे नहिं आँख जुवे ॥३॥

सब जानत सर्व जनावत हो।
पर जाननमें नहिं आवत हो ॥
जिन मर्म लखा तिन शान्ति भई।
भ्रम भेद मिटा भव भीर गई ॥४॥

जिन शंभु भजे भवपार गये।
जिन शंभु तजे खर स्वार भये ॥
सब नाम तजो सब रूप तजो।
सब काम तजो इक शंभु भजो ॥५॥

ॐ शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

(शेष पृ० सं० 655 पर)

उपालम्भ

कौन हौं, कहांको, कैसो, कुटिल कुचाली क्रूर,
सो तो सब भांति तुम जानत न भोरे हो।
भक्ति, भाव हीन, दीन, पातकी, मलीन जो मैं,
अधम उधारनमें तुमहू न थोरे हो।
मोतन न हेरो, निज ओर हेरि देखो नाथ !
केते पातकीन की जमाति तुम जोरे हो।
मेरी बेर, एती देर, कीन्हीं क्यों कृपानिधान !
मेरे अनुमान तुम, दीन-बन्धु कोरे हो।

—रमाशङ्कर मिश्र, 'श्रीपति'

आस्तिक हैं या नास्तिक?

(लेखक-श्रीहरिस्वरूपजी जौहरी एम० ए०)

कल्याणके पाठकोंसे मेरा सादर प्रश्न है कि आप अपनेको किस कोटिमें समझते हैं—आस्तिक अथवा नास्तिक ? क्योंकि आजकल इन शब्दोंका बहुत भ्रमयुक्त उपयोग हो रहा है। आप सभी कहेंगे कि हम आस्तिक हैं। सम्भव है आप आस्तिक होंगे। आस्तिक होनेका सौभाग्य सभीको होना भी चाहिये, यद्यपि आज संसार घोर नास्तिकताके प्रवाहमें बह रहा है। हमारे पाश्चात्य सभ्यताके उपासक बन्धु तो नास्तिक होनेमें ही अपना सौभाग्य समझते हैं। इस धर्मप्रिय देशमें यदि नास्तिकताकी बाढ़ फैल गयी तो हमारा बड़ा अभाग्य होगा।

आइये, थोड़ी देरके लिये इन शब्दोंकी कुछ व्याख्या कर डालें! इन दोनों शब्दोंके प्रचलित अर्थ यही हैं कि "जो ईश्वरके अस्तित्वमें श्रद्धा, विश्वास रखता है वह आस्तिक है' और इसके विपरीत 'जो परमात्माका अस्तित्व ही नहीं मानता, वह नास्तिक है।' "अस्ति ईश्वरः इति मन्यमानाः आस्तकाः, नास्ति ईश्वरः इति मन्यमानाः नास्तिकाः।"

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि यहां माननेवालेसे क्या तात्पर्य है ? क्या जो केवल वाणीसे कह देता है कि 'मैं ईश्वरको मानता हूँ" वही ईश्वरके अस्तित्वको माननेवाला आस्तिक और जो ऐसा न कहे, वह नहीं माननेवाला नास्तिक समझा जाना चाहिये ? तब क्या मनसे मानने, न माननेवालोंको आस्तिक नास्तिक समझा जाय ? मेरी समझसे यह भी पर्याप्त नहीं है। जो अपने आचरणद्वारा प्रभुमें श्रद्धा विश्वास दिखलावे वही आस्तिक और जो आचरणसे ऐसा न करे वह नास्तिक है, ऐसा समझना उचित प्रतीत होता है। जिसके आचरणोंमें प्रभुका विश्वास है वही मन वाणीसे भी सच्चा आस्तिक है। परन्तु जो अपनेको मन वाणीसे आस्तिक कहकर भी आचरणोंद्वारा प्रभुमें अश्रद्धा और अविश्वास करता है वह तो पाखण्डी है, वह न आस्तिक है और न नास्तिक !

हृदयमें विचारिये, आप जिस भगवान्‌के अस्तित्वको मानते हैं वह भगवान् कैसा है? ईश्वर अवश्य ही सर्वव्यापी, अन्तर्यामी करुणामय विश्वम्भर और जगत्पिता होना चाहिये। ऐसा ही आप मानते भी तो होंगे। यदि आप उसे सर्वव्यापी मानते हैं तो समय समयपर उसकी व्यापकताको भूलकर अनर्थ क्यों कर बैठते हैं ? आप अन्तर्यामी मानते हैं तो छिपकर कभी कभी पाप क्यों कर बैठते हैं? असत्य क्यों बोलते हैं, मनमें हिंसा द्वेषको क्यों स्थान देते हैं? करुणामय मानते हैं तो अपने सम्बन्धियोंकी चिन्तामें उसकी करुणाका विस्मरण क्यों कर देते हैं? उसके प्रत्येक विधानमें उसकी अपार करुणापर अटल विश्वास क्यों नहीं रखते ? विश्वम्भर समझते हैं तो सुबहसे शामतक केवल उदरचिन्तामें क्यों ग्रस्त रहते हैं ? क्या आपको विश्वास नहीं कि, 'योऽसौ विश्वम्भरो देवः स भक्तान्किमुपेक्षते'। जो विश्वका भरण पोषण करता है वह भक्तोंके लिये क्या कुछ उठा रक्खेगा ? उसे जगत्पिता मानते हैं तो फिर उसकी समस्त सृष्टिके साथ जहां आपका शुद्ध भ्रातृभाव होना चाहिये, वहां कभी कभी द्वेषाग्नि क्यों भड़का देते हैं ?

सच कहियेगा, आप ईश्वरको मानते हैं या नहीं। क्षमा कीजियेगा, प्रतीत तो यही होता है

कि हम आप कथनमात्रके लिये ही ईश्वरको मानते हैं, वास्तवमें नहीं ! जो केवल कथनमात्रके आस्तिक हैं वे वास्तवमें या तो नास्तिक हैं, नहीं तो पाखण्डी हैं, क्योंकि वे अपने अन्दर आस्तिकताकी यथार्थ गन्ध भी नहीं रखते। परमात्माको वास्तवमें माननेवाला क्या कभी किसी भी अवस्थामें कोई प्रमाद कर सकता है ? लौकिक व्यवहारमें भी जब हमारा निरीक्षक या नियामक हमारे सामने होता है तब हम जानकर कभी कोई प्रमाद नहीं करते। चोर चोरी क्यों करते हैं ? इसीलिये कि वे समझते हैं, कोई देखनेवाला नहीं है, पापी पाप इसीलिये करते हैं, कि वे समझते हैं, कोई देखनेवाला नहीं है। प्रभु तो सर्वव्यापी होकर प्रत्येक प्राणीके हृदयमें बैठा है। किसी काल, किसी अवस्थामें भी हमारा गुप्तसे गुप्त कार्य उससे छिपा नहीं रह सकता। फिर हमलोग जो ईश्वरके अस्तित्वको मानते हैं, क्यों प्रतिदिन सैकड़ों अनर्थ करते हैं ? मैं तो यही कहूंगा कि हम सब वास्तवमें नास्तिकताके प्रवाहमें बह रहे हैं !

आस्तिक प्राणी तो परम भक्त ही हो सकता है, जो परमात्माको सब जगह मानता ही नहीं, पर देखता है, उसे कोई भी स्थान अपने प्रभुसे कभी रहित नहीं दीखता। अतएव कल्याणके पाठको ! यदि आपको आस्तिक बनना है तो भक्त बनिये-आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी या ज्ञानी किसी भी श्रेणीके भक्त बनिये-और फिर कहिये, हम आस्तिक हैं। आपको यह बतलानेकी तो आवश्यकता ही नहीं है कि आस्तिक मनुष्यका जीवन ही मनुष्य-जीवन है, नहीं तो पशु-जीवन है क्योंकि आहार विहार हम और पशु सभी करते हैं। मनुष्ययोनिकी सफलता प्रभुको जाननेमें ही है। ऐसी उत्तम योनि पाकर भी यदि हमने स्वामीको न जाना न माना उसकी सेवा या उससे प्रेम न किया तो फिर हमने क्या किया ?

अतएव सच्चे आस्तिक भक्त बनकर स्वामीके स्वामित्वका डंका बजाइये और अपने सेवकत्वका झंडा संसारमें फहराइये तभी हमारा कल्याण होगा।

सच्चे सन्त

जपते हैं प्रभुनाम मस्त हो ध्यान जमाते ।
काम क्रोध मद त्याग विषयके पास न जाते ॥
करते इन्द्रियदमन 'प्रेम' निर्जनमें रहकर ।
वर्षा बाधा शीत ताप सारे ही सहकर ॥
होकर यहां विरक्त यों गूढ़ ज्ञानमें रंगकर ।
आत्मरूप लखते वही कहलाते हैं सन्तवर ॥

कलियुगी सन्त

बेस महान महान केस नख भले बढ़ावत ।
करत सदा बकध्यान समयपर दाँव चलावत ॥
पहिरि गेरुआवस्त्र देसमें फिरत फिरावत ।
नीच महा बदज़ात विप्रसे पाँव पुजावत ॥
बाँटत सुत घर घर फिरत करत कमाई भरत घर ।
देखहु कलियुग-नीति यह कहलाते हैं सन्तवर ॥

—प्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम'

भक्त-भारती

(पृष्ठ सं० 509 से आगे)

(लेखक-पं० श्रीतुलसीरामजी शर्मा 'दिनेश')

बलि-दान

दोहा

राजन् ! हरि सब कुछ सहें, सह न सकें अभिमान ।
गर्व-दलन-हित हो गये, खर्व-गात भगवान ॥

भक्तराज प्रह्लाद पौत्र 'बलि' नामक भूप हुआ भारी ,
जिसने अपने भुज-बलसे ली जीत सहज वसुधा सारी ।
स्वर्ग और पाताल सब जगह बलिका ही साम्राज्य हुआ ,
सुरगण चिन्तित हुए भीतिसे स्वर्ग इन्द्रको त्याज्य हुआ ॥

ज्यों चिड़ियोंपर बाज झपटता तरु सूना हो जाता है ,
त्योंही आज बलीके भयसे स्वर्ग, शून्य दिखलाता है ।
वे सब मोद, विनोद, राग-रंग, किन्नरियां, सुरियां प्यारी ,
पता नहीं किन दरियोंमें जा छिपीं, भीत होकर भारी ॥

जिस सुरेशने प्रबल वज्रसे वृत्रासुरको जीत लिया ,
आज उसी वृत्रासुर-विजयीके घरमें जलता न दिया ।
निज पुत्रोंकी देख दशा यों, अदिति सती अति दुखित हुई ,
हरिके शरण हुई वह साध्वी मनो-कामना फलित हुई ॥

बलिके दर्प-दलनकी बेला-बाट उचित हरि देख रहे ,
इधर अदितिने सुरगणके हित तपके कष्ट महान सहे ।
उधर स्वर्गका दृश्य भयानक, हरिको पलपल खींच रहा ,
अमिति कारणों करके हरिको रूप बदलना पड़ा अहा !

दोहा

अदिति-प्राचिकी कूखसे, प्रकटे वामन भान ।
तेजवान, छविवान अति, मूर्तिमान कल्यान ॥
कश्यप मुनिके सदनमें, ऋद्धि सिद्धियां आज ।
चेरी होकर फिर रहीं साजे सब शुभ साज ॥

द्रुमवर लता पता सब फूले, मनो पताका फहरायीं ,
पद लेनेको हरिके मानो नदियां उमड़ चली आयीं ।
प्रकृति महारानीने अपना सब शुभ साज सजाया है ,
निरखनको निज वदन मनोहर जलका मुकुर बनाया है ॥

कादम्बिनि-अलकावलि, विद्युत्-स्मितवर दृश्य मनोहारी ,
शीतल, मन्द, सुगन्ध पवनकी पहने तनपर शुभसारी ।
पतिके स्वागत हेतु प्रकृतिने पुष्प-पांवड़े डाल दिये ,
खग, मृग आदिक सकल प्रजाजन फिरते हैं अति मुदित हिये ॥

पिक, चातक, खग, स्वागत गायन करते हैं मधुरे स्वरमें ,
जड़ चेतन सब भक्ति जनाते हैं निज वामन ईश्वरमें ।
देश, कालकी काया पलटी माया-पतिके आनेसे ,
ऋषियोंके मुख तेज आगया, वामन दर्शन पानेसे ॥

रविको लखकर जैसे सकुचे हुए कमल खिल जाते हैं ,
वैसे चित्त खिले सुजनोंके उर आनन्द मनाते हैं ।
कश्यप-सदन-सरोवर जिसमें वामन-सरसिज विकसित हैं ,
भक्त-भ्रमर गुण गाते आते, दर्शन-रसके लोभित हैं ॥

दोहा

वायु-वेग मिश्रित हुई, फैली सुरभि दिगन्त ।
हुआ सौरभित विश्व-वन, जन-मन मोद अनन्त ॥
श्रेष्ठ नर्मदा-तीर पर, बलि नृप करते यज्ञ ।
हुए जहां एकत्र सब, ऋषि-मुनि मख-कर्मज्ञ ॥
श्रीवामन भगवानने, जब यह सुना वृतान्त ।
चलनेको उद्यत हुए, तुरत वहीं वटु शान्त ॥

गये वहांपर जहां विप्रगण यज्ञ कर्म करवाते थे ,
बलि राजासे स्वर्ग-स्थितिकी नीव अटल धरवाते थे ।
खड़े वहां जा हुए अचानक, मानो उगे भानु भगवान ,
दान-पुण्य फल आया, किंवा बलिका मूर्तिमान कल्यान ॥

सकल पुरोहित तथा अन्यजन चकित हुएसे देख रहे ,
प्रभाहीन हो, अपने मनमें हरिको बहु विध लेख रहे ।
अग्नि देव ही हैं क्या साक्षात् या विधिके सुत सनत्कुमार ,
अलख अगोचर ब्रह्म न हो यह, ब्रह्मचर्य फिरता तनधार ॥

तप निधान हो ज्ञान कहीं यह, कर्म नहीं हो भक्ति समेत !
आया हो सद्म में कहीं यह मखमें सात्विक भाव-उपेत ,
अति लघु गात-गठन अति सुन्दर गौर वर्ण, भौंहें काली ,
निर्मल नेत्र नुकीले सुन्दर, अवलोकन अति मतवाली ॥

बंधा हुआ है सिरपर सुन्दर मोहक मेचक केश कलाप ,
दशन-प्रभामें दमक रहे हैं अरुण ओष्ठ, मुख तेज प्रताप ।
कृष्णाजिनयुत पीताम्बर है कन्धेपर उपवीताकार ,
करमें दण्ड, कमण्डल सोहैं, आखण्डल-वैभव-आगार ॥

दोहा

लघु लघु चरणोंमें सजी, चरण-पादुका स्वच्छ ।
मानो आये हैं कमल, चढ़कर वाहन मच्छ ॥
उठ सबने आदर किया, आसन दिया समान ।
सफल यज्ञ अब हो गया, पद धो बलि यजमान ॥

यज्ञ समयमें ऐसे द्विजका आना लख बलि मुदित हुआ ,
कहता है नृप गद्‌गद हो यह, भाग्य आज मम उदित हुआ ।
वटुके मुखकी ओर ताकता बलि, चकोर प्रिय चन्द्र यथा ,
पुनि पुनि अपने भाग्य सराहे, दग दर्शावें प्रेम-प्रथा ॥

टौनासा हो गया, हो गया चुम्बक, लोहेका सा ढंग ,
धर्म-दीप यह आया है अब नाशेगा बलि-गर्व-पतंग ।
अन्धकार सब दूर करेगा दानीके मानस-घरका ,
दिखलायेगा सत्पथ, सात्विक भला करेगा असुरवरका ॥

बलि बोला हे ब्रह्मन् ! आये आप भले, कृतकृत्य किया ,
ऐसे परम पवित्र पर्वमें, मुदित किया निज भृत्य हिया ।
बड़ी दूरसे आये होंगे, हार गये होंगे ब्रह्मन् !
लाओ चरण दबा दूं, खाओ तो मंगवा दूं नव मक्खन ?

यह पावन पद निज पलकोंसे पोंछूं परम प्रेमके साथ ,
वटुवर ! आज परसकर होने दो यह पावन मेरे हाथ ।
ब्रह्मन् ! यों क्यों मौन हो रहे, कुछ तो सेवा प्रकटाओ ?
जो कुछ मांगो वह हाजिर है, क्या लाऊं अब बतलाओ !

दोहा

यह तो होता है मुझे, भलीभांति अनुमान ।
आये हो कुछ मांगने, हे ब्रह्मन् ! छबिवान ॥
भूमि कनकरथ पालकी, हय, गज, भवन विशाल ।
रूपवती कन्या कहो, सब प्रस्तुत इस काल ॥

'क्यों न कहो तुम राजन् ! ऐसे धर्मयुक्त प्रिय वचन सही ,
कुल भी कौन तुम्हारा, जिसमें विष्णु भक्तिकी नदी बही ।
एक बार 'हां' कहकर यह कुल 'ना' कहना तो सीखा ही न ,
इस कुलमें अति भक्त हुए हैं, ज्ञानी, दानी, परमप्रवीन ॥

एक आनपर धर्म जानकर, जीव-जानपर खेल गये ,
सुखके खेल बिगड़ने देकर सेल दुःखोंके झेल गये ।
महाबली कनकाक्ष जगतमें जिसे न कोई वीर मिला ,
बिना विष्णु भगवान, युद्धका रस उनको भी दिया पिला ॥

तथा हेमकश्यप भी वैसा धीर, वीर गम्भीर बली ,
प्रणका पूरा, हटा न हठसे जो भी गहली सो गहली ।
कहना क्या प्रह्लाद भक्तका जिसकी कीर्ति-पताक बड़ी ,
फहरायेगी सदा सदाको विष्णु-भक्तिके भाव जड़ी ॥

तथा विरोचन पिता तुम्हारा ब्राह्मण-भक्त हुआ भारी ,
जिसने अपनी आयु सहज ही देवोंको दे दी सारी ।
तुम हो उसके पुत्र, भला फिर क्यों न सत्यका सिन्धु तरो ,
कण-याचकको मठा देते हो, रीतोंको तत्काल भरो ॥

दोहा

हे राजन् ! तुमपर मुझे, है पूरा विश्वास ।
सुनकर तुम तत्काल ही, पूरोगे मम आश ॥
तीन पांव दीजै धरा, मेरे पदकी नाप ।
तीन लोकके दानका, होगा पुण्य प्रताप ॥

बलि सुनकर हंस पड़ा, कहा हे ब्रह्मन्! तुमने क्या मांगा ?
इतनी वसुधाके हित मुझको इतना ऊंचा क्यों टांगा ?
उथली मेरी सकल पीढ़ियां कर करके स्तुति बारम्बार,
सच जानो हे द्विजवर! तुमको नहीं स्वार्थका तनिक विचार ॥

बात तुम्हारी वृद्धोंकी सी, मन तो है तनके अनुकूल,
कल्पवृक्षको तुमने समझा, कड़ा कँटीला निरा बबूल ।
कल्पवृक्षसे चने याचनेकी यह उक्ति गही तुमने,
त्रैलोकपसे तीन चरण जो मांगी आज मही तुमने ॥

आकर मेरे पास न कोई याचक, याचक रह जाता,
और मांगलो अब भी ब्रह्मन्! ऐसा फिर न मिले दाता ।
बलिकी वाणी सुनकर बोले वामन वचन अमोल बड़े,
विशद अर्थ मित अक्षर अतिशय मधुर भाव सन्तोष जड़े ॥

राजन् ! सच है वचन तुम्हारा तुम दानी हो ऐसे ही,
याचक जैसा याचन आए तुम भरते हो वैसे ही ।
तुमसा दानी हुआ न होगा, है न विश्वमें अभी कहीं,
है ऊंचा बलि दान तुम्हारा, जगत कहेगा सदा यही ॥

दोहा

इच्छा थी जितनी मुझे, सो ली मैंने मांग ।
इतनी ही पर्याप्त है, हूं मैं तो खर्बांग ॥

है जिसको सन्तोष उसे तो तीन चरण ही भूमि घनी,
असन्तुष्टको तीन लोककी वसुधा जैसे सुई अनी ।
ज्यों ज्यों ईन्धन पड़े आगमें त्यों त्यों दूनी बढ़ती है,
ऐसे ही यह तृष्णा-सरिता चढ़ती चढ़ती चढ़ती है ॥

जो कुछ मिले सहजमें उसमें ही सन्तुष्ट रहे ब्राह्मण,
धर्म-प्रचारण हेतु सर्वदा नाना कष्ट सहे ब्राह्मण ।
बहुत भूमिकी मुझे न इच्छा तीन चरण ही मिलजाये,
इच्छा-बसन फटा यह मेरा सैंदांकोंमें सिल जाये ॥

'अच्छा, इच्छा रही आपकी, हे द्विज! अब यह बतलाओ',
भूमि कहां सी नापोगे वह, अब विलम्ब अति मत लाओ ?
करनेको सङ्कल्प दानका, करमें जलका कलश लिया,
असुरहितैषी, नीति-निपुण मतिमान शुक्रने मने किया ॥

राजन् ! तुम यह क्या करते हो, बुद्धि तुम्हारी कहां गयी ?
नहीं जानते वामन बनकर, छाई विपदा-घटा नयी !
परम पुरुष यह विष्णु, असुरगण-घालक, सुरगण-पालक हैं,
सुरगणका हित करनेको यह आये बनकर बालक हैं ॥

दोहा

कुसुम-माल तुम समझकर, डाल रहे गल व्याल ।
लाल लाल अङ्गारको, समझ रहे हौ लाल ॥

मापेंगे बलि ! गर्व तुम्हारा, भूमि नहीं यह मापेंगे,
कांपेंगे सब असुर देखना, आशिष बदले शापेंगे ।
मृत्युलोक वा स्वर्गलोकको दो चरणोंमें नापेंगे,
धापेंगे ये नहीं दानसे, झूठा तुमको थापेंगे ॥

दान-कीर्तिकी विमल-पताका तोड़ेंगे ये तेरी आज,
झंझा प्रबल समझ तू इनको, अब भी नटकर रखले लाज ।
बलि बोला—'हे गुरो! कहा जिस मुँहसे 'हां' 'ना' नहीं कहूं,
डटा रहूंगा सत्य-धर्मपर, विपदाएं सब शीश सहूं ॥

सब पापोंसे महापाप है मिथ्या वचनोंकी रचना,
कहकर नटना, थूक चाटना, अन्त नरकमें हो पचना ।
वसुधा कहती है मैं सबको धारण कारण सहज समर्थ,
मिथ्यावादीको तो मैं भी धारण करनेमें असमर्थ ॥

परम भक्त प्रह्लाद-पौत्र मैं दानी बीर कहा करके ?
पीठ दिखा दूं दान-समरमें, नट जाऊं क्या 'हां' भरके ?
धन जाये तो जाये, पर यह मेरा प्रण न चला जाये,
दान-परीक्षा-चक्कीमें मम सर्वस भले दला जाये ॥

दोहा

'गुरुजी ! धन-मलके लिये, क्यों बुलवाओ झूठ ?
मत छुड़वाओ सत्य-असि, गही हाथमें मूठ ॥'
'राजन् ! तुमको होगया, दान-गर्व त्रैदोष ।
व्यर्थ आज उपचार सब, होना मुश्किल होश ॥'

सच्चा रहकर जगत निभाये यह सीधा सा काम नहीं,
सत्यवादियोंको इस जगमें मिलता है आराम नहीं।
तथा निरन्तर झूठ बोलनेवालेको भी स्थान नहीं,
उठ जाये विश्वास जगतका, फिर क्यों बिगड़े तान नहीं?

इतनी बोले झूठ कि जिससे सचमें उज्ज्वलता आये,
सचमें झूठ मिलाये इतनी आटे नौन समा जाये।
सचमें जबतक झूठ न होगी, नहीं प्रखरता पायेगी,
चांदीमें कांसी न मिलेगी, ध्वनि कदापि नहिं आयेगी॥

सत्य ब्रह्म, माया असत्यने मिलकर जग उपजाया है,
जिधर देखिये सङ्करतामें ही तीखापन पाया है।
जिसके है कुछ पास जीविका वही कर सके मख,तप,दान,
नशे जीविका जिससे, ऐसा दान न करते हैं मतिमान॥

है सुजानको उचित यही निज सम्पति पांच जगह लावे,
धर्म,अर्थ, यश,काम, स्वजनहित उसके निकट न दुख आवे।
भूल भरोगे जो तुम मेरा कहा नहीं अब मानोगे,
पछताओगे कर मल मलकर पीछे सब कुछ जानोगे!

दोहा

बिना जीविका जीव-खग, पाता कष्ट महान।
तन-तरुमें जलके सदृश, वृत्ति कहें धीमान॥
तनसे होते सर्वदा, नाना सात्विक कर्म।
राजन्! करना चाहिये, काया रख कर धर्म॥

नारी जन परिहास समयमें वा विवाहगुण कीर्तनमें,
रखनेको निज वृत्ति स्वतन हित, प्राण किसीके रक्षणमें।
भूसुर और सुरभिके अथवा निज प्राणोंके रक्षणमें,
झूठ बोलना पाप नहीं है, आता दोष नहीं प्रणमें॥

सुनकर गुरुके वचन नीतिमय,बलि निज प्रणसे नहिं डोला,
प्रबल पवनके झोंकोंसे कब पर्वत खाते हैं झोला?
बोला—'गुरुजी! वचन आपके नीतियुक्त उपयुक्त सभी,
क्षमा कीजिये दास-धृष्टता, 'ना' कर सकता मैं न कभी॥

झूठ बराबर पाप नहीं है, सत्य बराबर धर्म नहीं,
यज्ञोंमें बड़ सत्य-यज्ञ है, सब शास्त्रोंका मर्म यही।
द्रव्य यज्ञमें सत्य यज्ञ यह होता है किस भांति तजूं?
स्वर्ग और अपवर्ग प्रदायक, तजदूं तो मतिमन्द बजूं॥

गुरुको आया क्रोध कि देखो खलको कितना समझाया,
'श्रीहत होजा' शाप दे दिया, बलिने सादर शिर नाया।
प्रणसे बँधे हुए दानीने शाप सहज ही अपनाया,
जन्मा प्रणका पूर्ण पुजवर, धन्य विरोचनकी जाया॥

दोहा

स्वर्ण-कलश ले हाथमें, किया दान-सङ्कल्प।
वामनहित बलि भूपने, तज सङ्कल्प विकल्प॥
वामन पद प्रक्षालकर, धरा शीश सो नीर।
'धन्य धन्य' की ध्वनि गगन, बाजे बजे गभीर॥

बलिने कहा कि नापो भगवन्! तीन चरण भू जिधर जचे,
हड़ हड़ हँसने लगा गगन भी, बलिका वैभव अब न बचे।
वामन विस्मित करते सबको बढ़ने लगे पर्वताकार,
किया जगत आच्छादित पलमें, भूमि स्वर्ग सब एकाकार॥

खगमृग सागरसरित शैलबन ऋषि मुनि मानव विवर सकल,
सात स्वर्गमय लगा दीखने, तनु विराट करता झलझल।
वे लघु लघु कर चरण होगये, अति विशाल संसृत व्यापी,
एक चरणमें श्रीवामनने बलिकी भूमि सकल नापी॥

मौन हुआ बलि खड़ा लख रहा, यह हरिकी अद्भुत लीला,
मानो विषधर खड़ा टूलता सबल गारुड़ीसे कीला।
दूजा चरण बढ़ाया हरिने नापे सातों स्वर्ग अहा!
सत्यलोकमें पद जा पहुंचा, बलि अधिकार जहां न रहा॥

राजन्! दो ही चरण-नापमें बलिका वैभव छीन लिया,
खर्वरूप मिस हरिने बलिका गर्व सर्व यों खर्व किया।
विधिने विविध सुविधसे वामन-वन्दन पूजन किया महा,
विधिके विशद कमण्डलका जल नभ गङ्गा बन गया अहा॥

दोहा

हरि चरणोंकी कह सके, महिमा कौन सुजान।
भाग्यवान बलि! तू धना, घर आये भगवान॥

(क्रमशः)

(शेष पृष्ठ सं० ६१३ पर)

झूलन-पूर्णिमा

(लेखक-श्रीभूपेन्द्रनाथ संन्याल)

(पृष्ठ ४३६ से आगे)

अभ्यास न होनेके कारण बिना अवलम्बनके चित्त पहले पहल स्थिर नहीं होता। आरम्भमें किसी न किसी अवलम्बनपर ही अभ्यास करना पड़ता है। इसीलिये कोई अपने मनोनुकूल मूर्तिपर, कोई ज्योतिपर, कोई किसी भावका अवलम्बन करके ही ध्यानका अभ्यास आरम्भ करते हैं। निरावलम्बनसे भी ध्यान होता है परन्तु उसके लिये दीर्घकालीन अभ्यास और मन वाणी शरीरके विशेष निर्मल होनेकी आवश्यकता है। कुछ पाने, समझने या चखनेके तीव्र आवेगसे ही यह ध्यानरूपी क्रिया अच्छी तरह बनती है। इसीलिये जो मूर्ति अत्यन्त सुन्दर होती है अथवा जिसको हम बहुत प्यार करते हैं, उसका ध्यान करनेसे भी चित्त एकाग्र होकर स्थिर हो जाता है और उस स्थिर चित्तमें आनन्दका प्रवाह बहने लगता है। वह मूर्ति यदि सच्चिदानन्द भगवान्‌की या श्रीगुरुदेवकी हो तो और भी सुविधा होती है।

भक्तगण भगवान्‌की किसी विशेष मूर्तिका ध्यान करते करते जब उसमें तन्मय हो जाते हैं तब उनके चित्तकी जो अवस्था होती है उसपर विचार करनेसे यह बात और भी स्पष्टरूपसे समझमें आसकती है। जब साधक एकान्त मनसे भगवान्‌की मूर्तिका ध्यान करता है तब पहले तो "यह भगवान्‌की मूर्ति है" और "यह मैं" उसका ध्यान करता हूं"-इसतरह 'मैं' का बोध रहता है। इसके बाद चिन्तन जितना ही गम्भीर और अन्तर्मुखी होता है, मनकी बाहर भटकनेवाली शक्ति भी उतनी ही घट जाती है। तदनन्तर मालूम होता है कि मानों मन एकाग्रभावसे केवल उस मूर्ति मात्रको ही देख रहा है। इसके बाद होते होते 'वह देख रहा है,' इस बातको भी भूला जाता है, फिर मन नहीं रहता। उस समय कोई ध्याता नहीं रह जाता, केवल ध्येय-मात्र रह जाता है। सिद्ध भक्त कबीरने गाया है- "हेरत हेरत हे सखी! हेरत गया हेराय।" ढूंढ़ते ढूंढ़ते ढूंढ़नेवाला ही खो गया। इसतरह ध्यानमें अपनेको खो देने-सब कुछ भूल जानेका भाव ही आनन्दकी पराकाष्ठा है। इसीका नाम अनन्य-शरण है। यही प्रियतमके साथ प्रेमिकका मिलनगृह है। ऐसी अवस्थामें भक्त उस अरूप चिन्मय-सागरमें डूब जाते हैं। उनके हृदयके सुर उस अनादि परमानन्द-सुरमें एक होकर मिल जाते हैं। इसी समय भक्त भगवद्रूप हो जाते हैं। उनका अपना अलग कुछ भी नहीं रह जाता। यह एकतानता जब भक्त और भगवान्‌को एक कर देती है तभी उस अखण्ड आनन्दका स्रोत बहने लगता है जिस आनन्दके केवल एक कणमात्र अंशको ही समस्त जीव विषयोंमें उपभोग करते हैं।

विषय-सुखभोगके समय भी चित्त एकाग्र और एकमुखी होता है। नहीं तो उसमें सुखकी प्रतीति ही नहीं हो सकती। जिस समय विषय-

सुख मिलता है उस समय असलमें होता यह है, कि एक सुखमय वस्तुके स्मरणसे अन्य सब प्रकारके चिन्तन चित्तसे हट जाते हैं, ऐसे चिन्तन-विक्षेपशून्य थोड़ेसे क्षणोंमें विद्युत्के क्षणिक आलोककी भांति चित्तमें सुखस्वरूपका जो प्रतिबिम्ब चमकता है, बस, उसीसे आनन्दका बोध होता है। परन्तु चित्त विचारशील न होनेके कारण वह यह नहीं समझ पाता कि यह सुख वास्तवमें कहांसे आता है। इसीसे जीव भ्रान्त धारणाके वशमें हो सुखको छोड़कर विषयोंकी सेवा करने लगता है और फलस्वरूप अनन्त दुःखसागरमें निमग्न हो जाता है। विष्णुपुराणके वचन हैं—

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्त्योऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥

जीव जितना ही विषय सुखोंमें मन लगाता है उतना ही उसका हृदय दुःख वाणोंसे बिंधा जाता है। गीतामें कहा है—

'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।'

विषय नाशवान् और परिवर्तनशील हैं। अतः विषयोंके सेवनसे कोई भी अनन्त सुखका अधिकारी नहीं हो सकता। इसलिये विषयोंको छोड़कर–जिसकी छायामात्र पड़ जानेसे ही दुःखरूप विषय सुखरूप प्रतीत होने लगते हैं–उस परमानन्दस्वरूपकी खोज करना ही सुखप्राप्तिका यथार्थ उपाय है। इस अल्प क्षणिक सांसारिक सुखको त्यागकर जो सज्जन जितने अंशमें उस नित्य भूमानन्द सुखके अनुसन्धानमें प्रवृत्त होते हैं। हम लोगोंमें वे उतने ही अधिक चतुर हैं– 'जो भजते श्रीकृष्णको, वे ही चतुर सुजान।'

अब यह बात समझमें आगयी होगी कि धीर और विचारवान् पुरुषको इस दुःख व्याधि-जरा-मृत्युपूर्ण सांसारिक सुखका लोभ कदापि नहीं होना चाहिये। यदि दुर्भाग्यवश कदाचित् विषयसुखका लोभ हमारे मनमें होता हो तो हमें ऐसे अभ्यासको किसी तरह भी तुरन्त छोड़ देना चाहिये, अन्यथा दुःखसागरसे तरनेका कोई उपाय ही नहीं है।

मनुष्य या जीवमात्र जब सुखकी आशासे ही विषयोंका सेवन करते हैं तब असली 'महासुख' क्या और कहां है, इस बातका पता लगाना मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य है। हम जानते हैं कि अन्यान्य जीवोंकी भांति मनुष्य भी प्रतिक्षण सुखकी चेष्टामें ही दौड़ रहा है। श्रुति भी कहती है—

'यदा वै करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति, नाऽसुखं लब्ध्वा करोति, सुखमेव लब्ध्वा करोति।'

'सुख प्राप्तिकी इच्छासे ही जीव नानाप्रकारके कर्म करता है। दुःख प्राप्तिके लिये नहीं' परन्तु हमारे कुसंस्कार और हमारा अज्ञान इतना बढ़ा हुआ है कि जिस सुखके हम इतने लोभी हैं, वह क्या और कहां है? इस बातको न जानकर ही हम असली सुखको पैरों तले कुचलते हुए, जो सुख नहीं है जो केवल निरानन्द है उसीको सिर चढ़ा रहे हैं! जिस बाघसे बड़ा भय है, उसीको बुलाकर हम घरमें घुसेड़ रहे हैं!

अनेक दृश्यों और वासनाओंसे असली सुख ढक जाता है, इस दृश्यको दिव्यदृष्टिसे देखकर ही ऋषियोंने उस परम सुखकी खोजके लिये सम्पूर्ण चिन्ता और वासनाओंको संयतकर, विषयके मोहपाशको जोरसे तोड़कर, अपनी समस्त इन्द्रियशक्ति और बुद्धिशक्तिको उस एक-की ओर लगा दिया था। तन्मयता और गंभीर एकाग्रताके अवलम्बनसे उन्होंने उस परम सत्यको, उस परमामृत आनन्द-रस-सिन्धुको दिव्य नेत्रोंसे देखकर जगत्को यह बतला दिया था कि वह 'सुख' विषयोंमें नहीं है, वह तो तुम्हारे अन्तरात्मामें ही स्थित है। वह आत्मा ही परमानन्दस्वरूप और समस्त आनन्दका धाम है और उस आत्मामें ही जीवकी शाश्वती शान्ति

निहित है। बाहर खोजनेपर उसका पता नहीं लग सकता!

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥

(कठोपनिषद्)

उस असीम एक अद्वितीयको मनके द्वारा ही देखना होगा। परन्तु उसमें बहुत्व या नानात्व नहीं है इसलिये यदि मन उसे देखना चाहता है तो पहले उसको भी बहुस्पृहा और बहु-वासनाओंसे रहित करना पड़ेगा। तब उसे उस परम एक-"एक अखण्ड राजराजेन्द्रराज"का पता लग सकेगा। नहीं तो जो केवल नानात्व या बहुत्व ही देखते हैं, वे एक मृत्युसे दूसरी मृत्युमें ही जाते हैं!

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

(कठोपनिषद्)

जो दुर्दर्श है यानी जिसको सहजमें देखा नहीं जाता, जो गूढ़ है अर्थात् जो हृदयगुफामें छिपा हुआ है; बुद्धिके अन्दर स्थित उस पुराण पुरुषको अध्यात्म-योग (भक्ति ज्ञान योग)के द्वारा जानकर ज्ञानी पुरुष सुख दुःख हर्ष-शोकसे छूट जाते हैं।

वह हृदय-गुहामें अवस्थित पुराणपुरुष ही अक्षरब्रह्म है

"तदेतदक्षरं ब्रह्म सप्राणस्तदु वाङ्मनः ।
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि "

(मुण्डक उपनिषद्)

उस आत्माको—उस परम सत्यको इस स्थूल दृष्टिसे कोई भी नहीं देख सकता—

'न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्'

(कठोपनिषद्)

तब उसे देखनेका उपाय क्या है?—

'लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम् ।
यदा यात्यमनीभावं तदा तत् परमं पदम् ॥'

मनको लय विक्षेपसे रहितकर यानी गाढ़ तमसाच्छन्न निद्रा और आलस्यको त्यागकर तथा विविध विषयोंकी आकांक्षासे चित्तमें जो तरंगें उठती हैं, उस तरङ्गरूप चित्त विक्षेपसे रहितकर मनको स्थिर और निश्चल करना पड़ेगा, चिन्ता-तरङ्ग-शून्य होनेसे ही मन भलीभाँति शान्त और निर्मल होता है प्रशान्त और निर्मल भावका नाम ही 'अमनीभाव' है। इस अमनीभावसे ही ब्रह्मके परमपदकी उपलब्धि होती है।

'मनसश्च विलीने तु यत्सुखं चात्मसाक्षिकम् ।
तद्ब्रह्म चामृतं शुक्रं सा गतिर्लोक एव सः ॥

मनके विलीन हो जानेपर सुखस्वरूप आत्मा या द्रष्टाका प्रकाश होता है। वही ब्रह्म और अमृतस्वरूप है वही शुभ्र और निर्मल यानी परम पवित्ररूप तथा वही सबकी गति और सबका चरम लक्ष्य–आश्रय स्थान है।

जगत्में हम जो भोग्यपदार्थोंके लिये इतना लोभ करते हैं, सो केवल रसास्वादनके लिये ही करते हैं। यह आनन्द न होता तो हम बच ही नहीं सकते। हम यह भी जानते हैं कि शरीरमें आत्मा है तभीतक हम जीवित रहते हैं। आत्माके न रहनेपर नहीं रह सकते। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीरके असली प्राण आत्मा ही है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि आनन्द ही हमारा जीवन है, इसलिये यह समझना चाहिये कि आनन्द ही आत्मा है। शरीरके लिये शरीरको कोई नहीं चाहता इसमें आत्मा है इसीलिये सबकी शरीरपर इतनी आसक्ति है।

इस आत्माके साधारणतः दो भाव हमारे दृष्टिगोचर होते हैं। एक सत्ताभाव यानी अस्तित्व-

होनेपनका भाव और दूसरा आनन्द या प्रकाश। यह आनन्द ही समस्त पदार्थोंमें मोहिनीशक्ति है। अतएव इस आनन्दको हम 'मोहन' भी कह सकते हैं। इसीलिये सच्चिदानन्दविग्रह श्रीकृष्ण हम सबके 'मोहन' हैं। परन्तु उनको केवल मोहनरूपसे ही नहीं जानना चाहिये। वे 'मदन मोहन' हैं यह भी जान लेना चाहिये।

इसप्रकार जानने समझनेका काम पूरा होते ही जीवनका लक्ष्य या उसकी गति ठीक हो जाती है। फिर इस संसारके लिये ही संसारका बखेड़ा नहीं करना पड़ता, फिर तो इस संसारमें आनन्दका खेल हुआ करता है। उस समय हम देखते हैं कि कोई किसी भी भावसे या कोईसा भी स्वांग सजकर क्यों न रहे, सबका एकमात्र कर्तव्य उस रसराजको लेकर केवल रसका खेल करते रहना ही होता है। उस समय कर्तव्यकार्य या धर्म समझकर कोई कार्य नहीं होता; फिर तो सभी उस आनन्दके खेलमें विभोर रहते हैं। परन्तु, यह सारा होता है, उस एकके लिये उसको ही केन्द्र बनाकर। इसीलिये देहेन्द्रिययुक्त गोपियां इस संसार-अरण्यमें एकमात्र परमात्मा श्रीकृष्णको लेकर ही अपनी संसारयात्रा चलाती थीं। इसीसे उन्होंने सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु आदि द्वन्द्वभावोंके हिंडोलेमें केवल एक श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य और किसीको भी नहीं देखा। इसतरहसे देखना सीख लेनेपर जगत्के समस्त आनन्द ब्रह्मानन्द हो जाते हैं। फिर मनमोहन केवल मनको मोहित करके ही चुप नहीं रह जाते। वे हमारी विषयरसास्वादनकी वासनाको भी ब्रह्मानन्दकी ओर लगा देते हैं यही उनका 'मदनमोहन' रूप है। पर यह दृढ़ निश्चय रखना चाहिये कि इस 'मदनमोहन'को देखनेके लिये पहले राधिका या उपासिका बनना पड़ता है। उपासना बिना संसारका मोह दूर नहीं होता। इसीसे कहा गया है-'राधासंगे यदाभाति तदा मदनमोहनः।'

सूर्यको न देखकर सूर्यसे ही सैकड़ों तरफ बिखरी हुई किरणोंसे प्रकाशित वस्तुओंको देखनेकी भांति, यह जीव परमात्माको न देख उसके बदले अनंत विषयराशिको देख देखकर मुग्ध होता है। इसीसे कहा जाता है कि विषयोंमें भी वंशी अवश्य उन्हींकी बजती है। परन्तु उसमें जीव "पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" इसीसे उस सुमधुर शब्दसे केवल हमारी इन्द्रियां ही मथित होती हैं पर माया-आवरणके उस पार जो उस स्निग्धसमुज्ज्वल-सजलजलद-कान्त-श्याम-सुन्दरके मधुर अधरोंसे निकला हुआ वंशीरव ध्वनित हो रहा है, उसे हम नहीं सुन पाते। एकबार उस मधुर ध्वनिको सुनते ही हमारे प्राण इस तरहसे स्पन्दित हो उठते हैं कि फिर उसके द्वारा चित्तसे संसारके समस्त बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। परमात्माके संग लाभके लिये चित्त आतुर हो उठता है। संसारके अगणित बन्धनोंके ढीले पड़ते ही वह उन सबसे छूटकर दौड़ना चाहता है। मानों किसी अमल धवल शुभ्र ज्योतिमें मन प्राणके वेग प्रवाहको डुबो देनेकी इच्छा होती है। प्रेममयकी यह त्रितापहारी मुरली-ध्वनि एकबार भी जिसके कानोंमें प्रवेश कर जाती है फिर उसका हम लोगोंकी तरह संसारमें रहना असंभव हो जाता है।

मोहनकी उस मुरली-ध्वनिने है—
जिसका मन मोह लिया।
जीवन प्राण हो उठे व्याकुल,
जिसने अपना दिया हिया॥
मधुर वंशरीध्वनिको सुनकर,
पागलिनी मैं बनी अहा!
कैसे गृहमें रहूं आज मैं—
कैसे सहूं विपत्ति महा॥

फिर उसकी सारी व्याकुलता, जन्मजन्मान्तर-की समस्त इच्छाएं एक लक्ष्यकी ओर जग उठती हैं, वहां जल्दी दौड़ जानेके लिये उसके समस्त मन प्राण घबरा उठते हैं और जैसे बाँधके टूट जानेपर जलप्लावनका प्रवाह बड़े वेगसे बहकर सम्पूर्ण प्रान्तके गावोंको बहा लेजाता है इसी-

तरह विषय तृष्णाका बांध टूट जानेपर प्राणोंमें भगवत्प्रेमके जिस प्रबल उन्मत्त वेगका सञ्चार होता है, वह सारे बन्धनोंको जोरसे तोड़ डालता है। प्रणयीके अभिसारमें दौड़नेवाली प्रणयिनीकी भांति, उसे रोकनेके लिये किसी भी सांसारिक प्रलोभनकी शक्ति काम नहीं देती। उस समय वह होता है अनन्तका यात्री,-अनन्त आनन्दसिन्धु-संगमका प्रयासी। तब वह जगत्‌के समस्त विघ्न बाधाओंके मस्तकपर जोरसे लात मारकर उच्च स्वरसे पुकार उठता है-

घर तजौं बन तजौं 'नागर' नगर तजौं,
वंशीवट तट तजौं काहू पै न लाजिहौं।
देह तजौं गेह तजौं नेह कहो कैसे तजौं,
आज काज राज बीच ऐसे साज साजिहौं।
बावरो भयो है लोक बावरी कहत मोको,
बावरी कहेतें मैं काहू ना बराजिहौं।
कहैया सुनैया तजौं, बाप और भैया तजौं,
दैया! तजौं मैया पै कन्हैया नाहिं तजिहौं॥

फिर उसकी कैसी अवस्था होती है इस सम्बन्धमें भागवतमें कहा है—

एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या,
जातानुरागद्रुतचित्तउच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥

उसे जगत्‌के खान-पान, वस्त्र अलङ्कार, मान-प्रतिष्ठा आदि किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं रह जाती, कोई वस्तु अच्छी भी नहीं लगती। वह उस प्रेमिककी अपूर्व माधुरीका स्मरणकर गलदश्रुलोचनसे रोकर व्याकुल हो जाता है। अपने उस प्राणाराम अपूर्व सुन्दर कान्तको वह कितने ही नामोंसे पुकारता और उसे कितनी ही सोहागकी बातें कहना चाहता है, तब वह बन्धनमुक्त विवश प्राणोंसे गा उठता है—

सखी! मोहिं 'श्याम' सुनायो कौन?
मधुरो अमित अमीतें मीठो जीवन-जड़ सुख भौन॥
कर्णरन्ध्रतें अन्तर पहुंच्यो परस्यो मर्मस्थान।
रोम रोम छाई मादकता व्याकुल कीन्हें प्रान॥
नाम मिलत ऐसी बौरानी आय मिले कहा होय।
सखी! श्यामके दरसनमें हौं दऊँ अपनपौ खोय॥

उस समय उस भक्तके जाति पांति कुल आदिका गर्व सर्वथा गलित हो जाता है, उसके प्राण तद्गत होकर सर्वथा उस प्रेममयके चिन्तनके लिये ही अकुलाते रहते हैं। कृष्ण-विलासिनी, प्रेमोन्मादिनी इस चित्त-गोपिकाके अन्तरसे उस समय एक यही पुकार उठती है- 'प्रिय! तवरूपे रूपिनी तव गर्वे अभिमान। तव आनन्दे सुखमयी तव प्राने सप्रान।

तब उस व्याकुल चित्तमें केवल यह एक ही इच्छा जाग्रत रहती है—

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापिवैश्यो न शूद्रो।
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा॥
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे।
गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥

उसी श्रीकृष्णप्रेममत्त, ब्रह्मानन्दरस निमग्न, पूर्णज्ञान समारूढ़ चित्तका एक चित्र इस झूलन-यात्रामें दिखलाया गया है। इसमें अपनेको सुखी बनाने या अपनी इन्द्रियोंके तृप्त करनेकी किञ्चित् भी इच्छा नहीं है। इच्छा है केवल उस प्रेममयको तृप्त करनेकी। जिस बातमें उसे सुख हो उसीमें हमें अपार सुख है। प्रेममय जब सुखमें मग्न हो जाता है तब हमें अपना स्मरण नहीं रहता, केवल उसीका स्मरण रहता है। इसीसे आज कृष्णप्राणा गोपियोंके आनन्दकी सीमा नहीं है। श्रीकृष्ण आनन्दके झूले झूल रहे हैं। जिसकी सत्तासे, जिसके आनन्दसे आज जगत्‌में हजारों पैदा होते और नाश होते हैं—हजारों खिलते हैं और कुम्हलाते हैं, आते हैं और जाते हैं। इस आने-जाने जन्म-मृत्यु या सृष्टि-प्रलयके नित्य चञ्चल प्रवाहमें उसका यह अपूर्व झूलन-आनन्द हो रहा है। इसीसे भक्त गोपियां संशय छोड़कर अनिमेष नयनोंसे उसकी ओर ताक

रही हैं और उसे झुला रही हैं। वामसे दक्षिणकी ओर सृष्टिसे लयकी तरफ और लयसे फिर सृष्टिकी ओर इसतरह बारम्बार आना जाना लगे रहनेपर भी बीचमें आकर वह एकबार ठहरता है, यह ठहरना ही असली वस्तु है। यह स्थिरत्व ही श्रीकृष्णका प्राण है। इस स्थिरत्वके अवलम्बनसे ही अनन्त आनन्द क्रीड़ाका सम्यक्-प्रकारसे प्रसार होता है। जैसे वह अपने झूलनानन्दमें नहीं थकता, वैसे ही गोपियां भी उसे झुलानेमें कभी आलस्य नहीं करतीं। बस, दे झूला, दे झूला! इसी आनन्दकी उन्मत्तता-से आज भक्त और भगवान् दोनोंके हृदय भर रहे हैं। सुतरां कोई किसीसे कुछ प्रश्न नहीं करता। 'स मोदते मोदनीयं ही लब्ध्वा।

यह आनन्दका अनुसन्धान नहीं है, यह है आनन्दकी प्राप्ति। यह है आनन्दके प्रवाहमें सन्तरण, जो रसस्वरूप है उस रसराज आनन्द-सिन्धुको प्राप्तकर आज प्राणोंकी समस्त पिपासा शान्त हो गयी है। प्रवृत्तिका उपराम हो गया है आनन्दके प्रशान्त विराममहासागरमें आज प्रकृतिके समस्त विक्षेप–समस्त चञ्चलताएं समा गयी हैं इसीलिये आज इन्द्रियां अपनी अपनी प्रकृतिके अनुकूल विषयोंके अन्वेषणमें तत्पर नहीं हैं। वे आज ब्रह्मानन्द-रस-सागरमें अपनेको खो चुकी हैं। उनकी वह उत्तेजना, उनका वह विषयोंके प्रति प्रबल आकर्षण और प्रेम आज मानों श्रीकृष्णमें समाकर सर्वथा शान्त हो गया है। अपने निजस्वरूपको देखकर अब प्रतिविम्बके प्रति उनका तनिक भी आकर्षण नहीं रहा है। जिस आत्माके प्रति जीवकी स्वाभाविक हो प्रबल आकर्षण है, उस आत्माको आज वह प्रत्यक्ष देख रहा है। इसीलिये भक्त जन्म-मृत्यु सुख-दुःख और रोगशोकके हाहाकारपूर्ण अनन्त विक्षेपोंमें भी स्थिर और विगतभय रहते हैं। क्योंकि वे न तो और कुछ देख पाते हैं न सुन पाते हैं और न वे किसी दूसरेका स्पर्श पाते हैं। वे तो सर्वत्र ही अपने प्रियतमका मधुर मुखकमल देख देखकर निर्व्याकुल रहते हैं। इसीसे आज इस गतिशील चित्तकी विविध चेष्टाएं विषयोंकी ओर नहीं दौड़तीं। इसीसे चित्तकी समस्त वृत्तियां मुग्ध विमूढ़वत् होकर आनन्दघन सच्चिदानन्द-सागरमें डूबती डूबती तलमें पहुंच गयी हैं। शायद इस चित्तका उत्थान नहीं होगा, यह नहीं जागेगा। आज प्राण, इन्द्रिय, देह और मनकी समस्त कामनाएं उस अकाम आनन्दतरङ्गमें तैर रही हैं यही भक्तके साथ भक्तके जीवननाथका मधुर मिलन है। इस मिलनसे भगवान्की शोभा और महिमा और भी बढ़ जाती है। यदि भक्त-प्रेमिक न होते-यदि उनके प्राणोंमें इतनी चाह न होती तो उस अपार आनन्दका संभोग कौन करता? अतएव भक्तके लिये जैसे भगवान्की आवश्यकता है, वैसे ही भगवानके लिये भी भक्तका प्रयोजन है। इस जगत्के खेलका भी यही उद्देश्य है। इसीसे यह जगत् उससे पृथक् होकर भी एक है, और अभिन्न होकर ही भिन्नरूपसे प्रतीत हो रहा है। इसीलिये यह कहा जाता है—

राधासंगे यदा भाति तदा मदनमोहनः।
अन्यथा विश्वमोहोऽपि स्वयं मदनमोहितः॥

हम न भक्त हैं, न प्रेमी हैं, न ज्ञानी हैं, न योगी हैं फिर इस रससिन्धुके रसकी कैसे उपलब्धि करें? फिर भी कहा जाता है इस महारासरसके नायक हैं रसिकशेखर आनन्द-घन परमात्मा श्रीकृष्ण हमारे आत्मा और सखा हैं इसीसे एकबार अपने घरकी बात कहकर उसकी आलोचना करना चाहते हैं। एकबार उनके भक्तोंकी वाणीमें वाणी मिलाकर कहिये—

जयतां सुरतौपङ्गो मम मन्दमतेर्गती।
यत् सर्वस्व पदाम्भोजे राधामदनमोहनौ॥
श्रीमान् रासरसारम्भी वंशीवट तटस्थितः।
कर्षण वेणुस्वनैर्गोपीर्गोपीनाथ श्रियोऽस्तु नः॥

सुमनका सन्देश

(लेखक—पं० हरिहरनाथजी हुक्कू, बी० एस० सी० एम० ए०)

"प्रकृति सौन्दर्यके गौरव ! प्यारे सुमन ! कहो ! कैसा मुग्ध-मन्त्र-जाल फैलाया है कि प्राणियोंका चित्त उसमें एकबार भी फंसनेपर निकलने नहीं पाता ! बताओ तो सही वह कौनसा मन्त्र है ? मैं भी तो जानूं । सुहृद् ! बोलो ! माथा क्यों नवाते हो ? चुप क्यों हो ? बताओ, कौनसी वशीकरण शक्ति छिपाये हो कि सब अपने आप ही खिंचे चले आते हैं ! प्यारे ! हम प्राणी तुम्हें कितना चाहते हैं ? कभी पूज्यतम देवताओंके माथे तुम्हें चढ़ाते हैं तो कभी प्रियतमाके गलेका हार तुम्हें बनाते हैं । इसका रहस्य ?"

इतने ही में समीर उधरसे झूमता हुआ आ निकला। उसने मेरे कानमें कहा, 'संसारके पथिक ! उदास न हो । मैं तुझको इसका रहस्य बतलाता हूं । पथिक ! यह संसार क्षणिक है, अपना सर्वस्व अर्पण कर दे । यह संसार क्षणिक है यही उस सुन्दर सुमनका सन्देशा है ।' मेरी आंखें खुलीं । मैं देखता क्या हूं कि जितने पुरुष, स्त्री, बालक और वायुकी लहरें उधरसे आ निकलती हैं, उन सबोंको समभावसे परागदान करनेके लिये वह सुमन सदा प्रस्तुत रहता है । वह अपनी सुगन्धि सबको दे रहा है । उसकी मधुर मुसक्यान सबके लिये है । जो चाहता है वही उसके रङ्गसे अपने नयन तृप्त करता है । सूर्यदेवने उसे रंग दिया था, सुगन्धि प्रदान की थी। जो कुछ सुमनने ईश्वरसे पाया है वह सब अन्य जीवोंके हेतु लुटा रहा है। यही उसके सर्वप्रिय होनेका कारण भी है। सुमन ! धन्य है तुमको, तुम्हारे जीवनको और तुम्हारे इस उच्च आदर्शको ।

प्रकृतिकी ओर दृष्टि डालिये । चारों ओरसे हमें यही मधुर सन्देश मिल रहा है। देखिये, सूर्य अपने प्रकाशको कृपणके समान छिपा नहीं रखता, या केवल अंश विशेषके गुणद्वारा हमारी सेवा करनेसे तृप्त नहीं रहता । वह तो दिव्य प्रकाशको अपने सर्वस्वको अपने दिवस जीवनके अन्तिम क्षणतक जीवित ही क्या जड़पदार्थतकको प्रदान-कर सदा एकभावसे सेवा करता रहता है। उसमें किसीके प्रति कुछ भेदभाव नहीं, चाहे कोई एक राजमहलकी गगनचुम्बित अट्टालिकाओं-में भ्रमण करता हो, चाहे कोई दीन फूसकी झोपड़ीके झरोखेमेंसे झांकता हुआ उसे दिखायी पड़े । तभी तो उसका ऐसा तेज है । प्रातःकालसे ही पूर्व दिशामें होली मच जाती है । कैसे सौन्दर्य और सुखमाकी लूट होती है । इधर जहां रात्रि हुई, बस जैसे कोई हर्षके उल्लासमें मुट्ठियों फूल उछाले, वैसे ही प्रकृति आनन्दमय हो तारोंको बिखेर देती है। यही मणिसम तारे रात्रिकी धन-सम्पत्ति हैं। यामिनी अपनी इस अमूल्य निधिको केवल प्राणियोंके चित्त रञ्जनके हेतु नित्य लुटाती है और हम इस प्रेमदानको स्वीकार करते हुए मन ही मन कहते हैं, 'अहो ! रात्रि कैसी सुन्दर है ? कितनी प्रिय है यह रात्रि ?' उधर देखिये ! निर्मल नदी अपने कलरवद्वारा ईश्वरका गुणानुवाद करती हुई गम्भीर समुद्रकी ओर अपनेको उसमें एकरस होकर मिला देनेकी

उत्कण्ठासे अग्रसर हो रही है। जो उसके तटपर आता है उसे शान्ति प्रदान कर रही है। जो जैसा पात्र लाता है वह उसका उतना ही भर देती है। रात्रि हो या दिवस उसका दरबार सदा खुला है। कोई खाली हाथ लौटता नहीं।

यही है जीवनको सुखमय बनानेका मूलमन्त्र। जो ईश्वरने दिया हो उसका यथायोग्य हम दान करें। जो कुछ थोड़ा बहुत हमारे पास हो उसे बिना सङ्कोचके प्राणियोंकी सेवामें अर्पण कर दें। इसकी चिन्ता न करें कि ईश्वरप्रदत्त भण्डार खाली हो जायगा और अपने पास कुछ रहेगा ही नहीं। जिस महादानीने इतना दिया है वह और भी देगा। और यदि और न दिया तो क्या ? न देनेका कारण यही होगा कि जो परमेश्वरने हमें प्रदान किया था उसका पूर्णतया हमने उपयोग नहीं किया अपनी कृपणतासे हमने उस महादानी-की कृपाका पात्र होना प्रमाणित नहीं किया।

कोई मनुष्य इतना धनहीन नहीं हो सकता कि उसके पास अर्पण करनेके हेतु कोई योग्य वस्तु रहे ही नहीं। मानव सृष्टिको एक ऐसी सम्पत्ति प्रदान की गयी है जिसका अभाव धन-हीनसे धनहीनके पास भी नहीं हो सकता और जिसे लुटाकर वह आनन्द प्राप्त कर सकता है। सच पूछिये तो न धन ही हमारी सम्पत्ति है, न नवयौवनकी उमंग और न रूपका सौन्दर्य ही। इन सबको तो हम अज्ञानताके मोह-पाशमें फंसे हुए होनेके कारण अपनी सम्पत्ति मान बैठे हैं। जिसके कारण हम अपने यथोचित धर्मपालनमें असमर्थ होते हैं। वास्तवमें हम हैं अनादि, अनन्त। हमारा सत्यरूप ही अक्षय सौन्दर्य है जिसका स्पर्शमात्र इस जगमें भांति-भांतिसे दिखलायी देता है। कभी मयूरकी चालमें, कभी तारोंके संकेतमें, कहीं कभी गङ्गाकी लहरोंसे रश्मियोंकी अठखेलियोंमें, कहीं बाललीलामें और कहीं शिशु-हास्यमें। सांसारिक सौन्दर्य तो नश्वर है। जो अनन्त है उसका कोई भी गुण अनन्तको छोड़ अन्य कुछ हो नहीं सकता। जो नश्वर नहीं है उसकी वास्तविक प्रकृति नश्वर कैसे होगी ? धन, यौवन और रूप इस संसारकी वस्तुएं हैं और इस संसारके पुष्पोंके समान इनका विकास क्षणभरके लिये होता है और फिर अन्त भी शीघ्र ही हो जाता है।

हमारी यह सम्पत्ति नहीं है। वास्तविक सम्पत्ति है हमारे भाव, हमारे विचार, जिनसे कर्म उत्पन्न होता है और जिसका प्रभाव युगयुगान्तर-तक हमारे साथ रहता है। कवि वर्ड्सवर्थने कहा है, "Soul that art the eternity of thought" जीव विचार ही की एक परम्परा है। हमारे जीवका इतिहास तो हमारे विचारोंकी ही कथा है। इच्छासे विचार, विचारसे कर्म और कर्मोंसे ही हमारा भाग्य निर्माण होता है। सत्यभाव, पवित्र विचार, विद्या, ज्ञान यही हमारा धन है। इन्हें हम यथाशक्ति लुटावें, अन्य लोगोंकी सेवार्थ अर्पण करें। सत्यभावोंके प्रचारसे जीवन और भी सात्त्विक होगा, पवित्र विचारोंके प्रकाशनसे हमारे विचार पवित्रतर होंगे। विद्यादानसे विद्याकी हममें वृद्धि होगी। ज्ञानके लुटानेसे ज्ञानका हममें अधिकाधिक सञ्चय होगा। यह दैवी सम्पत्ति है। इसके नियम सांसारिक नियमोंसे पृथक् हैं। जितना हम लुटावेंगे, जितना हम दान करेंगे उतनी ही वृद्धि होगी और अन्य जीवोंके प्रति सूर्यके समान तेजस्वी, सुमनके समान प्रिय और तारोंसे भरी रात्रिके समान सुखद बन, नदीकी भांति हम अनन्तसागरमें कभी लीन हो जायंगे।

अर्जुनका रुदन

(लेखक—पं० श्रीलज्जारामजी मेहता)

ण्डव-मुख्य अर्जुन 'महाभारत' की जान है। अर्जुनका बल, पराक्रम, शौर्य और कर्तव्य-पालन महाभारतका सबसे मुख्य अंश है। वह परम धर्म-निष्ठताकी साक्षात् प्रतिमूर्ति था। सच पूछिये तो महाभारत युद्धमें एक ओर भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुर्योधनादि महारथी और दूसरी ओर अकेला अर्जुन ही था। यदि इस पक्षमें अर्जुनका व्यक्तित्व न होता तो युधिष्ठिरादिका क्या सामर्थ्य था जो वे भीष्मादिके सामने खड़े होनेका भी साहस कर सकते। अर्जुनकी—'अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्' प्रतिज्ञा सच्ची प्रतिज्ञा थी। वीरताकी तो वह सीमा था, किन्तु यह जो सब कुछ खेल था सो था सब श्रीकृष्णकी कृपासे, उन्हींके बल, पौरुष और सहायतासे।

महाभारतका आरम्भ होते समय अर्जुनका मोह नाश करनेके लिये—'निमित्तमात्रं भव सव्य-साचिन्'-का उपदेश एक ऐसी बात थी जिसने अर्जुनके मुर्दा शरीरमें जान डाल दी!

देशकी दुर्दशामें यह एक सुदशाका विन्दु है कि भगवान्की कृपासे जनताकी प्रवृत्ति 'श्रीभगवद्गीता' की ओर हुई है। जितना गीताका मतलब, उसका उद्देश्य, उसका उपदेश समझा जा सके उतना ही हिन्दुओंका कल्याण है। किन्तु गीताको समझ लेना हलवेका कौर नहीं है। इसके लिये भगवान् वेदव्यासजीके—'अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा' ये वाक्य हैं। जिसका तात्पर्यार्थ जिसका गूढ़ रहस्य—समझनेमें संजय जैसे दिव्य-चक्षुके लिये भी सन्देह किया जाय उसे समझकर यदि हम पण्डितम्मन्य होनेका ढोल पीटते हैं तो यह हमारी धृष्टता है। गीताका रहस्य समझनेका केवल एक अधिकारी था अर्जुन परन्तु उसके भी हृदयंगम करानेके लिये साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णको अपने विराट् स्वरूपके दर्शन कराकर भीष्म, द्रोणादिके मस्तक अपनी दाढ़ोंसे चूर्ण होते दिखलाने पड़े। न अब साक्षात् भगवान् हैं और न अधिकारी अर्जुन ही। आज पापसागरमें निमग्न जनता गीतामें पारङ्गत बननेका दावाकर दूसरोंको उपदेश देती है, इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा? 'किमाश्चर्यमतः परम्।'

अस्तु! भगवान्ने केवल एक ही बार अर्जुनका मोह छुड़ाकर महाभारतके जन-संहारमें प्रवृत्त किया हो सो नहीं वे सदा-सर्वदा उसकी 'येनकेन' रक्षा करनेको तैयार थे। एकबार महाभारतके घोर संग्रामके समय जयद्रथ-बधकी प्रतिज्ञामें असफल हुए अर्जुनको सूर्यास्तका चमत्कार दिखाकर भगवान्ने दधकती हुई चितामें जल मरनेसे उसका उद्धार किया था। दूसरी बार इसीसे मिलती जुलती घटना द्वारकामें हुई। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धका उत्तरार्द्ध अवलोकन करनेसे अनुमान होता है कि भगवान्के स्वधाम पधारनेसे थोड़े ही समय पूर्व अर्जुन द्वारकामें था। वहां एक ब्राह्मणने रोते रोते आकर

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रसे पुकार की और कहा, 'जहां श्रीकृष्ण, बलदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्धादि विद्यमान हैं वहां मेरे सद्यःप्रसूत बालकोंको मृत्यु केवल क्षत्रियोंके अधर्मसे होती है। क्षत्रिय पाप-परायण हैं, हिंसा-विहारमें रत हैं और फल मुझे भोगना पड़ता है।' असलमें बात यह थी कि उसके बालक होते ही मर जाया करते थे। उसकी पुकार सुनकर भगवान् चुप हो गये और बलरामजी इत्यादि अन्यान्य योद्धा भी चुप्पी साधे रहे। अर्जुन-वीरताभिमानी पार्थसे न रहा गया। उसने कहा, 'मैं रक्षा करूंगा और यदि मेरी प्रतिज्ञाका पालन न हो सका तो जीते जी चितामें जल मरूंगा।' ब्राह्मणको विश्वास नहीं हुआ। उसने अर्जुनको बहुत समझाया परन्तु जब अर्जुनने बहुत आग्रह किया तब उसके बल-पराक्रमपर भरोसा करके ब्राह्मण हर्षित होता हुआ लौट गया।

ब्राह्मणी समय पाकर गर्भवती हुई। उसके प्रसूता होनेका समय आनेपर अर्जुनने सूतिका-गृहको चारों ओर-ऊपर नीचे-सर्वत्र अस्त्रोंसे तोप दिया। सांस लेनेतकका स्थान शेष न रहा। इतना प्रबन्ध कर देनेपर भी अर्जुन निश्चिन्त न था, वह यमराजको भी युद्धमें परास्त करनेकी महत्वाकांक्षासे स्वयं धनुषपर बाण चढ़ाये सूतिकागृहका पहरा दे रहा था। ब्राह्मणीके बालकका जन्म हुआ। उसके पैदा होते ही रोनेका शब्द अर्जुनने सुना, किन्तु अर्जुनके रक्षाके लिये इतने सतर्क और सन्नद्ध होनेपर भी लड़का एकाएक गायब हो गया, उसके शरीरतकका पता नहीं लगा। रोते चिल्लाते ब्राह्मणने अर्जुनसे पुकार की। अर्जुन यमलोकमें गया, इन्द्रलोकमें गया और भूतभावन भगवान् शङ्करकी शरणमें गया किन्तु कहींपर भी बालकका पता नहीं लगा। अन्तमें वह हारकर, झख मारकर, निराश हो लौट आया और चिता बनवाकर जल मरनेको तैयार हो गया। दर्पहारी भगवान् श्रीकृष्णने समझ लिया कि अब इसका घमण्ड चकनाचूर हो चुका है, उन्हें दर्प-दलन करना ही अभीष्ट था अर्जुनकी रक्षा करना तो उन्हें सर्वदा और सर्वथा स्वीकार ही था। उन्होंने उसे समझा बुझाकर मरनेसे निवृत्त किया और अपने साथ रथपर बैठाकर ऐसे स्थानमें ले गये जहां भगवान् भुवन-भास्करका प्रकाश भी नहीं पहुंच सकता था। प्रकाशके लिये सुदर्शनचक्रको आगेकर नर और भगवान् नारायण भूमण्डलको एक फणपर धारण करनेवाले शेषजीके पास पहुंचे। वहांसे बालकको लाकर ब्राह्मणको दिया और इसतरह अर्जुनकी रक्षा करनेके व्याजसे उसका घमण्ड चूर्णकर दुनियाको दिखला दिया कि मनुष्य कोई वस्तु नहीं, केवल भगवान् ही 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्' समर्थ हैं। अवश्य ही अर्जुन निमित्तमात्र था और इसीलिये उसने भगवान्के स्वधाम पधारने-पर रोकर सब बातें दिखला दीं।

भगवान्के स्वधाम पधारनेके समय अर्जुन द्वारकामें था। उसे इन्द्रप्रस्थसे गये सात महीने हो चुके थे। उस समय न रेल थी, न तार था और न डाकका प्रबन्ध था। इन बातोंकी आवश्यकता भी नहीं थी। इन्द्रप्रस्थमें बड़े बड़े उत्पात होने लगे। युधिष्ठिर घबराये। कार्यसे कारणका स्मरण हुआ करता है। उन्होंने अपने हृदयकी वेदना भाई भीमको सुना दी, थोड़े ही समयमें अर्जुन आगया। कुशलप्रश्न करते ही अर्जुनने रो दिया और कहाः-

वंचितोऽहं महाराज हरिणा बन्धुरूपिणा।
येन मेऽपहृतं तेजो देवविस्मापनं महत्॥१॥

यस्य क्षणवियोगेन लोको ह्यप्रियदर्शनः।
उक्थेन रहितो ह्येष मृतकः प्रोच्यते यथा॥२॥

यत्संश्रयाद्द्रुपदगेहमुपागतानां,
राज्ञां स्वयंवरमुखे स्मरदुर्मदानाम्।
तेजो हृतं खलु मयाभिहतश्च मत्स्यः,
सज्जीकृतेन धनुषाधिगता च कृष्णा॥३॥

यत्संनिधावहमु खाण्डवमग्नयेऽदा-
मिन्द्रं च सामरगणं तरसा विजित्य ।
लब्धा सभा मयकृताद्भुतशिल्पमाया,
दिग्भ्योऽहरन्नृपतयो बलिमध्वरे ते ॥४॥

यत्तेजसा नृपशिरोऽङ्घ्रिमहन्मखार्थे,
आर्योऽनुजस्तव गजायुतसत्त्ववीर्यः ।
तेनाहृताः प्रमथनाथमखाय भूपा,
यन्मोचितास्तदनयन्बलिमध्वरे ते ॥५॥

पत्न्यास्तवाधिमखक्लृप्तमहाभिषेक-
श्लाघिष्ठचारुकबरं कितवैः सभायाम् ।
स्पृष्टं विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्या,
यैस्तस्त्रियोऽकृत हतेशविमुक्तकेशाः॥६॥

यो नो जुगोप वनमेत्य दुरन्तकृच्छ्राद्-
दुर्वाससोऽरिविहितादयुताग्रभुग्यः ।
शाकान्नशिष्टमुपभुज्य यतस्त्रिलोकीं,
तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः॥७॥

यत्तेजसाथ भगवान्युधि शूलपाणि-
र्विस्मापितः स गिरिजोऽस्त्रमदान्निजं मे ।
अन्येऽपि चाहममुनैव कलेवरेण,
प्राप्तो महेन्द्रभवने महदासनार्द्धम् ॥८॥

तत्रैव मे विहरतो भुजदण्डयुग्मं,
गाण्डीवलक्षणमरातिवधाय देवाः ।
सेन्द्राः श्रिता यदनुभावितमाजमीढ,
तेनाहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना ॥९॥

यद्बान्धवः कुरुबलाब्धिमनन्तपार-
मेको रथेन ततरेऽहमतीर्यसत्त्वम् ।
प्रत्याहृतं बहुधनं च मया परेषां,
तेजास्पदं मणिमयं च हृतं शिरोभ्यः॥१०॥

यो भीष्मकर्णगुरुशल्यचमूष्वदभ्र-
राजन्यवर्यरथमण्डलमण्डितासु ।
अग्रेचरो मम विभो रथयूथपाना-
मायुर्मनांसि च दृशा सह ओज आर्च्छत्॥११॥

यद्दोष्षु मा प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्ण-
द्रौणित्रिगर्तशल्यसैन्धवबाह्लिकाद्यैः ।
अस्त्राण्यमोघमहिमानि निरूपितानि,
नो पस्पृशुर्नृहरिदासमिवासुराणि ॥१२॥

सौत्ये वृतः कुमतिनात्मद ईश्वरो मे,
यत्पादपद्ममभवाय भजन्ति भव्याः ।
मां श्रान्तवाहमरयो रथिनो भुविष्ठं,
न प्राहरन्यदनुभावनिरस्तचित्ताः ॥१३॥

नर्माण्युदाररुचिरस्मितशोभितानि,
हे पार्थ हेऽर्जुन सखे कुरुनन्दनेति ।
संजल्पितानि नरदेव हृदिस्पृशानि,
स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य ॥१४॥

शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादि-
ष्वैक्याद्वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः ।
सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं,
सेहे महान्महितया कुमतेरघं मे ॥१५॥

सोऽहं नृपेन्द्ररहितः पुरुषोत्तमेन,
सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः ।
अध्वन्युरुक्रमपरिग्रहमङ्ग रक्षन्,
गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि ॥१६॥

तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते,
सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति ।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं,
भस्मन्हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम्॥१७॥

(भागवत १ । १५ । ५से२१)

[विद्वानोंकी विद्वत्ताकी परीक्षा भागवतसे होती है। मुझमें इतनी योग्यता कहां जिससे मैं इन श्लोकोंका स्वारस्य बतला सकूं, किन्तु जैसा कुछ समझमें आया यहां लिख देता हूं। अर्जुनके रुदनका भावार्थ यह है:-]

हे महाराज ! बन्धुरूपी हरिसे मैं वञ्चित हो गया। देवताओंको आश्चर्य चकित करनेवाला मेरा उत्कृष्ट तेज नष्ट हो गया। प्राणके क्षणमात्र वियोगसे लोग दर्शनयोग्य नहीं रहते, मृतक कहलाने लगते हैं, उन्हीं श्रीकृष्णके अन्तर्द्धान होनेसे हम मृतक हो गये। केवल श्रीकृष्णके आश्रयसे ही मैंने काममदसे मतवाले राजाओंका मान मर्दनकर स्वयम्वरमें धनुष चढ़ाकर द्रौपदी प्राप्त की। केवल श्रीकृष्णके आश्रयसे ही मैंने खाण्डववन भोजनके रूपमें अग्निको दिया, देवगणसहित सुरराज इन्द्रको विजय किया। मयदानव निर्मित अद्भुत और अनेक शिल्पकलायुक्त सभा प्राप्त की और आपके यज्ञके लिये समस्त राजाओंको पराजयकर भेंट प्राप्त की। यह सब बातें श्रीकृष्णके तेजसे हुईं। राजाओंके सिरपर पैर रखनेवाले दस हजार हाथियोंके बलसे युक्त जरासन्धको जीतकर भीमने भैरवयज्ञमें बलिदान करनेके लिये कैदमें पड़े हुए बीस हजार आठ सौ विजित राजाओंको मुक्त किया और वे राजा आपके लिये यज्ञमें भेंट लाये। दुरात्मा दुर्योधनादिके द्वारा आपकी पत्नी द्रौपदीके केशोंका जूड़ा खोला जानेपर उस रोती हुईकी रक्षाकर भगवान् श्रीकृष्णने शत्रुओंकी मृत्युसे उनकी विधवाओंके केश सदाके लिये खुलवा दिये। दुरात्मा दुर्योधनके द्वारा बहकाकर भेजे हुए दस सहस्र शिष्योंसहित क्रोधमूर्ति दुर्वासाको हमारे पास भोजन कर चुकनेके बाद आनेपर भी श्रीकृष्णने शाकके एक छिलके मात्रसे त्रिलोकीको तृप्तकर उन्हें भगा दिया क्योंकि भगवान्‌के एक छिलकाभर खानेसे स्नान करते हुए दुर्वासाका शिष्योंसहित पेट भर गया था। श्रीकृष्णके तेजसे पार्वती-पति भगवान् शूलपाणिने अपने साथ युद्ध करनेसे विस्मय प्राप्त हो मुझे अपना पाशुपतास्त्र प्रदान किया और इसीतरह अन्यान्य अस्त्रादि पाकर मैंने इसी शरीरसे इन्द्रसे आधा सिंहासन बैठनेके लिये प्राप्त किया। स्वर्गमें मेरे विहार करते समय मेरे गाण्डीवधनुषकी शक्तिसे मोहित हो इन्द्रने निवातकवच आदि दैत्योंके साथ होनेवाले युद्धमें मेरा आश्रय लिया था। यह सब कार्य जिस भगवान्‌की दयासे हुए उन्हीं श्रीकृष्णने स्वधाम पधारकर मुझे ठग लिया। केवल श्रीकृष्णके सखा होनेसे मैं एकाकी रथसे कुरुसैन्यके दुस्तर महासागरमें भीष्मादि महारथीरूपी मगरोंको विजयकर पार हो गया और मैंने विस्तीर्ण गोधन और शत्रुओंके मुकुटों और कुण्डलोंके मणिमय रत्न प्राप्त किये थे, वे श्रीकृष्ण अन्तर्द्धान हो गये !

हे युधिष्ठिर ! सुशोभित रथोंवाले बड़े बड़े राजा महाराजाओं, भीष्म, द्रोण, कर्ण और शल्यादिके समक्ष मेरे सारथी बनकर उन्होंने केवल एक दृष्टि मात्रसे ही उन शत्रुओंकी आयु, मन, बल, पराक्रम और शस्त्र अस्त्रादिकी कुशलताका हरण कर लिया था। जैसे भगवान्‌के दासका स्पर्श करनेमें असुर लोग अक्षम होते हैं उसीतरह भीष्म, कर्ण, अश्वत्थामा, त्रिगर्त, शल्य, सैन्धव और बाह्लीकादिके अस्त्र और शस्त्र अमोघ होनेपर भी श्रीकृष्णके भुजदण्डोंके आश्रित मुझपर वे कुछ भी प्रभाव न डाल सके। जब मैं घोड़ोंके थक जानेसे पृथ्वीपर उतरकर संग्राम करनेको उद्यत हुआ, तब उन्हीं श्रीकृष्णने, जिनके चरण-कमलोंका मोक्षकी इच्छासे भक्तजन भजन करते हैं, शत्रुओंके प्रहारोंसे मेरी रक्षाकर मेरे प्राण बचाये। उन आत्मदाता भगवान्‌को मैंने सारथी बनाया, मेरी यह कितनी बड़ी कुमति है।

हे नरदेव ! भगवान् श्रीकृष्णकी हृदय-स्पर्शी, उदार और रुचिर मुसक्यान उनका -'हे अर्जुन! हे पार्थ ! हे सखा ! हे कुरुनन्दन !' आदि प्यारे शब्दों द्वारा हास्य मुखसे सम्बोधन करना जब मैं स्मरण करता हूं तब मेरा हृदय बहुत ही क्षुब्ध हो जाता है। सोते, बैठते, खाते और फिरते समय-

"हे मित्र तुम जो कुछ कहते हो वह सत्य है" इत्यादि बातें कहकर उन्होंने मेरे समस्त अपराधोंको सहन किया और अपने गौरवका परिचय देकर मेरे समस्त अवगुण क्षमा किये।

हे नृपेन्द्र! मैं अब अपने उन सखाके बिना शून्य हो गया। उनकी अनुपस्थितिमें मुझे उनके परिवारकी रक्षा करनेके समय मूर्ख ग्वालोंने हरा दिया। मैं वही रथी हूं जिसके सामने बड़े बड़े राजा महाराजा नतमस्तक होते थे। मेरा वही धनुष, वे ही बाण, वही रथ और वे ही घोड़े हैं। किन्तु भगवान्‌के स्वधाम पधारनेसे इन सबकी शक्ति जाती रही। जैसे भस्ममें किया हुआ होम, कपटीको दिया हुआ उपदेश और ऊसर भूमिमें बोया हुआ बीज निष्फल होता है वैसे ही मेरे सब कर्तव्य निष्फल हो गये!

"गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि" असत् ग्वालोंने मुझे अबला स्त्रियोंकी तरह जीत लिया। इतना कहकर अर्जुनने यह स्वीकार कर लिया कि "मैं कुछ भी नहीं था।" इसप्रकार भगवान्‌ने दिखला दिया कि महाभारत जैसे समरमें वह अर्जुन, जिसने भीष्म, द्रोणादि महारथियोंको परास्त कर दिया। केवल निमित्तमात्र था। इसीलिये हमारे शास्त्रकार कहते हैं कि भगवान् "कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्" समर्थ हैं और वही विपत्ति-सागरमें डगमगाती हुई सनातनधर्मकी नौकाके लिये एक कर्णधार हैं।

(नाम-महिमा)

तुम रहो किसी ठाम, करो कोईसा भी काम,
पर भजो आठों याम, राम-राम-राम-राम। टेक।
सिद्ध हुए गणराया, आदि पूज्य पद पाया,
उन्हें मिला यही पाया, राम-राम-राम-राम।
प्रहलादको जलाया, नहीं जली कुछ काया,
झट उनने भी गाया, राम राम-राम-राम।
जब मालाको चबाया, नाम कपीने न पाया,
चाम चीरके दिखाया, राम-राम-राम-राम।
विष शम्भुने पचाया, नाम नीलकण्ठ पाया,
तब यही मंत्र गाया, राम-राम-राम-राम।
सप्त ऋषिने बताया, बाल्मीकिजीको भाया,
मरा-मरासे ही पाया, राम-राम-राम-राम।
जारी लंका महाबीर, बची एक ही कुटीर,
जहां जपता था धीर, राम-राम-राम-राम।
काटे रावणने पंख, गिरा गृद्ध हो अ-पंख,
हुआ रटके स-पंख, राम-राम-राम राम।
रहे तुलसी निष्काम, हुए भक्त-सरनाम,
रट गये सुर-धाम राम-राम-राम-राम।
कहे द्विज 'सुखराम' राम देंगे निज धाम,
जोकि भजें अभिराम, राम-राम-राम-राम।

श्रीसुखराम चौबे

श्रीलक्ष्मणजी

(पृ० सं० 560 से आगे)

(लेखक—ब्रह्मचारी पं० श्रीप्रभुदत्तजी)

(गतांकसे आगे)

रामचन्द्रजीके धनुष तोड़नेपर जब कुछ दुष्ट भूपतियोंने इस बातकी सलाह की कि चाहे कुछ भी हो हम सीताजीको नहीं ले जाने देंगे। सभी लोग मिलकर रामचन्द्रजीको घेर लेंगे और इन दोनों भूपकुमारोंको बांधकर सीताजीको जबरदस्ती छीन ले जायंगे, तब उस समयमें जो अच्छे राजा थे वे कहने लगे। 'मेरे यारो! तुम्हें शरम भी नहीं आती। जब धनुष तोड़नेकी बात थी, तब तो सभी अपनी सारी चौकड़ियां भूल गये और अब व्यर्थकी डींगे हांक रहे हो। याद रखना, अगर ऐसी गुस्ताखी की तो खैर नहीं है, सब छठींतककी याद आ जावेगी। खैर इसीमें है कि ईर्ष्या द्वेष छोड़कर श्रीरामचन्द्रजीको अनुपमेयरूप-राशिको नयन भरकर देखो और अपनेको कृतकृत्य करो। नहीं तो वह देखो सामने तुम्हारे साक्षात् कालस्वरूप लक्ष्मणजी बैठे हैं—

देखहु रामहिं नयन भरि, तजि ईर्षा मद मोहु।
लषण रोष पावक प्रबल, जानि शलभ जनि होहु॥

इन वाक्योंसे प्रतीत होता है कि धनुषयज्ञमें उपस्थित भूपतियोंके दिलोंपर लक्ष्मणजीके वीरत्वका कैसा जबरदस्त आतङ्क छा गया था।

×　　×　　×

श्रीरामचन्द्रजी जब ससैन्य समुद्रके समीप पहुंचे तो वहां उन्होंने देखा, समुद्रमें लंकाके जानेके लिये रास्ता नहीं है। आप सोचने लगे यह तो बड़ा अनर्थ हुआ यहां तो रास्ता ही नहीं। इतने भारी अगाध गंभीर समुद्रको किसप्रकार पार किया जा सकता है। श्रीरामचन्द्रजीकी इस उलझनको नवीन लंकापति विभीषणजीने सुलझाया। उन्होंने कहा--'महाराज! यह समुद्र आपका कुलगुरु है कुलगुरु होनेसे पूजनीय तथा बन्दनीय है इसलिये इससे नम्रतापूर्वक प्रार्थना कीजिये, यह आप ही कोई सुकर रास्ता बता देगा। इसप्रकार सहजमें ही आप समुद्रको पारकर जायंगे।' रामचन्द्रजीको विभीषणकी यह सम्मति अच्छी लगी। कारण श्रीरामचन्द्रजी प्रबल पराक्रमी शूरवीर होते हुए भी समुद्रसे अधिक गम्भीर थे, वे कामको सहजमें ही निकाल लेनेके पक्षपाती थे। किन्तु लक्ष्मणजीको यह बात भला कब जचनेवाली थी वे तो श्रीरामचन्द्रजीको छोड़कर किसी अन्यको नवना सीखे ही नहीं थे। अतः आप श्रीरामचन्द्रजीके इस अनुनय विनयके निश्चयसे परम दुःखी हुए। वे अनुनय विनयके पक्षपाती नहीं थे, उनके विचारमें दीन होना आलसियोंका काम है। जिनमें कुछ बल पौरुष नहीं होता वे ही दैवकी बहुत अधिक दुहाई देते हैं। भाग्य और लिलाटका लेख कायरोंके बचावका अस्त्र है। लक्ष्मणजी तो 'दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या' के पक्षपाती हैं, उनका मूल मन्त्र तो 'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः' है, इसीलिये आप श्रीरामचन्द्रजीसे कहते हैं—

नाथ! दैवकर कवन भरोसा, शोषिय सिन्धु करिय मन रोषा।
कादर मनकर एक अधारा, दैव दैव आलसी पुकारा॥

मानों, अपनी इच्छाके प्रतिकूल कार्य करनेवालेके साथ रोष करना तो इनका जन्म-सिद्ध अधिकार है। काम रामचन्द्रजीके हाथमें था,

यदि कहीं इनके हाथमें होता तो इनका बाण तूणीरमें न रहता ।

× × ×

लंकाके युद्धमें लक्ष्मणजीने कैसी वीरता दिखायी, इससे 'मानस'के पाठक परिचित ही हैं। जिस मेघनादने देवताओंके राजा इन्द्रतकको जीत लिया था इसीलिये जो 'इन्द्रजित'के नामसे प्रख्यात था, जिसके सामने वरुण कुवेरतक कांपते थे । श्रीरामचन्द्रजीतकको जिसने अपनी मायासे नागफांसमें बांध लिया था, जो अपने बलके सामने किसीको कुछ समझता ही नहीं था। उसी रावणपुत्र मेघनादको लक्ष्मणजीने बातकी बातमें मार दिया था, यद्यपि पहिले एकबार आप उसके प्रहारसे मूर्च्छित हो चुके थे, फिर भी उसके बल पराक्रमकी कुछ भी परवा न करते हुए आप उससे अन्ततक लड़े और उसका अन्तकरके ही दम लिये। रावणसे भी आप बड़ी बहादुरीसे लड़े। इनके बाणोंसे कितने राक्षस मारे गये, इसकी गणना भला कौन कर सकता है? यह वीरताके पति और पराक्रमके स्वामी थे, वीरता स्वयं आकर इनके बल पराक्रमकी भूरि भूरि प्रशंसा करती थी ।

× × ×

श्रीरामचन्द्रजीके प्रति श्रद्धाभक्ति—भक्ति भावुकतासे होती है जो भावुक नहीं, वह भक्त हो ही नहीं सकता। जिसमें जितनी ही अधिक भावुकता होगी, वह उतना ही ऊँचा भक्त होगा। जो जितना भारी भावुक होगा उसकी भक्ति उतनी ही अधिक एकनिष्ठ होगी। एकनिष्ठ भक्ति अथवा श्रद्धामें अपनापन बिलकुल नहीं रहता उसमें तो सर्वतोभावेन अपनेको इष्टदेवके प्रति समर्पित कर देना होता है।

बहुतसे लोग कहा करते हैं। हम उनमें श्रद्धा तो रखते हैं, किन्तु अन्धश्रद्धा नहीं करते। यदि यथार्थमें पूछा जाय तो श्रद्धाके माने सदा ही अन्धश्रद्धा होते हैं। जिसमें हमारी पूर्ण श्रद्धा है, उसके वाक्योंमें 'ननु' 'न च'करनेका अधिकार हमें नहीं है। इसीलिये तो कहा है कि श्रद्धा गुरुमें अथवा परमात्मामें ही की जा सकती है। गुरु और कुछ नहीं है, परमात्माके सगुणरूपका ही नाम गुरु है। ब्रह्म तो सर्वव्यापक सर्वाधार निराकार तथा निर्गुण है वह अव्यक्त है, अव्यक्तका ध्यान होना कठिन है, इसीलिये उसे प्राप्त करनेके लिये गुरुकी आवश्यकता होती है। गुरु ब्रह्मके साकार प्रतिनिधि हैं। साकार गुरुके द्वारा निराकार ब्रह्मको पा सकते हैं, सगुण ब्रह्मद्वारा निर्गुणका बोध हो सकता है। इसलिये यथार्थमें श्रद्धा भक्ति तो गुरु ही में व्यक्त की जा सकती है। निर्गुण तो फिर निर्गुण ही ठहरे।

वहाँ तो भक्तिभावका नामतक नहीं रह जाता। जिन लोगोंको इस संसारमें ही ऐसे सशरीर महापुरुष मिल जायँ, जिन्होंने काम क्रोधादि षड्रिपुओंको जीत लिया हो, जिन्होंने तपश्चर्याद्वारा जरा मृत्यु तथा व्याधियोंपर विजय प्राप्त कर ली हो, उनका तो कहना ही क्या! उन्हें सुगमतापूर्वक कल्याणका पथ प्राप्त हो सकता है। जिन्हें ऐसे महापुरुष प्राप्त नहीं हुए हैं उनके लिये शास्त्रकारोंने सगुण ब्रह्मके रूपमें अवतारी महापुरुषोंकी सेवा शुश्रूषाद्वारा ही उस मार्गतक पहुंचनेका आदेश दिया है। अतः गुरुमें और ईश्वरमें कोई अन्तर नहीं। गुरुमें मनुष्यभाव हो ही नहीं सकता। या यों कह लीजिये कि जिसके प्रति हमारा मनुष्यभाव है वह यथार्थमें गुरु ही नहीं। वह तो अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये-मनको धोखा देनेके लिये संसारी सम्बन्ध है। गुरु सांसारिक सम्बन्धोंसे परे होता है। उसमें माता, पिता, बन्धु, ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभीका समावेश हो जाता है। यथार्थमें ऐसे ही सद्गुरुमें श्रद्धा भक्ति हो सकती है। लक्ष्मणजीको सौभाग्यसे ऐसे सद्गुरु प्राप्त थे, श्रीरामचन्द्रजीमें भाईके नातेसे वे श्रद्धा भक्ति नहीं रखते थे। भाई तो उनके और भी दो थे, उनके प्रति उनका अनुराग

था, भक्ति नहीं। भक्ति तो श्रीरामचन्द्रजी ही में थी। और ऐसी सच्ची भक्ति थी कि उसे ही यथार्थमें भक्ति कह सकते हैं।

श्रीरामचन्द्रजीको पिताने वनवास दे दिया है। सीताजी भी उनके साथ जायँगी। यह समाचार लक्ष्मणजीको अभी अभी मिला है। सुनकर व्याकुल और उदास होते हुए जहां खड़े थे वहींसे उसी समय चल दिये। उनके व्याकुल होनेका कारण वनका दारुण दुःख नहीं था, और नहीं था राजपाट त्यागनेका शोक, उन्हें उस क्षण कुछ ऐसा भान हुआ, कि मानों श्रीरामचन्द्रजी मुझसे विलग हो रहे हैं। किन्तु अपना इष्टदेव भला कभी सेवकसे अलग हो सकता है? इस विचारसे पैर आपसे आपही श्रीरामचन्द्रजीकी ओरको चल दिये। एक क्षण क्या, एक पलके ही लिये सही, उन्हें यह तो भान हो ही गया, कि मैं अपने इष्टदेवसे विलग हो रहा हूं बस, इसी विचारसे वह अधीर होगये, नेत्रोंमें जल भर आया, शरीरमें रोमाञ्च हो गये। रामचन्द्रजीके निकट पहुंचकर व्याकुलता और बेवशीके साथ अधीर होकर वे उनके पैरोंमें गिर पड़े। समुद्रके तटपर स्वेच्छासे आयी हुई मछलीको जैसे यह भान हो जाय, कि मैं समुद्रसे पृथक् कर दी गयी हूं, इस विचारके आते ही जिसप्रकार वह अधीर होकर समुद्रमें कूद पड़ती है उस समय यही दशा लक्ष्मणजीकी थी।

कंप पुलक तनु नयन सनीरा।
गहे चरण अति प्रेम अधीरा॥

चरण तो पकड़ लिये, किन्तु उन्हें कहना क्या है, इसे वे कैसे कहें? वह वाणीका तो विषय नहीं। साधारण लोग अपने भावोंको "बेखरी" भाषामें दूसरोंपर व्यक्त करते हैं। जो पंडित हैं, जिन्हें काव्यकला और साहित्य शास्त्रका ज्ञान है वे अपने भावोंको प्रकट करनेके लिये "मध्यमा" भाषाकी शरण लेते हैं। जो भावुक और सहृदय हैं वे किसी प्रकारकी भाषाको वाणीसे न बोलकर "मौन भाषा" में ही अपने अभिन्न हृदयके सम्मुख अपने भावोंको अभिव्यक्त करते हैं। उस वाणीका नाम है "पश्यन्ती" इसे सहृदय पुरुष ही जानते हैं। एक हृदयमेंसे लगे हुए दूसरे हृदयके तारोंकी झंकारद्वारा ही यह बात होती है। लक्ष्मणजी उसी भाषामें बातें कर रहे हैं। हृदयवान् पाठको! थोड़ी कल्पना कीजिये, अक्षरोंके पढ़नेके साथ ही साथ अपनी कल्पनाशक्तिको भी काममें लाते चलिये। यह निर्जीव लेखनी लक्ष्मणजीके उस भव्य भावको व्यक्त करनेमें कैसे समर्थ हो सकती है? इन पंक्तियोंका लेखक यदि चित्रकार होता तो इससे कहीं अधिक स्पष्टतया उस भावको व्यक्त करनेमें समर्थ होता, पूरा भाव तो अनुभवगम्य है, अतः पाठक स्वयं अनुमान करें। उस समय विचारोंके अनेक तूफ़ानोंसे दबे हुए लक्ष्मणजी अधीर हुए कैसे खड़े हैं—

कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े।
मीन दीन जनु जलते काढ़े॥
शोच हृदय विधि का होनिहारा।
सब सुख सुकृत सिरान हमारा॥

अभी उन्हें भय बना है, कि शायद ऐसा न हो कि मैं पृथक् ही हो जाऊँ। इसलिये अब उन्हें अपने भावको किसी न किसीप्रकार खूब स्पष्टतया रामचन्द्रजीपर प्रकट करना ही होगा। उन्होंने अपने प्रयोजनको प्रकट किया। किस प्रकार? अन्य साधारण लोगोंकी भांति नहीं। उसमें लगाव लपेट तथा बनावटीपनका नाम नहीं था, भूमिका, प्रस्तावना तथा प्राक् कथनका अभाव था। वह प्रार्थना विनय और दीनतासे रहित था। उसमें अपना दावा था, और था दृढ़ निश्चय। "मुझे भी साथ ले चलनेका अनुग्रह कीजिये।" ये दिखाऊ शब्द नहीं थे। बस, दो टूक बात—

मोकहँ कहा कहब रघुनाथा।
रखिहहिं भवन कि लैहहिं साथा॥

'हाँ' करो या 'ना' बस सीधा सादा प्रश्न है।

श्रीरामचन्द्रजीसे भला क्या छिपा था ? वे लक्ष्मणजीके भावसे ही समझ गये थे। भवनमें रखनेकी बात तो वैसे ही थी, असलमें उनका दावा तो यह था, कि मुझे राजी राजी साथ ले चलोगे या बलिदान करना होगा। रामचन्द्रजीने प्रत्यक्ष देखा, कि मैं तो अभी माताको ढाढ़स बँधा रहा हूं, पितामें भी प्राण अटके हैं। गुरुजीके घर भी जाना है, पुरजन और परिजनोंको भी समझाना है, किन्तु इन्होंने तो अभीसे अपना सभी सम्बन्ध विच्छेद कर दिया है। सम्बन्धियों-का सम्बन्ध तृणके समान तोड़ डाला। देह-तककी अब इन्हें परवा नहीं—

राम बिलोकि बन्धु कर जोरे।
देह गेह सब सन तृण तोरे॥

अब तो श्रीरामचन्द्रजी बड़े संकटमें पड़े। पहले तो आपने उनकी भावुकतापर ही हमला किया। तुम साथ जानेका मोह करते हो। इस-प्रकार आदमीको अपने आपेसे बाहर होकर काम नहीं करना चाहिये—

तात प्रेमबस जनि कदराहू।
समुझि हृदय परिणाम उछाहू॥

यह तो भगवान् रामचन्द्रकी समझानेकी प्रस्तावना थी। सीताजीवाले दोनों अस्त्रों–लोभ और भयका यहां भी प्रयोग किया। पहले आप कहते हैं–'भैया! यह मनुष्यदेह बड़ी दुर्लभ है, देह धारण करनेका यही धर्म है, कि गुरुजन श्रेष्ठजन, मातापिता और आश्रितजनोंकी सेवा सुश्रूषा की जाय। जिसने ये काम किये, यथार्थमें जीवन तो उसीका सफल है, नहीं तो इस जीवनसे ही क्या लाभ ? अतः यहां रहकर अपने जीवनको सार्थक बनाओ और मातापिता तथा प्रजाजनोंकी सेवा करो–

मातु पिता गुरु स्वामि सिख, सिर धरि करिय सुभाय।
लहउ लाभ तिन जन्म कर, नतरु जन्म जग जाय॥

अस जिय जानि सुनहु सिख भाई।
करहु मातु पितु पद सेवकाई॥

लक्ष्मणजी चुपचाप पत्थरकी मूर्ति बने सब बातें सुन रहे हैं। श्रीरामचन्द्रजीने देखा, इस बातका तो इनपर कुछ भी असर नहीं पड़ा। इस लोभके बाणने तो अपना कुछ भी काम नहीं किया। घायल करना तो दूर की बात है यह इन्हें छूतक नहीं गया। तब आपने दूसरा बाण छोड़ा। सीताजीकी भांति इन्हें जंगलोंका भय दिखाना तो व्यर्थ था, कारण सिंह, व्याघ्र हिंसक जन्तु तथा राक्षस इनके बाणके सम्मुख चीज ही क्या थे ? अतः अब आप इन्हें कर्तव्यच्युत होनेका भय दिखाते हैं।

स्वामी और सेवकका सम्बन्ध एक अद्भुत सम्बन्ध है। सेवक तो अपना सर्वस्व स्वामीको समझे, किन्तु स्वामीको कभी इस बातका भान भी न हो कि मैं मालिक हूँ। स्त्रीका कर्तव्य है कि वह अपनेको पतिका सेविका समझे। पति-परमेश्वरकी पूजा करना ही वह अपने जीवनका लक्ष्य समझे। उसकी सभीप्रकारसे सेवा करनेमें अपना अहोभाग्य समझे। किन्तु पुरुषका कर्तव्य है, कि वह स्त्रीको कदापि दासी नहीं समझे, उसे सदा जीवनकी सङ्गिनी धर्मपत्नी अर्द्धाङ्गिनी तथा सहधर्मिणी ही समझे। तभी दोनोंका सम्बन्ध यथार्थ कहा जा सकता है। यही सम्बन्ध गुरु शिष्योंमें भी होना चाहिये। गुरु शिष्यको अपना साथी समझे और शिष्य उन्हें साक्षात् मूर्तिमान् ईश्वर समझे, जो पति तथा गुरु ऐसा न करके पत्नी तथा शिष्यको केवल अपनी सेवा करनेका यन्त्र ही समझते हैं, और जान बूझकर बहुतसा उच्छिष्ट अन्न इसीलिये छोड़ देते हैं, कि ये हमारे दास इसे खायँ, जो लोग पत्नी तथा शिष्यके पैर न दबानेपर, चरण न सुहलानेपर आपेसे बाहर हो जाते हैं, वे सत्पति तथा सद्गुरु कहलानेके योग्य नहीं! जो स्वयं प्रतिष्ठाका भूखा है, वह सद्गुरु कैसे हो सकता है ?

श्रीरामचन्द्रजीको अपना सर्वस्व समझकर और उनके साथ चलनेका आग्रह लक्ष्मणजीके परम सेवकपनके अनुकूल ही था, किन्तु श्रीरामचन्द्रजीका उनके साथका व्यवहार भी अपने स्वामीपनेके सर्वथा योग्य था। यद्यपि लक्ष्मणजी अपनेको भगवान् रामचन्द्रका तुच्छ सेवक ही समझते थे। यह जानते भी नहीं थे कि मैं राजपुत्र हूं, प्रजाकी रेख देख करनेका भी मेरा कुछ अधिकार है वह तो श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा करना ही अपना एकमात्र कर्तव्य समझते थे, किन्तु श्रीरामचन्द्रजीने ऐसा कभी नहीं समझा। वह लक्ष्मणजीको सदा अपना छोटा भाई ही समझते थे। उनका विचार था, यह भी राजपुत्र है, प्रजाको रेख देख करना इनका भी कर्तव्य है। इनके ऊपर भी तो उतना ही दायित्व है जितना मुझपर। एक दिन बड़ा होने हीसे मैं सर्वेसर्वा थोड़े ही हो सकता हूं? इसी विचारको सम्मुख रखते हुए आप उन्हें उनका कर्तव्य सुझा रहे हैं। ऊंची नीची सभी बातें सुझाकर उनके सामने कैसी भयानक परिस्थिति-का चित्र खींच रहे हैं। भैया, समझ देखो, कैसी भयंकर स्थिति है। देखो—

भवन भरत रिपुसूदन नाहीं।
राउ वृद्ध मम दुख मन माहीं॥
मैं बन जाउं तुमहिं लै साथा।
होइहि सबविधि अवध अनाथा॥
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू।
सब कहं परै दुसह दुख भारू॥
रहहु करहु सबकर परितोषू।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू॥

देखो, याद रखना यह सब कलंक मेरे ही सिर लगेगा। ऐसे भयावने समयमें भी तुम साथ चलनेका आग्रह करोगे तो फिर अवध किसके आश्रय रहेगा? माता पिता किसका मुख देखकर धैर्य धारण करेंगे? प्रजाके लोग किससे अपना सुख दुःख कहेंगे? पिता वृद्ध हैं दूसरे मेरे शोकसे संज्ञाशून्य हैं, ऐसी दशामें यदि तुम भी न रहोगे तो प्रजा तो एक प्रकारसे अनाथ ही हो जायगी। बिना स्वामीके प्रजाके लोगोंको बहुत कष्ट पहुंचनेकी सम्भावना है, सम्भव है अवध-पुरीको अनाथा देखकर कोई दूसरा राजा ही चढ़ आवे तब तो प्रजाजन बिना ही मौतके मर जायँगे। ऐसा होनेसे सभी नरकगामी होंगे। क्या तुम्हें नरकका भी भय नहीं है? कायरता मत करो भैया, अपना कर्तव्य याद करो—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवशि नरक अधिकारी॥
रहहु तात अस नीति विचारी।
सुनत लषण भये व्याकुल भारी॥

बस, अब लक्ष्मणजीकी दशा न पूछिये! उन्हें तो इस बातका अनुमानतक नहीं था कि मेरे ऊपर भी रामचन्द्रजीकी सेवाको छोड़कर अन्य कोई दायित्व है क्या? जो साक्षात् स्वामी हैं वे ही ऐसी बात कह रहे हैं तो मैं कर ही क्या सकता हूं? इसीलिये आप बड़े ही व्याकुल होकर श्रीरामचन्द्रजीके पैरोंसे लिपट गये—

उतर न आवत प्रेमवश, गहेउ चरण अकुलाय।
नाथ! दास मैं स्वामि तुम, तजहु तौ कहा बसाय॥

श्रीरामचन्द्रजीने तो अपने स्वामित्वके अनुकूल ही शिक्षा दी किन्तु अब लक्ष्मणजी क्या कहते हैं, उसे भी सुन लीजिये। अनन्य सेवककी अपने स्वामीमें किसप्रकार निष्ठा होनी चाहिये, लक्ष्मणजी इसीका सजीव चित्र खींच रहे हैं। उनका कथन है—"प्रभु, आपने जो मुझे शिक्षा दी है वह बहुत ही उत्तम है, किन्तु मुझमें तो अपनापन कुछ है ही नहीं। मैं स्वयं तो कायर हूं, भला कायर भी कोई काम कर सकता है? इसलिये इन शिक्षाओंका पालन करना मेरे लिये दुरूह है। जो लोग अपनेको श्रेष्ठ मानते हैं, जो अपनेको धार्मिक, धीर, वीर और साहसी समझते हैं, असलमें वेद शास्त्रोंकी शिक्षाएं उन्हींके कामकी हैं। मैं तो धार्मिकता, धीरता, वीरता और शूरताका

नामतक नहीं जानता। मुझे इन बातोंकी शिक्षा ही नहीं दी गयी, मैं तो प्रभुकी प्रीतिसे पाला गया हूं,मेरे तो रोम रोममें प्रभुका प्रगाढ़ प्रेम ही व्याप्त है, मैं तो प्रभुको छोड़कर और किसीको भी नहीं जानता। माता,पिता,भाई,बन्धु,कुटुम्बी, गुरु, शिक्षक, देवता सभीके दर्शन मैं प्रभुमें ही पाता हूं। प्रभुके अतिरिक्त भी कोई सम्बन्धी है, जिसके प्रति मेरा कुछ कर्तव्य हो-इस बातको मैं नहीं जानता। प्रभुकी सेवामें ही मैं अपने सम्पूर्ण कर्तव्यकी इतिश्री समझता हूं। ऐसा करते करते यदि मुझे नरक भी मिले तो सहर्ष स्वीकार है। मेरी अन्तिम और उत्कट अभिलाषा यही है कि अन्त समयतक प्रभुके चरणारविन्दोंका ध्यान बना रहे। फिर चाहे कहीं रहूं।

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो,
नरके वा नरकान्तक! प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दौ,
चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ॥

आपने जो इन संसारी सम्बन्धियोंके प्रति कर्तव्य बताया है, वह ठीक है, किन्तु प्रभुके अतिरिक्त कोई सम्बन्धी हो तब न ?

गुरु पितु मातु न जानौं काहू।
कहौं सुभाव नाथ पतिआहू ॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई।
प्रीति प्रतीति निगम निज गाई ॥
मोरे सबै एक तुम स्वामी।
दीनबन्धु उर अन्तरयामी ॥

मुझे धर्मनीतिसे काम ही क्या है ? धर्मकी और नीतिकी परवा तो उन्हें करनी चाहिये जो संसारमें तो अपनी विमल कीर्ति चाहते हों और अन्तमें सद्गतिके इच्छुक हों मुझे इन दोनोंकी ही अभिलाषा नहीं। मैं चाहता क्या हूं-

मन क्रम वचन चरण रत होई।
कृपासिन्धु परिहरिय कि सोई ॥

कितना सुन्दर उत्तर है, करुणाकी पराकाष्ठा है। इस उत्तरके आगे अब रामचन्द्रजी कह ही क्या सकते थे ? सेवक अपने इष्टदेवसे पृथक् रह ही नहीं सकता। इस बातको श्रीरामचन्द्रजी भी जानते थे, किन्तु स्वामी सेवकका सम्बन्ध कैसा होना चाहिये, इसी बातको प्रकट करनेके लिये यह सब संवाद किया गया था। श्रीरामचन्द्रजीने देखा,लक्ष्मणजी इस संवादसे भयभीतसे हो गये हैं, अतः उन्होंने इन्हें छातीसे लगाया और प्रेमपूर्वक सभी मर्म समझाया-

करुणासिन्धु सुबन्धुके, सुनि मृदु वचन विनीत।
समुझाये उर लाइ प्रभु, जानि सनेह सभीत ॥

इस संवादमें विजय किसकी हुई ? स्वामी तो सेवकको विजयमें ही अपनी विजय मानते हैं भगवान्ने कहा भी है "जीते जीत भक्त अपनेकी, हारे हार विचारौं। सूरदास सुनि भक्तविरोधी, चक्रसुदर्शन जारौं।" सेवककी सदासे ही विजय होती आयी है। अन्तिम परिणाम यह हुआ, श्रीरामचन्द्रजीको कहना पड़ा-

मांगहु बिदा मातुसन जाई।
आवहु बेगि चलहु बन भाई ॥

बस, फिर क्या था ? कङ्गालको निधि मिल गयी, अन्धेको फिरसे सूझने लगा। तपस्वीको सिद्धि हाथ जोड़कर आ खड़ी हुई। सेवकको मनचीता पदार्थ मिल गया !

मुदित भये सुनि रघुवर बानी।
भयउ लाभ बड़ गइ बड़ हानी ॥
हर्षित हृदय मातु पहँ आये।
मनहुँ अन्ध फिरि लोचन पाये ॥

इसे कहते हैं सत्यनिष्ठा, अनन्यश्रद्धा, अद्वितीयभक्ति, जिस महाभागको ऐसी भक्ति प्राप्त है, उसकी सर्वत्र विजय ही विजय है। वह पराजयका तो नाम नहीं जानता-

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः ॥

सत्य कोई भी क्यों न हो, सत्यको सदा विजय होती है "सत्यमेव जयते नानृतम्।"

शेष पृ० सं० ६८४ पर)

अनन्त तार

श्रीसत्याचरण 'सत्य' विशारद

हे अनन्तके अनुपम तार !

(१)

शून्य गगनकी नीरवताके
चन्द्र–किरणकी मादकताके
नक्षत्रोंकी सुस्थिरताके
एकमात्र तुम हो आधार ।
हे अनन्तके अनुपम तार ॥

(२)

बाल सूर्यके जगरञ्जनमें
मधुर अनिलके शत कम्पनमें
फुल्ल सुमन किञ्जल्क वहनमें
अणुका विरचित सुन्दर हार ।
हे अनन्तके अनुपम तार ॥

(३)

ज्योतिर्मय सुर नन्दन–वनमें
शत दलके मधुर स्पन्दनमें
विविध प्रसूनपूर्ण उपवनमें
ज्योति अवलि है करुणागार !
हे अनन्तके अनुपम तार ॥

(४)

बाह्य जगत्की अतुल शक्तियां
अन्तर्जगकी सुप्त तन्त्रियां
स्वर्ग जगत्की सब विभूतियां
मिली हुई तुमसे स्वरकार !
हे अनन्तके अनुपम तार ॥

(५)

दिव्यतार पर स्थित न्यारा
घूम रहा क्षिति अम्बर सारा
छेड़ो प्रभो ! तन्त्रि स्वर प्यारा
तब हँस उठे विश्वका प्यार ।
हे अनन्तके अनुपम तार ॥

'आह्वान'

षट्पदी

पीताम्बर परिधान, ओज हो अमित अखण्डित ।
लोचन जलज समान, अधर कर मुरली मण्डित ॥
कोमल गोल कपोल, श्याम हो कल्पित कलेवर ।
मधुर बोलते बोल, हास्य अव्याज मनोहर ॥
बनमाला डाले गले, मुकुट मोर मस्तक धरे ।
राधायुत आओ चले, साधारण बाधा – हरे ॥

(श्रीभगवतीप्रसाद त्रिपाठी विशारद एम. ए. एल–एल. बी.)

पपीहे की कूक

(लेखक—श्रीबनारसीदासजी 'प्रेम')

"पीहू"

"ऐ भोले पक्षी ! क्यों रटन लगा रहा है ? क्यों व्यर्थ नन्हेंसे कण्ठको कूक कूककर सुखा रहा है ? क्या चाहता है ?"

"शान्ति ।"

"तो इतना कूकता क्यों है ? शान्ति चाहता है तो शान्त हो ! हृदयके प्रबल बेगको रोक ।"

"पीहू ! पी—हू ! पी—हू !"

"अरे, फिर वही ध्वनि ! क्या समझमें नहीं आया ? इस जरासी आनपर इतना कष्ट ?"

"पीहू—पी-हू !"

"तो क्या शान्तिका साधन अशान्ति है ? तनिक मुंहसे तो बोल ! कौनसी वस्तु तुझे शान्ति दे सकती है ?"

"एक जलबिन्दु ।"

"बस, इतनेके ही लिये सारा आसमान सिर-पर उठा रक्खा है ? क्या दुनियाके ताल तलैयां लोप हो गये ? क्या नदियां बहनी बन्द होगयीं ? क्या समुद्र सूख गये ?"—

"—परन्तु गिरे हुएको कौन उठाये—जो गिरा वह गया !"

"अरे, इतना अहंकार—छोटे मुँह बड़ी बात !"

"नहीं, बिल्कुल नहीं, तुम पृथ्वीपर रहते हो, पृथ्वीका जल तुमसे नीचा नहीं, अतः तुम उसे ले सकते हो। परन्तु मैं आकाशचारी उसे क्योंकर ले सकता हूं ? शरीरमें छोटा ज़रूर हूं पर रुतबेमें तो बड़ा हूं ।"

"क्या शून्य आकाशसे भीख मांगता है ?"

"नहीं नहीं । जलसे भरे हुए मुझसे ऊंचे आकाशमें रहनेवाले प्यारे मेघसे मांगता हूं। भीख ज़रूर मांगता हूं, पर नीचेसे नहीं ।"

"परन्तु व्यर्थ—"

"तुम्हें इस अनन्यताका क्या पता ? रे जगह जगह भटकनेवाले जीव ! तुम नहीं जानते पपीहेके प्राणोंकी एकतानताको, यह तुम्हारी तरह बात बातपर निराश होकर अपनी टेकसे टलनेवाला नहीं है। तुम्हारे कैसे भी शब्द मेरे साहसको क्षीण नहीं कर सकते ! संसारकी कोई शक्ति इस हृदयके मज़बूत भावको नष्ट नहीं कर सकती । मुझ अडिगकी आशाओंके बागमें सदा ही फल लगता है, इस हरे भरे बग़ीचेकी हरियाली कभी नहीं सूखती ! सबूत चाहते हो ? अच्छा देखो—पीहू—पी-हू—पी-हू !"

× × ×

दृश्य बदल गया, धूपसे तपी हुई प्यासी पृथ्वी मुंह खोल खोलकर अपने कण्ठको तर कर रही है। नदियां, जो सागरकी भेंटके लिये आकुल होकर तरस रही थीं-अब दौड़ दौड़कर उसे गले लगा रही हैं। पक्षियोंने घोंसले टटोले। वृक्षोंने चोले बदल डाले। आसमानने आसमानी चादर हटाकर मोतिया ओढ़ ली। भगवान् दिननाथ परदेकी ओटमें छिप गये, अडिग टेकवाले पक्षीकी टेक रह गयी !

भगवन् ! जब इस छोटेसे हृदयकी हार्दिक इच्छामें इतना बल है तब क्या इस तुच्छ दासकी निराशा आशामें परिणत न होगी ? मुरलीधर ! प्यारे मुरारे ! अरे नव-नीरद-सुन्दर-घनश्याम ! क्या इस प्रेम-विदग्ध हृदयको अपने दर्शन-स्वाति बिन्दुसे शीतल न करोगे ? क्या इन नेत्रोंको वह सौभाग्य प्राप्त न होगा ? क्या इस अनाथको सनाथ न करोगे ?

दृष्टि आकाशकी ओर गयी-दौड़ते हुए बादलोंने गंभीर गर्जना करके सुनाया 'रटन,' ठण्ढी वायुने सरसरकरके कहा 'रटन' पेड़ोंकी पत्तियां झूल झूलकर कहने लगीं 'रटन,' नदीके कलकल निनादमें ध्वनित हुआ 'रटन', प्रति-ध्वनिने उत्तर दिया 'रटन' और समीपके वृक्षकी डालीसे प्यारी बोलीमें पक्षी गा उठा 'रटन' 'रटन' 'रटन' !

राम राम रटते रहो जब लग घटमें प्रान ।
कबहुं तो दीनदयालके भनक परेगी कान ॥

कुछ प्रश्नोंका उत्तर
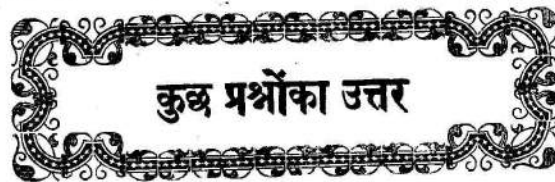
एक सज्जनने निम्नलिखित प्रश्न किये हैं:—

(१) एक रोग-संकटादिसे ग्रस्त हरिनाम जपनेवाले असफल संसारी मनुष्यके मनमें, 'हरि भगवान् मुझे सुख शान्ति प्रदान करें' ऐसी भावना स्वाभाविक ही उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती। परन्तु ऐसी भावनासे हरिनामकी महिमा क्यों घट जाती है ?

(२) जब हरि सभी शरणागत मनुष्योंका कल्याण करेंगे, तब एक कठिन तपधारी तपस्वी महात्मा और एक खु़दापरस्त मुसलमान क़साईमें क्या फरक रहा ?

(३) 'कल्याण' तथा अन्यान्य ग्रन्थोंमें मैंने बहुत बार पढ़ा कि जबतक कोई भी कामना मनमें रहती है या जबतक भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही भगवान्‌को नहीं खोजा जाता तबतक भगवान् नहीं मिलते। परन्तु महाभारतादि ग्रन्थोंमें सकामभावसे आराधन करनेवालोंके सामने भी भगवान्‌का प्रकट होकर उन्हें वरदान देना सिद्ध है। इसका क्या रहस्य है ?

(४) भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है कि 'मैं हृदयमें बैठकर सब कुछ करवाता हूँ', फिर जीव पाप पुण्यका भोक्ता क्यों होता है तथा बुरे भले कर्म या किसी जीवका सुधार बिगाड़ होना क्या अर्थ रखता है ?

(५) हम हिन्दू जिस गोमाताके एक रोमपतनसे अपनेको भ्रष्ट हुआ मानते हैं, उसी गोमाताको दूसरे श्रद्धाभक्तिसे ईश्वरके नामपर तड़फा तड़फाकर बध करते हैं, इसमें पुण्य पापका क्या निर्णय है ?

(६) जो पूर्णरूपसे आस्तिकताके साथ अचल होकर परमात्माके शरणागत हो चुका है उसे आसन माला या जपकी गिनती करनेकी क्या आवश्यकता बाकी रह जाती है ?

(७) यह सिद्धान्त है कि शुद्ध अन्तःकरण हुए बिना सिद्धि नहीं मिलती फिर बुरे भावोंसे किये हुए मन्त्रजाप या भूतप्रेतकी उपासनाका सिद्ध होना क्या झूठी कहानियां हैं ?

(८) 'भगवन्नामाङ्क'में लिखा है कि सांसारिक क्लेश निवृत्ति या (सांसारिक) सुख शान्तिके लिये भगवान्‌का नाम लेना मूढ़ता है। हीरा, कौड़ीके बदले फेंकने या चींटियोंको मारनेके लिये तोप दागनेके समान है। भगवान् तो सबसे उच्च है, उनकी महिमा तो अपारसे भी अपार और अवर्णनीय है। परन्तु जिस शुद्ध आस्तिकका भगवान्‌की प्रतीक्षामें सारा जीवन बीत जाय और जो असाधारण जप, तप, व्रत आदि करके हार गया हो तथा महारोगों और आपदाओंमें पड़ गया हो, उसका क्या कारण समझना चाहिये। उसकी आस्तिकता, निष्कपटता और श्रद्धाभक्ति-पर जरा भी सन्देह न कीजिये।

इन आठों प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर इसप्रकार है।

(१) श्रीहरिनामकी महिमा नहीं घटती। इसप्रकारकी भावना करनेवालेने भजनके मूल्यको कम समझा। जैसे कोई बहुमूल्य हीरेको दो चार पैसोंकी चीजके बदलेमें किसीको बेच देता है वैसे ही हरिनामके बदलेमें रोगसङ्कटादिसे निवृत्ति चाहना है।

(२) ईश्वरको यथार्थ शरण होनेके बाद कसाईपनका लोभ जीविकाका साधन नहीं बन सकता। शरणागत मनुष्य स्वामीके प्रतिकूल कोई कार्य नहीं कर सकता। परमपिता ईश्वरको अपनी

सन्तानकी हत्या अभीष्ट नहीं होती। इसलिये जहां ऐसा कार्य होता है वहां शरणागतिमें ही कुछ गड़बड़ है। प्रभुके अनुकूल होना ही सच्ची शरणागति है। शरण होनेपर ईश्वर तपस्वी और कसाई दोनोंका ही उद्धार करते हैं।

(३) यह सत्य है। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण कई लोगोंसे मिले थे परन्तु वह मिलना सामान्य भावसे था। सकामभाववालेको भी भगवान् मिल सकते हैं परन्तु तत्त्व जाने बिना वह मिलना तत्काल मुक्तिदायक नहीं होता। वह मिलना जिस कामके लिये होता है उसकी सिद्धि तत्काल होती है। परन्तु जो पुरुष भगवान्‌के लिये ही भगवान्‌को भजता है उसे जब भगवान् मिलते हैं तभी उसका उद्धार हो जाता है, यही असली मिलना है। परन्तु भगवान्‌का मिलन किसी-तरह भी होना उत्तम है। उसके प्रभावसे अन्तःकरण शुद्ध और पवित्र होता है, कामनाओंका नाश होता है। जिससे भगवान्‌को पहचाननेकी योग्यता प्राप्त होजाती है, तत्त्व जाना जाता है, तत्त्व जानते ही वह मिलन मुक्तिदायक हो जाता है। भगवान् आतुरको भी उसकी आर्तप्रार्थनाके प्रभावसे मिल सकते हैं।

(४) इसका यह मतलब नहीं कि भगवान् पाप पुण्य या बुरे भले कर्म करवाते हैं। भगवान् तो जीवोंके स्वभावानुसार कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हैं। दिनके समस्त कार्य सूर्यके प्रकाशमें होते हैं। परन्तु सूर्य किसीके पाप पुण्य-का हेतु नहीं है। कर्ताके बन्धनमें कर्म प्रधान नहीं हैं उसमें प्रधान भाव है। अपने अपने स्वभावके अनुसार न्याययुक्त शास्त्रनियत कर्म करता हुआ कोई भी पुरुष पापसे नहीं बँधता। ईश्वरकी प्रेरणा न्यायानुकूल कर्म करनेके लिये ही होती है। पाप करानेके लिये नहीं। स्वार्थवश रागद्वेषसे की हुई चेष्टा पुण्य पापवाली होती है। इसीलिये भगवान् आज्ञा देते हैंः-

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(गीता ३। ३४)

प्रत्येक इन्द्रियके अर्थमें यानी भोगोंमें रागद्वेष स्थित है, अतएव उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये। वे दोनों ही कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं। इससे यही सिद्ध होता है भगवान् तो रागद्वेषरहित होकर स्वभावके अनुसार कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हैं। उनकी आज्ञाके अनुकूल या प्रतिकूल कर्म करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है। इसीलिये वह सुख दुःखका भोक्ता होता है और इसीकारण उसके रागद्वेषयुक्त कर्म बुरे भले माने जाते हैं।

(५) जो किसीकी आत्माको कष्ट पहुंचानेमें सर्वव्यापी समदृष्टि ईश्वरका प्रसन्न होना मानते हैं इसमें उनको समझकी ही भूल मालूम होती है। ईश्वरके नामपर किसीको मारनेसे ईश्वर-की प्रसन्नता मानना न्याययुक्त नहीं है जो न्याययुक्त नहीं सो भूल है।

(६)परमात्माके शरणागतके लिये आसनों-की कोई आवश्यकता नहीं। सिद्धको लोकसंग्रहके लिये और साधकको आलस्यनाशके लिये आसनकी, संख्यामें भूल न होनेके लिये मालाकी और धोखा न रहनेके लिये गिनतीकी आवश्यकता है।

(७) भूतप्रेतादिकी उपासनासे प्राप्त सिद्धि तामसी सिद्धि है। अन्तःकरणकी शुद्धि होनेके बाद तो अनिष्टरूप भूतप्रेतादिकी उपासनाको ही स्थान नहीं रह जाता।

(८) पूर्व प्रारब्धका सम्बन्ध समझना चाहिये। अचल डटे रहकर श्रद्धाभक्तिसे परमात्माका भजन करते रहना चाहिये। कर्मोंका भोग हो रहा है सो अच्छा ही हो रहा है। कष्टसहन और भजनसे बुरे सञ्चितका नाश और अच्छे सञ्चितकी वृद्धि हो रही है।

मातृपितृ-सेवा

(लेखक—विद्यावारिधि पं० शिवनारायणजी शास्त्री)

मातापित्रोः पदाम्भोजं प्रणमामीष्टसिद्धिदम्।
यत्प्रसादेन संसार-रङ्गेऽस्याप्यस्मि नर्त्तकः॥

"माताको देवीके समान जानो, पिता और आचार्यको देवसमान समझो" —तैत्तिरीय उपनिषद्

"इस संसारमें कौन मनुष्य अपनी देह उत्पन्न करनेवाले पिताके उपकारका बदला दे सकता है। पिताके मनका भाव समझकर तदनुसार काम करनेवाला पुत्र उत्तम है, पिताके कहनेपर काम करनेवाला मध्यम और श्रद्धाबिना करनेवाला अधम है। तथा जो पिताके कहनेपर भी तदनुसार काम नहीं करता उसे अधमाधम—नरक—समझना चाहिये।" —श्रीभागवत

"पितामह भीष्मने युधिष्ठिरसे कहा—"माता पिताकी भक्तिको मैं सबसे श्रेष्ठ धर्म समझता हूँ। तीनों लोक, तीनों आश्रम, तीनों वेद, तीनों अग्नि सब माता पितामें और उनसे भी बढ़कर गुरुमें मौजूद हैं। जो इन तीनोंकी भक्ति करनेसे नहीं चूकता वह तीनों लोकोंको जीत लेता है।''''''जिसने इन तीनोंका मान किया, उसने सबका किया और जिसने इनका अनादर किया, उसकी सब क्रियाएँ नष्ट हो गयीं।" —महाभारत

"मनुष्योंकी उत्पत्ति और पालन आदिमें माता पिता जो दुःख सहन करते हैं, उसका बदला सैकड़ों वर्ष सेवा करनेपर भी नहीं दिया जा सकता। अतएव सदा माता पिता और आचार्यका प्रिय कार्य करना चाहिये। इन तीनोंके सन्तुष्ट होनेसे सब तप पूरे हो जाते हैं। इन तीनोंकी सेवाका नाम परम तप है। इनकी आज्ञा लेकर दूसरे धर्मोंका आचरण करना चाहिये।" —मनु

"अपने माता पिताके साथ सम्मानपूर्वक बर्ताव करो, प्रत्येक मनुष्यको अपने माता पिताकी चिन्ता रखनी चाहिये।" —बाइबिल

"जिसने माता पिताकी सेवा की उसके लिये स्वर्गका दरवाज़ा खुला है। अपने माता-पिताको कभी कटुवचन न कहो, विनयपूर्वक उनका आदर करो और ईश्वरसे कहो कि, हे प्रभो! इन्होंने मुझे बालकपनमें पालकर बड़ा किया है अतएव तू इनका कल्याण कर।" —कुरान

"अपनी माताको किसीतरह नाराज़ नहीं करना चाहिये।" —अवस्ता

"अपने माता पिताको सबसे अधिक प्रिय जानो क्योंकि जान माल आदि सब पदार्थ तुम्हें इन्हींसे मिलते हैं।" —सिसरो

"अपने माता पिताका आदर कर, सम्बन्धियोंका आदर और शेष लोगोंमेंसे उनके सद्गुणोंको देखकर अपने मित्र पसन्द कर।" —पाइथागोरस

"कितने ही मनुष्य माता पिताकी सेवाका अर्थ केवल उनका भरण-पोषण करना समझते हैं, परन्तु भरणपोषण तो अपने कुत्ते और घोड़ेका भी किया जाता है। भक्ति नहीं है तो इन दोनोंमें अन्तर ही क्या है? भक्तिबिनाका भरणपोषण सच्ची सेवा नहीं है।" —कनफ्यूशियस

उपर्युक्त संकलित वाक्योंसे यह पता लगता है कि माता पिताकी भक्तिका संसारके सभी धर्मोंमें प्रधानरूपसे उपदेश दिया गया है। इहलौकिक माता पिताकी भक्ति करना जिन्होंने सीख लिया है वे ही इस सचराचर ब्रह्माण्डके माता-पितारूप परमेश्वरकी भक्ति करना सीख सकेंगे। माता-पिताकी भक्तिमें (१) सम्मान (२) प्रेम (३) सम्मान तथा प्रेमयुक्त सेवा (४) उनका

आज्ञापालन और (५) सभ्यता इन पांच बातोंको विशेष स्थान है। अब इन पांचोंका संक्षेपसे विवेचन किया जाता है—

सम्मान–मन, वाणी और शरीर तीनोंसे करना चाहिये। मनमें-हृदयमें माता-पिताके लिये सम्मान होना, उनके बाबत किसी अनुचित विचारका मनमें न आना, उनके दोषोंको मनमें स्थान न देना, वे हमसे बड़े हैं–उनका दोष देखना हमारा अधिकार नहीं है इसप्रकारकी भावना रखना मानसिक सम्मान है। माता-पिताके साथ बातचीतमें कभी छिछोरपन न करना, अपमानयुक्त अनुचित कटुवाणीका प्रयोग न करना, सदा नम्रतासे विनययुक्त वचन बोलना वाणीका सम्मान है। माता-पिताकी उपस्थितिमें उठने बैठने आदि सभी शारीरिक कार्योंमें आदर विनय और भलमन्साईका बर्ताव करना शारीरिक सम्मान है। ये सब दोष देखनेमें छोटे मालूम होते हैं परन्तु वास्तवमें ये हमारे हृदयमें आदरभाव न होना ही प्रकट करते हैं।

प्रेम–प्रेमबिना सम्मान सूखा है। प्रेमसे किये हुए काम ही ठीक और पूरे होते हैं। पुत्रोंका प्रेम देखकर माता पिताका मन सुखी रहता है उन्होंने पुत्रोंके पालनमें जो परिश्रम उठाया है वह पुत्रोंका अपने प्रति प्रेम देखकर हलका हो जाता है। मातापिता चाहे निर्धन हों चाहे उनका जीवन बहुत सफल न रहा हो, चाहे वे किसी दूसरी विपत्तिमें हों परन्तु पुत्र यदि श्रद्धासे उनकी सेवा करते हों तो उनका दुःख बहुत कुछ हलका पड़ जाता है, उनकी आत्माको बड़ी शान्ति मिलती है।

सेवा–वास्तविक हृदयके सम्मान और प्रेमसे सेवा तो आपसे आप पैदा होती है। किस उपायसे माता-पिताका कष्ट कम होगा, इस बातकी चिन्ता पुत्रोंको सदा रखनी चाहिये। बचपनमें हमारे पालनपोषणमें माता-पिताने कितना कष्ट उठाया है इस बातको कभी न भूलना चाहिये।

आज्ञा-पालन–माता-पिताकी आज्ञाका आदर-पूर्वक तुरन्त पालन करना चाहिये। क्योंकि पुत्र माता-पिताका बालक है, गुलाम नहीं। इनकी आज्ञा मेरी इच्छाके प्रतिकूल है या आज्ञा-पालनसे मुझे कष्ट होगा इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

सभ्यता–(क) माता-पिता और गुरुजनोंको नित्य प्रणाम करना चाहिये। प्रणामका ढंग लापरवाहीका न होना चाहिये। प्रणामके समय श्रद्धा भक्ति और प्रेमका होना आवश्यक है। पूज्योंके अभिवादनसे आयु, कीर्ति, यश और बलकी वृद्धि होती है। मनुमहाराज कहते हैं-

"अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुःकीर्तिर्यशो बलम्॥"

(ख) अपने पूज्य या मुखिया व्यक्तिके खड़े होनेपर सबको जो वहां मौजूद हों, खड़े हो जाना चाहिये। अपने पूज्य पुरुषोंके सामने पैरपर पैर रखकर मत बैठो और न उनसे उच्च आसनपर ही बैठो। पदमें, उम्रमें, मानमें, विद्यामें और वर्णमें बड़े मनुष्योंको सदा पूज्य और मान्य समझना चाहिये।

(ग) जब कोई पूज्य पुरुष अपने यहां आवे, तब उसे उठकर मान दो और यदि स्वयं किसी ऊंचे आसनपर बैठे हो तब उसे उसपर बैठाकर स्वयं किसी नीचे आसनपर बैठो। धर्मशास्त्रके वचन हैं–

अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम्।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात्॥

(घ) अपनेसे बड़े तथा मान्य पुरुषोंके साथ शान्ति, नम्रता और अत्यन्त बुद्धिमानीसे बातचीत करनी चाहिये, ऐसा न हो कि आप उनकी नज़रमें उद्दण्ड, मूर्ख या घमण्डी ठहरें।

मातृ-पितृसेवकोंके कुछ दृष्टान्त

प्राचीनकालमें राजा जनककी राजधानी मिथिलानगरीमें एक ज्ञानी व्याध रहता था। इसकी प्रशंसा सुनकर इससे ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे कौशिकऋषि मिथिलानगरी गये। नगरीमें पहुंचकर उन्होंने उसका पता पूछा। नगरके सभी धार्मिक पुरुष कसाई-भगतका नाम जानते थे। लोगोंने तुरन्त उसका घर बतला दिया। ऋषि व्याधके घर गये और वहाँ उसके मुखसे ज्ञान सुना। कौशिकऋषिको अचरजमें भरे हुए देखकर व्याध बोला, "महाराज। मैंने अभीतक आपसे जो कुछ कहा वह तो मुखसे कहा। अब मैं आपको सब धर्मोंका सार प्रत्यक्ष दिखाता हूँ", चलकर देखिये! इतना कहकर वह कौशिकऋषिको अपने घरके भीतर ले गया। वहां एक बड़े और सुन्दर कमरेमें धर्मव्याधके माता-पिता भोजनकर सफेद कपड़े पहन एक उत्तम आसनपर बैठे थे। व्याधने अपने माता-पिताके दर्शनकर और उनके चरणोंमें मस्तक नवाकर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। माता-पिताने आशीर्वाद दिया, 'दीर्घायु हो, धर्म तेरी रक्षा करे।' फिर व्याधने कौशिकऋषिको अपने माता-पितासे मिलाया और उनसे कहा कि, हे ऋषिवर! मेरे तो देव, यज्ञ, वेद जो कुछ भी हैं सो यह माता-पिता ही हैं। मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरे मित्र हम सब इनकी सेवामें लगे रहते हैं। मैं अपने हाथसे इनको स्नान कराता हूं और मैं ही नित्य भोजन कराता हूं मेरा ऐसा विश्वास है कि जो अपना भला चाहे उसे माता-पिताकी सेवा करनी चाहिये। यही सनातन धर्म है।

अयोध्यापति महाराज दशरथके जेष्ठपुत्र भगवान् रामचन्द्रजीने अपने पिताके वचनको सत्य करनेके लिये राजपाट छोड़ वन-गमन-करके पितृ-भक्तिकी पराकाष्ठा दिखला दी। महात्मा भीम माताकी आज्ञा पाकर राक्षसके मुखमें जानेसे भी विचलित नहीं हुए। शान्तनु-तनय देवव्रतने पिताकी तृप्तिके लिये पैतृक साम्राज्यको त्याग दिया और जीवनभर अविवाहित रहकर कठोर ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया, जिससे अभीतक वह भीष्मपितामहके नामसे प्रातःस्मरणीय हो रहे हैं। ऐसे ही श्रवणने अपने अन्धे माता-पिताको डोलीमें बैठाकर और डोलीको अपने कंधेपर रखकर उन्हें सब देशोंके तीर्थ कराये। ऐसे ऐसे सैकड़ों मातृ-पितृभक्तिके उदाहरण हमारे यहां पुराणादि ग्रन्थोंमें मिलते हैं, उन सबको यदि लिखा जाय तो एक बड़ी भारी पुस्तक ही बन सकती है।' बुद्धिमानोंके लिये इतना ही बहुत है।

इन सब दृष्टान्तोंमें "चाहे जितना कष्ट मिले पर उसे भी सहकर माता-पिताकी सेवा करनी चाहिये" यही बात दिखलायी गयी है और हमें चाहिये कि हम इसको हृदयमें धारण करें। हमारे साधारण व्यवहारमें ईश्वर कभी ऐसी कठिन कसौटीपर भी हमें नहीं कसता। माता-पिताकी आज्ञा मानो, उनको सुखी रक्खो और उनकी छोटीसे छोटी सेवा बहुत चिन्ता और भक्तिके साथ करो, इतना ही बहुत है। यही ईश्वर हमसे चाहता है। क्या हमसे इतना भी नहीं बन सकता? अस्तु, हमें चाहिये कि मन, वचन और कर्मसे उनके आज्ञानुवर्ती रहकर सदा उनकी सेवा-सुश्रूषामें लगे रहें, देवता समझकर उनकी भक्ति करें और जब वे वृद्ध हो जायँ तब उनकी सारी असुविधाओंको दूर करनेके लिये अपनेको उनकी बुढ़ापेकी लकड़ी बनादें। यदि हमसे उनकी आत्माको सन्तोष मिला तो समझो कि हमारा जीवन सार्थक हो गया। खूब याद रक्खो कि उनके आशीर्वाद और शापमें ही हमारा उदय और अस्त है मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी यह वाणी प्रत्येक व्यक्तिको अपने कण्ठकी माला बनाकर धारण कर लेनी चाहियेः—

असृष्ट यो यश्च भयेष्वरक्षी-
 यः सर्वदास्मानयुषत्स्वयोषम्।
महोपकारस्य किमस्ति तस्य,
 तुच्छेन यानेन वनस्य मोक्षः ॥१॥

विद्युत्प्रणाशं स वरं प्रणष्टो,
यद्वोर्ध्वशोषं तृणवद्विशुष्कः।
अर्थे दुरापे किमुत प्रवासे,
न शासने तिष्ठति यो गुरूणाम् ॥२॥

जिस पिताने हमको उत्पन्न किया और अग्नि, सर्पादिसे हमारी रक्षा की तथा सर्वदा ही हमारा पोषण किया ऐसे महोपकारी पिताकी आज्ञा मानकर यदि हम वनको चले जावें तो क्या इतनेसे ही हम पिताके ऋणसे छूट गये? यह तो केवल वन जाना है, पिता कोई ऐसे कार्यकी भी आज्ञा दें कि जो संसारमें अति कष्टसाध्य है, और उसको पुत्र न करे तो ऐसे पुत्रको ऊपरसे सूखे घासकी भांति या बिजली चमककर छिप जानेकी रीतिसे अति शीघ्र मर जाना ही उत्तम है। जिस पुत्रने पिताकी आज्ञा ही न मानी, न मालूम वह संसारमें क्या क्या अनर्थ कर डालेगा* अतएव सबको मातृ-पितृ-सेवामें तत्पर रहना चाहिये।

माता

माता सोलह प्रकारकी हैं। जैसेः—

स्तनदात्री गर्भधात्री भक्ष्यदात्री गुरु-प्रिया। अभीष्टदेवपत्नी च पितुः पत्नी च कन्यका ॥१॥
सगर्भजा या भगिनी पुत्रपत्नी प्रियाप्रसूः। मातुर्माता पितुर्माता सोदरस्य प्रिया तथा ॥२॥
मातुः पितुश्च भगिनी मातुलानी तथैव च। जनानां वेदविहिता मातरः षोडश स्मृताः ॥३॥

(१) स्तन पिलानेवाली (२) गर्भ धारण करनेवाली (३) भोजन देनेवाली (४) गुरुकी स्त्री (५) अभीष्टदेवकी पत्नी (६) पिताकी पत्नी (विमाता) (७) पितृकन्या (सौतेली बहन) (८) सहोदरा बहन (९) पुत्रकी पत्नी (१०) सास (११) नानी (१२) दादी (१३) भौजाई (१४-१५) माता और पिताकी बहन (मौसी और बुआ) और (१६) मामी, ये सोलह माताएँ कही गयी हैं अर्थात् ये भी माताके समान पूजनीया हैं।

एक जगह ऐसा कहा है—

राजपत्नी गुरोः पत्नी मित्रपत्नी तथैव च। पत्नीमाता स्वमाता च पञ्चैता मातरः स्मृताः ॥

राजाकी पत्नी, गुरुकी पत्नी, मित्रपत्नी, सास और जननी माता ये पांच माताएं कही गयी हैं।

पिता

चाणक्यने पांच प्रकारके पिता बतलाये हैं।

अन्नदाता भयात्त्राता यस्य कन्या विवाहिता। जनयिता चोपनेता च पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥१॥

(१) अन्न देनेवाला (२) भयसे बचानेवाला (३) श्वशुर (४) जन्म देनेवाला और (५) यज्ञोपवीत संस्कार करानेवाला, ये पांच प्रकारके पिता हैं अर्थात् पिताके समान पूजनीय हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराणमें सप्त पिताका विषय लिखा है।

कन्यादाताऽन्नदाता च ज्ञानदाताभयप्रदः। जन्मदो मन्त्रदो ज्येष्ठभ्राता च पितरः स्मृताः ॥

अर्थ—(१) लड़की देनेवाला (२) अन्न देनेवाला (३) ज्ञान देनेवाला (४) अभयदान देनेवाला (५) मन्त्रदाता, (६) जन्म देनेवाला और (७) जेष्ठ भ्राता ये सात पिताके सदृश हैं।

विवेक-वाटिका

जो पापोंसे छूटे हुए हैं, जिनकी इन्द्रियां शान्त हैं और जो समाहितचित्त हैं वे ही पुरुष सद्गुरुकी कृपासे ज्ञानद्वारा परमात्माको प्राप्त करते हैं। –उपनिषद्

* * * *

जैसे अग्नि जाने या बिनाजाने लकड़ीको जला देता है वैसे ही जाने या बिनाजाने लिया हुआ भगवान् हरिका नाम मनुष्यके पापको हर लेता है। –भागवत

* * * *

जो मनुष्य पहलेके पापोंका विचार न करके बराबर पाप ही करता रहता है उस खोटी बुद्धिवाले मनुष्यको यमदूतोंद्वारा नरकमें गिरना पड़ता है। –महाभारत

* * * *

नम्रताके तीन लक्षण हैं-(१) कड़वी बातका मीठा जवाब देना (२) क्रोधके भड़कनेपर चुप रहना और (३) दण्डके भागीको दण्ड देते समय चित्त कोमल रखना।

–बुजुरचेमिहर

* * * *

जिनका जीवन आधार ईश्वर नहीं वे मर हैं और जिनका जीवनाधार ईश्वर है वे अमर हैं। –ईसा

* * * *

उस दुष्ट और नीचके साथ भी, जो तुम्हें दुःख देता है, तुम भलाई करो क्योंकि सच्चा आनन्द दूसरोंको सुख देनेमें ही है। –कबीर

* * * *

सच्चे धर्मात्माकी बोली धीमी होती है क्योंकि अच्छा पुरुष कठिनताको जानता है वह अवश्य ही सम्हलकर बोलेगा। –कनफ्यूसियस

* * * *

जिसने अहंकार, क्रोध, कपट और लालचको जीत लिया वही सच्चा शूरवीर है। –जैनसूत्र

* * * *

जैसा दूसरेको उपदेश दे वैसा पहले अपनेको बना लेना चाहिये, क्योंकि जिसने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें कर लिया, वह दूसरोंको भी वशमें कर सकता है, कठिन काम अपने आपको जीतना है। –धम्मपद

* * * *

संसार क्षणभंगुर है, एक पलका भी भरोसा नहीं, इसलिये जो भलाई करनी हो, तुरन्त कर डालो।

–दादूजी

* * * *

मायामरीचिकाके समान भासनेवाले इस जगत्में केवल भगवान्का भजन ही सार है। –नानक

* * * *

घमंड या अहंकार मूर्खताकी निशानी है। जिस जगह शरीरमें खूनकी कमी होती है वहां वायु भरकर शरीर फूल जाता है, ऐसे ही जहां बुद्धिका घाटा है, वहां अहंकार भरकर मन फूल उठता है। बेकन

* * * *

मर्यादासे चलो, कभी सीमाके बाहर मत जाओ। अपनी हानि करनेवालेको भी जहांतक बन पड़े, क्षमा करो।

–बेन्जामिन फ्रैंकलिन

* * * *

चार प्रकारके मनुष्य मालिकको विशेष प्रिय हैं-(१) आसक्तिरहित विद्वान्, (२) तत्त्वज्ञानी महात्मा, (३) नम्र धनी और (४) मालिककी महिमा जाननेवाला त्यागी।

–सूरी बसरी

* * * *

बलिहार होना क्या है? अपना बल हारकर सच्चा दीन, अधीन और अन्तरसे प्रभुके आश्रित हो जाना। इसीका नाम पूर्ण शरणागति है। –राधास्वामी

* * * *

मन पांच प्रकारके होते हैं-(१) मुर्दा मन जैसे नास्तिकोंका, (२) रोगी मन जैसे पापियोंका, (३) अचेत मन जैसे पेटभरोंका (४) उल्टा मन जैसे ब्याजकी कमाई खानेवालोंका और (५) स्वस्थ मन जैसे सन्तोंका।

–पारसभाग

* * * *

शुभ कर्म करनेका स्वभाव ऐसा धन है जिसे न शत्रु छीन सकता है और न चोर चुरा सकता है।

–मारकस आरिलियस

* * * *

भगवन्नाम-मणि और भगवत्-शरण

(लेखक–स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

रम प्रिय पाठक पाठिकाओ! आप लोगोंमें कोई वेदपाठी, कोई शास्त्री, कोई कविरत्न, कोई महन्त, कोई नेता, कोई राजाबाबू, कोई कोट्यधीश सेठ साहूकार और कोई हाकिमसूबा आदि सभी एकसे एक बढ़कर बुद्धिशाली होंगे। पाठिकाओंमें कोई सती, कोई पतिव्रता, कोई पण्डिता, कोई राजरानी आदि सब धर्मको जाननेवाली एकसे एक अधिक होंगी। क्योंकि सभी परमबुद्धिशाली एक परमेश्वरके ही अंश हैं। सबका भण्डार, सबका उद्गमस्थान एक अखण्ड बोधस्वरूप परमात्मा ही है। जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। यह बात सबको मान्य है, इस हेतुसे आप सभी चतुर हैं। सबके भीतर ईश्वर विराजमान है अतः सभी सत्यासत्यका निर्णय कर सकते हैं। एक बात इस बावलेकी भी सुन लीजिये। सत्य हो तो मानिये, नहीं तो न मानिये। मानने न माननेका अधिकार आपका है, आप स्वतन्त्र हैं।

देखिये, सामान्यसे सामान्य मनुष्य भी जब कुएँ या बावड़ीमें घुसता है तब निकलनेका पूरा यत्न करके घुसता है। जब कोई अंधेरे तहखानेमें घुसता है तो मशाल अपने साथ ले लेता है। जब कभी कोई भूलभुलैया अथवा बिना मार्गके जंगलमें प्रवेश करता है तब मार्गपर खरिया आदिसे निशान बनाता हुआ जाता है जिससे वापस आनेमें भूल न हो, जिधरसे गया है उधरसे ही सहजमें लौट आवे। जब तुच्छबुद्धि मनुष्यमें इतनी चतुराई है तब परमेश्वर जो ब्रह्माण्डभरका स्वामी, सब बुद्धियोंका साक्षी और सबसे चतुर है यदि वह कहीं प्रवेश करेगा तो क्या बिना विचारे, बिना निकलनेका उपाय सोचे या बिना मशाल लिये ही घुस जायगा। नहीं, अवश्य ही कोई न कोई रोशनी लेकर प्रवेश करेगा। यह सबको मानना ही चाहिये।

वेदमें कहा है कि ईश्वरने एकसे बहुत होनेकी इच्छा की, जगत्को रचा और जगत्में जीवरूपसे स्वयं प्रवेश किया। अब सोचना चाहिये कि जीव होकर दुःख भोगनेके लिये तो ईश्वरने प्रवेश किया ही न होगा, न जीवको दुःख देनेके लिये भी ऐसा किया होगा। कोई न कोई रोशनी लेकर ही घुसा होगा और उससे निकलनेका उपाय भी पहले ही सोच लिया होगा, यह कहा गया है कि परमेश्वर जीवके आगे आगे मशाल लिये चलता है। यदि आपको जगत्में दुःख प्रतीत होता है तो विचारिये–पता लगाइये, वह मशाल कौनसी है जो आपको जगत्से निकालकर आपके अखण्डस्वरूपमें मिला सकती है। वह मशाल शब्द या नाम है। नामरूप रोशनी जैसे जगत्का प्रकाश करती है ऐसे ही परमात्माकी प्रकाशक भी नामरूप रोशनी ही है।

एक सन्तके पास तीन मनुष्य शिष्य बननेके लिये गये, सन्तने उनसे पूछा, 'बताओ, आँख और कानमें कितना फरक है?' इसपर पहलेने कहा, 'महाराज! पांच अंगुलका फरक है।' दूसरेने कहा, 'स्वामिन्! जगत्में आँखका देखा हुआ कानके सुने हुएसे अधिक प्रमाणस्वरूप

माना जाता है यही आँख कानका भेद है।' तीसरा बोला, 'नहीं महाराज! आँख कानमें कुछ और भी भेद है, आँखसे कानकी विशेषता है। आँख लौकिक पदार्थोंको ही दिखलाती है परन्तु कान परमार्थतत्त्वको भी जतानेवाला है यह आँख कानमें भेद है।' सन्तने पहलेको शिष्य-रूपसे स्वीकार ही नहीं किया, दूसरेको उपासनाका और तीसरेको ब्रह्मस्वरूपका उपदेश किया।

उपर्युक्त दृष्टान्तसे नामकी विशेषता आपकी समझमें आगयी होगी। नामरूप रोशनी परमात्माकी प्रकाशक है। इसमें वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास और महात्माओंके अनुभव प्रमाण हैं। परन्तु जैसे जिस रुपयेपर राजाकी छाप होती है वही रुपया चलता है, वैसे ही जिन नामोंपर वेद भगवान् अथवा भगवद्भक्तोंकी छाप है वही नाम भगवत्-प्राप्ति करानेवाले होते हैं। भगवन्नाम और भगवान्में भेद नहीं है। जैसे भगवान्का माहात्म्य कोई वर्णन नहीं कर सकता। ऐसे ही नामके माहात्म्यका भी कोई कहकर पार नहीं पा सकता। जो लोग ऐसा मानते हैं कि भगवन्नामका माहात्म्य वर्णन करनेमें कवियोंने प्रौढ़ोक्ति की है, वे बड़ी भूल करते हैं। जो नाम ब्रह्माण्डभरका आधार और भगवत्की प्राप्ति करानेवाला है उसका माहात्म्य कौन वर्णन कर सकता है? सच पूछिये तो नामवाले परमात्माका जानना सहज है पर नामका जानना कठिन है, कठिन ही नहीं असम्भव है। इसीलिये गोसाईंजीने 'निर्गुण ब्रह्म सहज अति, सगुण न जाने कोय' कहकर सगुणका जानना कठिन बताया है। ऊपर यह कहा गया है कि नामरूप रोशनी भगवत्की प्राप्ति करानेवाली है–जो नामरूप रोशनी लेकर भगवत्की खोज करता है उसको अवश्य ही भगवत्की प्राप्ति होती है। नामरूप रोशनी अखण्ड प्रकाशमयी है इसलिये उसको मशाल आदि नामसे पुकारना उचित नहीं है। उसे तो मणि कहना चाहिये। उस नामरूप मणिकी शरण लेना ही भगवत्-शरण है। जिसके पास नामरूप मणि है, उसको हमेशा भगवान्के दर्शन होते हैं, अन्धकाररूप मोह कभी उसके सामने नहीं आता, तृष्णा लोभ आदि दरिद्र उसे कभी नहीं सताते, काम क्रोध आदि शत्रु उसके वश हो जाते हैं, विवेकराजा उसके अधीन रहता है, रागद्वेषादि चोर उसके हृदयरूपी घरमें कभी घुस नहीं सकते, उसे कोई मानसरोग नहीं होता, उसका मन सदा नीरोग निर्मल रहता है और वह नामरूप मणि ही उसे स्वदेश पहुंचा देती है जहां पहुंचकर वह अखण्ड सुख भोगता है!

संसार ईश्वरकी ससुरार और जीवकी नन्सार

यह सबका अनुभव है कि जो सुख घरपर मिलता है वह ससुरार या नन्सारमें नहीं मिल सकता। कहावत प्रसिद्ध है–'ससुरार सुखकी सार, अगर रहे दिना दो चार। अगर रहे महोना पखवार, हाथमें खुरपी सिरपर जार!' लोकमें यह कहावत भी है–'सात मामाका भांजा नौता ही नौता फिरता है।' यह संसार ईश्वरपिताकी ससुरार और जीव पुत्रकी नन्सार है! यहां दो तीन दिनोंसे ज्यादा सुख नहीं मिल सकता। ईश्वररूप पिता संसारको ससुरार समझता है, तभी तो सदा तटस्थ रहता है, कभी बहुत जरूरत होती है तो रूप बदल बदलाकर कुछकाल यहां रहकर चला जाता है और उसके जानेके बाद उसकी कीर्ति हमेशा गाई जाती है। पुत्रको पिताका अनुसरण करनेसे बड़ाई मिलती है, नहीं तो लोकहंसाई होती है। जब पिता ससुरारमें आना नहीं चाहता, कभी कभी पुत्रके कारण उसे आना पड़ता है, आनेके बाद भी वह बहुत दिनों-तक नहीं ठहरता, तब पुत्रको भी ऐसा करना चाहिये कि वह यहांसे ऐसा नाता तोड़कर चल दे जिससे फिर आना ही न पड़े। इसपर यदि कोई हमसे कहे कि हमें तो यहां सुख मिलता है,

तो उनसे हमारा कुछ कहना नहीं है, वे भले ही आते जाते, जन्मते मरते रहें और घास खोदते लादते रहें, जो पसन्द हो वही करें, उन्हें कौन रोक सकता है ? सुख तो यहां मिलनेवाला है नहीं, सच्चा सुख तो है घरपर ही ! यहां तो वही मसल है कि 'मूर्ख पकाते हैं विद्वान् खाते हैं।' काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, मद और अज्ञान यह सात मैके भाई जीवके मामा हैं, सातों जीवसे घास खुदवाते और मेहनत करवाते हैं और पेट अपना भर मोटे आप होते हैं। जीव इनकी दमपट्टीमें आकर दिनरात चक्करमें रहता है। घास खोदने और मज़दूरी करनेमें ही सुख मानता है, क्योंकि वह अपने घरके वास्तविक अखण्ड सुखको भूल गया है।

भाई ! तुम्हारे घरपर उपाधिरहित सुख है, फिर इस उपाधिमें क्यों पड़े हो ? वेद पुराणोंको देखो, अपने सुखरूप घरका स्मरण करो, वहीं लौट जाओ, नहीं तो जन्म जन्मान्तरमें कभी वह खुरपी और जाल छूटनेवाला नहीं है। श्रुति डंकेकी चोट कह रही है-'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति'- जो भूमा-सर्वत्र व्यापक सर्वदेशीय है वही सुख है, अल्पमें सुख नहीं है। परम हितैषिणी श्रुति भगवतीकी पुकार सुनो, बहरे मत बनो, चेत जाओ स्वार्थी मामाओंको त्याग दो और भगवत् पिताकी शरण लो ! नहीं तो पछताओगे । यह श्रुति भगवतीके शब्द मनुष्य शरीरमें ही सुने जा सकते हैं, अन्यमें नहीं। महान् पुण्यसे प्राप्त हुए इस मनुष्य शरीरका निरादर न करो । भगवत्-शरण ही सुखरूप है, अन्य कहीं सुख नहीं है। अतएव भगवत्-शरण होकर सुखी हो जाओ, साधुसंग करो, सत्शास्त्र पढ़ो, यह भी न हो सके तो इस छोटेसे बालक 'कल्याण'को गोदमें लेकर खिलाओ, यही श्रुतिवाक्योंको सुनाकर सब शंकाओंका समाधान करता हुआ आपको भगवत्के सम्मुख करेगा। भगवान्के सम्मुख होना ही भगवत्-शरण है !

भगवान् !

(रामसेवक त्रिपाठी, मैनेजिंग-एडीटर 'माधुरी')

(१)

हरित-पल्लव हिल-हिल कर सदा–
कर रहे हैं तेरा गुणगान ।
तरंगें सागरकी उत्ताल–
कर रही हैं तेरा आह्वान ।

(२)

वायुका सन-सन-मय-संगीत–
पक्षियोंका वह कलरव गान,
दे रहा हमको यह उपदेश–
'विश्वमें व्यापक हैं भगवान्' ।

(३)

जगतके कण-कणमें तव ज्योति–
प्रस्फुटित होती अतुल, महान ।
सृष्टिका यह विराटमय दृश्य–
उसी करुणाकरकी है शान ।

(४)

फला-फूला, सुगन्धसे युक्त–
रचा है कैसा कुसुमोद्यान ।
गूँजकर कहते भौंरे रोज–
'विश्व-निर्माता हैं भगवान' ।

कर्मका रहस्य

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

क सज्जनका प्रश्न है "जब यह बात निश्चित है कि हम अपने ही कर्मोंका फल भोगते हैं हमारे कर्मोंके अनुसार हमारी अच्छी या खराब बुद्धि होती है। तब हम यह किस लिये कहते हैं कि मनुष्य कुछ नहीं कर सकता, जो कुछ करता है वह ईश्वर ही करता है। ईश्वर तो हमारे कर्मोंके फलको न कम कर सकता है न ज्यादा, तब फिर हम ईश्वरका भजन ही क्यों करें ?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य अपने कर्मोंका ही फल भोगता है और उसकी बुद्धि भी प्रायः कर्मानुसार होती है। यह भी ठीक है कि कर्मोंके अनुसार बने हुए स्वभावके अनुकूल ईश्वरीय प्रेरणासे ही मनुष्य किसी भी क्रियाके करनेमें समर्थ होता है। ईश्वरीय सत्ता, शक्ति, चेतना, स्फूर्ति और प्रेरणाके अभावमें क्रिया असम्भव है। इस न्यायसे सब कुछ ईश्वर ही कराता है। यह भी युक्तियुक्त सिद्धान्त है कि ईश्वर 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्' समर्थ होनेपर भी कर्मोंके फलको न्यूनाधिक नहीं करता। इतना सब होते हुए भी ईश्वरके भजनकी बड़ी आवश्यकता है। इस विषयका विवेचन करनेसे पहले कर्म क्या हैं, उनका भोग किस तरह होता है। कर्मफलभोगमें मनुष्य स्वतन्त्र है या परतन्त्र आदि विषयोंपर कुछ विचार करना आवश्यक है।

शास्त्रकारोंने कर्म तीन प्रकारके बतलाये हैं— (१) संचित, (२) प्रारब्ध और (३) क्रियमाण। अब इनपर अलग अलग विचार कीजिये—

संचित

संचित कहते हैं अनेक जन्मोंसे लेकर अबतकके संग्रहीत कर्मोंको। मन, वाणी, शरीरसे मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह जबतक क्रियारूपमें रहता है तबतक वह क्रियमाण है और पूरा होते ही तत्काल संचित बन जाता है। जैसे एक किसान चिरकालसे खेती करता है, खेतीमें जो अनाज उत्पन्न होता है उसे वह एक कोठेमें जमा करता रहता है। इसप्रकार बहुतसे वर्षोंका विविध प्रकारका अनाज उसके कोठेमें भरा है, खेती पकते ही नया अनाज उस कोठेमें फिर आजाता है। इसमें खेती करना कर्म है और अनाजसे भरा हुआ कोठा उसका संचित है। ऐसे ही कर्म करना क्रियमाण और उसके पूरा होते ही हृदयरूप बृहत् भण्डारमें जमा हो जाना संचित है। मनुष्यकी इस अपार संचित कर्मराशिमें-से—पुण्य-पापके बड़े ढेरमेंसे कुछ कुछ अंश लेकर जो शरीर बनता है, उसमें उन भोगसे ही नाश होनेवाले कर्मोंके अंशका नाम प्रारब्ध होता है। इसीप्रकार जबतक संचित अवशेष रहता है तबतक प्रारब्ध बनता रहता है। जबतक इस अनेक जन्मार्जित कर्म-संचितका सर्वथा नाश नहीं होता, तबतक जीवकी मुक्ति नहीं होसकती। संचितसे स्फुरणा, स्फुरणासे क्रियमाण, क्रियमाणसे पुनः संचित, संचितके अंशसे प्रारब्ध। इसप्रकार कर्मप्रवाहमें जीव निरन्तर बहता ही रहता है। संचितके अनुसार ही बुद्धिकी वृत्तियां होती हैं यानी संचित ही के कारण उसीके अनुकूल हृदयमें कर्मोंके लिये प्रेरणा होती है। सात्त्विक राजस या तामस समस्त स्फुरणाओं या कर्म

प्रेरणाओंका प्रधान कारण संचित ही है। यह अवश्य जान रखनेकी बात है कि संचित केवल प्रेरणा करता है, तदनुसार कर्म करनेके लिये मनुष्यको बाध्य नहीं कर सकता। कर्म करनेमें वर्तमान समयके कर्म ही, जिन्हें पुरुषार्थ कहते हैं, प्रधान कारण है। यदि पुरुषार्थ संचितके अनुकूल होता है तो वह संचितद्वारा उत्पन्न हुई कर्म-प्रेरणामें सहायक होकर वैसा ही कर्म करा देता है, प्रतिकूल होता है तो उस प्रेरणाको रोक देता है। जैसे किसीके मनमें बुरे संचितसे चोरी करनेकी स्फुरणा हुई, दूसरेके धनपर मन चला परन्तु अच्छे सत्संग, विचार और शुभ वातावरणके प्रभावसे वह स्फुरणा वहीं दबकर नष्ट हो गयी। इसीप्रकार शुभ संचितसे दानकी इच्छा हुई, परन्तु वह भी वर्तमानके कुसंगियोंकी बुरी सलाहसे दबकर नष्ट हो गयी। मतलब यह कि कर्म होनेमें वर्तमान पुरुषार्थ ही प्रधान कारण है। इस समयके शुभसंग और शुभविचारजनित कर्मोंके नवीन शुभसंचित बनकर पुराने संचितको दबा देते हैं जिससे पुराने संचितके अनुसार स्फुरणा बहुत कम होने लगती है।

किसानके कोठेमें वर्षोंका अनाज भरा है अबकी बार किसानने नयी खेतीका अनाज उसमें और भर दिया, अब यदि उसे अनाज निकालना होगा तो सबसे पहले वही निकलेगा जो नया होगा क्योंकि वही सबसे आगे है। इसीप्रकार संचितके विशाल ढेरमेंसे सबसे पहले उसीके अनुसार मनमें स्फुरणा होगी जो संचित नयेसे नये कर्मका होगा। मनमें मनुष्यके बहुत विचार भरे हैं परन्तु उसे अधिक स्मृति उन्हीं विचारोंकी होती है जिनमें वह अपना समय वर्तमानमें विशेष लगा रहा है। एक आदमी साधुसेवी है, परन्तु कुसंगवश वह नाटक देखने लगा। इससे उसे नाटकोंके दृश्य ही याद आने लगे-जिस तरहकी स्फुरणा मनुष्यके मनमें होती है, यदि पुरुषार्थ उसके प्रतिकूल नहीं होता तो, प्रायः उसीके अनुसार वह कर्म करता है, कर्मका वैसा ही नया संचित होता है, उससे फिर वैसी ही स्फुरणा होती है पुनः वैसे ही कर्म बनते हैं। नाटक देखनेसे उसीकी स्मृति हुई, फिर देखनेकी स्फुरणा हुई, संग अनुकूल था, अतः पुनः देखने गया, पुनः उसीकी स्मृति और स्फुरणा हुई, पुनः नाटक देखने गया। यों होते होते तो वह मनुष्य साधुसेवारूपी सत्कर्मको छोड़ बैठा और धीरे धीरे उसकी बात भी वह प्रायः भूल गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि सत्संग सदुपदेश सद्विचार आदिसे उत्पन्न वर्तमान कर्मोंसे पूर्वसंचितकी स्फुरणाएँ दब जाती हैं, इसीसे यह कहा जाता है कि मनुष्य संचित-के संग्रह, परिवर्तन और उसकी क्षयवृद्धिमें प्रायः स्वतन्त्र है।

अन्तःकरणमें कुछ स्फुरणाएँ प्रारब्धसे भी होती हैं। यद्यपि यह निर्णय करना बहुत कठिन है कि कौनसी स्फुरणा संचितकी है और कौनसी प्रारब्धकी है परन्तु साधारणतः यों समझना चाहिये कि जो स्फुरणा या वासना नवीन पाप पुण्यके करनेमें हेतुरूप होती हैं उनका कारण संचित है और जो केवल सुख दुःख भुगताने-वाली होती हैं वे प्रारब्धसे होती हैं। प्रारब्धसे होनेवाली वासनासे सुख दुःखोंका भोग मानसिक-रूपसे सूक्ष्म शरीरको भी हो सकता है और स्थूलशरीरके द्वारा क्रिया होकर भी हो सकता है परन्तु इस प्रारब्धसे उत्पन्न वासनाके परिवर्तनकी स्वतन्त्रता मनुष्यको नहीं है।

प्रारब्ध

यह ऊपर कहा जा चुका है कि पाप पुण्य-रूप संचितके कुछ अंशसे एक जन्मके लिये प्रारब्धभोग भुगतानेके लिये बनता है। यह भोग दो प्रकारसे भोगा जाता है मानसिक वासनासे और स्थूलशरीरकी क्रियाओंसे। स्वप्नादिमें या अन्य समय जो तरह तरहकी वृत्ति-तरंगें चित्तमें उठती हैं उनसे जो सुख

दुःखका भोग होता है वह मानसिक है। एक व्यापारीने अनाज खरीदा, मनमें आया कि अबकी बार इस अनाजमें इतना नफ़ा हो गया तो ज़मीन खरीदकर मकान बनवाऊंगा, नफेके कई कारणोंकी कल्पना भी हो गयी, मन आनन्द-से भर गया, दूसरे ही क्षण मनमें आया कि यदि कहीं भाव मन्दा हो गया, घाटा लगा तो महाजनकी रकम भरनेके लिये घरद्वार बेचनेकी नौबत आजायगी, मनमें चिन्ता हुई, चेहरा उतर गया। चित्तमें इसतरहकी सुख दुःख उत्पन्न करनेवाली विविध तरंगें क्षण-क्षणमें उठा करती हैं। ऊपरका सारा साज सामान ठीक है। दुःखका कोई कारण नज़र नहीं आता, परन्तु मानसिक चिन्तासे मनुष्य बहुधा दुःखी देखे जाते हैं लोगोंको उनके चेहरे उतरे हुए देखकर आश्चर्य होता है। इसीप्रकार सब प्रकार-के बाह्य अभावोंमें दुःखके अनेक कारण उपस्थित होनेपर भी मानसिक प्रसन्नतासे समय समयपर मनुष्य सुखी होते हैं। पुत्रकी मृत्युपर कराहते हुए मनुष्यके मुखपर भी चित्त-वृत्तिके बदल जानेसे क्षणभरके लिये हँसीको रेखा देखी जाती है। यही प्रारब्धका मानसिकभोग है।

प्रारब्ध भोगका दूसरा प्रकार सुख-दुःखरूप इष्ट अनिष्ट पदार्थोंका प्राप्त होना है। सुख-दुःखरूप प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है। जिनको अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छाप्रारब्ध कहते हैं।

अनिच्छा—राह चलते हुए मनुष्यपर किसी मकानकी दीवालका टूटकर गिर पड़ना, बिजली पड़ जाना, वृक्ष टूट पड़ना, घरमें बैठे हुएपर छत टूट पड़ना, हाथसे अकस्मात् बन्दूक छूटकर गोली लगजाना आदि दुःखरूप और राह चलते हुएको रत्न मिलजाना, खेत जोततेको ज़मीनसे धन मिलना आदि सुखरूप भोग जिनके प्राप्त करनेकी न मनमें इच्छा की थी और न किसी दूसरेकी ही ऐसी इच्छा थी, इसप्रकारसे अनायास दैवयोगसे आपसे आप सुखदुःखादि-रूप भोगोंका प्राप्त होना अनिच्छाप्रारब्ध है।

परेच्छा—सोये हुए मनुष्यपर चोर डाकुओंका आक्रमण होना, जानबूझकर किसीके द्वारा दुःख दिया जाना आदि दुःखरूप और कुमार्गमें जाते हुएको सत्पुरुषका रोककर बचादेना, कुपथ्य करते हुए रोगीको हाथ पकड़कर वैद्य या मित्र-द्वारा रोकाजाना, बिना ही इच्छाके दूसरेके द्वारा धन मिल जाना आदि सुखरूप भोग जो दूसरों-की इच्छासे प्राप्त होते हैं उसका नाम परेच्छा-प्रारब्ध है। इसमें एक बात बहुत समझनेकी है। एक मनुष्यको किसीने चोट पहुंचायी या किसी मनुष्यने किसीके घरमें चोरी की इसमें उस मनुष्यको चोट लगना या उसके घरमें चोरी होना तो उनके प्रारब्धका भोग है परन्तु जिसने आघात पहुंचाया और चोरी की, उसने अवश्य ही नवीन कर्म किया है, जिसका फल उसे आगे भोगना पड़ेगा। क्योंकि किसी भी कर्मके भोगका हेतु पहलेसे निश्चित नहीं होता, यदि हेतु निश्चित हो जाय और यह विधान कर दिया जाय कि अमुक पुरुष अमुकके घरमें चोरी करेगा, अमुक-को चोट पहुंचावेगा तो फिर ऐसे लोग निर्दोष ठहरते हैं, क्योंकि वे तो ईश्वरीयविधानके वश होकर चोरी डकैती आदि करते हैं। यदि यही बात है तो फिर ऐसे लोगोंके लिये शास्त्रोंमें दण्डविधान और इन कर्मोंके फलभोगकी व्यवस्था क्यों है ?

इसलिये यह मानना चाहिये कि फलभोगके सभी हेतु पहलेसे निश्चित नहीं रहते। जिस क्रियामें कोई अन्याय या स्वार्थ रहता है जो आसक्तिसे किया जाता है वह क्रिया अवश्य नवीन कर्म है। हाँ,यदि ईश्वर किसी व्यक्ति विशेषको ही किसीके मारनेमें हेतु बनाना चाहे तो वह फांसीका दण्ड पाये हुए व्यक्तिको फांसीपर चढ़ानेवाले न्याय-कर्ममें नियुक्त जल्लादकी भांति किसीको हेतु बना सकते हैं। हो सकता है उस फांसी चढ़ानेवालेको चढ़नेवाला पूर्वके किसी जन्ममें

मार चुका हो या यह भी हो सकता है कि उससे उसका कोई सम्बन्ध न हो, वह केवल न्याययुक्त कर्म ही करता हो।

स्वेच्छा-ऋतुकालमें भार्यागमनादिद्वारा सुख-प्राप्त होना, उससे पुत्र होना, न होना या होकर मर जाना; न्याययुक्त व्यापारमें कष्ट स्वीकार करना, उससे लाभ होना, न होना या होकर नष्ट हो जाना आदि स्वेच्छाप्रारब्ध है। इन कर्मोंके करनेके लिये जो प्रेरणात्मक वासना होती है उसका कारण प्रारब्ध है। तदनन्तर क्रिया होती है। क्रियाका सिद्ध होना न होना, सुकृत दुष्कृतका फल है।

स्वेच्छाप्रारब्धके भोगोंके कारणको समझ लेना बड़ा ही कठिन विषय है। बड़े सूक्ष्म विचार और भांति भांतिके तर्कोंका आश्रय लेनेपर निश्चितरूपसे यह कहना नितान्त कठिन है कि अमुक फलभोग हमारे पूर्व-जन्मकृत कर्मोंका फल है जो उनकी प्रेरणासे क्रिया होकर मिला है, या इसी जन्मका कोई कर्म हाथों हाथ संचितसे प्रारब्ध बनकर इसमें कारण हुआ है।

एक मनुष्यने पुत्रकी प्राप्तिके लिये पुत्र्येष्टि या धनलाभके लिये किसी यज्ञका अनुष्ठान किया। तदनन्तर उसे पुत्र या धनकी प्राप्ति हुई। इस पुत्र या धनकी प्राप्तिमें यज्ञ कारण है या पूर्वजन्मकृत कर्म कारण है इसका निर्णय करना कठिन है। सम्भव है कि, उसे पुत्रधन पूर्वजन्मकृत कर्मके फलरूपमें मिला हो और वर्तमानके यज्ञका फल आगे मिले अथवा क्रियावैगुण्यसे उसका फल नष्ट हो गया हो। एक आदमी रोगनिवृत्तिके लिये औषध सेवन करता है, उसकी बीमारी मिट जाती है, इसमें यह समझना कठिन है कि यह उस औषधका फल है या भोग समाप्त होनेपर स्वतः ही 'काकतालीय' न्यायवत् ऐसा हो गया है*। तथापि यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि जो कुछ भी हो, है सब स्वेच्छाकृत कर्मोंके प्रारब्धका फल। कर्मोंका फल अभी हो या आगे हो, यह कोई नियत बात नहीं है, सर्वथा ईश्वराधीन है इसमें जीवकी पूर्ण परतन्त्रता है। इस जीवनमें पाप करनेवाले लोग धनपुत्रमानादिसे सुखी देखे जाते हैं, (यद्यपि उनमें कितनोंको मानसिक दुःख बहुत भारी हो सकता है जिसका हमें पता नहीं) और पुण्य करनेवाले सांसारिक पदार्थोंके अभावसे दुखी देखे जाते हैं, (उनमें भी कितने ही मानसिक सुखी होते हैं) जिससे पाप पुण्यके फलमें लोगोंको सन्देह होता है। वहां यह समझ रखना चाहिये कि उनके वर्तमान बुरे भले कर्मोंका फल आगे मिलनेवाला है। अभी पूर्वजन्मकृत कर्मोंका अच्छा बुरा फल प्राप्त हो रहा है†।

कहा जाता है कि जो कर्म अधिक बलवान् होता है उसका फल तुरन्त होता है और जो साधारण है उसका विलम्बसे होता है परन्तु यह नियम भी सब जगह लागू पड़ता नहीं देखा जाता अतएव यहां यही कहना पड़ता है कि त्रिकालदर्शी जगन्नियन्ता परमात्माके सिवा तर्क युक्तियोंके बलपर मनुष्य स्वेच्छा प्रारब्धका निर्णय नहीं कर सकता। कर्म और फलका संयमन करनेवाले योगी ईश्वरकृपासे अपनी योगशक्तिके द्वारा कुछ जान भी सकते हैं।

---

* बीमारी पूर्वकृत पापके फलस्वरूप भी होती है और इस समयके कुपथ्य सेवनादिसे भी। कुपथ्यादिसे होनेवाली बीमारी औषधसे प्रायः नष्ट हो जाती है पर कर्मजन्य-रोग भोग समाप्त होनेतक दूर नहीं होता परन्तु इस बातका निर्णय होना कठिन है कि कौनसी बीमारी कर्मजन्य है और कौनसी कुपथ्यजन्य, इसलिये औषध सेवन सभी बीमारियोंमें करना चाहिये। —लेखक

† इसका विषयविवेचन देखना हो तो 'कल्याण' तृतीय वर्षके और अंकोंमें प्रकाशित "क्या ईश्वरके घर न्याय नहीं है" शीर्षक लेखमें देखना चाहिये। —सम्पादक

क्रियमाण

अपनी इच्छासे जो बुरे भले नवीन कर्म किये जाते हैं उन्हें क्रियमाण कहते हैं। क्रियमाण कर्मोंमें प्रधान हेतु संचित है, कहीं कहीं अपना या पराया प्रारब्ध भी हेतु बन जाता है। क्रियमाण कर्ममें मनुष्य ईश्वरके नियमोंसे बँधा होनेपर क्रिया सम्पन्न करनेमें प्रायः स्वतन्त्र है। नियमोंका पालन करना, न करना उसके अधिकारमें है। इसीसे उसे फलभोगके लिये भी बाध्य होना पड़ता है।

यदि कोई यह कहे कि हमारेद्वारा जो अच्छे बुरे कर्म हो रहे हैं सो सब ईश्वर या प्रारब्धसे होते हैं तो उसका ऐसा कहना भ्रमात्मक है। पुण्य पाप करानेमें ईश्वर या प्रारब्धको हेतु माननेसे प्रधानतः चार दोष आते हैं जो निर्विकार, निरपेक्ष, समदर्शी, दयालु, न्यायकारी और उदासीन ईश्वरके लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं।

(१) जब ईश्वर या प्रारब्ध ही बुरे भले कर्म कराते हैं तब विधिनिषेध बतलानेवाले शास्त्रोंकी क्या आवश्यकता है? 'सत्यं वद, धर्मं चर, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव' और 'सुरां न पिबेत् परदारानभि न गच्छेत्' आदि विधि-निषेधमय वाक्यों-का उल्लंघनकर मनमाना यथेच्छाचार करनेवाले पापपरायण व्यक्ति यह अनायास कह सकते हैं कि हम तो प्रारब्धके नियन्ता ईश्वरकी प्रेरणासे ही ऐसा कर रहे हैं। अतएव ईश्वरपर शास्त्रहननका दोष आता है।

(२) जब ईश्वर ही सब प्रकारके कर्म करवाता है तब उन कर्मोंका फल सुखदुःख हमें क्यों होना चाहिये? जो ईश्वर कर्म कराता है उसे ही फल-भोगका दायित्व स्वीकार करना चाहिये ऐसा न करके वह ईश्वर अपना दोष दूसरोंपर डालनेके लिये दोषी ठहरता है।

(३) ईश्वरके न्यायकारी और दयालु होनेमें दोष आता है, क्योंकि कोई भी न्यायकर्ता पापके दण्डविधानमें पुनः पाप करनेकी व्यवस्था नहीं दे सकता। यदि पाप करनेकी व्यवस्था कर दी तो फिर पापियोंके लिये दण्डकी व्यवस्था करना अन्याय सिद्ध होता है। फिर यदि ईश्वर ही पाप कराता है—पापमें हेतु बनता है और फिर दण्ड देता है तब तो अन्यायी होनेके साथ ही निर्दयी भी बनता है।

(४) ईश्वर ही जब पापीके लिये पुनः पाप करनेका विधान करता है तब जीवके कभी पापोंसे मुक्त होनेका तो कोई उपाय ही नहीं रह जाता। पापका फल पाप, उसका फल पुनः पाप, इस तरह जीव पापमें ही प्रवृत्त रहनेके लिये बाध्य होता है जिससे एक तो अनवस्थाका दोष और दूसरे ईश्वर जीवोंको पापबन्धनमें रखना चाहता है, यह दोष आता है।

अतः यह मानना उचित नहीं कि ईश्वर पाप पुण्य कराते हैं। पाप कर्मके लिये तो ईश्वरकी कभी प्रेरणा ही नहीं होती, पुण्यके लिये—सत्कर्मोंके लिये ईश्वरका आदेश है परन्तु उसका पालन करना, न करना या विपरीत करना हमारे अधिकारमें है। सरकारी अफसर क़ानूनके अनुसार चलता हुआ प्रजारक्षणका अधिकारी है परन्तु अधिकारारूढ़ होकर उसका सदुपयोग या दुरुपयोग करना उसके अधिकारमें है, यद्यपि वह क़ानूनसे बँधा है तथा क़ानून तोड़ने-पर दण्डका पात्र भी होता है, वही हालत कर्म करनेमें मनुष्यके अधिकारकी है।*

ईश्वर सामान्यरूपसे सन्मार्गका नित्य प्रेरक होनेके कारण जीवके कल्याणमें सहायक होता है। पापकर्मोंके होनेमें प्रधान हेतु निरन्तर विषयचिन्तन है इसीसे रजोगुणसमुद्भूत

* इस विषयका विशेष विवेचन 'कल्याणके' तीसरे वर्षकी चतुर्थ संख्यामें प्रकाशित 'मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है या परतन्त्र' शीर्षक लेखमें किया गया है वहां देखना चाहिये।

कामकी उत्पत्ति होती है, उस कामसे ही क्रोध आदि दोष उत्पन्न होकर जीवकी अधोगतिमें कारण होते हैं । भगवान्‌ने कहा है-

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्‌बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
(गीता २ । ६२-६३)

विषयोंको चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है, कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे अविवेक अर्थात् मूढ़भाव उत्पन्न होता है, अविवेकसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृतिके भ्रमित हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है, और बुद्धिके नाशसे यह पुरुष अपने श्रेयसाधनसे गिर जाता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि पापकर्मोंके होनेमें विषयचिन्तनजनित राग-आसक्ति प्रधान कारण है, ईश्वर या प्रारब्ध नहीं । चिन्तन या स्फुरण क्रियमाणके-नवीनकर्मके नवीन संचितके अनुसार पहले होता है अतः पापोंसे बचनेके लिये नवीन कर्म-शुभ करनेकी आवश्यकता है, नवीन शुभ-कर्मोंसे शुभसंचित होकर शुभका चिन्तन होगा जिससे शुभकर्मोंके होने और अशुभके रुकनेमें सहायता मिलेगी । इसीलिये अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने पुरुषार्थद्वारा पापकर्मके कारण रागरूप रजोगुणसे उत्पन्न कामका नाश करनेकी आज्ञा दी है ।-अर्जुनने भगवान्‌से पूछा-

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥
(गीता ३ । ३६)

'हे कृष्ण ! फिर यह पुरुष बलात्कारसे लगाये हुएके सदृश न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ।' इसके उत्तरमें भगवान् बोले कि-

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(गीता ३ । ३७)

'हे अर्जुन ! रजोगुणसे उत्पन्न यह काम ही क्रोध है, यही महा-अशन अर्थात् अग्निके सदृश भोगोंसे तृप्त न होनेवाला और बड़ा पापी है, इस विषयमें इसको ही तू वैरी जान ।'

आगे चलकर भगवान्‌ने धूएँसे अग्नि, मलसे दर्पण और जेरसे गर्भकी भांति ज्ञानको ढकनेवाले इस दुष्पूरणीय अग्निसदृश कामके निवासस्थान मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको बतलाकर इन्द्रियोंको वशमें करके ज्ञान विज्ञाननाशक पापी कामको मारनेकी आज्ञा दी । यदि कामको जय करनेमें जीव समर्थ न होता तो उसके लिये भगवान्‌की ओरसे इसप्रकारकी आज्ञाका दिया जाना नहीं बन सकता । अतएव भगवान्‌की आज्ञानुसार शुभकर्म शुभसंगति करनेसे क्रियमाण शुद्ध हो जाते हैं । यह क्रियमाण ही संचित और प्रारब्धके हेतुभूत हैं । इसलिये मनुष्यको क्रियमाण शुभ करनेकी चेष्टा करनी चाहिये क्योंकि इन्हींके करनेमें यह स्वतन्त्र भी है ।

त्रिविध कर्मोंका भोग बिना नाश होता है या नहीं ?

अब यह समझनेकी आवश्यकता है कि उपर्युक्त तीनों प्रकारके कर्म फलभोगसे ही नाश होते हैं या उनके नाशका और भी कोई उपाय है? इनमेंसे प्रारब्ध कर्मोंका नाश तो भोगसे ही होता है, जैसे आप्तपुरुषके वाक्य व्यर्थ नहीं जाते इसी-प्रकार प्रारब्ध-भोगोंके आरब्ध हुए-कर्मोंका नाश बिना भोगे नहीं हो सकता । भोग पूर्वोक्त अनिच्छा परेच्छा या स्वेच्छासे भी हो सकते हैं और

प्रायश्चित्तसे भी। सेवा या दण्डभोग दोनों ही छुटकारा मिलनेके उपाय हैं। संचित और क्रियमाणका नाश निष्काम भावसे किये हुए यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि सत्कर्म, प्राणायाम, श्रवण, मनन, निदिध्यासन(सत्सङ्ग भजन ध्यान) आदिरूप निष्कामभावसे की हुई परमेश्वरकी उपासनासे हो सकता है। इन सत्कर्मोंसे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर ज्ञान उत्पन्न होता है जिससे संचितकी राशि तो सूखे घासमें आग लगकर भस्म होजानेकी भांति भस्म हो जाती है।* और कोई स्वार्थ न रहनेके कारण किसी भी सांसारिक पदार्थकी कामना और कर्म करनेमें आसक्ति और अहंबुद्धि न रहजानेसे सकाम नवीन कर्म बन नहीं सकते। अतएव दोनों नष्ट हो जाते हैं।

उत्तम कर्मोंसे छुटकारा मिलना तो बहुत ही सहज है, वे तो भगवत्के अर्पण कर देनेमात्रसे ही छूट जाते हैं। जैसे एक मनुष्यने दूसरेको कुछ रुपये कर्ज दे रक्खे हैं। उसे उससे रुपये लेने हैं,इस लेनेकी भावनासे तो वह हृदयके त्यागसे छूट सकता है। 'रुपये छोड़ दिये' इस त्यागसे ही वह छूट जाता है,परन्तु जिसे रुपये देने हैं,वह इसतरह कहनेसे नहीं छूटता। इसीप्रकार जिन पापोंका दण्ड हमें भोगना है उनसे छुटकारा 'हम नहीं भोगना चाहते' यह कहनेसे नहीं होता। उनके लिये या तो भोग भोगना पड़ता है या निष्काम कर्म और निष्काम उपासना आदि करने पड़ते हैं।

किये हुए पापोंका और सकाम पुण्य कर्मोंका परस्पर हवाला नहीं पड़ता एकदूसरेके मदमें कटते नहीं। दोनोंका फल अलग अलग भोगना पड़ता है। रामलालके श्यामलालमें रुपये पावने हैं। श्यामलालने रुपये नहीं दिये। इसलिये एक दिन गुस्सेमें आकर रामलालने श्यामलालके दो जूते जमादिये। श्यामलालने अदालतमें फरियाद की। इसपर रामलालने कहा कि 'मेरे एक हज़ार रुपये रामलालमें लेने हैं, मैंने इसको दो जूते ज़रूर मारे हैं इस अपराधके बदलेके दाम काटकर बाकी रुपये मुझे दिलवा दिये जायँ।' यह सुनकर मैजिष्ट्रेट हँस पड़ा, उसने कहा, 'तुम्हारा दीवानी मुकद्दमा अलग होगा। तुम्हारे रुपये न आवें तो तुम इसपर दीवानीकोर्टमें नालिशकरके जेल भिजवा सकते हो परन्तु यहां तो जूते मारनेके लिये तुम्हें दण्ड भोगना पड़ेगा। बस, इसीप्रकार पाप पुण्यका फल अलग अलग मिलता है। सकाम पुण्यसे पाप और पापसे सकाम पुण्यका हवाला नहीं पड़ता।

कर्मका फल कौन देता है?

कुछलोग मानते हैं कि शुभाशुभ कर्मोंका फल कर्मानुसार आप ही मिल जाता है, इसमें न तो कोई नियामक ईश्वर है और न ईश्वरकी आवश्यकता ही है। परन्तु ऐसा मानना भूल है। इस मान्यतासे बहुत ही बाधाएँ आती हैं तथा यह युक्तिसंगत भी नहीं है। शुभाशुभ कर्मोंका विभागकर तदनुसार फलकी व्यवस्था करनेवाले नियामकके अभावमें कर्मका भोग होना ही संभव नहीं है। क्योंकि कर्म तो जड़ होनेके कारण नियामक हो नहीं सकते, वे तो केवल हेतुमात्र हैं। और पापकर्म करनेवाला पुरुष स्वयं पापोंका फल दुःख भोगना चाहता नहीं, यह बात निर्विवाद और लोकप्रसिद्ध है। किसी मनुष्यने चोरी की या डाका डाला। वह चोरी डकैती नामक कर्म तो जड़ताके कारण उसके लिये कैदकी व्यवस्था कर नहीं सकते और वह कर्ता स्वयं चाहता नहीं, इसीलिये कोई शासक या राजा उसके दण्डकी व्यवस्था करता है। इसीप्रकार कर्मोंके नियमन, विभाग

* यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥ (गीता ४। ३७)

तथा व्यवस्थाके लिये किसी नियामक या व्यवस्थापक ईश्वरकी आवश्यकता है। इससे कोई यह न समझे कि राजा और ईश्वरकी समानता है। राजा सर्वान्तर्यामी और सर्वथा निरपेक्ष स्वभाववाला, तथा स्वार्थहीन निर्भ्रान्ति न होनेके कारण प्रमाद, पक्षपात, अनभिज्ञता या स्वार्थवश अनुचित व्यवस्था भी कर सकता है परन्तु परमात्मा समदर्शी, सर्वान्तर्यामी, सुहृद्, निरपेक्ष, दयालु और न्यायकारी होनेके कारण उससे कोई भूल नहीं हो सकती। राजा स्वार्थवश न्याय करता है, ईश्वर दयाके कारण जीवके उपकारके लिये न्याय करता है। यदि यह कहा जाय कि जब ईश्वरको कोई स्वार्थ नहीं है तब वह इस झगड़ेमें क्यों पड़ता है? इसका उत्तर यह है कि ईश्वरके लिये यह कोई झगड़ा नहीं है। जैसे सुहृद् पुरुष पक्षपातरहित होकर दूसरोंके झगड़े निपटा देता है पर मान बड़ाई प्रतिष्ठा कुछ नहीं चाहता, इससे उसका महत्व संसारमें प्रसिद्ध है। इसीप्रकार ईश्वर सारे संसारका उनके हितके लिये निस्स्वार्थरूपसे अपनी सुहृदताके कारण ही न्याय करता है।

ईश्वर नियामक न होनेसे तो कर्मका भोग ही नहीं हो सकता, इसमें एक युक्ति और विचारणीय है। एक मनुष्यने ऐसे पाप किये हैं जिससे उसे कुत्तेकी योनि मिलनी चाहिये। उसके कर्म तो जड़ होनेसे उसे उस योनिमें पहुंचाते नहीं (क्योंकि बिना विवेकयुक्त पुरुषकी सहायताके रथ, मोटर आदि जड़ सवारियां अपने आप यात्रीको उसके गन्तव्य स्थानपर नहीं पहुंचा सकतीं) और वह स्वयं पाप भोगनेके लिये जाना चाहता नहीं। यदि जाना चाहे तब भी नहीं जा सकता क्योंकि, उसमें ऐसी शक्ति नहीं है। जब हमलोग सावधान अवस्थामें भी सर्वथा अपरिचित स्थानमें नहीं जासकते तब बिना विवेकके योनिपरिवर्तन करना तो असंभव है।

यदि यह कहा जाय कि उस समय अज्ञानका परदा दूर हो जाता है तो यह भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि मरणकालमें तो दुःख और मोहकी अधिकतासे जीवकी दशा अधिक भ्रान्तसी होती है। योगी या ज्ञानीकीसी स्थिति होती नहीं। यदि अज्ञानका परदा हटकर उसका यों ही जीवन्मुक्त होना मान लें, तो यह भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि भोग प्रायश्चित्त या उपासना आदि क्रिया बिना पापोंका नाश होकर एकाएक किसीका जीवन्मुक्त हो जाना अयुक्त है। साधारण संसारीज्ञानसे योनिप्रवेशादि क्रिया न तो सम्भव है और न प्रत्यक्ष दुःखरूप होनेके कारण साधारण पुरुषको इष्ट है, अतएव यह सिद्ध होता है कि कर्मानुसार फल भोग करानेके लिये सृष्टिके स्वामी नियन्त्रण कर्ताकी आवश्यकता है और वह नियन्त्रणकर्ता ईश्वर अवश्य है।

ईश्वरभजनकी आवश्यकता क्यों है?

मान लिया कि शुभाशुभ कर्मानुसार फल अवश्य ही ईश्वर देता है। परन्तु वह कम ज्यादा नहीं कर सकता, फिर उसके भजनको आवश्यकता है? इसी प्रश्नपर अब विचार करना है। प्रथम तो यह बात है कि ईश्वरभजन एक सर्वोत्तम उपासनारूप कर्म है, परम साधन है। सबका शिरमौर है। इसके करनेसे इसीके अनुसार बुद्धिमें स्फुरणाएं होती हैं और इस तरहकी स्फुरणासे बारम्बार ईश्वर-भजन-स्मरण होने लगता है, जिससे अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञानका परम दिव्य प्रकाश चमक उठता है। ज्ञानाग्निसे संचित कर्मराशि दग्ध होकर पुनर्जन्मके कारणको नष्ट कर डालती है। इसलिये भी भजन करना परम आवश्यक है।

दूसरे यह समझकर भी भजन अवश्य करना चाहिये कि यही हमारे जीवनका परम कर्तव्य है। माता पिताकी सेवा मनुष्य अपना कर्तव्य समझकर करते हैं। फिर जो माता पिताका भी परम-

पिता है, जो परम सुहृद् है, जिसने सब तरहकी सुविधाएं हमें दी है, जो निरन्तर हमपर अकारण ही कृपा रखता है, जिस कल्याणमय ईश्वरसे हम नित्य कल्याणका आदेश पाते हैं, जो हमारे जीवनकी ज्योति है, अन्धेकी लकड़ी है, डूबते हुएका सहारा और पथभ्रष्ट नाविकका एकमात्र ध्रुवतारा है, उसका स्मरण करना तो हमारा प्रथम और अन्तिम कर्तव्य ही है।

ईश्वरका स्मरण न करना बड़ी कृतघ्नता है, हम जब माता पिता गुरुके उपकारका भी बदला नहीं चुका सकते, तब परम सुहृद् ईश्वरके उपकारोंका बदला तो कैसे चुकाया जा सकता है! ऐसी हालतमें उसे भूल जाना भारी कृतघ्नता-नीचातिनीच कार्य है।

ईश्वर सब कुछ कर सकता है 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्' समर्थ है परन्तु वह करता नहीं, अपने नियमोंकी आप रक्षा करता है, और हमें पापोंकी क्षमा और पुण्योंमें पक्षपातयुक्त फल पानेके लिये उसके भजनका उपयोग ही क्यों करना चाहिये। पाप तो उसके भजनके प्रतापसे वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे सूर्यके उदयाभास मात्रसे ही अन्धकार नष्ट हो जाता है।

जबहिं नाम मनमें धरयो, भयो पापको नास।
जैसे चिनगी आगकी, परी पुराने घास॥

परन्तु भगवान्‌का भजन करनेवालेको यह भावना नहीं रखनी चाहिये कि इस भजनसे पाप नाश हो जायगा। भगवान्‌के रहस्यको समझनेवाला भक्त दण्ड क्षमा करानेके लिये उसके भजनका उपयोग नहीं करते। जिस ईश्वरभजनसे मायारूप संसार स्वयमेव नष्ट हो जाता है, इस रहस्यको जाननेवाला पुरुष भला कभी तुच्छ सांसारिक दुःखोंकी निवृत्तिके लिये भजनका उपयोग कैसे कर सकता है? यदि करता है तो वह बड़ी भूल करता है। राजाको मित्र पाकर उससे दस रुपयेकी नालिशसे छुटकारा पानेकी प्रार्थना करनेके समान अत्यन्त हीन कार्य करना है। इसलिये भजनको किसी भी सांसारिक कार्यमें नहीं बरतना चाहिये। परन्तु कर्तव्य समझकर ईश्वरभजन सदा सर्वदा करते ही रहना चाहिये। क्योंकि भजनके आदि मध्य और अन्तमें केवल कल्याण ही कल्याण भरा है।

हे ईश्वर!

आया इतनी दूर ईश मैं रखकर तेरा ही विश्वास।
छोड़ रहा हूं यहाँ दुःखमें पड़ा निराशाकी निश्वास॥

बस केवल तू ही मेरा है, मुझको है बस पूरी आस।
स्वामि! शान्तिसे हृदको भरदो, करो न मुझको नाथ! निरास॥

आशा है यह, पूरी हो जावेगी मेरी यह आशा।
स्वामि! पूर्ण अब तो कर देना मेरी प्यारी अभिलाषा॥

—श्रीभवन्तबिहारी माथुर "भवन्त"

(भक्त धन्नाजाट)

गवान्‌की भक्ति सभी जातियोंके सभी मनुष्य कर सकते हैं, जिसकी चित्त-वृत्ति-रूपी सरिताका प्रवाह भगवत्‌रूपी परमानन्दके महासागरकी ओर बहने लगे, वही भक्तिका अधिकारी है और उसीपर भक्तभावन भगवान प्रसन्न होते हैं।

भक्त धन्नाजी जाट थे, विद्याध्ययन नहीं किया था, शास्त्रोंका श्रवण भी नहीं कर सके थे परन्तु उनका सरल हृदय अनुरागसे भरा था। जगत्‌में ऐसा कोई मनुष्य नहीं, जिसके हृदयमें प्रेमका बीज न हो। अभाव है उसपर सन्त समागमरूपी सुधाधाराके सिञ्चनका, इसीकारणसे उस बीजमें अंकुर उत्पन्न नहीं होता और यदि कहीं उत्पन्न होता है तो वह प्रतिकूल वातावरणके प्रभावसे वृद्धिको प्राप्त होकर पल्लवित पुष्पित और फलित होकर जगत्‌को सुख पहुंचानेके बहुत पहले ही नष्ट हो जाता है। सत्संगसुधासे सदा सिञ्चन होता रहे, भगवन्नामरूपी अनुकूल वायु हो और दृढ़ श्रद्धा विश्वासरूपी छायासे सुरक्षित हो तो एकदिन वह विशाल अमरवृक्ष बनकर अखिल विश्वको अपने सुगन्धसे सुखी और मधुर 'अमियमय' फलोंसे परितृप्त कर सकता है।

भक्तवर धन्नाजीका प्रेमबीज बहुत छोटी अवस्थामें ही संत-सुधा-समागमसे जीवनीशक्ति प्राप्त कर चुका था। धन्नाजीके पिता खेतीका काम करते थे, पढ़े लिखे न होनेपर भी उनका हृदय सरल और श्रद्धासम्पन्न था। वे सदा अपनी शक्तिके अनुसार सन्त भक्तों महात्माओंकी सेवा किया करते थे। उससमय न ता आजकलकी भांति अतिरिक्तबुद्धिवादके रोगका प्रचार था और न भण्ड तपस्वियोंका ही भारतभूमिपर विशेष भार था। इससे सरलतापूर्वक साधुसेवा होनेमें कोई विशेष बाधा नहीं थी। धन्नाजीके पिताके यहां भी समय समयपर अच्छे अच्छे सन्त महात्मा आया करते थे।

धन्नाजीकी उम्र उस समय पांच सालकी थी, एकदिन एक भगवद्भक्त साधुब्राह्मण उनके घर पधारे। ब्राह्मणने अपने हाथों कूएँसे जल निकालकर स्नान किया, तदनन्तर सन्ध्या वन्दनादि नित्यक्रिया करनेके बाद झोलीमेंसे भगवान् श्रीशालिग्रामजीकी मूर्ति निकालकर उसे स्नान कराया और तुलसी, चन्दन, धूप, दीपादिसे उसकी पूजाकर उसके प्रसाद लगाकर स्वयं भोजन किया। धन्नाजी उस भक्तिनिष्ठ ब्राह्मणकी सब क्रियाएँ कौतुकसे देख रहे थे। बालकका सरल स्वभाव था, कुछ देर साधुसंग हुआ, धन्नाके मनमें भी इच्छा उत्पन्न हुई कि यदि मेरे पास भगवान्‌की मूर्ति हो तो मैं भी इसीतरह उसकी पूजा करूँ। बालक जैसी बात देखते हैं, वैसा ही वे करना भी चाहते हैं। धन्नाने भी सरल हृदयकी स्वाभाविक ही मन प्रसन्न करनेवाली मीठी वाणीसे ब्राह्मणदेवके पास जाकर कहा, "पंडितजी, तुम्हारे पास जैसी भगवान्‌की मूर्ति है वैसी एक मूर्ति मुझे दो तो मैं

भी तुम्हारी ही तरह पूजा करूं" ब्राह्मणने पहले तो कुछ ध्यान नहीं दिया परन्तु बालक धन्नाने जब बारम्बार रोकर गिड़गिड़ाकर उसे बेचैन कर दिया तब बला टालनेके लिये एक काले पत्थरको उठाकर उसे दे दिया और कहा कि "बेटा ! यह तुम्हारे भगवान् हैं, तुम इन्हींकी पूजा किया करो।" धन्नाको मानों यही गुरुदीक्षा मिल गयी। इसी अल्पकालके सत्संग और सरलभक्तिके प्रतापसे बालक धन्नाजी प्रभुको अत्यन्त शीघ्र प्रसन्न करनेमें समर्थ हुए। सत्संगका माहात्म्य भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं उद्धवजीसे कहते हैं-

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथाऽवरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥
सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः ।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः ।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ ! ॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः ।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः ।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥
ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ।
अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः ॥
केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥
यं न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि ॥

× × ×

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ॥

(श्रीमद्भागवत ११।१२)

हे उद्धव ! समस्त संगोंसे छुड़ानेवाले सत्सङ्ग-द्वारा जिसप्रकार मैं पूर्णरूपसे वश होता हूं, उस प्रकार योग, सांख्य, धर्म, वेदाध्ययन, तपस्या, त्याग, अग्निहोत्र, कुवाँ-बावली खुदवाना और बाग लगवाना, दान दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, मन्त्र, तीर्थयात्रा, नियम और यम आदि अन्यान्य सब साधनोंसे नहीं होता। भिन्न भिन्न युगोंमें दैत्य, राक्षस, पक्षी, मृग, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, यक्ष, विद्याधर और मनुष्योंमें राजसी-तामसी प्रकृतिके वैश्य-शूद्र-स्त्री एवं अन्त्यज आदि जातियोंके अनेक मनुष्य, केवल सत्संगके प्रभावसे मेरे परमपदको प्राप्त हुए हैं। वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयासुर, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान्, गज, जटायु, तुलाधर वैश्य, व्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ और यज्ञपत्नियाँ, एवं ऐसे ही अन्यान्य अनेक जन, केवल सत्सङ्गके प्रभावसे अनायास ही मेरे दुर्लभपदको प्राप्त हुए हैं। देखो गोपिका यमलार्जुन, गौ, कालीनाग, एवं व्रजके अन्यान्य मृग, पक्षी और जड़, तृण, तरु, लता, गुल्म आदि सब केवल सत्सङ्गके प्रभावसे अनायास ही मुझे पाकर कृतार्थ हुए हैं। उक्त अज्ञानी और जड़ोंमेंसे किसीने वेद नहीं पढ़े, ऋषि मुनियोंकी उपासना नहीं की, न कोई व्रत रक्खा और न कोई तप किया। हे उद्धव ! इसीसे कहते हैं कि योग, ज्ञान, दान, व्रत, तप, यज्ञ, व्याख्या, स्वाध्याय आदिके द्वारा यत्न करनेपर भी मैं दुर्लभ हूं, केवल भक्ति और सत्सङ्ग ही ऐसा साधन है जिससे मैं सुलभ हूं। इसलिये हे मित्र उद्धव ! तुम श्रुति, स्मृति, प्रवृत्ति, निवृत्ति, श्रोतव्य और श्रुति-सब छोड़कर, सब शरीर-धारियोंके आत्मारूप एकमात्र मुझको भक्ति-

पूर्वक अपना आश्रय बनाओ। मेरी शरण आनेसे तुम भयसे छूट जाओगे। अस्तु !

बालक धन्नाके आनन्दकी सीमा नहीं है, वह अपने भगवान्‌को कभी मस्तकपर रखते हैं, कभी छातीके लगाये घूमते हैं। धन्नाकी पूजाका ठाठ बढ़ चला। धन्नाने तमाम खेलकूद छोड़ दिया, वह रात रहते ही उठकर स्नान करने लगे। तदनन्तर भगवान्‌को स्नान कराकर धन्नाजी चन्दनके बदलेमें नयी मिट्टी लाते,उससे भगवान्‌के तिलक करते। तुलसीदलकी जगह किसी भी वृक्षके हरे पत्ते भगवान्‌पर चढ़ा देते। बड़े प्रेमसे पूजा करके भक्तिभरे हृदयसे साष्टाङ्ग दण्डवत् करते। माता जब खानेको बाजरेकी रोटी देती तब धन्नाजी उस रोटीको भगवान्‌के आगे रखकर आंख मूंद लेते। बीच बीचमें आंखें खोलकर यह देखते जाते कि अभी भगवान्‌ने भोग लगाना शुरू किया या नहीं, फिर थोड़ी देरके लिये आंखें बन्द कर लेते। इस तरह बैठे बैठे जब बहुत देर हो जाती, जब वह देखते कि भगवान्‌ने अबतक रोटी नहीं खायी तब उन्हें बहुत दुःख होता और वह बारम्बार हाथ जोड़कर बालकोचित सरलस्वभाव और सरल वाणीसे अनेकप्रकार विनयानुरोध करते। इसपर भी जब वह देखते कि भगवान् किसी प्रकार भी भोग नहीं लगाते, तब वह निराश होकर यह समझते कि 'भगवान् मुझसे नाराज हैं, इसीसे मेरी पूजा और भोग स्वीकार नहीं करते. परन्तु भगवान् भूखे रहें और मैं खाऊं, यह कैसे हो सकता है?' यह विचारकर वह रोटी जंगलमें फैंक आते और भूखे रह जाते। दूसरे दिन फिर इसी तरह करते! इसप्रकार जब कई दिन अन्न जल बिना बीत गये, तब धन्नाजीका बल एकदम घट गया, शरीर सूख गया, चलने फिरनेकी शक्ति जाती रही। शारीरिक क्लेशकी उन्हें इतनी परवा नहीं थी जितना उन्हें इस बातका दुःख था कि 'ठाकुरजी मेरी रोटी नहीं खाते।' इसी मार्मिक दुःखके कारण उनकी आंखोंसे सर्वदा आंसुओंकी धारा बहने लगी!

अब तो भगवान्‌का आसन हिला, सरल बालककी बहुत कठिन परीक्षा हो गयी, भक्तके दुःखसे द्रवित होकर भगवान् प्रकट हुए 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' सच्चिदानन्दघन जो योग-समाधि और ज्ञाननिष्ठासे भी दुर्लभ हैं वह परम-ब्रह्मनारायण धन्नाजीके प्रेमाकर्षणसे अपूर्व मनमोहनी मूर्ति धारणकर भक्तके सामने प्रकट हुए और उस 'प्रयतात्मनः' प्रेमी भक्तकी 'भक्त्युपहृतम्' रोटी बड़े प्रेमसे भोग लगाने लगे। जब आधी रोटी खा चुके तब महाभाग धन्नाने उनका हाथ पकड़ लिया और कहने लगे कि 'ठाकुरजी! इतने दिनोंतक तो आये नहीं, मुझे भूखों मारा, आज आये तब अकेले ही सारी रोटी लगे उड़ाने, तुम्हीं सब खा जाओगे तब क्या आज भी मैं भूखों मरूंगा, क्या मुझको जरासी भी नहीं दोगे?

बालक-भक्तके सरल सुहावने वचनोंको सुनकर भगवान् मुस्कुराये और बची हुई रोटी उन्होंने धन्नाजीको दे दी। आज इस धन्नाजीकी रोटीके अमृतसे बढ़कर स्वादका बखान शेषशारदा भी नहीं कर सकते! भक्तवत्सल करुणानिधि कौतुकी भगवान् प्रतिदिन इसीप्रकार प्रकट होकर अपनी जन-मन-हरण रूपमाधुरीसे धन्नाजीका मन मोहने लगे। मनुष्य जबतक यह अनोखा रूप नहीं देखता तभीतक उसका मन वशमें रह सकता है, जिसे एकबार उस रूप-छटाकी झांकी करनेका सौभाग्य प्राप्त हो गया, उसीका मन सदाके लिये हाथसे जाता रहा, फिर उसे एकक्षणके लिये भी उस सुन्दरकी छविको छोड़कर संसारकी कोई चीज नहीं सुहाती-कोई बात नहीं भाती। धन्नाजीकी भी यही दशा हुई यदि वह एकक्षण-भरके लिये उस मनमोहनका आंखोंके सामने या हृदयमन्दिरमें न देख पाते तो उसी समय मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ते, पलभरका

भी भगवान्‌का वियोग उनके लिये असह्य हो उठता। इसीसे भगवान्‌को सदासर्वदा धन्नाजीके साथ या उनके हृदयधाममें रहना पड़ता। धन्नाने प्रेमरज्जुसे भगवान्‌को बांध लिया, इसीसे वे भक्तके परमधन भगवान् भी धन्नाको एक पलके लिये अलग नहीं छोड़ सकते थे। भगवान्‌का तो यह प्रण ही ठहरा।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

जो सबमें मुझको देखता है और सबको मुझमें देखता है उससे मैं कभी अदृश्य नहीं होता और मुझसे वह कभी अदृश्य नहीं होता।

धन्नाजी कुछ बड़े हो गये इससे माताने उन्हें गौ दुहनेका काम सौंप दिया, कई गायें थीं, धन्नाजी दोनों समय गौ दुहा करते, एकदिन भगवान्‌ने प्रकट होकर उनसे कहा, 'भाई! तुम्हें अकेले इतनी गायें दुहनेमें बड़ा कष्ट होता होगा। तुम्हारी गायें मैं दुह दिया करूंगा।'

सुरमुनिवन्दित सकलचराचरसेव्य अखिल-विश्वस्वामी भगवान् अपने बालक-भक्तके साथ रहकर उसकी सेवा करने लगे। धन्य! धन्नाके सुखका क्या ठिकाना है? वह निरन्तर उस परमसुखरूप परमात्माके साथ रहकर अप्रतिम अचिन्त्य आनन्दका उपभोग कर रहे हैं!

कुछ दिन बाद धन्नाजीके गुरु वही ब्राह्मण-देवता धन्नाके घर फिर आये और उससे पूछने लगे कि 'क्यों भगवान्‌की पूजा करते हो या नहीं?' धन्नाने हँसकर कहा, 'महाराज! अच्छा भगवान् दे गये, कई दिनोंतक तो उसने मुझे न दर्शन दिया, न रोटी खायी, स्वयं भी भूखा रहा और मुझे भी भूखों मारा। अन्तमें एकदिन प्रकट होकर सारी रोटी चट करने लगा, बड़ी कठिनतासे मैंने हाथ पकड़कर आधी रोटी अपने लिये रखवायी। परन्तु महाराज! वह है बड़ा प्रेमी, सदा मेरे साथ रहता है। दोनों समय मेरी गायें दुह देता है। मैं भी उसे छोड़ नहीं सकता, वह बड़ा ही प्यारा और सुन्दर है मेरे तो प्राण उसीमें बसते हैं।'

धन्नाजीकी बात सुनकर ब्राह्मणने आश्चर्यसे पूछा 'कहां है वह तुम्हारा भगवान्?' धन्नाने कहा-'क्या तुम्हें दीखता नहीं? यह देखो मेरे पास ही तो खड़ा है।' ब्राह्मणको दर्शन नहीं हुए, उसने कहा, "कहां धन्ना? मुझे तो नहीं दीखता।" धन्ना भगवान्‌से कहने लगे "नाथ! यही ब्राह्मण तो मुझे तुम्हारी मूर्ति देगया था, अब इसे दर्शन क्यों नहीं देते?" भगवान् बोले-"धन्ना! तुमने जन्मजन्मान्तरके महान् पुण्य और शुद्ध भक्तिसे मेरे दर्शन प्राप्त किये हैं, इस ब्राह्मणमें इतना तपोबल नहीं है परन्तु इसने तुम्हारा गुरु बनकर बहुत बड़ा पुण्य-सञ्चय कर लिया है' इसी पुण्यसे इसे मेरे दर्शन हो सकेंगे। तुम उसकी गोदमें जा बैठो, तुम्हारे पवित्र शरीरके स्पर्शसे इसे दिव्य नेत्र प्राप्त होंगे, जिससे यह मुझे देख सकेगा।" धन्नाने ऐसा ही किया। भक्त ब्राह्मण भक्तवत्सल भगवान्‌की अपूर्व छटा देखकर कृतकृत्य होगया! तदनन्तर भगवान् अन्तर्द्धान होगये।

धन्नाजीकी बाललीला समाप्त हुई, इसलिये भगवान्‌ने भी उनसे अब बालकोचित सम्बन्ध नहीं रक्खा। भगवान्‌ने धन्नाजीको परम्परारक्षाके लिये नियमानुसार गुरुमन्त्र ग्रहण करनेकी आज्ञा दी। धन्नाजी काशी गये और उन्होंने भक्तश्रेष्ठ आचार्य श्री श्रीरामानन्दजीसे दीक्षा ग्रहण की। तदनन्तर वह घर लौट आये। उन्हें भगवान्‌का तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया। अबसे धन्नाजी अपने परमगुप्त धनको हृदयकी गुप्त गम्भीर गुहामें ही देखने लगे।

एकसमय धन्नाजीके पिताने उन्हें खेतमें गेहूं बोनेके लिये बीज देकर भेजा। रास्तेमें कुछ

सन्त मिल गये। सन्त भूखे थे, उन्होंने धन्नाजीसे भिक्षा मांगी। धन्नाजीको तो सर्वत्र अपने श्यामसुन्दर दीखते थे, अतः सन्तरूपमें भी उन्हें वही दिखलायी दिये। उनके लिये धन्नाके पास अदेय वस्तु ही क्या थी? उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे समस्त गेहूं सन्तोंको दे दिये!

यह स्मरण रखना चाहिये कि जहां अभावग्रस्त ग़रीब खानेके लिये अन्न चाहते हैं वहां मानों साक्षात् भगवान् ही उनके रूपमें हमसे सेवा चाहता है, ऐसे मौकेपर चूकनेवालोंको पीछे बहुत पछताना पड़ता है। धन्नाजी सरीखे भक्त भला क्यों चूकने लगे?

धन्नाजीने गेहूं तो दे दिये परन्तु माता-पिताके भयसे योंही घर लौटना उचित न समझकर वह खेत चले गये और योंही जमीनपर हल चलाकर वह घर लौट आये। भक्तकल्पतरु भगवान्ने धन्नाके बिना ही मांगे उसका गौरव बढ़ानेके लिये अपनी अघटन-घटनापटीयसी मायासे खेतको सबके खेतोंसे बढ़कर हरा भरा कर दिया। धन्नाजीके खेतकी बहुत प्रशंसा होने लगी। यह सब सुनकर धन्नाजी-ने सोचा कि मैंने तो खेतमें एक भी बीज नहीं डाला था, फिर यह सुन्दर खेती कैसे हो गयी? खेत सूखा पड़ा होगा, इससे लोग सम्भवतः दिल्लगीसे ऐसा कहते होंगे। परन्तु जब उन्होंने स्वयं खेत जाकर देखा और जब उसे लहलहाता और उमड़ता पाया तब तो उनके आश्चर्यका पार नहीं रहा। प्रभुकी माया समझकर मन ही मन उन्हें प्रणाम किया। धन्नाजीके हृदयमें प्रेमका समुद्र उमड़ चला!—नाभाजी महाराज लिखते हैं।

घर आये हरिदास तिन्हैं गोधूम खवाये।
तात मात डर थोथ खेत लंगूर बवाये॥
आसपास कृषिकार खेतकी करत बड़ाई।
भक्त भजेकी रीति प्रगट परतीतिजु पाई॥
अचरज मानत जगतमें कहुँ निपज्यो कहु वै बयो।
धन्य धनाके भजनको बिनाहि बीज अंकुर भयो॥

——*——

प्राणाधार!

(१)

रे मन! क्यों तरसै
उठ चल तू जहां सियावर राम।
दया सिन्धु-वें, दया दृष्टि-
सों, हेरि सारिहैं काम॥

(२)

अँसुवनसे अस्नान कराना,
प्रेम भावके फूल॥
आनन्द सों श्रद्धाकी
माला पहिराना मुदमूल॥

(३)

तप्त श्वासकी धूप दिखाना
विरहानलको दीप॥
आर्तनादको संख बजाना
'सैनिक' जाइ समीप॥

(४)

धरना सर्वस भेंट, फेर
तुम जाना बलि बलिहार॥
ऐसी लगन लगाइ मिलै
जब, पैहै प्राणाधार॥

—हनुमानप्रसाद शर्मा 'सैनिक'

श्रीभगवन्नाम

आवश्यक सूचना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥
अतिपातकयुक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः ॥
आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनःपुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥

श्रीभगवन्नामकी महिमा अवर्णनीय है। श्रीशिव, ब्रह्मा, शेष, शारदा, ऋषि, मुनि सभीने नाममहिमा गायी परन्तु उसका पार नहीं पा सके। जिन भाग्यवानोंने नामका आश्रय लेकर जीवन सफल किया है वे ही इसके आनन्दको जानते हैं परन्तु वे भी कह नहीं सकते। यह बड़े दुःखका विषय है कि जीभको अपने वशमें पाकर भी लोग श्रीभगवन्नामके जपकीर्तनसे उसे और साथ ही अन्तःकरणको पवित्र नहीं करते। संसारसागरसे पार होनेके लिये इससमय नाम जपकी अपेक्षा दूसरा सरल साधन और कोई नहीं है।

कल्याणके पाठक श्रीभगवन्नाम-माहात्म्यसे कुछ परिचित हैं, इसीसे वे प्रेमसे नामका आश्रय लेते हैं। गत दो वर्षोंसे वे लोग नामजपयज्ञमें शामिल होनेका पुण्य लूट रहे हैं। गतवर्ष उपर्युक्त सोलह नामके मन्त्रका दशकरोड़ जप करनेके लिये इसी पौषके अंकमें प्रार्थना की गयी था परन्तु भगवत्प्रेमी पाठक पाठिकाओंके उद्योगसे नियमितसमयके अन्दर अड़तालीस (४८) करोड़ मन्त्रोंका जप हो गया।

इस वर्ष कल्याणके ग्राहकोंकी संख्या गत-वर्षकी अपेक्षा बहुत ज्यादा है। नाममहिमासे भी कई पाठक बहुत परिचित हो चुके हैं, गतवर्षका हिसाब देखते तो बहुत अधिक जपके लिये प्रार्थना करनी चाहिये थी परन्तु अधिक न करके इससाल भी होलीतकके लिये केवल दशकरोड़ मन्त्रजपके लिये ही अनुरोध किया जाता है। आशा है कल्याणके ग्राहक अनुग्राहक पुरुष और देवियां इस सत्कार्यमें योगदान देकर अनुग्रहीत करेंगी, नियम प्रायः पूर्ववत् ही हैं।

एकसौआठ मन्त्रोंके जपमें अधिकसे अधिक लगभग दश मिनिट लगते हैं। प्रतिदिन दो घण्टेका समय जपमें दिया जाय तो उतनेमें बारह मालाओंका जप हो सकता है। अभ्यास बढ़ने-पर १६-१७ माला भी की जासकती हैं। भूल-चूकके लिये ऊपरके आठ मन्त्र छोड़ दिये जायँ तो बारह मालाओंके जपसे एकदिनमें १२०० मन्त्रोंका जप अनायास हो सकता है। कल्याणके इतने ग्राहक, अनुग्राहक, पाठक और पाठिकाओंमेंसे ऐसे सहस्रों प्रेमियोंका मिल सकना असम्भव नहीं। अभी समय भी बहुत है। पौष शुक्ला प्रतिपदासे प्रारम्भ करें तो होलीतक ढाई महीनेका समय मिलता है। कल्याणके प्रत्येक प्रेमीसे सविनय प्रार्थना है कि वे कृपापूर्वक अपने अपने शहर, गांव मुहल्ले और घरोंमें जितना हो सके उतना अधिक स्त्री-पुरुषोंको इस जप-यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये उत्साहित करें। जप

करनेवाले जिसदिनसे आरम्भ करें उसदिनसे फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमातकका हिसाब लगाकर उसकी सूचना नीचे लिखे पतेपर भेजनेकी कृपा करें ।

स्थान समय और आसनका कोई भी प्रतिबन्ध नहीं है । बिछौनेसे उठनेसे लेकर सोनेतक चलते, फिरते, उठते, बैठते और कोई भी काम करते हुए सब समय मन्त्रजप किया जा सकता है। संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती है । नहीं तो प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गणना की जा सकती है। बीमारी या अन्य किसी अनिवार्य कारणवश यदि जपमें बाधा पड़ आये तो किसी दूसरे सज्जनसे प्रार्थना करके जप करवालेना चाहिये और यदि ऐसा प्रबन्ध न हो सके तो यहाँ सूचना भेजदेनेसे उसके बदलेमें उतने जपका प्रबन्ध किया जा सकता है।

यह याद रखना चाहिये कि पैसा या वृत्ति देकर किसी औरसे जप नहीं करवाना चाहिये । अपने आप करना चाहिये । किसी अनिवार्य कारणसे जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध भी न हो सके और यहां सूचना भी न भेजी जा सके तो कोई आपत्ति नहीं है । निष्काम भावसे भगवान्के नामका जप जितना किया जाय, उतना ही लाभ है ।

हम तो यह जानते हैं कि यदि कल्याणके प्रेमी पाठक और पाठिकाएँ अपने अपने यहां इस बातकी पूरी पूरी चेष्टा करेंगे तो कुछ ही दिनोंमें हमारी प्रार्थनासे हमारे पास बहुत अधिक संख्याकी सूचना आजायंगी । अतएव सबको इस पुण्यकार्यमें कृपापूर्वक भाग लेना चाहिये ।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

१-इस मन्त्रका जप करें ।

२-किसी भी तिथिसे प्रारम्भ करें परन्तु फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमाको पूर्ति होनी चाहिये ।

३-सब वर्ण, आश्रम और जातिके स्त्री-पुरुष, बालक वृद्ध युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं ।

४-प्रतिदिन कमसे कम एकमाला अर्थात् १०८मन्त्रोंका जप अवश्य करना चाहिये ।

५-केवल मन्त्र संख्याकी ही सूचना आनी चाहिये । जप करनेवालोंके नामकी जरूरत नहीं । सूचना देनेवाले सज्जन अपना नाम और पता लिख भेजें ।

६-संख्या मन्त्रोंकी भेजनी चाहिये, नामकी नहीं । एक मन्त्रमें सोलह नाम हैं। यदि इस सोलह नामोंके मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपी जाय तो रोज १०८ मन्त्रोंका जप होता है। इसमें भूलचूकके आठ मन्त्र छोड़ देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं जिस दिनसे आरम्भ करें, उस दिनसे फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये ।

७-संस्कृत, हिन्दी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बङ्गला, अंग्रेजी और उर्दू में सूचना भेजी जा सकती है ।

८-सूचना भेजनेका पताः-

'नामजप विभाग'

कल्याण कार्यालय, गोरखपुर

नोटः—निश्चित समयमें पूर्ति न हुई और आवश्यक समझा गया तो समय बढ़ाया जा सकता है।

तुम्हारा स्वराज्य

स्वराज्य, स्वदेश, स्वजाति आदि शब्द इस समय बहुत ज्यादा प्रचलित हैं, ऐसा कोई समाचारपत्र नहीं, जिसके अंकोंमें इन शब्दोंको स्थान न मिलता हो और वास्तवमें ये शब्द हमारे लिये हैं भी बहुत आवश्यक। स्वजाति और स्वदेशका प्रेम न होनेके कारण ही हम स्वराज्यसे वञ्चित हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसलिये प्रत्येक मनुष्यका यह परम कर्तव्य है कि स्वराज्यकी प्राप्तिके लिये स्वदेश और स्वजातिकी सेवामें तन मन धन सब कुछ अर्पण कर दे, क्योंकि स्वराज्य हमारा अनादिसिद्ध अधिकार है। जो भाई स्वदेश स्वजातिकी सेवामें लगे हुए हैं वे सर्वथा स्तुत्य और धन्यवादके पात्र हैं, परन्तु समझना चाहिये कि, इन शब्दोंका यथार्थ अर्थ क्या है और वास्तवमें इनका हमसे क्या सम्बन्ध है? किसी कार्यविशेषसे या बलात्कारसे मनुष्यको जब किसी अन्य देशमें रहना पड़ता है, तब उसे वह स्वदेश मानकर वहां नहीं रहता। आज भारतके जो विद्यार्थी शिक्षालाभके लिये यूरोपमें रहते हैं या सरकारके अनुचित प्रतिबन्धकके कारण जिनको विदेशोंमें रहनेके लिये बाध्य होना पड़ रहा है, वे स्वदेश भारतको ही समझते हैं; वे जहां रहते हैं, वहां उन्हें कोई कष्ट न होनेपर भी उनको उस देशकी अपेक्षा भारत विशेष प्रिय लगता है, वे वहां रहते हुए भी भारतका स्मरण करते, भारतकी भलाई चाहते-यथासाध्य भलाई करते और भारतवासियोंसे मिलनेमें प्रसन्न होते हैं। कारण यही है कि वे अपने स्वदेशको भूले नहीं हैं परन्तु उनमेंसे जो परदेशके भोगविलासोंमें अपना मन रमाकर देशको भूल गये हैं, परदेशको ही स्वदेश मानने लगे हैं, उन्होंने अपने धर्म और अपनी सभ्यतासे गिरकर अपने आपको सर्वथा विदेशी बना लिया है, ऐसे लोगोंके कारण देशप्रेमी-भारतवासी दुःखी रहते हैं। वे चाहते हैं कि हमारे ये भूले हुए भाई,-जो ऊपरी चमक-दमकके चकमेमें फंसकर विदेशको स्वदेश और विजातीयको स्वजातीय समझने लगे हैं-किसी तरहसे अपने स्वरूपका स्मरणकर; अपने देश और जातिके गुणोंको जानकर पुनः स्वदेशी बन जायँ तो बड़ा अच्छा हो। स्वदेशी बनजानेका यह अर्थ नहीं कि इससमय वे विदेशी या विजातीय हैं, उन्होंने अपनेको भूलजानेके कारण भ्रमसे विदेशी या विजातीय मानकर विदेशी धर्मको धारण कर लिया है। यदि वे घर लौट आवें तो उनके लिये घरका दरवाजा सदा ही खुला है और रहना चाहिये, इसीसे जाति और देश हितैषी सज्जन भ्रमसे विधर्मी बने हुए भाइयोंको पुनः स्वधर्ममें दीक्षित करना चाहते हैं।

परन्तु यदि एक ही देशके रहनेवाले दो गावोंके लोग या एक ही गांवमें रहनेवाले दो मुहल्लोंके सजातीय भाई अपनेको अलग अलग मानलें; गांव और मुहल्लोंके भेदसे परस्पर परभाव करलें; अपने गांवको या मुहल्लेको ही देश और दूसरे भाइयोंके निवासस्थान गांव और मुहल्लोंको परदेश मानलें तो बड़ी गड़बड़ी मच जाती है। देश और जातिके शरीरका सारा संगठन विशृंखल हो जाता है। उसके सब अवयवोंमें दुर्बलता आ जाती है जिसका परिणाम सिवा मृत्युके और कुछ नहीं होता। सच पूछिये तो इस क्षुद्र भावोंके कारण ही आज भारत पद-पद-दलित और परतन्त्र है। यदि भारतवासी अपने अपने प्रान्त, छोटे राज्य, गांव या मुहल्लोंको ही देश न मानकर सबकी समष्टिको स्वदेश मानते तो भारतका इतिहास और इसका मानचित्र आज दूसरे ही प्रकारका होता। अब भी इस देशके सभी निवासी अपनी अपनी डफली अलग बजाना छोड़कर एक सूत्रमें

बंध जायँ और प्रान्तीयता तथा जातिगत झगड़ों-को छोड़कर एक राष्ट्रीयता स्वीकार करलें तो भारतको स्वराज्यकी प्राप्ति होनेमें विलम्ब नहीं हो सकता। पर क्या भारत ही हमारा देश है, भारतवासियोंकी जाति ही हमारी स्वजाति है और भारतको मिलनेवाला राजनैतिक अधिकार ही हमारा स्वराज्य है?

आध्यात्मिकताका आदिगुरु, परमार्थ-सन्देश-का नित्यवाहक, परमात्मतत्त्वका विवेचक, परमात्माके साकार अवतारोंकी लीलाभूमि, जगत्के धर्माचार्य और पैगम्बरोंकी जन्मभूमि, मुक्तिपथके पथिकोंको पाथेय वितरण करनेवाला भारत इस प्रश्नका क्या उत्तर देता है?

इहलौकिक उन्नतिको ही जीवनका चरम-लक्ष्य माननेवाले स्थूलवाद प्रधान जगत्का तो भूमिखण्डके किसी एक क्षुद्र खण्डको देश मानना, जिस कल्पित जातिमें स्थूलशरीर जन्मा हो उसीमें जन्म लेनेवालोंको स्वजाति बतलाना और उस देश या जातिको अपनी मनमानी करनेके अधिकारको ही स्वराज्य मानना संभव है। परन्तु भारतवासी जो अखिल ब्रह्माण्डको ब्रह्मके एक अंशमें स्थित और ब्रह्माण्डमें ब्रह्मको नित्य स्थित या चराचर ब्रह्माण्डको ब्रह्मका ही विवर्त माननेवाले भारतवासी यदि अपने असली ब्रह्म-स्वरूपको भूलकर माया कल्पित आपातरमणीय मायिक सुन्दरतायुक्त स्थल विशेषको ही अपना स्वदेश मान लेना क्या ब्रह्मकी राष्ट्रीयताका विघातक नहीं है? मायासे बने हुए जगत्को अपना देश मानकर उसीमें मोहित रहना क्या विदेशको स्वदेश मान लेना नहीं है?

अपनी सच्चिदानन्दरूप नित्य अखण्ड स्वाभाविक सत्ताको भूलकर मायिक सत्ताको ही अपनी सत्ता मान लेना क्या सजातीयताको छोड़कर विजातीयता बन जाना नहीं है? अपने 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' स्वरूपको विस्मृतकर अपने मूल स्वभाव-धर्मको छोड़कर जगत्के मायिक धर्मको अपना धर्म मान लेना क्या विधर्मी बन जाना नहीं है?

विचार करो तुम कौन हो? तुम अमर हो, तुम सुखरूप हो, तुम नित्य हो, तुम सर्वव्यापी हो, तुम अखण्ड हो, तुम पूर्ण हो, तुम अजर हो, तुम सबमें व्याप्त हो, तुम मायासे अतीत हो, तुम्हारी ही सत्तासे जगत्का अस्तित्व है, तुम्हारे ही सौन्दर्यसे जगत् सुन्दर है, तुम्हारी ही महिमासे विश्व महिमान्वित है, तुम्हारे ही प्रकाशसे जगत् प्रकाशित है, तीनों लोक तुम्हारे ही अन्दर तुम्हारी ही मायासे प्रतिभासित हैं, अरे! अपने इस गौरवका स्मरण करो, स्वस्वरूपका अनुसन्धान करो, उसे प्राप्त करो, फिर देखोगे, जगत्भरमें तुम्हीं भरे हो, सभी देश, सभी जाति तुम्हारे ही अन्दर कल्पित हैं, तुम्हारे ही अखण्ड राज्यमें सबका निवास है। तुम्हारा स्वराज्य नित्य प्रतिष्ठित है।

इस असली स्वरूपको भूलकर छोटे मत बनो, अपनी विशाल सत्ताको क्षुद्र सीमासे मर्यादित न करो, अपने सत् चित् आनन्दस्वरूप स्वधर्मसे च्युत मत होओ, मायाके विजातीय आवरणसे अपनेको कभी आच्छादित न होने दो। तुम्हारा स्वदेश, तुम्हारी स्वजाति और तुम्हारा स्वराज्य तो तुम स्वयं हो। और तुम्हारी ही सत्ता सम्पूर्ण दिशाओंमें विकीर्ण हो रही है। जगत्के सारे देश, सारी जातियां और सारे राज्य-कल्पना-की समस्त सामग्रियां तुम्हारे ही अन्दर प्रतिष्ठित हैं। फिर अपने विशाल समष्टिसे निकलकर क्षुद्र व्यष्टिके अहंकारसे रागद्वेषके वशीभूत क्यों होते हो?

तुम अमृत हो-सत्य हो, ज्ञानस्वरूप हो, अनन्त हो, ब्रह्म हो, सच्चिदानन्दघन हो! अपनी ओर देखो और तृप्त हो रहो! तुम हो 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'

—विपरीतदर्शी।

सुख दुःख और आनन्द

(लेखक-श्रीनलिनीकान्त गुप्त)

सुख या दुःख मनुष्यकी असली चीज नहीं है, असली है आनन्द। सुख दुःखका खेल आत्मामें नहीं होता, वह हो रहा है प्राणोंमें। आत्मामें तो आनन्दका ही खेल होता है। विषयोंके स्पर्शसे चाहे वह स्थूल वस्तु हो या अन्तरका कोई भी हो हमारे प्राणोंमें निरन्तर तरङ्गें उठा करती हैं, उनमें कितनी ही होती हैं सुखकी और कितनी ही होती हैं दुःखकी। कौनसी तरङ्गें सुखकी होंगी? कौनसी दुःखकी होंगी? यह निर्भर करता है, हमारे प्राणोंके संगठनपर या हमारे संस्कारोंपर। परन्तु हमारे प्राणोंके इस संस्कारकी तहमें हमारी जाग्रत चेतनामें सुखदुःखकी कोईसी भी तरङ्ग क्यों न उठे; जो अन्तरका पुरुष है, जो आत्मा है उसको इस सुख दुःखका अनुभव नहीं होता, सुख दुःखसे उसकी जो गूढ़तम अनुभूति है वह है आनन्द।

हम कहा करते हैं कि मनुष्य दुःख नहीं चाहता, वह सुख चाहता है दुःखके स्पर्शसे उसका संकोच और सुखके स्पर्शसे विकास होता है। अग्निको स्पर्श करनेका फल है दाह, जलन-दुःख; इसीसे अग्निकी ओर कोई हाथ नहीं बढ़ाता और सुन्दर खानेपीनेके पदार्थोंका फल है तृप्ति, आराम-सुख; इसीलिये उस तरफ मनुष्य आग्रहसे दौड़ता है। परन्तु यदि मनुष्य दुःख नहीं चाहता तो उसे दुःख मिलता क्यों है? मनुष्यका अन्तरात्मा जिस वस्तुसे सर्वथा विमुख है, मनुष्य उस वस्तुको किसलिये पकड़े रखता है? असलमें बात यह है कि मनुष्य जो दुःख भोगता है सो इसी कारणसे कि,दुःखको वह स्वयं वरण कर लेता है। इसमें उसके अन्तरात्माकी एक अनुमति है। नहीं तो दुःख उसे छू भी नहीं सकता। पुरुष जिसके लिये आज्ञा या अनुमति नहीं देता, प्रकृति उसे कभी नहीं कर सकती। दुःखमें भी एक चीज है,-आत्माकी तृप्ति। उसमें भी एक ऐसा रस है जो आत्माके लिये सुपेय है, वह रस-वह वस्तु है आनन्द। पतङ्ग जो जल मरनेके लिये दीपककी ओर दौड़ता है, मनुष्य गोले उगलनेवाली तोपके मुंहमें उछल पड़ता है, इसमें उसके स्वभावकी विकृति या आकस्मिक अन्ध उत्तेजना नहीं है। मृत्युमें, वेदनामें एक निगूढ़ रस है, उसमें उसे आनन्दका ही पता मिलता है इसीसे वह उसकी ओर दौड़ता है। सुखमें भी आनन्द है और दुःखमें भी आनन्द है-हमारा अन्तरात्मा इन दोनोंप्रकारके आनन्दरसको ही भोगता है।

अज्ञान,अशक्ति,असम्पूर्णता,रोग,जरा,मृत्यु आदिका दुःख मनुष्यको निरन्तर जर्जरित करता है, फिर भी वह इन सबको आलिङ्गन करके ही दिन काटता है। क्योंकि बाह्यरूपसे ये सब वस्तुएँ उसे कितना भी कष्ट क्यों न दें, उसके अन्तरात्मामें इन सबके लिये अनुमति है, केवल अनुमति ही नहीं, विलास भी है। मनुष्यसे कहिये,-"तुम अमृतकी सन्तान हो, इच्छा करते ही देवता बन सकते हो, सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञानसम्पन्न बन सकते हो" वह आपकी बातको अविश्वासकी हँसी हँसकर उड़ाना चाहेगा। यह अविश्वास क्या पदार्थ है? यह अविश्वास है अन्तरात्माकी अनुमतिका अभाव। अन्तरात्मा जिस वस्तुको नहीं चाहता, उसपर वह श्रद्धा भी नहीं कर सकता। दासजातिको मुक्त करना इतना कठिन क्यों होता है? इसीकारणसे कि, वह बाहरसे सैकड़ों कष्टोंसे पीड़ित होनेपर भी उसके अन्तरात्माको दासत्वमें ही एकतरह की तुष्टि,तृप्ति-एक आनन्द मिलता है। प्राणोंकी अनुभूति असली बात नहीं है, प्राणोंके चाहने न चाहनेसे कुछ सम्बन्ध नहीं है, वह है आत्माकी इच्छा-स ऐच्छत्। अतएव यदि दुःखसे छुटकारा चाहते हैं तो अन्तरात्माका मुख फिरा देना चाहिये जिसमें कि वह दुःखोंके खेलके लिये

अनुमति नहीं दे सके। तभी दुःखकी जड़ कटेगी–इसीको कहते हैं दोषबीजका क्षय, यहींपर मुक्तिकी प्रतिष्ठा होती है।

यहां यह प्रश्न होता है कि "यदि हमारे अन्तरात्माको दुःखमें भी आनन्द है तब फिर दुःखसे विराग क्यों होना चाहिये–दुःख मिटाने या उससे छूटनेकी चाह क्यों होनी चाहिये? आनन्दमयके लिये जब सभी कुछ आनन्दका है, और अन्तरमें जब हम आनन्दमय ही हैं, तब अज्ञानके, अशक्तिके पापोंके या दुःखके आनन्दको ही हम सदा क्यों न अपने पास रक्खें? क्या इससे हमारी चरितार्थता नहीं होती? एक बात और है, यदि दुःख आत्माके लिये दुःखरूप नहीं प्रतीत होगा, दुःखकी जड़में भी यदि आत्माका आनन्द ही है तब फिर यह दुःख जगत्से किसी दिन निकल भी नहीं सकता, फिर इसके निकालनेकी चेष्टा ही क्यों करनी चाहिये? दुःखके अभावमें जगत्की एक विशेष विचित्रता चली जायगी। जगत्से दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो नहीं सकती, क्योंकि आत्मा दुःखको–दुःखके रसको भी चाहता है। और दुःखका सर्वथा नाश होना भी उचित नहीं, क्योंकि ऐसा होनेसे लीलाका क्षेत्र उतना ही सङ्कीर्ण हो जायगा। इसीसे कभी कभी यह कहते सुना जाता है कि मनुष्यकी चरितार्थता उसके सारे मनुष्यत्वसे है अर्थात् सुख-दुःख, हँसना-रोना, प्रकाश-अन्धकार आदि द्वैतकी लीलासे ही है। मनुष्यको दुःखहीन चिरदीप्त स्वर्गका देवता बना देना मनुष्यत्वके लोपका साधन मात्र है"–इसीसे कविने गायाहै—

कितने स्वांगोंमें तुम प्यारे,
खेल रहे हो अद्भुत खेल।
कहीं बहाते अश्रु-धारमें,
कहीं हंसीकी चलती रेल॥

इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये हमें मनुष्यकी प्रकृति और उसके दुःखध्यानके सम्बन्धमें कुछ गम्भीरतासे विचार करना होगा। यह तो कहा जा चुका है कि मनुष्यका आत्मा केवल आनन्दमय है–परन्तु यहां कुछ सूक्ष्मतर भेदोंको समझ लेनेकी आवश्यकता है। क्योंकि मनुष्य एक जटिल समष्टि है। मनुष्यका आत्मा, उसकी रसग्राही सत्ता, उसका अन्तरस्थपुरुष एक नहीं, अनेक हैं, प्रधानतः तोनका निर्देश किया जासकता है। प्रथम आत्मा, जो देह और देहके अन्तर्गत प्राणोंमें है। दूसरा वह आत्मा, जो मानसक्षेत्रमें विराजमान है और तीसरा वह निगूढ़ आत्मा जो देह और मनके परे,–अन्तरसे भी अन्तरमें अधिष्ठित है। शारीर-पुरुष, मानस-पुरुष और अध्यात्म-पुरुष–इनको क्रमसे हम इन नामोंसे बतला सकते हैं। अथवा उपनिषदोंके अनुसार अन्न तथा प्राणमय पुरुष, मनोमय पुरुष और विज्ञानमय पुरुष भी कह सकते हैं।

जगत्का स्पर्श–जिसे हम सुख दुःखके नामसे पुकारते हैं–इन विभिन्न पुरुषोंको भिन्न भिन्न रूपमें दीखता है। मनुष्य जिस मंजिलपर खड़ा है, जिस पुरुषसे उसका जाग्रत-सम्बन्ध है, उसी मंजिलके उसी पुरुषकी चेतनाके धर्मसे ही उसके विषयस्पर्श–सुख दुःखकी उपलब्धि रंगी रहती है। जिस मनुष्यका केवल अपने शरीरसे ही परिचय है, उसके जीवनका अधिकांश जीवन पशुजीवन है। उसका आत्मा भी यानी अन्नमय और प्राणमय पुरुष भी दुःखके अन्दर एक-प्रकारके आनन्दका अनुभव करता है,–चाहे वह शरीरमें और प्राणोंमें सज्ञान वेदना हीका अनुभव हो। परन्तु वह आनन्द एक विपरीत आनन्द है, दुःखरूपसे ही दुःखका रस है, दुःख पूरा बोध होनेपर भी उसमें वह कैसा रसास्वादन है। जैसे मिर्च और नमकके तीव्र तीखेपनमें भी एक प्रीतिकर स्वाद रहता है,–जिसे हम नहीं चाहते,–जिसे जोरसे फैंक देना चाहते हैं उसके साथ भी जैसे एक गहरा मिलन सम्बन्ध–एक घन आकर्षण रहता है।

इस शरीर और प्राणोंके जगत्से ऊपर उठकर जब मनुष्य मन-जगत्में प्रवेश करता है, तब वह

बिल्कुल पशु नहीं रहता, तब वह देह संग कामना या प्राणोंकी वासनाका ही सर्वथा दास नहीं रहता—उससमय उसके अन्दर बुद्धिका खेल शुरू हो जाता है; वह वस्तुको जानना, पहचानना, समझना, उसपर विजय प्राप्त करना सीख लेता है। तब वस्तुके स्पर्शसे उसके अन्दर एक दूसरी ही तरहका आनन्द जाग्रत होता है—दुःखसे उसका यह मनोमय पुरुष कुछ दूसरे ही प्रकारका रस ग्रहण करता है। मानसपुरुष शारीरपुरुषकी भांति दुःखमें निवास नहीं करता, वह दुःखके ऊपरकी मंजिलपर खड़ा हो जाता है—उदासीन। वहांसे वह दुःखके खेलको साक्षीरूपसे देखता है, दुःख उसे स्पर्श नहीं कर पाता। उसे दुःखकी अनुभूति (Feeling) नहीं होती, होती है केवल दुःखकी प्रतीति (Perception)। प्राणमय और अन्नमय पुरुषके निकट जिसप्रकार दुःख स्पष्ट-रूपसे खिला हुआ, जागता हुआ, जमा हुआ रहता है वैसा यहां नहीं रहता। यहां केवल उसकी एक छाया—एक प्रतिध्वनिमात्र रहती है।

मनुष्यके अन्तरमें एक मंजिल और भी है, वह इस मनसे भी अतीत है, वहां मनुष्य मनुष्य नहीं है, देवता है। देवताका प्रतिष्ठान है। विज्ञान-लोकमें—वहां दुःखकी छाया मात्र भी नहीं है, इसलिये वहां सुख-दुःख,-श्रेय-प्रेयका कोई द्वैत नहीं है—वहां है केवल आनन्द, अनन्त अखण्ड आनन्द! मनुष्यमें जब उसका यह विज्ञानमय पुरुष जाग उठता है—जब वह अध्यात्मसत्तामें स्थित हो जाता है, जब उसीके धर्मसे सारी अनुभूति, समस्त उपलब्धि रंग जाती है, तब दुःखका सर्वथा लोप हो जाता है, उससमय 'दुःखके आनन्द' नामकी भी कोई वस्तु नहीं रह जाती।

अतएव यह देखा जाता है कि दुःखके प्रति मनुष्यकी जो अनुमति होती है सो बहुत ही नीची मंजिलसे होती है। प्राण और देहमें आत्माकी यह अनुभूति है Active (सक्रिय) और मनमें वह है Passive (निष्क्रिय)। परन्तु विज्ञान या आनन्दलोकमें यह सब कुछ भी नहीं है; दुःखका वहां पूर्ण निर्वाण है।

जगत्‌में मनुष्यका विवर्तन चल रहा है, देह, प्राण, मनकी मंजिलोंपर उठते हुए आनन्दलोकमें प्रतिष्ठित होनेके लिये। जगत्‌में मनुष्यकी सार्थकता भी इसप्रकार निम्नतर स्तरोंका भोग करते हुए उन सबको लांघकर क्रमसे ऊंचीसे ऊंची मंजिलपर पहुंचकर उसीके धर्मसे अपनेको मण्डित करनेमें है। यानी देह, प्राण, मनके धर्मोंसे पार होकर विज्ञान आनन्दके धर्ममें प्रतिष्ठित होनेमें ही उसके जीवनकी सार्थकता है। यही प्रकृतिकी गूढ़ प्रेरणा है, यही भगवान्‌की दिव्य इच्छा है—यही सृष्टिकी ऊर्द्ध्वगतिका मूल रहस्य है।

मानवजातिकी वर्तमान प्रकृति, उसका जीवन और उसका प्रतिष्ठान संगठित और नियन्त्रित है प्रधानतः प्राणमय और अन्नमय-पुरुषकी और थोड़े अंशमें मनोमयपुरुषकी प्रेरणासे। परन्तु वास्तवमें यही उसका सनातन चिरन्तन सत्य नहीं है। अशक्ति, अज्ञान, रोग, जरा, मृत्यु आदि सबप्रकारके दुःखोंमें जो आत्माका आनन्द है वही शेष सीमा नहीं है, वह तो एक मंजिल है। दुःखको सहते रहना या दुःखको जय कर लेना भी आत्माकी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है। दुःखके बीजको भस्मीभूतकर एक अव्रण, अक्षत आनन्दमें अधिष्ठित होना ही आत्माकी पूर्णतम पूर्णता है। केवल आत्माकी गम्भीरतामें ही नहीं परन्तु मन, प्राण, शरीरमें भी, केवल अन्तरमें ही नहीं परन्तु बाहर प्रकाशमें भी दुःखके सारे बोध,—दुःखके सारे कारणोंको हटाकर केवल आनन्दकी ही विग्रह-मूर्ति बनाकर उसे सजा लेनेमें ही सृष्टिकी सार्थकता है-मनुष्यकी चरितार्थता है।

अब इस बातको हम सहजहीमें समझ सकेंगे कि भीतर बाहर इस आनन्दलोककी स्थापना कैसे की जा सकती है-इसका इशारा ऊपर किया जा चुका है। मनुष्य साधारणतः दुःखका दास है, जब वह दुःख भोगता है तब एक दुःखके सिवा वह और कुछ भी अनुभव नहीं करता, इस दुःखके

पीछे दूसरी भी कोई अनुभूति है या नहीं, इस बातको देखनेका उसे अवकाश ही नहीं मिलता, वह दुःखमें ही सर्वथा मोहित रहता है। इसलिये सबसे पहले इस बातका अनुभव करना चाहिये कि यह दुःख केवल दुःख ही नहीं है-इसकी आड़में छिपा हुआ है आनन्द,-हमारे देह प्राणोंके अधिष्ठाता आत्माकी प्रीति। अतएव तितिक्षा यानी सहन करना चाहिये। जब रोग प्रवेश कर चुका, जब यातना अत्यन्त बढ़ गयी तब उस वेदना-यातनाको जोरसे धारण करना चाहिये। समस्त आधारको दृढ़तासे इसतरह सम्हालकर रखना चाहिये जिससे वह गिर न पड़े। यह इच्छा-शक्ति या तपोबलसे हो सकता है, अभ्यासके द्वारा इस शक्तिको प्राप्त करनी चाहिये। तितिक्षाके फलसे, दुःखमें रहनेपर भी हमें दुःखकी आड़की अन्तःसलिला फल्गुनदीके प्रवाहकी तरह छिपे हुए शारीरपुरुषके आनन्दका पता लग जायगा। तितिक्षाके साधनसे कुछ आगे बढ़नेपर-उदासीनताकी आवश्यकता होगी, मनको खैंचकर ऊपर उठाना होगा, यह दृढ़ धारणा करनी होगी कि दुःख या दुःखनामक जो सब अनुभूति-तरंगें उठ रही हैं वे मुझको स्पर्श नहीं कर सकतीं। वे तरंगें हमारी नीची मंजिलमें, हमारे शरीर और प्राणमें बहती हैं, मैं तो उनका एक द्रष्टा हूं, केवल देखभर रहा हूं। मैं दर्शक होकर-इस नाट्य-लीलाके इस वियोगान्त दृश्यके आनन्दको ही भोग रहा हूं। इस अवस्थामें दुःखका बोध दुःखरूपसे नहीं होगा शरीरमें रोग है, वह रोग मुझको नहीं है, कमलके पत्तेपर जलकी बूंदके समान टपक टपककर गिर रहा है।

इस उदासीनताके बाद होती है ईश्वरमें परानुरक्ति, भगवान्‌में पूर्ण आत्म-समर्पण, अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठा। क्योंकि इसीसे हम उस पूर्ण आनन्दके अधिकारी होते हैं जो भगवान्‌का नित्य निगूढ़ स्वरूप है। इसीसमय भगवान् अपनी विज्ञानमय सत्ताको साथ लेकर हमारे अन्दर आविर्भूत होते हैं। उससमय हमने दुःखको जीत लिया है यही बात नहीं है, परन्तु दुःखका अस्तित्व ही हममें नहीं रहा। आनन्दमय पुरुषने आनन्दके विज्ञानके धर्मसे हमारे जीवनको प्रत्येक मंजिलको गढ़ डाला। जब दुःखकी अनुभूति जाती रही, तब दुःखका कारण भी दूर होगया। फिर इसलोकमें हम केवल दिव्य द्रष्टा ही नहीं हैं, तब हम हैं प्रधानतः दिव्य स्रष्टा। यहां हम दुःखका दृश्य निर्विकारभावसे अथवा आनन्दसे भोग रहे हैं यही नहीं है, हम एक नवीन दृश्य रच भी रहे हैं। रोग, जरा, मृत्युसे हम दुःखका अनुभव नहीं करते, इतना ही नहीं है, रोग, जरा मृत्युका यहां अस्तित्व ही नहीं है। इससमय हम केवलानन्दके अमृतत्वसे परिपूर्ण हैं-स्वास्थ्य, सौन्दर्य-तेजसे भरे हैं-हमारा प्रत्येक अंग देवसत्तासे संगठित है। (अनूदित)

चित्र-परिचय

१-भक्ति ज्ञान वैराग्य-एकसमय बद्रीनारायण-क्षेत्रमें सन्त समागमके लिये आये हुए चारों सनकादिमुनियोंने देवर्षिनारदको उदासमुख देखकर उनसे पूछा, 'हे ब्रह्मन्! आज किस चिन्तासे आपका मुखमण्डल उदास है? आप इससमय कहांसे आये और शीघ्रतासे कहां जारहे हैं? धन लुटे हुए मनुष्यकी भांति आप शून्यचित्तसे होरहे हैं, यह आप जैसे विरक्त पुरुषके लिये अनुचित है। कृपया इसका कारण बतलाइये।'

नारदजी कहने लगे-"मैं पृथ्वीको कर्मभूमि होनेके कारण सब लोकोंसे उत्तम जानकर वहां गया था। वहां मैं अनेक तीर्थोंमें घूमता रहा परन्तु कहीं भी मुझे सन्तोषजनक कल्याणकारी साधन नहीं देख पड़ा; अधर्मसखा कलियुगने समस्त पृथ्वीमण्डलको कलुषित कर डाला है। कहीं भी सत्य, तप, दया, दान और शौच आदि

नहीं हैं। सब जीव तुच्छ विचारोंके, किसी भी तरह अपना पेट भरनेवाले, असत्यवादी, मन्दबुद्धि, मन्दभाग्य, मन्द आचरण, पाखण्डी और नाना-प्रकारके कष्टोंसे पीड़ित हैं। सन्त विरक्त कहलाने-वाले लोग पाखण्डी और घरबारी हैं। पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंका प्रभुत्व बढ़ रहा है, साले ही सलाहकार हैं। पिता लोभवश अपनी लड़कियां बेचते हैं, पति पत्नियोंमें घर घर कलह हो रहा है। आश्रमों, तीर्थों, नदियों और देवमन्दिरोंको दुष्ट यवनादिकने प्रायः भ्रष्ट कर दिया है। कहीं भी कोई सच्चा योगी, सिद्ध, ज्ञानी या सत्कर्म करने-वाला सदाचारी पुरुष नहीं दीखता। कलियुगरूप दावानलने समस्त साधनोंको जलाकर भस्म कर डाला है। इस कलियुगके प्रभावसे आज पुरों और नगरोंमें लोग अकालके कारण अन्न बेचकर, ब्राह्मण वेदोंको बेचकर और स्त्रियां अपना सतीत्व बेचकर निर्वाह करती हैं।"

'इसप्रकार कलियुगके दोषोंको देखता हुआ मैं घूमते घूमते उस यमुना नदीके तीरपर पहुंचा जहां भगवान् श्रीहरिने बाललीलाएँ की थीं। हे मुनीश्वरो! वहांपर मैंने एक बहुत आश्चर्यजनक दृश्य देखा सो आपसे निवेदन करता हूं। मैंने देखा वहां एक युवती स्त्री बैठी है जिसका मन अत्यन्त खिन्न हो रहा है, उस युवतीके पास दो वृद्ध पुरुष केवल श्वास लेते हुए अचेत पड़े हैं, वह स्त्री उनकी सेवा करती हुई उन्हें जगाना चाहती है और जब वे नहीं जागते तब बड़ा विलाप करती है। वह स्त्री किसी रक्षकके मिलने-की आशासे चारोंओर देखती है। उसको घेरे हुए अनेक स्त्रियाँ पंखा डुलाती हुई और उसकी सहायता करती हुई उसे बारम्बार धीरज बँधा रही हैं। दूरसे इस दृश्यको देखकर मैं कौतूहलवश उसके पास गया। मुझको देखते ही वह युवती खड़ी होकर विह्वल चित्तसे कहने लगी 'हे साधु! बड़े भाग्यसे आप सरीखे महात्माओंके दर्शन होते हैं, क्योंकि आपके दर्शनसे समस्त पाप अनायास ही नष्ट हो जाते हैं, मुझको विश्वास है कि आपके वचनोंसे मेरा दुःख नष्ट हो जायगा, अतएव आप क्षणभर यहां ठहरकर मेरी चिन्ता मिटा दीजिये।'

"उसके ऐसे वचन सुनकर मैंने उससे कहा, हे देवी! तुम कौन हो? ये दोनों अचेत पड़े हुए वृद्ध कौन हैं और ये कमलनयनी रमणियां कौन हैं? तुम अपने कष्टका कारण मुझे विस्तारपूर्वक कहो। इसके उत्तरमें वह युवती कहने लगी–हे महात्मन्! मेरा नाम भक्ति है और ये दोनों ज्ञान और वैराग्यनामक मेरे ही पुत्र हैं परन्तु कलिकालके कारण जराजर्जर हो रहे हैं। ये स्त्रियां-गंगा आदि पवित्र नदियां हैं जो मेरी सेवाके लिये यहाँ आयी हैं। इसप्रकार देवता भी मेरी सेवा करते हैं तथापि मुझे सुख नहीं है। अब मेरा जीवनवृत्तान्त सुनकर आप वह उपाय कीजिये जिससे मुझे सुख हो। मैं अनेक देशोंमें घूमती हुई अत्यन्त जीर्णशीर्ण और अंगभंग होकर इन दोनों दुर्बल पुत्रोंसहित वृन्दावनमें आयी। यहां आते ही मैं तो फिरसे सुन्दरी युवती बनगयी परन्तु मेरे ये पुत्र अभी वैसा ही क्लेश भोग रहे हैं। इनके वृद्ध होजानेसे मैं अत्यन्त दुःखी होरही हूँ। अब आप यह बतलाइये कि इस विपरीतभावका कारण क्या है, जो मैं माता तो जवान होगयी और ये मेरे पुत्र वृद्ध होगये!"

"तब मैंने क्षणभर विचारकर उससे कहा, हे कल्याणि! मैं इसका कारण बतलाता हूं, सावधान होकर सुनो। इस भयङ्कर कलियुगने सदाचार, योग और तपका नाश करदिया है। सब जीव पापी, दुष्कर्म करनेवाले और पाखण्डी बनकर असुरोंके समान आचरण करनेलगे हैं। इससमय सज्जन कष्ट पाते हैं और दुष्ट प्रसन्न रहते हैं। इसकालमें जो धैर्य रख सके उसीको धीर बुद्धिमान् या पण्डित समझना चाहिये। यह पृथ्वी ऐसी पापमयी होगयी है कि इसमें रहना तो दूर रहा–यह देखने योग्य भी नहीं रही। भगवान् शेषजी भी पापके भारसे दबरहे हैं। इससमय तुम्हारे ज्ञान, वैराग्यनामक पुत्रोंको

कौन पूछता है, तुम्हारा भी असली आदर कहीं नहीं होता। सभी विषयोंमें अन्धे होरहे हैं, इसीसे तुम तीनोंकी उपेक्षा होरही है और इसीकारण तुम्हारी ऐसी दुर्दशा हुई थी। परन्तु धन्य है इस वृन्दावनको जहां आते ही तुम तो पुनः युवती बनगयी, क्योंकि यहां घर घर भक्ति ही नृत्य कररही है, परन्तु यहां तुम्हारे इन ज्ञान, वैराग्य-नामक दोनों पुत्रोंका कोई भी ग्राहक नहीं है, इसीसे इनका बुढ़ापा दूर नहीं हुआ तथापि दूसरे स्थानों-की अपेक्षा यहां इन्हें सुख अधिक है इससे कुछ आत्मसुखके कारण ये सोये हुएसे जान पड़ते हैं।"

"भक्तिने कहा, हे मुने! आपके वचनोंसे मुझे बड़ा सुख मिला, कृपाकर मुझे यह बतलाइये कि कलियुगका शासन करनेमें प्रवृत्त हुए राजा परीक्षितने इसे क्यों छोड़ दिया–इसका बीज नाश क्यों नहीं कर डाला, इस कलियुगसे सब वस्तुओंका सार कहां चला गया? करुणानिधान भगवान् भी इस अधर्मको कैसे देख रहे हैं?"

"मैं बोला, हे कल्याणि! तुम्हारे प्रश्नोंका मैं उत्तर देता हूं तुम ध्यानसे सुनो, इससे तुम्हारा दुःख दूर होगा। जब भगवान् मुकुन्द इस पृथ्वीको छोड़कर स्वधाम पधार गये, उसी दिनसे सब साधनोंमें बाधा पहुंचानेवाले इस कलियुगका अधिकार हो गया। दिग्विजय करते समय गोरूप धारिणी पृथ्वी और वृषभरूपधारी धर्मपर आक्रमण करते हुए दुष्ट कलियुगको एक जगह राजा परीक्षितने देखा और पकड़ा था परन्तु जब वह भयभीत होकर दीनभावसे राजाकी शरणमें आगया तब भ्रमरके समान सारग्राही राजा परीक्षितने कलियुगमें मनुष्योंके सहज ही कल्याणके लिये इस असार संसारमें उस सारयुक्त कलियुगको यह सोचकर छोड़दिया कि प्रथम तो यह शरणागत है, इसलिये इसे मारना अनुचित है, दूसरे इसमें एक सर्वोत्तम गुण यह है कि—

यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना।
तत्फलं लभते सम्यक्कलौ केशवकीर्तनात्॥

'जो फल तपसे, योगसे और समाधिसे दूसरे युगोंमें नहीं मिल सकता वही फल इस कलियुगमें केवल श्रीहरिकीर्तनसे भलीभांति मिल जाता है।' यह तो कलियुगको न मारनेका कारण है।

"कुकर्म करनेसे पृथ्वीके सभी पदार्थ बिना चावलके धानकी तरह सारहीन हो गये हैं। ब्राह्मण तनिक तनिकसे अन्न धनके लोभसे घरघर अश्रद्धालु लोगोंको हरिकथा सुनाते फिरने लगे, इससे कथाका सार निकल गया। तीर्थोंमें अत्यन्त उग्र कर्म करनेवाले दुराचारी, रौरवनरकमें जाने-वाले नास्तिक रहने लगे, इससे उनका सार जाता रहा। काम, क्रोध, अति लोभ और तृष्णासे जिन लोगोंके चित्त सदा व्याकुल रहते हैं, ऐसे मनुष्य तपस्वी बनकर बैठने लगे, इससे तपका सार चला गया। मनको न जीतने, लोभमें फँसे रहने, ढोंग करने, पाखंड रचने तथा शास्त्रोंका अभ्यास न करनेके कारण ध्यानयोगका फल नष्ट होगया। पंडित कहलानेवालोंकी तो यह दशा है कि वे भैंसेके समान निर्भय होकर विषयभोग करने और वंश बढ़ानेमें ही दक्ष हैं, उनको मोक्षके साधनका कुछ भी पता नहीं। सच्चे भक्त वैष्णव बहुत थोड़े हैं परन्तु सम्प्रदाय बढ़ाकर परस्पर कलह करनेवाले अनेक हैं, इससे वैष्णवधर्मका सार नष्ट होगया। हे भक्ति! यह युगधर्म है, किसको दोष दिया जाय। इसीसे पुरुषोत्तम हरि भी पास ही रहकर सब कुछ सहते हैं।"

"तदनन्तर मैंने भक्तिको आश्वासन दिया और उसका माहात्म्य बतलाया जिससे भक्तिके सब अंग सुधर गये!"

इसी विषयका रंगीनचित्र इस संख्यामें प्रकाशित है। इसके चित्रकार श्रीयुतदेवलालीकरजी हैं। चित्रकी सुन्दरता देखते ही बनती है।

२–श्रीकृष्णप्रेमजी वैरागी—कल्याणके पाठक आपके नामसे परिचित हैं एक अंगरेज सज्जनका इसप्रकार कृष्ण प्रेममें आकर्षित होकर पावन प्रेमपथपर आजाना बहुत ही आनन्दका विषय है।

श्रीहरिः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यस्य स्वादुफलानि भोक्तुमभितो लालायिताः साधवः,
भ्राम्यन्ति ह्यनिशं विविक्तमतयः सन्तो महान्तो मुदा ।
भक्तिज्ञानविरागयोगफलवान् सर्वार्थसिद्धिप्रदः,
सोऽयं प्राणिसुखावहो विजयते कल्याणकल्पद्रुमः ॥

भाग ३ } माघ कृष्ण ११ संवत् १९८५ { संख्या ७

माखनप्रेमी श्याम

नन्दसुत चुपकै माखन खात ।
ठाढ़ो चकित चहूंदिसि चितवत, मन्द मन्द मुसुकात ॥
मथनीमहं कोमल कर डारे, भाजनकी ठहरात ।
जो पावत सो लेत ढीठ हठि, नेकहु नाहिं डरात ॥
देखति दूरि ग्वालिनीं ठाढ़ीं, मन घरिबेकी घात ।
'श्याम' मधुकी माधुरि लीला, निरखि निरखि हरखात ॥

साधकोंके प्रति

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

उपर्युक्तविघ्नोंको साहसके साथ हटाते हुए खूब दृढ़तासे साधनमें लगे रहना चाहिये। महर्षि पतञ्जलिने कहा है–

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।
(१।१४)

अभ्यास जब दीर्घकालतक निरन्तर आदरके साथ किया जाता है तब वह दृढ़ होता है। इसमें तीन बातें बतलायी हैं। अभ्यास दीर्घकालतक करना चाहिये, निरन्तर करना चाहिये और सत्कार-बुद्धिसे करना चाहिये।

दीर्घकालसाधन

अल्पसाधनसे यथार्थ-वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती, जबतक अभीष्ट प्राप्ति न हो तबतक साधन किये ही जाना चाहिये। प्राप्ति हो जानेके बाद भी साधन छोड़नेकी आवश्यकता नहीं, पहले साधन किया जाता है साध्य वस्तुकी प्राप्तिके लिये और सिद्ध हो जानेपर वही साधन स्वाभाविक हो जाता है। जिससे अभीष्ट वस्तु मिलती है, उसे कृतज्ञताके कारण भी छोड़नेको जी नहीं चाहता।

जो लोग थोड़ेसे साधनसे ही बहुत बड़ा फल चाहते हैं ऐसे जी चुरानेवाले लोगोंको परमार्थकी प्राप्ति नहीं होती, इस मार्गमें तो नित नया उत्साह और नित नयी उमङ्ग चाहिये। जो आलसी हैं, जरासेमें ही थक जाते हैं वे इस पथके पथिक नहीं बन सकते। यथार्थ साधक तो बुद्धदेवकी भांति भरकभावसे कहता है–

इहासने शुष्यतु मे शरीरं
त्वगस्थिमांसं प्रलयञ्च यातु।
अप्राप्तबोधिं बहुकल्पदुर्लभं
नैवासनात् कायः समुच्चलिष्यते॥

इस आसनपर मेरा शरीर सूख जाय, मांस चमड़ी हड्डी नाश हो जायं, परन्तु बहुकल्पदुर्लभ बोध प्राप्त किये बिना इस आसनसे कभी नहीं डिगूंगा।

ऐसा साधक कालकी परवा नहीं करता। कितना ही समय क्यों न लगे, अभीष्ट वस्तुकी उपलब्धि होनी चाहिये।

निरन्तर साधन

दीर्घकालका यह अर्थ नहीं कि साधन तो बरसोंतक करे परन्तु उसका कोई भी नियम न हो। मनमें आया, फुरसत मिली कुछ कर लिया, नहीं तो दो चार दिन बाद सही। सच्ची और पूरी लगन होनेपर ऐसा हो ही नहीं सकता। जिसको बड़े जोरकी प्यास लगी होती है उसे जलके सिवा दूसरी वस्तु सुहाती ही नहीं, जबतक उसे जल नहीं मिल जाता, तबतक वह व्याकुल रहता है और पल पलमें केवल जलकी ही स्मृति करता है इसी प्रकार जो परमात्मारूप स्वातीकी बूंदका पिपासु है उस चातकरूप साधकको क्षणभर भी कल नहीं पड़ती, वह तो दिनरात उस एक ही भावमें विभोर रहता है। उसकी बुद्धिमें अपने साधनको छोड़कर अन्य सब विषयोंमें गौणता आजाती है।

सत्कार और श्रद्धा

इसप्रकार निरन्तर साधनमें लगा हुआ साधक बड़ी सत्कार-बुद्धिसे अपना कार्य करता है। जो साधक बेगारमें पकड़े हुएकी भांति साधन करते हैं या जो बला टालनेके भावसे करते हैं उनकी उस साधनमें आदर-बुद्धि नहीं है, आदर-बुद्धि हुए बिना साधनका फल नहीं मिलता। जो लोगोंके दिखलानेके लिये या केवल दिल बहलानेके लिये साधन करता है उसकी भी असलमें साधनमें श्रद्धा नहीं है।

श्रद्धालु साधक तो अपने साधनको जीवनका मुख्य कर्तव्य समझकर करता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह जिस साधनमें लगा हो, उसमें पहले पूर्ण श्रद्धा करे, बिना श्रद्धाके किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती भगवान् गीतामें कहते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

अश्रद्धासे किया हुआ हवन दान तप या कोई भी कर्म 'असत्' कहलाता है उससे न यहां कोई लाभ होता है और न परलोकमें होता है। श्रद्धा ही साधकका मुख्य बल है। श्रद्धाहीन साधकको पद पदपर सन्देह और कुतर्कोंके थपेड़ोंसे घबराकर साधन छोड़नेके लिये बाध्य होना पड़ता है!

एकान्तवास

ज्ञानके साधकके लिये भगवान्‌ने 'विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।' कहकर एकान्तसेवन और मनुष्य-समाजसे अनुराग हटानेकी आज्ञा दी है। साधनको परिपक्व बनानेके लिये एकान्तसेवनकी अत्यन्त आवश्यकता भी है परन्तु जबतक साधनमें पूरी लगन न हो तबतक सारा कामकाज छोड़कर, अपने ऊपर कोई जिम्मेवारी न रखकर दीर्घकालतक एकान्तसेवन करना अधिकांश साधकोंके लिये प्रायः हानिकर होता है, इसलिये नये साधकको चाहिये कि वह परमात्माका ध्यान या प्रार्थना करनेके लिये पहले चौबीस घण्टेके दिनरातमेंसे एक घण्टा एकान्तसेवन करे। एकान्तमें मनमें प्रमादबुद्धि या आलस्य निद्रा न सतावे तो क्रमशः समय बढ़ाना चाहिये। यथासाध्य सप्ताहमें एक दिन, महीनेमें चार पांच दिन, सालभरमें एक महीना ऐसा निकालना चाहिये, जो केवल परमार्थके साधन और भगवच्चर्चामें ही बीते। इससे मनको जो सात्विक भोजन मिलता है उससे मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहनेमें बड़ी सहायता मिलती है।

परन्तु बिना अभ्यासके एकान्त-सेवनमें प्रमाद आलस्य निद्रा कुप्रवृत्ति आदि तामसिक दोषोंके वश होनेका बहुत भय रहता है। साधनका अभ्यास न होनेसे समय कटना कठिन हो जाता है और निकम्मे रहनेसे प्रमाद आलस्य उसे फंसा लेते हैं। आजकल बहुतसे साधु संन्यासियोंमें गांजा भांग आदि पीने, व्यर्थ गप्पें मारने, इधर उधरकी बातें करनेकी जो प्रवृत्ति देखी जाती है उसका प्रधान कारण यही है, कि उनके पास समय बहुत है पर काम नहीं है इसीसे कुसंगतिमें पड़कर वे लोग नानाप्रकारके बुरे व्यसनोंके वश हो जाते हैं। अमीरोंके लड़के ज्यादा इसीलिये बिगड़ते हैं कि उनके पास समय बहुत रहता है परन्तु काम नहीं रहता, समय बितानेके लिये उन्हें व्यर्थके काम करने पड़ते हैं, नहीं तो क्या मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय ताश चौपड़ शतरंज खेलने, व्यर्थकी गप्पें उड़ाने, परचर्चा करने, दिनभर सोने, प्रमाद करने और पापोंके बटोरनेके लिये थोड़े ही मिला है? अतएव साधकको चाहिये कि एकान्तसेवनकी आवश्यकताको समझकर उसे ईश्वरचिन्तनके अभ्यासके लिये बढ़ाते हुए भी किसी न किसी जिम्मेवारीके कार्यमें अपनेको अवश्य लगाये रक्खे, वह काम परोपकारका हो या घरका हो, ईश्वरार्पित-बुद्धिसे आसक्ति छोड़कर किये जानेवाले सत् कार्य सभी ईश्वर-भजनमें शामिल हैं।

काममें लगे रहनेसे मनको व्यर्थ-चिन्तन या प्रमादके लिये समय ही नहीं मिलेगा। अवश्य ही काम करते समय भी ईश्वर-चिन्तनको छोड़ना नहीं चाहिये बल्कि ईश्वरचिन्तन करते हुए ही काम करना चाहिये। इसीसे भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर च युध्य।' सब समय मुझे स्मरण करता रह और युद्ध भी कर। अपनी जिम्मेवारीके कर्तव्य कर्मको जानबूझकर छोड़े नहीं, पर उसे करे भगवच्चिन्तन करते हुए। पहले भगवच्चिन्तन, पीछे कर्तव्यकर्म। इसप्रकार भगवान्में मन लगाकर भगवदर्थ कर्म करनेवालेका उद्धार भगवान् बहुत ही शीघ्र कर देते हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२।७)

हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमियोंका मैं बहुत शीघ्र इस मृत्युरूप संसार-सागरसे उद्धार कर देता हूं।' वास्तवमें सच्चा एकान्तसेवन तो मनका एकान्तरूपसे परमात्मामें लग जाना है। इस आन्तरिक एकान्तसेवनकी प्राप्तिके लिये ही बाह्य एकान्तसेवनका अभ्यास किया जाता है।

साधुव्यवहार

साधकको व्यवहारमें सदासर्वदा साधुता रखनी चाहिये। सब प्रकार दुःख कष्टोंको शान्तिपूर्वक सहना, क्रोधका बदला क्षमासे देना, वैरके बदले प्रेम करना, शापके बदले वरदान देना, बुरा करनेवालेके साथ भलाई करना, अपनेको सबसे छोटा समझना, अपनेमें किसी बातमें भी बड़प्पनका अभिमान न करना, किसीका दोष न देखना, किसीसे घृणा नहीं करना, किसीके दोषोंकी समालोचना न करना, परस्त्रीमात्रको भगवानका या माताका रूप समझना, आहार विहारमें संयम रखना, बहुत कम बोलना, अनावश्यक न बोलना, सदा सत्य और मीठे वचन बोलना, यथासाध्य सबकी यथायोग्य सेवा करनेके लिये तैयार रहना परन्तु अपनेमें सेवकपनका अभिमान न रखना, अपनेद्वारा की हुई सेवाको परोपकार न समझकर उसे अवश्य कर्तव्य समझना, सेवामें त्रुटियोंका देखना और उन्हें दूर करनेके लिये सचेष्ट रहना, सेवाके लिये किसीपर अहसान न करना, सेवाका कुछ भी बदला न चाहना, दीनताका व्यवहार करना, सबसे नम्र व्यवहार करना, माता पिता गुरु आदि अपनेसे बड़े लोगोंको सेवासे सन्तुष्ट रखना, प्रतिष्ठा मानकी इच्छाका विषके समान त्याग करना, जहां प्रतिष्ठा या मान मिलनेकी संभावना हो वहांसे दूर रहना, अपनी बड़ाई सुननेका अवसर न आने देना, दीनोंपर दया रखना और उनकी सेवाके लिये बड़ेसे बड़े त्यागके लिये अपनेको तैयार करना, यथासंभव किसी पंचायतीके प्रपञ्चमें न पड़ना, सभासमितियोंसे भरसक अलग रहना, परमार्थमें अनुपयोगी साहित्यको न पढ़ना, विवाह और उत्सव आदि भीड़भाड़के और अधिक जनसमुदायके अन्दर यथासाध्य कम सम्मिलित होना, किसी भी दूसरेके धर्मकी कभी निन्दा न करना, छल छोड़कर सबसे सरल व्यवहार करना और दम्भाचरणसे बचनेकी सदा चेष्टा रखना आदि साधुव्यवहार हैं, इनमें जो जितनी उन्नति करेगा, वह उतना ही परमार्थके साधनमें अग्रसर हो सकेगा।

साधकको इस बातका सदा ध्यान रखना चाहिये कि उसके जीवनकी गति किस ओर जा रही है। यदि दैवीसम्पत्तिकी ओर है तो समझना चाहिये कि उसकी उन्नति हो रही है और यदि आसुरीसम्पत्तिकी ओर है तो अवनति हो रही है। यही कसौटी है। भक्ति या ज्ञान कथनमात्रका नाम नहीं है, यह निश्चय रखना चाहिये। भक्ति या ज्ञानके मार्गपर जो आगे बढ़ रहे हैं

उनमें दैवीसम्पत्तिके* गुणोंका विकास होना अनिवार्य है।

पापोंसे सावधानी

साधकको अन्ततः पापोंसे सदा ही सावधान रहना चाहिये। पापबुद्धि जब मनमें आती है तब छोटीसी तरङ्गके समान आती है परन्तु यदि उसे आश्रय मिल जाता है तो वही बहुत जल्द समुद्रके समान बनकर मनुष्यको डुबो देती है। इसलिये तनिकसे भी पापकी कभी उपेक्षा न करनी चाहिये, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक। सांपका या सशस्त्र डाकूका घरमें रहना उतना घातक नहीं है जितना तनिकसी पापबुद्धिका मनमें रहना है।

कुछ लोग कह दिया करते हैं कि पाप करना तो मनुष्यका स्वभाव है या उसके प्रारब्धमें ही पापका योग है, परन्तु यह बात सर्वथा असत्य है। न तो पाप करना मनुष्यका स्वभाव है और न पापका विधान प्रारब्धमें ही है। यह तो पाप करनेवालोंकी युक्तियां हैं, जो पापमें रत रहते हुए भी स्वभाव या प्रारब्धपर दोष मंढ़कर स्वयं निर्दोष बनना चाहते हैं। असलमें यह दुर्बलहृदयकी कल्पनामात्र है। मनुष्यका स्वभाव तो पापोंसे बचकर उन सब भावोंको अपने अन्दर विकसित करनेका है जो उसे परम सत्यवस्तुके अति निकट ले जानेवाले हैं। पाप तो विषयभोगोंकी आसक्तिसे होते हैं, इस आसक्तिका त्याग किये बिना मनुष्य कदापि सत्य वस्तुकी पहचान नहीं कर सकता। विषयासक्ति तो पशुधर्म है, मनुष्योंने अज्ञानसे इसे अपना स्वभाव मानकर अपनेको परमार्थसे बहुत दूर हटा रक्खा है। इसीसे हमें बारम्बार दुःखोंका शिकार बनना पड़ता है। अतएव हृदयमेंसे खोज खोजकर बुरी वासनाओंको निकालना चाहिये। जरासे भी पापको आश्रय देना अपने आपको सदाके लिये दुःखरूप नरकमें डालनेकी तैयारी करना है। मनुष्यमें भगवान्‌की दी हुई ऐसी शक्ति है कि वह चाहे तो पापके परमाणुमात्रसे बचा रह सकता है। इसीलिये भगवान्‌ने आदेश दिया है कि 'हे मनुष्य! तू अपने आपको सम्हालकर सारे पापोंके निवास-स्थान दुर्जय कामरूप शत्रुका नाश कर। 'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।' (गीता)

प्रभुपर विश्वास

साधकको साधनपथसे कभी न डिगने देनेका सबका बड़ा उपाय 'प्रभुपर अटल विश्वास' है। जो साधक परमात्माकी दयालुता, करुणा, उनके विरद सुहृदपन और प्रेमका तत्त्व जानकर उनपर विश्वास रखता है, वह कभी हताश नहीं हो सकता। हम लोग जो पद पदपर साधनसे गिर जाते हैं इसमें एक प्रधान कारण प्रभुमें विश्वासकी कमी है। भगवान् कहते हैं 'जो मुझे सब प्राणियोंका सुहृद् समझ लेता है वही परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है।" सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति (गीता) वास्तवमें यह बहुत ठीक बात है। परमात्माको सुहृद् जान लेनेपर उसके बलपर, उसके विश्वासपर मनुष्य अपनेको सबल समझकर विषयासक्ति और पापोंको दूर करनेमें सर्वथा समर्थ हो जाता है। हम अपने नित्य सुहृद् परमात्माको नहीं पहचानते, यह हमारा बड़ा दुर्भाग्य है। साधकको यह निश्चय रखना चाहिये, परमात्मा मेरा सबसे सच्चा सुहृद् है, नित्य संगी है, मुझे सदा पापोंसे बचाता है, मुझे तो बस, उसीकी शरण होकर उसीका चिन्तन करना चाहिये, फिर सारा भार उसीके ऊपर है। जो साधक परम विश्वासके साथ ऐसा कर लेता है वह निस्सन्देह समस्त विघ्नोंको लांघकर परमात्माको पा लेता है—भगवान्‌ने कहा है, मुझमें चित्त लगानेवाला मेरी कृपासे सब प्रकारसे सङ्कटोंसे अनायास ही तर जाता है।' "मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।" (गीता)

(क्रमशः)

(हस्तलिखित: श्र० पृ० 728 पर?)

* दैवी और आसुरी सम्पत्तिका विवेचन श्रीगीताके १६ वें अध्यायमें देखना चाहिये। होसके तो प्रतिदिन उसका पाठ और मननकर अपनेमें दैवीसम्पत्तिके गुणोंको बढ़ाने और आसुरी सम्पत्तिके अवगुणोंको दूर करनेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

राजनीतिसे धर्मका सम्बन्ध-विच्छेद

(लेखक–श्रीसदानन्दजी, सम्पादक 'मेसेज')

इस विषयको अत्यन्त आवश्यक समझकर हम पुनः कुछ लिखना चाहते हैं, क्योंकि यह हमारे भविष्यकी उन्नतिके प्रधान मूल—देशकी प्राणशक्तिका संहार करनेके लिये धमका रहा है। हम मुक्तकण्ठसे यह कह देना चाहते हैं कि धर्मके अभावमें भारत श्मशान हो जायगा। हमारी इस परिस्थितिमें धर्मही एकमात्र मूल तत्त्व है जो हमें अबतक भयानक विच्छिन्नतासे बचा रहा है—अन्ततः अनेक विभिन्न जातियोंके व्यक्तित्वको एकताके सूत्रमें बांध रखता है, चाहे वह कितना ही अपूर्ण क्यों न हो। इस जीवनी शक्तिको अलग कर देनेपर केवल शोक, अशान्ति और नाशके पूर्व चिह्न जड़ताके सिवा और कुछ भी न रहेगा।

'राजनीतिसे धर्मका सम्बन्ध-विच्छेद' करनेवाला यह एक नवीन संगठन है जो सोवियट रूसके 'ईश्वर-विरोधी मण्डल'का एक अंशमात्र है जो अभी शैशवावस्थामें है, और जिसके अन्तिम परिणामको सोचकर हम कांप उठते हैं। रीगासे रूटरके संवाददाताद्वारा प्रेषित निम्न-लिखित तारसे इस सम्बन्धमें रूसकी स्थितिका हम अनुमान लगा सकते हैं—

"ईश्वर-विरोधी मण्डल' के अनुरोधसे सोवियट युनियनकी सेण्ट्रल कौंसिलने अभी समस्त शाखाओंको सूचना दी है कि उनका कोई भी सदस्य किसी भी धार्मिक कार्यमें क्रियारूपसे भाग न ले, अन्यथा वह सदस्यपदसे अलग कर दिया जायगा।"

रूस और जर्मनीके इन विचारोंसे प्रेरित कुछ थोड़ेसे पथभ्रान्त नवयुवकोंके सिवा ऐसा कौन सच्चा देशभक्त, सच्चा नेता और मातृभूमिका यथार्थ प्रेमी है जो देशको इस स्थितिमें डाल देना चाहता हो? हम यह बहुत जोर देकर कहना चाहते हैं कि इस देशमें आधुनिक जर्मन या रूसी सभ्यताकी स्थापना करना एक विषम परिवर्तन, एक भीषण भूल होगी। बाहरसे ये देश पूर्वापेक्षा अधिक सुखी प्रतीत होते हैं परन्तु जो लोग इनकी वास्तविक आभ्यन्तरिक अवस्थासे और असंख्य गुप्त समितियों तथा कपटपूर्ण मंडलोंसे, जिन्होंने उन देशोंका वक्ष विदीर्ण कर डाला है,—परिचित हैं, वे कदापि अपने देशको वैसी स्थितिमें डालना नहीं चाहेंगे।

संसारका महान् राजनीतिज्ञ और देशभक्तिके भावोंको जागृत करनेवाला मैजिनी कहता है—"धर्म हमारे जीवनका सनातन, प्रधान और आभ्यन्तरिक तत्त्व है। यह मनुष्यत्वका प्राण, आत्मा, जीवन, ज्ञान और बाह्य चिह्न है, यह मनुष्योंके विचारोंको पवित्र और उनकी क्रियाको आदर्श बनाता है। यह उन्नतिशील बन्धुत्व और समाज-सेवाके सिद्धान्तोंको शान्तिपूर्वक दृढ़ करता है। प्रत्येक मनुष्यहृदयके अन्तस्तलमें यह जीवनसे कभी विच्छिन्न न होनेवाला धर्मज्ञान–अनन्त और अविनश्वरका ज्ञान, अज्ञात और अदृश्यको प्राप्त करनेकी अभिलाषा और अपने ज्ञानद्वारा परमात्माको पकड़ रखनेकी इच्छा रहती है।"

इस धर्मका संहार वास्तवमें जाति और बन्धुत्वका संहार है जो राष्ट्रीयताके दो महान् पलड़े हैं। राष्ट्रीयताका निर्माण आत्मशक्तिके द्वारा होना चाहिये। यह शक्ति लौकिक नहीं वरन् आध्यात्मिक है। यह दैवी शक्तिका एक तेजमय अंश है, जो राष्ट्र नामक एकत्रित जनसमूहके समक्ष अवतीर्ण होकर उसे मनुष्यत्वकी उन्नतम

शक्तियां, प्रेम और बलिदान प्रदान करता है जो राष्ट्रनिर्माणके तीन प्रधान पदार्थ हैं।

यद्यपि भारतवर्ष, जो एक दिन भूमण्डलका स्वर्ग और आत्माकी केन्द्रभूमि था, आज अपनी आध्यात्मिक उच्चतासे च्युत हो गया है, ईश्वर-रहित सभ्यताके द्वारा विदीर्ण कर दिया गया है, जड़वादके तीक्ष्णधार चाकूसे खण्ड विखण्ड कर डाला गया है, तथापि अब भी वह दूसरी जगह कहीं न मिलनेवाली आध्यात्मिक सभ्यता और आध्यात्मिक शक्तिसे सम्पन्न है। यह सत्य है कि निर्दय कुठारसे काटा जानेपर यह वृक्ष आज अपने सुन्दर पत्र पुष्प और फलोंको खोकर रूखा सूखा सा दीखता है, परन्तु इसके उजड़े हुए हृदयके अन्तस्तलमें अब भी वह जीवनप्रद रस और बीज विद्यमान हैं जो अनुकूल ऋतुद्वारा पोषित होनेपर अंकुरित पल्लवित पुष्पित होकर मधुर फल दे सकते हैं। परन्तु यह उस शक्तिशाली परमात्मापर निर्भर है जो मेघ, वृष्टि और वायुका नियंत्रण-कर्ता है। उसके आशीर्वाद बिना मानवी शक्ति कभी सफल नहीं हो सकती। उसको छोड़कर किया हुआ कोई भी प्रयत्न असफलता अशान्ति, निराशा और अत्यन्त अनिच्छित बोलशेविज्मको ही प्राप्त होगा। सारांश यह कि, जो लोग ईश्वरविहीन सभ्यताका प्रचार करना चाहते हैं, उनकी नीयत अच्छी होनेपर भी, वे वास्तवमें अशान्ति और शोकका ही प्रचार चाहते हैं। उनकी धर्मविहीन राजनीतिसे देशके हितकी अपेक्षा हानि कहीं अधिक होगी!

पहलेसे ही भिन्न भिन्न धर्मोंके अन्दर भिन्न भिन्न जातियां परस्पर ईर्षा, उच्चाभिमान, हठधर्मी, धर्मान्धता और स्वार्थपरताके कारण अशुभवेषसे आच्छादित होकर पृथक् पृथक् हो रही हैं। आवश्यकता इस बातकी है कि हमारे बुद्धिमान् पुरुष इस कार्यमें सावधानी और निपुणतासे हाथ डालें और इस अमंगलका नाश करके, सबको मिलाकर एक पूर्ण राष्ट्रीय शरीरके रूपमें परिणत करदें। इस कार्यके लिये प्रत्येक व्यक्तिके अन्दर अधिकसे अधिक आध्यात्मिकता-के भावोंको भरनेकी आवश्यकता है, जिससे वह परस्पर पूर्ण और स्थायी एकताकी प्राप्तिके लिये विश्वप्रेम और विश्वबन्धुत्वकी भट्ठीमें पड़कर पिघल सके।

हम आपके राजनीतिक पथमें बाधक होना नहीं चाहते, हम आपको चुप रखना नहीं चाहते, 'जब कि संसार मृत्युकी विभीषिकासे आच्छादित है।' हम नहीं चाहते कि आपके मन्दिरकी नींवको भयमें डालनेवाले प्रबल जलप्रवाहके किनारे आप वस्त्रावृत मूर्तिकी भांति निश्चल खड़े रहें और हम यह भी नहीं चाहते कि आप अपने राजनैतिक क्षेत्रके किसी भी कार्यक्रममें या अन्य किसी नीतिमें हमारी बात सुनें, परन्तु हम केवल यही कहना अपना कर्तव्य समझते हैं कि आप जो कुछ भी कीजिये, परन्तु ईश्वरके लिये अपनी राजनीतिसे धर्मको अलग न कीजिये, अपनी क्रियाओंमेंसे ईश्वरको न हटाइये!

यहां हमारा अभिप्राय उस धर्मसे है जो न तो किसी एक समुदाय या जातिका है और न एक काल या एक मनुष्यका ही है परन्तु वह तत्त्वरूपसे सुरीली और सजातीय सम्पूर्णतामें एकत्रित हुए सभीका धर्म है, पृथ्वीतलपर वह परमात्माका प्रतिबिम्ब है। वह सुन्दर, आदर्श और महान् है। वह एक ही मनुष्य या आत्माको उन्नत नहीं करता अपितु प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक आत्माको उन्नत करता है और उसकी सीमा किसी भी देश काल या पात्रसे आगेतक विस्तृत है। हमारा अभिप्राय उस धर्मसे नहीं है जो समस्त संसारके हमारे करोड़ों प्रिय बन्धुओंके जीवनसे हमें पृथक्कर हमारे विशाल सार्वभौम जीवनमें बाधक होता है और हमारे ज्ञानमय जीवनकी उन्नतिको रोकता है।

हमारा अभिप्रेत वह धर्म अकेला ही इस मर्त्यलोकमें अविनाशी शान्ति और आनन्द ला सकता है। याद रखिये "प्रत्येक धर्म मनुष्यकी आत्मामें सार्वभौम जीवनकी बूंदें टपकाता है।"

अभिलाषा

(लेखक—पं० श्रीरामसेवकजी त्रिपाठी, मैनेजिंग एडीटर 'माधुरी')

निवृतिमें मिल जाने दो प्राण !

(१)

मनोहर वीणाकी झंकार,
प्रकंपित-स्वर-लहरी-संगीत ।
सुधासिंचित अमोल वे बोल -
अरे, फिर सुन लेने दो मीत !
मिलेगा उन चरणोंमें त्राण !
निवृतिमें मिल जाने दो प्राण !!

(२)

श्यामली, भोली-भाली मूर्ति,
देख लेने दो जीभर आज ।
प्यास आकुल नेत्रोंकी मुझे-
बुझा लेने दो, निठुर समाज !
दीप हो जाने दो निर्वाण,
निवृतिमें मिल जाने दो प्राण !

लालसा

दीनबन्धु ! सुन्दर सुखद रामनाम रूपी, शुभ मणि माल मेरे हियमें लसी रहै ।
दीनके दयालु ! या "अवन्त" पै दयालु होहु, मेरी खसी हो न प्रभु! आपकी हँसी रहै ।।
दीजै वरदान यही, स्वामि ! हो प्रसन्न आप आप, भक्ति भावमें सदाहि कमर कसी रहै ।
दीनानाथ ! दर्श जबै चाहूँ हिय माँहि पाऊँ, मूरति तिहारी मेरे मनमें बसी रहै ।।

—श्रीअवन्तविहारी माथुर "अवन्त"

(लेखक-स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे) (पृ० सं० ५८५ से आगे)

[मणि ५]

मुण्डकोपनिषद्

यस्य चिन्तनमात्रेण चित्तं त्यजति चित्यताम् ।
सद्यो भवति चिन्मात्रं तस्मै चिद्ब्रह्मणे नमः ॥१॥

छप्पय

नहीं दृश्य नाहिं ग्राह्य, गोत्र बिन अकथ अनूपा ।
नहीं शुक्ल नाहिं कृष्ण, वर्ण बिन सहज स्वरूपा ॥
बिना चक्षु बिनु श्रोत्र, सूक्ष्म विभु सर्वप्रकाशी ।
बिना हाथ बिनु पाद, नित्य अक्षय अविनाशी ॥
विश्व चराचर एकमें, ओतप्रोत पहिचानिये ।
भोला ! कारण कार्य सो, एक जान सब जानिये ॥१॥

डोरूशंकर-हे देवी ! चौथे मणिमें आपने पिप्पलाद मुनि और छः ऋषियोंका संवाद सुनाया, उसको सुनकर मुझे बहुत ही प्रसन्नता प्राप्त हुई, आपके वचनामृत सुनकर तृप्ति नहीं होती । ज्यों ज्यों आपके वचन सुनता हूं त्यों त्यों अधिक सुननेकी इच्छा होती है ! ब्रह्माजीने अथर्वा नामके अपने पुत्रको जिस ब्रह्मविद्याका उपदेश किया था, उसे श्रवण करनेकी इच्छा है । अथर्वाने ब्रह्मविद्या प्राप्त करके उस विद्याका उपदेश कौन कौनसे शिष्योंको किया था ? यह सब वृत्तान्त आप मुझसे कहिये !

देवी-हे वत्स ! अथर्वणवेदकी शौनकी शाखामें मुण्डकोपनिषद् है, उसमें यह सब वृत्तान्त लिखा है, उसीको मैं तुझे सुनाती हूं । इस मुण्डकोपनिषद्का विषय अज्ञात सत् ब्रह्म है, ज्ञात सत् ब्रह्म प्रयोजन है । विषय और ग्रन्थका प्रतिपाद्य और प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है और साधनचतुष्टयसम्पन्न मुमुक्षु इस ग्रन्थका अधिकारी है । बुद्धिमानोंकी प्रवृत्तिके अङ्गभूत ये चारों अनुबन्ध हैं । उपनिषद् शब्दका अर्थ ब्रह्मविद्या है । ब्रह्मविद्याका प्रतिपादन करनेवाला होनेसे लक्षणावृत्तिसे ग्रन्थ उपनिषद् कहलाता है । ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिये और ब्रह्मविद्या सम्प्रदायके कर्ताओंको बतानेके लिये श्रुति पहले इतिहास कथन करती है:—

सृष्टिकालसे पूर्वकी अवस्थाका वर्णन ।

अपनी उत्पत्तिसे पहले यह सब जगत् तम यानी अन्धकाररूप था, इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाणसे जाननेके योग्य न था । रूपादि लक्षणरहित था, इसलिये अनुमानसे भी जाननेमें नहीं आ सकता था । तर्क करके जानने योग्य न था, शब्दसे कहनेमें नहीं आ सकता था, सोये हुए पुरुषके समान कार्य आरंभ करनेको समर्थ न था । लोकमें सत् शब्दसे भाव पदार्थका कथन किया जाता है और असत् शब्दसे अभाव पदार्थ कहा जाता है, ऐसा सत् अथवा असत् वह तम नहीं था; तेजका विरोधी जो प्रसिद्ध अन्धकार है, वह अन्धकार भी न था । उस समय आकाशादि

पंचमहाभूत नहीं थे। न दिन था, न रात थी, प्रातःकाल और सायंकाल यह दोनों सन्ध्याएं भी नहीं थीं, इन दोनों सन्ध्याओंको सिद्ध करनेवाले सूर्य, चन्द्र आदि भी वहां नहीं थे, किन्तु आत्माके स्वरूपको ढकनेवाला एक कारण तत्त्व ही था। यह कारण तत्त्व मृत्यु-रूप है अथवा अमृत-रूप है यह भी जाननेमें नहीं आता था। मारनेवाले पदार्थको मृत्यु कहते हैं और वृद्धिके कारण-रूप आहुतिके परिणामको अमृत कहते हैं। मृत्यु और अमृत दोनों पदार्थ द्वैत दशामें रहते हैं, अद्वैत दशामें नहीं होते। यह कारण तत्त्व जगत्की उत्पत्तिसे पूर्व अस्पष्ट नामरूपवाला था। इसलिये वेदान्तशास्त्रमें इसका नाम अव्याकृत है। अव्याकृत नामका तत्त्व सब जगत्के नाम तथा रूपका कारण है और स्वयं कारणकी अपेक्षासे रहित अद्वितीयरूप है, केवल श्रुतिवाक्यसे ही जाननेमें आता है क्योंकि यह सर्व लक्षणोंसे रहित है। इस लोकमें वास्तविक और विद्यमान् पदार्थ ही कारण होता है, अवास्तविक और अविद्यमान् पदार्थ कारण नहीं होता। यह अव्याकृत नामका तत्त्व वास्तविक अविद्यमान् होकर भी जगत्का कारण है। सब अनादि भावरूप पदार्थ नाशरहित प्रसिद्ध हैं, जैसे कि आत्मा अनादिभावरूप होनेसे नाशरहित है। यह अव्याकृत तत्त्व अनादिभावरूप होनेपर भी आत्मज्ञानसे नष्ट हो जाता है और जड़रूप होनेसे परतन्त्र होनेपर भी असङ्ग और अक्रिय आत्मामें सङ्ग और क्रिया आदि दिखलाता है। यह अनिर्वचनीयताका सूचक तत्त्व अनेक प्रकारके दुर्घट लक्षणोंवाला है। शुद्ध ब्रह्मके प्रतिबिम्बसे युक्त इस अव्याकृत नामक कारणसे हिरण्यगर्भ भगवान् उत्पन्न हुए। यह हिरण्यगर्भ भगवान् सर्व व्यष्टि—जीवोंके ईश्वर हैं और समष्टिका अभिमान करनेसे जीवघन कहलाते हैं। एक अन्तःकरण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, एक प्राण और पांच सूक्ष्मभूत इन सतरह तत्त्वोंके समुदायरूप शरीरमें निवास करनेसे हिरण्यगर्भ आत्मा कहलाते हैं। हिरण्यगर्भ आकाशादिसे पांच स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं। इन स्थूलभूतोंमें निवास करनेसे हिरण्यगर्भ विराट् कहलाते हैं। इन स्थूलभूतोंमें निवास करनेके बाद अपने रहनेके लिये ब्रह्माण्डरूप गोलक उत्पन्न करनेकी उनको इच्छा हुई और वे अपने सत्य संकल्पसे जलके ऊपर सुवर्णमय अण्डरूप परिणामको प्राप्त हुए। यह अण्ड कोटि सूर्योंके समान कान्तिवाला था। उसमें भू आदि सात ऊपरके लोक, पातालादि सात नीचेके लोक, तथा सम्वत्सरादिरूप काल कल्पित किया हुआ था। ब्रह्माण्डके मध्यमें भूमिरूप पद्म है, मेरु उस पद्मकी कर्णिका है। इस मेरुसे हिरण्यगर्भ भगवान् चतुर्मुख-ब्रह्मारूपसे प्रकट हुए। यह ब्रह्माजी इन्द्रादि सब देवताओंसे पहले हुए हैं, सबसे बड़े और सबमें पूज्य हैं और सम्पूर्ण जगत्के उत्पन्न पालन तथा संहार करनेवाले हैं।

अंगिरस तथा शौनकका संवाद

ब्रह्माके अथर्वा नामका ज्येष्ठ पुत्र था। उसको ब्रह्माजीने ब्रह्मविद्या पढ़ायी थी। ब्रह्मविद्या मूल अज्ञानका नाश करनेवाली है क्योंकि वह सब विद्याओंकी आधाररूपा है। इस विद्याको प्राप्त करनेके बाद किसी दूसरी विद्याकी अपेक्षा नहीं रहती। अन्य विद्याएं किसी किसी अर्थका प्रकाश करती हैं और ब्रह्मविद्या सर्व अर्थोंका प्रकाश करनेवाली है। जैसे भोजनके सब ग्रासोंका रस तृप्तिरूप फलमें अन्तर्भूत होता है, इसीप्रकार सब विद्याएं ब्रह्मविद्यामें अन्तर्भूत हैं। इन अथर्वा ऋषिके अङ्गिरा नामके एक शिष्य थे, अङ्गिरा ऋषिके शिष्य भारद्वाज ऋषि थे। भारद्वाजका नाम सत्यवह है। अङ्गिरस नामके ऋषि इनके शिष्य थे। अङ्गिरसके शिष्य शौनक ऋषि थे। यह शौनक ऋषि अन्नदान करनेवाले महान् गृहस्थ थे। सब ब्राह्मण इनके ही शिष्य हुए हैं।

एक समय प्रातःकाल अङ्गिरस ऋषि स्नानादि नित्यकर्म करके एकान्त स्थानमें बैठे हुए थे।

सब वेदोंके जाननेवाले ऋषि तीनों वेदोंसे जानने-योग्य ब्रह्मको जानते थे और सबप्रकारकी इच्छाओंसे रहित निष्काम थे। ऐसे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अङ्गिरस ऋषिके पास विधिपूर्वक जाकर शौनकने इसप्रकार कहा :—

शौनकः-हे भगवन् ! कौनसी एक वस्तुके जाननेसे सब जगत्का ज्ञान हो जाता है ? यह आप कृपा करके मुझसे कहिये।

अंगिरसः-हे शौनक ! अद्वितीय ब्रह्मरूप एक आत्मवस्तुके जाननेसे ही सब जगत्का ज्ञान हो जाता है। इस परब्रह्मकी प्राप्तिके लिये शब्दब्रह्मका ज्ञान ही श्रेष्ठ उपाय है, ऐसा उपनिषदोंमें कहा गया है। शिक्षादि छः अङ्गोंसहित चारों वेद ब्रह्मका शरीर है, उन्हींका नाम शब्दब्रह्म है। शब्दब्रह्ममें कुशल पुरुष परब्रह्मको प्राप्त होता है इसलिये मुमुक्षुको दोनों प्रकारकी विद्याएं अवश्य सम्पादन करनी चाहिये ! इन दोनों विद्याओंमें एक विद्या साधनरूप है। इसका नाम अपरा है। दूसरी विद्या फलरूप है, इसको परा कहते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वणवेद शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन छः अङ्गोंसहित अपरा विद्या कहलाते हैं। वर्ण, स्वर आदिके उच्चारण करनेका जिन शास्त्रोंमें उपदेश है, उनको शिक्षा कहते हैं। जिन शास्त्रोंमें यज्ञ आदिकी विधि वर्णन की है, उनको कल्प कहते हैं। व्याकरण और निरुक्तमें कठिन वैदिक शब्दोंकी व्युत्पत्ति तथा अर्थका प्रतिपादन किया है। छन्दमें छन्द बनानेकी रीति है। ज्योतिषमें सूर्य आदि ग्रह तथा नक्षत्रोंका वर्णन है। अपरा विद्यासे परा विद्याकी प्राप्ति होती है। परा विद्याका विषय अद्वितीय परब्रह्म है। श्रुतिमें परब्रह्मको अक्षर कहा है। वेदवेत्ता इस अक्षरस्वरूप ब्रह्मके लक्षण इसप्रकार कहते हैं:—

अक्षर ब्रह्मके लक्षण

यह अक्षर ब्रह्म मनसहित पांच ज्ञानेन्द्रियोंसे रहित है। पांच कर्मेन्द्रिय तथा पांच प्राणोंसे रहित है, आकाशादि पांच भूतोंसे रहित है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पांच ज्ञानेन्द्रियोंके विषयोंसे रहित है और वचन, आदान, गमन, विसर्ग तथा आनन्द इन पांच कर्मेन्द्रियोंके व्यापारसे भी रहित है इसलिये अक्षर ब्रह्म नेत्रादि इन्द्रियोंसे जाना नहीं जा सकता और न वागादि कर्मेन्द्रियोंसे ग्रहण किया जा सकता है। यह अक्षर ब्रह्म नाम, रूप और क्रिया इन तीनोंसे रहित है तथा जन्म मरण आदि विकारोंसे रहित है इसलिये कुल, रूप तथा गोत्रसे रहित है। आकाशके समान सर्वत्र व्यापक होनेसे देशकृत परिच्छेदसे रहित है, उत्पत्ति तथा नाशरहित होनेसे कालकृत परिच्छेदसे रहित है और मायाके कारण सर्व जगत्का कारण होनेपर भी वस्तुतः सर्व जगत्रूप द्वैतसे रहित होनेसे वस्तु परिच्छेदसे रहित है। यह अक्षर ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे साधनहीन पुरुषके लिये दुर्विज्ञेय है। ब्रह्मचर्यादि साधनसम्पन्न पुरुष ही उसका अपने चित्तमें साक्षात्कार करता है। हे शौनक ! तू इस अक्षर-ब्रह्मको अपनी आत्मा जान ! आत्मासे भिन्न देहादिको आत्मारूप मत जान ! ब्रह्मके ज्ञानसे सब जगत्का ज्ञान हो जाता है क्योंकि कार्य कारणका अभेद है। इस चराचर जगत्का कारण ब्रह्म है इसलिये ब्रह्मके जाननेसे सब जगत् जाना जा सकता है।

अक्षर ब्रह्मको जगत्की कारणता

हे शौनक! अक्षर ब्रह्म ही सब जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयका निमित्त तथा उपादान कारण है। इसमें वेदवेत्ताओंने मकड़ीका दृष्टान्त दिया है। जैसे मकड़ी दूसरेकी अपेक्षाबिना अपनेमें-से ही जालेकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करती है इसलिये जालेका निमित्त तथा उपादान कारण दोनों मकड़ी ही है इसीप्रकार अक्षर ब्रह्म भी सब जगत्का निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों ही है। इस जगत्में कोई सुखी होता है, कोई दुखी होता है, कोई धनी होता है, कोई निर्धन

होता है, इत्यादि अनेक प्रकारकी विलक्षणता देखनेमें आती है। इस विलक्षण जगत्का एक अक्षर ब्रह्म कारण माना जाय तो अक्षर ब्रह्ममें विषमता और निर्दयता दोषकी प्राप्ति होगी! इस शंकाकी निवृत्तिके अर्थ वेद-वेत्ताओंने पृथ्वीका दृष्टान्त दिया है। जैसे अनेक प्रकारके स्थावर जंगमरूप शरीर एक पृथिवीसे ही उत्पन्न होते हैं इसीप्रकार एक ही अक्षर ब्रह्मसे अनेक प्रकारका जगत् उत्पन्न होता है यानी बीजकी विलक्षणतासे एक ही पृथिवीमेंसे जैसे अनेक प्रकारके स्थावर जंगम शरीर उत्पन्न होते हैं इसीप्रकार एक परब्रह्ममेंसे जीवोंके पुण्य पापरूप कर्मोंकी तथा संस्कारोंकी विलक्षणतासे अनेक प्रकारका जगत् उत्पन्न होता है। अक्षर ब्रह्ममें विषमता अथवा निर्दयता दोष नहीं है! हे शौनक! समान स्वभाववाले मृत्तिका तथा घटादि पदार्थोंका कार्यकारण भाव देखनेमें आता है किन्तु विलक्षण स्वभाववाले पदार्थोंका कार्य-कारण भाव देखनेमें नहीं आता इसलिये चेतन-ब्रह्मसे जड़ जगत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस शंकाकी निवृत्तिके अर्थ वेदवेत्ताओंने पुरुषका दृष्टान्त दिया है। जैसे जीते हुए चेतनपुरुषसे नख, केश, लोमादि अचेतन कार्य उत्पन्न होता है इसीप्रकार चेतनरूप अक्षरब्रह्मसे जड़ जगत् उत्पन्न होता है। इससे सिद्ध है कि सर्वथा समान स्वभाववाले पदार्थोंका ही परस्पर कार्यकारण भाव होता हो, यह नियम सर्वत्र नहीं है अक्षर ब्रह्म-से ही जगत्के जन्म, स्थिति तथा लय होते हैं।

जगत्के जन्मादि किसप्रकार होते हैं, इसके विषयमें ऐसा कहनेमें आता है कि जगत्की उत्पत्ति-के पूर्व अक्षरब्रह्ममें जगत्के उत्पन्न करनेको ज्ञान-रूप तप किया। यानी यह इच्छा की कि 'मैं एक हूं बहुत हो जाऊं!' जैसे जलसे भींगी हुई पृथ्वी-में स्थित बीज स्थूलताको प्राप्त होता है इसी-प्रकार ऊपर कहे हुए प्रकारसे इच्छा करनेसे अक्षरब्रह्म भी स्थूलताको प्राप्त हुआ। तदनन्तर ज्ञानरूप तपसे स्थूलताको प्राप्त हुए अक्षरब्रह्मसे यथाक्रम आकाशादि पंचभूत उत्पन्न हुए। इन पंचभूतोंके लिये श्रुतिमें अन्न शब्द कहा है। इस अन्न शब्दसे अव्याकृत समझना चाहिये! नाम रूपात्मक जगत्का आरम्भ करनेवाला अव्याकृत-रूप अज्ञान यद्यपि सिद्धान्तमें अनादि है फिर भी जगत्की उत्पत्तिके कालमें प्रधानतारूप जन्म-को प्राप्त होता है। चेतनके प्रतिबिम्बसे युक्त इस अव्याकृतरूप अन्नसे मन प्राणादि समष्टि सूक्ष्मशरीरवाला हिरण्यगर्भ प्रथम उत्पन्न होता है।

हे शौनक! अक्षरब्रह्म सामान्यरूपसे जगत्-को जानता है इसलिये सर्वज्ञ कहलाता है और विशेषरूपसे जाननेसे सर्ववित् कहलाता है। इस अक्षर ब्रह्मका ज्ञानमय तप है यानी उत्पन्न करनेयोग्य पदार्थोंका जानना ही तप है, प्रजापति व्रतरूप तपके समान क्लेश-रूप तप नहीं है। इस सर्वज्ञ और सर्ववित् ब्रह्मसे समष्टि सूक्ष्मका अभिमानी हिरण्यगर्भ उत्पन्न होता है। हिरण्यगर्भसे नामरूप समष्टि स्थूलका अभिमानी विराट् उत्पन्न होता है।

इति प्रथम मुण्डके प्रथम खण्डः

अपरा विद्याका वर्णन

संसारका स्वरूप जाने बिना वैराग्य नहीं हो सकता अतएव वैराग्यके लिये अपरा विद्या-का विषय जो संसारका स्वरूप है, उसको कहते हैं। वशिष्ठादि विद्वानोंने जिन अग्निहोत्रादि कर्मोंको ऋगादि वेदोंमें देखा, उन वेदविहित कर्मोंका तीनों वेदोंमें अथवा त्रेता युगमें बहुत विस्तारसे प्रचार किया है। उन कर्मोंका फल अवश्य प्राप्त होता है इसलिये उन कर्मोंको सत्य कहते हैं। जिनको कर्मफलकी इच्छा हो, उनको वेदोक्त कर्म अवश्य करना चाहिये, वेदोक्त कर्म उत्तम लोकोंकी प्राप्ति करानेवाले हैं। हिरण्यगर्भ तथा विराट् आदिका ऐश्वर्य वेदोक्त कर्मोंका ही फलरूप है।

इन वेदोक्त कर्मोंमें अग्निहोत्र प्रथम कर्म है, उसका निरूपण करते हैं:–जिस समय हव्यके वाहन अग्निमें हविरूप ईंधन डालनेसे अग्निकी शिखा उठती है, उस समय आज्यभागके मध्यमें सूर्य आदि देवताके उद्देश्यसे आहुती देवे ! आज्य घीको कहते हैं। आहवनीय अग्निके दक्षिण और उत्तरकोणको आज्यभाग कहते हैं। अग्निहोत्रादि कर्मोंके नियम बहुत कठिन हैं और उनमें विघ्नोंकी भी सम्भावना है। जिस अग्निहोत्रीका अग्निहोत्रकर्म दर्शकर्मरहित, पौर्णमासकर्मरहित, चातुर्मास्यरूप कर्मरहित, आग्रयणकर्मरहित, अतिथिपूजनरहित, हवनरहित, वैश्वदेवनामक कर्मरहित, शास्त्रविधिसे रहित अथवा श्रद्धारहित होता है, उस अग्निहोत्रीका अग्निहोत्र भू आदि सात लोकोंका नाश करता है अथवा पिता, पितामह, प्रपितामह, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र और स्वयं मिलाकर सातोंको दुर्गति प्राप्त कराता है। यद्यपि उपरोक्त दर्शादि कर्म अग्निहोत्रके अंग नहीं हैं तो भी नित्यकर्म होनेसे उपचारसे उनका अंगत्व कहा है। अमावस्या और पौर्णमासीके दिन जो यज्ञ किये जाते हैं वे क्रमसे दर्श और पौर्णमास कहलाते हैं। शरदृऋतु और वसन्तऋतुमें नये अन्नसे जो यज्ञ किया जाता है, उसको आग्रयण कहते हैं।

काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, विस्फुलिङ्गिनी और विश्वरुची देवी ये आहुतिको ग्रहण करनेवाली अग्निकी सात जिह्वा कहलाती हैं, ये सातों चलन स्वभाववाली हैं। इनका प्रयोजन यह है। जो अग्निहोत्री इन दीप्यमान अग्निकी जिह्वाओंमें यथाकाल नियमपूर्वक अग्निहोत्रादि कर्म करता है यानी आहुति देता है तो ये दीप्यमान अग्निकी जिह्वाओंमें दी हुई आहुतियां यजमानका सूर्यकी किरणोंसे तादात्म्य यानी मेल कराती हैं, किरणोंमें देवताओंका पति इन्द्र वास करता है, वह इन्द्र एक है, उसके समान किसीका ऐश्वर्य नहीं है और वह सब स्वर्गवासियोंका नियन्ता है। ये सूर्यकी किरणें "आओ, आओ ! " इसप्रकार प्रिय वचन कहती हुई और पूजन करती हुई कर्मी यजमानको स्वर्गमें ले जाती हैं और वहां पहुंचकर कहती हैं "आपने पूर्वमें जो पुण्यकर्म किये हैं, उन कर्मोंका फलरूप यह ब्रह्मलोक है।" ब्रह्मलोकका अर्थ यहां स्वर्गलोक है क्योंकि यह प्रकरण स्वर्गलोकका ही है।

हे शौनक ! जो अधिकारी वेदविहित इन अग्निहोत्रादि कर्मोंको करता है, उसको इन कर्मोंके करनेसे हिरण्यगर्भ आदि ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है और जो इन कर्मोंको नहीं करता किन्तु वेदनिषिद्ध हिंसादि कर्म करता है तथा नेत्रादिके विषय रूपादिमें अत्यन्त आसक्त रहता है, वह अधोगतिको प्राप्त होता है। जो अधिकारी अग्निहोत्रादि कर्म करता है, हिंसादिका त्याग करता है तथा इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त नहीं होता, वह स्वर्गादि लोकोंमें देवताओंके शरीरको प्राप्त होता है। अग्निहोत्रादि कर्ममात्र स्वर्गादिके सुखके ही कारण नहीं हैं किन्तु निष्काम करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा आत्मज्ञानके भी कारण हैं क्योंकि कर्म सकाम तथा निष्काम भेदसे दो प्रकारके हैं। सकाम कर्म स्वर्ग आदि सुखके प्राप्त करानेवाले हैं और निष्कामकर्म अन्तःकरणकी शुद्धिके कारण हैं। सकाम कर्मोंका फल स्वर्गादि मैंने तुझसे ऊपर कहा है, अब निष्काम कर्मोंका फल वैराग्य मैं तुझसे कहता हूं, उसको सुनः–

हे शौनक ! तुझे ऐसा कभी न समझना चाहिये कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरोंसे रहित मोक्षकी प्राप्ति कर्मसे ही हो जायगी क्योंकि कर्मसे उत्पन्न हुआ फल अनित्य ही होता है। जैसे स्वर्गादिरूप फल कर्मजन्य होनेसे अनित्य है ऐसे ही यदि मोक्ष भी कर्मजन्य हो तो वह अनित्य ही ठहरे ! वेदवेत्ताओंने मोक्षको

अनित्य नहीं किन्तु नित्य ही माना है इसलिये मोक्ष, कर्मका फल नहीं हो सकता ! ज्योतिष्टोमादि यज्ञसे लेकर अग्निहोत्रादि सब कर्म अधिकारीको संसार समरमेंसे निकालकर मोक्ष प्राप्त करानेको समर्थ नहीं हैं। तृण काष्ठादिकी बनी हुई नाव केवल जलक्रीड़ा करनेके लिये ही उपयोगी होती है, महान् समुद्रके पार ले जानेमें समर्थ नहीं होती क्योंकि वह बहुत ही छोटी और अदृढ़ होनेसे समुद्रकी लहरोंका सामना नहीं कर सकती, लहरोंकी ठोकरोंसे तुरन्त कम्पायमान होने लगती है। इसलिये वह अपने बैठनेवालोंको भयकी ही प्राप्ति कराती है, ऐसे ही अग्निहोत्रादि कर्मरूप नौका काम क्रोधादि लहरोंसे सर्वदा कंपायमान होती रहती है, थोड़ेसे विघ्नसे नष्ट हो जाती है इसलिये अदृढ़ होनेसे वह पुरुषको संसार-समुद्रसे पार ले जानेको समर्थ नहीं है !

शौनकः–हे भगवन् ! जैसे समुद्रमें नावको चलानेवाले मल्लाह होते हैं, ऐसे ही संसार-समुद्रमें अग्निहोत्रादि कर्मरूप नावको चलानेवाले कौन हैं ?

अंगिरसः–हे शौनक ! अध्वर्यु आदि सोलह ऋत्विज, एक यजमान, एक यजमानपत्नी ये अठारह मनुष्य अग्निहोत्रादि कर्मरूप नावके चलानेवाले हैं । यज्ञादि कर्म करानेवाले ब्राह्मणोंको ऋत्विज कहते हैं। सोलह ऋत्विजोंके नाम ये हैं:–यजुर्वेद जाननेवाले अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा तथा नेता ये प्रथमके चार ऋत्विज हैं। ऋग्वेद जाननेवाले होता, मैत्रावरुण अच्छावाक् तथा ग्रावस्तुत ये दूसरे चार ऋत्विज हैं। सामवेद जाननेवाले उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता तथा सुब्रह्मण्य ये तीसरे चार ऋत्विज हैं। ऋक्, यजुष् और साम इन तीनोंके जाननेवाले ब्रह्मा, ब्राह्मण, छंदसी तथा अग्नीध्रपोता ये चौथे चार ऋत्विज हैं। ये सब मिलकर सोलह ऋत्विज होते हैं। सोलह ऋत्विज, यजमान और यजमानकी पत्नी इनके बिना यज्ञादि कर्मकी सिद्धि नहीं होती, इसलिये कर्मरूप नावके चलानेवाले ये अठारह मल्लाह हैं। कर्मी अपनेको और अपने शिष्योंको अनर्थकी प्राप्ति कराता है इसलिये कर्मी दुर्बुद्धि कहलाता है। कर्मी अपनेको पण्डित मानता है और रोगादि अनेक प्रकारके अनर्थरूप विक्षेपोंको प्राप्त होकर मायारचित मोहरूप खाईमें बारम्बार गिरता है, अनित्य सुखकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंको मोक्षका साधन मानता है इसलिये वह अत्यन्त मूढ़बुद्धि है। कर्मी और कर्मीका गुरु दोनों अविवेकी हैं इसलिये वे दोनों अर्थका निर्णय करनेमें समर्थ नहीं होते ! जैसे अविवेकी अन्धे पुरुषके पीछे चलनेवाला बारम्बार गढ़ेमें गिरता है इसीप्रकार स्वर्गसुखप्राप्तिकी इच्छा करनेवाला अविवेकी कर्मी पुरुष भी विवेकहीन कर्मीके पीछे चलनेसे मायारूप महाजलवाले संसारसमुद्रमें पड़कर महान् दुःख उठाता है। जैसे भूतके आवेशवाला पुरुष अपने दुःख और दुःखकी निवृत्तिके उपायको नहीं जानता ऐसे ही काम क्रोधादि पिशाचोंके आवेशवाला कर्मी पुरुष अपने दुःख और दुःखकी निवृत्तिके उद्यमको जान नहीं सकता किन्तु अल्पबुद्धिवाला कर्मी पुरुष उलटा ऐसा मानता है कि मैं अग्निहोत्रादि कर्मोंसे ही कृतार्थ हूं और इनके सिवा मेरा कुछ और कर्तव्य नहीं है। ऐसा माननेसे वह पिशाचके समान नृत्य करता है, और हँसता है। कामरूप पिशाचके वश होकर तथा परमेश्वरकी मायासे मोहित होकर पंचभौतिक शरीरमें ही वह परमसुखकी बुद्धि करता है और कामरूप पिशाचके वश हुआ वह इसप्रकार चिन्ता करता रहता है "इस शत्रुको मैंने बलसे मार लिया है, अब यह दूसरा शत्रु उठा है इसको भी मारूंगा !" अग्निहोत्रादि कर्म करनेवालों तथा वापी कूप तड़ागादि खुदानेवालोंका स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाले दक्षिण मार्गका पीछे वर्णन हो चुका है। इन कर्मोंके करनेवाले

स्वर्गका सुख भोग करनेके बाद पुनः मनुष्य अथवा तिर्यगादि हीन लोकोंको प्राप्त होते हैं।

देवयान नामक उत्तर मार्ग

हे शौनक ! जैसे स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला दक्षिण मार्ग संसारके मध्य है ऐसे ही ब्रह्मलोककी प्राप्ति करानेवाला देवयान नामक उत्तर मार्ग भी संसारके भीतर ही है। देवयान मार्ग संसारसमुद्रके उस पार है इसलिये वह बहुतसे मनुष्योंको प्राप्त नहीं होता किन्तु वैराग्यवानको ही प्राप्त होता है। 'मैं अपने वीर्यका त्याग नहीं करूंगा !' इसप्रकार दृढ़ संकल्पवाला जो अधिकारी स्त्रीके साथ संभोग नहीं करता, वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी उत्तर मार्गद्वारा ब्रह्मलोकमें जाता है। दहरादि उपासना करनेवाला पुरुष भी उत्तर मार्गद्वारा ब्रह्मलोकमें जाता है और स्वर्गादि पंचाग्निकी उपासना करनेवाला गृहस्थ भी उत्तर मार्गद्वारा ब्रह्मलोकमें जाता है। ब्रह्मचर्यादि साधन अत्यन्त कठिन हैं इसलिये देवयान मार्ग सबको प्राप्त नहीं होता, किसी किसीको ही होता है। जिस अधिकारीको इस ब्रह्मलोकमें दैवयोगसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, वह अधिकारी हिरण्यगर्भसे भी श्रेष्ठ अद्वितीय ब्रह्मको अपने आत्मारूपसे प्राप्त करता है। जैसे भूमिलोकमें रहनेवाला अधिकारी आत्मज्ञानद्वारा अद्वितीय ब्रह्मको प्राप्त होता है इसीप्रकार ब्रह्मलोकमें आत्मज्ञानकी प्राप्ति समान ही है। ब्रह्मलोकमें रहनेवाले जिस अधिकारीको आत्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, उसे ब्रह्मलोकसे मनुष्यलोकमें आना पड़ता है। इसलिये मुमुक्षुओंको दक्षिण मार्गके समान उत्तर मार्गका भी त्याग करना चाहिये उपासनादि साधनयुक्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी इन सब अधिकारियोंको ब्रह्मलोकमें, स्वर्गलोकमें, भूमिलोकमें, पातालमें अथवा नरकमें ब्रह्मज्ञान ही एक मुक्तिका कारण है। ब्रह्मज्ञान बिना किसी लोकमें भी किसीको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ! शरीरधारीको किसी लोकमें भी सुखकी प्राप्ति नहीं होती ! भूमिलोकसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोकोंमें यह शरीर दुःखकी प्राप्ति करानेवाला ही है। जैसे शरीरका सम्बन्ध भूमिलोकमें है ऐसे ही ब्रह्मलोकमें भी शरीरका सम्बन्ध होता है इसलिये ब्रह्मलोक भी जैसे कि ऊपर कह आये हैं, स्वर्गलोकके समान दुःखका ही कारण है, अतएव ब्रह्मलोकको भी विद्वानोंने दुःखका ही कारण माना है। यद्यपि मनुष्य, देवता, पशु इत्यादि भेदसे शरीरोंमें विलक्षणता प्रतीत होती है तो भी शरीरजन्य दुःखरूप फल सर्वत्र समान ही है ! जैसे सात मंजिलके मकानपर रहनेवाले पुरुषको और भूमिपर रहनेवाले पुरुषको ज्वरादि व्याधिसे उत्पन्न हुआ दुःखरूप फल समान ही होता है इसीप्रकार स्वर्गादि लोकोंमें रहनेवाले देवताओंको तथा भूमिपर रहनेवाले मनुष्यादिको शरीरसम्बन्धी दुःखरूप फल समान ही होता है। दुःखरूप फलमें किसीप्रकारकी अधिकता अथवा न्यूनता नहीं होती ! जैसे सोने और लोहेकी बनी हुई जंजीर दोनों ही पुरुषके बन्धनका कारण हैं, इसी प्रकार देव तथा मनुष्यशरीरमें दुःखकी वेदना समान ही होती है ! सबसे उत्तम हिरण्यगर्भके शरीरमें तथा सबसे निकृष्ट श्वानके शरीरमें अविद्याकी कार्यता तथा पंचभौतिकता समान ही है। विचारदृष्टिसे देखें तो दोनोंके शरीरोंमें भेद नहीं है। जैसे उनके शरीरोंमें भेद नहीं है ऐसे ही उन शरीरोंके अभिमानी जीवोंमें भी भेद नहीं है। जो जो जीव जिस जिस शरीरको ग्रहण करता है, उस उस जीवको वह वह शरीर सबसे उत्तम प्रतीत होता है, अपनेसे भिन्न दूसरोंके शरीर जीवको हलके दीखते हैं। इसीप्रकार अभिमानसे बनी हुई उत्कृष्टता भी ब्रह्मासे लेकर श्वानपर्यन्त सब शरीरोंमें समान ही है। जीवका उत्तम माना हुआ शरीर सब दुःखोंका कारण, दुर्गन्धिसे युक्त तथा सर्वदा अशुद्ध होता है। ऐसा मलिन शरीर भी जिस अध्यासके प्रभावसे जीवोंको दुःखका

कारण प्रतीत नहीं होता और दुर्गन्धिवाला अध्यास जाननेमें नहीं आता, उसका बुद्धिमानोंको त्याग करना चाहिये। यद्यपि यह शरीर दुर्गन्धि आदि अनेक दोषोंवाला है तो भी कर्म, काम और अविद्या इन तीनके प्रभावसे जीवको शरीरके दुर्गन्धि आदि दोष प्रतीत नहीं होते ! उलटा शरीर जीवको अमृतसमान प्रतीत होता है।

प्रारब्धके फलका नाम कर्म है, रागका नाम काम है और अध्यासका नाम अविद्या है। जिस कर्म, कामना और अविद्याके बलसे यह मलिन शरीर भी अमृतसमान प्रतीत होता है, उस कर्म, कामना और अविद्याको धिक्कार है ! अध्यासरूप अविद्यासे मोहको प्राप्त हुआ यह जीव अपने मुखकी लारको पान करता हुआ भी ग्लानि नहीं मानता ! वैतरणी आदि नरकोंमें विष्ठा, मूत्र, रुधिरादि जो पदार्थ हैं, वे ही विष्ठादि पदार्थ इस देहमें भी मौजूद हैं ! नरकके और शरीरके पदार्थोंमें कुछ भी भेद नहीं है तो भी जीवको पापादि दोषसे मलिन पदार्थ भी सौन्दर्यवाले प्रतीत होते हैं ! इसलिये जीवोंके पापादि दोषकी अत्यन्त आश्चर्यरूप महिमा है ! इसप्रकार अधिकारी ब्रह्मलोकसे लेकर मनुष्यलोकपर्यन्त सब लोकोंको अनर्थरूप जानकर उनसे वैराग्यको प्राप्त होवे ! श्रुतिमें कहा है 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' ऊपर कहे हुए प्रमाणसे अधिकारी सब लोकोंको कर्मजन्य जानकर उनका त्याग करे क्योंकि भूमि, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग इन तीनों लोकोंके भीतर जितने लोक हैं, वे यज्ञ यागादि कर्मोंसे जीवोंको प्राप्त होते हैं और इन तीनों लोकोंसे बाहर जो ब्रह्मादि लोक हैं वे उपासनारूप मानस कर्मसे प्राप्त होते हैं इसलिये सब लोक कर्मजन्य ही हैं। कर्मजन्य जितने पदार्थ हैं, वे सब अनित्य होते हैं। जैसे धनादि पदार्थ कर्मजन्य होनेसे अनित्य हैं, वैसे ही स्वर्गादि लोक भी कर्मजन्य होनेसे अनित्य हैं। सर्व अनित्य पदार्थ अपने वियोगकालमें जीवको दुःखकी प्राप्ति करानेवाले हैं। जैसे धनादि पदार्थ अनित्य होनेसे अपने वियोगकालमें मनुष्यको अवश्य दुःख देते हैं, ऐसे ही स्वर्गादि भी अनित्य होनेसे जीवको अवश्य दुःखकी प्राप्ति करावेंगे ! इसलिये अधिकारीको स्वर्गादिका त्याग करना उचित है।

परन्तु जैसे स्वर्गादि कर्मजन्य हैं वैसे मोक्ष कर्मजन्य नहीं है ! यदि स्वर्गादि लोकोंके समान मोक्ष भी कर्मजन्य हो तो मोक्ष भी स्वर्गके समान अनित्य ठहरे और यदि मोक्षको अनित्य माना जाय तो अधिकारीको उसके लिये प्रयत्न करना निष्फल होगा ! सिवा इसके यदि मोक्षको कर्मजन्य मानें तो स्वर्गकी अपेक्षा मोक्षमें कुछ विशेषता ही न रहेगी किन्तु स्वर्गके समान ही मोक्ष अनित्य होगा। जैसे विश्वजित् नामके यज्ञसे और ज्योतिष्टोमादि यज्ञसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गमें कुछ विशेषता है तो भी स्वर्गकी प्राप्ति तथा अनित्यता दोनोंमें समान ही है वैसे ही कर्मजन्य स्वर्गमें और कर्मजन्य मोक्षमें किञ्चित् विशेषता होनेपर भी स्वर्गत्व और अनित्यत्वमें समानता ही होगी ! कर्म अथवा उपासनासे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ! श्रुतिमें कहा है 'नास्त्यकृतः कृतेन' कार्यभावसे रहित नित्य मोक्ष कर्म तथा उपासनासे प्राप्त नहीं होता। किन्तु ज्ञानसे ही प्राप्त होता है।

हे शौनक ! ब्रह्मरूप आत्माका ज्ञान अधिकारीको ब्रह्मवेत्ता गुरुके उपदेशसे प्राप्त होता है। श्रुतिमें कहा है 'तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' विवेकादि साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारी समिधादि पदार्थ हाथमें लेकर ब्रह्मात्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जावे। जो गुरु शास्त्रमें कही हुई अनेक प्रकारकी युक्तियोंसे शिष्यके संशयकी निवृत्ति करनेमें समर्थ हो, उस गुरुका नाम श्रोत्रिय है और जिस गुरुकी ब्रह्ममें निष्ठा हो, उस गुरुका नाम ब्रह्मनिष्ठ है। ऐसे श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें विधिपूर्वक गये हुए श्रद्धावान् शिष्यको गुरु सब प्रकारके

दुःखोंको नाश करनेवाली ब्रह्मविद्याका उपदेश करे और ब्रह्मचर्य सत्यादि साधनसम्पन्न अधिकारी ब्रह्मविद्यासे अक्षर ब्रह्मको अपना आत्मारूप निश्चय करे।

इति प्रथममुण्डके द्वितीयखण्डः।

पराविद्याका निरूपण

हे शौनक! श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके मुखसे विरक्त मुमुक्षु जिस ब्रह्मको सत्यरूप जानता है और ब्रह्मके सिवा सब जगत्को असत्यरूप जानता है, उस सत्यरूप ब्रह्मसे सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है, उसमें ही सब जगत् स्थित है और उसीमें लय होता है। जैसे महान् प्रज्वलित अग्निमेंसे प्रकाशमान् चिनगारियां उत्पन्न होती हैं और अग्निकी मलिनतासे चिनगारियोंसे विरुद्ध धर्मवाला धूम उत्पन्न होता है इसीप्रकार अक्षर ब्रह्ममेंसे समान रूपवाला चेतनपदार्थ और विरुद्ध रूपवाला जड़पदार्थ उत्पन्न होता है। जिस परब्रह्मसे जड़ चेतनरूप जगत् उत्पन्न होता है, वह स्वयं प्रकाशरूप परब्रह्म सब जगत्से विलक्षण है इसलिये श्रुतिमें परब्रह्मको दिव्य कहा है। परब्रह्म आकाशके समान सर्वत्र व्यापक है इसलिये श्रुतिमें उसको अमूर्त कहा है। परब्रह्म सब देहादि उपाधियोंमें बाहर भीतर परिपूर्ण है इसलिये श्रुतिमें उसको पुरुष कहा है। परब्रह्म स्थूलदेहसे रहित है इसलिये श्रुतिमें उसको अज कहा है। सूक्ष्मशरीरसे रहित होनेसे श्रुतिमें उसको अप्राण और अमन कहा है। मायारूप कारणशरीरसे रहित होनेके कारण श्रुतिमें उसको शुभ्र कहा है। आकाशादि जगत्रूप कार्यकी अपेक्षासे माया चिरकालपर्यन्त रहती है इसलिये अक्षर कहलाती है। अपने कार्यरूप जगत्की अपेक्षासे माया पर है और परब्रह्म मायासे भी पर है इसलिये श्रुतिमें उसको परसे भी पर कहा है।

हे शौनक! मायाउपहित परमात्मासे प्राण, मन, श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियां, वागादि पांच कर्मेन्द्रियां, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। इन सतरह तत्त्वोंका परमात्माका सूक्ष्मशरीर हिरण्यगर्भ कहलाता है और परमात्माके स्थूलशरीरको ब्रह्मवेत्ता विराट् कहते हैं, इन विराट् भगवान्का स्वर्गलोक शिर है, सूर्य तथा चन्द्रमा इनके दो नेत्र हैं, पूर्वादि दिशा इनके श्रोत्र हैं, ऋगादि चार वेद इनकी वागेन्द्रियां हैं, बाहरका वायु इनका प्राण है, सम्पूर्ण जगत् हृदय है तथा सर्व पृथ्वी इनके पाद हैं। इसप्रकारके शरीरवाला तथा सर्व व्यष्टि भूतोंवाला इनका स्वरूप है। इस स्वरूपको ही वेदवेत्ता विराट् कहते हैं। विराट् भगवानसे लोकोंकी वृद्धि करनेवाले पंचाग्नि उत्पन्न होते हैं। प्रथम अग्नि स्वर्गलोकरूप है, इस अग्निका समिध यानी ईंधन सूर्य है क्योंकि सूर्यसे स्वर्गलोक प्रकाशित होता है। स्वर्गलोकरूप अग्निसे सम्पन्न चन्द्रसे मेघरूप दूसरा अग्नि उत्पन्न होता है। मेघसे पृथ्वीपर पृथ्वीरूप व्रीहि यवादिरूप औषधि तीसरा अग्नि उत्पन्न होता है। ओषधिरूप अन्नसे पुरुषरूप चौथा अग्नि उत्पन्न होता है, पांचवां अग्नि योषित्रूप है, इस योषित्रूप पांचवें अग्निमें पुरुष वीर्यका सिंचन करता है, जिससे सब प्रजाकी उत्पत्ति होती है। इसप्रकार अक्षरब्रह्मसे क्रमसे ब्राह्मणादि प्रजा प्राणी उत्पन्न होते हैं। इन प्राणियोंसे लौकिक तथा वैदिक सब व्यवहार सिद्ध होता है, जिस परमात्मासे विराट् भगवान् उत्पन्न होते हैं, उसी परमात्मासे श्वास प्रश्वासके समान यत्नबिना ही ऋगादि वेद उत्पन्न होते हैं इसीलिये वेदवेत्ता ऋगादि वेदोंको अपरब्रह्म कहते हैं।

परमात्मासे दर्श पौर्णमासादि यज्ञ उत्पन्न होते हैं, ज्योतिष्टोमादि क्रतु उत्पन्न होते हैं, यज्ञादि कर्मकी सिद्धि करनेवाली वसन्तादि ऋतुएँ उत्पन्न होती हैं, गौ सुवर्णादि दक्षिणा उत्पन्न होती है, कर्मकर्ता पुरुषकी अनेक प्रकारके नियमरूप दीक्षा उत्पन्न होती है, संवत्सरादिरूप काल उत्पन्न होता है, स्वर्गादि फलकी कामना-वाला अधिकारी यजमान उत्पन्न होता है, रसरूप सोम द्रव्य उत्पन्न होता है, स्वर्ग-लोकके शरीरका आरम्भ करनेवाला सोमरूप फल उत्पन्न होता है तथा स्वर्गादिलोकोंका प्रकाशक सूर्य उत्पन्न होता है। परमात्मा-से कर्मके अंगभूत वसु आदि अनेक प्रकारके देवता उत्पन्न होते हैं, साध्यसंज्ञक देवविशेष उत्पन्न होते हैं, कर्मके अधिकारी मनुष्य उत्पन्न होते हैं, गौ आदि ग्रामके पशु मृगादि वनके पशु उत्पन्न होते हैं, आकाशमें उड़नेवाले पक्षी उत्पन्न होते हैं, प्राणियोंके जीवनका हेतु प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदानरूप प्राण उत्पन्न होता है, हविके अर्थ व्रीहि यवादि अन्न उत्पन्न होता है, कृच्छ्र चान्द्रायणादि प्रसिद्ध तप उत्पन्न होता है, आस्तिक्य बुद्धिरूप श्रद्धा उत्पन्न होती है, यथार्थ भाषणरूप सत्य उत्पन्न होता है, आठ प्रकारके मैथुनका त्यागरूप ब्रह्मचर्य उत्पन्न होता है, तथा कर्तव्यतारूप विधि उत्पन्न होती है। परमात्मासे दो श्रोत्र, दो नेत्र, दो घ्राण, एक वाणी ये सात प्राण यानी शिरमें स्थित सात इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं, इन्हीं इन्द्रियोंकी अर्चिष-रूप सात वृत्तियां उत्पन्न होती हैं, इन्हीं इन्द्रियों-के समिधरूप सात विषय उत्पन्न होते हैं, इन्हीं इन्द्रियोंके ज्ञानरूप सात होम उत्पन्न होते हैं, इन्हीं इन्द्रियोंके गोलकरूप सात लोक उत्पन्न होते हैं, इन सातों गोलकोंमें ये सातों इन्द्रियां संचार करती हैं, सुषुप्तिकालमें ये सातों इन्द्रियां प्रति प्राणीके देहमें स्थित हृदयरूप गुहामें शयन करती हैं। परमात्मासे क्षार समुद्र, इक्षुरस समुद्र, सुरा समुद्र, घृत समुद्र, क्षीर समुद्र, दधि समुद्र और शुद्धोदक समुद्र ये सात समुद्र उत्पन्न होते हैं, हिमालय आदि पर्वत उत्पन्न होते हैं, अनेक रूप-वाली गङ्गा, यमुना सिन्धु आदि नदियां उत्पन्न होती हैं, व्रीहि आदि सब औषधियां उत्पन्न होती हैं, मधुरादि षट्रस उत्पन्न होते हैं। पृथिवी आदि पांच स्थूल तत्त्वोंसे युक्त यह अन्तरात्मा सूक्ष्मशरीर इन रसों करके स्थूलदेहमें वर्तमान होकर स्थित है। स्थूलशरीरके भीतर होनेसे सूक्ष्मशरीर अन्तरात्मा कहलाता है।

हे शौनक! जिस परमात्मासे यह जगत् उत्पन्न हुआ है, उस परमात्मासे यह जगत् भिन्न नहीं है किन्तु परमात्मारूप ही है। इस जगत्के तप, कर्म और वेद तीन स्वरूप हैं। उपासनाके फलका नाम तप है, यागादि कर्मके फलका नाम कर्म है और तप तथा कर्मको प्रकाश करनेवाले अपौरुषेय वचनका नाम वेद है। यह तप कर्मादि-रूप सब जगत् अमृत तथा ब्रह्मस्वरूप है, ब्रह्मसे किञ्चित् भी भिन्न नहीं है। इसलिये परमात्मा एक अद्वितीय स्वरूप है। इसप्रकार परमात्मा सर्वत्र व्यापक, सबका आत्मारूप, उत्पत्ति नाश-से रहित, तथा सब प्राणियोंके हृदयकमलमें निवास करनेवाला है। इस परमात्माको जो अधिकारी अपना आत्मारूप जानता है, वह "मैं अज्ञानी हूं" इसप्रकारकी अविद्याग्रन्थिसे मुक्त हो जाता है।

इति द्वितीयमुण्डके प्रथमखण्डः

(शेष पृ० सं० 735 पर)

गुरु-शिष्य संवाद ।

(ले० एक विरक्त संन्यासी)

श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ सन्तके पास एक साधनसम्पन्न जिज्ञासु पुरुष जाकर दंडवत् प्रणाम करके अपने दुःखोंकी निवृत्ति और सच्चे सुखकी प्राप्तिके लिये प्रश्न करता है और गुरु उसके प्रश्नोंका इसप्रकार उत्तर देते हैं:—

प्रश्न १–हे भगवन्! मनुष्य संसारमें क्यों जन्म लेता है? मैं समझता हूं कि केवल खानेके लिये कोई जन्म नहीं लेगा। पुत्र, मित्र, कलत्र, कामिनी, कान्त, कनक, वस्तु, वाहन और सेवकादिको एकत्र करके रखकर चले जानेके लिये कोई जन्म नहीं लेगा। इस विषयमें मेरी शङ्का दूर कीजिये।

उत्तर–मनुष्य अपनेको देव बनानेके लिये जन्म लेता है, अर्थात् वह परमात्माकी प्राप्तिके लिये जन्म लेता है।

प्रश्न २–मनुष्य स्वयं देव कैसे बन सकता है? अर्थात् वह परमात्माको कैसे प्राप्त कर सकता है?

उत्तर–मनुष्य अपना मुख्य कर्तव्य जानकर उसका पालन करनेसे स्वयं देव बन सकता है?

प्रश्न ३–मनुष्यका मुख्य कर्तव्य क्या है?

उत्तर–दुःखके हेतु अर्थात् दुःख देनेवाले अनर्थके व्यवहारको दूर कर देना और सुखके हेतु अर्थात् सुख देनेवाले परमार्थ, शुभ या ज्ञानके व्यवहारको प्रत्येक समय करना मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है। ऐसा करनेसे शरीर रहनेतक सुखकी प्राप्ति होती है और शरीर छूटनेपर परमानन्दरूप परमात्माकी नित्यप्राप्तिरूप मुक्ति मिल जाती है।

प्रश्न ४–दुःखके हेतु अनर्थका व्यवहार क्या है और वह क्यों दुःख देनेवाला है?

उत्तर–'मैं' 'मेरा' रूप अहन्ता ममतासे भेद-बुद्धि, भेदबुद्धिसे रागद्वेष, रागद्वेषसे काम, क्रोध, लोभ और इनसे शोक, मोह, भय, स्वार्थ आदिकी उत्पत्ति होती है। यही अनर्थ व्यवहारके लक्षण हैं। ऐसा व्यवहार अपने लिये भी दुःखका कारण है और अपनेसे मिलनेवाले दूसरे सब लोगोंके लिये भी दुःख देनेवाला है। इसलिये इसको दूर करना मनुष्यमात्रका मुख्य कर्तव्य है। क्योंकि प्राणीमात्र दुःख दूर करनेकी इच्छा करते हैं।

प्रश्न ५–सुखके हेतु परमार्थका व्यवहार या शुभ व्यवहार क्या है और वह क्यों सुख देता है?

उत्तर–शान्ति, प्रेम, बुद्धि, युक्ति, धैर्य और उत्साहसे यथाशक्ति फलकी ओरसे दृष्टि हटाकर एवं चिन्ताओंको छोड़कर केवल संचित प्रारब्धके अनुसार इस शरीरको मिलनेवाले जो मनुष्योचित वर्णाश्रमके और आपत्ति कालके धर्म हैं उन्हें कर्तव्य समझकर लोकहितार्थ लीलावत् करना शुभ व्यवहारके लक्षण हैं। ऐसा व्यवहार अपने लिये भी सुख देनेवाला है और अपनेसे मिलनेवाले दूसरोंके लिये भी सुखदायक है। इसलिये ऐसा व्यवहार सर्वदा करना मनुष्यका

मुख्य कर्तव्य है। क्योंकि,प्राणिमात्र सुख चाहते हैं।

धर्म दो प्रकारका होता है, एक सामान्य और दूसरा विशेष। सामान्य धर्म मनुष्यमात्र या प्राणिमात्रके लिये एक ही है। उसीको ईश्वरधर्म कहा जा सकता है। सभी प्राणी दुःखोंसे छूटकर सुखी होनेकी इच्छा करते हैं। इस इच्छाको पूरी करनेमें जो पुरुष सहायक है वही ईश्वरीय धर्मका पालन करनेवाला,—सनातनधर्मी है। दूसरा जो विशेष धर्म है वह कुल, जाति और मतके अनुसार भिन्न भिन्न होता है। इस विशेष धर्मको जगत्‌की मर्यादाके अनुसार लीलावत् करते हुए सब समय जो सामान्य धर्मका पालन करनेवाला पुरुष है वही ईश्वरीय धर्मका धारण करनेवाला होता है, वही ईश्वरको प्रिय होता है। जो ईश्वरको प्यारा है वही ईश्वरका निज भक्त और वही ईश्वरके समान है। वही देशभक्त, जातिभक्त, कुलभक्त और वंशभक्त है। वह आप भी सुख पाता है और दूसरे सब लोगोंके लिये भी दयालु सुहृद् होता है।

प्रश्न६–समस्त दुःखोंका 'मैं' 'मेरे' रूप भावसे उत्पन्न होना आपने बतलाया है, इस 'मैं' 'मेरे' भावको कैसे दूर किया जा सकता है?

उत्तर–'मैं' 'मेरा' भाव दो तरहसे अन्तःकरणसे उड़ सकता है और व्यवहार भी सत् हो सकता है। 'सत्यं वद' यह शास्त्र-वाक्य है। जो बात जैसी हो वैसी ही बतलानेका नाम सत्य है। सत्यसे पुण्यप्राप्ति और पुण्यसे सुखकी प्राप्ति होती है। 'झूठ न बोलो' ऐसा शास्त्र कहता है जो वस्तु जैसी है उसके विपरीत बतलाना झूठ है। झूठका फल पाप है। पापसे ताप है और ताप ही दुःख है।

इस संसारमें कौन है? एक ईश्वर है। वह ईश्वर अपनी मायाशक्तिके द्वारा स्वयं ही सृष्टि करता है, स्वयं ही पालन-पोषण करता है और स्वयं ही समयपर लय भी करता है। जो नाम, रूप दृष्टिगोचर होता है सो सब ईश्वर सम्बन्धिनी मायाशक्तिका दृश्य है, वह उनके ही हाथमें रहती है और उन्हींमें उसका लय होता रहता है। इसलिये उनमें मेरा तो कुछ है नहीं। यह शरीर ईश्वरके स्थूलशरीरमें है। इसलिये यह शरीर भी मेरा नहीं है। इसको जाननेवाला 'मैं' शरीरसे भिन्न ईश्वरका भक्तिमान् हूं। इस शरीरमें अन्तर्यामी, प्रेरणाकर्ता सर्वज्ञ अपने संकल्पके अनुसार प्रेरणा करता रहता है और शरीरमें जो शक्ति है वह काम करती रहती है। इसे जाननेवाला मैं ईश्वरका भक्त हूं। जो कुछ है सो ईश्वर है, जो कुछ है वह ईश्वरका है और जो कुछ होता है वह ईश्वरसे होता है। यह जाननेवाला मैं ईश्वरका भक्त हूं। इसप्रकार पूर्ण विश्वाससे जानकर जो मनुष्य पूर्ण भक्ति करता है उसका 'मैं' 'मेरा' अन्तःकरणसे उड़ जाता है। जब 'मैं' 'मेरा' निकल जाता है तब भेदबुद्धि भी चली जाती है, भेदबुद्धिके मिटते ही रागद्वेषादि तमाम जाल अन्तःकरणसे निकल जाते हैं। इसप्रकार अन्तःकरणकी शुद्धि-द्वारा पुरुष भगवान्‌को प्राप्त करता है।

जो होनेको है वही हर समय होता है। जो होता है वह ईश्वरके सङ्कल्पसे होता है और ईश्वरका सङ्कल्प जीवोंके अपने अपने कर्मानुसार होता है। प्रारब्ध उद्यमसे बलवान् है और उद्योग भी संचितके अनुसार है किन्तु जो पुरुष साव-धानचित्त और शान्तिसे सारी चिन्ताओंको छोड़कर जगत्‌की मर्यादाके अनुकूल अपने पार्टके अनुसार कर्तव्य कर्म करता है उसका समय सुखसे व्यतीत होता है। समय सभीको बिताना पड़ता है। अतएव उसे दुःखके साथ बितानेमें क्या लाभ है? जो पुरुष हरसमय सन्तुष्ट रहकर धैर्यसे समय व्यतीत करता है तथा समदृष्टि, समभाव और सदाचारसे रहता है वही ईश्वरका प्यारा है, वही सम तथा भक्त भी है और उसीका समय सुखसे बीतता है। ऐसे पुरुषोंके अन्तःकरणसे 'मैं' 'मेरा' रूप व्यष्टिभाव निकल जाता है और उनकी समष्टि यानी ईश्वरमें एकीभूत स्थिति हो जाती है।

नित्य अनित्य वस्तुतत्त्वको जाननेवाले विवेकी हृदयसे भी व्यष्टि (मैं मेरा) निकल जाता है और वह भी समष्टिमें मिल जाता है। अनित्य नामरूपात्मक दृश्य उसके हृदयसे निकल जाता है और वह नित्य भगवान्से एकीभूत हो जाता है। इसप्रकार एकीभूत और मोहरहित होनेपर शरीरसे स्वाभाविक कर्म होते रहते हैं। ऐसे ज्ञानी पुरुषमें 'मैं' 'मेरा' भाव नहीं रहता। शरीरके अभिमानीको जीव कहते हैं और नित्य-वस्तु भगवानका अभिमान करनेवाला वही नित्यरूप ब्रह्मवेत्ता परिपक्व अवस्थामें ब्राह्मीस्थिति-को पहुंच जाता है यानी अपने आपको अनुभवसे ब्रह्मरूप पहचान लेता है। ऐसे पुरुषोंका 'मैं मेरा' निकल जाता है।

प्रश्न ७–रागद्वेषादिको त्यागकर शान्ति और प्रेमसे प्रत्येक कर्म करनेके लिये मनुष्य इच्छा करता है, किन्तु ऐसा होता नहीं। अन्तःकरणमें तुरन्त रागद्वेषादि उत्पन्न हो जाते हैं। यह किससे उत्पन्न होते हैं, इनका कारण क्या है ?

उत्तर–इनका कारण केवल अज्ञान है। अज्ञान-से ही रागद्वेषादिकी उत्पत्ति होती है। जबतक अज्ञान दूर नहीं किया जायगा तबतक रागद्वेषादि दूर नहीं होंगे।

प्रश्न ८–अज्ञान क्या है ?

उत्तर–अज्ञानका अर्थ ज्ञानका न होना है। जैसे अन्धकारका अर्थ प्रकाशका न होना या रात्रिका अर्थ सूर्यका न होना है। जब सूर्य उदय हो जाता है तब रात्रि नहीं रहती, इसीतरह जब ज्ञान आजाता है तब अज्ञानका पता नहीं लगता।

प्रश्न ९–मुझे किसका ज्ञान नहीं है ?

उत्तर–आप अपने असली स्वरूपको नहीं जानते। मैं कौन हूं, कहां हूं और मेरा असली स्वभाव क्या है, इन बातोंको न जाननेका नाम अज्ञान है और इन्हें जाननेका नाम ज्ञान है। जो पुरुष इनको जानकर व्यवहार करता है वही ज्ञानी है और वही दुःखसे छूटकर सुखसे रहता है। जो पुरुष इनको न जानकर व्यवहार करता है, वही अज्ञानी पुरुष अल्प सुख और अधिक दुःखसे समय व्यतीत करता है।

प्रश्न १०–मैं स्वयं कौन हूं, कहां हूं और मेरा असली स्वभाव क्या है ? इसको मैं कैसे जान सकता हूं ?

उत्तर–आप अपने बुद्धिबलसे विचारद्वारा जान सकते हैं या गुरुमुखसे शास्त्रविचारद्वारा भी जान सकते हैं।

प्रश्न ११–मैं स्वयं कौन हूं ?, इसको बुद्धिबल-से कैसे जान सकता हूं ?

उत्तर–मैं स्वयं कौन हूं, यह प्रश्न आप अपने आत्मासे कीजिये। आपको उत्तर मिलेगा, 'मैं केवल जाननेवाला हूं, मैं इस शरीरको जानता हूं, सर्व नामरूप क्रियात्मक जगत्को भी जानता हूं।' जो चीज जिसको जानती है वह उससे सदा अलग है। जैसे घड़ेको जानने-वाला घड़ा नहीं होता, घरके अन्दर बैठकर घरको जाननेवाला घर नहीं होता, गाड़ीके भीतर बैठकर गाड़ीका आना जाना जाननेवाला गाड़ी नहीं होता, इसी प्रकार घड़ा, घर या गाड़ीरूप इस शरीरके अन्दर रहते हुए भी इसको जानने-वाला 'मैं' शरीर नहीं हूं और शरीर मेरा भी नहीं है। क्योंकि वह केवल शक्तिस्वरूप या प्रकृतिरूप पांच भूतोंका कार्य है। जितना नामरूप दृश्य है सो सब पांच भूतोंका कार्य है, इसलिये वह सब उनका है, मेरा नहीं है। ऐसा विचार करनेसे स्पष्ट पता लगता है कि मैं केवल जाननेवाला हूं, मैं यह शरीर नहीं हूं और यह शरीर तथा दृश्य पदार्थ भी मेरा नहीं है।

ऐसा विचार करके बुद्धिमानको क्या करना चाहिये ? इसप्रकार 'मैं मेरा' भावको दूर करके कर्ममें कर्मबुद्धिको और भोगमें भोगबुद्धिको छोड़-कर जगत्की मर्यादाके अनुसार जगत्के हितार्थ शरीरसे स्वाभाविक लीलावत् निर्मोह होकर काम लेना चाहिये—स्वयं अलग होकर हरएक काम करना चाहिये।

प्रश्न १२-मैं स्वयं कहां हूं, इसे बुद्धिबलसे कैसे विचार सकता हूं ?

उत्तर-यह प्रश्न भी अपनेको पूछ देखिये, आपको उत्तर मिलेगा 'मैं यहां हूं, इस शरीरके अन्दर हूं, इस शरीरके आकारसे भी परे केवल निराकार या बड़े सूक्ष्मस्वरूपसे हूं। आकाशसे भी बड़े सूक्ष्मस्वरूपवाला हूं इसलिये इस शरीरके अन्दर रहते हुए भी मैं आकाशकी तरह व्यापक हूं। जैसे आकाश जड़ाकाश है, वैसे ही मैं एक ज्ञानाकाश यानी चिदाकाशरूप हूं।'

बर्फ एक स्थानमें रखनेसे रह सकती है। बर्फसे सूक्ष्म जल एकस्थानमें रखनेसे फैल जाता है यानी अधिक स्थानमें व्याप्त हो जाता है, जलसे सूक्ष्म धुंआं ऊपरको चला जाता है, उसमें ताकत भी बहुत होती है, धुंएंसे सूक्ष्म वायु नाना स्थानोंमें बहता है। वायुसे सूक्ष्म आकाश अकेला ही समस्त-जगत्में एकरस मौजूद है। आकाश बड़ा शान्त, तेजस्वी और शक्तिसम्पन्न है। आकाशसे भी बहुत सूक्ष्मस्वरूप मेरा असली रूप है। इसलिये वह इस शरीरके अन्दर रहते हुए भी सभी शरीरोंके अन्दर है। वही तमाम नामरूपमें है, जिधर देखो उधर वही है, जहां जहां मन जाता है, वहां वहां वही है, उससे भिन्न जो नामरूप है सो सब संकल्पमात्र है,-सङ्कल्प-शक्तिमात्र है, वह सब मेरे आश्रित है, मुझसे पृथक् कुछ भी नहीं है। जो कुछ है सो मैं ही हूं,-मैं ही हूं। इसलिये व्यवहार करते समय अपनेसे पृथक् कुछ भी नहीं है ऐसा जानकर नीतिशास्त्रके अनुसार जो कुछ कर्तव्य है सो सब लोकहितार्थ पूरा करना चाहिये। लोकहितमें ही अपना हित देखना चाहिये।

प्रश्न १३-मेरा असली स्वभाव क्या है ? इसे मैं बुद्धिबलसे कैसे जान सकता हूं ?

उत्तर—मैं तो शरीरके अन्दर रहते हुए भी उससे पृथक् हूं और शरीरका धर्म सबके लिये अनुभवसिद्ध है। शरीर अनित्य, जड़, दुःख-स्वभाववाला है, यह सबके अनुभवका स्पष्ट विषय है। जब मैं शरीर नहीं हूं और शरीरसे हर-समय अलग हूं, तब मेरा असली स्वरूप नित्य-ज्ञान-सुखस्वरूपवाला है यानी मैं सच्चिदानन्द-स्वरूप हूं। जैसे केवल जल बर्फ नहीं है परन्तु जलसे अलग नहीं है, जलका ही विवर्त स्वरूप है अर्थात् जल अपने स्वरूपको न छोड़कर अपने आश्रित शीत-शक्तिके कारण आपही बर्फरूप नजर आता है, उसी प्रकार केवल परमात्मा कोई ईश्वर जीव मनुष्यादि नहीं है, किन्तु ईश्वर जीव मनुष्यादि सब परमात्माका विवर्त स्वरूप है यानी परमात्मा अपने असली स्वरूपको न छोड़कर अपने आश्रित और अपनेको विषय करनेवाली मायाशक्तिके कारण आपही ईश्वर-रूप, आपही जीवरूप और आपही मनुष्यरूप दृष्टि आता है। आप ही नाना नामरूप क्रियात्मक जगत्‌रूप नजर आता है। इसलिये इस संसार-के अन्दर कौन है ? इस प्रश्नपर विचार करके देखनेसे ज्ञात होता है कि एक भगवान् ही है। दुनिया क्या है ? भगवान्‌का स्वरूप है। भगवान्-से अलग और कुछ भी-कोई भी नहीं है। जो कुछ दूसरा दीखता है सो केवल भ्रममात्र है। जब गुरु, विचार और शास्त्रद्वारा, श्रुतियुक्त अनुभवद्वारा भ्रम मिट जाता है तब एक ही भगवान् नजर आने लगता है और तभी व्यवहार भी स्वाभाविक हो जाता है।

प्रश्न१४—इसलिये मेरा अभ्यास कैसा होना चाहिये ?

उत्तर—आपको ज्ञानयुक्त होकर यानी अपने असली स्वरूपको—अपना असली स्वरूप जो भगवान् है उसको—जानकर व्यवहारकालके दृश्यको भी अपनेसे अभिन्न ईश्वरस्वरूप जान-कर मोहरहित हो केवल प्रकृतिके अनुसार शरीर-को प्राप्त होनेवाले कर्मोंको कर्तव्य समझकर निष्कामबुद्धिसे लोकहितार्थ लीलावत् करना चाहिये, ऐसा करना ही आपका धर्म-स्वधर्म है। इससे आप सर्व दुःखरहित होकर परम सुखी होंगे और आपका व्यवहार भी स्वाभाविक हो जायगा। ओम् ओम् ओम्।

पुराणोंके रत्न

परा और अपरा विद्या

पराशरमुनिने ऋषि मैत्रेयसे कहा—

हे मैत्रेय! बुद्धिमान् पुरुष आध्यात्मिकादि तीनों तापोंको जानकर ज्ञान वैराग्यद्वारा आत्यन्तिक लयको प्राप्त होते हैं। आध्यात्मिक ताप शारीरिक और मानसिक भेदसे दो प्रकारका है। इनमेंसे शारीरिक दुःखके अनेक प्रकार हैं। मस्तक रोग, ज्वर, शूल, भगन्दर, गुल्म, अर्श, श्वास, शोथ, छर्दि, चक्षुरोग, अतीसार, कुष्ट और जलोदर आदि भेदसे बहुत प्रकारसे शारीरिक क्लेश होते हैं। मानस दुःखोंमें काम, क्रोध, भय, द्वेष, लोभ, मोह, विषाद, शोक, असूया, अपमान, ईर्षा और मात्सर्यादिसे उत्पन्न अनेक भेद हैं। हे द्विजश्रेष्ठ! इन विविध दुःखोंको आध्यात्मिक ताप कहते हैं।

पशु, पक्षी, मनुष्य, पिशाच, सर्प, बिच्छू, राक्षस आदि भूतप्राणियोंसे जिन दुःखोंकी उत्पत्ति होती है उनका नाम आधिभौतिक ताप है। सर्दी, गर्मी, वायु, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, वज्रपात आदिसे जो दुःख उत्पन्न होते हैं, उनको आधिदैविक ताप कहते हैं।

हे मुनिराज! इनके अतिरिक्त गर्भवास, जन्म, जरा (बुढ़ापा), अज्ञान, मृत्यु और नरकादिमें हजारों प्रकारके दुःख हैं। बहुतसे मलद्वारा ढके हुए गर्भमें सुकुमार शरीरको उदरके कीड़े काटते हैं, जेरसे लिपटा हुआ वह बालक माताके खाये हुए खट्टे, कड़वे, तीखे, गर्म और नमकीन भोजनद्वारा अत्यन्त कष्टसे जीता है। हाथ पैरको पूरीतरह फैला नहीं सकता, मल मूत्रमें पड़ा रहता है, श्वासहीन रहनेपर भी सचेतनभावसे पूर्वजन्मके कर्मोंका स्मरण करता हुआ पराधीनतामें समय बिताता है।

इसके बाद जन्म होनेके समय मल, मूत्र, शुक्र, रुधिरद्वारा लिपटकर वह प्राजापत्य नामक वायुसे बड़ी ही पीड़ाको प्राप्त होता है, उसी समय अत्यन्त प्रबल सूति नामक वायु उसके मुखको नीचेकी ओर कर देती है, तदनन्तर वह जीव बड़े क्लेशसे माताके पेटसे योनिद्वारा बाहर निकलता है।

हे मुनिसत्तम! जीव जन्म होते ही मूर्च्छित हो जाता है फिर बाहरकी वायुके लगनेसे क्रमशः उसमें चेतना आती है और पूर्वसंस्कारोंको भूल जाता है, तब वह कांटोंसे बिंधे हुए और आरेसे विदीर्ण किये हुए कृमिकी तरह जमीनपर पड़ जाता है। उसमें अपने आप करवट बदलने और देह खुजलानेतककी शक्ति भी नहीं होती। दुग्धपानादि आहारके लिये भी वह पराधीन ही रहता है। मल-मूत्रमें पड़ा रहता है, कीड़े और मच्छर काटते हैं पर उसमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह इन दुःखोंसे अपनेको छुड़ा सके। इसप्रकार जन्म और बालकपनमें जीव अनेक प्रकारसे आधिभौतिकादि दुःख भोगता है।

अज्ञानान्धकारसे आच्छादित विमूढ़ अन्तःकरणका वह मनुष्य, "मैं कहांसे आया हूं, कौन हूं, कहां जाऊंगा और मेरा क्या स्वरूप है आदि" कुछ भी नहीं जानता। 'मैं किस बन्धनसे संसार-कारागारमें कैद हूं? इसका कोई

कारण है या बिना ही कारण मुझे यह दुःखोंकी राशि भोगनी पड़ती है? मुझे क्या करना और क्या नहीं करना चाहिये? क्या बोलना और क्या नहीं बोलना चाहिये क्या धर्म है और क्या अधर्म है? किसतरह कौनसा पथ अवलम्बन करना चाहिये और किस कार्यमें क्या दोष तथा क्या गुण है?' ऐसी अनेक चिन्ताओंमें वे शिश्नोदर-परायण पशुसदृश मूढ़ पुरुष अज्ञानसे नाना-प्रकारके भोग भोगते रहते हैं।

अज्ञान तमोगुणका स्वभाव है, इससे जड़ता उत्पन्न होती है, जड़ता और प्रमादसे शास्त्रोक्त कर्म नहीं होते। कर्मोंका आरम्भ जड़तारहित प्रवृत्तिसे होता है परन्तु मूर्ख मनुष्य जड़ताकी अधिकतासे क्रमशः कर्म लोप कर देते हैं। कर्म-लोपसे नरकोंकी प्राप्ति होती है। अतएव मूर्ख मनुष्य इसलोक और परलोकमें केवल दुःख ही भोगते हैं।

जवानी अज्ञानजनित जड़ता और प्रमादमें बीत जाती है, तदनन्तर देहके जरा जर्जरित होने-पर अङ्ग शिथिल हो जाते हैं, दांत गिर पड़ते हैं, मांस ढीला होकर स्नायु और नाड़ियोंसे ढक जाता है, आंखें बैठ जानेसे नजर कम पड़ जाती है, नाकोंसे रोम बाहर निकल आते हैं, शरीर सदा कांपने लगता है, देहकी हड्डियां बाहर चमकने लगती हैं, शरीर कुबड़ा जाता है, जठ-राग्नि मन्द पड़ जाती है, आहार कम हो जाता है और क्रमशः शरीरकी सभी चेष्टाएं संकुचित हो जाती हैं। तबतक वह अन्धप्राय मनुष्य बहुत ही कष्टसे उठने, बैठने, सोने और चलने फिरनेमें समर्थ होता है उसके मुंहसे हमेशा लार टपका करती है।

इन्द्रियोंपर अधिकार न रहनेसे वह मृत्युके समीप पहुंच जाता है उस समय उसे अनुभूत पदार्थोंका भी स्मरण नहीं रहता। एक शब्दके उच्चारणमें ही वह थक जाता है, श्वास खांसीकी यन्त्रणासे नींदका सुख सदाके लिये नष्ट हो जाता है। दूसरेके उठाने बैठानेसे वह उठ बैठ सकता है ऐसी हालतमें स्त्री-पुत्र-नौकर आदि सभी उसका अपमान करने लगते हैं। उसकी पवित्रता जाती रहती है, परन्तु आहारविहारकी तृष्णा बनी रहनेसे घर परिवारके लोग उसकी हंसी उड़ाने और उसे अपने लिये क्लेशका कारण समझने लगते हैं। जवानीके भोगोंको पूर्वजन्म-के भोगोंकी तरह याद करके वह लम्बे लम्बे श्वास लेता है पर कोई उपाय नहीं चलता। यों कष्ट सहते सहते मृत्युकाल आ जाता है।

तब गला घुटने लगता है और हाथ टूटसे जाते हैं, शरीर कांपने लगता है, बारम्बार मूर्च्छा होने लगती है। ऐसी अवस्थामें वह 'मेरे धनका क्या होगा? मेरे पीछे मेरे स्त्री पुत्रोंकी क्या दशा होगी? मेरे नौकरोंकी क्या हालत होगी? मेरा धन ऐश्वर्य लोग खा जायंगे।' इसप्रकार-की ममताजनित चिन्तासे व्याकुल हो जाता है। मर्मभेदी महारोगरूपी यमराजके दारुण बाणोंसे उसके देहकी हड्डियां टूट जाती हैं, आंखें उलट जाती हैं, तालु कण्ठ और होठ सूख जाते हैं। उस समय वह भीषण यन्त्रणासे बारम्बार हाथ पैर पीटता है, कण्ठ रुक जाते हैं, श्वासकी गति ऊर्द्ध्व हो जाती है, गलेमें कफ अटक जानेसे 'घुर घुर' शब्द होने लगता है, भूख प्याससे वह अत्यन्त पीड़ित हो जाता है। अन्तमें यमकिंकरों-के दीखनेसे भयभीत हो उठता है। मृत्युसमय प्राणियोंको इसप्रकारके अनेक दुःख होते हैं।

मृत्युके बाद पापी मनुष्योंको यमदूत बांध-कर अनेक तरहसे पीड़ा देते हैं, नाना प्रकारके भयङ्कर मार्ग देखने पड़ते हैं, फिर यमराजके दर्शन होते हैं। गर्म बालू, अग्नि, यन्त्र और शस्त्रादिद्वारा नरकोंकी भयानक यातना भोग करनी पड़ती है। यमदूत करौतसे काटते हैं, जलते हुए कड़ाहेमें डाल देते हैं, कुठारसे आघात करते हैं, जमीनमें गाड़ देते हैं, शूलीपर चढ़ा देते हैं, बाघके मुखमें डाल देते हैं, गृध्रोंसे शरीर नुचवाते

हैं, हाथियोंके पैरों तले रुंदवाते हैं, उबलते हुए तैलमें डाल देते हैं, क्षार और कादेसे लिपट देते हैं, ऊपरसे नीचे डालते हैं और फेंकनेके यन्त्रद्वारा दूर फेंक देते हैं। इसप्रकार नारकी जीवोंको नरकोंमें नाना प्रकारसे इतनी यातना दी जाती है, जिसकी कोई गिनती नहीं हो सकती!

हे द्विजराज! केवल नरकमें ही दुःख है सो बात नहीं है, स्वर्गवासी पुण्यात्मा पुरुष भी पतनके भयसे सदा दुःखी रहते हैं। इसप्रकार कर्मफल भोगनेपर जीव फिर गर्भमें आकर जन्म ग्रहण करता है तथा पुनः उसी तरह मृत्युको प्राप्त हो जाता है। कोई जन्मते ही, कोई लड़कपनमें कोई जवानीमें, कोई प्रौढ़ अवस्थामें और कोई वृद्ध होकर मृत्युके मुखमें चला जाता है। जैसे कपासका बीज कपाससे व्याप्त रहता है, इसी प्रकार यह जीव भी जीवनभर नाना प्रकारके दुःखोंसे व्याप्त रहता है। अर्थके उपार्जन, पालन और नाशमें तथा प्रियजनोंकी विपत्तिमें मनुष्यको नाना प्रकारसे कष्ट सहन करने पड़ते हैं!

हे मैत्रेय! जो सब पदार्थ मनुष्यको पहले प्रीतिकर मालूम होते हैं वे ही परिणाममें दुःखके कारण हो जाते हैं। स्त्री, स्वामी, भृत्य, घर, धन, परिवार और जमीन आदिद्वारा मनुष्यको जितना क्लेश होता है, सुख उसकी अपेक्षा बहुत ही थोड़ा हुआ करता है। इन सब दुःखरूप सूर्यके तापसे तापितचित्त मनुष्योंको मुक्तिरूपी वृक्षकी शीतल छायाको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी सुख नहीं मिल सकता! गर्भ, जन्म, जरा आदिसे उत्पन्न इन त्रिविध दुःखोंकी एकमात्र परम औषध भगवत्-प्राप्ति ही है –'भैषज्यं भगवत्प्राप्तिः।' अतएव बुद्धिमान् पुरुषोंको उस भगवत्-प्राप्तिके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये। –'तस्मात्तत्प्राप्तये यत्नः कर्त्तव्यः पण्डितैर्नरैः।'

हे महामुने! भगवत्-प्राप्तिमें कर्म और ज्ञान दोनों ही हेतु हैं। ज्ञान दो प्रकारका है–एक आगम-शास्त्रसे उत्पन्न और दूसरा विवेकसे उत्पन्न। इनमें आगमसे उत्पन्न ज्ञानसे शब्दब्रह्म और विवेकसे उत्पन्न ज्ञानद्वारा परमब्रह्म जाननेमें आता है। जैसे दीपकसे अन्धकारका नाश होता है, वैसे ही शास्त्रजन्य ज्ञानसे शब्दमय ब्रह्मके जाननेपर कुछ अंशोंमें तो अज्ञानका नाश होता है, परन्तु जैसे सूर्यके उदय होनेपर अन्धकारका पूर्ण नाश हो जाता है इसी प्रकार विवेकजन्य ज्ञानसे परमब्रह्मको जान लेनेपर सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट हो जाता है।

मनु महाराजने कहा है। ब्रह्म दो प्रकारका है; प्रथम शब्दमय और दूसरा परम। शब्द-ब्रह्मका ज्ञान हो जानेके बाद परब्रह्मका होता है। विद्या भी कर्म और ज्ञानरूपसे दो प्रकार-की है; आथर्वणी श्रुतिमें ऐसा ही कहा गया है। पराविद्याद्वारा अक्षरब्रह्मकी प्राप्ति होती है। ऋग्वेदादिमयी विद्या ही पराविद्या है। अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, नित्य, अव्यय, अनिर्देश्य, अरूप, हस्तपदादिरहित, विभु, सर्वगत, भूतसमूहोंका बीजरूप होनेपर भी अकारण तथा व्याप्य और व्यापक सभी रूपोंमें मुनिगण ज्ञानचक्षुसे जिसका दर्शन करते हैं वही परब्रह्म है। मोक्षकी इच्छावाले पुरुष उसीका ध्यान करते हैं। उसी-को वेदोंने अत्यन्त सूक्ष्म और विष्णुका परमपद बतलाया है!

परमात्माकी इसी मूर्तिको भगवान् कहते हैं। भगवान् शब्द इस आदि और अक्षर परमात्माका ही वाचक है। इसी प्रकारसे मुनियोंको जो तत्त्व-ज्ञान होता है वही परम और वेदमय है। हे द्विज! वह परब्रह्म शब्दसे अगोचर होनेपर भी उसकी पूजाके लिये 'भगवत्' शब्दद्वारा उसका कीर्तन किया जाता है। विशुद्ध और समस्त कारणोंके कारण महाविभूतिशाली उस परब्रह्ममें ही 'भगवत्' शब्दका प्रयोग होता है। 'भगवत्' शब्दमें 'भ' के दो अर्थ हैं, सबका भरण करनेवाला और सबका आधार, 'ग' का अर्थ गमयिता और स्रष्टा। दोनों अक्षर मिलनेसे भग बनता है।

सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्यको भग कहते हैं। 'व' अक्षरका अर्थ यह है कि 'अखिल जगत्‌के आत्मभूत इस परमात्मामें ही सब भूतप्राणी निवास करते हैं। हे साधुश्रेष्ठ! इसप्रकारके अर्थवाला यह महान् 'भगवत्' शब्द परब्रह्मस्वरूप वासुदेवके सिवा अन्य किसी-के लिये प्रयुक्त नहीं हो सकता। उस पर-ब्रह्मसे ही इस 'भगवत्' शब्दकी सार्थकता है।' वह समस्त भूतोंकी उत्पत्ति, प्रलय, अगति, गति और विद्या अविद्याको जानता है इसीसे उसे 'भगवान्' कहते हैं। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज आदि सद्‌गुण 'भगवत्' शब्द-द्वारा ही वाच्य हैं। वह परमात्मा सब भूतोंमें निवास करता है और सबके आत्मस्वरूप उस वासुदेवमें ही सब भूत निवास करते हैं। प्राचीन-कालमें खाण्डिक्यके द्वारा पूछे जानेपर केशिध्वजने* 'वासुदेव' नामका यथार्थ अर्थ यही बतलाया था कि "समस्त भूतप्राणी उसमें निवास करते हैं और वही समस्त भूतोंमें जगत्‌के धाता-विधातारूपसे विराजमान है, इसीलिये उस प्रभुका नाम 'वासुदेव' है।"

हे महामुने! वह परमात्मा स्वयं सम्पूर्ण आवरणोंसे मुक्त रहकर अखिल विश्वके आत्म-रूपसे सब भूतोंकी प्रकृति, विकार गुण और दोष आदि त्रिभुवनमें जो कुछ भी है, सबमें व्याप्त हो रहा है। समस्त कल्याण-गुणस्वरूप वह परमात्मा अपनी शक्तिके कणमात्रसे सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको आवृतकर, अपनी इच्छासे अनेक प्रकारके रूप धारण करके जगत्‌का अनन्त कल्याण कर रहा है। जो तेज, बल, ऐश्वर्य, महाबोधस्वरूप है, अपने वीर्य और शक्तिका एकमात्र आधार है, परात्पर है, जिसमें क्लेशका लेश भी नहीं है, वही ईश्वर व्यष्टि और समष्टि-रूप है, वही व्यक्त और अव्यक्तरूप है, वही सबका स्वामी और सर्वत्रगामी है; वही सर्ववेत्ता और सबका शक्तिस्वरूप है और उसीका नाम परमेश्वर है।

जिस ज्ञानके द्वारा इसप्रकारके निर्दोष, विशुद्ध, निर्मल और एकरूप परमेश्वरको जाना और देखा जा सकता है, वही ज्ञान है और उसीका नाम परा विद्या है। जो इससे विपरीत है सो अज्ञान है और उसीको अपरा विद्या कहते हैं। (विष्णु पुराणसे)

एकान्तवास

सार्थक करो शरीर, मानवका जन्म पाय।
बनो न कदापि काम-क्रोध-लोभ-मोह-दास॥
शब्द-रस-गन्ध-स्पर्शसे यदि रहोगे दूर—
पड़ोगे कदापि नहीं किसीके भी प्रेमपाश॥
यदि करना है कुछ, होना है आयुष्मान।
मरो नहीं रूप पर, करो नहीं शक्ति नाश॥
जीवन-सुधार हेतु, आतम-उद्धार हेतु—
सुकवि 'विट्ठल' करो मनन एकान्त-वास॥

—वैद्यनाथ मिश्र 'विट्ठल'

* खाण्डिक्य और केशिध्वजका संवाद आगामी अङ्कमें देनेका विचार है— —सम्पादक।

भक्त-भारती

(लेखक—पं० तुलसीरामजी शर्मा 'दिनेश')

(गतांकसे आगे) (पृ० सं० ५९१ से आगे)

बलि-दान

असुरगणने देखा हरिसे बलि यों सहसा छला गया,
युद्ध बिना ही आज हमारा राज्य हाथसे चला गया।
हरिपर कुपित हुए सब दौड़े, ले ले अपने शस्त्र सभी,
मच्छर लड़नेसे क्या मरता महाकाय गजराज कभी?

जैसे गजकी एक 'फूंकमें' अस्त व्यस्त होते मच्छर,
वैसे ही सब असुर हो गये, छिन्न भिन्न हरिसे सत्वर।
बलिने रोका, कहा कि, असुरो! क्यों तुम नाहक लड़ते हो?
क्यों पतंगकी भांति आज तुम इस पावकमें पड़ते हो?

जो नित जगको छलती रहती वह उस छलिनीका पति है,
इसकी दी ही उन्नति, अवनति, सुमति, कुमति, गति दुर्गति है।
ठगिनीके पति ठगने मुझको ठगा ठिकाना तज करके,
पाते जिसका नहीं ठिकाना योगी मुनिजन भज करके।

जिसके आगे हाथ पसारे छोटा बने बड़ा तत्काल।
वह मेरा बन याचक देखो, छोटे से बन गया विशाल।
जिसके सम्मुख जगत पसारे हाथ पसारा आ उसने,
रणमें नहीं, कपट-याचनमें मुझे पछारा आ उसने।

दोहा

दान-युद्धमें कर दिया, आहत मुझको आज।
रणसे मैं भागूं नहीं, तज शूरोंका साज॥
शस्त्र-समर यह है नहीं, तज दो तुम हथियार।
मुझपर बाकी और है, एक चरणका वार॥

छाती खोले खड़ा हुआ हूं वह प्रहार भी करने दो,
मम गुरु-लात सहन-कर्त्ताकी लात आज सिर धरने दो।
उसी काल खगराज गरुड़ने वरुण-पाशमें बलि बांधा,
हरनेको बलि-गर्वरूप हरि, हरिने वाचिक-शर सांधा॥

कहा दानियोंमें शिरोमणे! तीजा चरण कहां जाये?
तेरे जितने राज्य-स्थल थे दो चरणोंमें ही आये।
यों ही कहता था—"हे द्विजवर! तूने मुझसे क्या मांगा?
तनिक याचना की जो तूने, सोनेको समझा रांगा।"

सत्यवादका पुतला था; तू और दानका था भण्डार,
कहां गयी वह सत्यवादिता, कहां गया वह हाथ उदार?
शाप संभालो बलि! अब मेरा, करो नरकमें जा डेरा,
तनिक याचनापात्र, भूपते! तुमसे भरा नहीं मेरा॥

प्रणसे, 'हां' से वरुण-पाशसे, मन, वाणी, कर बंधे हुए,
अभय भावसे बोला दानी वचन सत्यसे सधे हुए।
हे हरि! पुण्यश्लोक! आप क्यों झूठा मुझे समझते हैं?
झूठा कहो न भगवन्! मुझको, पूर्वज मेरे लजते हैं॥

दोहा

तीजे पदकी नापको, शेष पड़ा यह देह।
बलि झट आगे गिर पड़ा, नापो जो सन्देह॥
सुमनवृष्टि नभसे हुई, धन्य धन्य सब ओर।
हरि हिय हर्षित हो गये, लख दानी शिरमौर॥
श्रीपतिने बलिशीशपर, दिया चरण शुभ टेक।
बलिका अन्तः हो गया, तुरत शुद्ध, सविवेक॥

हरि-पद परसित होते ही बलि खड़ा हो गया पातक-मुक्त,
सत्यवाद-आदर्श, दानका पुतला, कठिन प्रतिज्ञा-युक्त।
दोनों जोड़े हाथ विनयसे शिर निज नीचा किये हुए,
लगा वन्दना करने हरिकी भक्तिवारुणी पिये हुए॥

सवैया

आज फले मम पुण्य पुरातन
बावन पावन पांव पखारे,
तातके तातसों पूजित पाद ये
नाना विषाद नशावन हारे।
जांचकी पौनसों दानके मो
अभिमानके बादर आन विदारे,
द्वारपै हाथ पसारके सारयो
न सातन स्वर्ग लौं पांव पसारे॥

गावत शेष गुणालि, न पावत
थाह, अथाह, कथा अति भारी,
जांचत जासों सुरेश सबै सुख
नाचत भीति सों माया विचारी।
जो तुलसी इक पानसों रीझिके
देत सहेत पदारथ चारी,
देनको आज बड़प्पन सो मोहिं
द्वारपै आन बन्यो है भिखारी॥

दूर कियो मदको ज्वर मेरो,
हृदैको महान अंधेरो निबेरयो,
भक्तकी नातिके नाते दयाकरि
गर्वके गर्त्त सों काढ़िके गेरयो।
शाप नहीं वरदान भयो यह
जन्मके आंधेने सूरज हेरयो,
हे करुणानिधि! कीन्हि दया अति
आयके मोहको जाल उधेरयो॥

यद्यपि मैं नहीं भक्तिकी आपकी
तो भी स्वभक्तकी भांति उबारयो,
ऐसो दयालु न देख्यो सुन्यो कहुं
बातनि पातक-मेरु उपारयो।
संसृति-मग्नको हाथ गह्यो, वहि
हाथसों जासों कि हाथी निकारयो,
तू न भज्यो तुलसी अस स्वामिहिं
नाहक यों हि जमारो बिगारयो॥

दोहा

इन पदपद्मोंपर कभी, रखा न मैंने शीश।
प्रभुने ही निज चरण रख, दी मुझको आशीष॥

टिक जाता यदि शिर चरणोंपर प्रभु-कर शिरपर टिक जाता,
तो क्या जाने, क्या क्या पाता, क्या से क्या मैं हो जाता?
अब भी उरमें शान्ति-सरोवर झाल मारता है भारी,
यद्यपि वैभवहीन हुआ पर दुबिधा दली गयी सारी॥

जैसे बनके कट जानेपर व्याघ्र भालु भग जाते हैं,
वैसे ही मम उरमें आज न मान मोह दिखलाते हैं।
मुझे स्वर्गकी चाह नहीं अब तथा नरककी भीति नहीं,
हरि-पद-परस-सुधाका मैंने पान कर लिया सही सही॥

इतनेमें प्रहलाद आ गये श्यामवर्ण तन अति सुन्दर,
कमलनेत्र, आजानुबाहु वर धारण किये सुपीताम्बर।
बलिने अपना देख पितामह केवल शिर ही झुका दिया,
हाथ पैर थे बंधे हुए इस हेतु न पूजन सविधि किया॥

देख पितामह सम्मुख बलिके नेत्रोंमें जल भर आया,
शिर नीचा कर लिया लाजसे मनमें अतिशय शर्माया।
हरिको सम्मुख खड़े देख प्रहलाद मुदित अत्यन्त हुआ,
'आज पौत्रके सब पापोंका अनायास ही अन्त हुआ॥'

दोहा

पुलकित तनु सहसा हुआ, चला दगोंसे नीर।
सादर हरिको नमनकर, बोला वचन सधीर॥
हरि! तुमने ही था दिया, पद सुरेन्द्र विख्यात।
सो अब हर तुमने लिया, बलिका भाग्य प्रभात॥

निग्रह नहीं किया है प्रभु यह परम अनुग्रह किया तथा,
शस्त्र छीन ले माता, करसे शिशु रोता रह जाय यथा।
प्रभुता-मदिरा पीकर किसको मदकी तन्द्रा नहिं आती?
रहे चञ्चला घरमें किसकी मनोवृत्तियां रुक जातीं?

हे हरि! माया प्रबल तुम्हारी तुम्हीं एक हो जगदाधार।
तुम्हीं विश्वके स्रष्टा, द्रष्टा, नमस्कार हरि! बारम्बार॥
विधि कुछ कहनेको उत्सुक थे, विन्ध्यावलि बलि-पत्नि जभी,
कुछ कहनेको आगे आयी चतुरानन चुप हुए तभी॥

अबलागणका मान सर्वदा महत् पुरुष ही करते हैं,
इनकी प्रेम, क्रोधमय दोनों नजरोंसे नित डरते हैं।
'हे हरि! लीलाधाम! आप अति अद्भुत लीला करते हो,
जिसका बल हो तुम्हें काढ़ना, इस विधि कीला करते हो॥

जिसको ठगते उसको सोनेमें तुम पीला करते हो,
जिसपर रीझो पहले उसको सन ज्यों छीला करते हो।
रीझ खीझका नहीं तुम्हारा पता किसीको पाता है,
माया-रजनीमें जग सोया जगतासा दिखलाता है॥

दोहा

कर्त्ता, भर्त्ता विश्वके, हैं हर्त्ता भी आप।
धन, वैभव हर कर हरें, पलमें जन-त्रैताप॥
ब्रह्माने कर जोड़कर, की विनती तत्काल।
'देव-देव! दानव-दलन! पुण्य प्रणत प्रतिपाल॥

बलिको बन्धन मुक्त कीजिये जांच-आंचमें खूब तया,
अब यह कोरा कञ्चन ही है, दर्प-दोष सब निकल गया।
आंटेकी चुटकी ज्यों इसने सारी वसुधा दे डाली,
पाली पूर्ण प्रतिज्ञा अपनी, गुरुकी भी आज्ञा टाली॥

लोक तथा परलोक साधिका, तन, मन, धन, जनसे प्यारी,
अर्पण कर दी देह आपके, दानवीर निकला भारी।
बन्धनयोग्य नहीं है अब यह, धर्मात्मा है, दानी है,
तथा 'आपके पद-कमलोंकी महिमा भी अब जानी है॥'

हरि बोले तत्काल सुधामें सनी सहज पावन बानी,
मानो घनसे टपक चला है पावन परम अमर पानी।
'प्रजापते! मैं जिसपर रीझूं पहले उसका विभव हरूं,
करके निरा अकिञ्चन उसको, आंखें उसके चार करूं॥

धनमें अन्धा होकर नर मम जीवोंको ठुकराता है,
जीवोंको दुख देनेवाला मुझे कदापि न भाता है।
कर्मविवश यह जीव अनेकों योनि भुगतता आता है,
अमित योनियोंमें तच तचकर मनुज-योनि तब पाता है॥

दोहा

जन्म, कर्म, यौवन, विभव, विद्या, रूप महान।
इससे जो गर्वित न हो, तब जानो कल्यान॥
मेरे भक्तोंको नहीं, होता इनसे मोह।
सबमें मेरा रूप लख, रहते हैं अद्रोह॥

बलि है दानी एक जगत्में इसमें कुछ सन्देह नहीं,
अर्पण किया न क्या कुछ इसने रक्खी जब निज देह नहीं?
सत्य निभानेवाला है यह बहुविध मैंने जांच लिया,
इसको सत्पथपर लानेको क्या क्या मैंने नहीं किया?

इतना कहकर हरिने बलिके शिरपर हाथ धरा अपना,
सुखी हुआ वह मानो तपसीका सब सफल हुआ तपना।
'धनसे और भवनसे धोये हाथ, न पीछा हाथ किया,
हाथ न पड़ने दिये सहजमें नहीं वीरने हाथ दिया॥

मेरे तीखे वचनोंको सह गुरुके वचनोंको पेला,
अपना बन्धन सहा तथा निज गुरुका शाप कड़ा झेला।
धन्य वंश वह जिसमें जन्मा यह बलि दानी जग विख्यात,
दानव-भूषण, कीर्ति-केतु यह असुरवंशका पुण्य प्रभात॥'

श्रीहरि-मुखसे पौत्र गुणावलि खड़ा सुन रहा जन प्रहलाद,
झर्झर झरता नीर दृगोंसे, उरमें आज अमित आह्लाद।
पुत्र पौत्रकी सुनकर श्लाघा होता किसको मोद नहीं,
यह अनुभव नहिं उन्हें जिन्होंने पुत्र खिलाये गोद नहीं॥

दोहा

फिर जिसके प्रिय पौत्रके, गुण गायें भगवान।
वह फिर अपने भाग्यको, समझे क्यों न महान?
बलि! मैं तुझसे तुष्ट हूं, यों बोले भगवान।
सुतल लोकका जा तुझे, देता हूं सुस्थान॥

जहां न व्यापें आधि, व्याधियां, शान्ति विराजे सदा वहां,
भ्रान्ति, पराभव, भौतिक पीड़ा सुपनेमें भी नहीं जहां।
महाभाग! हे इन्द्रसेन! तुम सुतल लोकमें बास करो,
जातिबन्धुओंसहित वहां तुम निर्भय विपुल विलास करो॥

परम रम्य है सुतल लोक वह सुरदुर्लभ है पावन है,
लोकपालगणका सुपनेमें पड़ता जहां कि दाव न है।
जो खल असुर तुम्हारी आज्ञा नहीं शीशपर धारेंगे,
हम अपने इस चक्र सुदर्शनसे उनका शिर तारेंगे॥

प्रतिपल रक्षक रहूं तुम्हारा निर्भय विचरो वीर! वहां,
जहां सुदर्शन मेरा होगा वहां दुखोंका नाम कहां?
और बोल बलि! क्या कुछ चाहे मनकी अपनी कह देना!
जो कुछ चाहे, सोच और सङ्कोच मोचकर ले लेना।'

बलि बोला हे भगवन् ! मैं यह दर्शन नित्य वहीं चाहूँ ,
भेज दीजिये और तलेको, ऊँचा लोक नहीं चाहूँ ।
जहां आपके दर्शन होवें, स्वर्ग वहीं, वैकुण्ठ वही ,
जहां न दर्शन हों इस छविके, नरकतुल्य वह स्वर्ग मही ॥

दोहा

'एवमस्तु' हरिने कहा, बलिने पायी जीत ।
'छलियेको भी छल लिया' रहा गूंज यह गीत ॥
हरिने अपने हाथसे, बलिका खोला पाश ।
थपकी ला हरिने कहा, वाह वीर ! शाबाश ॥

धन्य धन्य बलि ! दानवीरवर ! सत्यसन्ध, प्रणवीर महा ,
महावीर गम्भीर महानद सहनशील दुखवीर महा ।
बलिका शिर झुक गया विनयसे वाष्पपूर्ण हो कण्ठ रुका ,
भाव-वायु भर गयी हृदयमें रहा झुकाका वहीं झुका ॥

बलिकी मानस-विनय-आंचसे मोमसदृश हरि पिघल चले ,
छलका जादू चला न जनपर आप उसीसे गये छले ।
विधि आदिक सुर शीश नमनकर हरिसे विदा हुए तत्काल ,
बलिने भी निज सुतल लोकमें जानेकी झट की सम्भाल ॥

सौंपा हरिने स्वर्ग इन्द्रको मुदित हो गया आखण्डल ,
वही साज सज गये प्रथमसे वही किन्नरोंका मण्डल ।
राजन् ! बलिकी कथा सरस यह, कथन श्रवणमें सुखद महा ,
हरिका भक्ति प्रदायिनि है यह पापनाशिनी सहज अहा !

जो जन इसका पाठ करें नित बलिके सब गुण उर आवें ,
श्रीहरि हों सन्तुष्ट अनेकों जन्मोंके अघ नश जावें ।
हुई पूर्ण यह बलिकी गाथा आगे सरस कथा सुनिये ,
रामचन्द्रकी लीला अपने मनमें पल पलमें गुनिये ।

(क्रमशः)

(शेष पृ० सं० 757 पर)

जीवनालोक

(लेखक—भिक्षु श्रीगौरीशङ्करजी)

मानव-जीवनमें यदि तुम्हारा परमेश्वरके प्रति प्रेम उत्पन्न न हुआ, यदि तुम अपने अन्तरको विनीत न बना सके, तो बहुधन बहुजनसे, महाजनी कार्योंकी दक्षतासे अथवा समस्त शास्त्रोंके अध्ययनसे ही क्या हो सकता है ? परमेश्वरसे प्रीति न हुई और उसका प्रिय कार्य साधन न कर सके तो सभी श्रम व्यर्थ है—पशुश्रम सदृश है ।

जब यह जान पड़े कि हमारे प्रभूत ज्ञानलाभके साथ ही हमारा धर्मभय नष्ट हो रहा है तब निश्चिन्त हो रहना उचित नहीं, ऐसे समय निर्जनमें आत्मचिन्तनमें निमग्न होना चाहिये, तभी तुम प्रभूत लाभके भागी बन सकोगे, फिर प्रभूतका अहङ्कार स्वयमेव चला जायगा, इसके बाद लोगोंद्वारा की हुई बड़ी भारी प्रशंसा भी तुम्हें प्रसन्न न कर सकेगी !

सम्पूर्ण दुरवगाह तत्त्वोंकी आलोचनामें व्यर्थ समय नष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं, जो सत्य कहकर जानने योग्य है, हमें जीवनमें उसीके प्रतिपालन करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । जिन सब लौकिक तत्त्वोंके ज्ञानकी हमें निश्चित संभावना

नहीं, उन्हें जाननेके लिये व्यर्थ श्रम नहीं करना चाहिये। उन विषयोंमें अज्ञ रहते हुए भी यदि हम परमेश्वरीय-ज्ञानकी ओर अग्रसर हो सकें तो हमारे परमार्थ-पथमें कोई व्याघात उपस्थित नहीं होगा। जिन सब तत्वोंके अवगत होनेसे हम ईश्वरीय-प्रेमको प्राप्त कर सकते हैं, उन सत् तत्वोंकी अवहेलनाकर कौतूहलवश सामान्य लौकिक तत्त्वोंकी आलोचनामें जीवनका अमूल्य समय व्यय करना अवश्य ही निर्बोधका कार्य है।

विद्वान् कहलानेपर प्रतिष्ठा लाभकी वासना बलवती नहीं होनी चाहिये। कभी कभी जन-समुदायमें मनुष्य अपनेको विद्वान् कहकर अपना परिचय देनेकी वासना करने लगता है; परन्तु सावधान! इसतरहकी वासना हृदयमें कभी नहीं आनी चाहिये। तुम बहुतसी विद्याओंमें निपुण हो, परन्तु जबतक विद्याके साथ ही तुमने विनय लाभ नहीं किया, तबतक तुम्हें निश्चिन्त नहीं होना चाहिये। बड़े भारी ज्ञानी होनेपर भी, संसारमें ऐसे असंख्य पदार्थ हैं जिनके विषयमें तुम तनिक भी नहीं जानते। अतएव जितना कुछ तुम जानते हो उसके लिये अभिमान न करो। सरलता, विनय और अज्ञता ही प्रकट करो। अभिज्ञताका अभिमान करना उचित नहीं। अधीत शास्त्रोंका भी कभी मद नहीं करना चाहिये, इस विस्तीर्ण जनसमाजमें न मालूम ऐसे कितने तुम्हारे अपरिचित साधु विद्वान् पुरुष हैं जो तुम्हारी तुलनामें बहुत ही ऊंचे और गम्भीर शास्त्रज्ञ हैं।

संसारमें वही पुरुष धन्य है जो अनेक शास्त्र-सम्बन्धी तर्क वितर्कमें न पड़कर हृदयमें उस सत्यस्वरूपका सदा अनुभव किया करते हैं। खेद है कि इस पृथ्वीपर अधिकांश मनुष्य ईश्वर-सेवासे मुख मोड़कर व्यर्थके विद्याभिमानको ही प्रिय ज्ञान समझकर अपना सर्वनाश साधन कर रहे हैं। अतएव यदि किसी विषयमें तुम पारदर्शी भी हो तो उसके प्रदर्शनकी इच्छा सर्वथा त्याग दो! स्मरण रक्खो कि प्रशंसामें मनुष्यकी क्षति ही होती है, वास्तविक लाभ कुछ भी नहीं होता।

इन्द्रिय-सुखोंमें कभी आसक्त मत होओ, जो जितना इन्द्रियसुखके पीछे दौड़ता है वह उतना ही आत्मद्रोही है। अतएव अन्तरको इन्द्रिय-सुखसे खैंचकर उस इन्द्रियातीतके प्रति दौड़नेकी चेष्टा करो। इन्द्रियसुखोंमें लगे रहोगे तो विवेक मलिन हो जायगा और क्रमसे उससे भ्रष्ट होकर अधःपतित हो जाओगे।

अपनेको तृणकी अपेक्षा भी छोटा समझो, यदि दूसरोंको तुम कभी पापमें लिप्त देखते हो तो सावधान! उनसे तुलनाकर अपनेमें साधुता-का अभिमान कभी न करो। संभव है तुम्हारा भी किसीदिन इसीतरह पतन हो जाय। मनुष्यमात्र ही दुर्बल है परन्तु तुम्हें अपनेको सर्वापेक्षा दुर्बल और हीन समझना चाहिये। ज्ञानियोंका जीवन कलुषित होना अत्यन्त गर्हित है अतएव ज्ञानीपन-का गर्व कभी न करो परन्तु उस ज्ञानके लिये सदा यत्नवान् रहो जो तुम्हें प्रेम और विनयसे विभूषित करदे। यही जीवनका आलोक है!

भजन बिन चोला है बेकाम।

मल अरु मूत्र भरो नर सब तन है निष्फल यह चाम॥
बिन हरिभजन पवित्र न ह्वैहैं धोवो आठौं जाम॥
काया छोड़ हंस उड़ि जैहैं पड़ो रहे धन धाम॥
अपनो सुत मुख लू धर दैहैं सोच लेहु परिणाम॥
'रूपकुँवरि' सब छोड़ बसहु ब्रज भजिये श्यामा श्याम॥

—महारानी साहिबा श्रीरूपकुंवरिजी, चरखारी स्टेट

ब्रह्मचर्य्य ।

(लेखक-श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)

वर्तमान समयमें प्रायः सर्वत्र अशान्ति, रोग, शोक, बलहीनता, अकर्मण्यता, अकाल-मृत्यु, दरिद्रता, चिन्ता, ईर्षा, द्वेष, हिंसा और असत्य आदि दोष अधिकतासे दृष्टिगोचर होते हैं जिनके कारण समाजका जीवन सुखमय होनेके बदले दुःखमय हो रहा है । एक विलक्षणता यह है कि आज धनी-मानी भी चिन्ताग्रस्त पाये जाते हैं और उनके अभाव भी कम नहीं हैं । इस शोचनीय दशाका मुख्य कारण ब्रह्मचर्याश्रम धर्मके पालनका अभाव है जो प्रथम आश्रम होनेसे अन्य सब आश्रमोंकी मूल भित्ति है । जब मूल नहीं है तो शाखा कहांसे आवेगी ?

अविद्याने अपने तमोगुण और रजोगुणके विकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, मान आदिद्वारा जीवात्माको आवेष्टित करके उसे अपने आत्मानन्दके राज्यसे च्युत कर दिया है। अज्ञानताके कारण जीवात्मा अपने इन परम शत्रुओंको मित्र समझकर उनके पंजेमें फंस जाता है और इसप्रकार उसके परमार्थ तथा यह संसार दोनों बिगड़ जाते हैं । अविद्या और उसके विकारोंसे छुटकारा पाये बिना जीवात्माका न संसार सुखद होगा और न उसे परमार्थका लाभ होगा । अतएव विद्यासे अविद्याका नाश करना ही मनुष्यजीवनका मुख्य लक्ष्य और परम श्रेयस्कर कार्य है। इसका मुख्य साधन ब्रह्मचर्यका पालन है और इसी कारण यह अन्य सब साधनोंका बीज है। कामादि विकारोंका अधिष्ठान इन्द्रिय, मन और बुद्धि हैं। इनके विकारोंको दमन करना और अन्तरात्माको शुद्ध सात्त्विक भावसे रंजित करना ही ब्रह्मचर्य है और इसीके लाभसे यथार्थ विद्या (पराविद्या) की प्राप्ति होती है, जिससे उस अज्ञानका नाश होता है जो समस्त अनर्थ और क्लेशोंका मूल है । अतएव प्रथमावस्थामें ब्रह्मचर्यका पालनकर विद्याकी प्राप्तिके लिये क्रमशः आवश्यक यत्न करना मुख्य कर्तव्य है । यदि इस विद्याभ्यासके साथ साथ ब्रह्मचर्यके द्वारा कामादि विकारोंका दमन, चरित्र सङ्गठन, अन्तरात्माका आभ्यन्तरिक विकास आदि न हुए तो पीछे इनका सम्पन्न होना असम्भव है, क्योंकि यही इस महत्कार्यके लिये उपयुक्त काल है ।

ब्रह्मचर्यकी शक्तिसे सब प्रकारकी विद्याओंका प्राप्त होना सुगम हो जाता है, परीक्षोत्तीर्ण होना तो यथार्थ ब्रह्मचारीके लिये सामान्य खेल है । जिसको इस प्रथमावस्थामें ब्रह्मचर्यका लाभ हुआ, वह संसारके संग्राममें भी जय पावेगा अर्थात् यहां उन्नति करेगा और परलोकमें भी परम शान्तिको प्राप्त होगा। किन्तु इसके अभावमें चरित्रहीन लौकिक-विद्याके निपुण विद्वान् भी अपनी और समाजकी हानि ही करता है वह कदापि इहलौकिक अथवा पारलौकिक यथार्थ उन्नति नहीं कर सकता । ब्रह्मचर्यके प्रभावसे ही प्राचीन कालमें इस देशमें बड़े बड़े विद्वान्, योद्धा, तपस्वी, मनस्वी, त्यागी, तत्त्वविवेकी, समाजके नेता, दानी आदि महान् पुरुष हो गये हैं जिनकी अमानुषी शक्ति और कीर्तिकी भावनामात्रसे आज संसारको विस्मित होना पड़ता है । इस देशका अभ्युत्थान और स्थायी अभ्युदय फिर भी इस ब्रह्मचर्यको पुनरुज्जीवित करनेसे ही होगा, अन्यथा नहीं ।

आजकल विद्यार्थियोंको पाठशाला, स्कूल और कालिजोंमें केवल लौकिक विद्याकी शिक्षा दी जाती है। धार्मिक शिक्षा और चरित्रगठनके लिये कोई यत्न नहीं होता, न आज विद्यार्थी ब्रह्मचर्यके नियमोंके पालनमें ही प्रवृत्त कराये जाते हैं। यही उनके सर्वनाशका कारण है। शास्त्रमें ब्रह्मचारीके लिये लौकिक (जीविका-जन्य) शिक्षा देनेका विधान अवश्य है और यह आवश्यक भी है परन्तु ऐसी शिक्षा जो केवल लौकिक हो और जिसके साथ धर्मकी शिक्षा और ब्रह्मचर्य यानी इन्द्रिय-निग्रहके नियमोंका पालन आदि न हो, वह हेय है (मनु अ० २ श्लोक १६८)

अतएव यह अत्यन्त आवश्यक है कि लौकिक शिक्षाके साथ ही उपयुक्त धार्मिक और नैतिक शिक्षा तथा ब्रह्मचर्यके इन्द्रिय-निग्रह आदि आवश्यक नियमोंके पालनका प्रचार अवश्य किया जाय, नहीं तो समाजकी स्थायी उन्नति और उसका कल्याण असम्भव है।

ब्रह्मचर्यके दो प्रकारके नियम हैं। भैक्ष्य-चर्या, समिदाधान, गुरुकुलवास, मौंजी-मेखला आदिका धारण बाह्य हैं। इन्द्रिय-निग्रहके नियम, सात्त्विक भोजनका सेवन, राजसिक तामसिक प्रवृत्तियोंका त्याग, धार्मिक-ग्रन्थोंका पठन-पाठन, संध्योपासना, होम और स्वाध्याय आदि आन्तरिक हैं। बाह्य नियमोंका समयानुसार परिवर्तन हो जाता है। अतएव इस समय उनमें कुछ परिवर्तन करना चाहिये और जिनका पालन वर्तमान सामाजिक अवस्थाके कारण असम्भव हो, उनका नहीं करना चाहिये परन्तु आन्तरिक नियमोंका पालन तो सब कालमें आवश्यक है और उनका पालन समयानुसार कहीं कहीं उपयुक्त परिवर्तन कर अवश्य करना चाहिये। यानी ब्रह्मचर्यके आन्तरिक भाव और उद्देश्यका अवश्य ही पालन हो और उसके सम्पादनमें बाह्य नियममें समयानुसार परिवर्तन किया जाय। इसमें इन्द्रिय-निग्रह, राजसिक और तामसिक भावका दमन, अज्ञान-नाश और ज्ञान-प्राप्तिके लिये यथार्थ योग्यता प्राप्त करनेकी साधना आदि मुख्य हैं और इनका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये।

अतएव वर्तमान समयमें यह परमावश्यक है कि इनका प्रचार और पालन विद्यार्थी-समाजमें अवश्य किया जाय। इन्द्रिय-निग्रहमें उपस्थ इन्द्रियका निग्रह सर्वोपरि है क्योंकि काम-दमनसे वीर्यकी रक्षा होती है जो मेधा, बल, धृति, आयु, स्मृति, साहस, स्वास्थ्य, पौरुष, विवेक और बोध-शक्ति आदिका खजाना है। वीर्यकी रक्षा एक प्रकारसे सब उन्नतिका मूल है और इसके दुरुपयोग तथा अकालव्ययसे सब अच्छे गुण नष्ट होते हैं। लिखा है "मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्" वीर्यके नाशसे मृत्यु होती और धारणासे जीवन बना रहता है। विद्यार्थीको चाहिये कि स्त्रीमात्रको श्रीभगवती जगज्जननीका रूप मानकर उनको पूज्य माने। सप्तशतीमें लिखा है:—

'विद्याः समस्तास्तव देवि ! भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु'

हे देवी! सम्पूर्ण विद्या आप ही से निकली है और सब स्त्रियां आपके ही रूप हैं। विद्यार्थीका वीर्य अमोघ रहना चाहिये। मनुकी आज्ञा है कि यदि ब्रह्मचारीका स्वप्नमें भी वीर्यपात हो तो उसको उसका प्रायश्चित्त कर उसकी पूर्ति करनी चाहिये (अ० २ श्लो० १८१) अस्वाभाविकरूपसे भी कदापि वीर्यपात न करे और न होने दे, क्योंकि अस्वाभाविक कामाचार परम जघन्य, परम भयानक, हेय और पाप है तथा वह सर्वनाशका मूल है।

गच्छतां कामतः पुंसः स्त्रियाः पायुं दुरात्मनाम्।
बध एव विधातव्यो भूभृता शम्भुशासनात् ॥

(महानिर्वाण तन्त्र २२ उल्लास श्लोक ४४)

जो कामसे प्रेरित हो पुरुष अथवा स्त्रीके साथ

अप्राकृत व्यभिचार करता है उसका राजा वध करे, ऐसी ही महादेवकी आज्ञा है। हस्तमैथुन भी इसीप्रकार महा अनर्थकारी तथा सर्वनाशकारी है और महान् गर्हित पाप है। विद्यार्थीको सदा अकेले सोना चाहिये (एकः शयीत सर्वत्र)। किन्तु इस कामदमनके लिये परमावश्यक है कि राजसिक तामसिक पदार्थोंके भोजनका त्याग करे और भोजनमें केवल सात्त्विक पदार्थ व्यवहार करे, असत्संगको विष समझ सर्वदा त्याग करे, सत्संगति, ईश्वरोपासना, भगवन्नामस्मरण आदिका निरन्तर अभ्यास करे, दुर्भावनाको चित्तमें स्थान न लेने दे और सदा शुभ भावनामें प्रवृत्त रहे। लिखा है—"असंकल्पाज्जयेत्कामम्" कुत्सित विषयवासनाके त्यागसे कामको जय करे।

विद्यार्थीको मत्स्य, मांस, लालमिर्च, प्याज, लहसुन, गरम मसाला, भांग, गांजा, तम्बाकू, सबप्रकारके धूम्रपान (जिसमें सिगरेट भी शामिल है) आदिका कदापि व्यवहार नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह सब पदार्थ इन्द्रियोत्तेजक, राजसिक तामसिक भावना और कर्मके उत्पन्न करनेवाले हैं। ब्रह्मचारीके लिये पान खाना भी निषिद्ध है।

ब्रह्मचारी विद्यार्थीको आजकल भी प्रतिदिन संध्योपासना और होम करना चाहिये और अपनेको ब्रह्मचारी समझना चाहिये। ब्रह्मचर्यके-इन्द्रियनिग्रहके नियमको पालनकर विधिपूर्वक श्रद्धासे संध्योपासना करनेसे मेधा, बल, वीर्य, तेज, स्वास्थ्य, आयु, आभ्यन्तरिक बोध-शक्ति आदिकी प्राप्ति होगी और वह एक योग्य नागरिक बन जायगा जिसके द्वारा समाजका कल्याण होगा। मनुका वचन है:—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिंश्च ब्रह्मवर्चसमेव च॥

(९४ अध्याय ४।)

दीर्घकालतक सन्ध्योपासना करनेके कारण ऋषियोंको दीर्घायु प्राप्त हुई और उससे उन्हें प्रज्ञा, यश, कीर्ति और ब्रह्मतेजकी प्राप्ति हुई। सन्ध्यामें जो प्राणायाम है, उसके करनेसे स्वास्थ्यकी बड़ी उन्नति और मनकी स्वच्छता होती है। लिखा है:—"प्राणायामः परं बलम्" और "प्राणायामैर्दहेद्दोषान्"—प्राणायाम बहुत बलका देनेवाला है और उससे दोषोंका नाश होता है। श्रीराममूर्ति आदि जो अद्भुत शारीरिक बलको प्रकाशित करते हैं वह मुख्यतः प्राणायामके कारण हैं जिसको वे वक्तृता देकर स्वीकार भी करते हैं। ब्रह्मचारी विद्यार्थीको नित्य होम भी करना चाहिये जिससे देवताओंकी पुष्टि होती है, रोगोंकी निवृत्ति होती है और वर्षा होनेमें सहायता मिलती है। धूप, गुग्गुल आदि सुगन्धित पदार्थ अथवा तिल, जौ, चावल, शर्करा, घी आदिको अग्निमें गायत्री मन्त्रके अंतमें स्वाहा जोड़कर उसके द्वारा श्रद्धासे हवन करनेसे नित्यका हवन सम्पन्न हो जायगा।

ब्रह्मचारीके लिये बाह्य और अन्तर दोनों प्रकारके शौचका पालन करना भी आवश्यक है। बाह्य शौचमें सूर्य्योदयके पूर्व उठना, अच्छी तरह दन्तधावन करना, प्रातःस्नान, स्वच्छता, शुद्ध वायुका सेवन, शिरके सिवाय अन्य अङ्गोंमें सूर्य-तापका स्पर्श, शुद्धिके लिये मिट्टी और जलका विशेष व्यवहार, वस्त्र, स्थान और गृहकी सफाई आदि मुख्य हैं। अनेक रोग दांतको अच्छी-तरह साफ और दृढ़ न करनेके कारण होते हैं। अतः दन्तधावन अवश्य करना चाहिये। व्यायाम भी शौचके अन्तर्गत है जो विद्यार्थी-ब्रह्मचारीके लिये परमावश्यक है। अन्तःशौचके लिये अहिंसा, सत्य, प्रेम, निरभिमानता, मैत्री आदिका अभ्यास और सब प्रकारकी विलासिता-का त्याग मुख्य है। विद्यार्थीके लिये मनको एकाग्र और शुद्ध करनेका यत्न करना आवश्यक है, क्योंकि उत्तम और कुत्सित दोनों प्रकारके कर्मोंका कारण मन ही है। विद्यार्थी-ब्रह्मचारीका भोजन केवल शरीररक्षाके लिये होना चाहिये न कि स्वादके लिये। उनके वस्त्र केवल शरीरके

आच्छादन और शीत घामके निवारणके लिये होने चाहिये न कि शोभा सजावट या दिखानेके लिये !

ब्रह्मचर्याश्रमके आन्तरिक नियम सब प्राकृतिक हैं, अतएव सब देश और सब धर्मके विद्यार्थियोंको इनका पालन करना चाहिये। हिन्दू बालक गायत्रीकी उपासना करें, मुसलमान बालक नमाजद्वारा प्रार्थना करें, क्रिस्तान बालक अपनी रीतिसे प्रभुप्रार्थना करें और यथार्थमें यह सभी तुल्य हैं। आशा है कि देशके नेतागण इस ब्रह्मचर्यके विशेष प्रचार करनेमें विशेष यत्नवान् होंगे, क्योंकि देश, समाज और व्यक्ति आदिकी उन्नतिका यही मूल है और इसकी अवहेलनासे किसी प्रकारकी भी यथार्थ उन्नति सम्भव नहीं है !

हरिनाम-महत्त्व

(रचयिता-श्रीदामोदरसहाय सिंह, एक० टी० 'कविकिंकर')

(१)

नहिं जान्यो जुपै हरिको जियमें
सब कर्म औ धर्महूं निष्फल है।
भमदायक केवल होत सयान
कहैं कविकोविदको दल है॥
मुंहते कदि धोखे दमोदरजू
जब नाम जपै अघ को बल है।
नहिं सूझि परै कस रे मन! तोहिं
बिना हरिनाम परै कल है॥

(२)

करते करते बरु पुन्यनके
नहिं छीजत पापनको दल है।
जप तीरथ जोग समाधि सबै
निरुपाधि नहीं कछु संबल है॥
नहिं और भरोस दमोदरजू
हिय मों हरिनामहिको बल है।
अस जानि पिये बिनु नामसुधा
किमि रे मन! तोहिं परै कल है॥

(३)

नर आनन सुन्दर मंदिर माहिं
बिराजत सारदको थल है।
जनु भीतर बाहर बीच बनी
देहरी सुचि दैविक सी भल है॥
बकवादन त्यागि दमोदरजू
मनिदीप नसै तमको दल है।
रसने! हरिनाम बिना कहु तोहिं
परै किहि भांति अरी! कल है॥

(४)

नर आंगन बीच भले ममरे
घन त्यों फटि पापनको दल है।
पुनि राजत गाजि उठै प्रतिपच्छ
बिजै लहि पुन्यनको बल है॥
सुनिके केहि कान दमोदरजू
अनयास सुखै भवको जल है।
हरिनाम बिना अस मूढ मना
कस आवत तोहिं अरे! कल है॥

(५)

कल है न जिन्हें हरिनाम बिना
न कछू अवलंब वहै बल है।
बल है सुत मातु पिता गुरु शिष्य
ज्यों सेवक सेव्य बिना छल है॥
छल है नहिं नेकु दमोदरजू
मन मों न कदूरतको थल है।
थल है न कहूं पदपद्म बिना
धनि वे जिनको न कहूं कल है॥

बदला मत चाहो

किसी पदार्थपर प्रेम होना, अपना समस्त मन उसीमें लगा देना, परहितसाधनमें अपनेको भूल जाना, यहांतक कि तलवार लेकर कोई मारने आवे तो भी उससे मन न हटे, इसप्रकारकी आसक्ति भी एक प्रकारका दैवी गुण है। यह एक प्रबल शक्ति है परन्तु इसके साथ ही मनको सर्वथा अनासक्त बना देनेका गुण भी मनुष्यके लिये परम आवश्यक है क्योंकि केवल एक ही गुणके बलपर कोई पूर्ण नहीं हो सकता। भिखारी कभी सुखी नहीं रहते, क्योंकि उन्हें अपने जीवननिर्वाहकी सामग्री संग्रह करनेमें लोगोंकी दया और उनके द्वारा किये जानेवाले तिरस्कारका अनुभव करना पड़ता है। यदि हम अपने कर्मका बदला चाहेंगे तो हमारी गणना भी भिखारियोंमें हो जायगी और हमें कभी सुख नहीं मिलेगा। देन लेनकी वणिकवृत्ति अवलम्बन करनेसे हमारी हाय हाय क्योंकर छूट सकती है? धार्मिक पुरुष भी कीर्तिकी कामना किया करते हैं, प्रेमी भी प्रेमका प्रतिफल चाहते हैं इसप्रकारकी कामना या चाह ही सब दुःखोंकी जड़ है। व्यापारमें जो कभी कभी हानि उठानी पड़ती है, प्रेमके परिणाममें जो दुःख भोगने पड़ते हैं, इसका क्या कारण है? कारण यही है कि हमारे कार्य अनासक्तिसे किये हुए नहीं होते-आशा हमें फंसाये रखती है और संसार हमारा तमाशा देखता है। बदला पानेकी आशा न रखनेवालेको ही सच्चे यशकी (फलकी) प्राप्ति होती है। साधारणरूपसे विचार करनेपर यह बात व्यवहारसे विरुद्ध दिखायी देती है परन्तु वास्तवमें इसमें कोई विरोध नहीं है, विरोधाभास मात्र है।

जिन्हें किसी प्रकारके बदलेकी इच्छा नहीं होती, ऐसे लोग भी (लोकदृष्टिमें) कई प्रकारके कष्ट सहते देखे जाते हैं, परन्तु उनके वे कष्ट उन्हें मिलनेवाले विशाल सुखोंके सामने जरासे पासंगके बराबर भी नहीं होते। महात्मा ईसाने जीवनभर निःस्वार्थ भावसे परोपकार किया और अन्तमें उन्हें फांसीकी सजा मिली, यह बात असत्य नहीं है परन्तु विचार करना चाहिये कि अनासक्तिके बलपर उन्होंने कोई साधारण विजय नहीं पायी थी—करोड़ों मनुष्योंको मुक्तिका मार्ग बतलानेका पवित्र यश उन्हें मिला था। अनासक्तभावसे कर्म करनेपर आत्माको जो अनन्त सुख मिलते हैं उनके सामने शारीरिक कष्ट अत्यन्त तुच्छ हैं। कर्मके प्रतिफलकी कामना करना ही दुःखोंको निमन्त्रण देना है। यदि आपको सुखी होना है तो कर्मका बदला मिलनेकी इच्छा न कीजिये!

इस सिद्धान्तको आप कभी न भूलें कि आपका जन्म देनेके लिये हुआ है,-लेनेके लिये नहीं। अतएव आपके पास जो कुछ देनेको हो, उसे बिना आपत्तिके-बदलेकी कुछ भी इच्छा नहीं रखकर दे डालिये, यदि ऐसा नहीं करेंगे तो दुःख भोगने पड़ेंगे। प्रकृतिके नियम इतने दृढ़ हैं कि यदि आप प्रसन्नतासे न देंगे तो वह आपसे जबरदस्ती छीन लेगी। आप अपने सर्वस्वको चाहे जबतक छातीसे लगाये रहें, परन्तु याद रखिये, एक दिन प्रकृति आपकी छातीपर सवार होकर उसे लिये बिना नहीं छोड़ेगी। प्रकृति बेईमान नहीं है, वह आपके दानका बदला अवश्य चुकाती है परन्तु बदला पानेकी इच्छा करेंगे तो सिवा दुःखके और कुछ भी हाथ न लगेगा। इससे तो यही उत्तम है कि आप प्रसन्नतासे उसकी चीज उसे दे दें। सूर्य समुद्रका जल

खैंचता है तो फिर उसी जलसे पृथ्वीको तर भी कर देता है। एकसे लेकर दूसरेको और दूसरेसे लेकर पहलेको देना तो प्रकृतिका काम ही है, उसके अटल नियमोंमें बाधा डालनेकी हमारी शक्ति नहीं है। कमरेकी हवा जितनी बाहर निकलती रहेगी, बाहरसे उतनी ही शुद्ध वायु भीतर आती जायगी परन्तु यदि आप घरका दरवाजा बन्द कर देंगे तो बाहरसे हवाका आना तो दूर रहा,अन्दरकी हवा भी बिगड़कर आपको मृत्युके अधीन कर देगी। आप जितना अधिक देंगे, आप उससे हजारगुना प्रकृतिसे प्राप्त करेंगे परन्तु उसके लिये आपको धैर्य रखना होगा–अनासक्त बनना पड़ेगा। यह काम अत्यन्त कठिन है। ऐसी वृत्ति बननेके लिये हमें बड़ी शक्ति प्राप्त करनी पड़ेगी। हमारे जीवनरूपी वनमें अनेक जाल बिछे हैं, अनेक प्रकारके सांप, बिच्छू, सिंह, शृगाल स्वेच्छासे घूम रहे हैं। उन सबसे बचकर रास्ता सुधारनेमें हमारे शरीरको चाहे जितने भी कष्ट क्यों न सहने पड़ें, हाथ पैर टूटकर हमारा सारा शरीर खूनसे लथपथ क्यों न हो जाय पर हमें अपनी मानसिक दृढ़ता ज्योंकी त्यों बनाये रखनी चाहिये–अपने कर्तव्यपथसे कभी तनिक भी नहीं डिगना चाहिये!

—स्वामी विवेकानन्द।

प्रेम-प्रतीक्षा

प्रतीक्षा कर कर मैं हारा,
प्रेमका पंथ बड़ा न्यारा ॥
विह्वल हो, अधीर हो, कातरस्वरसे किया पुकार।
रुठे हो यदि, नाथ! मनाऊं तुमको लाखों बार।
करो प्रवेश हृदय–मन्दिरमें, खोल प्रेमका द्वार।
आओ,लो विश्राम यहीं, प्रिय! सुन मम प्रणय-पुकार।
बहा दो शीघ्र प्रेम-धारा,
प्रेमका पंथ बड़ा न्यारा ॥
मेरी कोमल प्रणय-लतापर करो न बज्र-प्रहार।
ऐसी निष्ठुरता क्यों? हे प्रभु! करो न अत्याचार।
प्रेम-धारमें डुबा मुझे, अब करो शीघ्र निरधार।
इस प्रकार अस्तित्व मिटा दो, उठो न लाओ बार।
मिटा दो झगड़ा यह सारा,
प्रेमका पंथ बड़ा न्यारा ॥
मैं अति दीन, मलीन, हीन, तुम हो सर्वज्ञ सुजान।
मुझ पापीको, अपराधीको, तुम सम नहिं कोउ आन।
ग्राह-ग्रसित-गज-आर्तनाद सुन, धाये बिन पद-त्रान।
'सरयू' को प्रभु! बेगि उबारो, यह भव-फंद महान।
छुटा दो बंधन यह सारा,
प्रेमका पंथ बड़ा न्यारा ॥

—सर्यूप्रसाद मिश्र।
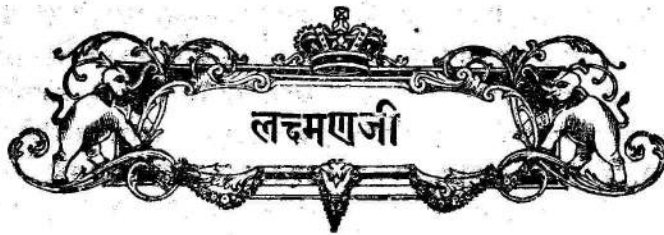
लक्ष्मणजी

(लेखक–ब्रह्मचारी पं० प्रभुदत्तजी शर्मा)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे) (पृ०सं० 610 से आगे)

श्रीरामचन्द्रजीके प्रति लक्ष्मणजीकी ऐसी उत्कट भक्ति थी, कि वे इनके पीछे सभीको खरी खोटी सुना देते थे, वे अवसर ढूंढ़ते रहते थे, कि कब श्रीरामजीकी यथार्थ सेवाका अवसर प्राप्त हो। श्रीरामजीकी सेवाके लिये वे सदा सरको हाथमें लिये रहते थे। पिताको अनुचित कहना, धनुष-यज्ञमें जनकजीके ऊपर बिगड़ जाना, परशुरामजीसे निर्भय होकर भिड़ जाना, थोड़ेसे सन्देहके ऊपर ही भरतजीको मारनेतकके लिये तैयार हो जाना ये सब काम उन्होंने केवल श्रीरामचन्द्रजीके प्रेमके ही कारण किये थे, भरतजीको ससैन्य आते देखकर तो वे बड़े ही प्रसन्न हुए, उन्होंने समझा कि आज अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। आज मैं अपने सेवकपनका परिचय दे सकूंगा। तभी तो आप कहते हैं—

आजु रामसेवक यश लेऊं,
भरतहिं समर सिखावन देऊं ॥

बहुत दिनसे खोजमें था कि, कोई ऐसा अवसर मिले, जिससे लोग कह सकें कि हां, लक्ष्मणजीने रामजीके सेवकके अनुकूल ही पराक्रम किया। धनुष तोड़नेकी तो आपने आज्ञा नहीं दी, परशुरामजीसे दो दो हाथ करना चाहता था, सो वहां भी आपने बीचमें पड़कर मामला रफै दफै कर दिया, अब इस सोनेके अवसरको हाथसे नहीं जाने दूंगा। यह कहकर आप पूर्ण उत्साहके साथ उठ खड़े हुए—

उठि करजोरि रजायसु मांगा,
मनहुं वीररस सोवत जागा।

श्रीरामचन्द्रजी थोड़ी देर और न समझाते तो सचमुचमें वे रामसेवक होनेका यश लूट लेते।

× × ×

श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञामें वे उचित अनुचितका भी विचार नहीं करते थे। नपुंसकके ऊपर, युद्धसे भागतेके ऊपर, घायलके ऊपर, शस्त्ररहित और स्त्रीके ऊपर शूरवीर शस्त्र नहीं छोड़ते। शास्त्रकारोंने इन्हें अवध्य बताया है, किन्तु लक्ष्मणजीने रामचन्द्रजीके प्रेमके पीछे इन नियमोंकी भी अवहेलना कर दी। शूर्पणखा जब श्रीरामचन्द्रजीके पास आयी तो श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीसे सैनों हीमें इशारा कर दिया कि, इसे अंग भंग कर दो। बस इशारा पाते ही वे उसपर टूट पड़े और बातकी बातमें उसके नाक कान काटकर बेचारीको कुरूपा बना दिया। उन्होंने यह भी नहीं विचारा कि यह इतने भारी शूरवीर राजाकी भगिनी है—

लक्ष्मण अति लाघव तिहिं, नाक कान बिनु कीन्ह।
ताके कर रावण कहं, मनहुं चुनौती दीन्ह ॥

चुनौती इस बातकी दी कि मैं श्रीरामचन्द्रजीका सेवक हूं, यदि उनकी आज्ञा होगी, तो मेरे सामने तुम भी कोई चीज नहीं हो।

इन्होंने श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें अपने शरीरका कभी भी सुख नहीं चाहा। जिस सेवाधर्मको

मुनियोंने दुरूह और गहन बताया है, उसे इन्होंने अपने पुरुषार्थ और सामर्थ्यसे श्रीरामजीकी अनुग्रहका स्मरण करते हुए अन्ततक ज्योंका त्यों निबाहा है। श्रावण भादोंमें तो सभी नदियां उमड़ उमड़कर चलती हैं, यहांतक कि छोटे छोटे नाले भी आपेसे बाहर होकर बहने लगते हैं, किन्तु बैशाख ज्येष्ठकी कड़ी धूपमें कोई कोई नदियां ही बहती हैं। यथार्थमें नदी तो उसीका नाम है। इसी प्रकार सुखमें राज्यपाटके समय तो सभी आकर प्रेम प्रदर्शित करते हैं, बिराने भी अपने बन जाते हैं, किन्तु जो दुःखमें भी साथ न छोड़े, सच्चा सेवक तो यथार्थमें वही है। राज्यके समय सेवा करनेवाले बहुत हैं, किन्तु बन बन और जङ्गल जङ्गलमें घूमकर सेवा करना लक्ष्मण-जी जैसे सेवकका ही काम है। अपने सम्पूर्ण सुखों को जलाञ्जलि देकर केवल दुःखोंको ही अपनाता रहे, वही इस असाध्य और असम्भव कार्य्यको कर सकता है। सेवकने यदि शरीरका सुख चाहा तब तो सेवा हो चुकी। लक्ष्मणजी कहते हैं—

> सेवक सुख चह मान भिखारी,
> व्यसनी धन शुभगति व्यभिचारी॥
> लोभी जस चह चारु गुमानी,
> नभ दुहि दूध चहत ये प्रानी।

ठीक है देव, तुमने ऐसी अनधिकार चेष्टा नहीं की। तभी तो संसारमें तुम सर्वश्रेष्ठ सेवक-शिरोमणि कहे जाते हो।

× × × ×

ज्ञानार्जनकी प्रवृत्ति—लक्ष्मणजी धनुर्धारी वीर होनेके साथ ही विद्याभ्यासंगी भी थे। महापुरुष जिसप्रकार स्वभावसे ही शास्त्रप्रिय होते हैं, उसी प्रकार इनकी भी पारमार्थिक ज्ञानमें रुचि थी। ये जहां भी अच्छा अवसर पाते वहीं श्रीरामचन्द्रजीसे शास्त्रसम्बन्धी प्रश्न करते। चित्रकूटमें भी आप श्रीरामचन्द्रजीसे अनेक इतिहास पुराण सुनते रहे और जब पंचवटीमें आकर रहे, तब तो आप श्रीरामचन्द्रजीसे सदा परमार्थ-सम्बन्धी ही प्रश्न करते थे। एकदिन आपने सम्पूर्ण शास्त्रोंमें जिन प्रश्नोंका विस्तारसे वर्णन किया गया है, उन्हें ही श्रीरामचन्द्रजीसे पूछा—

> कहहु ज्ञान विराग अरु माया,
> कहहु सो भक्ति करहु जेहि दाया।
>
> ईश्वर जीवहि भेद प्रभु, सकल कहहु समझाइ।
> जाते होय चरणरति, शोक मोह भ्रम जाइ॥

इन प्रश्नोंके श्रीरामचन्द्रजीने भी बहुत ही संक्षेपमें बड़े सुन्दर उत्तर दे दिये।

गुह निषादके यहां जब रामचन्द्रजी और सीताजी कुश और पत्तोंकी साँथरी बिछाकर शयन करने लगे तब आप धनुषबाण लेकर पहरा देनेके लिये वीरासनसे बैठे। गुह निषाद भी उनके पास आ बैठा। गुह निषादने जब श्रीरामजी और सीताजीकी मोहिनी मूर्तिको सोते हुए देखा तो वह करुणाके कारण बिलखने लगा। ऐसा सुन्दर शरीर, ऐसा सुकुमार अंग क्या इन कँटीली कुशों-पर सोने लायक है? सुवर्णके पलँगोंपर सोने-वाले ये आज पृथ्वीमें पड़े हुए हैं, हा! कैकेयीने बहुत बुरा किया। गुह निषादके ऐसे विलापको सुनकर लक्ष्मणजी उसे समझाते हैं। समझाते क्या हैं भक्ति, ज्ञान और वैराग्यका उत्तमसे उत्तम मर्म बताते हैं। सुनिये कितनी ऊंची ऊंची बातें बता रहे हैं—

> योग वियोग भोग भल मन्दा,
> हित अनहित मध्यम भ्रम फँदा।
> जनम मरण जहँलगि जग जालू,
> संपति विपति कर्म अरु कालू।
> धरणि धाम धन पुर परिवारू,
> स्वर्ग नरक जहँलगि व्यवहारू।
> देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं,
> मोहमूल परमारथ नाहीं।
>
> सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ।
> जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंच जिय जोइ॥

अब शङ्का होती है कि यह सब मोह ही है और यथार्थमें कुछ नहीं है, तो हमें यह दीख क्या रहा है ? यह सब मिथ्या ही है क्या ? यदि मिथ्या ही है तो इसका ज्ञान कैसे हो ? सभी लोग इसी प्रकार मोहमें फँसे हुए हैं कि किन्हींको इसका यथार्थ भी ज्ञान है ? सभी इस मोहनिशामें सोये पड़े हैं क्या ? इन सब बातोंका आप कैसा सुन्दर उत्तर देते हैं—

मोहनिशा सब सोवनिहारा,
देखहिं स्वप्न अनेक प्रकारा।
इहि जग यामिनि जागहिं योगी,
परमारथी प्रपंच वियोगी।
जानिय तबहिं जीव जग जागा,
जब सब विषय विलास विरागा।
होइ विवेक मोह भ्रम भागा,
तब रघुवीर चरण अनुरागा।
सखा परम परमारथ एहू,
मन क्रम वचन रामपद नेहू।

यथार्थमें लक्ष्मणजी ! ये वाक्य आपके अनुकूल ही हैं, आपने यथार्थ परम पुरुषार्थ और परमार्थको पहिचाना है। ये आपके अनुभवकी बातें हैं, खाली जबानी जमाखर्च ही नहीं है। आपने इन वाक्योंको अपने जीवनमें प्रत्यक्ष करके दिखा दिया है। तभी तो आप सम्पूर्ण नातोंको रामके ही हेतुसे मानते हैं। तभी तो आप रामचन्द्रजीकी प्रीतिके पीछे माता, पिता, भाई बन्धु कुटुम्ब तथा घर किसीको भी याद नहीं करते–

क्षण क्षण लखि सिय रामपद, जानि आपुपर नेह।
करत लषण सपने न चित, बन्धु मातु पितु गेह॥

लक्ष्मणजीके सम्पूर्ण चरित्रको ध्यानपूर्वक पढ़ जाने पर भी उसमें एक भी ऐसा छिद्र नहीं मिलता, जिसके सम्बन्धमें कुछ कहा जा सके। मिले भी तो कहांसे ? ये तो 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' के पक्षपाती थे। ये तो सर्वतो-भावेन रघुनाथजीकी शरणमें प्राप्त हो चुके थे। इनका अपना जीवन होता, तो कुछ कहा भी जा सकता था, इन्होंने तो जीवनको अपना समझा ही नहीं।

परशुरामजीके साथ विवाद करना, भरतजी-पर शंका करना, सुग्रीवपर क्रोध करना, सूर्पणखाके नाक कान काटना ये अपराध लक्ष्मणजीपर लगाये जा सकते हैं, इन कारणोंसे हम उन्हें क्रोधी कह सकते हैं, किन्तु ये सब काम उन्होंने केवल श्रीरामचन्द्रजीके प्रेमसे-जिन्हें वे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय समझते थे-उनके सुखके ही लिये किये थे। इसप्रकार इन कामोंका अनौचित्य हम लक्ष्मणजीके शिरपर नहीं मढ़ सकते।

निरन्तर श्रीरामचन्द्रजीकी भक्ति करते करते उनका ऐसा स्वभाव हो गया है, कि वे रामचन्द्र-जीके प्रति किसी भी बातको सहन नहीं कर सकते। इन घटनाओंसे उनकी अनन्य भक्ति ही प्रकट होती है। लक्ष्मणजी ऐसे सच्चे सेवक ही इस दुःखमय जगत्को स्वर्गसे भी अधिक आनन्दमय बना लेते हैं। नीतिकारोंने कहा है–

सुवर्णपुष्पितां पृथ्वीं विचिन्वन्ति नरास्त्रयः।
शूराश्च कृतविद्याश्च ये हि जानन्ति सेवितुम्॥

यह पृथ्वी सुवर्णके पुष्पोंसे ढकी हुयी है। सभी लोग उन फूलोंको चुनकर सुखी थोड़े ही हो सकते हैं। तीन आदमी ही उन फूलोंको चुन सकते हैं, एक तो शूरवीर, दूसरे जिन्होंने शास्त्रोंके पठन पाठनमें परिश्रम किया हो और तीसरे वे जो भली-भांति सेवा करना जानते हों। परमार्थमें और लोकमें यही तीनों सुखी हो सकते हैं। लोकमें तो वह शूरवीर सुखी हो सकता है, जिसकी भुजाओंमें बल हो और परमार्थमें वह शूरवीर विजय प्राप्त कर सकता है, जिसने अपनी इन्द्रियोंके ऊपर अधिकार कर लिया हो। परमात्माकी ओर बढ़ना भी शूरवीरोंका ही काम है, कायर तो उधर आंख उठाकर भी नहीं देख सकते। लक्ष्मणजी दोनों ही

प्रकारके शूर थे। उनके शस्त्रपराक्रमसे तो पाठक परिचित ही हैं, जैसा उनका महान् शारीरिक बल था, उससे कहीं बढ़कर उनका चारित्र्यबल था।

लक्ष्मणजीके उज्ज्वल चरित्रका सबसे ज्वलन्त प्रमाण यही है कि ये घरमें आयी हुई, नववधूकी कुछ भी परवाह न करते हुए श्रीराम-चन्द्रजीके साथ अकेले ही वनोंकी खाक छानने चले गये। श्रीरामजीके साथ अरण्योंमें जिस-प्रकार उन्होंने अपने निष्कलंक चरित्रकी रक्षा की है, उसके स्मरणमात्रसे ही रोमाञ्च होते हैं। तेरह वर्षतक जिस सीताजीके साथ निरन्तर जंगलोंमें रहे, जिन्हें वे अपनी जननीसे भी बढ़कर मानते थे उनके निष्कलंक मुखको उन्होंने एक दिनभी नजर-भरके नहीं देखा। सदा उनके चरणोंमें ही अपनी दृष्टि लगाये रक्खी। मार्गमें अच्छेसे अच्छे सम्मान-के अवसरपर भी ये विचलित नहीं हुए, इन्होंने सदा उसे श्रीरामजीका ही सम्मान समझा और अपनेको उनका एक क्षुद्र सेवक समझकर प्रति-निधिरूपसे ही उसे अंगीकार किया। इसप्रकार-के शूरवीर संसारमें कितने हुए हैं ? इस प्रश्नका सही उत्तर कौन दे सकता है ?

सांसारिक विद्या प्राप्त करनेसे संसारमें सुख मिलता है और पारमार्थिक ज्ञानसे इहलोक और परलोक दोनोंमें भी कल्याण होता है, लक्ष्मणजीने परमार्थ-सम्बन्धी विद्या किसीसे कम प्राप्त नहीं की थी।

संसारमें राजाकी सेवा करनेसे सांसारिक सुख प्राप्त हो सकते हैं। जिस सेवककी सेवासे स्वामी प्रसन्न हो जाय, फिर उसके लिये क्या दुस्साध्य है ? किन्तु जिन्होंने राजाओंके राजाकी महाराजाओंके महाराजकी—अपने हृदयके स्वामी-की लगनसे सेवा की है, असलमें संसारमें शरीर धारण करना तो उनका ही सार्थक कहा जा सकता है। सुवर्णके पुष्पोंसे विभूषित इस पृथ्वीका वे लोग इसी लोकमें उपभोग नहीं करते, किन्तु अनेक रत्नोंसे पूरित पृथ्वी सदा उनके पीछे ही लगी डोलती है, वह उन लोगोंकी दासी हो जाती है। ऐसे महापुरुष कभी भी नहीं मरते, वे सदा जीते रहते हैं और सुखपूर्वक जीते रहते हैं। कीर्ति उनका जयघोष करती डोलती है, यश उनकी परिचर्य्या करता है, नाम उनके अमरताके गीत गाता फिरता है।

लक्ष्मणजी शूर तथा कृतविद्य तो थे ही किन्तु यथार्थमें वे सच्चे सेवक थे, वे सेवा करना जानते थे, सेवाका सच्चा रहस्य उन्होंने समझा था। "सबतें सेवक धर्म कठोरा" कहा जानेवाला धर्म उन्होंने निबाहा था और बड़ी खूबीके साथ निबाहा था।

लक्ष्मणजीकी भक्तिका बखान करनेकी सामर्थ्य किसमें है ? कविकी कल्पनाका अन्त हो सकता है, पृथ्वी नष्ट हो सकती है, समुद्र सोखा जा सकता है, आकाशके तारे गिने जा सकते हैं, किन्तु लक्ष्मणजीकी भक्तिका सम्पूर्ण और पूरा बखान नहीं हो सकता। लक्ष्मणजी न होते तो सीताजी हरी जातीं या नहीं? रावण मारा जाता या नहीं ? सीताजी रावणके यहांसे मिलतीं या नहीं? रामजी वनसे लौटकर अवधपुरी आते या नहीं ? इन प्रश्नोंका उत्तर सर्वांशमें दिया ही नहीं जा सकता। उत्तर देना तो अलग रहा हम अयोध्या-से आगेकी कल्पना ही नहीं कर सकते। लक्ष्मण-जी ! तुम धन्य हो। सेवक धर्मके सजीव आदर्श! तुम्हें बार बार नमस्कार है। हम तुम्हें परमात्मा-के तुल्य समझते हैं, परमात्मामें और तुममें अन्तर ही क्या है:—

> भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक।
> इनके पद बन्दन किये, नाशत विघ्न अनेक।

यही नहीं किन्तु हम तो तुम्हें भगवान्से भी बड़ा समझते हैं। यदि तुम्हारी कृपा हुई, तो

फिर भगवानके मिलनेमें कुछ भी देर नहीं है। "भक्तके वशमें हैं भगवान" यही सब सोच समझकर तो कविने कहा है—

मोरे मन प्रभु अस विश्वासा,
रामते अधिक रामकर दासा।

देव! हम पामर प्राणियोंको भी स्मरण रहे, तुम्हारी जैसी भक्ति न सही तो तुम्हारे गुणोंमें तो भक्ति हो ही। भक्तोंके गुणोंके स्मरणसे भी कल्याणका मार्ग परिष्कृत होता है। संसारमें जन्म हो तो तुम्हारासा, जीवन-लाभ तो तुमने ही पाया। भरतजीने इसीलिये तो तुम्हें बड़भागी कहकर सराहा है—

अहह धन्य लक्ष्मण बड़भागी,
राम-पदारविन्द अनुरागी।

पंचवटी

(लेखक-रायबहादुर अवधवासी लाला सीतारामजी बी० ए०)

कई वर्ष हुए हमने 'सरस्वतीमें' वाल्मीकिके आश्रमपर एक लेख छपाया था। उसमें यह दिखाया गया था कि चार स्थानोंको महर्षि वाल्मीकिके आश्रम होनेका दावा है—

१-कानपूर जिलेमें बिठूरमें।

२-बांदेमें बघरेही गांवके पास लालापुरकी पहाड़ीपर।

३-बनारस राजमें गंगातटपर।

४-फैजाबादमें मड़हाके किनारे।

इसीभांति पंचवटीका स्थान भी विवादग्रस्त है। संयुक्तप्रान्त, पंजाब, राजपूताना, गुजरात और बम्बई प्रांतके रहनेवाले नासिकके सामने पंचवटी बतलाते हैं और मद्रास प्रान्तके लोग वस्तर राज्यमें। हमारे मित्र रायबहादुर बाबू हीरालालजी एक बार दौरेमें उस स्थानपर गये थे। उन्होंने मद्रासवाली पंचवटीके विषयमें जो कुछ लिखा है उसका अनुवाद यह है।

पंचवटी गोदावरीके तटपर है और यहां इसको 'पर्णशाला' कहते हैं। गोदावरी नदीके उस-पार एक ऊंची पहाड़ी है जो निजाम राज्यमें है। पहाड़ीके ऊपर कुछ सफेद पत्थर हैं जो रावणके रथके चलनेसे बने माने जाते हैं। उसीके पास एक ताल 'सीताबांग' कहलाता है जिसमें सीताजी स्नान करती थीं। यहीं बनमें श्रीरामजीका एक मन्दिर है जिसका खर्चा कुछ वस्तर राज्यसे दिया जाता है कुछ निजाम राज्यसे। इसी कारण निजाम राज्यने एक बार नदीके इस पारतक भूमिका दावा कर दिया था। यहांसे छः मीलपर एक गांव है जिसको दुम्मगुद्यम कहते हैं। दुम्मगुद्यम तेलगू भाषाका शब्द है जिसका हिन्दी भाषान्तर है 'पक्षीका गांव'। यहीं रावणको जटायुने रोका था।

नासिकके विषयमें श्रीमान् वाई० आर० गुप्ते महाशयने जो बम्बईके कोलाबा जिलेमें अलीबागके सब-रजिष्ट्रार हैं, हमको लिखा है कि नासिकके पंचवटी माननेके प्रतिकूल मुख्य बात भवभूतिके उत्तरचरितमें गोदावरीका वर्णन है। यहां नदीका पाट बहुत कम है क्योंकि यह स्थान

गोदावरीके उद्गमसे केवल दस मीलपर है। सम्भव है कि भवभूतिने उस स्थानकी महिमा बढ़ानेके लिये गोदावरीका ऐसा वर्णन किया हो पर स्वार्थी लोगोंने अपने लाभके लिये उसे तीर्थ मान लिया हो। नासिकसे पांच मीलपर कुछ लेख ईस्वी सनकी दूसरी शताब्दीके पाये जाते हैं। पंचवटी गोदावरीकी एक ओर है और नासिक दूसरी ओर।

अब इसके निर्णय करनेका हमें एक उपाय मिला है। संस्कृतमें एक ग्रन्थ आनन्द-रामायण है। कहा जाता है कि वह भी महर्षि वाल्मीकिका रचा हुआ है। उसमें लिखा है।

यत्र यत्र पंचवट्यां रामबाणभयान्मृगः।
चचार गौतमीतीरे संस्थानन्तत्र तत्र हि॥

संस्थानसंज्ञान्यनेकानि जातानि च पुराणि च।

मृगस्य पतितं यत्र नूपुरं परिधावतः।
नूपुराख्यो महाग्रामः प्रोच्यते गौतमीतटे॥

रामबाणप्रहारेण चपलाक्षो पतद्भुवि।
मृगो यत्र महांस्तत्र चापल्यग्राम उच्यते॥

गोदातीरे प्रावभूम्यां रामबाणहतो मृगः।
पतितो यत्र तच्चिह्नं दृश्यतेऽद्यापि मानवैः॥

सौमित्रिचापजा रेखा पंचवट्यां समन्ततः।
अद्यापि दृश्यते स्पष्टा नदीरूपा भयावहा॥

पाषाणभूम्यान्तत्रैव रावणस्य पदं महत्।
अद्यापि दृश्यते भीमं गर्त्तरूपं नरोत्तमैः॥

रामके बाणके डरसे मृग पंचवटीमें जहां जहां गौतमीके तटपर भागा वहीं अनेक संस्थान और नगर बन गये हैं।

भागते हुए हिरनका जहां नूपुर गिरा था वहां गौतमीके किनारे नूपुर नामका बड़ा गांव बसा है जहां वह चंचल आंखवाला हिरन श्रीरामके बाणके प्रहारसे गिरा था उस स्थानपर बसे गांवको चापल्यग्राम कहते हैं। जिस स्थानपर हिरन गिरा था उस स्थानपर अब भी चिह्न देखे जाते हैं। पंचवटीके चारों ओर लक्ष्मणजीने धनुषसे जो रेखा खींची थी वहां अब भयंकर नदी बन गयी है। पथरीली भूमिपर जहां रावणका चरण पड़ा था वहां अब एक भयंकर गढ़ा है।

उसी ग्रन्थमें लिखा है कि खर जिस नगरमें रहता था उसका नाम त्रिकंटक था जो अब त्र्यंबक हो गया है।

क्या कोई भगवद्भक्त या विचरते हुए साधु महात्मा यह बता सकते हैं कि जो स्थान आनन्द-रामायणमें लिखे हैं वे नासिककी पंचवटीमें हैं या मद्रासकीमें, दोनों स्थान गोदावरीके तटपर हैं एक उद्गमके पास दूसरा मुहाने के।

यह चाम चमारके कामको नाहीं

चामहि चामकी चाह करै चमकावत चाम फुलेलन माहीं।
चाहत चित्त कछू न करै निज चाम सजावनकी मन माहीं।
जेतक जन्तु जगै जगमें 'अलि' लागि परारथ देह गवांहीं।
का चितवै निज चाम चमार य चाम चमारके कामक नाहीं॥

—सत्यनारायण पाण्डेय 'अलि'

जगत्-स्वप्न

स्वप्नमें हम लोग न मालूम क्या क्या देखते हैं, सुनते हैं, काम करते हैं परन्तु उनमेंसे बाहर कुछ भी नहीं होता। अन्दर ही अन्दर मन उन सबकी सृष्टि करता है। मनकी यह एक अद्भुत शक्ति है। स्वप्नदृष्ट समस्त दृश्यादि केवल मनोमय हैं। बहिर्जगत्‌से उनका यही सम्बन्ध है कि स्वप्नमें दीखनेवाले पदार्थ प्रायः बाह्य-जगत्‌की प्रतिध्वनिमात्र होते हैं। परन्तु यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि सभी समय स्वप्नके पदार्थ बाहरकी प्रतिध्वनि ही होते हैं, ऐसे भी बहुतसे विषय स्वप्नमें देखे जाते हैं जो वास्तवमें कभी पहले देखे सुने हुए नहीं होते। यह निरी कल्पना नहीं, पर वास्तविक सत्यकी तरह ही सत्य है। इसी कारणसे स्वप्न असलमें एक दुर्विज्ञेय रहस्य है, सभी समय 'कुछ नहीं' कहकर उन्हें उड़ाया नहीं जा सकता। स्वप्नमें हम कितने जीव, कितनी घटनाएं और कितने स्थान देखते हैं परन्तु जागनेपर उनमेंसे कुछ भी नहीं रहता। मनके अन्दर ही मन उनकी रचना करता है और मनमें ही वह लय भी हो जाते हैं। बस, जैसा यह स्वप्नका व्यापार है, ठीक वैसा ही इस वास्तविक जगत्‌का भी है।

जब यह जाग्रत-स्वप्न भंग होगा तब दीख पड़ेगा कि यह जगत् या इस जगत्‌की कोई भी वस्तु नहीं है। केवल एक 'तुम' हो। जबतक मनुष्य स्वप्न देखता है तबतक वह नहीं समझ सकता कि स्वप्नमें दीखनेवाले पदार्थ केवल कल्पित हैं, परन्तु जागते ही उसकी बुद्धिमें वे सब मिथ्या प्रतीत होने लगते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्मदेहमें जाग्रत होनेपर यह स्थूलदेह और समस्त भौतिक पदार्थ भी स्वप्नदृष्ट वस्तुओंकी भांति अदृश्य हो जाते हैं। जाग्रतमें स्वप्नके पदार्थ नहीं हैं और स्वप्नमें जाग्रतके नहीं हैं। इसी प्रकार-कारणदेहमें भी जागना होता है। वह है विशुद्ध-ज्ञानमय। इसीमें यथार्थ जागरणका आभास मिलता है। यथार्थरूपसे जाग जानेपर हम एक दूसरे ही ढंगके मनुष्य बन जाते हैं। फिर ऐसा खयाल नहीं रहता कि हम इसी जगत्‌के मनुष्य हैं। जगत्‌के लोग इस स्थितिके मनुष्यको दूसरी नजरसे देखते हैं और वह भी जगत्‌को एक स्वतन्त्र मूर्तिमें देख पाता है। इस समय देशकाल ज्ञानकी कोई भी बाधा उसके सामने नहीं आती, वह सारे जगत्‌में एक नया मनुष्य बन जाता है, फिर उसकी दृष्टिमें जगत् मानों एक अभिनव आनन्दनिकेतन रह जाता है।

जैसे स्वप्नमें मिला हुआ धन जागनेपर नहीं मिलनेसे हमें कोई दुःख नहीं होता, क्योंकि हम उसे कल्पित समझ लेते हैं, इसी प्रकार जो यथार्थरूपसे जाग गया है उसे फिर इस जगत्‌की धन सम्पत्ति और मान बड़ाईके लिये कोई चिन्ता नहीं होती। स्वप्न देखते समय कोई भी स्वप्नको स्वप्न नहीं समझ सकता इसी प्रकार जबतक इस जगत्-स्वप्नसे जागा नहीं जाता, तबतक इसमें मिथ्या विश्वास होना निश्चय ही बड़ा कठिन है। स्वप्नमें कभी कभी ऐसा खयाल होता है कि मानों हम स्वप्न देख रहे हैं, इसतरह स्वप्नमें स्वप्नकी भावना होना जैसे और भी महामोह और बुरे निमित्तका कारण है, इसी प्रकार अप्रबुद्ध (अज्ञान) अवस्थामें आत्मज्ञानका स्वांग-रचना भी मोहमें अधिक फंस जानेका ही लक्षण समझना चाहिये। परन्तु वास्तवमें स्वप्नभंग हो जानेपर जैसे स्वप्नमें देखी हुई कोई भी वस्तु नहीं रह जाती, केवल स्वप्न देखनेवाला मात्र रह जाता है, स्वप्नके समस्त पदार्थ उस एक'द्रष्टा'में विलीन हो जाते हैं, इसी प्रकार इस जगत्-स्वप्नके यथार्थ भंग हो जानेपर भी एक परमात्माके सिवा और कुछ भी नहीं रह जाता। जाग्रत मनुष्यकी स्मृतिमें जैसे स्वप्नके सामान्य संस्कार रहते हैं, इसी प्रकार यह विश्व-स्वप्न कुछ कालतक उस ज्ञानीकी स्मृतिमात्रमें ही रह जाता है, परन्तु आगे चलकर वह भी नष्ट हो जाता है!

—(श्रीभूपेन्द्रनाथ सन्याल)

भक्तको दुःख नहीं होता

नदियाके पण्डित श्रीवास श्रीगौराङ्गके बड़े भक्त थे, गौराङ्ग महाप्रभु बीच बीचमें श्रीवासके घरपर कीर्तन करने जाते। इसी तरह एक दिन कीर्तनके लिये गौराङ्ग उनके घर गये। श्रीवासके आंगनमें सैकड़ों भक्त आनन्दमें विभोर हुए कीर्तन कर रहे थे, गौराङ्गको देखकर भक्तोंके आनन्दकी मात्रा सीमाको पहुंच गयी, उनका बाह्यज्ञान जाता रहा। श्रीवासके आनन्दकी तो कोई सीमा नहीं है क्योंकि उसीके आंगनमें हरिसंकीर्तन हो रहा है। इतनेमें ही भीतरसे एक दासी घबराती हुई आयी और श्रीवासको बुलाकर अन्दर ले गयी!

श्रीवासका इकलौता बालक पुत्र बीमार है, बीमारी बढ़ गयी है घरमें बालककी माता और अन्यान्य स्त्रियां बालककी सेवामें लगी हुई थीं और श्रीवास निश्चिन्त मनसे बाहर नाच रहे थे। उनको मरणासन्न पुत्रकी कोई चिन्ता नहीं है, वे जानते हैं कि प्रभु जो कुछ करते हैं, हमारे मंगलके लिये करते हैं। जो सब जीवोंकी एकमात्र गति हैं, उन्हींका नाम-संकीर्तन हो रहा है और भक्तगण आनन्दमें डूबे हुए नृत्य कर रहे हैं, इस आनन्दमें चिन्ता कैसी?

दासीके साथ श्रीवासने अन्दर पहुंचकर देखा, बालकका अन्तसमय उपस्थित है, पिताने बड़े प्रेमसे भगवान्‌का तारकब्रह्म* मन्त्र उसे सुनाया। पुत्रको मृत्युमुखमें जाते देखकर उसकी माता तथा दूसरी स्त्रियोंकी आंखोंसे आंसू बहने लगे। श्रीवासने कहा 'जिसके नाम श्रवणमात्रसे महापापी भी परमधामको चला जाता है वही स्वयं भगवान् आज तुम्हारे आंगनमें नाच रहे हैं, तुम्हारे इस पुत्रके सौभाग्यके लिये ब्रह्मातक तरसते हैं, यदि पुत्रपर तुम्हारा वास्तविक स्नेह है तो उसकी ऐसी दुर्लभ मृत्युके लिये आनन्द मनाओ, वह बड़ी ही शुभ घड़ीमें जन्मा था तभी तो आज भगवान्‌के सामने उसका नामकीर्तन सुनते सुनते इसने प्राण त्याग किये हैं। मेरा मन तो आज आनन्दसे उछल रहा है। यदि तुम लोग किसी तरह भी अपने मनको शान्त नहीं कर सकतीं तो कमसे कम जबतक कीर्तन होता है तबतक तो चुपचाप रहो। कहीं बीचमें रो उठोगी तो कीर्तन भंग हो जायगा।'

ब्राह्मणीने पतिके वचन मानकर दुःसह पुत्र-शोकके आंसुओंको किसी तरह रोक लिया और दूसरी स्त्रियोंके साथ वह पुत्रकी लाशके पास बैठकर हरिनाम-चिन्तन करने लगीं। धन्य!

श्रीवास पुत्रशवको जमीनपर लिटाकर प्रफुल्लित मन और खिले हुए मुखकमलसे बाहर लौट आये और दोनों भुजा उठाकर 'हरिबोल हरिबोल' की तुमुल ध्वनि करके नाचने लगे। किसीको भी इस घटनाका पता नहीं लगा। इस समय रातके आठ बजे थे।

नृत्य-कीर्तनमें ढाई पहर रात बीत गयी किसी तरह एक भक्तको यह बात मालूम हो गयी, उसने दूसरेसे कहा, क्रमशः बात फैल गयी, जो सुनता वही नाचना छोड़कर श्रीवासकी ओर देखने लगता। श्रीवास उसी महानन्दमें नाच रहे हैं। श्रीवासने

* 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' यही तारक मन्त्र है।

दिखला दिया कि भक्तको सांसारिक पदार्थोंके नाश हो जानेसे कोई दुःख नहीं होता वह जिस आनन्द-सिन्धुमें निमग्न रहता है, उसके सामने जगत्का बड़ेसे बड़ा दुःख भी तुच्छ-नगण्य प्रतीत होता है "यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।"

भक्तोंकी दृष्टिमें जगत् भगवान्की लीलामात्र है, बाजीगरके नित्य साथी—उसकी प्रत्येक क्रीड़ाका मर्म समझनेवाले टहलुएकी भांति वे भगवान्की सभी लीलाओंमें हर्षित होते हैं, मृत्यु उनकी दृष्टिमें कोई पदार्थ ही नहीं रहता। इसी सुखमें आज श्रीवासका नृत्य भी बन्द नहीं हुआ। परन्तु भक्तोंमें इस बातके फैल जानेसे उन्होंने कीर्तन रोक दिया, मृदङ्ग और करतालकी ध्वनि बन्द हो गयी। महाप्रभु गौराङ्गदेवको भी बाह्यज्ञान हो गया, वे भक्तोंकी ओर देखकर कहने लगे 'भाइयो ! क्या हुआ ? मेरे हृदयमें रोना क्यों आता है ?' फिर श्रीवासकी तरफ मुख फिराकर प्रभु बोले 'पण्डित! तुम्हारे घरमें कोई दुर्घटना तो नहीं हो गयी ? मेरे प्राण क्यों रो रहे हैं ?' श्रीवासने मुस्कराते हुए कहा 'प्रभो ! जहां तुम उपस्थित हो, वहां दुर्घटना क्यों होने लगी ?' प्रभुने इस बातपर विश्वास नहीं किया वे भक्तोंसे पूछने लगे। पर किसीसे भी सहजमें यह दुःखद संवाद कहते नहीं बना। अन्तमें एक भक्तने कहा, 'प्रभो ! श्रीवासका पुत्र जाता रहा।' प्रभुने कहा 'कब ? कितनी देर हुई,' भक्तोंने कहा, 'रातको आठ बजे यह घटना हुई थी इससमय करीब दो बज गये हैं।' यह सुनकर श्रीगौराङ्ग श्रीवासकी ओर देखने लगे, श्रीवासका मुख महान् आनन्दसे प्रफुल्लित हो रहा है, महाप्रभु श्रीवासका यह भाव देखकर बहुत प्रसन्न हुए, उन्होंने कहा—

'धन्य धन्य श्रीवास ! आज तुमने श्रीकृष्ण खरीद लिया'

महाप्रभुका हृदय द्रवित हो गया, नेत्रोंसे अश्रुधारा बहने लगी, प्रभुकी आंखोंमें आंसू देखकर श्रीवासने कहा 'प्रभो ! मैं पुत्रशोक सहन कर सकता हूं परन्तु तुम्हारे नेत्रोंमें जल नहीं देख सकता, तुम शान्त होओ, मुझे कोई दुःख नहीं है—दुःखकी संभावना भी नहीं है।'

भक्तोंने मृत बालककी लाशको बाहर लाकर आंगनमें सुला दिया, महाप्रभु उसके पास जाकर उसे जीवितकी तरह पूछने लगे, प्रभुके प्रश्न करते ही मृतदेहमें प्राणोंका संचार हो गया बालक बोलने लगा, इस आश्चर्य घटनासे सभी लोग चकित हो गये, बालकने कहा 'प्रभो ! इस जगत्में मेरा काम पूरा हो गया अब मैं इससे बहुत अच्छी जगह जारहा हूं, आप कृपा करें, जिससे भगवत्-चरणोंमें मेरी मति हो।' इसके बाद ही शरीर पुनः निर्जीव हो गया ! पुत्रकी बोली सुनकर माताका शोक कुछ कम हुआ, महाप्रभुके समझानेसे सभी शोक भूल गये। प्रभु कहने लगे 'श्रीवास ! जब संसारमें आये हो, तब तुम्हें भी सांसारिक नियमोंके अधीन ही रहना होगा। परन्तु दूसरे लोग इसके कठिन नियमोंको क्लेशसे सहते हैं तुम क्लेशसे मुक्त हो। पर यह न समझो कि तुम्हारा पुत्र जाता रहा है, उस एकके बदलेमें श्रीनित्यानन्द और मुझको दोनोंको तुम अपने पुत्र समझो !'

प्रभुके इन वचनोंसे श्रीवास और उनकी पत्नीका हृदय आनन्दसे भर गया। वे गद्गद होकर हरिध्वनि करने लगे। भक्तगण मृतदेहको सत्कारके लिये ले गया। सबका शोक-दुःख जाता रहा।

(चैतन्यभागवतसे)

भक्त धर्मदास

(लेखक—श्रीसत्याचरणजी 'सत्य' विशारद)

मध्यकालीन भारतमें भक्तिकी एक अपूर्व धारा तीव्रगतिसे बहने लगी। यह धारा प्राचीन धारासे सर्वथा भिन्न थी। कारण यह था कि प्राचीन तथा नवीन भक्तोंका मार्ग भिन्न था। प्राचीन भक्त वेद, उपनिषद् तथा दर्शनोंके प्रगल्भ पण्डित होते थे। वे अक्षरविज्ञान तथा उसके तत्त्व दोनोंको समझते थे। उनकी भक्ति ज्ञानकी चरमसीमासे प्रारम्भ होती थी अथवा दूसरे शब्दोंमें—उनकी भक्ति केवल हृदयसे सम्बन्ध नहीं रखती थी अपितु उसके साथ हृदय तथा मस्तिष्क दोनोंका सम्बन्ध होता था। आजकलके शब्दोंमें यदि उस भक्तिका नाम विज्ञानानुकूल (Scientific) रक्खा जाय तो कदाचित् अनुचित न होगा। इस कोटि-के भक्त महर्षि वाल्मीकि, व्यास, अगस्त्य तथा विश्वामित्र आदि थे। इन महान् आत्माओंकी गति सूक्ष्मसे सूक्ष्म विषयोंतक थी। किन्तु महाभारत युद्धके पश्चात् पूर्व दशा विकृतावस्थाको प्राप्त होने लगी। जन्मेजय एवं शृङ्गी आदि, पूर्व महात्माओं-की उज्ज्वल हारावलीके अन्तिम दाने थे। जहां महाभारतके युद्धने राजनैतिक तथा सामाजिक दृष्टिसे भारतको क्षति पहुंचायी, वहाँ उसने धार्मिक अङ्गपर भी कम कुठाराघात नहीं किया। भयंकर विप्लवके पश्चात् समाजके प्रत्येक अङ्गमें परिवर्तन होता है और यह होना प्रकृतिका नियम भी है। महाभारतकी संकटमय परिस्थितिमें व्यासने राजनैतिक क्षेत्रमें भी कुछ भाग लिया, यह व्यासजीके महर्षिके लिये कोई नवीन बात नहीं थी क्योंकि उनके पूर्व भी महर्षि वशिष्ठने राजनैतिक विषयोंमें कम हस्तक्षेप नहीं किया था। किन्तु दोनों महर्षियोंके समयकी परिस्थितियां भिन्न थीं। महाभारतके पूर्व राज्यके निमित्त अपने भाइयोंके रक्तपातका इतना भयङ्कर दृष्टान्त कहीं नहीं मिलता। कहनेका तात्पर्य यह है, इस युद्धके बाद धर्मकी इतिश्री प्रारम्भ हो गयी और ऋषियोंके स्थानपर धर्मच्युत एवं धर्मसंशयी पुरुषोंका प्राबल्य होने लगा। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण वाममार्गका नवीन पंथ था। इतिहासज्ञोंके लिये महाभारतसे लेकर बौद्धकाल-तकका समय सबसे कठिन तथा अस्पष्ट है। इस कालकी अवस्थाके अनुसन्धानमें प्रायः उनका समय निरर्थक ही गया। बुद्धधर्मके आविर्भावके समय प्रायः लोगोंका विश्वास वैदिक ग्रन्थोंसे उठने लगा। वेदके प्रकाशकोंतकको भी अप-शब्दोंसे सम्बोधित किया जाने लगा। यह समय वैदिक ब्राह्मणोंके लिये सबसे कठिन था। जैन तथा बौद्धदर्शनोंकी प्रबल उक्तियां अकाट्यसी समझी जाने लगी थीं। इस धर्मका बीड़ा बौद्ध-भिक्षुकोंने उठा लिया था किन्तु इनका जीवन प्राचीन तथा नवीन दोनों ही भक्तोंसे परे था। संयमित जीवन ही इनका विशेष लक्ष्य था। भक्तिके आधार परमपिता परमात्माकी सत्तामें इनका विश्वास नहीं था। बौद्धकालीन भारतको सबसे बड़ा धक्का पहुंचानेवाले बालब्रह्मचारी श्रीशङ्कराचार्य थे। इनमें विलक्षण ब्रह्मचर्यके साथ साथ अगम्य पाण्डित्य तथा घोर तपस्या वर्त-मान थी। ऐसे आदित्य ब्रह्मचारीकी ही प्रबल युक्तियोंके सामने बौद्ध पण्डितोंको सर झुकाना

पड़ा और आस्तिकताका आन्दोलन अति शक्तिशाली हो गया। किन्तु इस समयके लगभग एवं कुछ शताब्दीपश्चात्‌तक भक्तिकी धाराने शुष्क पाण्डित्यका रूप अधिकतर धारण किया। निःसन्देह भक्तोंका अस्तित्व किसी समयमें भी शून्य नहीं रहा है। न्यूनाधिक भक्त प्रत्येक कालमें रहे हैं और श्रीशङ्कराचार्यके कालमें भी थे। उनके पश्चात् भी कुछ संख्यामें वर्तमान थे। किन्तु यह समय लौकिक पण्डितोंका विशेष था। इस समयकी विशेषता यह थी कि पण्डित तो बड़े बड़े उत्पन्न हुए किन्तु उनका जीवन संभवतः भक्तिकी उत्कृष्ट सीमासे दूर था। व्याकरणके उद्‌भट पण्डित कैयट, वेदके भाष्यकार उव्वट, लक्षणग्रन्थोंके रचयिता मम्मट एवं रुद्रट, कविकुलशिरोमणि कालिदास तथा अन्य विद्वानोंका आविर्भाव हुआ किन्तु ये सब भक्त भी थे यह सन्देहास्पद है। वैदिक परिपाटीका जीर्णोद्धार महर्षि शङ्करने किया तो किन्तु वह चिरस्थायिनी नहीं रह सकी। वेदके अध्ययनकी ओर लोगोंकी रुचि कम होने लगी और मुसलिम आक्रमणके समय एवं कुछ पूर्व तो इस पद्धतिका प्रायः ह्रास हो गया। 'वैदिक' शब्द केवल इतिहासके पृष्ठोंपर अङ्कित करनेके योग्य रह गया। जो कुछ प्राचीनताका अवशिष्टांश रह भी गया वह भी मुसलमान आक्रमणके आतङ्कसे विलुप्त हो गया। यही समय नवीन सन्तोंका था जो कि पाण्डित्यकी आंचसे दूर रहकर सीधेसादे सरल भाषामें प्रभु-भक्तिका उपदेश देते थे। वेद, उपनिषद्, दर्शन तो दूर रहे इनमेंसे बहुतोंको तो अक्षरज्ञान भी नहीं था किन्तु इनके हृदयमें भक्तिकी लहरें उत्तुंग तालें दे रही थीं। इस कालके ही उपजे हुए भक्तरत्न कबीरदास, रैदास तथा धर्मदास आदि थे। यहांपर निरक्षर सन्तोंके दिग्दर्शनसे यह तात्पर्य नहीं कि पाण्डित्यपूर्ण सन्तोंका सर्वथा लोप हो गया था। स्वामी रामानुज आदि उद्‌भट विद्वान् महात्मा भी वर्तमान थे किन्तु अधिक संख्यामें कम पढ़े हुए सन्तोंका ही प्राबल्य था। इनमें भक्ति तथा साधना दोनों ही प्रधान थे। एक बात यहांपर विचारणीय है कि यद्यपि प्राचीन महात्माओंमें भक्तिके साथ साथ विद्या तथा ज्ञानकी प्रचुरता थी तथा नवीन सन्तोंमें केवल भक्तिकी अधिकता थी तथापि दोनोंका लक्ष्य एक ही था। मुक्ति अथवा ईश्वरकी प्राप्ति दोनों हीका अन्तिम ध्येय था।

भक्त धर्मदासजी इसी नवीन श्रेणीके सन्तोंमेंसे थे। यह जातिके कसौंधन बनिये तथा बांधोगढ़के निवासी थे। अन्य कई सन्तोंकी भांति इनके भी जीवन तथा मृत्युकालका ठीक ठीक पता नहीं लगता। किन्तु इतना निश्चित है कि कबीरसाहबसे इनकी अवस्था न्यून थी तथा उनकी मृत्युके पन्द्रह, बीस वर्ष उपरान्त धर्मदासजीकी मृत्यु हुई थी। इसप्रकार उनका जन्मकाल संवत् १४७५ से १५०० तक तथा मृत्युसमय संवत् १६०० निर्णय किया जा सकता है।

यह युक्ति प्रसिद्ध है कि 'होनहार बिरवानके होत चीकने पात'। जिस मनुष्यको महान् बनना होता है उसके चिह्न उसमें आरम्भसे ही वर्तमान रहते हैं। बीजस्वरूप वह अन्तस्तलस्थ स्वभाव समय एवं सत्संगके प्रभावसे दृढ़रूपमें प्रगट होता है। ठीक यह युक्ति धर्मदासजीपर भी चरितार्थ होती है। वह बाल्यकालसे ही बड़े धर्मात्मा तथा भगवद्भक्त थे। मूर्तिपूजाके कट्टर पृष्ठपोषक एवं अनुयायी थे। घरके धनी तो थे ही अतः मुक्तहस्त होकर पण्डितों तथा साधुओंका आदर-सत्कार करते थे। इनका विशेष समय साधु सन्तोंको भोजन कराने और तीर्थयात्रा करनेमें व्यतीत होता था।

यह समय धर्मदासजीके चेतनेका था। उनकी अवस्था बुरे भलेकी विवेचनाके योग्य हो गयी थी। ऐसे ही समयमें मनुष्यको एक ऐसे गुरुकी आवश्यकता पड़ती है जो उसकी सारी शक्तियोंको यथार्थ मार्गपर लगा दे। मौलाना शिबलीने बहुत ठीक कहा है कि 'बिना पूर्ण गुरुको धारण किये किसीको प्रभुका दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता। बिना गुरुका मनुष्य जंगली वृक्षकी

भांति है जिसका कोई रक्षक तथा सिञ्चक नहीं होता, इसी कारण उसमें फल नहीं लगता और यदि लगता है तो वह स्वादहीन तथा कटु होता है।' भक्त धर्मदासजीको भी एक महान् गुरु मिल गये थे जिनकी कृपासे इनका जीवन सर्वदाके लिये अमर हो गया।

एक बार भक्त धर्मदासजी मथुरा गये वहांपर उन्हें महात्मा कबीरके दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। आपसमें कुछ सत्संग भी हुआ जिससे यह विशेष प्रभावित हुए। पुनः काशीमें दोनों सन्तोंका मिलाप हुआ। इस मिलापने धर्मदासजीके जीवनमें एक महान् अन्तर उपस्थित कर दिया। महात्मा कबीरने मूर्ति-पूजाके केवल बाह्य आडम्बरकी आलोचनाकर उन्हें अन्तःकरणके भी चक्षु खोलनेका उपदेश दिया। इसका प्रभाव धर्मदासजीपर बहुत पड़ा और तबसे वह महात्मा कबीरके शिष्य हो गये। धर्मदासजीकी स्त्री तथा उनके ज्येष्ठ पुत्र चूड़ामणिने भी कबीरदासजीसे दीक्षा ली। 'अमर-सुख-निधान' ग्रन्थमें धर्मदासजी तथा कबीरदासजीके बीच बड़े सुन्दर एवं बृहत् सत्संगका वर्णन मिलता है। धर्मदास कबीरदासजीकी शिक्षासे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने प्रायः अपने सभी पदोंके अन्तमें कबीरदासजी स्मरण किया है। उन्हींके बनाये एक पदसे यह और भी स्पष्टतः पता लग जायगाः—

गुरु मोहिं खूब निहाल कियो।
बूड़त जात रहे भवसागर, पकरिके बांह लियो।
चौदह लोक बसें जम चौदह, उनहुं से छोर लियो।
तिलुका तोरि दियो परवाना, माथे हाथ दियो।
नाम सुना दियो कंठीमाला, माथे तिलक दियो।
'धरमदास' बिनवै कर जोरी, पूरा लोक दियो।

धर्मदासजीने कबीरदासजीकी शरण लेनेके पश्चात् अपनी सारी संपत्तिको लुटा दिया और काशीमें श्रीगुरुकी सेवामें रहने लगे। महात्मा कबीरके परमगति प्राप्त करनेके पश्चात् भक्त धर्मदासजीको ही उनके सारे ग्रन्थ तथा गद्दी मिली और वह अपने चरित्रको गद्दीके योग्य सिद्ध करते हुए अन्तकालतक भगवद्भजनमें लीन रहे।

भक्त धर्मदासजीकी बानी कवितामें है। अन्य सन्तोंकी भांति उनके भी प्रायः सभी पद बड़े सरल तथा स्पष्ट हैं। कहीं भाव गंभीर अवश्य हो गया है।

सांई मैं असल गुलाम तिहारा ॥
काया नगर बन्यो अति सुन्दर, मोहको लग्यो बजारा।
कुमति कलोल करै दसहूँ दिसि, लोभको ठुक्यो नगारा ॥
मोह समुन्दर भरे अपरबल, भंवर भंवैं अति भारा।
काम क्रोधकी लहर उठतु है, केहि बिधि होय निवारा ॥
पांचके ऊपर पचीस महतिया, इन परपंच पसारा।
मन अदल जहं अदल चलावै, कहा करै जीव बिचारा ॥

इस पदमें रूपक अलङ्कारद्वारा नैमित्तिक जीवनका कितना सुन्दर विशेषण किया गया है। उपर्युक्त (क्रोधादि) मानसिक शत्रुओंसे ही मुक्ति-पथके लिये संघर्ष करना पड़ता है। जो इस संघर्षमें सफल हो जाता है वही मुक्तिपद प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।

पुनः विनयका एक दूसरा पद लीजियेः—

जमुनियांकी डारि मोरी तोड़ देव हो।
एक जमुनियांके चौदह डारि, सार शब्द लेके मोड़ देव हो।
काया कञ्चन अजब पियाला, नाम बूटी रस बोर देव हो।
सुरत सुहागिन गजब पियासी, अमृत रसमें बोर देव हो।
सतगुरु हमरे ज्ञान जौहरी, रतन पदारथ जोरि देव हो।
'धर्मदास' की अरज गुसाईं, जीवनकी बन्दी छोर देव हो।

उक्त पदमें भावुकता तथा कल्पनाका बड़ा सुन्दर मिश्रण है। सांसारिक भोग्य पदार्थ सभी वर्तमान हैं किन्तु भक्तको प्रत्येक जगह अपने उस प्रभुकी प्राप्तिकी चिन्ता रहती है। सब पदार्थोंमें वह उसीका छटा निरखना चाहता है।

पुनः एक दूसरा पद लीजियेः—

गगन पिय बंसी फेरि बजाओ।
भंवर गुफासे उठत बुलबुला, सो अञ्जन पिय नैन लगाओ।
जो बंसी सुर नर मुनि मोहे, सो बंसी पिय मोहिं सुनाओ।
आनो कूंजी खोलो ताला, मोहनि मूरति मोहिं दिखाओ।
'धरमदास' बिनवै कर जोरी, चरन कंवल तरे मोहिं लगाओ।

ब्रह्म-सागर

(लेखक—स्वामी श्रीविज्ञानहंसजी)

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥

'उपासनाकी आवश्यकता' नामक लेखमें यह दिखलाया जा चुका कि अधिष्ठान चैतन्य परमात्म-तत्त्वको छोड़कर मायिक सत्य कुछ भी नहीं है।

ब्रह्मकी सत्तासे ही जगत्का भानमात्र होता है किन्तु अधिष्ठानके ज्ञानसे कल्पित मिथ्या प्रपञ्चके बाध होते ही ब्रह्मसागरका दर्शन हो जाता है फिर भला यह मन उस मायामरीचिकाकी ओर क्यों आकर्षित होने लगा? सत्य वस्तुके प्रेमी सत्यसागरको पाकर मिथ्या मृगतृष्णाके जलमें विहरनेकी क्यों इच्छा करने लगे?

इस आनन्दरूप ब्रह्मसागरकी झांकी पाते ही मन मिथ्या-कल्पित मृगतृष्णाकी समस्त वासनाओंको सर्वथा तिलाञ्जलि देकर सर्वतोभावसे ब्रह्मसागरमें विलीन होने लगता है।

अहा! यह तो अथाह अनन्त सर्वतः परिपूर्ण चिद्-सागर है इसका तो वर्णन ही करते नहीं बनता, मन जब एकबार इसमें डूब जाता है तब फिर वह इसका आनन्द बखाननेमें असमर्थ ही हो जाता है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

जब श्रुति ही वर्णन नहीं कर पाती तब साधारण-जनोंकी तो बात ही क्या है तथापि श्रुति लोक-भाषासे कुछ कहती है।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्दक्षिणतश्चोत्तरेण।

आगे पीछे नीचे ऊपर दक्षिण उत्तर सर्वतः ब्रह्म ही ब्रह्म है। अहा! इस विराट्का पर्दा उठते ही सर्वत्र चैतन्य ही चैतन्य रह जाता है, इस अखण्ड अनन्त ब्रह्मसागरमें कहीं जरा भी पोल नहीं है, यह चिद्घन है, तब बोले कौन?

तथापि भगवान् शङ्कराचार्य समाधिसे जागकर कुछ कहते हैं।

अन्तःस्वयञ्चापि बहिः स्वयञ्च,
स्वयं पुरस्तात्स्वयमेव पश्चात्।
स्वयं ह्यवाच्यां स्वयमप्युदीच्यां,
तथोपरिष्टात्स्वयमप्यधस्तात् ॥

यह आकाशकी तरह निर्मल निःसीम निस्पन्द निर्विकार अन्तःबहिःभेद एवं कल्पनाशून्य ब्रह्मसागर है जिसमें संसाररूप विकल्प किञ्चिन्मात्र भी नहीं दीखता, उसका केवल कथनमात्र ही शेष रह जाता है, द्रष्टा दर्शन इत्यादि भेद-शून्य निर्विकार निराकार निर्विशेष वस्तुमें द्वैतभेद कैसा? प्रलयकालके समुद्रके समान अत्यन्त परिपूर्ण वस्तुमें कल्पनाको स्थान ही कहां?

न ह्यस्ति विश्वं परतत्त्वबोधात्,
सदात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे।
कालत्रयेणाप्यहिरीक्षितो गुणे,
नह्यम्बुबिन्दुर्मृगतृष्णिकायाम् ॥

इस निर्विकल्प आत्मतत्त्वके साक्षात्कार होनेपर संसार रहता ही नहीं, रस्सीमें सर्प और मृगतृष्णामें नदीके जलका एक बूंद भी तीनों कालमें नहीं मिलता!

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ता मृषामात्रा उपाधयः।

ब्रह्मासे लेकर वृक्ष पर्यन्त यहां कोई भी उपाधि है ही नहीं तब फिर मनका आकर्षण कहां हो ?

किं हेयं किमुपादेयं किमन्यत्किं विलक्षणम् ।
अखण्डानन्दपीयूषपूर्णे ब्रह्ममहार्णवे ॥

इस अखण्ड आनन्दरूप अमृतसे भरे हुए ब्रह्मरूप महासागरमें हेय उपादेय, भिन्न और विलक्षण क्या है ? कुछ भी नहीं ।

न किञ्चिदत्र पश्यामि न शृणोमि न वेद्म्यहम् ।
स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि विलक्षणः ॥

इस स्थितिमें मैं न कुछ देखता हूं न कुछ सुनता हूं न कुछ जानता हूं किन्तु सच्चिदानन्दरूपसे विलक्षण ही हूं । स्वरूपानन्दरूपी अमृतके प्रवाहसे भरे हुए परब्रह्मरूप इस महासमुद्रकी महिमा वचनसे नहीं कही जा सकती और न मनसे मनन ही की जा सकती है। जिस महिमाके अंशके अंशके भी किसी अंशमें अनन्त समुद्रमें पड़े हुए हैं। वर्षाके ओलेकी तरह लीन हुआ मन आनन्दरूप निर्वाण-सुखका अनुभव करता है, उस ब्रह्म-सागरकी महिमा कैसे वर्णन की जा सकती है 'वह रस पाई गूंगा गुड़ खाई'- यह अवस्था अनुभवगम्य स्वसंवेद्य है, परं तत्त्व और परं पदरूप है इसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये उपासनाका विधान किया गया है, ब्रह्मतत्त्वकी उपासना करते हुए साधकगण अन्तमें इसी स्थितिको प्राप्त होते हैं ।

वेद जलदगंभीर शब्दसे इसी सत्यकी घोषणा कर रहे हैं, इस सत्य सुधाकरकी किरणें अविद्या-मेघाच्छन्न हृदयमें शीघ्र प्रकाशित नहीं होतीं, जहां यह सत्य सुधाकर अविद्यारूप मेघसे आच्छन्न (ढका) है वहीं अज्ञानकी घन-घोर घटा है उसी घटाको छिन्न-भिन्न करनेके लिये भिन्न-भिन्न साधनरूप पवन दीर्घकालसे बहाये जा रहे हैं, इसी तत्त्वको लक्ष्यकर दर्शनशास्त्रसमूह अपनी अपनी भूमिका-अनुसार अग्रसर हो रहे हैं, अनन्त शास्त्र-सिन्धुका मथन करनेपर यही सत्यवस्तु उपलब्ध होती है ।

वेदान्तप्रतिपाद्य निष्कल निरञ्जन अद्वितीय शान्त यही ब्रह्म-सागर है, इसीमें निमज्जनकर साधक कृतकृत्य हो जाते हैं, इसीमें स्नानकर वे संसार-जालको खण्ड विखण्ड कर डालते हैं, यहींपर साधनयज्ञका अवसान है, यही जीवन-यज्ञकी पूर्णाहुति है, इसी सत्य आनन्दपदके लिये अविद्याग्रस्त जीव दीर्घकालसे लालायित हैं ।

इसी पदके लिये श्रीभगवान्‌ने कहा है:—

'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'

जहां जाकर फिर लौटना नहीं पड़ता, फिर माया-मरीचिकामें फंसनेकी संभावना नहीं रहती, वही सच्चिदानन्द ब्रह्म-सागर है, अनन्त कर्म, उपासना, ज्ञानरूप नदियां यहीं आकर विलीन होती हैं ।

साधकको इसी सच्चिदानन्द-सागरका पथिक होना चाहिये, अपनी अपनी जीवनतरणीको कर्म, उपासना, ज्ञानरूप अनेक नदियोंके मार्गसे इसीकी ओर प्रवाहित कर देना चाहिये, इसीमें मनुष्य-जन्मकी सफलता है, इसीमें शान्ति और सुख है ।

यह जाननेपर भी दीर्घकालसे मलिनसंस्कारापन्न बुद्धिको अविद्यारूप काई बारम्बार आच्छन्न कर लेना चाहती है, इस आत्म-सागरमें डुबकी लगाते लगाते भी कोई न कोई संस्कार पुनः उद्बुद्ध होकर हमें बाहरकी तरफ फेंक देते हैं तथापि अभ्यासशील जयाभिलाषी प्रवीण पथिक-मनीषी साधक पुनः पुनः उसी सागरकी ओर अग्रसर होते हुए अविचल प्रयत्नसे अन्तमें उस ब्रह्मसागरको प्राप्त कर ही लेते हैं ।

इस ब्रह्म-सागरमें विलीन होनेके लिये बुद्धिकी क्रमशः जो अवस्थाएं होती हैं, उन्हींको ज्ञानियोंने सप्त ज्ञान भूमिकारूपसे वर्णन किया है। क्रमशः एक भूमिका-से दूसरी भूमिकापर अधिकार करते हुए साधक अन्तमें सप्तम भूमिकापर अधिकार करके कृतकृत्य हो जाते हैं अतएव सच्चिदानन्दमें विलीन होनेके उपाय और सोपान-रूप उन भूमिकाओंका स्वरूप वर्णन किया जाता है। कर्म उपासना और ज्ञान तीनोंमें ही भिन्न भिन्न नामसे सप्त भूमिकाओंकी प्रणाली प्रचलित है परन्तु यहां विषय, उपासना और ज्ञानका होनेके कारण पहले उपासनाकी सप्त भूमिकाओंका क्रम बतलाकर पीछे ज्ञानकी सप्त भूमिकाओं-में उसका पर्यवसान किया जायगा ।

निम्नलिखित भूमिकाओंके सप्त सोपानरूप क्रमसे चलकर उपासक ब्रह्म-सागरमें अवगाहन करते हैं।

प्रथमा भूमिका नामपरा रूपपराऽपरा ।
स्याद्विभूतिपरा नाम्ना तृतीया भूमिका मता॥
तथा शक्तिपरा नाम चतुर्थी भूमिका भवेत् ।
एवं गुणपरा ज्ञेया भूमिका पञ्चमी बुधैः ॥
षष्ठी भावपरा सप्तमी स्वरूपपरा स्मृता ।

उपासनाकी प्रथम भूमिकाका नाम नामपरा, दूसरीका रूपपरा, तीसरीका विभूतिपरा, चौथीका शक्तिपरा, पञ्चमीका गुणपरा, षष्ठीका भावपरा और सप्तमीका स्वरूपपरा है ।

संयम (धारणा ध्यान समाधि)के साथ दिव्यनाममें परमात्माको देखना नामपरा भूमिका है, दिव्यरूपमें उनको देखना रूपपरा, विभूतियोंमें भगवान्‌को देखना विभूतिपरा, स्थूल सूक्ष्म समस्त शक्तियोंमें भगवान्‌को देखना शक्तिपरा, त्रिगुणोंमें उनको देखना गुणपरा, त्रिभावमें उस तत्त्वको देखना भावपरा और स्वरूपमें उनको देखना स्वरूपपरा भूमिका है ।

उपासकजन प्रेममयी उपासनाकी इन भूमिकाओंके क्रमसे भगवत्-राज्यमें क्रमशः समीपता लाभ करते हुए अन्तमें परमात्मस्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं । इसप्रकार स्वरूपज्ञानका साक्षात् करके इसमें विलीन होनेके लिये सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावको धारण करते हुए साधक ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंमें जिसतरह अग्रसर होते हैं, सो स्पष्ट किया जाता है ।

ज्ञानदा ज्ञानभूमेर्हि प्रथमा भूमिका मता ।
संन्यासदा द्वितीया स्यात् तृतीया योगदा भवेत् ॥
लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी वै पञ्चमी सत्पदा स्मृता ।
षष्ठ्यानन्दपदा ज्ञेया सप्तमी च परात्परा ॥

पहली भूमिकाका नाम ज्ञानदा, दूसरीका संन्यासदा, तीसरीका योगदा, चौथीका लीलोन्मुक्ति, पञ्चमीका सत्पदा, षष्ठीका आनन्दपदा और सप्तमीका परात्परा है ।

परात्परा भूमिकाको प्राप्तकर साधक कृतकृत्य होकर संसार-सागरसे पार हो सदाके लिये कैवल्य सिंहासनासीन हो निर्वाण हो जाता है ।

इन भूमिकाओंके लक्षण इसप्रकार हैं ।

(१) यत्किञ्चिद् आसीत् ज्ञातव्यं ज्ञातं सर्वं मयेति धीः ।
आद्यायाः भूमिकायाश्चानुभवः परिकीर्तितः ॥
(२) त्याज्यं त्यक्तं मयेत्येवं द्वितीयोऽनुभवो मतः ।
(३) प्राप्या शक्तिर्मया लब्धानुभवो हि तृतीयकः ॥
(४) मायाविलसितश्चैतद्दृश्यते सर्वमेव हि ।
न तत्र मेऽभिलाषोऽस्ति चतुर्थोऽनुभवो मतः ॥
(५) जगद्ब्रह्मेत्यनुभवः पञ्चमः परिकीर्तितः ।
(६) ब्रह्मैवेदं जगत्षष्ठोऽनुभवः किल कथ्यते ॥
(७) अद्वितीयं निर्विकारं सच्चिदानन्दरूपकम् ।
ब्रह्माहमस्मीति मतिः सप्तमोऽनुभवो मतः ॥
इमां भूमिं प्रपद्यैव ब्रह्मसारूप्यमाप्यते ।

१–हमें जो कुछ जानना था सो सब जान लिया अब कुछ जानना बाकी नहीं है, ऐसा यथार्थ निश्चय ज्ञानदा पहली भूमिका है । इस पहली भूमिकामें सभी शास्त्रज्ञान, सत्संग तथा सद्‌गुरुसे श्रवण मननद्वारा प्राप्त होनेवाला ज्ञान आ जाता है ।

२–ज्ञेयवस्तुको लक्ष्य कर लेनेपर उसमें आरूढ होनेके लिये जो त्याग करना चाहिये, सो कर दिया गया, यह दूसरी संन्यासदा भूमिकाका अनुभव है । यहांपर त्याग शब्दसे केवल स्थूल पदार्थोंका ही त्याग नहीं किन्तु अहंकारादि जितने अनात्म अविद्यामूलक भाव हैं उन सबका त्याग समझना चाहिये ।

३–हमें जो कुछ शक्ति प्राप्त करनी थी सो सब प्राप्त हो गयी, यहांपर शक्ति शब्दसे कोई भौतिक दैविक शक्ति नहीं किन्तु निर्विकल्प–पदमें आरूढ होनेके लिये धारणा ध्यान तथा वितर्क विचार आनन्दास्मिता आदि क्रमसे सविकल्प समाधिपर अधिकार जमाते हुए निर्विकल्प समाधिकी योग्यता प्राप्त करनेकी सामर्थ्य (शक्ति) समझना चाहिये जो अष्टांग योगसाधनके द्वारा प्राप्त की जाती है । यही तीसरी योगदा भूमिकाका अनुभव है

४–इस भूमिकामें आरूढ होनेपर मायाका विलास सब मायामात्र प्रतीत होता है फिर किसी भी प्रकारका भोग

या कोई भी ऐश्वर्य भोगार्थ प्राप्त होनेपर भी वह साधकको मोहित नहीं कर सकता, मुर्दा शरीरको स्त्रीस्पर्शकी तरह उसके चित्तको किसी भी भोगविषयमें राग उत्पन्न नहीं होता। यही चौथी लीलोन्मुक्ति भूमिकाका अनुभव है।

५—इस दशामें यह समस्त जगत् ही ब्रह्मरूप अनुभव होता है, इस भावका वर्णन गत लेखमें दिखाया जा चुका है। साधक 'जगदेव हरिः' भावको प्राप्त हो जाता है। यही इस पंचम सत्पदा भूमिकाका अनुभव है।

६—ब्रह्म ही जगत् है यह अनुभव होता है। 'हरिरेव' जगत्के भावको प्राप्त हो जाता है अर्थात् ब्रह्म ही है जगत् नहीं, यह अनुभव होता है।

७—इसके बाद सातवीं भूमिका परात्परा उदय होती है इस भूमिकामें पहुंचकर 'अद्वितीय निर्विकार विभु सच्चिदानन्द ब्रह्म मैं ही हूं', इस अनुभवको प्राप्त होकर साधक कृतकृत्य हो जाता है। ब्रह्मभावमें अभेद होकर निर्वाण हो जाता है। इस भूमिकाकी महिमा कहांतक वर्णन की जा सकती है, इस दशाको प्राप्त हुए महापुरुषकी महिमा तो बहुत दूर है, वह जिस कुलमें, जिस जातिमें, जिस देशमें उत्पन्न होता है, वह भी पावन और धन्य हो जाते हैं ऐसे ही पुरुषके पद पड़नेसे वसुन्धरा धन्या होती है, ऐसे ही महापुरुषकी इक्कीस पीढ़ियोंके उद्धार होनेकी बात हमारे धर्मग्रन्थ वर्णन करते हैं

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था,
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिन्,
लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

एक क्षण भी इस स्थितिमें स्थित होनेकी महिमा शास्त्र गाते हैं—

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले दत्ता च सर्वावनि—
र्यज्ञानाञ्च कृतं सहस्रमखिलाः देवाश्च संपूजिताः।
संसाराञ्च समुद्धृताः स्वपितरः त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ,
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात्॥

क्षणभर भी जिसका मन ब्राह्मीस्थितिको प्राप्त हो जाता है वह पुरुष मानों समस्त तीर्थोंके जलमें स्नान कर चुका, समस्त पृथिवी-मंडलका दान कर चुका, सम्पूर्ण प्रकारसे सहस्रों यज्ञ कर चुका, समस्त देवताओंकी पूजा भी कर चुका, अपने पितरोंका भी उद्धार कर चुका, इतना ही नहीं किन्तु वह स्वयं भी त्रैलोक्यसे पूजा पानेके योग्य बन गया।

भाग्यवान् साधक ही ऐसे पदको प्राप्त करते हैं ऐसे साधक स्वभावसे ही सात्विक सुखके साधनमें प्रयत्नशील होते हैं। राजसिक तामसिक सुखोंमें उन्हें आरम्भसे ही घृणा होती है। वे स्वभावसे ही गीतोक्त राजसिक तामसिक बुद्धिके दोषोंको समझकर सात्विक बुद्धि, सात्विक धृति आदिका अवलम्बनकर तत्त्वनिष्ठामें अधिकार प्राप्तकर जीवन्मुक्त भूमिमें पहुंच जाते हैं और शरीर रहते हुए ही वे निरन्तर ब्रह्मानन्दसे परिपूर्ण अमृतास्वादन किया करते हैं।

किमपि सततबोधं केवलानन्दरूपं,
निरुपममतिवेलं नित्यमुक्तं निरीहं।
निरवधि गगनाभं निष्कलं निर्विकल्पं,
हृदि कलयति विद्वान्ब्रह्म पूर्णं समाधौ॥

यह जीवन्मुक्त महापुरुष अपने हृदयमें नित्य ज्ञानरूप केवल आनन्दरूप सर्वप्रकारकी उपमासे रहित नित्यमुक्त क्रियारहित निःसीम आकाशकी तरह अंशरहित निर्विकल्प वाणीसे न कहनेमें आवे, ऐसे पूर्ण ब्रह्मका अनुभव किया करते हैं

देहञ्च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा,
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं,
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥

यह जीवन्मुक्त इस विनाशशील देहको दैवगतिसे आसनसे उठा या आसनपर बैठा ही अथवा बाहर गया हुआ दैवगतिसे फिर आया हुआ नहीं देखता जैसे कि मदिरा पीकर मत्त हुआ अपने कपड़ोंकी सुध नहीं करता।

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावद्-
स्वारम्भकं प्रति समीक्षत एव सासुः।
तञ्च प्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः,
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः॥

यहां शङ्का होती है कि जब देहका ज्ञान नहीं तब देह रहेगा कैसे? इसपर कहा गया है कि यह देह दैवके

आधीन है, जबतक इसका प्रारब्ध है तबतक प्राण इन्द्रियों-सहित देह रहता है। जो महापुरुष समाधिरूढ हैं,--परमार्थ-वस्तु आत्मस्वरूपको जानते हैं वह प्रपञ्चसहित स्वप्नके समान इस देहको नहीं भजते। अहा! कैसी स्थिति है, कितना असीम आनन्द है, कैसी पूर्णता है, हमारे शास्त्रोंमें ऐसी स्थितिकी ही महिमा गायी गयी है। 'समलोष्टाश्म-काञ्चनः' के भावको प्राप्त ऐसे पुरुष धन्य हैं, वास्तवमें ऐसे पुरुषके सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं!

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

तथापि ऐसा माना गया है कि प्रारब्ध शेष रह जाता है पर यह मानना लोकदृष्टिसे ही है, उस जीवन्मुक्त तत्त्ववेत्ताकी अपनी दृष्टिमें तो प्रारब्ध कोई चीज नहीं है।

उपाधितादात्म्यविहीनकेवलं,
ब्रह्मात्मनैवात्मनि तिष्ठतो मुनेः।
प्रारब्धसद्भावकथा न युक्ता,
स्वप्नार्थसम्बन्धकथेव जाग्रतः॥

उपाधिके अध्याससे रहित केवल ब्रह्मरूपसे ही अपनेमें रहनेवाले मुनिका प्रारब्ध शेष रहता है, यह कहना उचित नहीं है क्योंकि जगे हुएको स्वप्नके पदार्थोंका सम्बन्ध रहता है यह कहना ठीक नहीं।

शरीरस्यापि प्रारब्धकल्पना भ्रान्तिरेव हि।
अध्यस्तस्य कुतो सत्वमसत्यस्य कुतो जनिः॥
अजातस्य कुतो नाशः प्रारब्धमसतः कुतः।
ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि॥
तिष्ठत्ययं कुतो देहः इति शङ्कावतो जडान्।
समाधातुं बाह्यदृष्ट्या प्रारब्धं वदति श्रुतिः॥
न तु देहादिसत्यत्वबोधनाय विपश्चिताम्।

शरीरका प्रारब्ध है यह कल्पना भी वास्तवमें भ्रान्ति-रूप ही है क्योंकि अध्यस्त (आरोपित) पदार्थ सत्य नहीं होता और असत्यका जन्म होना संभव ही नहीं तथा जो जन्मा ही नहीं वह मरेगा क्या? जो मरता नहीं उसका प्रारब्ध नहीं हो सकता अतएव प्रारब्ध-कल्पना भी भ्रान्ति ही है।

ज्ञानसे अज्ञानका कार्य मूलसहित यदि नाश हो जाय तब यह देह कैसे रह सकता है? ऐसी शङ्का करनेवाले पुरुषोंको समाधान करनेके लिये श्रुति बाहिरी दृष्टिसे कहती है कि प्रारब्ध है, किन्तु विद्वानोंके लिये देहादिको सत्य नहीं कहा जा सकता।

परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेयमविक्रियम्।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन॥
निर्गुणं निष्कलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरञ्जनम्।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन॥
अहेयमनुपादेयमनादेयमनाश्रयम्।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन॥

परिपूर्ण आदि अन्तरहित प्रमाणके अगम्य और विकाररहित एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, पृथक् पृथक् कुछ भी नहीं है। निर्गुण अंशरहित सूक्ष्म निर्विकल्प और निरञ्जन ब्रह्म एक ही है और कुछ नहीं। जो न छोड़ा जासके, न लिया जासके ऐसा विषयोंसे तथा आश्रयसे रहित एक ही अद्वितीय ब्रह्म है यहां और भिन्न भिन्न कुछ नहीं है, यही तत्त्व है, यही परसांख्य परवैराग्य या निर्विकल्प समाधि है। इसीलिये श्रुति कहती है--

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न च बद्धो न साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थता॥

न निरोध है, न उत्पत्ति है, न कोई बद्ध है, न कोई साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है, यही परमार्थ है।

वेदान्त-शास्त्रके अद्वैत सिद्धान्तानुसार मुक्ति साध्य वस्तु नहीं है पर स्वतःसिद्ध वस्तु है इसीलिये महात्मा गौड़पादाचार्यजी कहते हैं—

उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते।
प्रागुत्पत्तेरजं सर्वं तेनासौ कृपणः स्मृतः॥
अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजातिसमतां गतम्।

यही सच्चिदानन्दसागर है, कर्म उपासना ज्ञानरूप नदियां इसी सागरको प्राप्त हो अपने अपने पृथक् नामरूपको परित्यागकर ब्रह्मरूप हो जाती हैं। इसी कृतकृत्यता-सागरको प्राप्त हो साधक अपनेको धन्य धन्य कहा करते हैं!

प्रतीक्षा

(लेखक—पं० चन्द्रभालजी ओझा एम० ए०)

संसारके दुःखोंसे, जीवनके भीषण संग्रामसे संतप्त होकर एक युवक समुद्रके तटपर अनन्त आकाश और अनन्त अर्णवकी नीलिमापर बिखरे हुए सायङ्कालीन सूर्यकी ललाईको निरखता हुआ अपनी अवस्थापर एकान्तमें विचार करनेके लिये वहीं बैठ गया। उसने सोचा 'संसारमें जीवनके लिये जो भीषण संग्राम चल रहा है उसमें अब मेरी गति नहीं है।' स्त्री कहती है कि 'मेरे बच्चोंके कपड़े फटे पुराने हैं, पड़ोसियोंके लड़के जिनके पिता तुमसे अधिक वेतन नहीं पाते हैं, अच्छे अच्छे वस्त्रोंसे सुसज्जित हृष्टपुष्ट तथा प्रसन्नचित्त दिखाई देते हैं और मेरे लड़के टूअरकी तरह मालूम पड़ते हैं। उनको दूध नहीं मिलता, मन चाहे खिलौने नहीं मिलते, उनकी किसी बातकी इच्छा पूरी नहीं हो पाती, वे उदास रहते हैं।' उसकी पड़ोसिनें उसे ताना मारती हैं कि कंजूस है, गरीब बनी रहती है, रुपया बटोरती है। यहां यह हालत है कि महीने-दिन मुश्किलसे चलते हैं। अगर कहीं पहिलीको तनख्वाह न मिले तो गजब हो जाय। वह मुझको बारबार अधिक वेतनकी नौकरी ढूंढ़नेको कहती है। मुहल्ले टोलेवाले कहते हैं कि उमेशने एम० ए० तक पढ़ा पर भाग्यलक्ष्मीने उसका साथ नहीं दिया। ६०)पर ही घिसनी घिसता है, उससे अच्छा तो रामानन्द है जो इन्ट्रेंस करके ही ६०) महीना फटकारता है और किसी दिन एक रुपयेसे कमकी ऊपरकी आमदनी नहीं करता। स्त्रीकी तरफ देखता हूं तो सचमुच बिचारी मजदूरनीकी भांति पिसी रहती है। लड़के श्रीहीनसे दिखायी पड़ते हैं। ऊपरकी आमदनीसे मुझे घृणा है। जटिल प्रश्न है, क्या ऊपरकी घृणित आमदनीको ग्रहण करके नित्य हलुआ पूड़ी उड़ाऊं, शानसे रहूं और दूसरोंपर शान जमाऊं या गरीबीमें ही रहकर आत्माकी शांति बचाये रहूं? वेतन तो समयसे ही बढ़ेगा, मेरी जल्दीसे क्या होगा, क्या करूं क्या न करूं? क्या इसी तरह दुनियाका उपहास सहता रहूं। इसी प्रकारके विचारोंके प्रवाहमें बह जानेपर उसका चित्त और भी उद्विग्न हुआ। उसको अपने बालकपनकी सुनी हुई रामायण और महाभारतकी कथाएं याद हो आयीं। उस अनन्त आकाश और अनन्त सागरकी शान्तिने उसके शान्ति चाहनेवाले हृदयको शान्तिमयके तरफ आकर्षित होनेमें सहायता दी। उसने सोचा, द्रौपदीने जब आर्त होकर पुकारा था तो उसका चीर बढ़ा दिया था, गजेन्द्रके लिये पैदल ही दौड़े आये थे तो यदि मैं भी सच्ची लगनसे और आर्त होकर पुकारूं तो क्या वह मेरे लिये नहीं आवेंगे? अवश्य आवेंगे! मैं उनसे अपनी करुणकथा कहूंगा और सहायता चाहूंगा। इस निश्चयके बाद वह प्रसन्न हो करुणामयकी स्तुति करने लगा।

खोई हुई सौभाग्यकी पिटारीकी तरह अनन्त समुद्रने सूर्यको अपने हृदयमें छिपा लिया, अन्धकार छा गया, तारे निकल आये, धीरे धीरे स्वच्छन्दचारी जलचर और नभचर कल्लोल करने लगे। पर वह वहांसे न हटा।

आधीरातके बाद दशमीका चन्द्रमा भी निकला पर कोई नहीं आया। प्रतीक्षा करते करते उसकी आंखें थक गयीं, आलस्य मालूम हुआ, झपकी आयी और वह वहीं लेट गया। वह आये और स्नेह तथा करुणासे उसे निहारकर चले गये! स्वप्नमें उसे मालूम हुआ कि एक अत्यन्त तेजस्वी और सुन्दर मनमोहनी मूर्ति, जिससे दया सहानुभूति और शान्ति टपक रही है, उसके सामने खड़ी है और कहती है कि 'मित्र! तुम व्यर्थ दुखी हो, तुमने नाहक कष्ट उठाया, मैं तो तुम्हारे पास ही था तुमने मुझे पहचाना नहीं। मैं तो सर्वत्र समरूपसे हूं, किसी जगह बद्ध होकर नहीं रहता। मैं सबको देखता हूं मुझे कोई नहीं देखता। मैं तुम्हारे मस्तिष्कमें जो हलचल उपस्थित है, उसे देख रहा हूं पर मैं उसे कोई विपत्ति नहीं समझता इसी लिये कुछ करता नहीं। मैं अलगसे सहायता नहीं करता, जब मुझे किसीकी सहायता करनी होती है तब उसके हृदयको प्रेरित करता हूं। तुमने भगवद्गीताका यह श्लोक शायद नहीं सुना है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

यह बहुत ठीक कहा हुआ है, इसे तुम सच जानो। मनुष्योंमें जो चेतना है वह मैं ही हूं। प्रत्येक जीवमें मैं हूं और प्रत्येक जीव मुझमें हैं। पर कोई समझता नहीं, कोई कोई समझकर भी अन्धकार और मोहमें पड़े रहते हैं। जाओ उसी अन्तःकरणपर विश्वास करके काम करो, सदा जय होगी। अपने आप अपना उद्धार करना चाहिये, दूसरोंपर भरोसा करनेसे काम नहीं होता। आत्माको अनौजस कभी नहीं मानना चाहिये। आत्मा मेरा ही रूप है, उसने स्वप्नमें यह भी देखा कि मूर्ति उसकी तरफ मुस्करायी। उस मुस्कराहटमें विचित्र शक्ति थी, जिससे उसकी सारी व्यथा जाती रही और उसका हृदय हरा हो गया। उसकी इच्छा हुई कि उठकर मूर्तिको पकड़ लूं और कहूं कि, 'नहीं, मुझे अब कुछ नहीं चाहिये, संसारसे मुझे डर लगता है, तुम मुझे अपने साथ रक्खो तुममें मेरा पूरा विश्वास है, भरोसा है।' उसने उठनेका प्रयत्न किया कि निद्रा टूट गयी, साथही वह सुन्दर स्वप्न भी भङ्ग हो गया। जागनेपर न वह मूर्ति दिखायी पड़ी, न मूर्तिके चिह्न, पर आकाशवाणीकी तरह एक शब्द उसे सुनायी पड़ा। ध्यान करनेसे उसे मालूम हुआ मानों उस शब्दसे यही मतलब निकलता है कि 'उठो, मुझे सदा साथ समझकर कार्य करो, वर्तमान कार्य करनेका समय है, स्वप्न देखनेका नहीं। विचारोंका संकोच ही मृत्यु है विकास ही जीवन है।' इसके बाद फिर उसे नींद नहीं आयी, थोड़ी देरमें प्रभात हो गया!

अपनाया

कञ्चनकी कामना उन्हें न होती होती जिन्हें,
कञ्चनसे कमनीय कृष्णकी है काली काया।
छोड़ क्षितिनायकके सदन फिरत बन,
खोजत करीलोंकी निकुंजोंकी सघन छाया॥
उनको सुमेरुसे कुबेरसे न कोई काम,
जिन्हें एक मोहनकी मुरलीकी मिली माया।
पाया है परमपद पाया या न पाया कुछ,
जिन्होंने हृदय नन्दनन्दनको अपनाया॥

—भगवतीप्रसाद त्रिपाठी विशारद एम० ए० एल० एल० बी०

शरणागति

(लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(गीता १८ । ६२)

मनुष्यजीवनका चरम लक्ष्य आत्यन्तिक आनन्दकी प्राप्ति है, आत्यन्तिक आनन्द परमात्मामें है अतएव परमात्माकी प्राप्ति ही मनुष्यजीवनका एकमात्र उद्देश्य है। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये शास्त्रकारों और महात्माओंने अधिकारीके अनुसार अनेक उपाय और साधन बतलाये हैं परन्तु विचार करनेपर उन समस्त साधनोंमें परमात्माकी शरणागतिके समान सरल, सुगम, सुखसाध्य साधन अन्य कोईसा भी नहीं प्रतीत होता। इसीलिये प्रायः सभी शास्त्रोंमें इसकी प्रशंसा की गयी है। श्रीमद्भगवद्गीतामें तो उपदेशका आरम्भ और पर्यवसान दोनों ही शरणागतिमें होते हैं। पहले अर्जुन 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' 'मैं आपका शिष्य हूं, शरणागत हूं मुझे यथार्थ उपदेश दीजिये' ऐसा कहता है तब भगवान् उपदेशका आरम्भ करते हैं और अन्तमें उपदेशका उपसंहार करते हुए कहते हैं-

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८ । ६६)

सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्यशरणको प्राप्त हो। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूंगा, तू चिन्ता न कर।

इससे पहले भी भगवान्ने शरणागतिको जितना महत्व दिया है उतना अन्य किसी भी साधनको नहीं दिया। जाति या आचरणसे कोई कैसा भी नीच या पापी क्यों न हो, भगवान्की शरणमात्रसे ही वह अनायास परमगतिको प्राप्त होजाता है-भगवान्ने कहा है-

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
(गीता ९ । ३२)

हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य शूद्रादि और पापयोनिवाले भी जो कोई होवें, वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।

श्रुति कहती है:-

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥
(कठ० १।२।१६-१७)

यह अक्षर ब्रह्मरूप है, यह अक्षर पररूप है, इस अक्षरको जो कोई जानता है तथा जो जो इच्छा करता है सो प्राप्त होता है। इस अक्षरका आश्रय (शरण) श्रेष्ठ है, यह आश्रय सर्वोत्कृष्ट है, इस आश्रयको जो कोई जानता है वह ब्रह्मलोकमें पूजित होता है।

महर्षि पतञ्जलि, अन्यान्य सब उपायोंसे इसी-को सुगम बतलाते हुए कहते हैं–

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'

(योगदर्शन १।२३)

ईश्वरकी शरणागतिसे समाधिकी प्राप्ति होती है, आगे चलकर पतञ्जलि इसका फल बतलाते हैं–

'ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।'

(योगदर्शन १।२९)

ईश्वरप्रणिधानसे समाधि और उसके फलरूप सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश होकर परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है।

भगवान् श्रीरामने घोषणा की है–

सकृदेव प्रपन्नोऽहं तवास्मीति च याचितः ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

यह तो प्रमाणोंका केवल दिग्दर्शनमात्र है। शास्त्रोंमें शरणागतिकी महिमाके असंख्य प्रमाण वर्तमान हैं। परन्तु विचारणीय विषय तो यह है कि शरणागति वास्तवमें किसे कहते हैं। केवल मुखसे कह देना कि 'हे भगवन्, मैंआपके शरण हूं' शरणागतिका स्वरूप नहीं है। साधारणतया शरणागतिका अर्थ किया जाता है, मन वाणी और शरीरको सर्वतोभावसे भगवान्के अर्पण कर देना परन्तु यह अर्पण भी केवल 'श्रीकृष्णार्पण-मस्तु' कह देनेमात्रसे सिद्ध नहीं हो सकता। यदि इसीमें अर्पणकी सिद्धि होती तो अबतक न मालूम कितने भगवान्के शरणागत भक्त हो गये होते, इसलिये यह समझना चाहिये कि अर्पण किसे कहते हैं।

शरण, आश्रय, अनन्य भक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति, अवलम्बन, निर्भरता और आत्मसमर्पण आदि शब्द प्रायः एक ही अर्थके बोधक हैं।

'एक परमात्माके सिवा किसीका किसी भी कालमें कुछ भी सहारा न समझकर लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर, शरीर और संसारमें अहंता ममतासे रहित होकर, केवल एक परमात्माको ही अपना परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्य भावसे, अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्के नाम गुण प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना और भगवान्का भजन स्मरण करते हुए ही उनकी आज्ञानुसार समस्त कर्तव्य कर्मोंका निःस्वार्थ भावसे केवल भगवान्-के लिये ही आचरण करते रहना, यही 'सब प्रकारसे परमात्माके अनन्यशरण' होना है।

इस शरणागतिमें प्रधानतः चार बातें साधक-के लिये समझनेकी हैं।

(१) सब कुछ परमात्माका समझकर उसके अर्पण करना।
(२) उसके प्रत्येक विधानमें परम सन्तुष्ट रहना।
(३) उसकी आज्ञानुसार उसीके लिये समस्त कर्तव्य कर्म करना।
(४) नित्य निरन्तर स्वाभाविक ही उसका एकतार स्मरण रखना।

इन चारोंपर कुछ विस्तारसे विचार कीजिये।

सर्वस्व अर्पण

सब कुछ परमात्माके अर्पण कर देनेका अर्थ घरद्वार छोड़कर संन्यासी हो जाना या कर्तव्य-कर्मोंका त्यागकर कर्महीन हो बैठना नहीं है। सांसारिक वस्तुओंपर हमने भूलसे जो ममता आरोपित कर रक्खी है यानी उनमें जो अपनापन है उसे उठा देना। यही उसकी वस्तु उसके अर्पण कर देना है। वस्तु तो उसीकी है, हमसे छिन भी जाती हैं परन्तु हम उन्हें भ्रमसे अपनी मान लेते हैं इसीसे छिननेके समय हमें रोना भी पड़ता है।

एक धनी सेठका बड़ा कारोबार है, उसपर एक मुनीम काम करता है। सेठने उसको

ईमानदार और कर्तव्य-परायण समझकर सम्पत्ति-की रक्षा, व्यापारके सञ्चालन और नियमानुसार व्यवहार करनेका सारा भार मुनीमको सौंप रक्खा है । अब मुनीमका यही काम है कि वह मालिककी किसी भी वस्तुपर अपना किञ्चित् भी अधिकार न समझकर, किसीपर ममता या अहंकार न रखकर मालिककी आज्ञा और उसकी नियत की हुई विधिके अनुसार समस्त कार्य बड़ी दक्षता, सावधानी और ईमानदारीके साथ करता रहे। करोड़ोंका लेन देन करे, करोड़ोंकी सम्पत्तिपर मालिककी भांति अपनी संभाल रक्खे, मालिकके नामसे हस्ताक्षर करे, परन्तु अपना कुछ भी न समझे। मूलधन मालिकका,कारोबारमें होनेवाला मुनाफा मालिकका और नुकसानका उत्तरदायित्व भी मालिकका!

यदि वह मुनीम कहीं भूल,प्रमाद या बेईमानीसे मालिकके धनको अपना समझकर अपने काममें लाना चाहे, मालिककी सम्पत्ति या नफेकी रकमपर अधिकार करले तो वह चोर, बेईमान या अपराधी समझा जाता है । न्यायालयमें मुकद्दमा जानेपर वह सम्पत्ति उससे छीन ली जाती है, उसे कठोर दण्ड मिलता है और उसके नामपर इतना कलङ्क लग जाता है जिससे वह सबमें अविश्वासी समझा जाकर सदाके लिये दुखी हो जाता है। इसी प्रकार यदि मालिककी कोठीका भार संभालकर वह काम करनेसे जी चुराता है, मालिकके नियमोंको तोड़ता है तो भी वह अपराधी होता है अतएव मुनीमके लिये यह दोनों ही बातें निषिद्ध हैं।

इसी तरह यह समस्त जगत् उस परमात्माका है, वही यावन्मात्र पदार्थोंका उत्पन्न करनेवाला, वही नियन्त्रणकर्ता, वही आधार और वही स्वामी है, उसीने हमको हमारे कर्मवश जैसी योनि, जो स्थिति मिलनी चाहिये थी उसीमें उत्पन्नकर अपनी कुछ वस्तुओंकी संभाल और सेवाका भार दे दिया है और हमारे लिये कर्तव्यकी विधि भी बतला दी है। परन्तु हमने भ्रमसे परमात्माके पदार्थोंको अपना मान लिया है इसीलिये हमारी दुर्गति होती है। यदि हम अपनी इस भूलको मिटाकर यह समझ लें कि जो कुछ है सो परमात्माका है, हम तो उसके सेवकमात्र हैं, उसकी सेवा करना ही हमारा धर्म है, तो वह परमात्मा हमें ईमानदार समझकर हमपर प्रसन्न होता है और हम उसकी कृपा और पुरस्कारके पात्र होते हैं। मायाके बन्धनसे छूटना ही सबसे बड़ा पुरस्कार है। जो कुछ है सो परमात्माका है, इस बुद्धिके आ जानेपर ममता चली जाती है, और जो कुछ है सो परमात्मा ही है इस बुद्धिसे अहंकारका नाश हो जाता है—यानी एक परमात्माको ही जगत्का उपादान और निमित्तकारण समझ लेनेसे उसमें ममता और अहंकार (मैं और मेरा) नष्ट हो जाता है, 'मैं मेरा' ही बन्धन है, भगवान्का शरणागत भक्त 'मैं मेरा' बन्धनसे मुक्त होकर परमात्मासे कहता है कि बस, केवल एक तू ही है और सब तेरा ही है।

यही अर्पण है, इस अर्पणकी सिद्धि हो जानेपर साधक बन्धनमुक्त हो जाता है, उसे किसी प्रकारकी कोई चिन्ता नहीं रहती। जो चिन्ता करता है, अपनेको बंधा हुआ मानता है, बन्धनसे मुक्ति चाहता है वह वास्तवमें परमात्माके तत्त्वको जानकर उनके शरण नहीं हुआ। अपने उद्धारकी चिन्ता तो शरणागतिके साधकके चित्तसे भी चली जाती है। वास्तवमें बात भी यही है, शरण ग्रहण करनेपर भी यदि शरणागतको चिन्ता करनी पड़े तो वह शरण ही कैसी ? जो जिसको शरण होता है उसकी चिन्ता उस स्वामीको ही रहती है।

> जो जाको शरणो लियो ताकहं ताकी लाज।
> उलटै जल मछली चले बह्यो जात गजराज॥

जब कबूतरके शरणापन्न हो जानेपर दया और शरणागत-वत्सलताके वशीभूत हो महाराज शिवि अपने शरीरका मांस देकर उसकी रक्षा

कर सकते हैं, तब वह परमेश्वर जो अनाथोंका नाथ है, दयाका अनन्त अथाह सागर है, जगत्के इतिहासमें शरणागत-वत्सलताकी बड़ीसे बड़ी घटना जिसकी शरणागत-वत्सलताके सामने सागरकी तुलनामें एक जलकणके सदृश भी नहीं है, क्या शरण होनेपर वह हमारी रक्षा और उद्धार न करेगा ? यदि इतनेपर हमारे मनमें अपने उद्धारकी चिन्ता होती है और हम अपनेको शरणागत भी समझते हैं तो यह हमारी नीचता है, हम शरणागतिका रहस्य ही नहीं समझते। वास्तवमें शरणागत भक्तको उद्धार होने न होनेसे मतलब ही क्या है, वह तो अपने आपको मन बुद्धिसहित उसके चरणोंमें समर्पितकर सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है। उसे उद्धारकी परवाह ही क्यों होने लगी? शरणागतिके रहस्यको समझनेवाले भक्तके लिये उद्धारकी चिन्ता करना तो दूर रहा, वह इस प्रसंगकी स्मृतिको भी पसन्द नहीं करता। यदि भगवान् स्वयं कभी उसे उद्धारकी बात कहते हैं तो वह अपनी शरणागतिमें त्रुटि समझकर लज्जित और संकुचित होकर अपनेको धिक्कारता है। वह समझता है कि यदि मेरे मनमें कहीं मुक्तिकी इच्छा छिपी हुई न होती तो आज इस अप्रिय प्रसंगके लिये अवसर ही क्यों आता? मुक्ति तो भगवत्प्रेमका पासंग मात्र है, उस प्रेम-धनको छोड़कर पासंगकी इच्छा करना अत्यन्त लज्जाका विषय है। मुक्तिकी इच्छाको कलङ्क समझकर और अपनी दुर्बलता तथा नीचाशयताका अनुभवकर, भगवान्पर अपना अविश्वास जानकर वह परमात्माके सामने एकान्तमें रोकर पुकार उठता है कि—

"हे प्रभो! जबतक मेरे हृदयमें मुक्तिकी इच्छा बनी हुई है तबतक मैं आपका दास कहां, मैं तो मुक्तिका ही गुलाम हूं। आपको छोड़कर अन्यकी आशा करता हूं, मुक्तिके लिये आपकी भक्ति करता हूं और इतनेपर भी अपनेको निष्काम प्रेमी शरणागत भक्त समझता हूं। नाथ! यह मेरा दम्भाचरण है। स्वामिन्! दयाकर इस दम्भका नाश कीजिये। मेरे हृदयसे मुक्तिरूपी स्वार्थकी कामनाका मूलोच्छेदकर अपने अनन्य प्रेमकी भिक्षा दीजिये। आप सरीखे अनुपमेय दयामयसे कुछ मांगना अवश्य ही लड़कपन है परन्तु आतुर क्या नहीं करता ?"

इसतरहसे शरणागत भक्त सब कुछ भगवदर्पणकर सब प्रकारसे निश्चिन्त हो रहता है।

भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें सन्तोष ।

इस अवस्थामें जो कुछ होता है वह उसीमें सन्तुष्ट रहता है। प्रारब्धवश अनिच्छा या परेच्छासे जो कुछ भी लाभ हानि सुख दुःखकी प्राप्ति होती है वह उसको परमात्माका दयापूर्ण विधान समझकर सदा समानभावसे सन्तुष्ट, निर्विकार और शान्त रहता है। गीतामें कहा है—

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥

अपने आप जो कुछ आ प्राप्त हो उसमें ही सन्तुष्ट रहनेवाला, हर्षशोकादि द्वन्द्वोंसे अतीत हुआ तथा मत्सरता अर्थात् ईर्षासे रहित, सिद्धि और असिद्धिमें समत्वभाववाला पुरुष कर्मोंको करके नहीं बंधता है।

वास्तवमें शरणागत भक्त इस तत्त्वको जानता है कि दैवयोगसे जो कुछ आकर प्राप्त होता है वह ईश्वरके न्यायसंगत विधान और उसकी दयापूर्ण आज्ञासे होता है। इससे वह उसे परम सुहृद् प्रभुद्वारा भेजा हुआ इनाम समझकर आनन्दसे मस्तक झुकाकर ग्रहण करता है। जैसे कोई प्रेमी सज्जन अपने किसी प्रेमी न्यायकारी सुहृद् सज्जनके द्वारा किये हुए न्यायको-अपनी इच्छासे प्रतिकूल फैसला होनेपर भी-उस सज्जनकी न्यायपरायणता, विवेक-बुद्धि, विचारशीलता, सुहृदता, पक्षपातहीनता और प्रेमपर

विश्वास रखकर हर्षके साथ स्वीकार कर लेता है, इसी प्रकार शरणागत भक्त भी भगवान्‌के कड़ेसे कड़े विधानको सहर्ष सादर स्वीकार करता है, क्योंकि वह जानता है, मेरा सुहृद् अकारण करुणाशील भगवान् जो कुछ विधान करता है उसमें उसकी दया, प्रेम, न्याय और मेरी मङ्गलकामना भरी रहती है। वह भगवान्‌के किसी भी विधानपर कभी भूलकर भी मन मैला नहीं करता।

कभी कभी भगवान् अपने शरणागत भक्तकी कठिन परीक्षा भी लिया करते हैं, वे सब कुछ जानते हैं, तीनों कालकी कुछ भी बात उनसे छिपी हुई नहीं है तथापि भक्तके हृदयसे मान, अहंकार, दुर्बलता आदि मलोंको हरकर उसे निर्मल बनाने, उसे परिपक्व कर उसका परम हित करनेके लिये परीक्षाकी लीला किया करते हैं।

जो परमात्माके प्रेमी सज्जन शरणागतिके तत्त्वको समझ लेते हैं उन्हें तो कोई भी विषय अपने मनसे प्रतिकूल प्रतीत ही नहीं होता। बाजीगरकी कोई भी चेष्टा उसके जमूरेको अपने मनसे प्रतिकूल या दुःखदायक नहीं दीखती। वह अपने स्वामीकी इच्छाके अधीन होकर बड़े हर्षके साथ उसकी प्रत्येक क्रियाको स्वीकार करता है। इसी प्रकार भक्त भी भगवान्‌की प्रत्येक लीलामें प्रसन्न रहता है। वह जानता है कि यह सब मेरे नाथकी माया है। वे अद्भुत खिलाड़ी नानाप्रकारके खेल करते हैं। मुझपर तो उनकी अपार दया है जो उन्होंने अपनी लीलामें मुझे साथ रक्खा है—यह मेरा बड़ा सौभाग्य है जो मैं उस लीलामयकी लीलाओंका साधन बन सका हूं, यों समझकर वह उसकी प्रत्येक लीलामें, उसके प्रत्येक खेलमें उसकी चातुरी और उसके पीछे उसका दिव्य दर्शनकर पद पदपर प्रसन्न होता है। यह तो सिद्ध शरणागत भक्तकी बात है परन्तु शरणागतिका साधक भी प्रत्येक सुख-दुःखको उसका दयापूर्ण विधान मानकर प्रसन्न होता है। यहांपर यह प्रश्न होता है कि सुखकी प्राप्तिमें तो प्रसन्न होना स्वाभाविक और युक्तियुक्त है परन्तु दुःखमें सुखकी तरह प्रसन्न होना कैसे सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले पुरुषकी दृष्टिमें तो सुखकी प्राप्तिसे होनेवाली प्रसन्नता और शान्ति भी विकार ही है। वह तो पुण्य पापवश प्राप्त होनेवाले अनुकूल या प्रतिकूल विषयजन्य सुख दुःख दोनोंसे ही अतीत है। परन्तु साधनकालमें भी प्रसन्नता तो होनी ही चाहिये। जैसे कठिन रोगके समय बुद्धिमान् रोगी, सद्वैद्यद्वारा दी हुई अत्यन्त कटु उपयोगी औषधिका सहर्ष सेवन करता है और वैद्यका बड़ा उपकार मानता है इसी प्रकार निःस्वार्थी वैद्यरूप परम सुहृद् परमात्माद्वारा विधान किये हुए कष्टोंको सहर्ष स्वीकार करते हुए उसकी कृपा और सदाशयताके लिये ऋणी होकर सुखी होना चाहिये। भगवान्‌का प्रिय प्रेमी शरणागत भक्त महान् दुःखरूप फलको बड़े आनन्दके साथ भोगता हुआ पद पदपर उसकी दयाका स्मरणकर परम प्रसन्न होता है। वह समझता है कि दयालु डाक्टर जैसे पके हुए फोड़ेमें चीरा देकर सड़ी हुई मवादको बाहर निकालकर उसे रोगमुक्त कर देता है, इसी प्रकार भगवान् भी भक्तके हितार्थ कभी कभी कष्टरूपी चीरा लगाकर उसे नीरोग बना देते हैं। इसमें उनकी दया ही भरी रहती है। यह समझकर भक्त अपने भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें परम सन्तुष्ट रहता है। वह दुःखसे उद्विग्न नहीं होता और सुखकी स्पृहा नहीं करता "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।"

भगवान्‌की आज्ञानुसार कर्म।

इसीलिये सुखकी इच्छा न रहनेके कारण वह आसक्ति या कामनावश कोई निषिद्ध कार्य नहीं कर सकता। उसका प्रत्येक कार्य ईश्वरकी आज्ञानुसार होता है। उसकी कोई भी क्रिया परमात्माकी इच्छाके प्रतिकूल नहीं होती।

क्योंकि परमात्माकी इच्छामें ही वह अपनी इच्छा मिला देता है, वह अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं रखता। जब कि एक साधारण श्रद्धालु सेवक भी अपने स्वामीके प्रतिकूल कोई कार्य करना नहीं चाहता, कभी भूलसे कोई विपरीत आचरण हो जाता है तो वह लज्जित संकुचित होकर अपनी भूलपर अत्यन्त पश्चात्ताप करता है तब भला निष्काम प्रेमभावसे शरणमें आया हुआ श्रद्धालु ईश्वरभक्त व्यक्ति परमात्माके प्रतिकूल किञ्चित् मात्र कार्य भी कैसे कर सकता है? जैसे सतीशिरोमणि पतिव्रता स्त्री अपने परम प्रिय पतिकी भ्रकुटिकी ओर ताकती हुई सदा सर्वदा पतिके अनुकूल ही उसके छायाके समान चलती है, उसी प्रकार ईश्वरप्रेमी शरणागत भक्त भी भगवदिच्छाका अनुसरण करता है। सब कुछ उसीका समझकर उसीके लिये कार्य करता है।

यहांपर यह प्रश्न होता है कि जब ईश्वर सबके प्रत्यक्ष नहीं है तब ईश्वरकी आज्ञा या इच्छाका पता कैसे लगे? इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो शास्त्रोंकी आज्ञा ही एक प्रकारसे ईश्वरकी आज्ञा है क्योंकि त्रिकालज्ञ भक्त ऋषियोंने भगवान्का अभिप्राय समझकर ही प्रायः शास्त्रोंका निर्माण किया है। दूसरे श्रीमद्भगवद्गीता जैसे ग्रन्थोंमें भगवदाज्ञा प्रत्यक्ष ही है। इसके सिवा भगवान् सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी होनेसे सबके हृदयमें सदा प्रत्यक्ष विद्यमान हैं। मनुष्य यदि स्वार्थ छोड़कर सरल जिज्ञासु भावसे हृदयस्थित ईश्वरसे पूछे तो उसे साधारणतया यथार्थ उत्तर मिल ही जाता है। झूठ बोलने, चोरी करने या हिंसादि करनेके लिये किसीका भी हृदय सच्चे भावसे आज्ञा नहीं देता। यही भगवान्की इच्छाका संकेत है।

अन्तःकरणपर अज्ञानका विशेष आवरण होनेके कारण जिस प्रश्नके उत्तरमें शङ्कायुक्त जवाब मिले, जिसके निर्णय करनेमें हमारी बुद्धि समर्थ न हो उस विषयमें स्वार्थरहित सदाचारी धर्मके तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंसे पूछकर निर्णय कर लेना चाहिये। जिस विषयमें अपने मनमें शङ्का न हो, उस विषयमें भी उत्तम पुरुषोंसे परामर्श कर लेना तो लाभदायक ही है। क्योंकि जबतक मनुष्य परमात्माको तत्त्वसे नहीं जान लेता तबतक भ्रमसे कहीं कहीं असत्यका सत्यके रूपमें प्रतीत हो जाना सम्भव है, इसलिये निर्णीत विषयको भी सत्पुरुषोंकी सम्मतिसे मार्जन कर लेना उचित है। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर परमात्माका सङ्केत यथार्थ समझमें आने लगता है। फिर साधक जो कुछ करता है सो सब प्रायः ईश्वरके अनुकूल ही करता है।

यह देखा जाता है कि मालिककी इच्छानुसार बर्तनेवाला स्वामिभक्त सेवक जो सदा मालिकके इशारेके अनुसार काम करता है, वह मालिकके भावको तनिकसे इशारे मात्रसे ही समझ लेता है, जब साधारण मनुष्योंमें ऐसा होता है तब एक ईश्वरका शरणागत भक्त श्रद्धा, विश्वास और प्रेमके बलसे ईश्वरके तात्पर्यको समझने लगे, इसमें आश्चर्य ही क्या है?

ईश्वरकी इच्छा समझनेके लिये एक बात और है। यह समझ लेना चाहिये कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व सुहृद्, दयासागर, सबके आत्मा और सबके हितमें रत है। अतएव किसी भी जीवका किसी भी प्रकारसे किसी भी कालमें अहित या अनिष्ट करनेमें उसकी सम्मति नहीं हो सकती। इसलिये जिस कार्यसे यथार्थरूपमें दूसरोंका हित होता हो वही ईश्वरकी इच्छाके अनुकूलकार्य है और जिससे जीवोंका अनिष्ट होता हो, वह उसके इच्छाके प्रतिकूल कार्य है।

कुछ लोग भ्रमवश शास्त्र या धर्मकी आड़ लेकर पराये अहित, अनिष्ट या हिंसा आदिको धर्म मान लेते हैं परन्तु ऐसा मानना अनुचित है। हिंसा और अहित कभी धर्म या ईश्वरको अभिप्रेत नहीं हो सकता। अवश्य ही किसीके

हितके लिये माता पिता या गुरुद्वारा स्नेहभाव-से अपने बालक या शिष्यको ताड़ना देनेके समान दण्ड आदि देना हिंसामें शामिल नहीं है।

अतएव भक्त प्रत्येक कार्य भगवदिच्छाके अनुकूल ही करता है जिससे वह कभी पाप या निषिद्ध कर्म तो कर ही नहीं सकता, उसका प्रत्येक कार्य स्वाभाविक ही सरल, सात्विक और लोक-हितकारी होता है क्योंकि उसका संसारमें न कोई स्वार्थ है, न किसी वस्तुमें आसक्ति है और न किसी कालमें किसीसे उसे भय है।

शरणागत भक्तकी तो बात ही क्या है, भय और पाप तो उसके भी नहीं रहते जो ईश्वरका यथार्थरूपसे अस्तित्व(होनापन)ही मान लेता है। राजा या राजकर्मचारी निर्जन स्थान और अन्ध-कारमयी रात्रिमें सब जगह मौजूद नहीं रहते परन्तु राज्यकी सत्ताके कारण ही लोग प्रायः नियम विरुद्ध कार्य नहीं करते। राजकर्मचारी जहाँ रहता है वहां तो कानून तोड़ना बड़ा ही कठिन रहता है। जब राजसत्ताका यह प्रताप होता है तब सर्वशक्तिमान् परमात्माको जो सब जगह देखता है, उससे पाप कैसे बन सकते हैं? ईश्वर सर्वव्यापी होनेके कारण सब जगह उनका रहना सिद्ध ही है। यही हाल भयका है। राजकर्मचारी साथ होनेपर कहीं भी चोरोंका भय नहीं रहता तब राजराजेश्वर भगवान् जिसके साथ हों उसके लिये भयकी संभावना ही कहां है? जो अपनेको भक्त कहकर परिचय देते हुए भी पापोंमें फंसे रहते या बात बातमें भय करते हैं वे यथार्थमें ईश्वरका अस्तित्व ही नहीं मानते। ईश्वरको माननेवाले तो नित्य निष्पाप और निर्भय रहते हैं!

भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन।

शरणागत साधकको यदि कोई भय रहता है तो वह इसी बातका रहता है कि कहीं उसके चित्तसे प्रियतम परमात्माकी विस्मृति न हो जाय। वास्तवमें वह कभी परमात्माको भूल भी नहीं सकता। क्योंकि परमात्माके चिन्तनका वियोग उससे क्षणमात्रके लिये भी सहा नहीं जाता "तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परम व्याकुलता" सब कुछ परमात्माके अर्पण करके प्रतिपल उसे स्मरण रखना और क्षणभरकी विस्मृतिसे मणिहीन सर्प या जलसे निकाली हुई मछलीकी भांति परम व्याकुल होकर तड़पने लगना, उसका स्वभाव बन जाता है। उसकी दृष्टिमें एकमात्र परमात्मा ही उस-का परम जीवन, परम धन, परम आश्रय, परम गति और परम लक्ष्य रह जाता है, प्रतिपल उसके नामगुणोंका चिन्तन करना, उसके प्रेममें ही तन्मय हो रहना, बाह्यज्ञान भूलकर उन्मत्त हो जाना, परम उल्लाससे प्रेममें झूमना, यही उसकी जीवनचर्या बन जाती है।

> क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
> द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
> नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं,
> भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥
> (श्रीमद्भागवत)

वे भक्तगण कभी उसका चिन्तन करते हुए रोते हैं, कभी हंसते हैं, कभी आनन्दित होते हैं, कभी अलौकिक कथा कहने लगते हैं, कभी नाचते हैं, कभी गाते हैं, कभी नामसंकीर्तन करते हैं, और कभी परमानन्दको पाकर शान्त और चुप हो रहते हैं।

इसप्रकार परमात्माके शरणका तत्त्व जान-कर वे भक्त भगवान्‌की तद्रूपताको प्राप्त हो जाते हैं—

> तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
> गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥
> (गीता ५। १७)

तद्रूप है बुद्धि जिनकी तथा तद्रूप है मन जिनका और उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें

ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी, ऐसे परमेश्वरपरायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्ति अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं। ऐसे ही पुरुषोंके लिये भगवान्ने कहा है, मैं उसका अत्यन्त प्रिय हूं और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है "प्रियोहिज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः।" उससे मैं अदृश्य नहीं होता, वह मुझसे अदृश्य नहीं होता। "तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।"

ऐसे पुरुषके द्वारा शरीरसे जो कुछ क्रिया होती है सो क्रिया नहीं समझी जाती। आनन्दमें मग्न हुआ वह भगवान्का शरणागत भक्त लीलामय भगवानकी आनन्दमयी लीलाका ही अनुकरण करता है, अतएव उसके कर्म भी लीलामात्रसे ही हैं। भगवान् कहते हैं—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६। ३१)

जो पुरुष एकीभावसे स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है, क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।

इसलिये वह सबके साथ अपने आत्माके सदृश ही बर्तता है, उससे कभी किसीका अनिष्ट नहीं हो सकता। ऐसे अभिन्नदर्शी परमात्मपरायण तद्रूप भक्तोंमें कोई तो स्वामी शुकदेवजीकी तरह लोगोंके उद्धारके लिये उदासीनकी भांति विचरते हैं, कोई अर्जुनकी भांति भगवदाज्ञानुसार आचरण करते हुए कर्तव्य कर्मोंके पालनमें लगे रहते हैं, कोई प्रातःस्मरणीया भक्तिमती गोपियोंकी तरह अद्भुत प्रेमलीलामें मत्त रहते हैं और कोई जड़भरतकी भांति जड़ और उन्मत्तवत् चेष्टा करते रहते हैं।

ऐसे शरणागत भक्त स्वयं तो उद्धाररूप हैं ही और जगत्का उद्धार करनेवाले हैं, ऐसे महापुरुषोंके दर्शन, स्पर्श, भाषण और चिन्तनसे ही मनुष्य पवित्र हो जाते हैं। वे जहां जाते हैं वहींका वातावरण शुद्ध हो जाता है, पृथ्वी पवित्र होकर तीर्थ बन जाती है, ऐसे ही पुरुषोंका संसारमें जन्म लेना सार्थक और धन्य है, ऐसे ही महात्माओंके लिये यह कहा गया है:—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिन्
लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

करिहैं कृपा कृपाल

बहु देखे बातिल बकी बक बक करैं तमाम।
होत वही जो जाँचिकै लिखि दीन्ह्यौ प्रभु राम॥
बकन बड़े देखे अछत मानुष बुद्धि निधान।
समय परे चूकैं सबै होत लिखी भगवान॥
मन धारौ कछु और तुम बाहिर और लखाय।
मरजी बिन भगवानकी पत्ता नहीं डुगाय॥
राम नामको दण्ड कै रटना करहु लगाम।
मन हय तातैं गाँसिकै चलौ सदा सुख-धाम॥
रहै मान द्विज 'प्रेम' अब भजि ले दीन दयाल।
छिनमें सब दुख टारि हैं करिहैं कृपा कृपाल॥

—प्रेमनारायण त्रिपाठी, 'प्रेम'

ज्ञानोपदेश

चञ्चलता यौवनकी चपलासी चार दिना,
कञ्चनसी देह चारु नित्य ना बनी रहै।
मुक्ता मणि माणिक के धाम कोष रैहैं नाहिं,
जामें मति तेरी सदा सम सी बनी रहै॥
दारा सुत बन्धु आदि नेह औ कुटुम्ब तेरो,
जाहिं सबै भूतलसे रङ्क ना धनी रहै।
एरे मन! मूरख तु बन्दै नहि चक्रपाणि,
कालकी कृपाण तेरे शीश पै तनी रहै॥

—गोविन्दराम अग्रवाल 'गोविन्द'

विवेक-वाटिका

केवल सत्यकी ही जय होती है, झूठकी कभी नहीं होती। सत्यकी सहायतासे ही ऋषिगण देवयानमार्गसे परमात्माके परमधामको पहुंचते हैं। —उपनिषद्

* * *

कल्याणकारी कर्म करनेवालेकी न इस लोकमें दुर्गति होती है और न परलोकमें। —श्रीमद्भगवद्गीता

* * *

जैसा परमज्ञान महापुरुषोंके चरण-रज-सेवनसे मिलता है वैसा वैदिक कर्म, दान, गृहस्थधर्मपालन, वेदाध्ययन, जल अग्नि या सूर्यकी उपासना आदि कर्मोंसे कभी नहीं मिलता। —भागवत

* * *

क्रोध, दुष्कर्म, कृपणता तथा असत्यको जीतनेके शस्त्र क्रमसे क्षमा सुकर्म उदारता और सत्य हैं। —महाभारत

* * *

मूर्ख कौन है? जो बकवाद करता है। मूर्खको चाहिये कि सभामें मुंह न खोले और बुद्धिमान केवल प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही बोले। बहुत सुनना और थोड़ा बोलना ही बुद्धिमानका लक्षण है। —बुजुरचिमिहर

* * *

जो ज्ञानकी बड़ी बड़ी बातें बनाते हैं पर जिनके हृदयमें दया नहीं है वे जरूर नरकमें जायंगे। —कबीर

* * *

वह मनुष्य धन्य हैं जो दयाशील हैं, क्योंकि परम-पिताकी अपनी दयाके वे ही भागी हैं। —ईसा

* * *

शूरवीर वही हैं जिनका हृदय हरिसे भरपूर है। —नानक

* * *

जो दूसरेके अवगुणकी चर्चा करता है वह अपना अवगुण प्रकट करता है। —बुद्ध

* * *

मनुष्यको चाहिये कि अपना मित्र आप ही बने, बाहरी मित्रकी खोजमें न भटके। —जैनसूत्र

* * *

जो सच्चे हृदयके साधु होते हैं वे मनको पीसकर चाले हुए मैदेकी भांति कर देते हैं, जिसमें मान या गर्वकी किरकिरी नहीं रह जाती। —पारसभाग

* * *

भक्त वह है जो अपने मनको पृथ्वीके समान सहिष्णु और परोपकारी बना ले, जिसमें लोग खाद डालते हैं परन्तु वह अन्न ही देती है। —जगजीवनसाहिब

* * *

जिस बातसे समाजको सुख पहुंचे, उससे यदि तुम्हें कुछ दुःख भी पहुंचे तो नाराज मत हो। —मारकस आरीलियस

* * *

जो मूर्ख अपनी मूर्खताको जानता है वह धीरे धीरे सीख सकता है परन्तु जो मूर्ख अपनेको बुद्धिमान समझता है उसका रोग असाध्य है। —अफ़लातून

* * *

जो बाहरसे बहुत सुन्दर है पर जिसका मन मैला है उससे तो कौआ अच्छा है जो बाहर भीतर एकरंग है। —दरियासाहेब

* * *

संसारमें तीन बातें बड़ी उपकार करनेवाली हैं परन्तु धारण करनेमें कठिन हैं- (१) निर्धनतामें उदारता (२) एकान्तमें इन्द्रियनिग्रह और (३) भयमें सत्य। —अज्ञात

* * *

अच्छे गुणोंको सीखनेमें तुम्हारी यह धारणा होनी चाहिये कि तुम्हारा अभिप्राय अपने सुधारका है न कि लोकमें बड़ाई पानेका। —चीनी महात्मा

* * *

माताकी पुकार

(लेखक–श्रीसदानन्दजी, सम्पादक 'मेसेज')

देशभक्तोंके वक्षःस्थलको विदीर्ण करनेवाला यह शोकपूर्ण करुण चीत्कार कहांसे सुनायी पड़ रहा है ? मालूम होता है एक समस्त महाद्वीप अत्याचारके वेत्राघातोंकी असह्य यन्त्रणाओंमें चक्कर लगा रहा है और हृदयके अन्तिम कोणसे मर्मभेदी शोकपूर्ण विलाप छोड़ रहा है । जिस समय अन्यान्य जातियोंके दुःखपूर्ण उद्गार तथा करुणक्रन्दन उठेंगे, उस समय आकाश अथवा स्वर्गके चारों वायु विश्वस्त एवं सहानुभूतिपूर्ण संदेशवाहककी भांति उसे सब दिशाओंमें फैला देंगे और वे इस शोकपूर्ण सन्देशको उत्तर, दक्षिण, पूर्व तथा पश्चिम, सभी दिशाओंमें सुनाते समय प्रत्येक सहृदयसे सहानुभूति तथा न्यायके लिये याचना करेंगे। वह रोनेवाली कौन है ? क्या तुम सुनते हो ? वह रोनेवाली भारतमाता है। नहीं, नहीं केवल भारतमाता ही नहीं अपितु समस्त एशिया रो रही है । पूर्वके मधुर देवदूतको देखो, जिसके सौन्दर्यमें स्वयं स्वर्गका रंग मिला हुआ ज्ञात होता है। वही सुदूरवर्ती पूर्व आज चिथड़ोंसे लिपटा तथा रक्तसे लथपथ बन्दीकी भांति पड़ा हुआ है । एशियाकी घोर यातनाओंकी सीमाको कौन माप सकता है ? उसका न संसारमें कोई स्थान है और न उसे शान्ति है । उसके दुःख निवेदनका भारभूत कारण क्या है ?

जड़वादी ईश्वरविहीन सभ्यताकी अनियन्त्रित मारकाटने उसके हृदयमें शोक, पवित्र नामपर कलङ्क, तथा उसकी संवर्धित संस्थाओंपर मृत्युका आवाहन किया है। सभी महान् धर्मप्रवर्तकों तथा सन्तोंकी जन्मदायिनी धर्मभूमि एशिया, जो कि सबसे बढ़कर शेष संसारके लिये तीर्थस्थान है, जिसकी पवित्र भूमिपर आधुनिक सभ्य संसार फला फूला है तथा जिसने इस संसारमें रहनेवाले करोड़ों मनुष्योंको मोक्ष प्राप्त कराया है, आज उन दूसरोंके चरणोंपर पड़ी हुई है, जिन्हें कि अभी उसकी विपुल विभूति, महान् कीर्ति तथा प्राचीन सभ्यताको सीखना है ।

पूर्व यथार्थतः पवित्र भूमि है। इसी एक स्थानपर संसारके सारे अग्रगण्य सिद्ध पुरुषों तथा महान् धार्मिक बुद्धिमानोंकी गणना की जा सकती है । यह एक विशेष तथा बार बार कहने योग्य बात है कि कोई बड़ा धर्मप्रवर्तक अथवा नबी एशियाकी सीमाके बाहर नहीं उत्पन्न हुआ था । क्या इसमें कोई अत्युक्ति है, यदि कहा जावे कि एशिया संसारके प्रामाणिक धर्ममन्दिरोंका गृह है ? एशियापर किसी धर्म-विशेषका अधिकार नहीं है । ईसाई, मुसलमान, हिन्दू, यहूदी, बुद्ध तथा पारसी प्रत्येक धर्मका यह सर्वसामान्य गृह है। इसी कारणसे एशियाकी आत्मा संसारके प्रति मित्रभाव रखनेवाली, सार्वलौकिक, व्यापक, पक्षपातरहित तथा साम्प्रदायिकताके भावसे शून्य है। उसके कट्टरसे कट्टर शत्रु भी उसकी क्षुद्र उपेक्षाका विधान नहीं कर सकते। उसने अपनी गोदमें पूर्व तथा पश्चिमके सभी बड़े बड़े धर्ममन्दिरोंको पाला पोसा तथा दूध पिलाया है । यथार्थतः एशियाकी आत्मामें सभी संप्रदाय तथा धर्म मिले हुए हैं ।

इसप्रकारका महान् तथा पवित्र महाद्वीप अपनी सारी चपलबुद्धि, भिन्न भिन्न गुण अथवा

शक्ति विस्तृत सहानुभूति, व्यापक तथा उदार स्वभावसहित इससमय अपने विदीर्ण हृदयकी पीड़ाके कारण पतित पड़ा हुआ है!

एशिया धर्मकी भूमि है। धर्महीने उसे कीर्तिकी उच्चतम कोटिपर पहुंचा दिया था। एक समय था कि एशियाका प्रत्येक परमाणु आध्यात्मिकताका श्वास लेता था,प्रत्येक मस्तिष्क धर्मके उच्च सिद्धान्तोंकी विवेचनामें डूबा रहता था तथा प्रत्येक दृष्टि उसी सर्वशक्तिमान्‌की ओर ऊपर लगी रहती थी। लोग धर्ममें उठते, धर्ममें काम करते तथा धर्ममें सोते थे। धर्म ही उनके जीवनका मुख्य विषय, लक्ष्य तथा अन्तिम ध्येय था। किन्तु अब एक नवीन, जघन्य एवं रहस्यमय सभ्यताने उसके हृदयसे परमात्माको हटाकर लक्ष्मी तथा गर्हणीय स्वार्थान्धताको स्थान दे दिया है। इसका परिणाम यह है कि अपनी ही सन्तानोंमें आज युद्ध तथा नाश, अशान्ति तथा विप्लव मचा हुआ है। माता, उपेक्षित, दुर्व्यवहरित, अरक्षित तथा बुभुक्षित पड़ी हुई है।

यदि कल्पना कर ली जाय कि स्वेच्छाचारिताका महान् पिशाच, स्वार्थबुद्धि अथवा नास्तिकता उसके हृदयको विदीर्णकर राक्षसीकी भांति जीवनरक्तका पान कर रहे हैं, तो चीत्कार तथा क्रन्दनका यही कारण है जिसने आकाशको विच्छेद कर दिया है।

ऐ एशियाकी सन्तानो! जागो। अपनी माताके लिये पुनः जागो और एक बार फिर ऐक्यसूत्रमें बंध जाओ, अपनी माताकी यन्त्रणाको दूर कर दो। उसके पास, एक प्रसन्न भ्रातृसंघके भाइयोंकी भांति हाथसे हाथ और हृदयसे हृदय मिलाकर खड़े हो। पुनः बन्धुत्व तथा भ्रातृत्व, जीवन एवं चैतन्यताकी उच्च एकताके सूत्रमें बंध जाओ। पूर्व तथा पश्चिमके सारे धर्माचार्य एशियामें उत्पन्न हुए थे। वे सारे ही लोग तुम्हें अपनी मातृभूमिकी संतानके सदृश प्रिय हैं। अतः हम सबको 'उसी परमपिताकी संतान हैं' इसपर विचार करते हुए उनका स्वागत एवं आदर करना चाहिये। हिन्दूधर्मका अभ्युदय एशियाका अभ्युदय है, बुद्धधर्मका गौरव एशियाका गौरव है, ईसाईधर्मकी कीर्ति एशियाकी कीर्ति है, मुसलमान धर्मका माहात्म्य एशियाका माहात्म्य है। इन धर्मोंकी प्रतिष्ठामें क्या तुम प्रतिष्ठित नहीं होते हो? क्यों परस्पर युद्ध, अशान्ति तथा शत्रुता होती रहती है? प्रत्येक धर्मका लक्ष्य एक ही है किन्तु वे भिन्न भिन्न असत्य आवरणमें हैं। हे परन्तप! सार्वलौकिकता, सार्वभौम, सहिष्णुता, विश्वप्रेमके झंडेके नीचे, बिना एक सेकण्डका विलम्ब किये एक सर्वसामान्य महान सेनानायक, महान् जेहोवा (Jehovah the Great), शक्तिशाली अहुरा माज़्दा (Ahura Mazda), दयाशील तथा उदार परंब्रह्मके नेतृत्वमें उठो! यह प्रयास सारी कठिनाइयोंका अन्त कर देगा तथा उसके घावको भर देगा। क्या तुम ऐसा करोगे? यदि ऐसा करनेको उद्यत हो तो आगे आओ और कर्तव्यपरायण सन्तानकी भांति उसके चरणोंपर मस्तक झुकाओ और इस मृत्युलोकमें उसकी सेवामें अत्यन्त पवित्र तथा निर्मल सेवाका बलिदान चढ़ाकर अपनी माता तथा अपनी प्रतिष्ठाकी रक्षा करो।

प्रार्थना

विनय सुन लीजे कृपानिधान।
हे अनाथके नाथ दयानिधि, दीनबन्धु भगवान॥

ग्राह फन्दसे ज्यों सिन्धुरको, दौरि उबारयो आन।
चाहत हौं त्यों नाथ रावरी, दया दृष्टि कौ दान॥

फंस्यो परयो भव-सिन्धु भँवरमें, अहौं निपट अज्ञान।
बेगि लीजिये अब 'श्रीहरि' सुध, दास आपनो जान॥

—श्रीमोतीलाल ओमरे 'श्रीहरि'

भक्ति और मुक्ति

(लेखक-पं० गोपालप्रसादजी शर्मा)

सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ॥

'हरि' इन दो अक्षरोंका एकबार भी जिसने उच्चारण किया है वह मोक्षकी प्राप्तिके लिये कमर कसे तैयार है।

मोक्षकामी ज्ञानमार्गियोंके लिये मोक्षकी प्राप्ति बहुत प्रीतिकर विषय है परन्तु भक्तोंके लिये ऐसी बात नहीं है। मुक्ति पांच प्रकारकी है-सारूप्य, सायुज्य, सालोक्य, सामीप्य और सार्ष्टि। इनमेंसे भक्त वास्तवमें किसी भी मुक्तिके लिये प्रार्थना नहीं करता। भगवान् स्वयं देते हैं तब भी वह ग्रहण नहीं करता। भगवान् कहते हैं:-

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
(भागवत ३।२९।१३)

मेरे भक्तजन मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य यहांतक कि एकत्व देनेपर भी ग्रहण नहीं करते। ईश्वरके साथ भक्तका सेव्य-सेवक भाव होता है 'दास्यभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचन।'

अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, विशुद्धाद्वैत ये आचार्योंके चार प्रधान मत हैं। भगवान् श्रीशंकराचार्य अद्वैतमतके प्रचारक हैं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'ब्रह्मैवेदं सर्वं' आदि श्रुतियोंसे वे सिद्ध करते हैं कि जीव ब्रह्मका साक्षात् होनेपर ब्रह्म हो जाता है। उपाधिसे ही वह जीव कहलाता है, उपाधि छोड़ते ही ब्रह्म हो जाता है। यह जगत् ब्रह्मका विकार नहीं है पर विवर्त है। दही दूधका विकार है और रस्सीका सर्पाकार प्रतीत होना विवर्त है। जगत् ब्रह्मका विवर्त होनेसे ऐन्द्रजालिक मायामात्र असत् है। इस मायावादको पद्मपुराणमें असत्शास्त्र कहा है-'मायावादमसच्छास्त्रं।'

श्रीभाष्यकार विशिष्टाद्वैतवादी श्रीरामानुजस्वामीका मत है कि जीव ब्रह्ममें सजातीय विजातीय भेद चाहे न हो परन्तु स्वगत भेद अवश्य है, जैसे वृक्षसे ही पत्र पुष्प निकलते हैं पर वे वृक्षसे भिन्न हैं इसी प्रकार ब्रह्म और जीव हैं। आचार्य कहते हैं कि भक्तिद्वारा ही भगवान् प्राप्त हो सकते हैं। भगवान् भक्तवत्सल हैं, इसीसे वे लीलाविशेषके वशवर्ती हो जाते हैं। इनके मतसे उपासना पांच प्रकारकी है-अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग। भगवत्‌के स्थानको बुहारना लीपना पोतना आदि अभिगमन है, फल पुष्पादि दान उपादान, पूजा इज्या, जप नामसंकीर्तनादि स्वाध्याय और एकाग्रचित्तसे भगवान्‌का चिन्तन करना योग कहलाता है। भक्तिके वश होकर ही भगवान् भक्तको अपने धामका निवास प्रदान करते हैं, इसीको शास्त्र सालोक्य सामीप्य मुक्ति कहते हैं। आचार्यने श्रीशङ्कराचार्यकी भांति सायुज्य मुक्तिके लिये प्रार्थना नहीं की है।

द्वैतवादी मध्वभाष्यकार श्रीमध्वाचार्य हैं, इनके मतमें जीव अणु और भगवान्‌का दास है, जगत् सत्य है, श्रीभगवान् स्वतन्त्र हैं। दास्य भाव त्यागकर 'अहं ब्रह्मास्मि' की उपासनासे भगवत्-

साम्यकी इच्छा करते ही जीवका अधःपतन हो जाता है। श्रीकृष्णसेवाके सिवा जीवका और कोई कर्तव्य नहीं है। सेवा तीन प्रकारकी है--अंकन, नामकरण और भजन। इनके मतमें भी सालोक्य और सारूप्य मुक्ति परमार्थ है।

विशुद्धाद्वैतवादी अणु भाष्यकार श्रीवल्लभाचार्य हैं, इनके मतमें भी जीव अणु-सेवक है। जगत् सत्य है, यहांतक इनसे मध्वाचार्यका मत मिलता है। भेद तो केवल यही है कि मध्वाचार्यके मतमें मुमुक्षुके लिये श्रीवैकुण्ठाधिपति सेव्य हैं और वल्लभाचार्यके मतमें गोलोकाधिपति श्रीकृष्ण सेव्य हैं। मध्वाचार्यके मतमें सेवा तीन प्रकारकी है परन्तु वल्लभाचार्यके मतसे सेवा द्विविध है--फलरूपा और साधनरूपा। श्रीकृष्णलीला श्रवणरूपा, मानसीसेवा फलरूपा और कायिकसेवा साधनरूपा। मध्वाचार्य कहते हैं-वैकुण्ठलोककी प्राप्ति ही मोक्ष है किन्तु वल्लभाचार्य कहते हैं कि गोलोक वृन्दावनमें गोपीभावको प्राप्त होकर रास-रसोत्सवके समय पतिभावसे भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा करना ही मोक्ष है। इनके मतसे प्रीतिमार्ग ही सर्वोत्कृष्ट है।

इन चार आचार्योंके सिवा द्वैताद्वैत भाष्यकार श्रीनिम्बार्काचार्यजी और श्रीहिताचार्यजी भी जगत्को सत्य और ईश्वर जीवका सेव्य-सेवक भाव मानते हैं। वल्लभाचार्यकी तरह ये भी गोलोक-वैभवके उपासक हैं। भाव और सिद्धान्तोंमें कुछ न्यूनाधिक्य होनेपर भी इन तीनों आचार्योंका उपासना-मार्ग एक है।

उपर्युक्त आचार्य महानुभावोंके मतपर विचार करनेसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि एक भगवान् श्रीशंकराचार्यके सिवा अन्य सभी आचार्योंने सेव्य-सेवक भाव स्वीकार किया है और मुक्तिको त्यागकर प्रायः सभीने भक्तिकी आकांक्षा की है। यह भक्तोंकी विशेषता है।

भक्ताग्रगण्य प्रह्लादजीने मुक्ति न चाहकर भक्तिकी ही इच्छा की थी—

नाथ! योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतेऽस्तु सदा त्वयि॥
(विष्णुपुराण १।२०।१८)

हे नाथ! मैं जिन जिन सहस्रों योनियोंमें भ्रमण करूं, उन सबमें मेरी आपके प्रति अचला भक्ति हो।

बाबा नन्दमहाराजने उद्धवसे कहा था—

कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मङ्गलाचरितैर्दानैर्मतिर्नः कृष्ण ईश्वरे॥
(श्रीमद्भागवत १०।४७।६७)

कर्मवश भ्रमण करते करते ईश्वरेच्छासे मैं चाहे जहां जन्म ग्रहण करूं परन्तु मंगल आचरण और दानद्वारा श्रीकृष्णमें ही मेरी मति बनी रहे।

भगवान् ब्रह्माजी भी भक्तिकी महिमा बखानते हुए कहते हैं—

श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो,
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते,
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनां॥
(भागवत १०।१४।४)

हे विभो! जो आपकी कल्याणदायिनी भक्तिको छोड़कर केवल ज्ञानके लिये क्लेश सहते हैं उनको वह क्लेश ही मिलता है। जैसे तुष कूटनेवालेको केवल भूसी और थकावटके सिवा और कुछ नहीं मिलता।

कोई कोई भावुक भक्त तो भक्तिमें ऐसे रंगे हुए हो गये हैं कि उन्होंने मुक्तिका उपहासकर चाहे सो कह डाला है—बंगला चैतन्य चरितामृतमें कहा है—

मुक्ति शब्द कहिते मने हय घृणा त्रास।
भक्ति शब्द कहिते मने हय तो उल्लास॥

मुक्ति शब्द उच्चारण करते ही मनमें घृणा और भय होता है परन्तु भक्ति शब्दसे उल्लास होता है।

ईश्वरपुरीजी कहते हैं—

योगः श्रुत्युपपत्तिनिर्जनवनः ध्यानाध्वसंभावितः,
स्वाराज्यं प्रतिपद्य निर्भयममी मुक्ता भवन्तु द्विजाः।
अस्माकं तु कदम्बकुञ्जकुहरे प्रोन्मीलदिन्दीवर-
श्रेणीश्यामलधामनामयुषतां जन्मान्तलक्षावधिः॥

ये सब ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यादि द्विजगण योग, वेदानुशीलन, निर्जन वनमें निवास, ध्यान और तीर्थपर्यटनादिद्वारा सम्मान्य निर्भयरूप स्वरूपानुभवको प्राप्त होकर मुक्त हों तो हों, हम तो कदम्ब-कुहरमें उदित इन्दीवर-श्रेणी सदृश श्यामसुन्दरके नामसेवक हैं चाहे लाखों जन्म क्यों न हो जायं।

भक्तिरसामृतमें कहा है—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
भावभक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

जबतक भुक्ति मुक्तिकी स्पृहारूपी पिशाचिनी हृदयमें वर्त्तमान है तबतक उसमें भक्तिसुखका अभ्युदय क्योंकर होगा ? भक्त भक्तिके सिवा और कुछ भी नहीं चाहता, उसके लिये मोक्ष स्वर्ग और नरक सभी समान हैं—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्च न बिभ्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥

भक्त श्रीरामानन्दाचार्य कहते हैं—

निर्वाणनिःस्वफलमेव रसानभिज्ञा-
श्चुष्यन्तु नामरसतत्त्वविदो वयन्तु।
श्यामामृतं मदनमन्थरगोपरामा,
नेत्राञ्जलीचुलुकितावसितं पिवाम॥

रसानभिज्ञ व्यक्ति निर्वाणरूप निःसार फलको चूसा करे। हम तो रसज्ञ हैं अतएव मदनावेश गोपाङ्गनागणोंने नेत्राञ्जलद्वारा जिस श्यामामृत का पान किया था, हम भी उसीका अवशिष्ट किञ्चित् अंश पान करेंगे।

भगवतरसिकजी कहते हैं—

नर्क स्वर्ग अपवर्ग आस नहिं त्रास है।
जहां राखु तहां रहों मान सुखरास है॥
देहु दया करि दान बिलोकौं केलिको।
'भगवतरसिक' तमाल बिलोकौं बेलिको॥
दुख सुख भुगते देह नहीं कछु शंक है।
निन्दा स्तुति करो राउ क्या रंक है॥
परमारथ व्यवहार बनो की ना बनो।
अंजन है मम नैन रसिक भगवत सनो॥

भक्तोंके अनोखे भाव हैं, उनकी दृष्टिमें भक्तिके सामने मुक्ति तुच्छ—नगण्य है, बलिहारी है! 'मुक्ति निरादरि भक्ति लुभाने।'

अनुनय

बूड़त, भव—बारिधि ते तारहु।
बिगरी बहुत, बनी नहिं एकहु, तुम जनि मोंहि बिसारहु॥
माया प्रबल, नाथ! मैं निर्बल, तुमही तनिक बिचारो।
बौरी मति, बौरानी, बिधिगति, कछु नहिं दोष हमारो॥
रसना रीझि रसन अनुरागी, बिसरि न नाम उचारो।
तृषा न मिटी, मिटी नहिं आसा, मैं बह पचि पचि हारो॥
सधना, गीध कुलीन कहांके, जेहि उर लाय उधारो।
जो 'श्रीपति' तुम पतितन तारत, मों कह कस न उबारो॥

—रमाशंकर मिश्र 'श्रीपति'

सच्चे भक्तका अनुभव

"जिस तरफ देखूं उधर ही दरस हो श्रीरामका।
आंख भी मूंदू तो दीखे मुखकमल घनश्यामका॥"

सच्चे साधु सभी देशों और जातियोंमें हुआ करते हैं। अवश्य ही उनकी संख्या अंगुलियोंपर गिनने लायक ही होती है। पर वे लोग जो वास्तविक काम कर जाते हैं उसकी तुलनामें बहु-संख्यक साधु नामधारियोंका बड़ा भारी काम भी अत्यन्त तुच्छ होता है। ऐसे सन्तजन अपनी सच्ची भावनाके लिये स्वार्थी दुराचारियोंद्वारा नानाप्रकारके कष्ट सहते हैं परन्तु अपनी टेकको कभी नहीं छोड़ते।

साधु महम्मद सैयद भी ऐसे ही सन्त थे। आप पहले यहूदी थे, ईरानमें रहते थे, पीछेसे इस्लामधर्म ग्रहण करके हिन्दुस्थान चले आये थे। सैयद सच्चे ईश्वरभक्त और त्यागी विरक्त सन्त थे। कुछ भी संग्रह नहीं रखते, यहांतक कि पहननेके लिये उनके एक लंगोटी भी नहीं थी, वे सदा नंगे रहा करते। सम्राट् शाहजहां इन्हें बहुत मानते थे। दारा तो इनके खास भक्तोंमेंसे एक था। सैयदसाहेब किसी भी धर्मसे घृणा नहीं करते और सभीमें अपने प्रियतमकी मनोहर छबि देखकर मुग्ध रहते। वे प्रायः एक गीत गाया करते जिसका भावार्थ इसप्रकार है-

"मैं कुरकनका शिष्य हूं जो सच्चे उपदेशक और साधु थे। मैं यहूदियोंका रब्बी हूं, मूर्ति-पूजक भी हूं और मुसलमान भी हूं, काबाकी मस्जिदमें और हिन्दुओंके मन्दिरमें लोग इसी (एक परमात्मा) के पत्थर और इसीके काठको रखते हैं। एक जगह यही प्रभु काले पत्थरका रूप धारण करते हैं जिनकी काबामें पूजा होती है और दूसरी जगह यही हिन्दुओंकी मूर्तिका रूप धारण करते हैं।"

सर्वत्र परमात्मदृष्टिका क्या ही सुन्दर भाव है। सैयदसाहेबके इन भावोंसे औरङ्गजेबको बड़ी नफरत थी, इससे जब वह बादशाह बना तब उसने महम्मद सैयदको पकड़वा मंगाया और विचार करनेके लिये उन्हें मुल्लाओंके हाथमें सौंप दिया। विकृत धर्मान्ध मुल्लाओंने न्यायके पवित्र नामपर उस सच्चे साधुको काफिर बताकर शूलीकी आज्ञा दी, यों धर्मरक्षा और इन्साफके बहाने धर्मका खून किया गया!

परन्तु सैयदसाहेब दूसरी ही धुनमें मस्त थे, शूलीका आदेश सुनकर वे आनन्दसे उछल पड़े। शूलीके काठपर चढ़ते समय वे यह विचारकर आनन्दमग्न हो गये "अहा! आजका दिन मेरे लिये बड़े सौभाग्यका है, जो शरीर आत्माके साथ प्रियतम परमात्माके मिलनेमें बाधक था, आज इस शूलीकी कृपासे वह छूट जायगा।" वे अन्त समय प्रेममें विभोर होकर गा उठे—

"मेरे प्यारे दोस्त! आज तू शूलीके रूपमें आया! किसी भी रूपमें क्यों न आवे, मैं तुझे पहचानता हूं।"

धन्य ईश्वरभक्ति! धन्य ईश्वरदर्शन! गीताके इस मन्त्रका मर्म सैयदसाहेबने ही ठीक समझा—

'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्'

विश्व-सौन्दर्य

(लेखक–श्रीनलिनीकान्त गुप्त)

मनुष्योंमें अन्य विषयोंमें परस्पर कितना भी मतभेद क्यों न रहे परन्तु एक विषय-में सभी एकमत हैं। सभी सौन्दर्यके अभिलाषी हैं। मनुष्यके भाव, भाषा, काव्य, कला और शिल्प आदि सभीमें अन्तःसलिला फल्गुकी भांति एकही चेष्टाका प्रवाह बहता है–'सुन्दरमें जाना और सुन्दरको पाना' मनुष्यका पुष्पोंके हार या अलङ्कार पहनना भी इसी आन्तरिक चेष्टाका एक बाहरी प्रकाश है। चित्रलेखन भी उसी सुन्दरको वर्ण और रेखाओंमें पकड़ रखनेका प्रयास है। काव्य-रचना भी उसी सुन्दरको शब्दगम्य और छन्दगम्य करनेका उद्योग है। सारांश यह कि उस सुन्दरको पानेकी, उसे पकड़नेकी और देखने-की यह चेष्टा मनुष्यके अन्दर–ज्ञानसे हो या अज्ञानसे–निरन्तर बनी रहती है। परन्तु अज्ञानसे या संस्कारके वश होकर मनुष्यने उस सुन्दरकी कुछ मनमानी संज्ञा निश्चय कर रक्खी है जो उस सत्य चिरसुन्दरकी प्राप्तिके पथमें एक दुर्भेद्य प्राचीरकी भांति स्थित होकर पद पदपर बाधा दे रही है।

उस चिरसुन्दरको प्राप्त करनेके पहले मनुष्य-को यह समझना होगा कि उसकी यथार्थ संज्ञा क्या है? फिर उसे कसौटीपर कसकर यह देखना होगा कि वह यथार्थ वस्तु है या केवल मनोकल्पित मानदण्डमात्र है।

संज्ञा जो कुछ भी हो पर वह मानदण्डके सिवा और कुछ भी नहीं है। कारण भिन्न भिन्न देशोंके मानदण्डके अनुसार भिन्न भिन्न देशों, जातियों, यहांतक कि भिन्न भिन्न मनुष्योंमें भी संज्ञाका भेद देखनेमें आता है। संज्ञाके नामका चाहे पता न लगे परन्तु फलके भेदसे उसके भेदका पता अवश्य लग जाता है। हम जिस रमणीको सुन्दरी कहते हैं, एक चीनीके लिये वही रूपरहित है, इसी प्रकार एक चीनी मनुष्य जिसे सुन्दरी ललना समझता है, हमारी दृष्टिमें वह कुरूपा है। यह भेद संज्ञाके ही भेदको डंकेकी चोट बतला रहा है। इसतरह जो संज्ञा देशभेदसे भिन्न भिन्न है, उसको मनोकल्पित, स्वभावकल्पित—या किसी भी प्रकारसे कल्पित—मानदण्डके सिवा और क्या कहा जा सकता है। जो संज्ञा देशभेदसे विभिन्न-प्रकारकी है उस संज्ञाको संज्ञा कहना ही मूर्खता है।

भिन्न भिन्न जातियोंमें या मनुष्योंमें सौन्दर्यकी अनुभूतिके जो पृथक् पृथक् संस्कार हैं, उसमें दो कारण हैं। प्रथम–मनुष्यपर उसके पारिपार्श्विकका (Environments) प्रभाव (यह पारिपार्श्विकका प्रभाव ही मनुष्यके यावन्मात्र संस्कार-गठनमें सहायक होता है) और द्वितीय, अधिकांश स्त्री पुरुषोंका शिशुकी भांति केवल रूपसौन्दर्यको ही देखना। भावसौन्दर्यको देखनेके लिये जितना अन्दर प्रवेश करनेकी आवश्यकता है, उतना तो अपने जीवनमें वे कर नहीं पाते। जो वस्तु आंखोंको चमका देती है, चमकीली दीखती है, उनके लिये वही सुन्दर है, छोटे बालकके सामने मामूली कीमतकी लाल रंगकी एक पोशाक रखिये और दूसरी बहुमूल्य काले रंगके कपड़ेकी रखिये, वह लाल रंगकी पोशाक ही पसन्द करेगा। किसकी कितनी कीमत है

इस बातका विचार करनेकी शक्ति उसमें नहीं है। लाल लाल पोशाक जो आंखोंको चमकीली लगती है वही उसके लिये प्रिय है। हम लोगोंको भी साधारणतः इसी तरह सौन्दर्यकी अनुभूति हुआ करती है।

एक मयूरके चित्रविचित्र पुच्छको देखकर हम उसे सुन्दर बतलाते हैं और काकको देखते ही उसे कुरूप कहने लगते हैं। यहां हम मयूरके मयूरत्व और काकके काकत्वको नहीं देखते, हम देखते हैं केवल मयूरके पुच्छको और काकके पक्षोंको तथा अपने संस्कारवश कह देते हैं कि मोर सुन्दर है, कौआ कुरूप है। मयूरके मयूरत्वमें एक सौन्दर्य है और काकके काकत्वमें भी एक सौन्दर्य है। जब हम अपने अन्तरसे उस स्थानको स्पर्श करेंगे जहां मयूरका मयूरत्व और काकका काकत्व रहता है, तभी हमें उनके सौन्दर्यका यथार्थ अनुभव होगा। तब हम देखेंगे कि दोनों ही सुन्दर हैं और तभी हम यह समझेंगे कि जैसे मोरकी सुन्दरता कौएमें नहीं है वैसे ही कौएकी सुन्दरता भी मोरमें नहीं है। जहांतक मोर और कौएके शरीरसे हमारी आंखोंका संयोग है वहींतक अनृतका खेल है। जब हमारे अन्तरात्माके साथ मोर या कौएके अन्तरात्माका संयोग हो जायगा तब उसी क्षणमें हम उस चिरसुन्दर-नित्यसुन्दर-को पकड़ पायेंगे। क्योंकि सब कुछ उस एक चिरसुन्दरका ही प्रकाश है।

जब हम रूपराज्यको लांघकर भावराज्यमें प्रवेश करनेके अधिकारी होते हैं, केवल उसी समय हमारी दृष्टिमें भावसौन्दर्यका विकास होता है। परन्तु इस भावसौन्दर्यको देखनेका सामर्थ्य मिलनेपर भी उसी समय हमें उस चिरसुन्दरको पकड़नेका अधिकार नहीं मिल जाता। क्योंकि भावराज्यमें भी मनुष्य अपने चारों ओर सीमा बांध बैठता है। इसीलिये जब वह कविकी इस उक्तिको सुनता है कि-God of Love and god of Wrath are one, प्रेमका ईश्वर और संहारका ईश्वर एक ही है, तब गोलमाल मच जाती है। उसके पूर्वकर्मोंने और उसके स्वभाव संस्कारोंने उसे एक ऐसी मानसिक सत्तामें लाकर डाल दिया है जिसमें वह (God of Wrath) संहाररूप ईश्वरको समझ ही नहीं सकता, समझता भी है तो उस ईश्वरकी वह अनृतमय अमंगलमय और असुन्दर समझता है। इसका कारण यह है कि हम केवल प्रेममय ईश्वरको ही जानते हैं, रुद्ररूपी ईश्वरको नहीं जानते-कमसे कम उस ईश्वरको हम सुन्दर और मंगलमय तो नहीं देखते। हम यदि इसके आन्तरिक विषयको समझ लें तो हमारी सौन्दर्यानुभूतिकी सीमाका भी असली कारण प्रकट हो जाय।

मनुष्यका एक प्रधान धर्म उसका अहंकार है। प्रत्येक मनुष्य अपने आपको केन्द्र बनाकर उस केन्द्रकी ही परिपुष्टि, उन्नति और सुख स्वच्छन्दताकी खोजमें रहता है। उस केन्द्रकी सुख समृद्धिके लिये जो कुछ उसे अनुकूल मालूम होता है, वह उसीको ग्रहण करता है और जो प्रतिकूल होता है, उसे वह अशुभ समझकर छोड़ देता है। इसमें दोषकी बात नहीं है। इस व्यक्तिगत केन्द्रज्ञानमें ही मनुष्यकी उन्नति है। इन सब केन्द्रोंसे जिस शक्तिका खेल हो रहा है उस शक्तिके साथ किसी दूसरी शक्तिका संघर्ष होते ही हम उस दूसरी शक्तिको अमंगलमय समझ लेते हैं। इसीसे हम (god of love) प्रेमरूप ईश्वरको जानते हैं-क्योंकि हमने यह समझ रक्खा है कि यह प्रेममय ईश्वर हमें प्रणयीकी तरह हाथ पकड़कर एक मार्गसे दूसरे मार्गमें ले जा रहा है, अन्धकारसे प्रकाशमें ले जा रहा है। इसीसे हम उससे प्रेम करते हैं। परन्तु God of Wrath संहारमूर्ति ईश्वर जो किसी भी क्षणमें हमारा सर्वस्व नाश कर सकता है,-हमारी शिल्पकला, हमारेद्वारा बनाये हुए नगर-नगरी, हमारे द्वारा आविष्कृत कला कौशल क्षणमात्रमें ध्वंस कर

सकते हैं, उस ईश्वरको हम मंगलमय मानकर वरण नहीं कर सकते और न हम उससे प्रेम कर सकते हैं। इसका कारण मनुष्यका वह केन्द्रगत ससीमज्ञान,–उसका वह सनातन अहङ्कार है। इसीसे वह जो कुछ ठीक समझता है, जिसको मङ्गल समझता है उसके लिये वही मानों ठीक और मङ्गल है।

मनुष्यके इस आत्मरक्षाके Instinct से, आत्मपुष्टिकी इस चेष्टासे हमारी सौन्दर्यानुभूतिका क्या सम्बन्ध है? यह आत्मरक्षा, आत्मपुष्टि और आत्मतुष्टिकी वासना हमारी सौन्दर्यानुभूतिको कैसे नियन्त्रित करती है, इसी बातको उदाहरणोंसे समझनेकी चेष्टा करते हैं।

पथिक दुपहरके प्रचण्ड सूर्यतापमें चल रहा है। बहुत दूरका मार्ग है, मार्गमें कहीं एक भी वृक्ष नहीं है। पसीनेमें तर हुए पथिकको मार्ग चल चुकनेपर एक विशाल पीपलका वृक्ष दिखायी पड़ा, वृक्ष पत्र पुष्पोंसे शोभित है और ठण्ढी छाया विस्तार कर रहा है। थका हुआ पथिक वृक्षकी सुशीतल छायामें बैठ गया। उसके मुखसे स्वयमेव ही यह शब्द निकल पड़े–'वाह क्या सुन्दर है!' सुन्दर क्या है? यह पीपलका वृक्ष–जो पत्रपुष्पसे शोभित और मनोरम शीतल छायासे युक्त है। परन्तु इसी पीपलके पास जो पत्र-पुष्परहित सीमलके वृक्ष खड़े हैं, वे कैसे हैं? वे कुरूप हैं! उनमें सुन्दरता कैसी? कंकाल सदृश, पत्र पुष्पहीन,—छायारहित खड़े हैं। मैं थकाहारा पसीनेसे भींगा हुआ पथिक, सूर्यके तापसे आंखें जल रही हैं, सर फटनेकी तैयारी है मुझको अपनी शीतल छायामें स्थान देनेकी शक्ति उन सीमलके वृक्षोंमें कहां है? यह है पथिकके मनकी बात। इसीलिये वे वृक्ष कुरूप हैं। परन्तु वास्तवमें क्या पत्र-पुष्पहीन वृक्षोंमें सौन्दर्य नहीं है? है! पर, वह सौन्दर्य पत्र-पुष्पयुक्त वृक्षका नहीं परन्तु वह पत्र-पुष्पहीन वृक्षका सौन्दर्य है। इस सौन्दर्यको वही स्त्री या पुरुष देख सकता है जिसकी अपनी केन्द्रगत सुखसुविधा और अपनी वासनाकी चरितार्थता अपने सौन्दर्यानुभवके यन्त्रपर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकती और जिसकी सौन्दर्यानुभूति पत्र-पुष्पयुक्त वृक्षके सौन्दर्यमें ही सीमाबद्ध नहीं है।

आनन्द केवल हास्यरसमें ही है, रौद्ररसमें नहीं है, या केवल करुणरस ही उपभोग्य है-वीररस नहीं है इसप्रकार कहनेवाला जैसे केवल अपने निजके संस्कारगत और स्वभावगत एक सत्यका कथन करता है यही बात पत्रयुक्त या पत्रहीन वृक्षके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये।

नव रस हैं, और नव रसोंमें ही आनन्द है। नवों रसोंका मूल आनन्द एक होनेपर भी उस आनन्दकी अनुभूति भिन्न भिन्न मानसिक अवस्थाओंके अनुसार होती है, कारण नौ रस पृथक् पृथक् हैं। जो स्त्री या पुरुष अपने केन्द्रगत संस्कारोंसे ऊपर चला गया है, उसीकी मानसिक सत्ता ससीमसे असीम हो सकती है और केवल वही भगवान्‌के इस रंगमञ्चपर नव पृथक् पृथक् रसोंका आनन्द लेनेमें समर्थ हो सकता है। सौन्दर्यके सम्बन्धमें भी यही बात है।

मेघमें सौन्दर्य है। इस बातको शायद कोई अस्वीकार नहीं करेगा, कविने यह सौन्दर्य देखा था इसीसे वह 'मेघदूत' लिखनेमें समर्थ हो सका। आषाढ़में पहले दिन जब मेघसे आकाश छा जाता है। सन्ध्या होते ही दलकी दल घोर घनघटाएं दसों दिशाओंमें फैल जाती हैं, उस समय सुन्दर महलमें रहनेवाले नवविवाहित युवकके लिये उस सौन्दर्यका अनुभव करना शायद सहज हीमें संभव हो सकता है, परन्तु जिस दरिद्रकी झोंपड़ीमें सैकड़ों छेद हैं, जो शीघ्र वर्षा और आंधीके भयसे कातर है-उसको इस सौन्दर्यानुभूतिका होना तो दूरकी बात है परन्तु भगवान्‌के निष्ठुर व्यवहारकी ओर ही उसका मन अधिक जायगा।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

वर्ष ३	# कल्याण	संख्या ४

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और धर्मसम्बन्धी सचित्र मासिकपत्र

वार्षिक मूल्य ४)	कार्तिक कृष्ण ११ संवत् १९८५	प्रति संख्या ।=)

समुद्रमें भी सौन्दर्य है। भयानक तूफानसे उमड़कर उछलते हुए समुद्रमें भी एक सौन्दर्य है। वह शान्त समुद्रका सौन्दर्य नहीं है,-वह है रुद्रमूर्तिका सौन्दर्य। परन्तु जो नाविक क्षुब्ध-सागरकी उछलती हुई तरंगोंमें अपनी क्षुद्र नावको लेकर डूबनेकी तैयारीमें है वह, उस सौन्दर्यको कैसे देख सकेगा? इस संसार पारावारमें भी ठीक यही बात है।

यह स्वभावनियन्त्रित सीमाबद्ध मानसिक सत्ता-यह अज्ञानपूर्ण केन्द्रज्ञान ही प्रधान बाधा है। इस ब्रह्माण्डका वास्तविक केन्द्र भगवान् है। जब यथार्थ ज्ञानालोकसे यह क्षुद्रतर केन्द्रज्ञान नष्ट होकर जीवनमें उस सत्यतम, बृहत्तम केन्द्रकी (भगवान्की) प्रतिष्ठा होती है, तभी तीसरा नेत्र खुलता है और तभी यह विश्वसौन्दर्य अपने असली रूपमें हमारे सामने प्रकट होता है। तब हमें सभी सुन्दर दिखायी पड़ते हैं। शिशुका शिशुत्व सुन्दर-वृद्धका वृद्धत्व सुन्दर, सागर सुन्दर-मरुभूमि सुन्दर,—श्याम दूर्वादलसे आच्छादित विस्तृत भूमि सुन्दर और तृण गुल्मरहित ऊसर खेत सुन्दर, वसन्तका मृदुमन्द समीरण सुन्दर और वैसाखका भयानक प्रभञ्जन सुन्दर, शरत्की कौमुदी सुन्दर और वर्षाकी घन-घोर घटासमाच्छन्न अमावस्याकी रात्रि भी सुन्दर! तभी यह समझमें आता है कि कृष्ण भी सुन्दर है और काली भी सुन्दर है। बस, तभी दिखायी देता है-एक नित्य सत्य—नित्य मङ्गल और नित्य सुन्दर! (अनूदित)

पथिक !

(लेखक-श्रीचन्द्रमाप्रकाशजी)

पथिक! कल तो तुम सुन्दरता, स्वच्छता, स्वाभाविकता और सादगीकी प्रतिमूर्तिसे प्रतीत होते थे। तुम्हारे दर्शनमात्रसे ही यह ज्ञात होता था कि तुममें ईश्वर-महिमा-स्मरणका भाव जाग्रत है। एकाग्रता तुम्हारे सामने हाथ जोड़े खड़ी थी। तुम्हारे शब्द स्वर्गीय थे, नहीं! नहीं!! तुम्हीं स्वर्गीय थे।

हा! आज कैसा भारी परिवर्तन हो गया? तुम सांसारिक प्रलोभनोंके शिकार हो गये हो। विलासिता तुम्हारी उपास्य देवी बन बैठी है। कृत्रिमता तुम्हारी प्रियतमा सी प्रतीत होती है। बतलाओ तो सही, परिवर्तन क्यों हुआ? सचमुच तुम इस मायावी प्रवाहमें बह गये। तुमने पूर्वकी स्वाभाविकता और सादगी पर कुछ ध्यान नहीं दिया। मनको विषयोंकी सेवामें लगनेको बाध्य किया और फलस्वरूप विश्वासघात पाया!

अब तो तुम चिन्तितसे दीखते हो। यदि वस्तुतः चिन्तित हो तो आओ, अब भी सुधार सम्भव है। प्रभु पतितातिपतित पर दया करते हैं। केवल तुम प्रलोभनोंकी उपेक्षा करते हुए योगेश्वर कृष्णकी शरण होकर उनकी आज्ञाका अनुसरण करो। सुनो! भगवान् क्या कहते हैं?—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥

(गीता अ० ८ श्लोक ८)

अक्ल बड़ी या भैंस?

(लेखक-स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

दो०- शंकर शंकर व्यास हरि चरण कमल शिर नाय।
गीता अर्थ प्रकाश हित लिखूं प्रबन्ध बनाय॥

सुदामापुरीकी भजनमंडली

पाठक ! कोई दो वर्ष हुए एक मुमुक्षु भारतवर्षकी यात्रा करता हुआ सुदामापुरी पहुंचा । जहाजसे उतरते ही वह पूछता पूछता सुदामा-मंदिरमें गया और सुदामाजीकी झांकी की । पश्चात् मंदिरकी सैर करने लगा । एक कमरेमें बीस पच्चीस बहनें देखनेमें आयीं । कोई धीरे धीरे गीताजीका पाठ कर रही थीं तो कोई विष्णुसहस्रनामका । कोई जाप कर रही थीं, कोई चुप चाप बैठी हुई ध्यान कर रही हो, ऐसा मालूम होता था । उस कमरेसे कोई सौ सवासौ गज दूरीपर एक दालानमें लगभग चालीस पचासके अनुमान भाई इसी प्रकार भजन करते हुए देखनेमें आये । दश बजेके अनुमान एक पण्डितजी मन्दिरमें आये और एक आसन-पर, जो पहले से ही बिछा हुआ था, बैठ गये । सब भाई बहन वहां आगये । एक तरफ बहनें और एक तरफ भाई, पण्डितजीको दूरसे ही हाथ जोड़कर बैठ गये ! एक भजन गाया गया, गीताका पाठ हुआ फिर पण्डितजीने सरल गुजराती भाषामें एक श्लोकका विवेचन विस्तार-सहित समझाया, गूढ़ अर्थका प्रकाश किया, बीच बीचमें श्रोताओंकी शंकाओंका समाधान भी किया । अन्तमें एक भजन गाया गया और मण्डलीका विसर्जन हुआ । सब लोग दूरसे ही पण्डितजीको नमस्कार करते हुए अपने अपने घरोंको चले गये !

सबके चले जानेके बाद मुमुक्षुने पण्डितजीसे कहा, 'पण्डितजी ! आपकी भजनमण्डली कितने दिनोंसे है और इसके नियम क्या हैं ? क्या कभी कोई विघ्न भी पड़ा था ?" पंडितजी बोले, 'भाई ! मण्डलीको स्थापित हुए तीस वर्ष हो गये । बीच बीचमें बहुतसे विघ्न आये, अच्छे कार्यमें विघ्न आते ही हैं ! विघ्नोंका नाम ही संसार है ! विघ्न न हों तो कोई कर्तव्य ही शेष न रहे ! फिर तो सब कल्याणस्वरूप मुक्त ही हैं ! विघ्नोंका सामना करना और विचलित न होना ही धीर पुरुषका कर्तव्य है ! 'हारिये न हिम्मत बिसारिये न राम' यही बड़ोंका कथन है । करने धरनेवाला ईश्वर है, मनुष्य तो निमित्तमात्र है ! अर्जुनको विराट्स्वरूप दिखाकर भगवान्ने यही बात सिद्ध की है ! मनुष्यका अधिकार होता तो युधिष्ठिर आदि पाण्डव बारह वर्षतक डांवाडोल और एक वर्ष छिपे हुए दूसरेके परतन्त्र होकर न रहते ! 'कर्म अधीन विश्व करि राखा !' सब सुनते चले आते हैं ! ईश्वरका भजन सार है ! स्वयं करना और दूसरोंको यही सिखाना मनुष्यका कर्तव्य है ! अपने अधिकारसे चूकना न चाहिये, हानि लाभ ईश्वरके अधीन है ! हालमें कोई झगड़ा नहीं है, सब कार्य ठीक ठीक चल रहे हैं !" यह कह कर पंडितजीने एक परचा मुमुक्षुको दिया, जिसमें मण्डलीके नियम छपे हुए थे । इनमें मुख्य नियम यह था:-स्त्रियोंको सिखानेवाली स्त्रियां ही रक्खी जायंगी किसी स्त्रीको कुछ पूछना हो तो अपनी शिक्षिकासे अथवा शिक्षिकाद्वारा पूछे, शिक्षिकाएं वृद्धा और शिक्षिता सदाचारिणी रक्खी जायंगी । स्त्री पुरुषोंके कमरे अलग अलग रहेंगे, किसीको एक दूसरेके कमरेमें जानेकी आज्ञा नहीं होगी ।' पूछनेसे मालूम हुआ कि यह पण्डितजी मण्डलीके अध्यक्ष हैं । यह कभी किसी स्त्रीका स्पर्श नहीं करते, यहांतक कि किसीसे भूलकर कभी पैरतक भी नहीं छुवाते और यही शिक्षा दिया करते हैं कि पतिके सिवा परपुरुषका स्पर्श करना, स्पर्श

करनेवाली और स्पर्श करानेवालेके लिये महापाप है। पण्डितजीका प्रबन्ध और उपकार देखकर मुमुक्षु का चित्त बहुत प्रसन्न हुआ, तदनन्तर उसने एकसे कहा 'भाई ! क्या यहां कोई प्रसिद्ध महात्मा भी हैं ।' उसने कहा 'अजी ! महात्माओंका क्या टोटा ! आप कैसा महात्मा चाहते हैं ? यात्रियोंको लूटनेवाले तो बहुत महात्मा हैं ! जहाजमेंसे उतरने भी नहीं देते, पहलेहीसे आ मौजूद होते हैं और जैसे बने वैसे यात्रीसे पाई पाई छीन लेते हैं ! यहां तो सब ऐसे ही महात्मा हैं ! हां ! एक महात्मा और हैं, जो किसीसे कुछ गरज नहीं रखते ! बन्दरके ऊपर बटके वृक्षके नीचे पड़े रहते हैं, मौज आयी तो किसीसे बोल लेते हैं, नहीं तो सबको उलटी सीधी सुनाकर भगा देते हैं ! इसलिये लोगोंने उनका नाम 'बावलेबाबा' रख छोड़ा है ।

बावले बाबा

मुमुक्षुने बन्दरपर जाकर वटके वृक्षके नीचे बैठे हुए 'बावले बाबा' को देखा, वाहजी 'बावले बाबा' ! नङ्ग धड़ंगे बैठे हुए थे ! लड़के आजायं तो लड़कोंकीसी बातें करने लगें, बूढ़ोंसे बूढ़ोंकीसी कहने लगें, जवान आजायं तो जवानोंकासा राग गाने लगें, ज्ञानियोंको वेदान्त सुनावें, भक्तोंको भक्तिरसका पान करावें ! गीता, उपनिषद् इतिहास, पुराण आदि जो चाहो सुन लो ! मौज आवे जबतक सुनावें फिर फटकार दें ! किसी किसीको तो दूरसे ही आंख दिखा देते थे, पासतक फटकने ही नहीं देते थे ! मुमुक्षुको देखते ही उसे पास बैठा लिया और ऐसी ऐसी बातें सुनायीं, जो उसने स्वप्नमें भी कहीं नहीं सुनी थीं । इतनेमें दो लड़के बाबाजीके पास आये और प्रणाम करके बैठ गये । उन दोनोंमेंसे एक अध्यक्षजीका पुत्र और दूसरा भतीजा था, दोनोंकी उम्र बारह वर्षकी थी । लड़कों और बाबाजीमें परस्पर इसप्रकार बातें हुई :—

योग श्रेष्ठ है या सांख्य ?

एक लड़का:—बाबाजी ! योग श्रेष्ठ है या सांख्य ?

बाबाजी:—बच्चा सूर्यशंकर ! क्या अध्यक्षजीसे नहीं पूछा ? पूछा तो होगा ! क्या उन्होंने कुछ नहीं बताया ?

सूर्यशंकर:—महाराज ! पूछा तो था ! उन्होंने बताया भी था ! आपके बतानेमें कुछ और ही रस आता है, इसीलिये आपसे पूछता हूं ।

बाबाजी:—अच्छा ! तुम दोनों पहले मेरी एक पहेली बताओ, पीछे मैं तुम्हारे प्रश्नका उत्तर दूंगा। दोहा—
टांगें शाखा चोंच फल पंख जानिये पात । पीछे 'आ' है "सू" प्रथम कहिये क्या है तात ॥

दोनों बड़ी देरतक विचारते रहे, पीछे दोनों बोलनेको थे । इतनेमें बाबाजी बोल उठे, भाई ! एक एक बोलो ! अच्छा ! सूर्य ! पहिले तू बता !

सूर्य:—महाराज ! तोता है ।

बाबाजी:—बच्चा चन्द्रशंकर ! तू इसका कारण बता, कैसे जाना तोता है !

चन्द्र:—महाराज ! अध्यापकजी ऐसे प्रश्न किया करते हैं ! उन्होंने हमसे कह रक्खा है कि प्रश्नमें ही उत्तर मौजूद रहता है, विचारके साथ एकाग्र होकर प्रश्नको ऊपर नीचे सब तरफसे देखा करो, आसपासका प्रसङ्ग मिलाया करो, प्रश्नसे ही उत्तर निकल आवेगा ! पंख और चोंच कहनेसे मैं समझ गया कि कोई पक्षी है, वटके पत्ते और फल देखकर मेरी समझमें आया कि हो न हो तोता होगा ! शाखा और टांगोंका मिलान करनेसे निश्चय होगया । फिर 'सू' को आगे और 'आ' को पीछे करनेसे तो दृढ़ निश्चय होगया कि 'तोता' ही है !

आँख बड़ी या रोशनी ?

बाबाजी:—बचा ! तेरी बुद्धि बड़ी तीव्र है ! सूर्य ! अब तू बता, आंख बड़ी या रोशनी ? अक्ल बड़ी या भैंस ?

सूर्य:-महाराज ! आंख और रोशनी देखनेमें सहायक हैं, दोनोंकी सादृश्यता है । इसलिये आपका प्रश्न बनता है । परन्तु अक्ल और भैंसमें कुछ भी समानता नहीं है इसलिये दूसरा प्रश्न नहीं बनता ।

बाबाजी:—भाई ! कहनेवालेने कुछ सादृश्यता समझकर ही कहा होगा ! तू तो गीता और गीताका माहात्म्य रोज पढ़ता है, वाच्यार्थ न लगता हो तो लक्षणा लगानी चाहिये ।

सूर्य:—महाराज ! समझ गया, सब उपनिषदोंको

गाय कहा है । गायकी और शास्त्रकी सादृश्यता है, गाय दूध देती है, शास्त्रसे भी अमृतरूप दूध निकलता है, गायकी बहन ही भैंस है। तब तो आपके दोनों प्रश्न एक ही हैं । स्थूल और सूक्ष्मका ही भेद है । स्थूल आंख और सूक्ष्म अक्ल एक हैं, रोशनी और शास्त्र दोनों एक हैं, पदार्थके देखनेमें आंख और रोशनीकी आवश्यकता है और सूक्ष्म अर्थके विचारनेमें अक्ल और शास्त्र चाहिये, एक बिना दूसरेसे कार्य नहीं चल सकता । फिर भी आंखके सुधारनेमें किसी प्रकार हमारी स्वतन्त्रता है, रोशनीको हम घटा बढ़ा नहीं सकते । इसी प्रकार बुद्धिके सुधारनेमें भी हमारी कुछ स्वतन्त्रता है और बुद्धि सुधरनेसे शास्त्रका विचार हो सकता है इसलिये बुद्धिकी श्रेष्ठता है । आंख और बुद्धि हमेशा प्रत्येक जीवके साथ रहती हैं और इन्हींसे जीव सब कार्य करता है । इसलिये रोशनी और शास्त्र मुख्य होते हुए भी आंख और बुद्धि ही रोशनी और शास्त्रकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं । चन्द्र ! बाबाजीको किसी बुद्धिशाली पुरुषका रोचक इतिहास सुना !

चन्द्रः-बाबाजी ! विजयानगर (मदरास) का राजा कृष्णदेव बहुत ही चतुर और शूरवीर था । अप्पाजी उसका मन्त्री था । जैसे अकबरके दरबारमें बीरबर प्रसिद्ध हुआ है इसी प्रकार अप्पाजी भी बुद्धिशाली और सर्वगुणसम्पन्न था । उसने राजाको कई बार मृत्युसे बचाया था । उसकी चतुराईके कारण कृष्णदेवने मैंसूरा, तंजोर, तृचनापल्ली आदि बहुतसे सूबोंको अपने राज्यमें मिला लिया था । अप्पाजीकी ख्याति दिल्लीके बादशाहतक पहुंच गयी थी। एक बार बादशाहने धातुकी तीन मूर्तियां कृष्णदेवके पास भेजीं और पूछा कि 'इनमेंसे कौनसी उत्तम हैं ?' तीनों मूर्तियां एक माप, एक तोल और एक सूरतकी एकसी थीं उनमें अच्छी बुरी पहचानना बहुत कठिन था । राजा पहचान न सका, सब दरबारियोंको दिखलायी गयीं, पर किसीकी अक्लने भी काम नहीं दिया । अन्तमें राजाने अप्पाजीको मूर्तियां दिखलायीं और उससे अच्छी बुरी पहचाननेको कहा । अप्पाजी उन मूर्तियोंको लेकर एकान्त कोठरीमें चला गया और एकाग्रचित्त होकर उनको देखने लगा । थोड़ी देरमें उसे मालूम हुआ कि तीनों मूर्तियोंके कानोंमें छिद्र हैं । उसने एक पतलासा तार लेकर उनके कानोंमें डाला तो एक मूर्तिके दूसरे कानसे तार निकल गया, दूसरीके मुखमेंसे निकल गया परन्तु जब तीसरीके कानमें तार डाला तो वह पेटमें चला गया, फिर बाहर न निकला । अप्पाजीने आकर राजाको उनका भेद बतला दिया और जिसके पेटसे तार बाहर नहीं निकला था, उसको उत्तम बतलाया । जब राजाने उसका कारण पूछा तो उसने कहा 'महाराज ! पहली मूर्ति जिसके एक कानसे दूसरे कानमें होकर तार निकल गया, वह उस मूर्ख प्राणी-के समान है, जो इस कानसे सुनता है और उस कानसे निकाल देता है । दूसरी मूर्ति, जिसके मुखमें होकर तार निकल गया, वह बातूनी पुरुष है, जो कुछ सुनता है, प्रकट कर देता है । तीसरी मूर्ति उस गम्भीर पुरुषके समान है, जो सुनता है और पेटमें रख लेता है । इस लिये वह तीसरी ही सबसे श्रेष्ठ है !' राजाने यही बात बादशाहको लिख भेजी और बादशाहने युक्तियुक्त उत्तर सुनकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और कृष्णदेव तथा अप्पाजी-का बहुत उपकार माना ।

बाबाजीः-वाह भाई चन्द्र ! अच्छी कहानी सुनायी ! सच है, जो बातको ध्यान देकर नहीं सुनता, वह किसी कामका आदमी नहीं है ! जो बातूनी होता है, वह भी अच्छा नहीं, बकनेवालेसे कुछ नहीं होता ! गम्भीर पुरुष ही अच्छा है गंभीर होनेसे ही गणेशजी सबसे प्रथम पूजे जाते हैं और इसीलिये उनका नाम लम्बोदर है ! गम्भीरके पेटकी कोई थाह नहीं पा सकता ! पुरुषको गम्भीर बनना चाहिये ! सूर्य ! तू भी कोई ऐसा ही चुटकुला सुना ! तब-तक मैं तेरे प्रश्नका उत्तर सोच लूंगा !

सूर्यः-महाराज ! दिल्लीका बादशाह कृष्णदेवको जीतना चाहता था परन्तु अप्पाजीकी चतुरायीके कारण उसकी दाल नहीं गलती थी। एक दिन बादशाहने अप्पा-जीको अपने दरबारमें बुलाया ! इससे राजा कृष्णदेव बहुत घबराया । अप्पाजीने कहा 'राजाजी ! जबतक मेरी बुद्धि सावधान है, बादशाह मेरा कुछ नहीं कर सकता, आप मुझे बेखटके भेज दीजिये !' राजाने अप्पाजीको दिल्ली भेज दिया । अप्पाजी दिल्ली पहुंचा और बादशाहके द्वारा एक योग्य स्थानपर ठहरा दिया गया । एक दिन नियत हुआ, दरबार विशेषरूपसे सजाया गया । अप्पाजीकी परीक्षा लेनेके लिये बादशाह और दरबारियोंने मिलकर एक षड्यन्त्र किया । बादशाह वजीरके कपड़े पहनकर

वज़ीरकी कुर्सीपर बैठ गया और वज़ीरको बादशाही पोशाक पहनाकर बादशाही तख्तपर बैठा दिया गया। अप्पाजी दरबारमें गया और वज़ीरकी कुर्सीके पास जाकर कहने लगा 'बादशाह सलामतकी जय हो!' कुर्सीपर बैठे हुए वज़ीर (बादशाह) ने कहा 'बादशाही तख्तके पास जाकर आदाब बजा लाइये।' अप्पाजी बोला 'महाराज! जहां सूर्य होता है, वहीं दिन होता है! जहां राम रहते हैं, वहीं अवध है! जहां महात्मा वास करते हैं, वहीं तीर्थ है! जहां नीति होती है, वहीं जय होता है! जहां बादशाह बैठे हुए हैं वहीं बादशाही तख्त है! मुझे तो यह कुर्सी ही तख्त दिखलायी दे रही है!" अप्पाजीकी इस चतुराईको देखकर बादशाह विस्मययुक्त हो कहने लगा "ऐ अशरफुल् उलमा! (हे पंडित-शिरोमणि!) आपने मुझे किसतरह पहचाना?" अप्पाजी बोला 'महाराज! कहीं गुदड़ियोंमें लाल छिपते होंगे? सात सन्दूकोंमेंसे भी कस्तूरीका सुगन्ध बाहर निकलकर फैल जाता है! आपके पुण्यने मुझे आपकी तरफ खैंच लिया! सुनिये, जब मैं दरबारके भीतर आया, तो देखा कि सबकी दृष्टि आपके ऊपर पड़ रही थी! यहांतक कि तख्त पर बैठे हुए नकली बादशाहकी आंख भी आपकी कुर्सीको देख रही थी! मैं समझ गया कि यहां अवश्य दालमें काला है! मुझे धोखा देनेकी युक्ति की गयी है। जहां सबकी नजर पड़ रही थी, वहींपर आकर मैंने जय-जयकार किया!" यह बात सुनकर बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने बहुतसा पारितोषिक देकर अप्पाजी-को विजयानगर लौटा दिया और फिर कृष्णदेवने किसी प्रकारकी छेड़छाड़ नहीं की।

बाबाजीः-(प्रसन्न होते हुए) ठीक है! जबतक बुद्धि सावधान रहती है तबतक किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं आसकती! बुद्धि सुखका साधन है, सत्शास्त्रके विचारसे बुद्धि सूक्ष्म और शुद्ध होती है। जैसे तूने रोशनी और शास्त्रसे आंख और बुद्धिको श्रेष्ठ बताया। इसी प्रकार सांख्यसे योग श्रेष्ठ है। सुन, इसी बातको विस्तारसे समझाता हूं। योग दो प्रकारका है, कर्मयोग और ज्ञानयोग, कर्मयोगका दूसरा नाम बुद्धियोग और ज्ञानयोगका दूसरा नाम सांख्य है। सांख्यको ही कर्म-संन्यास कहते हैं। कर्मयोगमें कर्मके फलका त्याग होता है और संन्यासमें काम्य कर्मोंका त्याग होता है। कर्मयोग सुगम होनेसे श्रेष्ठ है। कर्मयोगसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। शुद्धिबिना संन्यास होना कठिन है। शुद्ध अन्तःकरणवालेको शीघ्र ही कर्मसंन्यास—ज्ञानयोग—सांख्यकी प्राप्ति होती है, इसलिये भी कर्मयोग श्रेष्ठ है। भगवान्‌ने भी कर्मयोगको कर्मसंन्याससे श्रेष्ठ बताया है। कर्मयोगमें भीतरका त्याग है और कर्मसंन्यासमें बाहरका। भीतरका त्याग मुख्य होनेसे भी कर्मयोग श्रेष्ठ है।

एक वृद्ध पंडितजी कुछ देर पहले आगये थे, वह सब बातें सुन चुके थे, इसलिये वे कहने लगे।

पंडितजीः-महाराज! कर्मयोग श्रेष्ठ है यह तो ठीक है! परन्तु मेरा प्रश्न यह है कि कर्मयोग और कर्म-संन्यास किसका कर्तव्य है? और भाष्यकारका यह वचन कैसे युक्तियुक्त हो सकता है कि यहां अज्ञानीद्वारा किये हुए कर्मसंन्यास और कर्मयोगका तारतम्य जाननेका अर्जुनका अभिप्राय है। क्या भगवान्‌ने ज्ञानरहित संन्यास-को कहीं उत्तम और मोक्षप्रद बताया है? मेरी दृष्टिमें कोई ऐसा वाक्य नहीं आया! उल्टा ज्ञानरहित संन्यासको भगवान्‌ने तो दोषरूप ही बताया है!

बाबाजीः-भाई गीताराम! कृषि आदिसे लेकर मोक्षपर्यन्त जितना कर्तव्य है, सब अज्ञानीका है। ज्ञानीका कोई कर्तव्य नहीं है। जिसको किञ्चित् भी कर्तव्य है वह तत्त्वज्ञानी नहीं है। अज्ञानी तीन प्रकारके होते हैं पामर, विषयी और मुमुक्षु। कृषि आदि पामरका कर्तव्य है, शास्त्र-विहित सकाम कर्म विषयीका कर्तव्य है और कर्मयोग अथवा कर्मसंन्यास मुमुक्षुका कर्तव्य है। अज्ञानी कहनेसे भाष्यकारका अभिप्राय मुमुक्षुसे ही है, पामर अथवा विषयीसे नहीं है। जहां ज्ञानरहित संन्यासकी निन्दा की है वहां पामर, विषयी अथवा अनधिकारी मुमुक्षुकी निन्दा की है, अधिकारी मुमुक्षुकी नहीं। मुमुक्षु अज्ञानी होते हुए भी कर्मयोग अथवा कर्मसंन्यासका अधिकारी है। मुमुक्षुके सिवा अन्यका कर्मयोग अथवा कर्मसंन्यास-में अधिकार नहीं है। जब सब शास्त्र अज्ञानियोंके लिये हैं तो पृथक् करके लिखनेकी क्या आवश्यकता है? परमात्माके सिवा सब अज्ञानी हैं! रामायणमें शिवजीका

वचन हैः–'ज्ञान अखण्ड एक सीतावर। माया-वश्य जीव सचराचर।' जीवत्वके अभिमानवाला कितना ही विद्वान् क्यों न हो वह अज्ञानी ही है! अच्छा, अब मैं तुझे भाष्यकार और वृत्तिकार गुरु–शिष्यका संवाद सुनाता हूं जिससे कर्मयोग और कर्मसंन्यासका अर्थ और अर्जुनके प्रश्न करनेका अभिप्राय तेरी समझमें आजायगा।

(शेष आगे)

भजन वसन्त

सुन्दर ऋतु वसन्तकी आई, सर्सों फूली आंखोंमें।
श्याम वसन्ती छबि दिखलाई, सर्सों फूली आखोंमें ॥१॥

रात दिना दिन रात भयो है, उलटी गंगा बहन लगी।
अच्छी गीता कृष्ण पढ़ाई, सर्सों फूली आंखोंमें ॥२॥

राजाको कंगाल बताऊं, भिक्षुक मालामाल कहूं।
वाह गुरूजी भली सुझाई, सर्सों फूली आंखोंमें ॥३॥

बूंद बूंदमें सागर दीखत, जीव जीवको ईश कहूं।
पर्वतकी है दीखत राई, सर्सों फूली आंखोंमें ॥४॥

मरना जीना सम भाषत है, सोना मिट्टी पत्थर सम।
भेद भाव सब गया बिलाई, सर्सों फूली आंखोंमें ॥५॥

ब्राह्मण हाथी कूकर सूकर, सबमें देव अनन्त लखूं।
श्रुति माताने दिया जगाई, सर्सों फूली आंखोंमें ॥६॥

पीली कागज पीली स्याही, पीली लेखनि पद्य लिखा।
पींली भंग बसन्त पिलाई, सर्सों फूली आंखोंमें ॥७॥

भूला निजको भूला परको, आप आप ही शेष रहा।
भोला! भगवत भये सहाई, सर्सों फूली आंखोंमें ॥८॥

—भोलेबाबा

श्रीहरिः

श्रीहरिः

ग्राहक ध्यान दें !

ग्राहकोंको चाहिये कि अगर महीनेकी सुदी ५ तक 'कल्याण' नहीं पहुंचे तो वे अपने डाकखानेमें और 'कल्याण' कार्यालयमें शिकायत लिखकर तुरन्त भेज दें। हमारे पास शिकायत आते ही हम डाकखानेसे लिखा पढ़ी शुरू कर देते हैं। हमें ऐसा अनुभव है कि हाथोंहाथ शिकायत हो जानेसे आइन्दे गड़बड़ रुक जाती है। शिकायत न होनेपर एक बार जो गड़बड़ शुरू होती है वह महीनोंतक जारी रहती है, पत्र उड़ानेवाले समझ लेते हैं कि यहां पोलखाता है। कई महीनोंके गुम हुए पत्र दो एक जगह मिले हैं। इससे यह निवेदन है कि ग्राहक महाशय शिकायत करनेमें आलस न करें।

— व्यवस्थापक

पुरानी फाइलें जल्दी मंगाइये।

पहले और दूसरे वर्षकी फाइलें तैयार हैं, बहुत थोड़ी प्रतियां दुबारा छपायी गयी हैं, मांग बहुत आ रही हैं। मंगानेवालोंको जल्दी करनी चाहिये। सब निकल जायंगी तो फिर छपनेकी आशा नहीं है। कीमत बिना जिल्द ३=) सजिल्द ३॥)

व्यवस्थापक "कल्याण"

गोरखपुर

श्रीरामायणप्रसार समिति अयोध्याजी

(श्रीभक्तप्रवर रामाजीकी पुण्य स्मृतिमें)

अभ्यासक्रम और नियम

(शिशु-कक्षा)

प्र० प्रथमपत्र–किष्किन्धा-काण्ड
द्वि० ,, –हनुमानचालीसा
५ विनयके कोई भजन।

(स्त्रियोंके लिये)

प्र० प्रश्नपत्र–सुन्दर-काण्ड
द्वि० ,, –जानकीमंगल रामलला-नहछू
५ विनयपत्रिकाके कोईसे भजन

(प्रथमा-परीक्षा)

प्र० प्रश्न-पत्र-सुन्दर और किष्किन्धा-काण्ड
द्वि० ,, –दोहावलीके प्रथम ४० दोहे
तृ० ,, –गीतावलीके कोईसे १० भजन
(मौखिक)

(मध्यमा-परीक्षा)

प्र० प्रश्नपत्र–अयोध्याकाण्ड
द्वि० ,, –विनय-पत्रिका ३० पद
तृ० ,, –गीतावली सम्पूर्ण
च० ,, –दोहावली १०० दोहे
प० ,, –निबंध

(उत्तमा प्रथमखण्ड)

प्र० प्रश्नपत्र–बालकाण्ड, अरण्यकाण्ड
द्वि० ,, –विनयपत्रिकाके ६० पदोंतक
तृ० ,, –छप्पय रामायण, कवितावली
च० ,, –दोहावली सम्पूर्ण
प० ,, –निबन्ध

(उत्तमा द्वितीय खण्ड)

प्र० प्रश्नपत्र–उत्तरकाण्ड लंकाकाण्ड (अन्य काण्डों सहित)
द्वि० ,, –विनयपत्रिका सम्पूर्ण
तृ० ,, –शेष ग्रन्थ
च० ,, –निबंध ५० फुलस्केप
पं० ,, –मौखिक

१. परीक्षा तुलसीजयन्तीसे होगी।

२. जहां कमसे कम दस विद्यार्थी मिल जायंगे, वहीं केन्द्र कायम कर दिया जावेगा।

३—।) प्रथमा ॥) मध्यमा १) उत्तमाकी फीस ली जावेगी।

४—स्त्रियों और बालकोंसे कोई फीस नहीं ली जावेगी। इस परीक्षामें किसी अवस्थाके सज्जन शामिल हो सकते हैं। मध्यमामें उत्तीर्ण छात्र ही उत्तमाकी परीक्षा दे सकते हैं।

समितिको विशेष अवस्थामें एकसाथ उत्तमा परीक्षामें बैठनेकी आज्ञा देनेका अधिकार होगा।

आषाढ़ वदी अमावसतक आवेदनपत्र समितिके कार्यालयमें पहुंच जाने चाहिये।

केन्द्र स्थापनके लिये अनुमति ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमा-तक समितिसे दी जा सकेगी।

समितिकी परीक्षामें उत्तीर्ण छात्रोंको निम्न लिखित पुरस्कार दिये जावेंगे।

शिशु–(१) ८), (२) ६), (३) ४) के ४, (४) २) के १०

स्त्रियां–(१) ८), (२) ६), (३) ४) के ५, (४) २) के ८।

प्रथमा–(१) ८), (२) ६), (३) ४), के ५, (४) २) के ८।

मध्यमा–(१) १२), (२) १०), (३) ६), (४) २) के ७।

उत्तमा–(१) १६), (२) १२), (३) १०), (४) ८), (५) ४)

सदस्य

श्री १०८ श्रीगोमतीदासजी महाराज (हनुमत-निवास) संरक्षक।

१–श्री १०८ पं० रामवल्लभाशरणजी, जानकी-घाट।

२–पं० श्री रामबालकदासजी बड़ी छावनी।

३–महात्मा श्री बालकराम विनायकजी कनक-भवन

४–श्री बाबू माधवप्रसादजी मैनेजर (कनक-भवन)।

५–पं० श्री शिवेक्षणपति तिवारी नयाघाट।

६–पं० श्री राजारामपति तिवारी नयाघाट।

७–बाबू श्री महेन्द्रप्रसादजी बिहार बंक, छपरा।

८–बाबू श्री शिवखेलावनलालजी भगवान बाजार, छपरा।

९–बाबू श्री गुलामसाहीजी मैरवा।

१०–बाबा राघवदास संयोजक।

११–श्री बलदेवसहायजी, सहायक संयोजक।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यस्य स्वादुफलानि भोक्तुममितो लालायिताः साधवः,
भ्राम्यन्ति ह्यनिशं विविक्तमतयः सन्तो महान्तो मुदा ।
भक्तिज्ञानविरागयोगफलवान् सर्वार्थसिद्धिप्रदः,
सोऽयं प्राणिसुखावहो विजयते कल्याणकल्पद्रुमः ॥

भाग ३ } फाल्गुन कृष्ण ११ संवत् १९८५ { संख्या ८

झूठी प्रीत

जगतमें झूठी देखी प्रीत ।

अपने ही सुखसों सब लागे, क्या दारा क्या मीत ॥
मेरो मेरो सभी कहत है, हितसों बांध्यो चीत ।
अंतकाल संगी नहिं कोऊ, यह अचरजकी रीत ॥
मन मूरख अजहुं नाहिं समुझत, सिख दै हारयो नीत ।
'नानक' भव-जल पार परै जो, गावै प्रभुके गीत ॥

—गुरु नानक ।

(पृ० सं० 651 से आगे) (गतांकसे आगे)

प्रभुको आत्म-समर्पण

साधकके लिये सबसे ऊंचा, सहजमें ही सिद्धि देनेवाला साधन प्रभुके प्रति आत्मसमर्पण है। भगवच्चरणोंमें अपने आपको सौंप देना ही सारे शास्त्रोंका गुप्त रहस्य और समस्त साधनोंका अन्तिम साधन है। सब प्रकारसे ज्ञान-विज्ञान भक्ति-कर्म आदिका उपदेश कर चुकनेके बाद अन्तमें भगवान्‌ने यही गुप्त रहस्य अपने प्रिय सखा भक्त अर्जुनको बतलाया था। इसी परम साधनसे मनुष्य अपने जीवनको उच्चसे उच्च स्थितिपर पहुंचा सकता है।

इस आत्म-समर्पणका अर्थ केवल जीवनके कर्मोंको त्याग हाथ पैर सिकोड़कर बैठ जाना नहीं है। कुछ लोग भूलसे यही मान लेते हैं, कि करने करानेवाले भगवान् हैं, उन्हींकी शक्ति सबके अन्दर काम करती है, हमारा काम केवल चुप होकर बैठ रहना है।' परन्तु यह बड़ा भारी भ्रम है, इससे आत्म-समर्पण सिद्ध नहीं होता। आत्म-समर्पणमें सबसे पहले आत्माका अर्पण होता है, आत्माके साथ ही मन, बुद्धि, शरीर सभी उसके अर्पण हो जाते हैं, ऐसा होनेपर साधकको यह स्पष्ट उपलब्धि होने लगती है कि, इस शरीर, मन, वाणीसे जो कुछ होता है सो वास्तवमें भगवान ही करा रहे हैं। इससे पहले वह समझता था कि 'मैं' कर रहा हूं, अब समझता है कि 'भगवान् कर रहे हैं'। अपने कर्तापनका सारा अहंकार भगवान्‌के अहंकारमें मिल जाता है, क्योंकि मन बुद्धि उन्हींके अर्पित हो चुकी हैं। मन-बुद्धिका सारा स्वातन्त्र्य यहां पर लुप्त हो जाता है, अब भगवान्‌का संकल्प ही उसका संकल्प, भगवान्‌का विचार ही उसका विचार और भगवान्‌की क्रिया ही उसकी क्रिया है। यदि भगवान् संकल्परहित, विचाररहित और क्रियारहित हैं, तो वह भी वैसा ही है, क्योंकि संकल्प विचार और क्रिया होनेमें जिस अन्तःकरणकी आवश्यकता है, वह मन-बुद्धिरूप अन्तःकरण भगवान्‌की वस्तु बन गया है। उसपर उसका अपना कोई अधिकार नहीं रह गया। इसीलिये ऐसे साधकका सब जिम्मा भगवान् ले लेते हैं,-जिसने मन बुद्धि मुझे अर्पण कर दिये हैं, वह निस्सन्देह मुझको प्राप्त होता है 'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्'। परन्तु इसमें कर्म त्यागकर निश्चेष्ट हो रहनेका उपदेश नहीं है, इसी मन्त्रमें भगवान् कहते हैं कि 'निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर···सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'। इस बातको स्मरण रखता हुआ युद्ध कर कि यह सब भगवान्‌की लीला है, सब कुछ वही कराते हैं, मैं तो उनके हाथकी पुतली मात्र हूं, वह यंत्री हैं, मैं यंत्र हूं। जिधर घुमाते हैं, उधर ही प्रसन्नतासे घूम जाता हूं, कभी जरासी भी आनाकानी नहीं करता। इसीसे अर्जुनने धर्माधर्मके सारे विचारोंका त्याग करके स्पष्ट

शब्दोंमें कह दिया था, कि 'मेरा सन्देह छूट गया, मैं अब तुम जो कुछ कहोगे, वही करूंगा 'गत सन्देहः करिष्ये वचनं तव ।'

ऐसा साधक कर्म-त्याग या संसार-त्यागकी इच्छा नहीं करता । भगवान्के खेलका खिलौना बने रहनेमें ही वह अपना सौभाग्य समझता है, क्योंकि इससमय उसकी दृष्टिमें संसारका स्वरूप पहलेकासा जड़ नहीं रहता, वह सर्वदा सर्वत्र देखता है,-चैतन्यको और चैतन्यकी विचित्र लीलाको ! वह समस्त जगत्को हरिका स्वरूप और समस्त कर्मराशिको हरिका खेल देखता है, इसीसे वह इस खेलमें सदा सम्मिलित रहकर हरि-रूप जगत्की सेवा किया करता है । परन्तु इसमें उसका यह भाव कदापि नहीं रहता कि 'मैं जगत्की सेवा करता हूं, या अपने कर्तव्यका पालन करता हूं' क्योंकि उसका तो अब कोई कर्तव्य रह ही नहीं जाता, पुतली कर्तव्यका ज्ञान नहीं रखती, वह तो स्वाभाविक ही मालिकके इशारेपर नाचती है । उसे इस कर्तव्य-ज्ञानकी आवश्यकता भी नहीं रहती, क्योंकि उसकी बागडोर किसी दूसरे सयानेके हाथमें है और वह अपनेको सदाके लिये उसके हाथका खिलौना बना चुका है । ऐसी अवस्थामें वह साधक, संसारके भोगोंकी तो बात ही कौनसी है, वे तो अत्यन्त तुच्छ नगण्य हैं, उनकी ओर झांकना तो उससे बन ही नहीं सकता क्योंकि वे तो उसकी दृष्टिमें भगवान्की लीलाके अतिरिक्त कोई खास चीज ही नहीं रह जाते । ऊंचेसे ऊंचे लोक भी उन्हींके लीलाक्षेत्र हैं, उन लोकोंके लिये भी उसका मन नहीं चलता, वह तो प्रभुकी लीलाका खिलौना है, सर्वत्र अबाधित नित्य मनोहर लीलामें भगवान् उसको अपने हाथमें लिये कहीं भी क्यों न रहें । खिलाड़ीके हाथोंसे और उसकी नजरसे तो वह हटता नहीं, फिर खेलकी जगहके एक भागसे दूसरे भागमें जानेकी इच्छा वह क्यों करने लगा ? हां, यदि प्रभु कभी उसे खेलसे अलग होनेको कहते हैं, अपनी नज़रसे ओझल करना चाहते हैं, तो इस बातको वह स्वीकार नहीं करता, इसीसे भागवतमें भगवान्ने कहा है कि, 'मेरे भक्त मेरी सेवाको छोड़कर मुक्तिको भी स्वीकार नहीं करते—दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।'

ऐसा भक्त जगत्के सभी कर्म करता है, पर वह कुछ नहीं करता । उसका सेवाकार्य, उसकी व्यापार-प्रवृत्ति, उसकी रण-शूरता और उसका ज्ञान-वितरण सभी कुछ परमात्माकी लीलाके अंग होते हैं । वह इस लीला-अभिनयका एक आज्ञाकारी चतुर पात्र होकर रहता है । उसकी क्रिया और कर्म-वासना अहंकार-प्रेरित न होकर प्रभु-प्रेरित हुआ करती है । ऐसा लीला-कर्मी भक्त शुभाशुभ फलरूप कर्म-बन्धनसे सदा ही मुक्त रहता है । भगवान्की प्राप्ति तो उसको नित्य रहती ही है, क्योंकि उसकी जीवन-डोर ही भगवान्के हाथमें रहती है । मुक्ति अवश्य ही दासत्वके लिये उसके चरणोंकी ओर ताका करती है, कभी कभी हठसे चरणोंमें चिपट भी जाती है। एक रसीले भक्त-कविने बहुत ही सुन्दर कहा है—

घनःकामोस्माकं तव तु भजनेऽन्यत्न न रुचि-
स्तवैवाङ्घ्रिद्वन्द्वे नतिषु रतिरस्माकमतुला ।
सकामे निष्कामा सपदि तु सकामा पदगता,
सकामास्मान्मुक्तिर्भजति महिमायं तव हरे ॥

हे हरे ! हमारी तो तुम्हारे भजनमें ही गाढ़ रुचि है । अन्य किसी भी पदार्थमें नहीं है ।

तुम्हारे ही चरणयुगलोंमें पड़े रहनेमें हमारा अतुल प्रेम है। हे भगवन्! तुम्हारी कुछ ऐसी अपार महिमा है कि वह बेचारी मुक्ति जब सकाम विषय-कामी लोगोंको नापसन्द कर डालती है, तब उसी क्षण अपनेको निराश्रय समझकर बड़ी उत्सुकतासे हम भक्तोंके चरणोंमें चिपटकर हमारी चरण-सेवा करने लगती है।

चरण-सेविका बननेपर भी ऐसे भक्त उस मुक्तिके चंगुलमें फंसना नहीं चाहते, इस तरहके ऊंचे साधकोंकी सारी जिम्मेवारी स्वभावतः ही भगवान्‌के ऊपर रहती है। भगवान्‌ने अर्जुनके सामने प्रतिज्ञा करके कहा है–'मैं तुझे मुक्त कर दूंगा, तुझे कोई चिन्ता नहीं'–अहं त्वा मोक्षयिष्यामि मा शुचः। हम बड़े ही मन्दबुद्धि हैं, अविश्वासी और अश्रद्धालु हैं, विविध प्रलोभनोंमें पड़कर व्यर्थ-मनोरथ होते रहनेसे हमारा मन सन्देहसे भर गया है, जागतिक भोग-सुखोंकी तुच्छ स्पृहा और धर्म कर्मादिके साधनोंसे इन सुखोंके प्राप्त करनेका उपाय बतलानेवाली पुष्पिता वाणीने हमें मोहित कर रक्खा है, इसीसे हम भगवान्‌की इस प्रेम-पूरित महान् प्रतिज्ञा-वाणीपर परम विश्वासकर अनन्यभावसे उनकी शरण नहीं लेते। इसीसे बारम्बार एक कष्टसे दूसरे कष्टमें पड़ते हुए संकटमय अशान्त जीवन बिता रहे हैं–पथभ्रष्ट पथिककी भांति श्रान्त-क्लान्त होकर किंकर्तव्य-विमूढ़ हो रहे हैं। वास्तवमें यह हमारी बड़ी ही दयनीय दशा है। इस स्थितिसे छुटकारा पानेके लिये हमें भगवान्‌को आत्मसमर्पण करनेका अभ्यास करना चाहिये। अपने प्रत्येक कर्मके मूलमें भगवत्-प्रेरणा समझने, प्रत्येक सुख दुःखको भगवानका दयापूर्ण विधान समझकर उसीमें सन्तुष्ट रहने तथा निरन्तर उसका स्मरण करते हुए प्रत्येक कर्म यन्त्रवत् करते रहनेका अभ्यास करना चाहिये।

परन्तु केवल मुखसे, 'मैं तुम्हारे शरण हूं' 'मैं तो तुम्हें आत्म-समर्पण कर चुका' आदि शब्द कह देनेमात्रसे कुछ भी नहीं होता, अपना माना हुआ सर्वस्व उसके अर्पण कर देना होगा। मन-बुद्धि शरीरका प्रत्येक संकल्प, प्रत्येक चिन्तन, प्रत्येक विचार, प्रत्येक कामना और प्रत्येक कर्म सब कुछ उसके अर्पण कर देने होंगे। भोगोंकी ओर दौड़ते हुए मन और इन्द्रियोंको लौटाकर उनकी गति सर्वथा भगवान्‌की ओर कर देनी पड़ेगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एकबार भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेपर मनुष्य समस्त भयसे छूट जाता है। आदि कवि महर्षि बाल्मीकिके यह वचन सर्वथा सत्य हैं कि–

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(वाल्मीकि रामायण)

भगवान् श्रीराम कहते हैं कि, जो "कोई प्राणी एकबार भी मेरे शरण होकर यों कहता है कि 'मैं तुम्हारा हूं' उसे मैं अभय कर देता हूं, यह मेरा व्रत है।"

भगवान्‌के इस व्रतमें कोई सन्देह नहीं ह परन्तु हम एकबार उनके शरण ही कहां होते हैं? शरणका नाम जानते हैं परन्तु अर्थ नहीं जानते। हमारा ज्ञान ध्यान भजन या तो लोगदिखाऊ होता है या भोगोंको पानेके लिये होता है। हमारे मनकी सारी वृत्तियां नदियोंके समुद्रमें जाकर पड़नेकी भांति सदा संसार-सागरमें जाकर पड़ती रहती हैं, ऐसी अवस्थामें हम निर्भय कैसे हो सकते हैं? अन्तर्यामी भगवान् भला बनावटी बातोंमें क्यों फंसने लगे? सच पूछिये

तो हम भांति-भांतिके भयोंमें फंसे हुए हैं। पुत्रके मरनेका भय है, धन जानेका भय है, कीर्ति-नाशका भय है, भूठी इज्जतका भय है, शरीर-नाशका भय है, घर समाजके नाराज होनेका भय है, एक भय हो तो बताया जाय! हमने तो अपने चारों ओर भयका दल बटोर रक्खा है, इसीसे हमें आज तमाखू छोड़नेमें भी स्वास्थ्यनाशका भय रहता है, सर्वथा हानिकर रूढ़ी तोड़नेमें भी स्त्रियोंका और समाजका भय लगता है, सच्ची बात कहनेमें भी राजका भय रहता है। इन्हीं सब भयोंके कारण हम नाना प्रकारके पापोंमें रत रहते हैं, यही आसुरी भाव हैं। जबतक इन आसुरी भावोंमें फंसे रहकर हम पाप बटोरते हैं, तबतक भगवान्के शरण कैसे हो सकते हैं?–भगवान्ने तो स्वयं कहा है कि–

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
मcraयापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
(गीता ७।१५)

'मायाने जिनका ज्ञान हरण कर लिया है, ऐसे पापी, आसुरी-स्वभावके नराधम मूढ़ भगवान्की शरण नहीं हो सकते।'

इन सब भयके दलोंका दलनकर, सबको पैरोंसे कुचलते हुए दृढ़ और अविराम गतिसे आगे बढ़ना होगा, तब हम निर्भय शरणपदके अधिकारी होंगे।

कुछ लोग विदेशसे दुखी होकर अपने घर जाना चाहते थे, उनका घर हिमालयकी तराईमें उत्तरकी ओर था। परन्तु उन्होंने इस बातको भूलकर दक्षिणकी ओर जाना आरंभ कर दिया। घर जानेकी लगन बहुत जोरकी थी, इसलिये वे उसी उल्टे मार्गपर खूब दौड़ने लगे। उन्हींके दो चार साथी जिनको सच्चे मार्गका ज्ञान था, उत्तरकी ओर जा रहे थे, रास्तेमें उनकी परस्पर भेंट हो गयी। यथार्थ मार्गपर सीधे घरकी ओर जानेवाले लोगोंने उल्टे जाते हुए लोगोंसे पूछा, 'भाई, तुम सब कहां जा रहे हो?' उनमेंसे कुछने कहा 'हम अपने घर जा रहे हैं' उन्हींके देशके और एक ही गांवके ये लोग भी थे। उन्होंने कहा 'भाई! घरके रास्ते तो हमलोग जारहे हैं, तुम सब उल्टे दौड़ते हुए, घरसे और भी दूर बढ़े चले जारहे हो, बहुत दूर निकल जाओगे तो फिर लौटनेमें बड़ी तकलीफ होगी, इस मार्गमें कहीं तुम लोगोंको विश्राम करनेके लिये जगह नहीं मिलेगी। वृक्षकी शीतल छाया या शान्तिप्रद ठण्डा जल तो इस ओर है ही नहीं। बड़े जोरकी लू चल रही है, सारा शरीर झुलस जायगा, थककर हैरान हो जाओगे। प्यासके मारे प्राण छटपटानेपर भी कहीं सरोवरके दर्शन नहीं होंगे। इसलिये इस दुखदायी विपरीत पथको छोड़कर हमारे साथ सीधे रास्ते चलो।' विपरीत-मार्गियोंमें बहुतोंने तो इस बातको सुनना ही नहीं चाहा, उनकी समझमें इन बातोंके सुननेमें समय लगाना सुखरूप घर पहुंचनेमें देर-करने जैसा प्रतीत हुआ। कुछने बातें तो सुनी, परन्तु विचार करनेपर उनको इन बातोंमें कुछ सार नहीं दिखलायी दिया, वे भी चले गये। कुछ लोग ठहरकर विचार करने लगे, उन्होंने सीधे रास्तेकी तरफ घूमकर देखा, थोड़ी देर वहां खड़े रहे, साथ चलनेकी इच्छा भी हुई, उन्हें अपना मार्ग विपरीत भी प्रतीत हुआ, परन्तु वे मोहवश पुराने साथियोंका साथ नहीं छोड़ सके, अतएव अपने मार्गमें शङ्काशील होते हुए भी वे उसी उल्टे मार्गपर चल पड़े, इन लोगोंमेंसे कुछ तो आगे जाकर ठहर गये और खूब सोच विचार वापस मुड़ गये एवं कुछ अपने साथियोंकी

बातोंमें आकर उसी मार्गसे चल दिये ! कुछ थोड़ेसे ही ऐसे निकले जो इनकी बातें सुनते ही सावधान होकर एकदम मुड़ गये, मुड़ते ही–सारा शरीर सीधे मार्गके सामने करते-ही सुन्दर स्वच्छ प्रकाशमय पथ और सामने ही अपना घर देखकर वे परम सुखी हो गये । फिर पीछेकी ओर झांकनेकी भी उनकी इच्छा नहीं हुई । पुराने साथियोंने पुकारा, वापस लौटनेको कहा, परन्तु उन्होंने उधरकी ओर मुंह बिना ही फिराये उनसे कह दिया 'भाई ! हम अब इस सुखके मार्गसे वापस नहीं लौट सकते । सीधे मार्गपर आते ही हमें अपना घर सामने दीखने लगा है, घरकी प्रीति अब तो हमें मन करनेपर भी लौटने नहीं देती ।' वे नहीं लौटे और सब झंझटोंसे छूटकर तुरन्त अपने घरमें पहुंचकर सदाके लिये सुखी हो गये ।

इसी प्रकार इस संसारमें भी चार प्रकारके मनुष्य हैं–पामर, विषयी, मुमुक्षु और मुक्त । परम और नित्य सुखरूप परमात्माकी खोज सभी करते हैं, सभी सुखके अन्वेषणमें दौड़ते हैं, परन्तु अधिकांश मनुष्य पथभ्रष्ट होकर विपरीत मार्गपर ही चलते हैं, इसीसे उन्हें सुखके बदलेमें बारम्बार दुःख-कष्टोंका शिकार बनना पड़ता है। कहीं भी शान्ति सुखके दर्शन नहीं होते ! इनमेंसे जो लोग सन्मार्गपर चलनेवाले सदाचारी सन्त महात्माओंकी वाणीको सुनना ही व्यर्थ समझते हैं, चौबीसों घण्टे 'हाय धन ! हाय पुत्र, हाय सुख, हाय भोग, हाय कीर्त्ति' आदि चिल्लाते हुए ही भटकते हैं, कहाँ जाते हैं, इसका उन्हें स्वयं कुछ भी पता नहीं है तथापि अन्धोंकी तरह चल ही रहे हैं, वे तो पामर मनुष्य हैं । दूसरे वे विषयी पुरुष हैं, जो कभी कभी प्रसंगवश अकारण-कृपालु सन्त महात्माओंद्वारा कुछ परमार्थकी बातें सुन तो लेते हैं, परन्तु उनमें उन लोगोंको कोई सार नहीं दीखता, इससे वे सुनकर भी तदनुसार चलनेकी इच्छा नहीं करते । तीसरे मुमुक्षु हैं । इनमें दो श्रेणियां हैं-मन्द और तीव्र। जो मन्द मुमुक्षु हैं, वे सत्संगमें परमार्थकी बातें मन लगाकर सुनते हैं, सन्मार्गपर चलकर भगवत्-प्राप्तिकी इच्छा भी करते हैं, मार्गकी ओर कुछ क्षणोंके लिये मुंह फिराकर यानी संसारके बाह्य भोगोंसे मनकी गतिको क्षणभरके लिये रोककर ईश्वरकी ओर लगाना भी चाहते हैं परन्तु विषयी-पुरुषोंके संगसे व्यामोहमें पड़कर अपनी पुरानी चाल नहीं छोड़ सकते और पुनः विषयोंमें ही दौड़ने लगते हैं । परन्तु जो तीव्र मुमुक्षु होते हैं, वे एकदम मुड़कर अपने मनकी गतिको सर्वथा ईश्वरोन्मुखी कर देते हैं । इस तरफ एकबार दृढ़ निश्चयपूर्वक पूर्णरूपसे लग जानेपर–भगवान्के सन्मुख होजानेपर मनुष्यको कुछ विलक्षण ही आनन्द मिलने लगता है, परमात्मारूप परमानन्दका नित्य-निकेतन उसे अत्यन्त समीप–अपने अन्दर बाहर सब जगह दीखने लगता है, वह फिर किसी तरह भी संसारके बाह्यरूपकी ओर मन नहीं लगा सकता, यही एकबार परमात्माके सन्मुख होना है । हमलोग बाह्य भावको—मुखके शब्दोंको ही आत्म-समर्पण समझकर शास्त्रवचनोंपर सन्देह करने लगते हैं और सोचते हैं कि 'हम तो किसी समय एकबार भगवान्के शरणागत हो गये थे, आत्म-समर्पण कर दिया था, परन्तु अभीतक हमारा उद्धार नहीं हुआ, इससे संभव है कि वाल्मीकि रामायणका यह श्लोक प्रक्षिप्त हो या यह केवल रोचक शब्द ही हों ।' परन्तु यह नहीं सोचते, एकबार भी पूर्ण आत्म-समर्पण कर चुकनेके बाद फिर अपने उद्धारकी स्मृति ही कैसे हो सकती है ? भगवान्को आत्म-समर्पण

करनेवालेका उद्धार कैसा ? यदि उद्धारकी चिन्ता है तो आत्मसमर्पण कहां हुआ ? दोष भरा है हमारे अन्दर, देखते हैं हम रातदिन जगत्के भोग सुख और तृप्तिकी असंख्य बाह्य वस्तुओंको, सुख ढूंढ़ते हैं उनमें, और सन्देह करते हैं भगवान् और भक्तशिरोमणि ऋषियोंके अनुभूत वाक्योंपर ! कैसी विचार-विडम्बना है !

आत्मसमर्पणके लिये अपनेको दुष्कृतों-पापोंसे बचाकर आसुरी भावका आश्रय छोड़कर मायाके द्वारा अपहृत ज्ञानको सत्कर्म और उपासनासे पुनः अर्जन करना होगा और उस ज्ञानके द्वारा परमात्माके स्वरूपको समझकर एकनिश्चयसे अपना जीवन उन्हें अर्पण कर देना होगा । यही भगवान्के एकबार सन्मुख होना है, भगवान्के सन्मुख होते ही सारे पापपुञ्ज भस्म हो जाते हैं और वह मनुष्य उसी शाश्वती शान्तिरूप परम पदको प्राप्त होता है, जहांसे पुनः कभी स्खलन नहीं होता। पापोंके छोड़नेका यह मतलब नहीं कि, सारे पापोंका फल भोगनेके बाद हम भगवान्की शरण लेंगे। इसका अर्थ यही है कि अबसे पापोंको छोड़कर, अपना अवशेष जीवन भगवान्को एकनिश्चयसे अर्पण कर देना चाहिये । फिर उसे भगवान् स्वयं सँभाल लेते हैं । भगवान्ने स्वयं कहा है-

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(गीता ९ । ३० । ३१)

'अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे मुझे भजता है तो उसे साधु मानना चाहिये क्योंकि उसने आगेके लिये केवल मुझे ही भजनेका निश्चय कर लिया है । उसे केवल साधु मानना ही नहीं चाहिये, वह वास्तवमें बहुत शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और उस नित्य परम शान्तिको प्राप्त होता है । मैं यह सत्य विश्वास दिलाता हूं कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता ।'

भगवान्के इन बड़े भरोसेके वचनोंपर विश्वास करके, नित्य अपने अत्यन्त समीप रहनेवाले उस परमात्माको ज्ञानके द्वारा जानकर उसकी शरण ग्रहण करना चाहिये । आलस्य, उद्योगहीनता, भय, संशय, जड़ता, अविश्वास, अश्रद्धा आदि दोषोंको सबतरहसे तिलाञ्जलि देकर बड़े उत्साहसे भगवान्की विश्वलीलामें खिलौना बननेकी भावना करते हुए अग्रसर होना चाहिये ।

भगवान्के दिव्य मन्दिरका द्वार सबके लिये खुला है । जो उन्हें चाहेगा, उसे ही वे मिलेंगे । जो उनसे प्रेम करेगा, उसीसे वे प्रेम करेंगे । अवश्य ही ज्ञान बिना उनके त्रिगुणातीत स्वरूपका पता नहीं लगता और उनके उस सतोगुणसे भी ऊंचे अनिर्वचनीय स्वरूपका पता लगे बिना यथार्थ आत्मसमर्पण भी नहीं हो सकता परन्तु केवल शुष्क ज्ञानसे भी वहांतक पहुंचनेमें बड़ी बड़ी बाधाएं हैं, ज्ञानके साथ प्रेमामृतकी रस-धारा अवश्य ही होनी चाहिये । प्रेमके बिना—पराभक्तिके बिना केवल ब्रह्मभूत होनेसे ही भगवान्के यथार्थ स्वरूपका तत्त्वतः ज्ञान नहीं होता। भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

अतएव प्रेमसे भगवान्का स्मरण करते हुए उन्हें आत्म-समर्पण करनेकी भावनाको प्रबल इच्छा-शक्तिके द्वारा दिनोंदिन बढ़ाना चाहिये । आत्म-समर्पणकी इच्छा ज्यों ज्यों बलवती होगी

त्यों ही त्यों परमात्माके दरबारका दरवाजा आपसे आप खुलता रहेगा और अन्तमें हृदयस्थित विष्णुचरणसे भव-भयनाशिनी अलौकिक सुधा-धारा उत्पन्न होकर ज्ञान वैराग्य और प्रेमरूप त्रिविध धारामें परिणत हो समस्त मन-प्राणको भगवद्रूपके प्रवाहमें बहा देगी। फिर जगत्का रूप तुरन्त ही बदल जायगा। फिर हमें दीख पड़ेंगे-सर्वत्र हरि, हरिकी नित्यलीला और उस लीलामें भी केवल हरि ही!'-मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।'

यही मुक्तका स्वरूप है, यहीं साधनका पर्यवसान है, यही परमगति है, इसीको जानने समझनेवाले आत्माराम भक्त बड़े दुर्लभ हैं-वासुदेवः सर्वमिदं स महात्मा सुदुर्लभः !

प्रभु-स्तुति

दयामय दीन-बन्धु भगवान।

कहते हैं घट घटमें तुम हो, निज मायाके पटमें तुम हो।
विश्व-खिलारी नटमें तुम हो, करते खेल महान ॥१॥

नरमें तुम हो तुम नारीमें, योगी तापस संसारीमें।
ब्रह्म-विवेकी व्यभिचारीमें, हो तुम एक सुजान ॥२॥

सूर्य-चन्द्रमें ज्योति तुम्हारी, तारागणमें शोभा न्यारी।
सबमें हो तुम एक खिलारी, हो फिर अन्तर्धान ॥३॥

भरते हो तुम सूखी क्यारी, विकसाते सुन्दर फुलवारी।
सुमनोंमें नव-मोहनि डारी, करो मृदुल-मुसकान ॥४॥

जीवन सरिताकी गति तुम हो, दीनोंके लज्जापति तुम हो।
विरहीकी सुख सम्पति तुम हो, हो तुम प्रेम-निधान ॥५॥

सर्वोपम सर्वात्म तुम्हीं हो, द्वैतहीन, सद्-आत्म तुम्हीं हो।
द्रष्टा हो दृश्यात्म तुम्हीं हो, तुम्हीं ज्ञान विज्ञान ॥६॥

नील गगन जल अनिल अनलमें, गिरि निर्झरके झरमें, कलमें।
विहंग गणोंके मृदु कलरवमें, तुम्हरी नीरव तान ॥७॥

कुहू निशाके तमसाञ्चलमें, साँय साँय करते वन थलमें।
शून्य शान्त निस्तब्ध प्रकृतिमें, होता तेरा भान ॥८॥

तुम्हीं पिताहो मातु तुम्हीं हो,सखा भगिनी औ भ्रात तुम्हीं हो।
मंगल मूल प्रभात तुम्हीं हो, 'शिशु'के जीवन-प्रान ॥९॥

—ब्रह्मदत्त शर्मा 'शिशु'

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक–स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे) (पृ० सं० 664 से आगे)

[मणि ५]

मुण्डकोपनिषद्

आत्मप्राप्तिके लिये ध्यान

हे शौनक ! यह अक्षर ब्रह्म स्वप्रकाशरूप होनेसे सदा प्रत्यक्ष है, बुद्धिरूप गुहामें रहनेसे अत्यन्त समीप है, सबसे उत्कृष्ट है, सब अधिकारियोंके शरीरमें प्राप्त होनेवाला है, रथके चक्रमें स्थित आराओं की नाभिके समान प्राण तथा इन्द्रियोंका अधिष्ठानरूप है, अपनी समीपतामात्रसे प्राण तथा इन्द्रियोंके समस्त व्यापारका कारणरूप है, सनातन है तथा बुद्धि आदि उपाधियोंसे पर है। अधिकारीको अपने आत्मरूपसे इसको जानना चाहिये। यह अक्षर ब्रह्म मायाके सम्बन्धसे स्थूल सूक्ष्मरूपताको प्राप्त होकर भी वस्तुतः स्थूल सूक्ष्मभावसे रहित है, विवेकी पुरुषोंद्वारा उपासना करनेयोग्य है, सब देहधारियोंको अत्यन्त प्रिय है, इन्द्रियजन्य ज्ञानका अविषय है और सर्वदोषरहित होनेसे सबसे श्रेष्ठ है।

हे शौनक ! यह अक्षर ब्रह्म दीप्तिमान है, दीप्तिमान होनेसे आदित्य आदिके समान इन्द्रियोंसे जाना जाता हो, ऐसा नहीं है किन्तु सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है और स्थूलसे भी स्थूल है। इस ब्रह्ममें भू आदि लोक और मनुष्यादि लोकोंके निवासी स्थित हैं। यह वही तत्त्व है, जिसको तुमने पूछा था, इसीके जाननेसे सबका ज्ञान हो जाता है, क्योंकि यह सबका आधार है, क्षरणरहित होनेसे अक्षर कहलाता है और बृहत्स्वरूप होनेसे ब्रह्म कहलाता है। इसी ब्रह्मका प्राणापानादिकी अपेक्षासे पुरुषत्व कहा है। यही ब्रह्म वागादि बाह्य इन्द्रियोंका और मन आदि अन्तःकरण तथा प्राणादि संघातका अधिष्ठान है। यही जाननेयोग्य है। अबाधित होनेसे यह ब्रह्म सत्य कहलाता है और अविनाशी होनेसे अमृत कहलाता है। हे प्रियदर्शन ! इस ब्रह्ममें मनको समाधान करना चाहिये, इसलिये तुम इसीमें मनको समाधान करके इसको जानो!

हे शौनक ! जैसे इस लोकमें कोई शूरवीर धनुषपर बाण चढ़ाकर किसी लक्ष्य वस्तुका बेध करता है इसीप्रकार धीर, आत्माके विवेकवाले तथा क्रोधादि शत्रुओंको जीतनेवाले अधिकारीको लक्ष्यरूप अक्षर ब्रह्मका बेध करना चाहिये। उपनिषदोंमें ॐकाररूप जो प्रणव है, वह प्रणवमन्त्र धनुषरूप है, और ध्यानकर्ता पुरुषका आत्मा बाणरूप है 'मैं ब्रह्म हूँ' इस महावाक्यके अर्थका चिन्तन प्रणवरूप धनुषका आकर्षण है और शुद्ध ब्रह्म लक्ष्यस्वरूप है। विषयोंकी तृष्णारूप प्रमादसे रहित, सबप्रकारसे विरक्त, जितेन्द्रिय पुरुषको एकाग्रचित्त होकर लक्ष्यरूप ब्रह्मका बेध करना चाहिये और बेध करनेके बाद बाणके समान तन्मय हो जाना

चाहिये। भाव यह है कि जैसे बाण लक्ष्यके साथ एकात्म हो जाता है इसीप्रकार देहादि अनात्म प्रत्ययको त्यागकर अक्षर ब्रह्मके साथ एकात्मता-(एकमेकपन) सम्पादन करे। ऐसा करनेसे देहाभिमान उदय नहीं होता और वह ब्रह्मके साथ तन्मय हो जाता है।

हे शौनक ! इस अक्षर ब्रह्ममें स्वर्गलोक अन्तरिक्ष और पृथिवी ओतप्रोत है। सब इन्द्रियोंसहित मन भी इसीमें ओतप्रोत है। जिस अधिकारी पुरुषको मोक्षकी इच्छा हो उसको वेदान्त वचनोंके सिवा अन्य अनात्म वस्तुका प्रतिपादन करनेवाले वाक्योंका कभी न उच्चारण करना चाहिये और न सुनना ही चाहिये क्योंकि वेदान्त वाक्यके अतिरिक्त जितने वाक्य हैं, वे सब अनात्मरूप द्वैतका ही प्रतिपादन करनेवाले हैं, इसलिये वे वाक्य अधिकारीको मोक्षरूप अमृतके प्राप्त करानेवाले हैं नहीं। अनात्म वस्तुके प्रतिपादन करनेवाले वाक्योंमें कितने तो पुरुषको धर्मकी प्राप्ति करानेवाले हैं, कितने धनादिरूप अर्थकी प्राप्ति करानेवाले हैं, कितने विषयरूप कामकी प्राप्ति करानेवाले हैं और कितने केवल दुःखकी ही प्राप्ति करानेवाले होते हैं। धर्म, अर्थ और काम विचारहीन पुरुषोंको ही सुखरूप प्रतीत होते हैं, विचार दृष्टिसे देखनेपर तो ये तीनों प्राप्ति और अप्राप्ति दोनोंमें ही जीवोंको केवल दुःखकी ही प्राप्ति कराते हैं। अतएव अनात्म वचनोंका उच्चारण ही नहीं करना चाहिये। जो कोई दूसरा पुरुष विद्वान्‌के पास अनात्म वचनका उच्चारण करे तो उसको भी रोक देना उचित है। केवल श्रेष्ठ पुरुष ही अनात्म वचनोंका निषेध नहीं करते किन्तु श्रुति भी अनात्म वचनोंका निषेध करती है, श्रुति ब्रह्मरूप आत्माको अमृतका सेतु कहती है यानी आत्मसाक्षात्काररूपसेतु, सेतुके समान संसार-समुद्रसे पार उतारनेवाला है। इस ब्रह्मको जानकर अधिकारी मृत्युको उल्लङ्घन कर जाता है।

जैसे रथके चक्रकी नाभिमें आरा होते हैं ऐसे ही हृदयकमलमें हिता नामकी दश हजार नाड़ियां हैं। हृदयमें आनन्दस्वरूप आत्मा सदा विचरता है। जैसे घटरूप उपाधिके जन्मसे आकाश उत्पन्न होता हुआ जान पड़ता है वैसे ही ब्रह्मरूप आत्मा वस्तुतः जन्मसे रहित होनेपर भी शरीरादि उपाधियोंके जन्मसे जन्मवाला सा दीखता है। इसप्रकार आत्माके उपदेशसे जो कोई अधिकारी पापरूप प्रतिबन्धके कारण 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा जाननेमें समर्थ न हो वह आनन्दस्वरूप आत्माका प्रणव मन्त्रद्वारा चिन्तन करे। आनन्दस्वरूप आत्माका प्रणव मन्त्रसे चिन्तन करनेवाला ध्यानरूप दीपकके बलसे प्रतिबन्धक पापरूप अन्धकारसे रहित होकर ब्रह्मज्ञानको प्राप्त होता है। ब्रह्मज्ञानद्वारा विद्वान् अविद्यारूप समुद्रकी मोक्षरूप परम्पराको प्राप्त होता है। जैसे आत्माके ध्यानसे प्रतिबन्धक पापकी निवृत्ति होती है वैसे ही ब्रह्मवेत्ता गुरुके आशीर्वादसे तथा बारम्बार उपदेश करनेसे भी पापरूप प्रतिबन्धकी निवृत्ति हो सकती है। महात्मा दयालु गुरु अपने शिष्योंको आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सब विघ्नोंकी निवृत्ति करानेवाला आशीर्वाद देकर बारम्बार आत्माका उपदेश करता है। इसलिये अधिकारियोंको आत्मज्ञान प्राप्तिके लिये गुरुकी कृपा अवश्य सम्पादन करनी चहिये।

परमात्माका वर्णन

परमात्मा सामान्यरूपसे जगत्‌को जानता है इसलिये सर्वज्ञ है और विशेषरूपसे जाननेसे सर्ववित् है। जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लयरूप विभूति ये सब परमात्माकी महिमा लोकमें

प्रसिद्ध है। वह परमात्मा ब्रह्मपुरमें स्थित दिव्य आकाशमें रहता है। जैसे उत्पन्न हुआ घट आकाशसे पूर्ण होता है वैसे ही उत्पन्न हुआ शरीर ब्रह्मसे पूर्ण होता है, इसलिये श्रुतिमें शरीरको ब्रह्मपुर कहा है। ब्रह्मपुरमें स्थित दिव्य आकाश स्वप्रकाश आत्मारूप है। दिव्य आकाश-को श्रुतिमें दहराकाश कहा है। इसप्रकार परमात्मादेव अपने स्वरूपमें ही स्थित है। श्रुतिमें 'भूमा आत्मा किसमें स्थित है? इस प्रश्नका यही उत्तर कहा है कि वह अपनी महिमामें स्थित है।' हे शौनक! जिस समय आनन्दस्वरूप आत्मा अज्ञात होता है, उस समय आत्मा मनके तादात्म्य अध्याससे मनोमय कहलाता है। प्राण, देह तथा इन्द्रियोंको आत्मा उनके व्यापारमें लगाता है। जबतक ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती तबतक मनोमय आत्मा सब जगत्के बीजभूत मूलाज्ञानमें तादात्म्य अध्याससे रहता है। जिस समय ब्रह्मचर्यादि साधनसम्पन्न अधिकारी आत्माके वास्तविक स्वरूपको जानता है। उस समय उसको आत्मा परमानन्द स्वरूप भासता है और जन्म-मरणादि संसार सम्बन्धी धर्मोंसे रहित जान पड़ता है तथा ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेय इत्यादि त्रिपुटीरूप द्वैतसे रहित अनुभवमें आता है।

आत्म-ज्ञानके फलका वर्णन

हे शौनक! परब्रह्मको अपने आत्मरूपसे जाननेवाले अधिकारीको श्रुतिमें निम्नलिखित प्रकारसे फलकी प्राप्ति कही है:—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

काम क्रोधादिका कारण आत्म अनात्मका अध्यास जीवको सब प्रकारके दुःखोंकी प्राप्ति कराता है। इस आत्म अनात्मके अध्यासका नाम हृदय-ग्रन्थि है। 'त्वं' पदार्थरूप जीवमें संसारीपना और अल्पज्ञता दिखायी देती है और 'तत्', पदार्थरूप ब्रह्ममें असंसारीपन तथा सर्वज्ञता दिखायी देती है। इसप्रकार जीवका संसारीपन आदि तथा ब्रह्मका असंसारीपन आदि देखकर आत्माके सम्बन्धमें ऐसी सम्भावना होती है कि जीव ब्रह्मसे भिन्न है अथवा अभिन्न है, इस आत्म विषयकी असंभावनाका नाम संशय है, जिस पुण्य-पापरूप कर्मसे वर्तमान शरीरकी प्राप्ति होती है, उस प्रारब्ध कर्मको छोड़कर जिन संचित तथा क्रियमाण पुण्य पापरूप कर्मोंसे जीवको अनेक प्रकारके शरीरोंकी प्राप्ति होती है, उसका नाम कर्म है। कर्म, हृदय-ग्रन्थि तथा संशय ये तीनों सर्वात्मारूप ब्रह्मके साक्षात्कार होनेसे निवृत्त हो जाते हैं। इसप्रकार श्रवणादि साधनोंके फलरूप आत्म-साक्षात्कारके होनेसे सब दुःखोंकी कारणरूप अविद्याकी और अविद्याके कार्यकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है।

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय ये पांच कोश हैं। अन्तके ज्योतिर्मय आनन्दमय कोशमें आत्मादेव प्रतिष्ठारूपसे स्थित है। आत्मादेव आवरण करनेवाली मायारूप रजसे रहित है इसलिये श्रुतिने उसको विरज कहा है, आत्मादेव मायाकी कार्यरूप कलाओंसे रहित है इसलिये श्रुतिने उसे निष्कल कहा है, आत्मादेव स्वप्रकाशरूप है तथा सूर्य चन्द्रादि ज्योतियोंका प्रकाश करनेवाला है इसलिये श्रुतिने उसको ज्योतियोंका ज्योति कहा है। आत्मादेव अद्वितीय परमानन्द स्वरूप है, इसलिये श्रुतिने उसको शुभ्र कहा है। उक्त लक्षणवाले उस ब्रह्मात्म तत्त्वको आत्मवेत्तागण जानते हैं।

आत्मा ज्योतियोंका ज्योति किस प्रकार है, इस बातको स्पष्ट करके कहता हूं, सुन-सबका प्रकाशक सूर्य उस स्वात्मभूत ब्रह्मको प्रकाश नहीं

करता, चन्द्रमा और तारे भी उसको प्रकाश नहीं करते, सर्वत्र प्रसिद्ध बिजली भी उसको प्रकाश नहीं करती। जब ये अत्यन्त प्रकाशवाले भी उसको प्रकाश नहीं करते तब यह हमारी दृष्टिका विषय अग्नि उसे किस प्रकार प्रकाशित कर सकता है? उक्त स्वरूपवाले उस ब्रह्मके प्रकाशके पीछे ये सूर्यादि प्रकाशित होते हैं और उसके प्रकाशसे ही ये सब प्रकाशित होते हैं। भाव यह है कि लोकप्रसिद्ध सूर्य चन्द्रमादि बाह्य तैजस पदार्थोंके प्रकाश-की ब्रह्मतत्त्वकी अपेक्षा नहीं है किन्तु ब्रह्म-तत्त्व तैजस पदार्थोंकी सहायता बिना ही प्रकाशित होता है और उसके प्रकाशसे ही जड़ चेतनरूप सब जगत् प्रकाशित होता है इसलिये विद्वान् ब्रह्मतत्त्वको स्वप्रकाश कहते हैं। सबसे प्रथम प्रकाश करनेवाला स्वतः ही स्वप्रकाशरूप सिद्ध है।

हे शौनक! स्वप्रकाश ज्योतिरूप ब्रह्ममें ही पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, नीचे ऊपर सब दिशाएं व्याप्त हैं। पूर्वादि दिशासहित समस्त विश्व, भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों काल, तथा स्थूल, सूक्ष्म, कारणरूप सब जगत् ब्रह्म ही है, ब्रह्मसे भिन्न कुछ भी नहीं है। जैसे चोर बुद्धिका बाध हो जानेसे चोर वस्तुतः स्थाणु ही है इसीप्रकार जगत् बुद्धिका बाध करनेसे सब जगत् ब्रह्मरूप ही है। यह ब्रह्म अमृतरूप है तथा सबसे श्रेष्ठ है।

इति द्वितीय मुण्डके द्वितीय खण्डः।

'तत्त्वं' पदार्थका शोधन

हे शौनक! यह ब्रह्मात्म तत्त्व अत्यन्त दुर्विज्ञेय है। श्रुति वचनसे महावाक्यके अर्थरूप ब्रह्मात्म-तत्त्वको जो जान न सके, उस अधिकारी शिष्यको ब्रह्मवेत्ता गुरु 'तत्त्वं' पदार्थका उपदेश इसप्रकार करे:-शरीर और वृक्ष दोनोंका उच्छेदन समान होनेसे शरीर वृक्षरूप है। इस शरीररूप अश्वत्थ वृक्षपर जीव और ईश्वररूप दो पक्षी रहते हैं। ये दोनों पक्षी परस्पर सखारूप हैं और सर्वदा साथ ही रहते हैं। दोनों ही सच्चिदानन्दस्वरूप हैं इस-लिये समान स्वभाववाले हैं और शरीररूप वृक्षके साथ तादात्म्य भावको प्राप्त हुए हैं। इन दोनोंमें एक पक्षी शरीररूप वृक्षके पुण्य-पापरूप पुष्पसे उत्पन्न हुए सुख दुःखरूप फलको भोगता है इस-लिये जीव कहलाता है। यह भोक्तारूप जीव 'त्वं' शब्दका अर्थरूप है और दूसरा पक्षी सुख दुःखरूप कर्मके फलको नहीं भोगता है केवल कर्मके फलका प्रकाश करता है इसलिये यह अभोक्तारूप पक्षी ईश्वर कहलाता है। यह अभोक्ता-रूप अद्वितीय सर्वत्र व्यापक ईश्वर 'तत्' पदका अर्थ-रूप है। यद्यपि जिस शरीररूप वृक्षपर ईश्वररूप पक्षी निवास करता है, उसी शरीररूप वृक्षपर जीवरूप पक्षी भी निवास करता है फिर भी जीवरूप पक्षी अपनेको पुण्यपापरूप कर्मोंका कर्त्ता और उनके फलका भोक्ता माननेसे दीनता-को प्राप्त होकर सर्वदा शोक करता रहता है। ये कर्तृत्व और भोक्तृत्व धर्म ईश्वररूप पक्षीमें नहीं हैं। जैसे 'तत्' पदार्थरूप ईश्वरमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व धर्म नहीं है इसीप्रकार 'त्वं' पदार्थरूप जीवमें भी वस्तुतः कर्तृत्व भोक्तृत्व धर्म नहीं है। अन्तःकरणादि उपाधियोंके सम्बन्धसे ही जीवमें कर्तृत्व भोक्तृत्व धर्म प्रतीत होता है। जिस समय 'त्वं' पदार्थरूप जीवात्मा 'तत्' पदार्थरूप पूज्य ईश्वरको अपने आत्मरूपसे देखता है, उसी समय जीवात्मा अद्वितीयरूप परमात्माकी महिमाको प्राप्त होता है। 'तत्' पदार्थरूप परमात्मा

यथार्थमें 'त्वं' पदार्थरूप जीवसे भिन्न नहीं है, उपाधिके सम्बन्धसे भिन्न प्रतीत होता है। परमात्मा आनन्दका समुद्र है और जीवका आत्मा होनेसे जीवके परम प्रेमका विषय है। अद्वितीय परमात्माकी महिमाको प्राप्त करके जीव सब प्रकारके शोकसे रहित हो जाता है।

जिस समय 'तत्त्वं' पदार्थरूप जीवात्मा 'तत्' पदार्थरूप स्वयंज्योति जगत्के कर्ता, सर्वत्र पूर्ण, ब्रह्माके कारण परमात्माको अपने आत्मरूपसे देखता है, उस समय विद्वान् आत्मज्ञानी पुण्यपाप-रूप शुभाशुभ कर्मोंको समूल धोकर अविद्या आदि क्लेशोंसे रहित हो परम शान्तिरूप नाम-रूपरहित ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है। परमात्मा प्राण उपहित हिरण्यगर्भद्वारा सर्व व्यष्टि भूतों-में व्यापक है तथा जीव, ईश्वर इत्यादि कल्पित भेदवाला प्रतीत होता है। प्राण उपहित हिरण्य-गर्भको जाननेवाला अतिवादी कहलाता है किन्तु जो विद्वान् अधिकारी परमात्माको अपना आत्मा-रूप जानता है, वह अतिवादी नहीं होता क्योंकि उसकी दृष्टिमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ होता ही नहीं तब वह अतिवादी कैसे हो ? भिन्नता देखनेवाला ही अतिवादी होता है। आत्मज्ञानी अतिवादी नहीं होता, वह तो बालकके समान अद्वितीय आत्मामें ही क्रीड़ा करता है और उसीमें रति-प्रेम करता है। वह संसारियोंके समान स्त्री पुत्रादि बाहरके पदार्थोंमें क्रीड़ा और रति नहीं करता। जैसे यज्ञकर्त्ता अनेक प्रकारकी क्रियाएं करता है इसीप्रकार आत्मज्ञानीकी अनेकप्रकार-की क्रियाएं आत्मामें होती हैं। इसप्रकार आत्म-ज्ञानी विद्वान् सर्वदा आत्माका ही चिन्तन करता है। उक्त लक्षणवाला विद्वान् ब्रह्मवेत्ताओंमें अति श्रेष्ठ है !

ब्रह्मविद्याके साधन

हे शौनक ! सत्य, तप और ब्रह्मचर्य ये तीन ब्रह्मविद्याके साधन हैं, इन तीनों साधनोंसहित 'तत्त्वं' पदार्थके शोधनरूप सम्यक्ज्ञानसे अधि-कारीको महावाक्यके अर्थरूप शुद्ध ज्योतिर्मय आत्मदेवकी प्राप्ति होती है। काम क्रोध आदिसे रहित संन्यासी आत्माको अपने अन्तःकरणमें देखता है यानी जैसे सत्यादि साधनसहित तत्त्वं पदार्थका शोधन आत्मज्ञानमें कारण है इसी-प्रकार संन्यास भी आत्मज्ञानका मुख्य कारण है।

मिथ्या वचनके परित्यागका नाम सत्य है, मन सहित श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी एकाग्रताका नाम तप है और उपस्थ इन्द्रियके संयमका नाम ब्रह्मचर्य है।

हे शौनक! इन तीनों साधनोंमें भी मुख्य साधन सत्य है। सत्यका ही जय होता है झूठका नहीं। 'सत्यमेव जयति नानृतम्' सच्चा पुरुष झूठेको दबा लेता है। जैसे लोकमें सच्चा पुरुष जीत जाता है और झूठा हार जाता है इसीप्रकार शास्त्रमें भी सत्य-की श्रेष्ठता है। सत्य यानी यथार्थ कथनसे ही देवयान मार्गकी प्रवृत्ति हुई है, इस मार्गसे आप्त-काम तृष्णारहित ऋषि आगे बढ़ जाते हैं और जो परमार्थ तत्त्वरूप सत्यका परम भण्डार है. उसीकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ करते हैं यानी भूमिलोक, स्वर्गलोक तथा ब्रह्मलोकके सुखका कारण जो सत्य है, अधिकारी पुरुष उसी सत्यरूप ब्रह्मको महावाक्यजन्य ज्ञानसे प्राप्त होता है। वह ब्रह्म बृहत् यानी महान् है, महान् आकाशादि पदार्थोंका आधार होनेसे महान्से भी महान् है, दिव्य यानी स्वप्रकाश है, परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थोंके भीतर होनेसे सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है इसलिये अचिन्त्य है और सूर्य आदि अनेक रूपसे प्रकाशता है। वह ब्रह्म असमाहित चित्तवालोंके लिये दूरसे भी अत्यन्त

दूर है और इस शरीरमें ही स्थित होनेसे समाहित चित्तवाले विद्वानोंके लिये उनका आत्मा होनेसे समीपसे भी समीप है। वह ब्रह्म चेतन प्राणियोंकी बुद्धिरूप गुहामें स्थित है। इस आत्मतत्त्वको कोई प्राणी आंखोंसे नहीं देख सकता क्योंकि वह रूपरहित है। वाणीका अविषय होनेसे कोई इसका वर्णन नहीं कर सकता और अन्य इन्द्रियोंसे भी कोई इसको ग्रहण नहीं कर सकता, चान्द्रायणादि तपोंसे और अग्निहोत्रादि कर्मोंसे भी इसकी प्राप्ति नहीं होती। ज्ञानके प्रसादसे जिसकी बुद्धि रागादि मलोंसे रहित होकर शुद्ध हो जाती है, वही विद्वान् ब्रह्मदर्शन करनेके योग्य होता है। जो कोई कलारहित ब्रह्मका एकाग्र मनसे चिन्तन करता है, वही उसको अपरोक्षरूपसे जानता है–साक्षात्कार करता है। इस शरीरमें प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान पांच प्राण हैं। ये पांचों प्राण इस आत्मामें प्रविष्ट हैं, इस अणुके सूक्ष्म इन्द्रिय–अगोचर आत्माको केवल विशुद्ध ज्ञानसे ही हृदयमें जाना जासकता है। प्राणियोंके चित्त और चक्षु आदि इन्द्रियां, इन सबमें चेतन ओतप्रोत है, मलिन चित्त होनेके कारण उसका अनुभव नहीं होता। जब चित्त पांच क्लेशादि मलोंसे रहित होता है तब उसमें आत्मा विशेषरूपसे प्रकाशता है। सर्वात्मरूपसे आत्माके जाननेवालेको सर्वात्मरूपका फल होता है, वह विद्वान् जिस जिस पित्रादि लोककी कामना करता है, उसीको प्राप्त होता है। सब भोग विद्वान्की आज्ञामें रहते हैं। वह विद्वान् जीवको शाप अथवा आशीर्वाद देनेमें समर्थ होता है। ब्रह्मवेत्ताका पूजन करनेसे पुरुष पुण्यवान् होकर सुख प्राप्त करता है और उसकी अवज्ञा करनेसे पापी होकर दुःख भोगता है। जिसको पुत्र तथा धनादिकी इच्छा हो, उसको भी सर्वदा ब्रह्मवेत्ताका पूजन अर्चन करना चाहिये। जो विद्वान् पुरुष स्वप्नमें मनसे भी ब्रह्मवेत्ताकी अवज्ञा नहीं करता, वह मनवाञ्छित सब पदार्थोंको प्राप्त करता है। इति तृतीय मुण्डके प्रथम खंडः

निष्कामताकी श्रेष्ठता

जो विवेकी पुरुष निष्काम होकर ब्रह्मवेत्ता पुरुषकी सेवा करता है, वह सर्व दुःखोंसे रहित परब्रह्म भावको प्राप्त होता है क्योंकि ब्रह्मवेत्ता शरीरमें रहता हुआ भी आनन्दस्वरूप ब्रह्मको साक्षात् जानता है, अभेदरूपसे परब्रह्मकी उपासना करता है तथा अभेदरूपसे परब्रह्ममें ही स्थित होता है, ऐसे ब्रह्मरूप ब्रह्मवेत्ताकी जो अधिकारी श्रद्धापूर्वक भक्ति करता है वह भक्त भी ब्रह्मवेत्ताके अनुग्रहसे ब्रह्मवेत्ता होकर ब्रह्मके समान ही होजाता है और फिर वह गर्भमें नहीं आता इसलिये ब्रह्मभावरूप मोक्षकी प्राप्तिके लिये अधिकारियोंको निष्काम होकर ब्रह्मवेत्ताका सेवन करना चाहिये।

हे शौनक! कामना ही समस्त दुःखोंका कारण है। जो विवेकी सर्व कामनाओंका त्याग करता है, वही ब्रह्मात्मज्ञानको प्राप्त करता है। जो निष्कामी होता है। वह इसलोकमें तथा परलोकमें किञ्चित् भी दुःख नहीं पाता। निष्कामता ही सुखका कारण है।

आनन्दस्वरूप आत्मा ब्रह्मवेत्ता गुरुके अनुग्रह बिना अधिकारीको प्राप्त नहीं होता। केवल वेदोंका अध्ययन करने करानेसे अथवा तीक्ष्ण बुद्धिसे प्राप्त नहीं होता किन्तु ब्रह्मवेत्ता गुरुके उपदेशसे ही प्राप्त होता है। ब्रह्मात्मज्ञानसे ब्रह्मरूपताको प्राप्त हुआ ब्रह्मवेत्ता गुरु जिस शिष्यपर अनुग्रह करता है, उस शिष्यपर परब्रह्म भी अनुग्रह करता है। शिष्यके चित्तमें अद्वितीय स्वरूपका प्रादुर्भाव होना ही परब्रह्मका अनुग्रह है। श्रुतिमें कहा है:—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्'

इसका भावार्थ उपर्युक्त अर्थसे मिलता हुआ है। हे शौनक! काम क्रोधादि शत्रुओंसे दबाये हुए मन, इन्द्रियादिके धैर्यरूपी बलसे रहित पुरुषको आत्मदेव प्राप्त नहीं होता किन्तु बलवान्को ही आत्मा प्राप्त होता है, धैर्यरूप बलसे रहित पुरुषको केवल आत्माकी प्राप्तिका ही अभाव नहीं होता किन्तु लोक परलोक दोनोंमें उसको दुःखकी ही प्राप्ति होती है इसलिये अधिकारीको धैर्यरूप बल अवश्य सम्पादन करना चाहिये।

जैसे बलके अभावसे आत्मा प्राप्त नहीं होता ऐसे ही प्रमादसे भी आत्माकी प्राप्ति नहीं होती और किसी आश्रमसे रहित पाखण्डरूप तपसे भी आत्मा प्राप्त नहीं होता किन्तु प्रमादरहित धैर्यसे तथा स्वाश्रमधर्मसे किये हुए तपसे ही ब्रह्मात्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। विषय पास आनेपर धैर्यके नाश होनेका नाम प्रमाद है, ब्रह्मात्मज्ञानसे विद्वान् अधिकारीको आनन्द-स्वरूप प्रत्यक्चेतन आत्माकी प्राप्ति होती है।

हे शौनक! जो जो महात्मा ऋषि आनन्द-स्वरूप प्रत्यक्-आत्माके साक्षात्कारसे आत्म-स्वरूप आनन्दमें मग्न होते हैं, वे आत्मज्ञानसे सन्तुष्ट होकर परमात्मस्वरूप करके ही निष्पन्न होते हैं और रागादि दोषोंसे रहित होकर शान्त मनवाले विवेकी पुरुष सर्वव्यापक ब्रह्मको प्राप्त होकर सबमें प्रवेश कर जाते हैं। जैसे घटाकाश और महाकाशका उपाधिसे भेद है ऐसे ही जीवात्मा और परमात्माका उपाधिसे भेद है।

जिस परमहंस संन्यासीको ब्रह्मलोककी प्राप्तिकी इच्छारूप प्रतिबन्धसे इस जन्ममें ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं होता, उसको ब्रह्मलोकमें जाकर अवश्य ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। जिन संन्यासियोंने इस जन्ममें वेदान्त वाक्योंके अर्थका विचार किया है और जिनका अन्तःकरण रागादि दोषोंसे रहित हुआ है वे ब्रह्मलोकको प्राप्त होकर हिरण्यगर्भरूप ब्रह्माके साथ परब्रह्मको प्राप्त हाते हैं।

इसलोकमें, ब्रह्मलोकमें अथवा किसी अन्य-लोकमें ब्रह्मवेत्ता विद्वान् जब प्रारब्ध कर्मको भोगकर विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है तब जैसे नदियां समुद्रमें लय होती हैं इसीप्रकार देव-दत्तादि नामको छोड़कर उसकी दूसरी पन्द्रह कलाएं अपने अपने कारणमें लय हो जाती हैं। प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, वागादि इन्द्रियां, मन, अन्न, वीर्य, तप, मंत्र, कर्म और लोक ये पन्द्रह कलाएं हैं। ब्रह्मवेत्ताकी अध्यात्म-रूप वागादि इन्द्रियां अपने अपने आदिदेव अग्नि आदिमें लय हो जाती हैं और उसके शरीरमें स्थित बुद्धिविशिष्ट विज्ञानमय जीव शुद्ध परमात्मा-देवमें लय भावको प्राप्त होता है। इसप्रकार कार्य कारणरूप सब उपाधियोंका लय होनेके बाद विद्वान् एक अद्वितीयरूप हो जाता है। जैसे ब्रह्मवेत्ताकी प्राणादि पन्द्रह कलाएं लय हो जाती हैं ऐसे ही नामका भी लय हो जाता है। श्रुतिमें नाम-को छोड़कर पन्द्रह कलाओंका जो लय कहा है उसका अभिप्राय यह है कि वामदेव शुकदेवादि महान् पुरुष जो पूर्वमें मुक्त हुए हैं, उन मुक्त पुरुषोंके नाम आजतक लोकमें उच्चारण किये जाते हैं, इसलिये नामका नाश नहीं होता, इस-प्रकारकी लौकिक बुद्धिके अनुसार श्रुतिने पन्द्रह कलाओंका लय कहा है और नामका लय नहीं कहा है। जैसे पूर्वमें ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मज्ञानके बलसे

ब्रह्मभावको प्राप्त हुए हैं, इसीप्रकार वर्तमान कालमें भी जो अधिकारी विद्वान् गुरु और शास्त्रके उपदेशसे अपने आत्मरूपसे ब्रह्मका साक्षात्कार करता है, वह अधिकारी भी ब्रह्मज्ञानके प्रभावसे अद्वितीय ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। जो पुरुष अद्वितीय ब्रह्मको अपना आत्मा जानता है, उस ब्रह्मवेत्ता पुरुषके विद्यामय वंशमें शिष्य प्रशिष्य आदि तथा जन्ममय वंशमें पुत्र पौत्रादि ब्रह्मज्ञानसे रहित नहीं होते किन्तु सब ब्रह्मज्ञानमें निष्ठावाले होते हैं। ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मज्ञानके प्रभावसे कारण अज्ञानसहित सर्व पापकर्मके नाशद्वारा काम क्रोधादि सब दोषोंसे तथा सर्व शोकसे रहित होकर आनन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्मको अभेद-रूपसे प्राप्त होता है।

हे शौनक! जिस ब्रह्मविद्याका मैंने तुझे उपदेश किया है, उस ब्रह्मविद्याका चाहे जिसको उपदेश करना नहीं चाहिये किन्तु जो अधिकारी शान्ति आदि गुणोंसे युक्त हो उस अधिकारीको ही देनी चाहिये। जिस पुरुषने विधिपूर्वक वेदों-का अध्ययन किया हो, वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठानसे जिसका चित्त शुद्ध हो चुका हो, जिसने एकर्षि नामक अग्निकी आराधना की हो, ब्रह्मचर्य आश्रममें अपने शिरपर अग्नि धारणरूप व्रत किया हो, जो शमदमादि साधनयुक्त हो तथा ब्रह्मविद्याके उपदेश करनेवाले गुरुमें जिसकी अत्यन्त श्रद्धा तथा भक्ति हो। ऐसे गुणसम्पन्न अधिकारीको इस ब्रह्मविद्याका उपदेश करना चाहिये। ब्रह्मविद्या श्रेष्ठ पुरुषोंके सेवन करने योग्य है तथा अत्यन्त दुर्लभ है।

श्रुति भी इसीप्रकार अधिकारीको दिखलाती हुई प्रकृत कथाका उपसंहार करती है। इस प्रकृत त्रिकालाबाध्य सत्यपुरुषका पूर्वकालमें जिसप्रकार अंगिरस नामक ऋषिने शौनकको उपदेश किया था, इसीप्रकार विधिपूर्वक समीप आये हुए शिष्यको गुरु इस विद्याका उपदेश करे। जिसने बहुत दिनोंतक अग्निका शिरपर धारण-रूप व्रत न किया हो, वह इस विद्याको न पढ़े। ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाले ब्रह्मादि ऋषियोंको नमस्कार है! नमस्कार है!! इति तृतीयमुण्डके द्वितीयखण्डः।

हे डोरूशंकर! तूने जो ब्रह्मविद्या मुझसे पूछी थी, वह मैंने तुझसे कही, सारांश इसका यह है कि परब्रह्म अपना आत्मा ही सुखरूप है और विषयभोगोंकी कामना महा अनर्थका कारण है। यह कामना अनेकप्रकारकी योनियोंमें भटकाने-वाली और जन्म-मरण, आधि व्याधि, भूख-प्यास आदि अनेक दुःखोंको देनेवाली है। जो इस कामना-का त्याग करके परमात्मामें चित्त लगाता है, वह अविद्या आदि सर्वक्लेशोंसे मुक्त होकर अखण्ड आनन्द स्वरूप परब्रह्मको प्राप्त होकर सदाके लिये सुखी होता है।

बालकपालककी कथा

अशोक नामक वृक्षपर एक घोंसलेमें दो कबूतर रहते थे। एकका नाम पालक और दूसरेका नाम बालक था। पालक अपने नामके अनुसार दयालु और स्थिरचित्तवाला था। बालक खिलाड़ी और चंचल था। एक दिन बालकके जीमें यह धुन समायी कि एक स्थानपर आलसियोंके समान पड़े रहना ठीक नहीं है, बाहरकी सैर करनी चाहिये। यह सोचकर उसने अपने मित्र पालकसे बाहर जानेके लिये आज्ञा मांगी। पालकने कहा 'भाई! यात्रा करनेमें महा कष्ट होता है तू अभी बच्चा है, यात्राके कष्टोंको जानता नहीं, घरसे कभी बाहर नहीं निकला है और यात्राके दुःखोंका तूने

कभी अनुभव नहीं किया। तुझे यात्रा करना योग्य नहीं, घरपर रहना ही ठीक है।' बालक बालक-बुद्धि था ही, नयी उम्र थी, दुनियाकी सैर करनेका उत्सुक था. इस स्थितिमें भला वह कब किसकी सुनने लगा? वह कहने लगा 'ठीक है! यात्रामें कष्ट बहुत है परन्तु यात्रा करनेमें मौज भी तो है! नयी नयी अद्भुत वस्तुएँ देखनेमें आती हैं, नये नये तमाशे देखनेको मिलते हैं जिनसे यात्राका कष्ट दूर भाग जाता है! धीरे धीरे शीतोष्ण सहन करनेका अभ्यास हो जाता है! फिर तो आनन्द ही आनन्द है!' पालक बोला 'भाई! यात्राका आनन्द अकेलेमें नहीं आता, चार मित्रोंके साथ यात्रा करनेकी बहार है! अकेले तो रोना और हँसना दोनों ही अच्छे नहीं हैं! मित्रोंके वियोगसे बढ़कर अन्य कोई दुःख नहीं है! घरपर भुक्ति और मुक्ति दोनों ही मौजूद हैं, इसमें ही सन्तुष्ट रहना चाहिये! तू अशोकके प्रभावको नहीं जानता, इसपर रहनेवाला कभी दुखी नहीं होता, सदा सुखी रहता है इसलिये तुझे यात्रा करना उचित नहीं है! यात्राका तो नामतक भी लेना अच्छा नहीं! किसीने कहा है 'चलना भला न कोसका, दुहिता भली न एक। कर्जा भला न बापका जो प्रभु राखे टेक॥' मैं तेरे हितके लिये कहता हूं, जो अपने हितकरकी बात नहीं मानता, वह अवश्य दुःख उठाता है!'

बालक बोला 'वाह! क्या संसारमें मित्रोंका टोटा है? नये नये मित्र बहुत मिलते हैं! नयी नयी बातें जिनको कानोंने स्वप्नमें भी नहीं सुना, सुननेमें आती हैं! आप अपनी शिक्षाकथा लम्बी न बढ़ाइये, मेरे हठ करनेसे रूठ न जाइये, हँसी खुशी मुझे जानेकी आज्ञा दीजिये, मेरे वियोगसे चित्त दुखी न कीजिये! मेरे सिरपर चलनेकी धुनि सवार है! आपका समझाना बेकार है!'

पालक बोला 'भाई! मेरा काम समझानेका ही था, मानने न माननेका तुझे अधिकार है!' यह कहकर पालकने उसे बहुत प्रकारसे समझाया परन्तु भावी बलवान् है, जो होना होता है, होकर रहता है! बालक तो बालक था ही! जब भावी आती है तो अच्छे अच्छोंकी भी अक्ल गुम होजाती है! बहुत समझानेपर भी बालक न माना, न माना! घड़ी देखी न मुहूर्त, धूर्तके समान चल खड़ा हुआ!

सायंकालको हरी हरी दूबके एक सुहावने बग़ीचेमें एक वृक्षपर जाकर बसेरा किया। कहावत है कि 'सिर मुंडाते ही ओले पड़े! दैवयोगसे उसी शामको आंधी आनेसे एकदम अंधेरा हो गया, बादल गरजने लगे, बिजली चमकने लगी, ओलोंका गिरना आरम्भ हुआ! बालक घबराया, पर करे तो क्या करे? बचनेका कोई उपाय सूझता ही नहीं था! कभी पत्तोंके नीचे छिपता, कभी डालियोंमें दुबकता, कभी पेड़की जड़में सिकुड़कर बैठ जाता, कभी पेड़के खोखलेमें जा घुसता। इसप्रकार ज्यों त्यों करके राम राम करते रात बितायी! रात भी पहाड़ हो गयी, फिर भी राम नामकी आड़ लेनेसे कट ही गयी! सवेरा होते ही वह फिर उड़ा! घर जानेमें तो लाज लगती थी. आगे ही को उड़ा! थोड़ी देर उड़ा होगा, एक श्येन पक्षीने आ दबाया, दबोचना ही चाहता था, इतनेमें एक गीध आगया, श्येन और गीधमें दो दो चोंचें होने लगीं! बालक अवसर पाकर एक पत्थरकी आड़में जा छिपा। छिपे छिपे शाम हो गयी, रात पड़ गयी! रातभर भयभीत हुआ वहीं पड़ा रहा! दिन निकलते ही चौकन्ना हो दायें-बायें आगे पीछे देखता हुआ फिर चल दिया। मार्गमें एक कबूतर मिला, उसके आगे नाजके दाने पड़े देखे, बालक कई

दिनका भूखा था ही, बिना सोचे समझे दाने चुगने लगा। दाना निगलने भी नहीं पाया था, इतनेमें देखता है कि वह जालमें फंसा हुआ है, क्रोधित होकर दूसरे कबूतरसे कहने लगा 'भाई! तू तो मेरा सजातीय है, सजातीय होकर भी तूने मुझसे जालका हाल नहीं कहा, कह देता तो मैं क्यों जालमें फंसता?' कबूतर बोला 'मूर्ख! चुप हो जा! तकदीरके आगे तदबीर काम नहीं देती! मुझे दोष क्यों देता है? इससे कुछ लाभ नहीं है!' बालक बोला 'भाई! क्षमा कर! हुआ सो हुआ! सब मेरी करनीका फल है! अच्छा अब इस बन्धनसे छूटनेका उपाय तो बतला!' कबूतर बोला 'भाई! तू तो बड़ा ही मूर्ख है! इतना भी नहीं जानता कि यदि मैं उपाय जानता होता तो स्वयं क्यों जालमें फंसा रहता! तेरी मसल ऊंटके बच्चेकीसी है, जो थककर ऊंटनीसे कहने लगा 'मा! थोड़ी देर ठहर जा तो मैं सुस्ता लूं!' ऊंटनी बोली, 'बेटा! तू तो अन्धा है, देखता नहीं है कि नकेलकी रस्सी दूसरेके हाथमें है, यदि मेरा वश होता तो मैं आपही इस चलनेकी झंझटमें क्यों फंसती?' भाई! मैं आप ही फंसा हुआ हूं, तब तुझे क्या उपाय बताऊं?' बालकने निराश होकर तड़पना आरम्भ किया और वह अपने मित्र पालकका ध्यान करने लगा! सांस बाकी थे, जालका डोरा टूट गया और बालक जालमेंसे निकलकर उड़ गया! अब उसने आगे जाना छोड़कर अपने घरकी तरफ मुख मोड़ा! पूर्ण वेगसे उड़ने लगा।

जब उड़ते उड़ते थक गया, तब सुस्तानेके लिये एक खेतकी मेंड़पर जा बैठा! खेतका रखवाला खेत रखानेको गोफया घुमा रहा था, उसका फेंका हुआ एक गुदला आकर बालकके सिरमें लगा, उसकी चोटसे घायल होकर बालक एक सूखे कूपमें औंधा गिर गया और कमज़ोरीके कारण चौबीस घण्टेतक भूखा प्यासा वहीं पड़ा रहा! जब कुछ ताक़त आयी तो दूसरे दिन गिरता पड़ता, नीचे नीचे उड़ता अपने घोंसलेमें पहुंचा। पालक उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और यात्राका वृत्तान्त पूछने लगा। बालक बोला 'भाई! जीता हुआ घर लौट आया, यही ग़नीमत है, कुछ आयु शेष थी, तेरे साथ रहना प्रारब्धमें बदा था, इसीसे तेरे पास आगया हूं, सुना करता था कि यात्रामें बड़े बड़े अनुभव होते हैं, मुझे तो यही अनुभव हुआ कि घरपर ही आराम है, अब जीते जी घरसे बाहर पैर नहीं रक्खूंगा! भूल-कर भी यात्राका नाम न लूंगा! कभी भी तेरा साथ नहीं छोड़ूंगा!'

हे डोरूशंकर! इस दृष्टान्तका गूढ़ भाव तुझे स्वयं एकान्तमें जाकर विचारना चाहिये। कुछ भाव मैं तुझे समझाती हूं। अशोक वृक्ष परब्रह्म है, पालक ईश्वर है, बालक जीव है। ईश्वर अशोक वृक्षके प्रभावको जानता है इसलिये उसको शोक कभी नहीं होता और न उसे कहीं जाने आनेकी इच्छा होती है, वह अपनी महिमामें सदा स्थित रहता है। जो अपने स्वरूपको जानता है, उसे मोह शोक कभी नहीं होता! ईश्वर अपने स्वरूपको जाननेसे सृष्टिकर्त्ता होकर भी वस्तुतः अकर्ता और अशोक आनन्दस्वरूप ही है। जीव अपने स्वरूपको भूल जानेसे नीच ऊंच योनियोंमें भटकता है। जब जीवको अपने पुण्यके प्रभावसे, गुरु-शास्त्रके उपदेशसे अपने स्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है तब वह भी अपने जीव भावको छोड़कर अशोकरूप ही हो जाता है। संसारमें भटकनेका कारण कामना है और संसारसे छूटनेका कारण सर्व कामनाओंका त्याग है। बालकको अपना स्वभाव भूल जानेसे यात्रा करनेकी इच्छा हुई।

प्रचण्ड वायु विषयभोग हैं, अंधेरा गुरु शास्त्रके उपदेशको भूल जाना है, बादल गरजना और बरसना वेदके रोचक शब्द हैं, बिजली भयानक शब्द हैं, ओले विषयोंकी प्राप्ति अप्राप्तिमें अनेक-प्रकारका दुःख उठाना है। श्येन पक्षी दुर्जनोंका संग है, पत्थरकी आड़ एकान्त है, एकान्तमें रहकर ही दुर्जनोंके संगसे मनुष्य बच सकता है। दूसरा कबूतर जो मिला था, वह विषयासक्त कर्मी है, वह स्वयं ही फंसा हुआ होता है, तब दूसरेको संसारबन्धनसे कैसे छुड़ा सकता है ? घरकी तरफ लौटना ईश्वरके भजनमें लगना है, सुस्तानेके लिये मेंडपर बैठना प्रमाद है, गुल्ला लगना गुरु-शास्त्रकी चेतावनी है, भूखे प्यासे पड़े रहना त्याग है, त्यागसे सामर्थ्य आता है और जीव अपने स्थानपर आनेमें यानी ईश्वरके मिलनेमें समर्थ होता है। फिर घरसे बाहर न निकलना पालकके साथ रहना स्वस्वरूपानुसन्धान है, स्वस्वरूपानुसन्धानसे जीव परम सुखको प्राप्त होता है, फिर विषयोंमें फंसनेकी उसे कभी इच्छा नहीं होती और अन्तमें अविद्या आदि सर्व क्लेशोंका नाश होनेसे वह सदाके लिये अशोक हो जाता है और फिर संसारमें नहीं आता। अच्छा ! तेरा कल्याण हो, मैं जाती हूं।

पाठक ! परमात्माकी प्राप्तिमें त्याग ही मुख्य कारण है, आओ ! मार्गमें हम तुम्हें त्यागका गीत सुनाते चलते हैं:—

त्यागमें ही सुख है !

हरिगीत-छन्द

(१)

मुख मांसका टुकड़ा लिये था जा रहा इक कूकरा।
कुत्ते लड़त काटत रहे जबतक न त्यागा टूकरा॥
टुकड़ा दिया जब छोड़ तब कुत्ता न बोला एक भी।
जबतक रहेगा पास कुछ भी सुख न होगा लेश भी॥

(२)

जबतक हरा है वृक्ष नर पशु पक्षि तबतक आयं हैं।
फल फूल पत्ते डाल छिलका नोचकर ले जायं हैं॥
जब वृक्ष ठूंठा होय है नहिं पास कोई आय है।
जबतक रखे है पास कुछ भी सुख न तबतक पाय है॥

(३)

जो राखता है पास धन सो राजमें कर देय है।
बेटे भतीजे जायं ले या चोर आकर लेय है॥
राजी रजा नहिं देय है तो छीनकर ले जाय है।
जबतक रखे है पास कुछ भी सुख न तबतक पाय है॥

(४)

जहँ चार भाई होय हैं, झगड़ा वहां ही होय है।
निर्द्वन्द्व जो होता अकेला नींद सुखकी सोय है॥
गाई नहीं बाछी नहीं कुत्ता न बिल्ली पास है।
सोही सुखी स्वच्छन्द ऐसे पुरुषको शाबाश है॥

(५)

कपड़ा रहे है पास तो धोना धुलाना होय है।
सीना बिछाना ओढ़ना धरना उठाना होय है॥
नंगापना कपड़ा भला सीधा नहीं उलटा नहीं।
उजला नहीं मैला नहीं, फटता नहीं गलता नहीं॥

(६)

जो आ गया सो खा लिया, जो मिल गया सो पी लिया।
बाकी बचा बर्ता दिया, नहिं काल्हको संचय किया॥
भूमी बिछौना मरतका सोवे वहीं बैठे वहीं।
आकाशका सुन्दर उढ़ोना सुख अधिक इससे नहीं॥

(७)

राजा डरे है शत्रुसे, डरती प्रजा है भूपसे।
है भूप डरती रातसे, डरती निशा है धूपसे॥
डरती जवानी है जरासे, सौत डरती सौतसे।
केवल अभय है त्यागमें, डरते सभी हैं मौतसे॥

(८)

बोला सिकंदर बादशाह अवधूतजी कुछ मांगिये ।
अवधूत बोला सामनेसे धूप हटकर त्यागिये ॥
बोला सिकंदर विश्वका जिस शाहने जय कर लिया ।
दो बोलमें ऐ शाह ! सच्चे मात तूने करदिया ॥

(९)

त्यागी विरागीके लिये नहिं इन्द्र पद्वी कामकी ।
ब्रह्मादिका ऐश्वर्य भी है मात्र जूती चामकी ॥
सच्ची मिठाई खायकर झूंठी नहीं फिर भाय है ।
मोती मगदसे तृप्त क्या फिर बूर लड्डू खाय है ॥

(१०)

'भोला!' बहुत मत बोल, चुप हो, बोलना अब छोड़ दे ।
सब काम तज ब्रह्मात्म भज चित-वृत्ति उसमें जोड़ दे ॥
श्रुतिवाक्यको मत भूल रे ! नाता जगतसे तोड़ दे ।
ब्रह्मात्म डंडा मारकर भंडा अहंका फोड़ दे ॥

अच्छा भाई पाठक, नारायण ! सबमें ओत-प्रोत भगवत् आपका श्रेय करें, जाइये, अंतका दोहा और सुनते जाइये !

शौनक ऋषि मुनि अंगिरस, सुन्दर शुचि संवाद ।
पढ़त सुनत मन-मल धुले, होय परम आह्लाद ॥

—•—•—

चौराष्टकम्

आदौ बकीप्राणमलौघचौरं
बाल्ये प्रसिद्धं नवनीतचौरं ।
व्रजे चरन्तश्च मृदो हि चौरं
चौराधिपं कृष्णमहं नमामि ॥१॥

विधेः सुरेन्द्रस्य च गर्वचौरं
गोगोपगोपीजनचित्तचौरं ।
श्रीराधिकाया हृदयस्य चौरं
चौराधिपं कृष्णमहं नमामि ॥२॥

नागाधिराजस्य विषस्य चौरं
श्रीसूर्यकन्याखिलकष्टचौरं ।
गोपीजनाज्ञानदुकूलचौरं
चौराधिपं कृष्णमहं नमामि ॥३॥

वत्सासुरादेर्बलमानचौरं
पित्रोस्तथा बन्धनदुःखचौरं ।
कुब्जार्चनव्याजमनोजचौरं
चौराधिपं कृष्णमहं नमामि ॥४॥

निशाचराणामथ जीवचौरं
जीवात्मनः कल्मषसंघचौरं ।
उपासकानां च विपत्तिचौरं
चौराधिपं कृष्णमहं नमामि ॥५॥

सुहृत्सुदाम्नो ह्यधनत्वचौरं
शोकस्य गत्वा विदुरस्य चौरं ।
कृष्णापटाकर्षकगर्वचौरं
चौराधिपं कृष्णमहं नमामि ॥६॥

युद्धे हि पार्थस्य विमोहचौरं
पुरःस्थितानां च बलस्य चौरं ।
दिने च मायाबलसूर्यचौरं
चौराधिपं कृष्णमहं नमामि ॥७॥

चित्तस्य शीलस्य जनस्य चौरं
अनेकजन्मार्जितपापचौरं ।
दास्यं गतानां च समस्तचौरं
चौराधिपं कृष्णमहं नमामि ॥८॥

—गंगाशरण शर्मा 'शील' बी० ए०

भक्त-भारती

(लेखक—पं० तुलसीरामजी शर्मा 'दिनेश')

(गतांकसे आगे) (पृ० से० ६७६ से आगे)

भिलनीकी भावना

राम-चरित्र

दोहा

सुनिये अब संक्षेपमें, राजन् ! रामचरित्र।
सुनने गुननेसे सहज, होता चित्त पवित्र॥

पावन चरित यह आदि कविने है कहा विस्तारसे,
तुमने सुना बहु बार वह तारक सहज संसारसे।
फिर भी सुनाते हैं तुम्हें लीला अनोखी रामकी,
गुणग्रामकी, सुखधामकी, दाता सकल आरामकी॥

राम-रूप-वर्णन

मेचक चिकुर चिकने घने अति श्याम छल्लेदार हैं,
शुभ पीठतक छिटके हुए, सौन्दर्य-शोभागार हैं।
शिरपर मुकुट अतिशय सुघर चमचम चमकता है अहा !
ऐसा विलसता है कि वह किस विधि न जा सकता कहा॥

घन खण्डपर मार्त्तण्ड मानो होरहा शोभित महा,
श्रीरामके शुभ रूपको उपमान यह फबता कहां ?
है चन्द्रमा संगमें यहां, घनपर अकेला रवि वहां,
मार्त्तण्ड और मयङ्ककी अद्भुत प्रभा फैली यहां॥

लोचन नहीं ये तो सुधा-सरके युगल सुसरोज हैं,
स्मितकी छटा लखकर सहज होते सलज्ज मनोज हैं।
झलझल झलकते श्रवण कुण्डल तरल मकराकार हैं,
युग मच्छ छबिके सलिलमें उछलें सुशोभागार हैं॥

दोहा

अरुण ओष्ठ-आभा अमित, दशन प्रभा अति श्वेत।
बीरीली खाये रहें, बिम्बित हिय अति हेत॥

शोभित सुन्दर नासिका, उज्ज्वल सहज कपोल।
स्मित हीं बरसें सुधा, तिसपर मधुरे बोल॥

श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, रिपुसूदन मनोहर नाम हैं,
सब भाँति मर्यादा बँधे जिनके अलौकिक काम हैं।
मुनि-मख-सुरक्षण और गौतम-नारिके उद्धारका,
पावन चरित है, गेय है, खर आदिके संहारका॥

धनुभङ्गकी लीला तथा मुनि परशुधारीकी कथा,
श्रीरामका सच्चा बताती रूप सात्विक सर्वथा।
शुभ ब्याह चारों बन्धुओंके मोददायी हैं महा,
आनन्दका शुभ स्नेहका सागर जनकके घर बहा॥

फिर राज्यके अभिषेककी शीतल समीरण भी चली,
तत्काल ही रणवासमें बनवासकी ज्वाला जली।
इस ज्वालकी बस एक ही झलसे महिप दशरथ जले,
भूपाल भोले, कामिनीसे हा ! गये सहसा छले॥
कहती गयी जो कैकई बस, भूप 'हां' भरते गये,
बनका तिलक श्रीरामके शुभ भालमें करते गये॥

दोहा

पूज्य पिताके वचनको, पूर्ण निभाने हेत।
रामचन्द्र बनको चले, थापन धार्म्मिक सेत॥
जिन भक्तोंको विपिनमें, जाकर किया सनाथ।
सुनिये राजन् प्रेमसे, पावन उनकी गाथ॥

भिलनीकी भावना

रामलखन बनमें फिरें, सिय खोजनकी टेक।
खोज खोजमें मिल गयी, भक्त भीलनी एक॥

आते हुए देखे जहां, बालक युगल सुन्दर महा,
आनन्दसे उमगी हुई, आसन लगी ढूंढन अहा!
लायी कहींसे टाटका टुकड़ा पुराना अति फटा,
अति प्रेमसे उसको बिछाया, मोदकी उरमें घटा॥

श्रीराम, लछमन प्रेमसे झट बैठ आसनपर गये,
सौभाग्य अपना जानकर दृग भीलनीके भर गये।
आसन नहीं था वह हृदय था भीलनीका रति भरा,
स्वीकार सच्चे पारखीने है उसे तब ही करा॥

आतिथ्य करना भूलकर वह देखने उनको लगी,
मानो चकोरी चन्द्रमा युग देखती सुखमें पगी।
अति भक्तिसे श्रीराम-चरणोंमें झुकी शबरी जभी,
जन्मान्तरोंके पाप मानो क्षय हुए उसके तभी॥

राघव-पदोंसे शिर न अपना वह उठाना चाहती,
वह पा चुकी सर्वस्व मानो कुछ न पाना चाहती।
यह देखकर उसकी दशा भर नेत्र राघवके गये,
ज्यों ओसकणसे पूर्ण मानो होगये पङ्कज नये॥

दोहा

लख शबरीका प्रेम यों, लक्ष्मण दौलित मौन।
चेतनको जड़वत् किया, धन्य! प्रेमकी पौन॥
चरणोंसे उसको उठा, फिर यों बोले राम।
मैं तुझसे सन्तुष्ट हूं, सभी भांति हे बाम!!

फिर ध्यान शबरीको हुआ आतिथ्य मैंने क्या किया?
जलपान करवाया न कुछ संकोचसे पूरित हिया!
भीतर गयी तत्काल लायी बेर झोलीमें भरे,
थे बेर कुछ तो लाल मीठे और कुछ खट्टे हरे॥

प्रभुके निकट सी बैठकर वह भीलनी भोली भली,
देने लगी वर बेर चुन चुन प्रेम अमृतकी डली।
भिलनी खिलाने लग गयी, भगवान् खाने लग गये,
इस भोगसे भव-रोग सारे भीलनीके भग गये॥

खट्टा कहीं श्रीराम-मुखमें बेर एक चला गया,
वह बेर अपना रंग मीठा और ही लाया नया।
वह प्रेम-पगली बेर फिर चख चख उन्हें देने लगी,
इस प्रेम-वर्षासे अहा! श्रीरामको भेने लगी॥

लेती प्रथम चख बेर मीठा, रामको देती तभी,
'लछमन! रसीले बेर यह' भगवान् यों कहते जभी॥
अति स्वादसे खाते हुए करते बड़ाई जा रहे!
भिलनी तुम्हारे बेर ये मीठे हमें हैं भा रहे॥

दोहा

लायी हो किस ठौरसे, इतने मीठे बेर।
किस रसमें बौरे इन्हें, रसका इनमें ढेर॥
गद्‌गद् भिलनी हो गयी, सुनकर मधुरे बोल।
लगी झूलने भीलनी, चढ़ी प्रेमकी दौल॥

सवैया

हे रघुनाथ! न मीठे हैं बेर ये
मीठो तुम्हारो ही चित्त है भारी,
हाथके छूए न बेर मेरे कोऊ
चाखै जो जानिले जाति हमारी।
ओछी ते ओछी है भीलकी जाति
औ तापर नारी मैं नीच गंवारी,
मांगिके खात सराहत जात ये
पूर्वके पुण्यकी मेरी है बारी॥

दर्शन हेतु तजैं धन धाम
औ जोग कमाय समाधि लगावैं,
धूप औ शीत सहैं शिर ऊपर
तो भी न ये शुभ दर्शन पावैं।
भाग्य जगे मम आज अचानक
दासीके द्वार पै चालिके आवैं,
भोगनके ठुकरावन वारे ये
बेरन खातिर हाथ दड़ावैं॥

दाख औ माखन जो घर होते तो
आज खिलाय निकासती जीकी,
चूरके देती मैं चूरमो चोखो प
जोर, नहीं घर आंगुरी घीकी।

मानके राखन खातिर मानी है
टंकिनिकी मिजमानी ये नीकी,
बेरनसों मिजमानीकी बात
रहेगी सदा ये बनी भिलनीकी॥

हे रघुनाथ ! तुम्हारो दयालु
स्वभाव सुन्यो जस वैसो हि पायो,
याही दयालु स्वभावके कारण
तीनहूं लोकनमें जस छायो।
बारहिंबार जो बेरन मांगनको
इतिहास नयो ये बनायो,
कौनहू भौन समाये न ये जस,
पौन रखैंगी सदा अपनायो॥

दोहा

सुनकर विनती बामकी, हंसकर बोले राम।
क्यों इतनी सकुचा रही, बेरों पर हे बाम !

मेरे लिये संसारमें कोई पदार्थ बुरा नहीं,
अभिमानमें जो है भरा सबसे बुरा बस है वही।
सप्रेम श्रद्धासे दिया विष भी मुझे तो पेय है,
मम भक्तका अर्पित मुझे कोई पदार्थ न हेय है॥

मुझको सरस है वस्तु वह जिसमें हृदय होवे भरा,
मैं देखता खट्टा न मीठा और सूखा भी हरा।
जूंठे खिलाये बेर क्या, मम चित्त तूने हर लिया,
माता सदृश तू होगयी सुत-भाव जो मुझ पर किया॥

यह राम है तेरा, मुझे कोई न वस्तु अदेय है,
वर मांग इच्छित आज तू, तेरे लिये सब देय है।
सुन रामके मधुरे वचन भिलनी न निज तनमें रही,
अति स्नेह, श्रद्धा, प्रेमकी त्रैधारमें बेवश बही॥

'है कौनसी वह वस्तु जगकी मूल्य रखती हो घना–
इन दर्शनोंसे–चित्त मेरा सुख–सुधामें है सना।
हे नाथ ! यह विस्मय मुझे, किस बात पर रीझे कहो ?
मांगू भला क्या आज मैं, पाया नहीं क्या कुछ अहो !

दोहा

कोटि जन्म नृप-पद मिलें, उनके जितने भोग।
इस दर्शन पर वारिये, जो नाशक भव–रोग॥
भक्ति आपकी चित्तमें, बनी रहे दिन रात।
भूलूं एक न पल कभी, यह शुभ पद-जलजात॥'
'एवमस्तु' श्रीरामने, कहा प्रेमके साथ।
बिदा हुए तत्काल वे, करके भिलनि सनाथ॥
यह भिलनीकी शुभ कथा, पढ़िये सुनिये नित्य।
दुरित-निशा दूरित करे, प्रेम उदित–आदित्य॥

राजन् ! वहांसे राम सानुज चल पड़े सिय–खोजमें,
सुग्रीवसे मैत्री हुई, आई सुरभि अम्भोजमें।
प्रिय दूत मारुतिसे मिले लङ्का जला जो आगये,
सन्देश सीताका सुखद श्रीराम उनसे पागये॥

नल नील आदिक शिल्पियोंने सिन्धुपरसे पथ किया,
श्रीरामने कपि–कटकको आदेश चलनेका दिया।
चारों तरफसे घेर ली निज शत्रुकी नगरी बड़ी,
तत्काल दोनों ही दलोंमें युद्धकी किलकी पड़ी॥

संग्रामकी भारी भयङ्कर अग्नि पलमें लग गयी,
सोयीं हुईं रण–चण्डिकाएं घोर रव सुन जग गयीं।
सुकुमार इन दो बालकोंने राक्षसोंको हत किया,
निज शत्रु रावणको सहज ही शीघ्र गौरव–गत किया॥

नामी असुर मारे सकल फिर दशवदनको भी हता,
निज तेजसे कपि–कटकसे पायी सहज रण–सफलता।
भूभार हरकर रामने उरुकी सुताका दुख हरा,
मिलकर स्वपतिसे जानकी–उर शुष्क हो आया हरा॥

दोहा

कह न सकें शत कल्पमें, सो सुख शारद शेष।
जो सुख सीताको हुआ, राम फलित उद्देश॥
भरत तुल्य प्रिय भक्तको, कनक पुरी दी सौंप।
आप अयोध्या उठ चले, भक्त राज्य–तरु रोप॥
राजन् ! यह संक्षेपमें, गाया राम–चरित्र।
छोटासा आख्यान अब, सुनिये एक पवित्र॥

(क्रमशः)

महायोग-तत्त्व
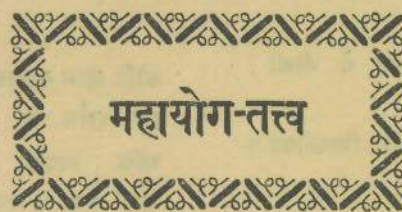
केशिध्वज खाण्डिक्य-संवाद

प्राचीन कालकी बात है, राजा धर्मध्वजके दोनों कुमारोंके केशिध्वज और खाण्डिक्य-जनक नामक दो तेजस्वी पुत्र थे। राजकुमारोंने सब प्रकारकी विद्या और कलाएं सीखी थीं। कुमार केशिध्वज अध्यात्मशास्त्रके बड़े पण्डित हुए और खाण्डिक्य कर्मरहस्यके ज्ञाता हुए। दोनों भाइयोंमें परस्पर विजयेच्छा रहती थी। समयपर केशिध्वजने खाण्डिक्यको जीतकर नगरसे बाहर निकाल दिया। पराजित खाण्डिक्य अपने पुरोहित, मन्त्री और परिवारके कुछ लोगोंको साथ लेकर दुर्गम वनमें जा बसे। इधर केशिध्वज अविद्याद्वारा होनेवाली मृत्युसे बचनेके लिये विविध प्रकारके यज्ञकरने लगे।

एक समय केशिध्वज वनमें यज्ञ कर रहे थे, उन्हें समाधिमें स्थित जानकर एक व्याघ्रने उनकी धर्म-धेनुको मार डाला। राजाको इस दुर्घटनाका पता लगनेपर उन्होंने पश्चात्ताप करते हुए यज्ञकी पूर्तिके लिये अपने पुरोहितोंसे गोहत्याके प्रायश्चित्तका विधान पूछा। पुरोहितोंने कहा कि, इस विषयमें हम कुछ भी नहीं कह सकते आप कशेरू मुनिसे पूछिये, कशेरूसे पूछनेपर उन्होंने भार्गव शुनक मुनिका नाम बतलाया। राजाने शुनकके पास जाकर पूछा, तब शुनक बोले कि 'हे राजन्! तुम्हारेद्वारा पराजित तुम्हारे शत्रु खाण्डिक्यके सिवा इस समय पृथ्वीमें कशेरू, मैं या अन्य कोई भी ऐसा कर्मके तत्त्वको जाननेवाला नहीं है जो तुम्हें प्रायश्चित्तका विधान बतला सके। तुम चाहो तो उनके पास जाकर पूछ सकते हो।' यज्ञका विघ्न दूर करनेकी इच्छासे केशिध्वजने कहा कि 'हे मुने! मैं इस कार्यके लिये अभी खाण्डिक्यके पास जाता हूं। यदि वे मुझे अपना शत्रु समझकर मार डालेंगे तब तो मुझे आत्म-बलिदानके फलस्वरूप यज्ञका फल योंही मिल जायगा। यदि वे मुझे शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त बतला देंगे तो मैं तदनुसार करके यज्ञकी पूर्ति कर दूंगा।'

यों कहकर महामति राजा केशिध्वज कृष्णाजिन पहनकर रथपर सवार हो तुरन्त उस वनकी ओर चले, जहां खाण्डिक्य अपने परिवार-सहित निवास करते थे। खाण्डिक्य अपने शत्रुको दूरसे अपनी ओर आते देखकर, उसकी दुर्भावना समझकर बड़े क्रोधित हुए। वह क्रोधसे लाल लाल आंखें करके पुकारकर कहने लगे 'हे केशिध्वज! क्या तुम इसीलिये कृष्णाजिन (काले मृगका चर्म) धारण करके आये हो कि इसको देखकर मैं तुम्हें नहीं मारूंगा? तुमने और मैंने न मालूम कितने कृष्ण-चर्मधारी मृगोंको तीक्ष्ण बाणोंसे मारा होगा। अतएव इस वेषके कारण मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकता।' केशिध्वजने कहा-'मैं आपको मारनेके लिये नहीं आया हूं, सन्देहकी निवृत्तिके लिये आपसे कुछ पूछने आया

हूं, आप किसीप्रकारका सन्देह न करें और क्रोध तथा बाणको त्यागकर मेरे प्रश्नका उत्तर देनेको कृपा करें।'

केशिध्वजके यह वचन सुनकर बुद्धिमान खाण्डिक्य अपने पुरोहित और मन्त्रियोंको एकान्तमें ले जाकर उनसे परामर्श करने लगे। मन्त्रियोंने कहा, 'महाराज! ऐसा अवसर फिर कब मिलेगा? शत्रु आपके हाथोंमें आ गया है अब तो इसका काम तमाम ही कर डालना चाहिये। इस वैरीके मरते ही सारी पृथ्वी आपके अधीन हो जायगी!' खाण्डिक्यने उनके वचन सुनकर गंभीरतासे कहा, 'निस्सन्देह इसके मरनेसे पृथ्वीपर मेरा एकाधिपत्य हो जायगा परन्तु ऐसा करनेसे मेरा परलोक बिगड़ जायगा मेरी समझसे पृथ्वीके राज्यकी अपेक्षा परलोकमें विजयी होना-जीव-जीवनका उच्चतर अवस्थामें पहुंच जाना कहीं अधिक महत्वका विषय है। क्योंकि—

परलोक जयोऽनन्तः स्वल्पकालो महीजयः।

परलोकका जय अनन्तकालके लिये होता है, पर पृथ्वीकी विजय तो अल्पकालस्थायी होती है अतएव'''एनं न हिंसिष्ये यत्पृच्छति वदामि तत्।" मैं इसे मारूंगा नहीं, यह जो कुछ पूछेगा सो बतलाकर इसे बिदा करूंगा। धन्य धर्म-परायणता और साधुता!

खाण्डिक्य-जनक अपने शत्रु केशिध्वजके पास जाकर शान्ति और प्रेमसे कहने लगे 'कि आपको जो कुछ पूछना हो, मुझसे पूछिये, मैं आपको यथार्थ उत्तर दूंगा।' केशिध्वजने धर्म-धेनुके बधकी घटना सुनाकर उसके प्रायश्चित्तका विधान पूछा, खाण्डिक्यने बड़ी सरलतासे विस्तारपूर्वक विधान बतला दिया। केशिध्वजने वहांसे अपनी यज्ञभूमिमें लौटकर यथाविधि प्रायश्चित्त और क्रमशः यज्ञकी समस्त क्रियाएं कीं। यज्ञ समाप्त होनेपर राजाने सब ऋत्विक् और सदस्योंका पूजन सम्मान किया, अतिथियोंको अनेक प्रकारसे विविध दान देकर प्रसन्न किया। तब भी राजाके मनमें शान्ति नहीं हुई। इसका कारण सोचते सोचते केशिध्वजके मनमें यह भावना हुई की 'मैंने प्रायश्चित्तका विधान बतलाने वाले खाण्डिक्यको अभी गुरुदक्षिणा नहीं दी, इसी-से मेरा मन अशान्त है।' इस विचारके पैदा होते ही केशिध्वज फिर खाण्डिक्यके निवासस्थानकी ओर चले। इसबार भी खाण्डिक्यने नीतिके अनुसार उसपर सन्देह करके शस्त्र उठाये परन्तु केशिध्वजने वहां जाते ही नम्र वचनोंमें खाण्डिक्य-से कहा, हे खाण्डिक्य! मैं आपकी कोई बुराई करने नहीं आया हूं, आप क्रोध न करें। आपके उपदेश-से मेरा यज्ञ भलीभांति पूर्ण हो चुका है, मैं अभी गुरु-दक्षिणा नहीं दे सका, उसीको देने आया हूं, आपकी जो इच्छा हो सो मांग सकते हैं।'

केशिध्वजकी यह बात सुनकर खाण्डिक्यने अपने मन्त्रियोंसे सम्मति पूछी, उन्होंने कहा 'राजन्! आप इससे सारा राज्य मांग लीजिये। बिना ही युद्धके जहां राज्यकी प्राप्ति होती हो वहां बुद्धिमान पुरुष राज्य ही लिया करते हैं।" मन्त्रियोंकी इस उक्तिपर महामति खाण्डिक्य हंस पड़े और कहने लगे, 'मित्रो! आप अन्य सभी कार्योंमें मुझे उचित परामर्श दिया करते हैं परन्तु परमार्थ वस्तु क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है, इस बातको आपलोग विशेषरूपसे नहीं जानते। क्या मुझ जैसे व्यक्तिके लिये ऐसे अवसरपर थोड़े दिनोंतक रहनेवाले राज्यकी कामना करना उचित है? "स्वल्पकालं महीराज्यं मादृशैः प्रार्थ्यते कथम्। आप लोग देखिये, मैं उससे क्या मांगता हूं।' इतना कहकर खाण्डिक्यने

केशिध्वजके पास जाकर कहा 'भाई! क्या सचमुच तुम मुझे गुरु-दक्षिणा दोगे?' केशिध्वजने दृढ़तासे कहा, 'हां, अवश्य दूंगा।' तब खाण्डिक्य कहने लगे कि, 'हे केशिध्वज!—

भवानध्यात्मविज्ञानपरमार्थविचक्षणः ॥
यदि चेदीयते मह्यं भवता गुरुनिष्क्रियः ।
तत्क्लेशप्रशमायालं यत्कर्म तदुदीरय ॥

अध्यात्म-विज्ञानरूप परमार्थ ज्ञानमें आप प्रवीण हैं यदि आप गुरुदक्षिणा देना चाहते हैं तो मुझे वह उपाय बतलाइये जिससे मेरे समस्त क्लेश सम्पूर्ण रूपसे नष्ट होजायं।

केशिध्वजने कहा, 'आप मुझसे निष्कण्टक राज्य क्यों नहीं चाहते? क्षत्रियोंको तो राज्यके समान और कोई पदार्थ इतना प्रिय नहीं होता।' खाण्डिक्य कहने लगे, – 'हे केशिध्वज! मूर्ख मनुष्य जिसके लिये सदा लालायित रहते हैं, ऐसे विशाल राज्यको मैंने क्यों नहीं मांगा, इसका कारण आपको बतलाता हूं।

'प्रजाका पालन करना और धर्मयुद्धमें राज्यके शत्रुओंका संहार करना ही क्षत्रियोंका धर्म है। मेरा राज्य आपने छीन लिया है, इससे प्रजापालन न करनेका दोष इससमय तो मुझ पर कुछ भी नहीं है परन्तु यदि राज्य ग्रहण करके न्यायपूर्वक उसका पालन न किया जायगा तो मुझे अवश्य पापका भागी होना पड़ेगा। इसके सिवा-भोग पदार्थोंकी इच्छा न करनेमें एक हेतु यह भी है, कि क्षत्रिय कभी मांगकर राज्य नहीं लिया करते, यह सज्जनोंका सिद्धान्त है। फिर राज्यकी प्राप्तिमें वास्तवमें सुख ही कौनसा है? जो मूर्ख अहंकाररूपी मदिरा पीकर पागल होरहे हैं या जिनका मन ममताके मायाजालमें फंस रहा है वे ही राज्यका लोभ किया करते हैं, मैं ऐसे राज्यसे कोई लाभ नहीं समझता, इसीलिये मैंने इस अविद्याके अन्तर्गत राज्यकी कामना नहीं की।'

खाण्डिक्यके इन वचनोंसे प्रसन्न होकर केशिध्वजने उन्हें साधुवाद देते हुए कहा कि, 'हे खाण्डिक्य-जनक! मैं प्रजापालन आदि अविद्याकी क्रियाओंद्वारा काम क्रोधादिसे छूटनेके लिये राज्यका पालन तथा अनेक यज्ञोंका अनुष्ठान करता हूं और भोगद्वारा पुण्योंका क्षय कर रहा हूं। ईश्वरेच्छासे आपके मनमें विवेक जाग्रत हो गया है, यह बड़े ही आनन्दका विषय है। मैं आपको अविद्याका स्वरूप बतलाता हूं। हे कुल-नन्दन! अनात्ममें आत्मबुद्धि और जो वस्तु अपनी नहीं है, उसको अपना समझना, ये दो अविद्या वृक्षके बीज हैं। दुष्टबुद्धि जीव मोहरूपी अन्धकार-से आच्छन्न होकर पांच भूतोंसे बने हुए इस स्थूल शरीरको ही आत्मा समझते हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीसे जब आत्मा सर्वथा अलग हैं तब ऐसा कौन बुद्धिमान् और प्राज्ञ मनुष्य होगा जो इस पञ्चभूतात्मक शरीरको आत्मा और शरीरद्वारा भोग किये जानेवाले घर, जमीन, धन, ऐश्वर्य आदि भोगोंको अपना समझे? जब शरीर ही अपना नहीं है, तब उसके द्वारा उत्पन्न हुए पुत्र पौत्रादिको अपना समझकर बुद्धिमान मनुष्यको कभी मोहमें नहीं पड़ना चाहिये।'

'मनुष्य इस देहके भोगके लिये ही सारे कर्म करता है, यह देह जब आत्मासे भिन्न है तब जीवका इस देहमें आत्मबुद्धि करना केवल संसार-में बन्धनके लिये ही होता है। जैसे मिट्टीके घरकी रक्षाके लिये मिट्टी और जलसे उसपर लेप किया जाता है वैसे ही यह पार्थिव शरीर भी

अन्न-जलके द्वारा रक्षित होता है। इसतरह जब पञ्चभूतात्मक भोगोंद्वारा इस पञ्चभूतमय शरीरकी ही रक्षा और तृप्ति होती है तब जीवका इसमें गर्व करना व्यर्थ है।'

'वासनाकी धूलिसे लिपटा हुआ यह जीव हजारों जन्मोंतक इस संसारमें भटकता हुआ केवल परिश्रमको ही प्राप्त होता है। संसारमें भटकनेवाले इस भ्रान्त पथिककी यह वासनारूपी धूलि जब ज्ञानरूप गरम जलसे धुल जाती है तभी उसकी मोहरूपी थकावट दूर होती है। मोह-श्रम मिटनेपर जीवका अन्तःकरण स्वस्थ होता है और तभी इसे अनन्य अतिशय आनन्दकी प्राप्ति होती है। वास्तवमें यह निर्वाणमय सुखस्वरूप निर्मल आत्मा सदा मुक्त ही है, दुःख अज्ञान आदि मल तो प्रकृतिके धर्म हैं, आत्माके नहीं। परन्तु जैसे थालीके जलसे अग्निका कोई साक्षात् सम्बन्ध न होनेपर भी थालीके सम्बन्धके कारण जलमें उष्णता आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही प्रकृतिके संगसे यह अव्यय आत्मा भी अभिमानादि द्वारा दूषित होकर प्रकृतिके धर्मों-का भोग करता हुआ प्रतीत होता है। यही अविद्याके बीजका स्वरूप है, इस अविद्यासे उत्पन्न क्लेशोंके नाशके लिये योगके सिवा और कोई भी उपाय नहीं है।'

इतना सुनकर खाण्डिक्यने केशिध्वजसे कहा कि, 'हे महाभाग! आप उस योगके तत्त्वको भलीभांति जानते हैं, कृपाकर मुझे वह योगतत्त्व बतलाइये।' इसपर केशिध्वज कहने लगे कि, 'हे खाण्डिक्य! जिस योगमें स्थित हो मुनिगण ब्रह्ममें लीन होकर संसारमें फिर कभी नहीं आते। मैं उस योगका स्वरूप बतलाता हूं, मन लगाकर सुनियेः—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धस्य विषयासङ्गि मुक्तेर्निर्विषयं तथा॥

मन ही मनुष्योंके बन्ध और मोक्षका कारण है। जब यह मन विषयोंमें आसक्त होता है तब बन्धनका और जब विषयोंका त्याग कर देता है तब यही मुक्तिका कारण बन जाता है। ज्ञानके साधक मुनिगण इस मनको विषयोंसे हटाकर मुक्तिके लिये उस परब्रह्म परमेश्वरमें लगाते हैं। हे श्रेष्ठ! जैसे चुम्बक पत्थरसे स्वाभाविक ही लोहेका आकर्षण होता है उसीप्रकार मनके द्वारा निरन्तर चिन्तन किये जानेपर ब्रह्म भी योगीको अपनी ओर स्वाभाविक ही खींच लेता है। मनकी यह गति आपके ही यत्नपर निर्भर करती है। मनकी गतिका ब्रह्मके साथ संयोग कर देना ही 'योग' कहलाता है। इसप्रकारके योगकी साधना करनेवाले व्यक्तिको ही योगी और मुमुक्षु कहते हैं। योगयुक्त पुरुष पहले युञ्जान कहलाता है तदनन्तर वह क्रमशः समाधिसम्पन्न होकर ब्रह्मज्ञानको प्राप्त होता है। युञ्जान योगी यदि किसी कारणवश इस जन्ममें सिद्धिको प्राप्त नहीं होता तो उसका मन दोषरूप विघ्नसे रहित होने-के कारण वह जन्मान्तरमें पूर्वके अभ्यास बलसे मुक्त होजाता है। परन्तु समाधिसम्पन्न योगी तो इसी जन्ममें मुक्तिको प्राप्त होता है, कारण उसके समस्त अदृष्ट योगकी अग्निद्वारा बहुत ही शीघ्र भस्म होजाते हैं।'

'योगीको चाहिये कि वह अपने मनको तत्त्वज्ञानके उपयोगी बनानेके लिये निष्कामभाव-से ब्रह्मचर्य अहिंसा सत्य अस्तेय और अपरिग्रह आदि नियमोंका अवलम्बनकर संयतचित्तसे स्वाध्याय शौच सन्तोष तथा तप करते हुए मनको निरन्तर परब्रह्म परमेश्वरकी चिन्तामें

लगाये रक्खे। यही दस प्रकारके यम नियम हैं। इनका सकामभावसे पालन करनेवालेको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है और निष्काम आचरण करनेवालेको मुक्ति मिलती है। भद्र आदि आसनोंमेंसे किसी एक आसनका अवलम्बन करके सद्गुणी पुरुषको यम नियमसे सम्पन्न होकर वशमें किये हुए चित्तसे योगका अभ्यास करना चाहिये।'

"अभ्याससे प्राण नामक वायुको वशमें करनेवाली क्रियाका नाम प्राणायाम है। प्राणायाम सबीज और निर्बीज भेदसे दोप्रकारका है। जब प्राण और अपान वायु सद्विधानसे परस्परको जीत लेते हैं तब इन दोनोंके संयमित हो जानेपर कुंभक नामक तीसरा प्राणायाम होता है। योगी जब पहले पहल प्राणायामका अभ्यास करते हैं तब भगवान्का स्थूलरूप ही उनके चित्तका अवलम्बन रहता है। योगीको चाहिये कि वह क्रमशः प्रत्याहारपरायण होकर शब्द स्पर्शादि विषयोंमें आसक्त इन्द्रियोंका निग्रह करके उन्हें चित्तका अनुसरण करनेवाली बना ले, इन अत्यन्त चञ्चल स्वभाववाली इन्द्रियोंको वश करनेकी बड़ी आवश्यकता है। जबतक इन्द्रियां वशमें नहीं होतीं तबतक योगी योगकी साधनामें समर्थ नहीं हो सकता। इसप्रकार प्राणायामद्वारा प्राणवायुको और प्रत्याहारद्वारा इन्द्रियोंको वशमें करके योगीको कल्याणका आश्रय लेकर अपना चित्त भलीभांति स्थिर करना चाहिये।'

खाण्डिक्यने कहा, 'हे महाभाग! जिस कल्याणके आश्रयसे चित्तके सारे दोष नष्ट हो जाते हैं वह क्या वस्तु है सो कृपा करके मुझे समझाइये।' केशिध्वज कहने लगे कि 'हे राजन्! ब्रह्म ही चित्तका शुभ आश्रय है। वह स्वभावतः ही दो प्रकारका है,-मूर्त्त और अमूर्त्त जिसको पर और अपर भी कहते हैं। इस जगत्में तीनप्रकारकी भावनाएं होती हैं, एक ब्रह्मभावना, दूसरी कर्मभावना और तीसरी ब्रह्म-कर्मभावना है। सनन्दन आदि ऋषिगण ब्रह्मभावनावाले हैं। देवताओंसे लेकर जड़-चेतन समस्त प्राणी कर्मभावनावाले हैं और हिरण्यगर्भ आदिमें ब्रह्म-कर्म दोनों भावनाएं हैं। जिसका जैसा ज्ञान और अधिकार है उसकी वैसी ही भावना हुआ करती है।"

'भेदज्ञानके हेतु कर्म जबतक बने रहते हैं तभीतक जीवोंको विश्व और परमात्मामें भेद दीखता है। जिस ज्ञानसे सारे भेद मिट जाते हैं, जो ज्ञान सत्तामात्र है, जो मन वाणीसे अगोचर है और जिसको केवल आत्मा ही जानता है उसीका नाम ब्रह्मज्ञान है। वही अज अक्षर तथा अरूप विष्णुका नित्य और परमरूप है और वह समस्त विश्वरूपसे विलक्षण है। आरम्भमें योगी उस परमरूपका चिन्तन नहीं कर सकते इसीलिये उन्हें परमात्माके विश्वगोचर स्थूलरूपका चिन्तन करना चाहिये। हिरण्यगर्भ, इन्द्र, प्रजापति, वायु, वसु, रुद्र, आदित्य, नक्षत्र ग्रह, गन्धर्व, यक्ष और दैत्य आदि समस्त देवयोनियां,-मनुष्य, पशु, पर्वत, समुद्र, नदी और वृक्ष आदि अगणित प्राणी, उनके कारण और प्रधान आदितक एकपाद, द्विपाद, बहुपाद अथवा अपाद चेतन और अचेतन सभी त्रिविध भावनात्मक परमात्मा हरिका मूर्त्त रूप है। यह समस्त चराचर विश्व उस परब्रह्मस्वरूप भगवान् विष्णुकी शक्तिसे समन्वित है।'

भगवान्की यह शक्ति तीनप्रकारकी हैं-(१) विष्णुशक्ति, (२) अपरा क्षेत्रज्ञशक्ति और (३) कर्म नामक अविद्याशक्ति, जिससे आवृत होकर

सर्वव्यापी क्षेत्रज्ञशक्ति भी संसारके समस्त तापोंका भोग करती है। इस अविद्याशक्तिके द्वारा ढकी रहनेके कारण ही क्षेत्रज्ञशक्ति सब भूतोंमें समान होनेपर भी न्यूनाधिकरूपसे दिखायी देती है। प्राणहीन पदार्थोंमें वह बहुत ही कम प्रमाणमें दीख पड़ती है, स्थावरोंमें उससे कुछ अधिक दीखती है, सांपोंमें उससे अधिक, पक्षियोंमें उससे अधिक, मृगोंमें उससे अधिक, मनुष्योंमें रहनेवाले पशुओंमें उससे अधिक, पशुओंसे मनुष्योंमें अधिक, मनुष्योंसे नागोंमें अधिक, उनसे गन्धर्वोंमें अधिक, गन्धर्वोंसे यक्षोंमें, यक्षोंसे देवताओंमें, देवताओंसे इन्द्रमें, इन्द्रसे प्रजापतिमें और प्रजापतिसे भी अधिक क्षेत्रज्ञशक्तिका विकाश हिरण्यगर्भमें पाया जाता है। ये सभी उस अशेषरूप भगवान्‌के ही रूप हैं क्योंकि ये सभी आकाशकी भांति उन्हींकी शक्तिद्वारा व्याप्त हैं।'

'अब उस ब्रह्मके दूसरे रूपका ध्यान बतलाता हूं, बुद्धिमान् लोग इस रूपको सत् और अमूर्त कहा करते हैं। जिस रूपमें पूर्वोक्त समस्त शक्तियां प्रतिष्ठित हैं वही विश्वरूपका स्वरूप है। भगवान्‌के और भी अनेक रूप हैं। देवता, तिर्यक् और मनुष्य आदिकी चेष्टासे जो सब रूप प्रकट होते हैं, जिन्हें भगवान् जगत्‌के उपकारके लिये लीलासे धारण करते हैं। ऐसे रूपोंकी समस्त चेष्टाएं स्वतन्त्र होती हैं, किसी कर्मके अधीन होकर नहीं होतीं। योगी साधकको अपनी चित्तशुद्धिके लिये सारे पापोंके नाश करनेवाले विश्वरूपके उसी रूपका चिन्तन करना चाहिये। जैसे वायुके जोरसे बढ़ी हुई धधकती हुई अग्नि सूखे घासको क्षणभरमें भस्म कर डालती है, वैसे ही चित्तमें स्थित भगवान् विष्णु भी योगियोंके सारे पापोंको भस्म कर देते हैं। इसलिये समस्त शक्तियोंके आधार उस परमेश्वरमें ही चित्त स्थिर करना चाहिये, इसीका नाम विशुद्ध धारणा है।'

'सर्वव्यापी आत्माका भी आश्रय और तीनों भावनाओंसे अतीत वह परमात्मा ही मुक्तिके लिये योगियोंके चित्तका एकमात्र शुभ अवलम्बन है। इसके अतिरिक्त दूसरे कर्मयोनि देवताओंका आश्रय शुद्ध नहीं है। भगवान्‌का मूर्तरूप चित्तको दूसरे विषयोंसे निस्पृह कर देता है। कारण चित्त उसीकी ओर दौड़ता है, इसीलिये इसको धारणा कहते हैं।'

अनाधार विष्णुके अमूर्त्तरूपको चित्त सहसा धारण नहीं करता, इसीसे उसके मूर्त्तरूपका चिन्तन करना चाहिये, वह मूर्त्तरूप इसप्रकारका मनोहर है। 'जिसका सुन्दर प्रसन्नमुख है, कमलकी पंखड़ियोंके समान नेत्र हैं, सुन्दर कपोल हैं, विशाल और उज्ज्वल मस्तक है, लम्बे कानोंमें मनोहर कर्णभूषण शोभित हो रहे हैं, सुन्दर कण्ठ है, चौड़ा वक्षःस्थल श्रीवासके चिह्नसे अंकित है, गंभीर नाभि और उदरपर त्रिवली शोभित हैं, आजानुलम्बित आठ या चार भुजाएं हैं, ऊरु और जंघाएं समभावसे स्थित हैं, हाथ और पैर सुस्थिर हैं, निर्मल पीत वस्त्र और शार्ङ्ग धनुष, गदा, खड्ग, शंख, चक्र, अक्ष तथा वलय धारण किये हुए हैं। भगवान्‌की ऐसी पवित्र विष्णुमूर्तिमें जबतक मन रम न जाय तबतक मनका संयम करके चिन्तन करते ही रहना चाहिये। जब कहीं भी जाने आने बैठने उठने या स्वेच्छापूर्वक किसी भी कार्यके करते समय भी चित्तसे भगवान्‌का यह रूप न हटे तब धारणाकी सिद्धि समझनी चाहिये।

इसके बाद साधकको शङ्ख गदा चक्र और शार्ङ्ग आदिसे रहित, अक्ष-सूत्र धारण की हुई

भगवान्‌की प्रशान्त मूर्तिका ध्यान करना चाहिये। उस मूर्तिमें धारणा स्थिर होनेपर किरीट केयूर-रहित मूर्तिका ध्यान करना चाहिये। तदनन्तर उसी भगवान्‌की मूर्तिके एक एक अवयवका चिन्तन करना चाहिये। इसके पीछे योगीको उस अवयवी भगवान्‌में प्रणिधान करना चाहिये।

दूसरे विषयोंमें सर्वथा निस्पृह होकर जब साधक केवल भगवान्‌के रूपमें ही अनन्य भावसे तन्मय हो जाता है तब उसीको ध्यान कहते हैं। यह ध्यान, यमादि छः प्रकारके अंगों-द्वारा सम्पादित होता है। इसके बाद समाधि होती है। समस्त कल्पनाओंसे सर्वथा रहित होकर केवल स्वरूपमें ही स्थित रहनेको समाधि कहते हैं, यह समाधि, ध्यानके द्वारा प्राप्त होती है।

समाधिके अनन्तर भगवत्-साक्षात्काररूप विज्ञानसे ही परब्रह्मरूप प्राप्य विषयकी प्राप्ति होती है, अब पूर्वोक्त त्रिविध भावनासे अतीत परमात्मा ही प्राप्त होता है। मुक्तिमें क्षेत्रज्ञ कारण और ज्ञान करण है; इन दोनोंके द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्त होते ही जीव कृतकृत्य होकर जन्म मृत्युसे छूट जाता—परमात्माकी भावनामें विभोर जीव परमात्माके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। जीवको अज्ञानसे ही भेदज्ञान हुआ करता है समस्त पदार्थोंके भेदजनक ज्ञानका सम्पूर्ण रूपसे विनाश हो जानेपर आत्मा और ब्रह्मके भेदकी चिन्ता कौन करे? हे खाण्डिक्य! यही योग है इसीको जानकर मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयास कर सकता है। मैंने संक्षेप और कुछ विस्तारसे यह महायोग आपको बतलाया, अब कहिये, मुझे और क्या करना होगा?

खाण्डिक्यने कहा, 'हे महाभाग! आपने मुझे यह महायोग बतलाकर सब कुछ दे दिया है, आज आपके उपदेशसे मेरे चित्तका सभी मल नष्ट हो गया! इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैं जो यह 'मेरा' 'मेरा' कहता हूं सो सर्वथा मिथ्या है। 'मैं' और 'मेरा' के द्वारा व्यवहार होता है परन्तु वास्तवमें यह अविद्या ही है। परमार्थ वाणीके अगोचर होनेसे जबानकी चीज नहीं है। हे केशिध्वज! आपने मुझको मुक्ति देनेवाला यह महायोग बतलाकर मेरा बहुत ही उपकार किया है, अब आप अपने कल्याणके लिये घर पधारिये!

तदनन्तर केशिध्वज खाण्डिक्यके द्वारा पूजित होकर अपने घर लौट आये। खाण्डिक्यने यम नियमादिकी साधनाके द्वारा परमात्मामें चित्त लगाकर अन्तमें निर्मल परब्रह्मको प्राप्त किया। इधर केशिध्वज भी भोगोंके द्वारा अदृष्टका क्षय करके निष्काम कर्म करते हुए निर्मलचित्त होकर परमसिद्धिको प्राप्त हो गये!

(विष्णुपुराणसे)

तो क्या?

किया जीवधारी जगदीश्वरने तुमको है, तो क्या? जान अपनी ही केवल बचानेको।
किया है मनुष्य-योनि पावनमें पैदा तुम्हें, तो क्या? पशुओंके तुल्य जीवन बितानेको॥
किया सत असतका ज्ञान है प्रदान तुम्हें, तो क्या? सत पंथको कभी न खोज पानेको।
किया है तुम्हींको समराट सृष्टि अपनीका, तो क्या? अपनेमें ही उसे ही भूल जानेको॥

—भगवतीप्रसादत्रिपाठी विशारद एम० ए० एल-एल० बी०

मूर्तिपूजा

(लेखक—स्वामी विवेकानन्द)

इसमें कोई सन्देह नहीं कि धर्मका पागलपन उन्नतिमें बाधक होता है परन्तु अन्धश्रद्धा उससे भी भयानक है। ईसाइयोंको प्रार्थनाके लिये गिरजेकी क्या आवश्यकता है ? क्रासके चिह्नमें पवित्रता कहांसे आगयी ? प्रार्थना करते समय आंखें क्यों मूंद लेनी चाहिये ? परमेश्वरके गुणोंका वर्णन करते समय 'प्राटेष्टण्ट' ईसाई मूर्तियोंकी कल्पना क्यों करते हैं ? 'कैथलिक' मत माननेवालोंको मूर्तियोंकी क्यों आवश्यकता हुई ? बन्धुओ ! बात यह है कि जैसे श्वासोच्छ्वासके बिना जीना सम्भव नहीं, वैसे ही गुणोंकी किसी तरहकी मनोमयी मूर्ति बनाये बिना उनका चिन्तन होना भी असम्भव है। हमें सभीको कभी यह अनुभव नहीं हो सकता कि हमारा चित्त निराकारमें लीन हो गया है, क्योंकि हमें जड़विषय और गुणोंकी मिश्र अवस्थामें देखनेका अभ्यास पड़ गया है। गुणोंके बिना जड़ विषय और जड़ विषयोंके बिना गुणोंका चिन्तन नहीं किया जा सकता, इसी तत्त्वको समझकर हिन्दुओंने गुणोंका मूर्तिमय दृश्य स्वरूप बनाया है। हमारी मूर्तियां हमें ईश्वरके गुणोंका स्मरण करानेवाले चिह्नमात्र हैं। चित्तकी चञ्चलता मिटकर वह सद्गुणोंकी मूर्ति परमात्मामें तल्लीन हो जाय, इसीलिये मूर्तियां बनी हैं। हिन्दू इस बातको जानते हैं कि पत्थरकी मूर्ति ईश्वर नहीं है, वे उसमें ईश्वरकी भावना करते हैं। इसीसे वे पेड़, पत्ती, अग्नि, जल, पत्थर आदि समस्त दृश्य पदार्थोंकी पूजा किया करते हैं, वे पत्थरको नहीं पूजते, ईश्वरको पूजते हैं। आप मुखसे कहते हैं 'हे परमात्मन् ! तुम सर्वव्यापी हो।' परन्तु क्या आपने कभी इस बातका सचमुच अनुभव किया है ? प्रार्थना करते समय आपके हृदयमें क्या आकाशका अनन्त विस्तार या समुद्रकी विशालता नहीं झलकती ? यही 'सर्वव्यापी' परमात्माका दृश्यस्वरूप है।

मूर्तिपूजामें मनुष्यस्वभावके विरुद्ध क्या है ? हमारे मनकी रचना ही इसप्रकारकी है कि वह किसी दृश्य पदार्थकी सहायताके बिना केवल गुणोंका चिन्तन नहीं कर सकता। मस्जिद, गिरजा, क्रास, अग्नि, आकाश, समुद्र आदि सभी दृश्यपदार्थ हैं, यदि हिन्दुओंने इनकी जगह मूर्तिकी सहज कल्पना कर ली तो क्या बुरा किया ? निराकारकी स्तुति करनेवाले लोग मूर्तिपूजकोंको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं परन्तु उन्हें इस कल्पनाका पता ही नहीं है कि मनुष्य भी ईश्वर हो सकता है। वे बेचारे चार दीवारोंकी कोठरीमें बन्द हैं। अड़ोसी पड़ोसियोंको सहायता करनेसे आगे अधिक दूरतक उनकी दृष्टि नहीं जाती।

मन्दिर, मूर्ति या ग्रन्थ तो उपासनाके साधन हैं। एकवार भारतमें मैं एक महात्माके पास जाकर वेद, बाइबल, कुरान आदिकी बात करने लगा। पास ही एक पञ्चांग पड़ा हुआ था जिसमें वृष्टि होनेका भविष्य लिखा था। महात्माने मुझसे कहा, 'इसे जोरसे दबाओ,'

मैंने उसे खूब दबाया। वे आश्चर्यसे बोले कि, 'इसमें तो कई इंच जल बरसनेका भविष्य है, परन्तु तुम्हारे इतना दबानेसे तो जलकी एक बूंद भी नहीं निकली।' मैंने कहा, महाराज! यह पञ्चाङ्ग जड़ पुस्तक है। इसपर उन्होंने कहा, 'इसी तरह जिस मूर्ति या पुस्तक-को तुम मानते हो, वह स्वयं कुछ नहीं करती परन्तु इष्ट मार्ग बतलानेमें सहायक होती है।' ईश्वररूप होजाना ही हिन्दुओंका अन्तिम लक्ष्य है। वेद कहते हैं कि बाह्य उपचारोंसे पूजा करना उन्नतिका पहला सोपान है, प्रार्थना या भक्ति दूसरा और ईश्वरमें तन्मय होजाना तीसरा सोपान है। मूर्तिपूजक मूर्तिके सामने बैठकर प्रार्थना करता है-'हे प्रभो! मैं तुम्हें सूर्य चन्द्रमा या तारागणोंका प्रकाश कैसे दिखलाऊं? ये सब तो तुम्हारे ही प्रकाशसे प्रकाशमान हैं।' मूर्तिपूजक दूसरे साधनोंसे पूजा करनेवालेकी निन्दा नहीं करता। दूसरी सीढ़ीपर चढ़े हुए मनुष्यका पहली सीढ़ीके मनुष्यकी निन्दा करना, एक युवकका बच्चेको देखकर उसकी हंसी उड़ानेके बराबर है!

मूर्तिका दर्शन करते ही यदि मनमें पवित्र भाव उत्पन्न होते हों तो मूर्ति-दर्शनमें पाप कैसा? दूसरे सोपानपर पहुंचा हुआ हिन्दू साधक पहले सोपानपर स्थित समाजकी निन्दा नहीं करता, वह यह नहीं समझता कि मैं पहले बुरा कर्म करता था। सत्यकी अर्द्ध प्रकाशित कल्पना-को पारकर प्रकाशमें पहुंचना ही हिन्दूका लक्ष्य है, वह अपनेको पापी नहीं समझता। हिन्दुओंका विश्वास है कि जीवमात्र पुण्यमय—पुण्यस्वरूप परमात्माके अनन्तरूप हैं। जंगली जातियोंके धर्ममार्गसे लेकर अद्वैत वेदान्ततक सभी मार्ग एक ही केन्द्रके समीप पहुंचते हैं। देश, काल और पात्रानुसार सभी मानवीय चेष्टाएं उस एक सत्यका पता लगानेके लिये ही हैं। कोई पहले कोई पीछे सभी उस सत्यको प्राप्त करेंगे। हिन्दुओं-का हठ नहीं है कि सब कोई हमारे विशिष्ट मतोंको ही मानें। दूसरे लोग चाहते हैं कि सब एक ही नापका अंगरखा पहने, चाहे वह शरीर-पर ठीक नहीं भी बैठता हो, परन्तु हिन्दू ऐसा नहीं समझते। प्रतिमा या पुस्तक मूलस्वरूपको दिखानेके संकेतमात्र हैं, यदि कोई उनका उपयोग न करे तो हिन्दू उसे मूर्ख या पापी नहीं समझते। जैसे एक सूर्यकी किरणें अनेक रंगोंके कांचोंमें भिन्न भिन्न वर्णकी दिखायी देती हैं, वैसे ही भिन्न भिन्न धर्म-सम्प्रदाय भी एक ही केन्द्रके भिन्न भिन्न मार्ग हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छत्त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

'हे अर्जुन! मुझसे भिन्न कहीं कुछ भी नहीं है। यह सम्पूर्ण विश्व सूत्रमें सूत्रके मणियोंकी भांति मुझमें गुंथा है। जिन जिन वस्तुओंमें विभूति, कान्ति और बल है, उन उन वस्तुओंको मेरे ही तेजसे उत्पन्न हुई जान।'

अनेक युगोंकी परम्परासे निर्मित इस हिन्दू-धर्मने मानव जातिपर अनन्त उपकार किये हैं। हिन्दुओंके लिये पर-मत-असहिष्णुता कोई चीज ही नहीं हैं। 'अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनिपुंगव।' यह हिन्दुओंका सिद्धान्त है। वे यह नहीं कहते कि मुक्ति हिन्दुओंको ही मिलेगी, शेष सब नरक-में जायंगे। महर्षि व्यासने कहा है कि भिन्न जाति और भिन्न धर्मके ऐसे बहुतसे लोग मैंने देखे हैं जो पूर्णताको प्राप्त हो चुके थे।

प्रेम

(लेखक— श्रीभूपेन्द्रनाथ सन्याल)

संसारमें अनेक वस्तुको ही हम पसन्द करते हैं, उनसे प्यार करते हैं और चाहते हैं कि वे हमारी होजायं। परन्तु यह 'प्यार' आसक्ति होनेपर भी उन वस्तुओंके प्रति प्रेम नहीं कहा जासकता। मान लीजिये, सरोवरमें एक सुन्दर सरोज खिल रहा है, उससे मृदु मधुर स्निग्धकर सुगन्धि निकलकर वायुके साथ मिलित हो हमारी इन्द्रियोंको तृप्त कर रही है। कमलकी इस नेत्रोंको सुख पहुंचानेवाली शोभा और घ्राणेन्द्रियको तृप्त करनेवाली सुगन्धिको पानेके लिये मनमें जो लालसा होती है, वह वास्तवमें उस कमलके प्रति हमारा सात्विक प्यार नहीं है। विषयेन्द्रियके संयोगसे जो आकर्षण या तृप्तिका अनुभव होता है, सो राजसिक है। पुत्रके सौभाग्यसे या नारीके गात्रस्पर्शसे होनेवाले आनन्दका अनुभव केवल इन्द्रियतृप्तिमात्र है। कीर्त्ति या धनके प्रति होनेवाला आकर्षण भी इसी श्रेणीका प्यार है। इससे ऊपर उठे बिना सात्विकी प्रीतिका उदय नहीं होता। जब इन्द्रिय-चरितार्थताके लिये तनिकसी भी व्याकुलता नहीं रहती, तभी सात्विकी प्रीति होती है। जिसको देखते या सुनते ही हृदयमें एक अनिर्वचनीय प्रीतिका सञ्चार हो जाता है,—एकतरहका अपने आपको भुला देनेवाला कामगन्धशून्य आनन्द जाग उठता है,—अपनी कहलानेवाली प्रत्येक वस्तु जब उसके चरणतलपर चढ़ा देनेकी इच्छा प्रबल हो उठती है, तभी वह असली प्यार या निर्मल प्रेम कहलाता है। "सा कस्मै परम प्रेमरूपा" यही भक्तिका स्वरूप है।

सेवा या प्यार करनेमें जब रत्तीभरकी बदला पानेकी आशा हृदयमें नहीं रह जाती। सेवा या प्यार इसीलिये किया जाता है कि वैसा किये बिना कल नहीं पड़ती। बुद्धिका ऐसा निश्चयात्मक सहज और सरलभाव ही यथार्थ 'प्यार' कहलाता है। सरोवरमें कमल खिल रहा है, उसकी शोभा और सुगन्धिसे इन्द्रियाँ खिंची जा रही हैं, परन्तु जो शोभा और सुगन्धि अपने आकर्षणसे इन्द्रियोंमें उत्तेजना उत्पन्न करके या उनको तृप्त करके ही शान्त नहीं होजाती किन्तु किसी प्रियतमकी आनन्द-स्मृतिको जगा देती है, जिससे उसके चरणकमलोंको पानेके लिये मनमें व्याकुलता छा जाती है। उसीका नाम प्रेम है। कमलके प्रति इसीलिये अनुराग है कि वह हमारे प्रियतमकी स्मृतिको जगा देता है। यही सात्विक अनुराग है।

जो 'प्यार' इन्द्रिय-द्वारपर जाकर ही रुक जाता है, आगे नहीं बढ़ता; उसे मोह उत्पन्न करनेवाला राजसी प्यार समझना चाहिये। उससे प्रेमका स्फुरण नहीं होता। प्रेम तो जगत्-

को भुला देता है, अपने आपको खो देता है। उसमें न तो भोगकी आसक्ति है और न वहां 'अहं' में ही सिर उठानेकी शक्ति रहती है। जहां पूंजी इकट्ठी करने, कुछ प्राप्त करने, दूसरेको ठगने या किसीको अपना बनानेके लिये प्रेमके नामसे व्यवसाय किया जाता है, वहां प्रेमका विकास नहीं होता। अपनेको लुटा देने—अपनेको भूल जानेमें ही प्रेमकी पूर्णता है। जहां 'अहं' है, जहां भोगोंकी इच्छा है, वहां विशुद्ध प्रेमका जन्म नहीं होसकता। इन्द्रियोंकी लालसा और उनको चरितार्थ करनेका आवेग जहां जोरोंपर होता है, वहां पवित्र प्रेमका उदय होना असम्भव है। अपनी इन्द्रियोंके तृप्त करनेकी इच्छाका नाम प्रेम नहीं है, वह तो प्रेमका विकार है। साधारणतः स्त्री-पुरुषोंमें जो परस्पर मिलनकी इच्छा होती है उसको भी सभी समय प्रेम नहीं कहा जासकता। धनके लोभीकी धनके लिये जो तीव्र लालसा होती है या कामीकी जो कामिनी-के प्रति आसक्ति होती है सो केवल नीच इन्द्रिय-लालसामात्र है। वह कभी देहसे आगे नहीं बढ़ती। यदि किसी अचिन्त्य भाग्यबलसे कभी प्यार देहकी सीमासे आगे बढ़ जाय, निजेन्द्रिय-सुखकी इच्छा सर्वथा नहीं रहनेपर भी परस्परमें एकान्त अनुराग बना रहे और वह नित्य नवीन रहकर प्रबल वेगसे बढ़ता हुआ असीममें जाकर अपनेको मिटा दे, तब उसे प्रेम कहा जा सकता है। यही आत्माके साथ आत्माकी, चेतनके साथ चेतनकी मिलनेच्छा है—इसीका नाम विशुद्ध प्रीति, सात्विक प्यार या यथार्थ प्रेम है। प्रीति. प्यार और प्रेम स्वरूपसे एक ही वस्तु है, स्थानभेद तथा गुरुत्वभेदसे नामोंमें भिन्नता है।

हम जिस वस्तुको इन्द्रिय-द्वारपर देखते हैं, उसे उपभोग मान लेते हैं यही हमारा बड़ा दुर्भाग्य है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द या जो कुछ भी कहें, सभीको समझनेमें हम भूल करते हैं। जरासा पीछे घूमकर देख लें तो फिर कोई भ्रम-की सम्भावना नहीं रहती। परन्तु हम अधिकांश समय ही पीछे फिरकर नहीं देखते, जो सामने पाते हैं उसीको पकड़कर सन्तुष्ट हो रहते हैं। इसीलिये इन्द्रिय-द्वारपर जो वस्तुएं प्रकाशित होती हैं, वे किसका प्रकाश हैं, यह नहीं पूछकर, जो कुछ देखते, सुनते, सूंघते, स्पर्श करते या चखते हैं, बस, उसीको परमानन्दस्वरूप मानकर भ्रममें पड़ जाते हैं। वस्तुतः इन्द्रिय-द्वारसे जो कुछ प्रकाशित होता है, वह न इन्द्रिय है और न इन्द्रियका भोग्य-पदार्थ ही है। हम केवल भ्रमसे उसे भोग्य-वस्तु समझते हैं।

घरका दरवाजा खुला हुआ है, उसमेंसे सूर्यका प्रकाश घरके अन्दर आरहा है। मूर्ख मनुष्य समझ लेता है कि यह दरवाजा ही प्रकाश है और जितनी रश्मियां पड़ रही हैं बस, सब उतनी ही हैं, इनके परे और कहीं कुछ भी नहीं है। परन्तु वास्तवमें वह प्रकाश दरवाजेका नहीं है। दरवाजा प्रकाशके आनेका एक मार्ग-मात्र है, और इस मार्गमें जितनासा प्रकाश आ रहा है, वह सम्पूर्ण प्रकाश भी नहीं है। वह तो अनन्तप्रकाशका एक क्षुद्र अंशमात्र है, अंश होनेपर भी वह उस अनन्तके साथ योगयुक्त अवश्य है। प्रकाश दरवाजेसे होकर ही आता है परन्तु वह दरवाजेसे बिलकुल दूसरी वस्तु है। इसी प्रकार रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श जो कुछ हम उनके इन्द्रिय-द्वारोंसे अनुभव करते हैं वह इन्द्रिय या केवल इन्द्रियोंका विषय ही नहीं है, वह उस अखण्ड सत्यका ही प्रकाश है। परन्तु हम उन वस्तुओंको, जितना उनका इन्द्रियोंसे प्रकाश होता है, उतनासा ही मानकर महा भ्रममें

पड़ जाते हैं। छायाका स्वरूप न जाननेसे जैसे उसको काया समझकर मनुष्य भ्रममें पड़ता और डर जाता है, उसी प्रकार इन्द्रिय-द्वारपर सत् वस्तुके प्रकाशको भी केवल वही समझकर हम डरते और परास्त होजाते हैं। वस्तुतः हम जो कुछ देखकर, सुनकर, सूंघकर, चखकर या स्पर्शकरके सुख प्राप्त करते हैं, वह सुख उन वस्तुओंमें नहीं है, उनसे अतीत होकर भी वह वर्तमान है; इस बातका अनुभव करनेपर ही सुखका स्वरूप जाननेमें आता है। परन्तु हम तो उस वस्तुमात्रको ही सुख समझ लेते हैं, इसीसे भ्रम होजाता है और उसकी भोग्य-रूपतासे परे जो उसका स्वरूप है, इस बातको हम नहीं जान सकते। इसलिये इन्द्रियद्वारोंसे मर्मस्पर्शी मधुर सङ्गीत, नयनानन्ददायीरूप या मधुर स्पर्श आदि जो सब निरन्तर अनवरत-रूपसे प्रकाशित हो रहे हैं, उन सबका अनादि झरना इन्द्रियोंसे परे हैं, इस बातको भूलकर इन्द्रियोंको ही सब कुछ मानकर भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये।

इन इन्द्रियद्वारोंके प्रकाशकी गति भी उस अनन्तकी ओर ही है। जैसे छोटे छोटे प्रवाहोंकी गति समुद्रकी ओर हुआ करती है, वैसे ही इन्द्रिय-द्वारोंके इन प्रकाशोंकी गति भी उस अखण्ड-आनन्दघन प्रकाश-समुद्रकी ओर है। यह समझ लेनेपर हमारी इन्द्रिय-वृत्तियां फिर इन्द्रिय-वृत्ति नहीं रहती, वह भक्ति-वृत्तिमें परिणत हो जाती हैं। हम जो इस समय क्षुद्र क्षुद्र इन्द्रिय-प्रकाशके प्रवाहको देखकर ही इतना आनन्दित हो रहे हैं, पता नहीं, आनन्दके उस असली झरनेको देखनेपर तो हमारा चित्त कैसे आनन्द-सागरमें डूब जायगा। उस झरनेको न देखकर हम भूल जाते हैं और मोहके गढ़ेमें पड़कर यथार्थ प्रकाशके स्वरूपका अनुभव नहीं कर पाते। जिसके सौन्दर्यको इन्द्रियां केवल वहन करके लाती हैं, वही 'परम सुन्दर' ढूंढ़नेपर नहीं मिलता। छोटा बालक जैसे नटकी कल्पित पोशाक तथा उसकी सजावट बनावट देखकर कभी प्रसन्न और कभी दुखी होता है, परन्तु पोशाक और सजावटकी आड़में जो नट रहा हुआ है, उसे वह नहीं देख सकता, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य समस्त इन्द्रियोंके द्वारपर उसके प्रकाशको देखकर-, कुछ और ही समझकर-पलपलमें हर्ष और विषादको प्राप्त होते हैं!

एक विषयसे दूसरे विषयमें मनका लक्ष्य बारबार परिवर्तन करते रहनेसे वह सत्य-स्वरूप चञ्चलताके आवरणसे ढक जाता है, इसीसे भ्रम होता है। मनकी यह विक्षेप शक्ति ही महा अनर्थका मूल है; तो भी इस विक्षेपके दूर होनेका कोई उपाय नहीं दीखता, कारण मन स्वभावसे ही चञ्चल है। इन्द्रियद्वारोंपर अनवरत भटकना ही उसका स्वभाव है। यह मन जब जिस इन्द्रियके विषयमें स्थित रहता है, तब उसको आत्मासे पृथक्, बाहरी वस्तु बतलाकर भ्रम उत्पन्न कर देता है, इसीसे मनुष्य पराजित हो जाता है आत्मासे पृथक् स्वतन्त्ररूपसे जब किसी वस्तुकी उपलब्धि होती है, तब वह केवल क्षणिक सुख ही प्रदान करती है, वह अनन्त सुख देनेमें कभी समर्थ नहीं हो सकती। परन्तु समस्त इन्द्रियद्वारोंपर सब उसीका प्रकाश है—यह समझ लेनेपर फिर मनको इन्द्रियके प्रत्येक दरवाजोंपर दौड़धूप नहीं करनी पड़ती। यह समझते ही मन विक्षोभ रहित-शान्त हो जाता है। अवश्य ही विषयको छोड़कर मन घड़ी भर भी टिक नहीं सकता, इसीलिये इससमय उसका एक मात्र विषय रह जाता है "कृष्ण-पदारविंदम्"। यही 'तत्त्व किमेकं शिवमद्वितीयम्।' है।

उसके अनन्तमुखी प्रकाशको समीकरण करना ही मनका निर्विषय भाव है। मन वस्तुकी आकांक्षा करता है और उसे पाकर तृप्त हो जाता है। इस तृप्तिका स्वरूप क्या है? इस तृप्तिका स्वरूप है यह निर्विषय भाव अर्थात् उस विषयके आकारमें मनकी दीर्घकाल-स्थिति; उस समय मन उस विषयके सिवा दूसरे रूपसे उपलब्ध नहीं होता। इस अवस्थाका नाम ही आनन्द है! विक्षेपशून्य चित्तकी स्थिरता ही इस आनन्दका नामान्तर है। यह हो जानेपर वह आनन्द कभी भी बहुत विषयोंकी ओर नहीं जासकता। मनकी गति बहुत तरफ होनेसे ही यथार्थ आनन्दमें विघ्न हुआ करता है। इसीलिये जहां चित्तकी चञ्चलता या कामना होती है वहां राम नहीं मिलते। "जहां काम तहं राम नहिं"। अर्थात् वहां परमानन्द नहीं रहता। जहां मन अनेक कामनाओंसे घिरा होता है, वहां प्राणाभिरामका यथार्थ आविर्भाव सम्भव नहीं है। अतएव यथार्थ प्रीति वस्तुतः एकनिष्ठ और अव्यभिचारिणी हुआ करती है और वही यथार्थ प्रेम है।

जन्मजन्मार्जित अनेक तपस्याके फलसे हमारे हृद्रोग नष्ट होनेपर भगवद्भक्तिका बीज अंकुरित होता है। भगवान् 'प्रेयः पुत्रात् श्रेयो वित्तात्' पुत्रसे भी प्रिय और धनसे भी श्रेष्ठ हैं, बड़े सौभाग्यसे हम इस बातको समझ सकते हैं। पता नहीं, ऐसा सौभाग्य कब होगा, जब कि सारी आशा छोड़कर एकमात्र उन्हींको प्रियतम प्राणसखा समझकर हम अपने हृदयासन-पर बिराजित कर सकेंगे?

किसी मनुष्यके प्रति जब हमारा अनुराग होता है तब उसे देखने, सुनने और स्पर्श करनेके लिये मनमें एक प्रबल आग्रह हुआ करता है, इसीका नाम 'प्यार' है, यह प्यार जब ईश्वरमें अर्पित कर दिया जाता है, तब उसीको वैष्णव-गण अनुराग कहते हैं। फिर आग्रह बढ़ते बढ़ते जब यह दशा होजाती है कि उससे मिले बिना काम ही नहीं चलता,—सब कुछ सूनासा लगता है, मनके इस अत्यधिक अनुरागको आसक्ति कहते हैं, तदनन्तर जब वह प्यार जम जाता है, तब एक अनन्तस्पर्शी व्याकुलता अवतीर्ण होकर मनप्राणको आनन्द-महासिन्धुमें बहा ले जाती है, फिर अपने ऊपर अपना शासन नहीं रहता, समस्त विश्वमें उस प्रेममयके स्पर्शका ही अनुभव होने लगता है। उस समय भक्त आनन्द-विह्वल होकर गा उठता है-

सखि! केहि बिधि आनन्द उलेखौं।
माधव मम मन्दिर नित देखौं॥
पाप-चन्द्र मोहिं जो दीन्हें दुख।
पिय-मुख-दरस बढ़े उतने सुख॥
आंचल भरि जु महानिधि पावौं।
तऊ न पिय परदेश पठावौं॥
शीत कामरी, ग्रीष्म सुबाता।
बरषा छत्र नदी पिय त्राता॥

इस अवस्थामें प्रेमी भक्त क्षणभरका भी विरह नहीं सह सकता। उसका हृदय नित्य नूतन हर्षसे अधीर और उन्मत्त रहता है। वह भगवान्‌को सब कुछ समर्पण करके निश्चिन्त हो जाता है। किसी बातके लिये उसका चित्त चञ्चल नहीं होता, जगत्‌के धन-जन-मान-प्रतिष्ठा आदि कुछ भी उसे मोहित नहीं कर सकते। तब वह अपने प्रेममयको पाकर उसके गले लगकर आंसू बहाता हुआ कहता है—

कहा कहौं प्रभु! कहन न जाना।
तन-मन-धन तुम जीवन-प्राना॥

गर्वित, दीन्हि तिलांजलि सबहीं।
व्रत–कुल–लाज–गर्व मम तुमहीं ॥
तुम मम भूषण हिय- मणि- माला।
तुम बिनु देह भार, बेहाला ॥
चरण लागि मैं त्यागेहुं सबही।
शीतल चरण–शरण भइ जबही ॥
प्रिय! तव हित छांड़े बूनो कुल।
निज जन जानि रखहु चरणन-तल ॥

गोपियोंकी यही दशा थी। यथार्थ भक्त उन्मत्तकी तरह होता है, वह हम लोगोंकी भांति सभी मात्राओंको ठीक रखकर नहीं चल सकता। भावुक भक्तके इस प्रगाढ़ भाव–इस अगाध अनुरागको ही प्रेम कहते हैं। अवश्यही पहले पहल यह भाव सबको नहीं प्राप्त होता। गोपियोंको भी नहीं हुआ था। दीर्घकालतक उपासना करते करते मनमें शुद्ध सतोगुणका सञ्चार होनेसे कामात्मक रजोगुण आपही चला जाता है। इसप्रकार धीरे धीरे हृद्रोग नष्ट होनेपर अकारण अहैतुकी भगवत्-प्रीतिका उदय होता है,–जीवनमें प्रेमकी ज्वुँआर आती है। नवयौवनके उद्दामसे युवतीके मनमें जैसे कान्तानुरागका सञ्चार होता है, वैसेही एक अनिर्वचनीय विशुद्ध आकांक्षाके प्रबल आवेगसे अतीन्द्रिय अव्यक्त परमात्माके प्रति जीवका प्रबल आकर्षण होता है। इस प्रेमके तटध्वंसी भीषण स्रोतमें धन- जन- मान- प्रतिष्ठाका सारा गर्व गलकर बह जाता है–देहज्ञान नष्ट हो जाता है। इसीसमय वह सब कुछ छोड़कर उसके मिलन–मार्गकी अभिसारिणी बनता है। तब वह लोक परलोककी कोई चिन्ता नहीं करता–प्रेमानन्दमें विभोर होकर जगत्में निर्भय विचरण करता है। फिर जगत्के सुख दुःख, लाभालाभ उसके मन कुछ भी नहीं रह जाते। उसका जन्म–जीवन सार्थक हो जाता है।

भक्तवत्सलता

चन्द्रक मोर किरीट कस्यो कहुं
चन्द्रक सीस उजास जगायो।
कुंडल लोल कलोल करैं कहुं
सेस सुभूसन स्रौन सजायो ॥
है हरिनाम महा सुखधाम
कहूँ हर पूरन काम कहायो।
चक्र चलाइके दुष्ट दले कहुं
आप त्रिसूल लये कर धायो ॥

—प्रेमयोगीयान

माया और ईश्वर

(लेखक—स्वामी विज्ञानहंसजी)

देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे शून्य अनन्त ब्रह्म वस्तुमें ईश्वरत्व और जीवत्वकी कल्पना मायाके सम्बन्धसे ही है।

'मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतौ श्रुतम्।'

यह सिद्धान्त है। अब प्रश्न यह उठता है कि एकरस अद्वैत सत्य ब्रह्ममें माया आयी कहांसे? यदि उसमें माया है तो मिथ्या भ्रममात्र है, कोई सत्य वस्तु थोड़े ही है, कि जिससे ब्रह्ममें द्वैतकी कल्पनाकी जाय। यह ठीक है परन्तु प्रश्न यह है कि एकरस चिन्मात्र ज्ञानस्वरूप वस्तुमें यह भ्रम आया कहांसे?

यद्यपि भ्रम कोई पदार्थ नहीं तथापि ब्रह्ममें भ्रम होना उसके स्वरूपके विरुद्ध है। यदि उसके स्वभावमें भ्रम है तो ज्ञानके अनन्तर भी भ्रम हो सकता है, फिर तो मोक्षकथाका प्रसङ्ग ही आपत्तिजनक हो जायगा। इस परिस्थितिमें यह विषय बहुत ही सावधानीसे विचारणीय है।

इसी भ्रमने संसारमें अनेक मतों और सम्प्रदायोंकी सृष्टि कर डाली है, यही सारी विभिन्नताओंका अवलम्बन है अतएव ब्रह्ममें इस माया, ईश्वरत्व और जीवत्वपर कुछ विचार किया जाता है। पंचदशीकार स्वामी विद्यारण्यजी कहते हैं—

शक्तिरस्तीश्वरी काचित् सर्व वस्तु नियामिका।
आनन्दमयमारभ्य गूढा सर्वेषु वस्तुषु॥

सब वस्तुओंका नियमन करनेवाली कोई ईश्वरी शक्ति अवश्य है जो कि आनन्दमय कोषसे लेकर सब वस्तुओंमें छिपी हुई है। वह शक्ति क्या वस्तु है?

निस्तत्त्वा कार्यगम्यास्यशक्तिर्मायाग्नि शक्तिवत्।

अपनी सत्तासे निस्तत्त्व केवल कार्यसे ही जानी जा सकनेवाली वह शक्ति अग्निमें दाहिका शक्तिकी भांति ब्रह्मकी माया है।

यह शक्ति सद्वस्तुसे भिन्न होकर सत्वस्तु नहीं है। ब्रह्मसे भिन्न होकर उसकी कोई सत्यता नहीं है, शक्तिमात्र वस्तुकी सर्वथा पृथक् गणना नहीं होसकती, इसलिये द्वैतकी शङ्का नहीं की जा सकती। यहां भी यह देखा जाता है कि किसी व्यक्तिकी शक्ति उससे भिन्न नहीं समझी जाती। अग्निकी दाहिका शक्ति, या जलकी द्रव-शक्ति आदिको कोई अग्नि जल आदिसे भिन्न नहीं समझता और उनमें रहनेवाली इस शक्तिका पता केवल कार्यसे ही लगता है।

यह कहा जासकता है कि अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंको प्रत्यक्ष दिखलानेवाली शक्तिको मिथ्या कैसे समझा जाय क्योंकि उसका कार्य यह प्रपञ्चमय जगत् प्रत्यक्ष स्पष्ट होरहा है इस प्रत्यक्षसे विरुद्ध मायाशक्तिको असत् क्योंकर माना जासकता है। परन्तु तत्त्व विचारकी परम्परासे विचार करनेसे ब्रह्म साक्षात्कार

होनेपर इस प्रत्यक्षके तत्त्वका कहीं पता भी नहीं लगता। इसीलिये तत्त्व-दृष्टिसे श्रुति भगवती सैकड़ों प्रमाणों-द्वारा इसको मिथ्या और तुच्छ ही बतलाती है। इसीलिये पञ्चदशी-कारने इस मायाके तीन रूप बतलाये हैं।

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौत्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैःश्रौतयौक्तिकलौकिकैः॥
नासदासीद्विभातत्वात् नो सदासीच्च बाधनात्।
विद्या दृष्टया श्रुतं तुच्छं तस्य नित्यनिवृत्तितः॥

माया तीन प्रकारकी है—तुच्छा, अनिर्वचनीया और वास्तवी। तत्त्वज्ञानके अनन्तर इसका बाध होजाता है यानी यह रहती ही नहीं। इसलिये श्रुति दृष्टिसे तो यह तुच्छ है परन्तु इसका कार्य यह जगत् प्रत्यक्ष होरहा है इसलिये इसे भूठी कहते नहीं बनता, इस युक्तिसे यह अनिर्वचनीया है और विवेकशून्य जनता प्रत्यक्ष ही इसका सुख दुःख मोह भोग रही है अतएव उन्हें यह वास्तवी प्रतीत होती है। इसीलिये भगवान् भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यजीने कहा है—

'न सत् न असत् नापि सदसत् न भिन्नं नाभिन्नं नापि भिन्नाभिन्नं न निरवयवं न सावयवं नोभयं किन्तु केवल ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानापनोद्यम्।

न इसको सत् कह सकते हैं न असत् कह सकते हैं और न सत् असत् मिला हुआ कह सकते हैं। न भिन्न कह सकते हैं न अभिन्न कह सकते हैं और न भिन्नाभिन्न मिला हुआ ही कह सकते हैं। न निरवयव कह सकते हैं न सावयव कह सकते हैं और न उभय मिश्रित ही कह सकते हैं किन्तु जिस समय ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञान होता है उस समय इसका कहीं पता भी नहीं रहता। अतएव यह ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानापनोद्य है।

ब्रह्मात्मैकत्व-ज्ञानसे मायाका सर्वथा बाध होजाने पर मायातीत ब्रह्मके जिस भावमें साधक प्राप्त होता है, वहां माया स्वभावकी गन्ध भी नहीं है, अतः मोक्षमें कोई आपत्ति नहीं होसकती।

प्रलयकालमें सृष्टिके पूर्व मायाका वर्णन इस प्रकार पाया जाता है और जीवकी नित्य प्रलय सुषुप्तिमें इसका अनुभव भी इसीप्रकार किया जाता है कि—

'न सदासीन्नासदासीत्किन्त्विदानीमभूत्तमः'
अचिन्त्य रचनाशक्तिबीजं मायेति निश्चिनु।
मायाबीजं तदेवैक सुषुप्तावनुभूयते॥

सृष्टिके पहिले माया केवल तमरूपमें थी, जीव सृष्टिमें मायाका बीज गाढ़ सुषुप्तिमें अज्ञानरूपसे अनुभव किया जाता है।

साभाषमेव तद्बीजं धी रूपेण प्ररोहति।

अभ्यासके सहित वही मायाबीज (अज्ञान) बुद्धिरूपसे अंकुरित होता है। समष्टिमें यही प्रलयकालके बाद सृष्टि आरम्भ होनेके समय अव्यक्त (अज्ञान) महत्तत्त्वरूपमें प्रकट होता है।

'अविद्या सबलं ब्रह्म, ब्रह्मणोऽव्यक्तम्, अव्यक्तान्महत्, महतोऽहंकारः, अहंकारात्पञ्च तन्मात्राणि, पञ्च तन्मात्रेभ्यः पञ्च महाभूतानि, पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत्।'

इसप्रकार अव्यक्त माया (मूलाज्ञान) से यह सृष्टिरूप कार्य व्यक्त होता है और प्रलयके समय फिर सिमटकर उस अव्यक्त (माया) में ही लय हो जाता है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवन्त्यहरागमे ॥
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता)

ब्रह्मकी इस मायाशक्तिमें जिस तरह जगत्-का निर्माण-विनाश करनेकी शक्ति विद्यमान है, उसी तरह इसमें असङ्ग आत्म-वस्तुको अन्यथा भ्रम कर देनेकी शक्ति भी विद्यमान है।

कूटस्थमसङ्गमात्मानं जगत्त्वेन करोति सा ।
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे ॥

कूटस्थ असङ्ग आत्माको यह माया-शक्ति जगत्‌रूप (सुख-दुःख-मोहात्मक) कर देती है और चैतन्य ब्रह्मके आभासस्वरूप ईश्वर और जीवको भी बना देती है और उसके कूटस्थपनका अभिघातकर उसे जगत्‌भावसे भावित कर देती है।

यह इस अघटन-घटना-पटीयसी मायाका ही अद्भुत चमत्कार है कि, मिथ्या होकर भी यह कैसी विचित्र लीला मचाती है ? जबतक साधक इसका मायामयत्व नहीं जानता, तबतक वह इसके चमत्कारसे मुग्ध रहता है किन्तु इसका स्वरूप जानते ही यह शान्त हो जाती है।

अतएव परमार्थमें मायाका कोई तत्त्व न होनेपर भी सृष्टिदशामें ब्रह्मके किसी देशमें यह ब्रह्मकी शक्तिस्वरूपसे स्थित मानी जाती है।

पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।

ब्रह्मके तीन पाद अमृत हैं, एक पादमें मायाका विलास विश्व है।

' विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ' 'सद्वस्तुनि एकदेशस्था माया ।' इत्यादि प्रमाणोंसे ब्रह्मकी शक्तिस्वरूप ब्रह्ममें उसके एकदेशमें यह मायाशक्ति है, जिसके प्रभावसे एक रस अद्वितीय अखण्ड परमात्मामें अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंका विस्तार होता है।

वह मायाशक्ति क्या ब्रह्मसे पृथक् वस्तु है ? नहीं ! वह जगत्-प्रसविनी प्रकृति उन्हींके रूपसे उन्हींसे उत्पन्न कारण वारिद्वारा समस्त जगत्-के जीवोंको रचती है।

शक्तिशक्तिमतोर्भेदं वदन्त्यपरमार्थतः ।
अभेदञ्चानुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः ॥

अज्ञ जन ही शक्तिमयी माया और शक्तिमान् परमात्माका भेद वर्णन करते है, वस्तुतः शक्ति और शक्तिमान्‌में कोई भेद नहीं है। इस बातको योगी लोग देखते हैंः—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते ,
स्वाभाविकी ज्ञानबला क्रिया च ॥

परमात्माकी पराशक्ति बहुत प्रकारसे विस्तार भावको प्राप्त होती है, वह स्वाभाविक अनन्त ज्ञानबल और क्रियावाली है।

परमात्माकी स्वाभाविक ज्ञानशक्ति उनके विश्वासरूपसे प्रकट हो संसारमें अनन्त ज्ञान भण्डार भरदेती है।

'अस्य महतो भूतस्य निःश्वासितमेतत् , ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसो इतिहासः

पुराणं विद्या उपनिषदः सूत्रो श्लोको व्याख्यानातिष्टुं-हुत पायितमयश्च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि भूतान्यस्यैव निःश्वासितानि।'

परमात्माकी बल-शक्ति जीवमय संसारके प्राणोंको धारण करती है और उनकी क्रियाशक्ति अनादि अनन्त संसारमें अनेक प्रकारके परिवर्तन करती रहती है। जिस तरह मनुष्यके शरीरसे स्वाभाविक केश लोम नख आदि उत्पन्न हुआ करते हैं, पृथ्वीपर स्वाभाविक औषधियां उत्पन्न होती रहती हैं। उसी तरहसे उस परमात्माके अधिष्ठातृत्वमें उसकी शक्तिस्वरूपा मायाके विलासमें विश्वोंकी उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होता रहता है। ब्रह्मकी शक्तिस्वरूपिणी मायाका यही मायात्व है।

परमात्माके जिस भावके साथ सृष्टिका सम्बन्ध है, वही भाव मायापर अधिष्ठातृत्व कर ईश्वर भावको प्राप्त होता है। किन्तु इस स्थल-पर कितने ही लोगोंको माया यानी प्रकृतिका अस्तित्व स्वीकार होनेपर भी उसके नियामक ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार करनेमें आपत्ति होती है। वे कहते हैं कि प्रकृति स्वयं ही जगत् उत्पन्न करती है, समस्त भावोंका उत्पत्ति-विनाश प्राकृतिक है, इसके कर्त्ता या फलदाता-स्वरूप किसी ईश्वरको मानना निरी कल्पना है। यहांतक कि वे ईश्वरका अस्तित्व भी माननेको तैयार ही नहीं हैं। वे कहते हैं कि पृथ्वीसे अन्न स्वयं ही उत्पन्न होता है, जल स्वयं बरसता है, वायु स्वयं बहता है, अग्नि स्वयं दग्ध करता है, मनुष्य एवं अन्य जीव स्वभावसे ही सन्तानोत्पन्न करते और उनका पालन पोषण करते हैं, मृत्यु आदि जगत्‌का सब कार्य स्वाभाविक है। इसलिये मायासे (प्रकृतिसे) पर ईश्वरका अधिष्ठातृत्व स्वीकार करना अनावश्यक है। परन्तु उन लोगोंको शान्तिसे विचार करना चाहिये कि प्रकृति (माया) सब कुछ करती हुई भी अपने स्वभावसे वह जड़ है। प्रकृतिके तत्त्वोंका विचार करनेवाले सभी दार्शनिक विद्वानोंने प्रकृतिको जड़ स्वीकार किया है। जो वस्तु स्वयं जड़ है। वह कर्ता नहीं हो सकती, प्रकृति (माया) का जड़त्व केवल कारणमें ही नहीं किन्तु उसके प्रत्येक कार्य वस्तुमात्रमें भी प्रत्यक्ष किया जाता है। मायाकी किसी भी वस्तुमें स्वयं कार्य करनेकी शक्ति नहीं देखी जाती। पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि कोई भी तत्त्व स्वयं कार्य नहीं कर सकता। पृथ्वी स्वयं अन्न उत्पन्न नहीं करती, जल स्वयं नहीं बरसता, वायु स्वयं नहीं बहता किन्तु इनके भीतर अवश्य ही कोई ईश्वरी सत्ता है, जिसकी प्रेरणासे यह सब कार्य होते रहते हैं। इतना तो अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि जड़ मायामें स्वयं कार्य होगा तो जो कार्य जहांसे जैसा शुरू होगा, वह वैसा ही होते रहना चाहिये और बन्द हो जानेपर तो फिर बन्द ही रहना चाहिये। उस-का ठीक नियमसे चलना सम्भव नहीं।

ठीक समयमें वर्षा होना, ठीक समयपर अन्न फूल आदिका उत्पन्न होना आदि सब कार्य नियमित होनेके लिये चैतन्य ज्ञानको आवश्यकता है। वह ज्ञान जड़ माया (प्रकृति) में हैं नहीं क्योंकि, वह ज्ञानशून्य है। यह सत्य है कि इंजिन आपसे आप चलता है, गाड़ियोंको खींच लेजाता है। परन्तु ठीक समयपर स्टेशनमें पहुंचना, नियत समय तक खड़े रहना, आवश्यकतानुसार वेगका न्यूनाधिक होना आदि जितने भी कार्य हैं, वह बिना किसी चेतन ड्राइवर या गार्ड आदिकी सहायताके कभी नहीं हो सकते!

इसीप्रकार सब कार्य मायाद्वारा होते रहने पर भी उनके नियामक किसी अन्तर-विहारी चेतन पुरुषको अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। जल वायु आदिका स्वभाव स्वयं बरसना बहना आदि हो सकता है, किन्तु वसन्तऋतुमें मलय-पवन प्रवाहित होना, ग्रीष्ममें पश्चिमसे प्रवाहित होना, वर्षामें पूर्वसे बहना इत्यादि नियमपूर्वक कार्य करानेवाला वायुमण्डलान्तर्गत किसी चेतन सत्ताको अवश्य मानना ही पड़ेगा। इसी तरह ठीक समयपर वर्षा होना, किस देशमें कैसी वर्षाकी आवश्यकता है ठीक उसके अनुसार बरसना आदि तभी संभव है, जब जलराज्यका अन्तर्विहारी कोई नियामक चेतन हो।

हम संसारकी प्रत्येक क्रियामें अनुभव करते हैं कि जड़ वस्तुमें कार्य करनेकी शक्ति होनेपर भी जबतक कोई चेतन उसका सञ्चालक न हो, तब तक कार्य नहीं होता। अग्निमें ही जलका वाष्प बनाकर और उस वाष्पसे नानाप्रकारके इञ्जिन यन्त्र आदिके द्वारा नाना कार्य कर सकनेकी शक्ति अवश्य ही विद्यमान है। किन्तु किस तरह वाष्प बनाकर और किस तरह यन्त्र इञ्जिन आदिमें उसका संयोगकर कब कौन काम कैसे करना चाहिये, नियमानुसार इन सब संयोगोंको घटानेकी शक्ति स्वयं अग्निमें नहीं है। इन सबके लिये तो चेतन मनुष्यकी ही आवश्यकता पड़ेगी। ज्ञान रखनेवाले चेतन मनुष्यकी अध्यक्षताके बिना ये कार्य कभी ठीक ठीक नहीं हो सकते।

इस शरीरमें ही देखा जाता है कि जब किसी कारणसे चेतन पृथक् हो जाता है, तब इन्द्रियां प्राण मन बुद्धि शरीर आदि समस्त सामग्रियोंके रहनेपर भी उससे योग्यतानुसार कोई भी क्रिया नियमित सम्पन्न नहीं हो सकती।

जब किसी चैतन्य शक्तिके नियामक हुए बिना जगत्की साधारणसे साधारण क्रिया भी नियमितरूपसे नहीं हो सकती तब इतने भारी अनादि अनन्त सृष्टि–प्रवाहके अमोघ नियमपूर्ण कार्य–जिसमें नियमके विरुद्ध एक पत्ती भी नहीं हिल सकती–जगत्का नियामक कोई सर्वव्यापक चेतन सत्य नहीं है, ऐसा कहना केवल उन्मत्त प्रलाप या उन्मत्त चिन्ताके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है!

यदि जड़ मायाका सञ्चालक कोई चेतन ईश्वर न होता तो यह अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमयी सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय क्रम कभी नहीं रह सकता था। यदि सृष्टि-प्रवाह स्वभावमयी माया ही सृजन करने लगती तो अनन्त कालतक वह सृष्टि ही करती रह जाती, प्रलयका कभी समय ही न आता और यदि उससे प्रलय होने लगता तो प्रलय ही प्रलय होता रह जाता। प्रलयके गर्भसे नियमानुसार पुनः उचित समयपर सृष्टिका उदय कभी न हो पाता!

कर्मानुसार जीवोंकी ऊंच नीच गति, ऋतुओंका ठीक ठीक समयपर विकास, नियमपूर्वक रवि शशिका उदयास्त, दिनरात, अमावास्या पूर्णिमाके चक्रकी तरह नियमपूर्वक परिवर्तन, चन्द्रकलाकी नियमपूर्वक न्यूनाधिकता, सूर्यनारायणका राशिचक्रमें नियमित परिभ्रमण और देश कालानुसार शस्यकी समृद्धि आदि कोई भी क्रिया सर्वतोभावसे जाज्वल्यमान संघटित होती हुई दिखायी नहीं देती। अतएव यह सभी जगत् उस जगन्नियन्ता करुणा–वरुणालय ज्ञानमय चैतन्य परमेश्वरकी अनादि अनन्त माया-के अन्तस्तलमें सर्वतोव्यापिनी चैतन्य सत्ताका ही कल्याणमय फल है, जिसको पुण्यवान् श्रद्धालु भक्तजन प्रतिक्षण अनुभव करते हुए परमानन्द-

सागरमें लीन हुआ करते हैं। अन्यथा अविद्या-ग्रसित कर्कश कुतर्कनायुक्त कठोर-चित्त प्राणियों-के हृदयमें इस ज्ञान–ज्योतिका उदय होना कठिन ही नहीं किन्तु बिना उनकी कृपा सर्वथा असंभव ही है। अस्तु ! अब पुनः प्रकरणपर आइये !

इस सारे कथनका सारांश यही निकला कि मायापर अधिष्ठातृत्व करके सृष्टि-कार्यका जो नियामक होता है, उसी भावको ईश्वरभाव कहते हैं। ब्रह्मभाव और ईश्वरभाव पृथक् पृथक् सीमापर बँटे हुए हैं, ऐसा निश्चय नहीं किया जासकता क्योंकि अनादि अनन्त असीम अखण्ड वस्तुमें ऐसी कल्पना उनके स्वरूपके विरुद्ध होती है। परन्तु यह मानना चाहिये कि अनादि मायाके विस्तार और प्रलयके क्रमसे एक ही भावमें दो भावोंकी स्फूर्ति होती है।

प्रलयके समय प्रकृति ब्रह्ममें लय हो जानेसे द्रष्टा-दर्शन-दृश्य सम्बन्धयुक्त ईश्वरभाव न रह-कर केवल ब्रह्मभाव रहता है और वही फिर सृष्टिके समय मायापर अधिष्ठान करके ईश्वर-भावको प्राप्त होजाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है–

नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम् ।
गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणस्वतः ॥

नारायणमें समस्त विश्व रहता है वह निर्गुण होनेपर भी सृष्टिके समय मायाका आश्रय करके सगुण ईश्वर भावको प्राप्त होजाता है।

तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद्ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत् ।

'अपनी मायाशक्तिके उपाधि–संयोगसे ब्रह्म ही ईश्वरभावको प्राप्त होते हैं।'

ब्रह्मभाव और ईश्वरभावका रहस्य हम अलग अलग इसतरह समझ सकते हैं कि, जैसे अनन्त-सागरकी जो वायुरहित निष्कम्प शान्ति-मय अवस्था है सो ब्रह्मभाव है और माया–वायु-के सम्बन्धसे उसीकी अनन्त उत्ताल-तरङ्ग फेन-युक्त विक्षुब्ध अवस्था ही ईश्वरभाव है। एकही ब्रह्मसागरमें माया पवन–प्रवाहके स्पन्द–निस्पन्द-के कारण दो भाव हैं। एकही ब्रह्म मायाके आश्रयसे सगुण संकुचित होरहे हैं और वही मायावरण शून्य हो निष्कम्प निस्तरङ्ग हो रहे हैं।

श्रीमद्भागवतके 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादि तरतः' श्लोकमें बड़ी सुन्दरतासे इन दोनों भावोंको दिखलाया है। ब्रह्मका यह ईश्वरभाव ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूप तटस्थ-लक्षणासे जानने योग्य है।

सूर्यनारायणकी किरणोंमें अनन्त प्रकाश है परन्तु जबतक शीशा, जल या पृथ्वी आदि कोई आधार नहीं होता, तबतक उनका प्रभाव (दीप्ति) मालूम नहीं पड़ता, इसी तरह ब्रह्ममें अनन्त सामर्थ्य भरा रहनेपर भी आधाररूप मायाके आश्रय बिना वह प्रकट नहीं होता, इसलिये मायाके साथ ब्रह्मका यह सम्बन्ध ही ईश्वर-भाव है।

ब्रह्मके सत्-चित्-आनन्दभावका विकास संसारमें इस माया-उपाधिके सम्बन्धसे ही तटस्थ दशामें प्रकट होता है, मायाशक्ति ईश्वर सम्बन्धसे युक्त होकर ही विश्वको प्रसव करती है। ईश्वरकी शक्ति ही त्रिगुण होकर जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और उसके विनाशके लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेश होकर प्रकट होती है। अतएव निर्गुण ब्रह्ममें किसी भाव या शक्तिकी व्यक्तावस्था न रहनेपर भी मायोपाधिक सगुणभावमें मायाके आधारसे समस्त शक्ति या भावोंका विकास होता है!

योगसे अनन्तप्रकारके वर्ण और रूपोंको धारण

कालेन नैवाऽखिल शक्तिधाम्नः ।'

जैसे वायुमें धूलिके परमाणु उड़ते रहते है, वैसे ही इस ईश्वरभावमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंका उत्पत्ति-विनाश होता रहता है। अगणित ब्रह्माण्डोंमें अगणित ब्रह्मा विष्णु शिव विराजमान रहते हैं और उन सबके ऊपर वह अद्वितीय महेश्वर विराजमान हैं। इन्हीं महेश्वरकी अनन्त शक्ति, संसारकी उत्पत्ति स्थिति विनाशके लिये अनन्त ब्रह्मा विष्णु शिवरूपसे व्याप्त हैं।-इन्हीं परमात्मासे प्रजापति, द्वादश आदित्य, अष्ट वसु, एकादश रुद्र, समस्त देवता गण और समस्त लोक उत्पन्न होकर पृथक् पृथक् विभागका नियमन करते हैं। इन्हींके भयसे वायु चलता है, अग्नि तपता है, सूर्य उदय होते हैं, इन्द्र,पवन और यम अपना अपना कर्तव्य पालन करते हैं।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

सर्वस्य प्रभुरीशानः सर्वस्य शरणं सुहृत्।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥

ईश्वर सबके प्रभु ईशान हैं, सर्वशक्तिमान् सबके शरण हैं, स्थावर जङ्गम समस्त विश्व उनके वश है।

'एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत। एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत। एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राणि अर्द्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति। एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमनु। एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वी पितरोऽन्वायत्ताः।

स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च।'

'इस अक्षर पुरुषके शासनसे ही सूर्य-चन्द्र, स्वर्ग, मर्त्य, निमेष, मुहूर्त, अहोरात्र, अर्द्ध-मास, मास, ऋतु, सम्वत्सर रक्षित हो रहे हैं। इसी अक्षरके प्रशासनसे पूर्व दिशामें बहनेवाली नदियां श्वेत पर्वतसे प्रवाहित हो रही हैं। पश्चिमदिशामें बहनेवाली नदियां अन्य दिशासे प्रवाहित हो रही हैं। इसी अक्षर पुरुषके प्रशासनसे मनुष्यगण दानकी, देवतागण यज्ञकी और पितृगण श्राद्धकी प्रशंसा कर रहे हैं। यह सबके ईशान, सबके अधिपति और सभीके शासक हैं। सत्कर्मसे इनकी वृद्धि व असत्कर्मसे इनका ह्रास नहीं होता, यह सबके ईश्वर, भूतोंके पालक और संसारके धारण करनेवाले सेतु हैं, इनको छोड़कर जगत्का दूसरा कोई रक्षक नियन्ता नहीं है।

यह समस्त संसारके उत्पत्ति स्थिति संहारक होते हुए भी जगत्के साथ किसी तरहके सम्बन्धसे बंधे हुए नहीं हैं। यह इनकी अद्भुत विलक्षणता है, यह सदा प्रकृति-बन्धनसे अलग और सब संसारके भीतर रहते हुए भी सबके बाहर हैं, क्योंकि इच्छारूपिणी मायाशक्ति इनकी है, यह मायाके नहीं हैं।

'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एष अन्तर्यामी एष ते आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।'

यह ईश्वर समस्त प्राणीमात्रके हृदयाकाशमें गूढ़रूपसे छिपे हुए घटी यन्त्रकी तरह जगत्चक्रको अविराम चला रहे हैं।

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।

जो पृथ्वीमें रहकर उसके अन्तर-वर्ती हैं, जिनको पृथ्वी नहीं जानती पर जो पृथ्वीको

जानते हैं, जो पृथ्वीके भीतर रहकर पृथ्वीका नियमन करते हैं, वही अन्तर्यामी परमात्मा ईश्वर हैं।

इसी तरह जो समस्त जीवोंके भीतर रहते हैं किन्तु जीवगण जिनको नहीं जानते, पर वह सबको जानते हैं और सबका अन्तर्यामीरूपसे शासन करते हैं, वही ईश्वर हैं।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥

जो परमात्मा सर्वदा निजरूपमें स्थित होते हुए भी, प्रकृतिद्वारा दूरसे दूर देशमें जाते हैं, निर्विकार निश्चल होनेपर भी सचल सक्रिय और सर्वत्र गमन करनेवाले प्रतीत होते हैं। श्रुति कहती है–

अपाणिपादो यवनो ग्रहीता,
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्य वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥
य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगात्,
वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

उनके हाथ पैर न होनेपर भी वह ग्रहण करते हैं, चलते हैं, आंख न होनेपर भी देखते हैं, कान नहीं है पर सुनते हैं, इन्द्रियां उनमें नहीं हैं पर इन्द्रियवेद्य वस्तुओंको जानते हैं किन्तु उन्हें कोई नहीं जान सकता। इसलिये ज्ञानीगण उनको परात्पर परमेश्वर ईश्वर कहते हैं।

वह एकरस अद्वैत होनेपर भी मायाशक्तिके योगसे अनन्तप्रकारके वर्ण और रूपोंको धारण करते हैं, सृष्टिदशामें अनन्तरूप बनकर फिर प्रलयमें सबको अपनेमें ही संहार भी कर लेते हैं। इस तरहके विचित्र चरित्रशील परमात्मा हम-लोगोंको शुभ बुद्धिसे युक्त करें!

उन्हींकी शक्तिसे सब शक्तिमान् हैं, उन्हींके प्राणोंसे सब क्रियावान्, उनके ही संयमसे सब आवर्तन-परिवर्तनशील हैं, वही सबके विधाता हैं, वही सब जीवोंको कर्मानुसार पथपर चलाते हैं, जीवोंके संस्कारानुसार भिन्न भिन्न मार्गोंका विधान करते हैं, त्रिगुणमय कर्मोंके अनुसार वही समस्त भावोंका विनियोग करते हैं, वही स्वभावका परिपाक और परिणामशील वस्तुओं-का संघटन करते हैं, वही जीवोंके एक बीजको बहुत प्रकारसे विभक्त करते हैं, वही कर्मोंका फल देते हैं और वही धर्माधर्मकी प्रेरणा करते हैं।

उनके ऐश्वर्यकी तर्कना कोई क्या कर सकता है? देखते हैं कि अनन्त कोटि-ब्रह्माण्डात्मक जगत्-के नियन्ता सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् जीवोंके विधाता, अदृष्ट फलदाता, पापियोंके दण्डदाता बने हुए हैं, संसारमें अधर्म बढ़ जानेपर आवश्यकतानुसार अवतार धारणकर असुरोंका दलनकर धर्मकी प्रतिष्ठा और साधुजनोंकी रक्षा करते हैं। कभी भिन्न भिन्नरूपसे अवतार धारणकर वेदोद्धारणकर पृथ्वीकी रक्षा करते हैं, कभी रावण-वंशका समूलोच्छेदन करते हैं, कभी जगदम्बाका रूप धारणकर, भीषण गर्जना करते हुए अट्टहास्यके द्वारा दैत्योंका हृदय विदीर्णकर उनका रक्त पानकर भीषण हुंकारसे त्रिभुवनको कम्पायमान कर देते हैं। उनके भावोंका कहांतक वर्णन हो सकता है?

'रजांसि भूमेर्गणयेत्कथञ्चित्
कालेन नैवाऽखिल शक्तिधाम्नः ।'

पृथ्वीके कणोंको कदाचित् काल पाकर कोई गिन भी ले, किन्तु अखिल शक्तिधाम परमात्माके गुणोंको कोई कभी नहीं गिन सकता। इसी भावमें श्रुति उनके रूपका वर्णन करती है—

द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति
खं वै नाभिः चन्द्र सूर्यौ च नेत्रे ।
दिशः श्रोत्रं विद्धि पादौ क्षितिश्च
सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता ॥

श्रीमद्भागवतके द्वितीय स्कन्धमें इस रूपका बहुत ही सुन्दर वर्णन मिलता है।

पातालमेतस्य हि पादमूलं,
पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम् ।
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ,
तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे ॥

द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्ते-
रूरुद्वयं वितलञ्चातलञ्च ।
महीतलं तज्जघनं महीपते,
नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति ॥

उरस्थलं ज्योतिरनीकमस्य,
ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य ।
तपो रराटीं विदुरादिपुंसः,
सत्यन्तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः ॥

इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः,
कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः ।
नासत्यदस्रौ परमस्य नासे,
घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः ॥

द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत्पतङ्गः,
पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च,
तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठ्यधिष्ण्य-
मापोऽस्य तालु रस एव जिह्वा ॥

छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति,
दंष्ट्रा यमः स्नेहकला द्विजानि ।
हासो जनोन्मादकरी च माया,
दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः ॥

व्रीडोत्तरोष्ठोऽधर एव लोभो,
धर्मः स्तनोऽधर्म्मपथोऽस्य पृष्ठः ।
कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ,
कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घाः ॥

नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि,
महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र ।
अनन्तवीर्यः श्वसितं मातरिश्वा,
गतिर्वयः कर्मगुणप्रवाहः ॥

ईशस्य केशान्विदुरम्बुवाहान्,
वासस्तु संध्यां कुरुवर्य्यभूम्नः ।
अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च,
स चन्द्रमाः सर्वविकारकोशः ॥

ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा,
विड्रुरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः ।
नानाभिधाभीज्यगणोपपन्नो,
द्रव्यात्मकः कर्म्म वितानयोगः ॥

पाताल उनका पादमूल है, रसातल चरणाग्र है, महीतल गुल्फ है, तलातल जङ्घा है, सुतल जानु और वितल अतल ऊरुद्वय हैं, भूर्लोक उनका जघन, भुवर्लोक नाभि, स्वर्लोक वक्षःस्थल, महर्लोक ग्रीवा है, जनलोक मुख, तपोलोक ललाट और सत्यलोक शिर है।

इन्द्रादि देवतागण उनके बाहु हैं, सुननेके अधिष्ठाता देवतागण उनके कान हैं, शब्द श्रोत्रेन्द्रिय है, अश्विनीकुमार नासिकापुट हैं, गन्ध घ्राणेन्द्रिय है और हुताशन मुख है। अन्तरिक्ष उनका नेत्रगोलक है, सूर्य नेत्र, दिनरात नेत्र-पलक, ब्रह्मपद भ्रू, जल तालु और रस जिह्वा है। वेद उनका ब्रह्मरन्ध्र, यम दाँत, स्नेहकला दन्त-पंक्ति, जनोंको मोह करनेवाली माया उनकी हंसी है। अपार सृष्टि उनका कटाक्ष है, लज्जा ऊपरका ओष्ठ है, लोभ अधर, धर्म स्तन, अधर्म पीठ, प्रजापति मेढ्, मित्रावरुण वृषण, समुद्र कुक्षि और पर्वतोंका समूह हड्डी है। नदियाँ उनकी नाड़ी, वृक्षपंक्ति रोम, वायु निश्वास और काल गति है। मेघ केश हैं, संध्या वस्त्र, प्रकृति हृदय और चन्द्रमा मन है। ब्राह्मण उनका मुख है, क्षत्रिय बाहु, वैश्य ऊरु और शूद्र पैर हैं तथा यज्ञ कर्म है। यह सब उनके विराट् भावका वर्णन है। अर्जुनको इसी रूपके दर्शन हुए थे साथ ही इनके ऐश्वर्यभावके भी दर्शन हुए थे। जिसप्रकार उनके रूपमें एक तरफ भीषण प्रचण्डता देख पड़ती है, उसी तरह दूसरी ओर अत्यन्त मधुर भाव देखा जाता है। श्रीभगवान इतने मधुर हैं, इतने कोमल हैं, इतने दयामय, स्नेहमय, करुणामय और प्रेममय हैं कि भक्तके निकट उनके प्राण बिके हुए हैं।

जीवोंके दुःखनिवारणके लिये स्वयं (लोक-दृष्टिमें) अनन्त दुःखभोग उनका व्रत है। भृगु-पादलता उनके हृदयका भूषण है, द्रौपदीका लज्जानिवारण उनका परम पुरुषार्थ है, करुणाकी होमाग्निमें समस्त ऐश्वर्य प्रदान करना उनके जीवनका महाव्रत है, इस भावमें श्रीभगवान् भक्तवत्सल महाप्रभु हैं, करुणामय स्वामी हैं, प्रीतिमय सखा हैं, स्नेहमय पुत्र हैं और परम प्रेममय कान्त हैं। अनन्त आनन्द अनन्त शान्ति-के चिरनिकेतन हैं।

इन सभी प्रकारके भावोंका विकास संसारमें केवल श्रीभगवान्के पूर्णावतार श्रीकृष्ण-चन्द्रजीमें हुआ था। महाभारतका कर्मक्षेत्र, श्रीगीताजीका ज्ञानक्षेत्र और वृन्दावनका भक्ति-लीलाक्षेत्र ऐश्वर्य और माधुर्यके समन्वयसे भरा हुआ है, जिसका भक्त रसिकजन ही अनुभव करते हैं। यह भारतभूमि धन्य है, जिसको इस प्रकारके परम पुरुषको गोदमें लेनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। जिनके सौन्दर्य अथवा किसी भी गुणकी उपमा कहीं भी नहीं मिल सकती। ऐसे परम सुन्दर पूर्ण पुरुषोत्तम न कभी हुए थे, न होंगे, जिनके सौन्दर्यादि गुणोंसे समस्त संसार मुग्ध हो रहा है, जिनके रूप-समुद्रमें चित्तको डुबाकर साधक संसारके समस्त रसोंको भूलकर रस-रूप भगवान्में मिलकर कृतार्थ होजाता है। यही सब माधुर्यता और ईश्वरभाव है।

फाग

सजनी ! ऐसा फाग मचावो ॥

निज घर फूंक तमाशा देखो, मन अह्लाद बढ़ावो। लोकलाज होरीमें धरकर, नंदलाल घर जावो ॥
प्रेमरंग छिड़को छिड़कावो, भीजो आप भिजावो। अपनी चुनरी हरिकी कमरी, जलमें बोर गलावो ॥
भेद भरमका भांडा फोड़ो, द्वैत गुलाल उड़ावो। श्याम श्याम ही पूर्ण दसों दिसि, 'भोला' कहूं न जावो ॥

—भोलेबाबा

परम पुरुष

(लेखक—श्रीअरविन्द घोष)

सप्तम अध्यायमें यहांतक जो कुछ कहा गया है, उससे हमारे साधनकी नवीन स्थापना अच्छीतरह स्पष्ट हो गयी है और उसे पूर्णतर करनेके उपायका भी पता लग गया है। संक्षेपमें वह यही है कि हमलोगोंको अन्तर्मुखी होकर एक उच्चतर चैतन्यकी ओर, एक परम सत्ताकी ओर अग्रसर होना पड़ेगा। हमें अपनी पार्थिव प्रकृतिको सर्वथा छोड़ना नहीं होगा, परन्तु इससमय वास्तवमें मूलतः हम जो कुछ हैं, उससे एक ऊंची स्थिति—एक आध्यात्मिक सिद्धि-प्राप्त करनी पड़ेगी—अपने मर्त्यजीवनकी अपूर्णताको पारकर दिव्यजीवनकी पूर्णता प्राप्त करनी होगी। ऐसा होना इसलिये सम्भव है कि प्रथम तो, मनुष्यमें जो व्यष्टिगत आत्मा—जीवात्मा है वह मूल सनातन सत्ता और मूल-शक्तिमें परमात्मा और भगवान्‌का ही स्फुलिङ्ग है, यहां वह भगवान्‌का ही एक प्रच्छन्न आविर्भाव है, उन्हींकी सत्ताकी सत्ता है, उन्हींके चैतन्यका चैतन्य है और उन्हींकी प्रकृतिकी प्रकृति है। परन्तु वह इस देह-मनके अज्ञानमें आबद्ध होनेके कारण अपनी वास्तविक सत्ता और अपने सत्य-स्वरूपको भूले हुए हैं।

दूसरे, जीवात्माका आविर्भाव दो प्रकृतियोंको लेकर हुआ है, मूल प्रकृतिमें वह अपने यथार्थ अध्यात्म-सत्ताके साथ एक रहता है और नीचेकी प्रकृतिमें वह अहङ्कार और अज्ञानके वश होकर मोहमें फंस जाता है। इस दूसरी प्रकृतिका बहिष्कार करना होगा और अध्यात्म-प्रकृतिको फिरसे अपने अन्दर प्राप्तकर उसका पूर्ण विकास करना पड़ेगा तथा उसे सचल और सक्रिय बना देना होगा। आत्माका आभ्यन्तरिक विकास करके, एक नवीन जीवनका द्वार खोलकर, एक नवीन शक्तिमें जन्म लेकर हम अध्यात्म-प्रकृतिमें लौट जायं और हम जो भगवान्‌से इस मर्त्यरूपमें उतर आये हैं सो पुनः उन्हींमें जाकर उनके अंश बन जायं।—

यहां हम देखते हैं कि गीता भारतके तत्कालीन समसामयिक मतको पार कर गयी है। यहां जीवनको अस्वीकार करने या 'नेति नेति' का भाव कम है और स्वीकार करनेका भाव ही अधिक है। उस युगका अधिक जोर था प्रकृतिके आत्मविनाश (A self-annulment of nature) के लिये, उसके बदलेमें हमें यहां एक पूर्णतर समाधानका संकेत मिल रहा है। परवर्त्ती-समयमें जिन सब भक्तिमूलक धर्मोंका विकास हुआ था,—उनका भी कमसे कम एक पूर्वाभास हम यहां देख पाते हैं। हमारे साधारण जीवनमें जो एक सत्य रहा हुआ है, हम जिस अहंभावमें निवास करते हैं—उसके पीछे जो सत्य छिपा है, उसके सम्बन्धमें हमारी जो पहली अनुभूति है,

(१) गीता सप्तम अध्याय २९-३०, अष्टम अध्याय

गीताके मतसे भी वह एक विशाल, निर्व्यक्तिक, अक्षर आत्माकी शान्ति है; उसकी समता और एकतामें हम अपने क्षुद्र 'मैं'पनका लोप कर देते हैं, उसकी शान्त पवित्रतामें हम अपनी वासना और वैरियोंकी समस्त संकीर्ण प्रेरणाओंका विसर्जन कर देते हैं। परन्तु, उसके बाद जब हमारी दृष्टि और भी पूर्ण होती है, तब हम एक जीवित असीम सत्ता, एक दिव्य अपरिमेय पुरुषको देख पाते हैं; हमलोग जो कुछ हैं सो सब उन्हींसे उत्पन्न हैं; आत्मा और प्रकृति, जगत् और जीव जो कुछ भी हम हैं सब उनके ही हैं। जब उनके साथ आत्मासे एक होते हैं तब हम लयको नहीं प्राप्त होते; वरन् उस अनन्तके महत्वमें स्थिररूपसे प्रतिष्ठित होकर उन्हींके अन्दर हम अपनी यथार्थ सत्ताको पुनः प्राप्त कर लेते हैं। यह एक साथ तीन प्रक्रियाओंके द्वारा साथ ही साधित होता है—(१) उनकी और हमारी अध्यात्म-प्रकृतिमें प्रतिष्ठित कर्मोंद्वारा समग्र-भावसे आत्माका पता पा जाना (an integral self-finding), (२) जिनमें सब कुछ स्थित है, जो सब कुछ हैं, उन परम पुरुषके ज्ञानद्वारा समग्र-भावसे आत्मस्वरूप हो जाना (an integral self-becoming) और (३) उस सर्वमय, सर्वश्रेष्ठ भगवान्‌के प्रति प्रेम और ऐकान्तिक भक्तिके द्वारा समग्र भावसे आत्म-समर्पण करना—(an integral self-giving) हमारे सम्पूर्ण कर्मोंमें प्रभु हैं, वे हमारे हृदयमें निवास करते हैं, हमारे समस्त जाग्रत-जीवनके आधार हैं, ऐसे भगवान्‌के प्रति खिँच जाना। इनमें तीसरी प्रक्रिया ही सबसे श्रेष्ठ और चरम सिद्धि प्रदान करनेवाली है। जो हम सबके मूल हैं, उनके ही प्रति अपना सर्वस्व समर्पण कर देना। हमारे विराम-शून्य आत्मसमर्पण-द्वारा हमारा सारा ज्ञान उन्हींके ज्ञानमें परिणत हो जाता है। हमारे आत्मसमर्पणमें जो प्रेमका आवेग है, वही हमलोगोंको उनके निकट पहुंचा देता है और उनके स्वरूपका अति गंभीर रहस्य खोल देता है, यह त्रिविध साधना ही उत्तम रहस्यका द्वार खोलनेवाली त्रिधा शक्ति है, प्रेमसे ही यह पूर्ण होती है और प्रेमसे ही यह पूर्णतम सिद्धि प्राप्त करती है।

हमारे आत्मसमर्पणको सफल बनानेके लिये सबसे पहले आवश्यकता है पूर्ण ज्ञानकी। अतएव सबसे पहले उस पुरुषको जानना चाहिये, जिनकी दिव्य सत्ताकी सभी शक्तियोंमें और सभी तत्त्वोंमें, सनातन मूल-स्वरूपमें और जीवनलीलामें तत्त्वतः सभीका पूर्ण सामञ्जस्य है। परन्तु प्राचीन पुरुषोंकी दृष्टिमें इस ज्ञानका, तत्त्वज्ञानका मूल्य केवल यही था कि, इसकी शक्तिसे हम मर-जीवनसे मुक्त होकर एक परम जीवनको अमृतत्वको प्राप्त कर सकें। यह मुक्ति भी उच्चतम भावसे गीताकी निजस्व अध्यात्म-साधनाके द्वारा परिणाममें कैसे प्राप्त की जा सकती है, गीता अब उसीको दिखलाती है। गीताकी बातका मर्म यही है कि, पुरुषोत्तमका ज्ञान ही ब्रह्मके सम्बन्धमें पूर्ण ज्ञान है। श्रीकृष्णने कहा, जो मुझको अपना आश्रय मानकर अवलम्बन करते हैं,—'शरणमाश्रित्य'। अपनी दिव्यज्योति, अपना मुक्तिदाता, अपने आत्माका गृहीता और आश्रयदाता समझकर भजते हैं, जो जरा-मरणसे तथा मर-जीवन और उसके बन्धनसे छूटनेके लिये अध्यात्म-साधना-द्वारा मेरी शरण ग्रहण करते हैं, वे 'उस ब्रह्म'को, और अखिल कर्मोंको जान सकते हैं (२)। और चूंकि वे मुझको जानते हैं तथा साथ ही अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञको भी जानते

(२) जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥७।२९

हैं, इससे इस देहके जीवनको छोड़कर जानेके सन्धिकालमें भी उनको मेरा ज्ञान रहता है और उस समय वे अपनी समस्त चेतनाको मेरे साथ युक्त कर रखते हैं (३)। इसीलिये वे मुझको पाते हैं। मर-जीवनमें बद्ध न रहनेसे वे उस उच्चतम दिव्यपदको ठीक वैसे ही प्राप्त करते हैं, जैसे निर्व्यक्तिक (impersonal) अक्षर ब्रह्ममें, अपनी स्वतन्त्र सत्ता लय की जाती है। इस निःसंशय सिद्धान्तको बतलाकर गीताने सातवां अध्याय समाप्त किया है।

यहां हमें ऐसी कई बातें मिलती हैं, जिनमें भगवान्‌के जगत्-लीलामें आत्मप्रकाश सम्बन्धी प्रधान प्रधान मूल सत्य संक्षेपसे निहित हैं। भगवान्‌का सृष्टिसूत्र और कार्यप्रणाली सभी बातें उनके अन्दर हैं, जीवात्माको पूर्ण आत्म-ज्ञानमें लौट जानेके लिये जिन सामग्रियोंकी आवश्यकता है वे सभी यहां मिलती हैं। पहले ही है, 'वही ब्रह्म,'-'तद्ब्रह्म'। फिर है प्रकृतिमें आत्माका मूल प्रकाश, अध्यात्म,। इसके बाद है, अधिभूत और अधिदैव-क्रमसे बहिर्जगत्‌का व्यापार और अन्तर्जगत्‌का व्यापार, अन्तमें है अधियज्ञ, जो जागतिक कर्म और यज्ञका निगूढ़ रहस्य है। श्रीकृष्णने जो कुछ कहा सो फलतः यही है कि,-यद्यपि "मैं पुरुषोत्तम हूं (मां विदुः), मैं इन सभीके ऊपर हूं, तथापि इन्हीं सबके द्वारा और इन्हींके पारस्परिक सम्बन्धकी सहायतासे मुझको ढूंढ़ना और जानना होगा,—मनुष्यकी चेतना जो मुझे पुनः प्राप्त करनेका पथ खोज रही है, उसके लिये यही एकमात्र पूर्ण साधना है।"

परन्तु केवल इन शब्दोंसे ही इनका अर्थ पहले पहल स्पष्ट नहीं समझा जा सकता, कमसे कम इनका नानाप्रकारसे अर्थ किया जा सकता है। अतएव इन शब्दोंके द्वारा यथार्थमें क्या समझमें आता है, सो निर्णय करना होगा, आदर्श शिष्य अर्जुनने भी उसी क्षण इनकी व्याख्या पूछी। श्रीकृष्णने संक्षेपसे उत्तर दिया (४)। गीताने केवल तात्त्विक व्याख्या करनेमें कहीं अधिक समय नहीं लिया, गीताने थोड़ेसेमें ही उसे इस खूबीसे कहा है, जिससे उसका सत्य ग्रहण किया जा सके और साधक स्वयं ही उपलब्ध करते करते अग्रसर हो सके। प्रातिभासिक (the phenomenal) जगत्‌के विपरीत स्वात्म-स्थित(self-existent) सत्ताको समझानेमें उपनिषदुने कई बार 'तद्ब्रह्म' वाक्यका व्यवहार किया है; मालूम होता है, गीताने इस वाक्य-द्वारा आत्माकी अक्षर स्थिति (the immutable self-existence) को लिया है, यही भगवान्‌की श्रेष्ठ आत्माभिव्यक्ति है और इसीकी अपरिवर्तनीय अनन्ततापर शेष सब-जो कुछ चल रहा है, विकसित हो रहा है सो सब-स्थित है-अक्षरम् परम्। परा प्रकृतिमें जीवका जो आध्यात्मिक भाव और मूल प्रकाशकी धारा-स्वभाव है, गीताके मतसे वही अध्यात्म है-स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।

गीता कहती है कि, सृष्टिकी प्रेरणा और शक्तिको ही कर्म कहते हैं,-विसर्गः कर्मसंज्ञितः। इस प्रथम मूल आत्मप्रकाश या स्वभावसे कर्म ही

(३) साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥७।३०

(४) अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥८।३
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥८।४

सब वस्तुओंका सृजन करता है, और स्वभावके वश होकर ही कार्य करता है, सृष्टि करता है और प्रकृतिमें विश्वलीला प्रकट करता है। क्षरलीलाके फलसे जिन सब पदार्थोंका आविर्भाव हुआ है, अधिभूत शब्दसे उन सबको समझना चाहिये,–अधिभूतं क्षरो भावः। प्रकृतिमें जो पुरुष विराजमान है,–प्रकृतिस्थ आत्मा,–वही अधिदैव हैं,। उनकी मूल सत्ताके जिन सब क्षरभावोंको कर्म प्रकृतिमें प्रकट कर रहा है, पुरुषकी चेतनासे वे सब प्रतिफलित होते हैं। अन्तर्यामी पुरुष उन सबको देखता है, भोग करता है। श्रीकृष्णने कहा 'कर्म और यज्ञका अधिपति–अधियज्ञ-शब्दसे मुझे समझना चाहिये। मैं भगवान् हूं। विश्वदेव हूं, पुरुषोत्तम हूं–यहां इन सब देहधारियोंमें मैं गुप्तभावसे विराजित हूं। अतएव जो कुछ भी है,–सर्वमिदं,–सभी इन कतिपय शब्दोंके सूत्रोंमें ही हैं।

गीताने संक्षेपमें ऐसा वर्णन करके, ज्ञानके द्वारा अन्तमें जो मुक्ति हो जाती है, उसीको तत्काल समझाना आरम्भ कर दिया है। पूर्व अध्यायके अन्तिम श्लोकमें ऐसी मुक्तिके लिये इशारा किया गया है। अवश्य ही गीता आगे चलकर फिर इस सम्बन्धमें आलोचना करेगी, इस सम्बन्धमें ऐसी और भी व्याख्या करेगी जो कर्मके और आभ्यन्तरिक उपलब्धिके लिये आवश्यक है। तबतक हमें, इन सब शब्दोंके और भी पूर्ण ज्ञानके लिये अपेक्षा करनी चाहिये। परन्तु आगे बढ़नेसे पहले, यहां और इसके आगे जो कुछ कहा गया है, उन्हीं सब वस्तुओंका पारस्परिक सम्बन्ध जो कुछ समझा जा सकता है, उसीका निर्णय करना आवश्यक है। क्योंकि, यहां विश्वलीलाकी धाराके सम्बन्धमें गीताका मत व्यक्त किया गया है। प्रथमतः है 'ब्रह्म'–यह उच्चतम अक्षर स्वात्म-स्थित (Self–existent) सत्ता है; देश-काल निमित्तमें विश्वप्रकृतिकी जो क्रीड़ा हो रही है, उसके पीछे सभी भूतोंमें वस्तुतः 'ब्रह्म' है। क्योंकि इस स्वात्म-स्थिति होनेके कारण ही देश काल और निमित्तकी स्थिति सम्भव हुई है। यदि वह अपरिवर्तनशील सर्वव्यापी अथच अखण्ड आधार न होता तो देश, काल, निमित्तका विभाग और वह नामरूपका खेल कभी सम्भव न होता। परन्तु यह अक्षर ब्रह्म स्वयं कुछ भी नहीं करता किसीका कारण नहीं बनता, कुछ भी संकल्प नहीं करता। यह निरपेक्ष (Impartial) और सम है। सबका आधार है परन्तु कुछ भी चुनता नहीं और कुछ भी उत्पन्न नहीं करता। तब फिर उत्पादन कौन करता है? संकल्प कौन करता है? परम पुरुषकी दिव्य प्रेरणाको कौन देता है? कर्मका परिचालन करने और अनन्त सत्तासे कालमें कार्यरूपसे विश्वलीलाको प्रकट करनेवाला कौन है? वह है स्वभावरूपसे प्रकृति! परात्पर, भगवान्, पुरुषोत्तम हैं और अपनी अनन्त अक्षरतापर प्रतिष्ठित करके अपनी परा–अध्यात्म-शक्तिकी क्रियाको धारण किये हुए हैं। भगवान् जिस दिव्य सत्ता, चैतन्य, इच्छा या शक्तिका विस्तार करते हैं,–ययेदं धार्यते जगत्–वही परा प्रकृति है। भगवान् अपनी सत्तासे जो कुछ अपनेसे अलग करके धारण करते हैं, एवं जीवकी अध्यात्म प्रकृति या स्वभावको प्रकट करते हैं, उन सभीकी मूल शक्ति और सत्य आत्मा उस परा प्रकृतिमें आत्म–सम्वितके प्रकाशसे ही देख पाती है। प्रत्येक जीवका अन्तर्निहित सत्य और मूल अध्यात्म तत्त्व जो अपनेको लीलामें कार्यतः प्रकाशकरके धारण किये हुए हैं, सबके अन्दर जो मूल दिव्य प्रकृति समस्त परिवर्तन, विकृति और विपर्ययमें भी नित्य अक्षुण्ण रहती

है, उसीको स्वभाव कहते हैं । स्वभावमें जो निहित है, वही सारी विश्वप्रकृतिमें सृष्ट हुआ है । विश्वप्रकृति उसे लेकर मानो पुरुषोत्तमकी अन्तर्दृष्टिकी छायामें यथाशक्ति व्यवहार कर रही है—नित्य स्वभावमेंसे, प्रत्येक भूतकी मूल प्रकृति और अध्यात्म सत्तामेंसे, प्रकृति नाना-प्रकार वैचित्र्यकी सृष्टि कर उसको प्रकाश करनेकी चेष्टा कर रही है,-अपने सभी नामरूपोंके परिवर्तनका और देश-काल-निमित्तके परिवर्तनका खेल दिखा रही है (५)।

इन सब अभिव्यक्ति और अवस्थाओंका जो दूसरी अवस्थामें परिवर्तन है-वही कर्म है, प्रकृतिकी क्रिया है । प्रकृति ही कर्मी है, लीलामयी है । स्वभाव जब सृष्टि-क्रियामें अपना विस्तार करता है, (विसर्ग) वही कर्मका पहला रूप है । सृष्टि दो प्रकारकी है,-भूत और भाव । सृष्टिमें जो वस्तुएं आविर्भूत होती हैं, उनका नाम भूत है (भूतकरः) । कालके अन्दर नियत इन्हीं वस्तुओंकी उत्पत्ति होती है (उद्भवः), कर्मकी सृष्टि-शक्ति ही इस उद्भवकी जड़ है । प्रकृतिकी शक्तियोंके पारस्परिक संयोगसे यह परिवर्तनशीला लीलाएं प्रकट होती हैं (अधिभूत) यही जगत् है, यही जीवात्माकी चैतन्यताकी विषय वस्तु (The object of the soul's consciousness) है । इन सबमें जीवात्मा ही द्रष्टा और भोक्ता स्वरूप प्रकृतिस्थ देवता है । मन, बुद्धि और इन्द्रियोंकी दिव्य शक्तियां,-जीवात्मा अपनी चैतन्यमय सत्ताकी जिन शक्तियोंद्वारा प्रकृतिके खेलको अपने अन्दर प्रतिफलित करता है, उनको लेकर ही अधिदैव बनता है । अतएव यह प्रकृतिस्थ आत्मा ही क्षर पुरुष है । यही परिवर्तनशील आत्मा है, यही भगवान्की कर्मलीला है । यह आत्मा जब प्रकृतिसे हटकर ब्रह्ममें स्थित होता है, तब यही अक्षर पुरुष है, अपरिवर्तनशील आत्मा और भगवान्की शाश्वत निष्क्रियता है । परन्तु क्षरपुरुषके शरीर और रूपमें दिव्य पुरुष निवास करते हैं । मनुष्यमें पुरुषोत्तम स्थित हैं, उनमें अक्षर-सत्ताकी शान्ति है । साथ ही साथ क्षरलीलाका भी वे उपभोग करते हैं । केवल विश्वके अतीत एक परम पदपर हमलोगोंसे बहुत दूरपर रहते हैं, यही बात नहीं है । वे यहां भी समस्त भूतोंके शरीरमें स्थित हैं, प्रकृतिमें और मनुष्यके हृद्देशमें विराजित हैं । यहां वे प्रकृतिके कर्मोंको यज्ञरूपसे ग्रहण कर रहे हैं और मनुष्य ज्ञानपूर्वक उनके प्रति आत्मसमर्पण कर देगा, इसीकी बाट देख रहे हैं । परन्तु सब समय, यहांतक कि मनुष्यके अज्ञान और अहङ्कारमें भी, वे मनुष्यके स्वभावके अधीश्वर और उसके सम्पूर्ण कर्मोंके स्वामी हैं । उनकी अध्यक्षतामें ही प्रकृति और कर्मोंकी क्रिया चलती है । उन्हींमें जीवात्मा प्रकृतिकी क्षरलीलामें आविर्भूत होता है; अक्षर स्वात्म-स्थितिसे होकर जीवात्मा पुनः उन्हींमें चला जाता है; भगवान्का परम पद प्राप्त करता है,-परमं धाम ।

जगत्में जन्म लेकर मनुष्य प्रकृति और कर्मोंकी क्रियाके वश होकर एक जगत्से दूसरे जगतोंमें गमनागमन किया करता है । पुरुष प्रकृतिस्थ (Purusha in Prakriti) है, यही उसका सूत्र है; उसमें वह आत्मा जो चिन्तन करता है, जो कुछ सोचता है, जो कुछ करता है, वह सर्वदा वही बनता है । पूर्वजन्ममें वह जो कुछ था, उसने जो कुछ किया था, उन्हींके द्वारा उसका वर्तमान जन्म निर्द्धारित हुआ है । अब

(५) देश और कालमें पर्यायक्रमसे एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाका जो विकास होता है, उसको ही हम निमित्त (causality) कहते हैं ।

इस जन्ममें वह मृत्युकालपर्यन्त जिसतरह रहेगा, जो कुछ सोचेगा, जो कुछ करेगा, उसीके द्वारा यह निश्चय होगा कि उसे परलोक या पर-जन्ममें क्या होना पड़ेगा। जन्म यदि 'होना' (becoming) है, तो मृत्यु भी 'होना' ही है, मृत्यु किसी तरह भी 'अन्त हो जाना' नहीं है। शरीर छूटता है, किन्तु जीवात्मा तो अपने मार्ग-पर चला ही जाता है (त्यक्त्वा कलेवरम्) अतएव अपनी महायात्राके सन्धिकालमें उसकी जैसी स्थिति रहती है, उसीपर बहुत कुछ निर्भर करता है। क्योंकि मृत्युसमय जिसप्रकारके 'होने' पर उसका चित्त लगा रहता है और मृत्युके पहले भी सदा जिसके चिन्तनसे पूर्ण था, उसको वही रूप मिलता है। कारण प्रकृति कर्मोंके द्वारा जीवात्माके विचारको और उसकी शक्तियोंको विकसित करती है। वास्तवमें उसका एकमात्र यही काम है। अतएव मानवात्मा यदि पुरुषोत्तमके पदको प्राप्त करना चाहता है तो उसे दो वस्तुओंकी आवश्यकता है। ये दोनों शर्तें पूरी करनी ही पड़ेंगी, तभी प्राप्तिकी सम्भावना है। पार्थिव जीवनमें अपने सम्पूर्ण आन्तरिक जीवनको इसी आदर्शकी ओर लगाये रखना और मृत्युकालमें भी अपने इस आदर्श तथा आकांक्षाको ऐकान्तिक भावसे पकड़े रखना। श्रीकृष्णने कहा, 'जो अन्तकालमें मुझे अनुसरण करता हुआ देह त्यागकर जाता है, वह मेरे भावको अर्थात् पुरुषोत्तमके भावको प्राप्त होता है' (६)। भगवान्‌की मूल-सत्ताके साथ वह मिल जाता है। यही जीवात्माकी चरम गति है (परो भाव) यहीं-पर कर्मकी शेष परिणति है,–यहां कर्म अपने आपमें, अपने मूल झरनेमें लौट आता है। विश्वलीलामें आकर जीवात्माकी मूल अध्यात्म-प्रकृति,–स्वभाव ढक जाता है, चैतन्यके अन्यान्य प्रातिभासिक भावोंका विकास होता है–तम् तम् भावम्। जीवात्मा जब इस विकासकी लीलाका अनुसरण करके अपने समस्त प्रातिभासिक भावोंमेंसे हो आया है, तब वह अपनी उस मूल-प्रकृतिमें लौट जाता है, एवं इसप्रकार वापस जाकर अपनी वास्तविक यथार्थ सत्ताका–आत्मा-का पता पाकर वह श्रेष्ठ गति प्राप्त करता है (मद् भावम्) एकतरह कहा जा सकता है कि, वह भगवान् हो जाता है, क्योंकि उसकी प्रातिभासिक प्रकृति भी जीवनके चरम रूपान्तर होजानेसे भगवान्‌की प्रकृतिमें मिल जाती है।

यहां गीताने मृत्युकालीन मनके भाव और चिन्तनपर विशेष जोर दिया है। जबतक हम चैतन्यकी आत्म-सृजनी शक्ति (Self-creative power of consciousness) को नहीं जान लेते, तबतक हमारे लिये यह समझना कठिन होगा कि गीताने इस विषयपर इतना जोर क्यों दिया है? चिन्तन, आन्तरिक भक्ति, श्रद्धा, पूर्ण और अनन्य सङ्कल्पके साथ जिसमें लगी रहती है, हमारी आभ्यन्तरिक सत्ताकी भी उसीमें परिवर्तित होनेकी सम्भावना है। यह सम्भावना तब निश्चित शक्तिमें परिणत हो जाती है, जब हम उन उच्चतर आध्यात्मिक एवं आत्म-विकसित अनुभूतियोंमें जाते हैं, जो हमारे साधारण मनस्तत्त्वकी तरह बाह्य वस्तुओंके अधीन नहीं है, (साधारण मनस्तत्त्व बाह्य प्रकृतिकी अधीनतामें बंधा है)। वहां हम देखते हैं कि, हम जिस वस्तुमें मन लगाये रखते हैं और सदा जिस ओर उन्मुख रहते हैं, क्रमशः निश्चितभावसे हम वही बन जाते हैं। अतएव वहां चिन्तनमें जरासी च्युति या स्मृतिमें तनिक

(६) अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ८।५

भ्रंशता होते ही इस परिवर्तनमें बाधा होगी और हम जैसे थे फिर वैसे ही हो जायंगे,-अन्ततः जबतक हम मूलतः अनिवर्त्यभावसे अपने नवीन भावमें स्थित नहीं होजाते तबतक इस प्रकारके पतनकी आशंका है। जब हम इस प्रकार स्थित होजायंगे, जब वह हमारी साधारण अनुभूति-उपलब्धिका विषय होजायगा, तब तो उसकी स्मृति आप ही रहेगी, क्योंकि उस समय वही हमारे चैतन्यका स्वाभाविक स्वरूप होजायगा। यह मर-जीवन छोड़कर जानेके सन्धि-समयमें हमारे मनका भाव कैसा रहता है, इस विवेचनसे इसकी आवश्यकता समझमें आजाती है। परन्तु जीवन भर याद न करके केवल मृत्युकालमें याद करनेसे, अथवा सारे जीवनमें अच्छी तरह तैयारी न करनेपर केवल मृत्युसमयका अनुस्मरण हमारा ऐसे उद्धार नहीं कर सकता। लौकिक-धर्म मुक्ति मिलनेके जो सहज मार्ग बतलाया करते हैं, उनके साथ गीताकी शिक्षाका मिलान नहीं होता। मृत्युसमय धर्मयाजक आकर मुक्तिका मार्ग साफ कर देगा, सारा जीवन पापोंमें बितानेपर भी अन्तमें पवित्र क्रिश्चियन मृत्यु (Christian death) हो जायगी, अथवा पवित्र काशीधाम या गंगातटपर मरनेसे ही मुक्तिके लिये और कुछ करनेका प्रयोजन नहीं रह जाता-इन सब कल्पनाओंके साथ गीताकी शिक्षाका मत कहीं नहीं मिलता दैहिक मृत्युके समय जिस दिव्य आध्यात्मिक भावमें मनका दृढ़तासे लगाये रखना होगा,-यम् स्मरन् भावम् त्यजति अन्ते कलेवरम्,-अपने सारे दैहिक जीवनमें भी उसी भावमें लगे रहना होगा,-सदा तद्भावभावितः (७) श्रीगुरुदेवने कहा-' अतएव सब समय मुझे स्मरण करो और युद्ध करो, यदि तुम अपनी मन-बुद्धिको सब समय मुझमें लगाये रख सकोगे और मुझमें अर्पण कर सकोगे, मय्यर्पितमनोबुद्धिः,- तो निश्चय ही तुम मुझको ही प्राप्त होगे। क्योंकि सर्वदा योगाभ्यासद्वारा अनन्यचित्त होकर चिन्तन करते करते मनुष्य दिव्य परमपुरुषको प्राप्त होता है" (८)।

यहां हम इस परम पुरुषका पहले पहल वर्णन पाते हैं,- ये भगवान् हैं, ये अक्षरकी अपेक्षा भी अति महान् और बृहत् हैं। गीताने आगे चलकर इन्हींको पुरुषोत्तम कहा है। अपनी कालातीत अनन्ततामें ये भी अक्षर और इन सब व्यक्त प्रपञ्चोंसे बहुत ऊपर हैं; कालके अन्दर हम इनकी सत्ताका केवल नाना विचित्र रूपों और गुप्तवेशोंमें सामान्य आभास पाते हैं (अव्यक्तोऽक्षरः)। तथापि वे केवल अरूप और अनिर्देश्य ही नहीं हैं, अथवा वे केवल इसीलिये अनिर्देश्य हैं कि, मनुष्यका मन जितनी अधिकसे अधिक सूक्ष्मताको धारण कर सकता है, वे उससे भी अधिक सूक्ष्म हैं, और उनका रूप हमारे चिन्तनातीत है, अणोरणीयांसम् अचिन्त्यरूप(९)। वे परम पुरुष परमात्मा ही द्रष्टा हैं, अति पुरातन हैं, अपनी अनन्त आत्म-दृष्टि और ज्ञानसे ही वे समस्त विश्वके प्रभु और शास्ता हैं। उन्होंने अपनी सत्तामें इस विश्वकी यावतीय वस्तुओंको यथास्थान सन्निवेशित कर रक्खा है,-कविम् पुराणम् अनुशासितारम् सर्वस्य धातारम्। वेदविद् लोग जिस स्वयम्भू अक्षर ब्रह्मकी बात कहते हैं, यह परमात्मा ही वह ब्रह्म हैं। यतिगण तपस्याके द्वारा मानसिक विक्षेपोंसे

(७) यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥८।६

(८) तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ८।७
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८।८

(९) कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥८।९

ऊपर उठकर इन्हींमें प्रवेश करते हैं,–इन्हींको प्राप्त करनेके लिये वे इन्द्रियसंयमका अभ्यास करते हैं (१०)। यही अनन्त सद्वस्तु, सर्वश्रेष्ठ गति, स्थान और पद हैं (अतएव कालमें जीवात्माका जो विकास होता है, उस विकास लीलाका यही परम लक्ष्य है), परन्तु इसमें किसी विकास-का खेल नहीं है, यह एक आदि, सनातन, परम अवस्था या स्थान है,– परमम् स्थानम् आद्यम् ।

योगी अन्तकालमें मनके जिस भावमें स्थित रहकर जीवनसे मृत्युमें होते हुए उस परम दिव्य स्थानको पहुंचते हैं, गीता उसीका वर्णन करती है। अचञ्चल मन हो, योगबलसे बलीयान् आत्मा हो, भक्तिसे भगवान्के साथ योग हो, (ज्ञानके द्वारा निराकारके साथ योग रहता है इसलिये भक्तियोग अनावश्यक नहीं हो जाता, शेषतक यह भक्ति परम योगशक्तिके अंगरूपसे ही रहती है) और भ्रुवोंके मध्यमें प्राणशक्ति, दिव्यदृष्टिके अधिष्ठानसे संग्रहीत हो (११)। समस्त इन्द्रियोंके द्वार रुद्ध हो जायं, मनका हृदयमें निरोध कर दिया जाय, प्राणशक्तिको विक्षेपसे संग्रहकरके मस्तकमें सन्निवेशित कर दिया जाय; बुद्धि ओम् इस पवित्र अक्षरके उच्चारण तथा इसके भावकी धारणा करते करते और परम पुरुषका स्मरण करते करते एकाग्र हो जाय (मामनुस्मरन्) (१२)। यही देहत्यागका प्रचलित यौगिक पथ है, यही विश्वातीत अनन्त-के प्रति सम्पूर्ण सत्ताका शेष समर्पण है। तथापि यह केवल एक प्रक्रियामात्र है; मूल प्रयोजन है जीवनमें,–यहांतक कि युद्ध और कर्मोंमें भी, सर्वदा अव्यभिचारी भावसे भगवान्का स्मरण करनेसे,– मामनुस्मर युध्य च–, और सम्पूर्ण जीवन-यात्राको विरामहीन योगमें परिणत कर देनेसे, (नित्ययोग) (१३)। भगवान्ने कहा, 'जो ऐसा करता है सो अनायास मुझे पाता है, वह महात्मा ही परम सिद्धिको प्राप्त होता है (१४)।'

इसप्रकार जीव जब देह त्याग कर जाता है, तब वह जिस अवस्थामें पहुंचता है वह विश्वातीत (Supracosmic) अवस्था है। विश्वप्रपञ्चमें जो सब उच्चतर जगत् हैं, उनसे भी पुनर्जन्ममें लौट आना पड़ता है, परन्तु जो जीव पुरुषोत्तममें चला जाता है, वह फिर पुनर्जन्म ग्रहण करने-के लिये बाध्य नहीं रहता (१५)। अतएव ज्ञानके द्वारा अनिर्देश्य ब्रह्मकी उपासना करनेसे जो कुछ भी फल मिलता हो, अन्यतर पूर्ण उपासना ज्ञान, कर्म और प्रेमके सम्मिलनद्वारा सर्वकर्मोंके अधीश्वर, समस्त मनुष्य और सर्व भूतोंके सुहृद् स्वयम्भू भगवान्की उपासना करनेपर भी वही फल मिलता है। उनको इसप्रकार जानने और इसप्रकार उनकी उपासना करनेसे पुनर्जन्म या कर्म-शृङ्खलाओंमें बंधना नहीं पड़ता, मर-लोककी अनित्य दुःखमय अवस्थासे (दुःखा-लयम् अशाश्वतम्) चिरन्तन मुक्ति पानेके लिये जीवकी जो आकांक्षा है, उसे वह पूर्ण कर सकता है।

(१०) यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

(११) प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्

(१२) सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ ८ । १२
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ ८ । १३

(१३) अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ ८ । १४

(१४) मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ ८ । १५

(१५) आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ८ । १६

जन्मान्तर-चक्र और उस चक्रसे मुक्ति पानेके सम्बन्धमें और भी स्पष्ट धारणा करा देनेके लिये गीता यहांपर जगत्-चक्रके परिवर्तन-के सम्बन्धमें प्राचीन भारतमें जो मत सुप्रचलित था, उसीको ग्रहण करती है । अनन्तकालसे जगत्का क्रमसे प्रकाश और लय होता है । जगत् जिससमय प्रकट रहता है, उसको ब्रह्माका दिन कहते हैं और जिससमय जगत् अप्रकट रहता है उसको ब्रह्माकी रात्रि कहते हैं । कालके परिमाणमें दोनों ही समान हैं । ब्रह्माके कर्म चलते हैं हजार चतुर्युगोंतक, और ब्रह्माकी निद्रा भी हजार नीरव चतुर्युग तक रहती है (१६)। दिन निकलनेपर अव्यक्तसे व्यक्त वस्तुएं आविर्भूत होती हैं और रात पड़नेपर सब अदृश्य हो जाती या अव्यक्तमें लीन हो जाती हैं(१७)। इसप्रकार समस्त भूत अवशभावसे प्रकाश और प्रलयके चक्रमें घूम रहे हैं, दिन आनेपर वे पुनः पुनः आविर्भूत होते हैं (भूत्वा भूत्वा), और रात आनेपर वे बिना विराम उसमें लौट जाते हैं (१८)।परन्तु यह अव्यक्त ही भगवान्की दिव्य आद्य अवस्था नहीं है । उनकी एक और अवस्था (भावोऽन्यः) है । विश्वकी इस अव्यक्तावस्थासे ऊपर भी एक विश्वातीत अव्यक्त, अनन्तकाल स्वप्रतिष्ठ है, वह इस व्यक्त विश्वके विपरीत अव्यक्त नहीं है । परन्तु इसके बहुत ऊपर, इससे सम्पूर्ण विभिन्न, अपरिवर्तनीय और सनातन है,-सब भूतोंके नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता (१९)।'उन्हींको अव्यक्त अक्षर कहते हैं, उन्हींको लोग परमात्मा और परम गति कहते हैं। जो उनमें पहुंच जाते हैं, उनको फिरसे लौटना नहीं पड़ता; वही मेरा परमधाम है' (२०)। क्योंकि जो जीवात्मा वहां पहुंच गया है, वह विश्वके प्रकाश और प्रलय-चक्रसे मुक्त होगया है ।

जगत्-चक्रके सम्बन्धमें इस मतको हम मानें या न मानें ('अहोरात्रविद्' लोगोंके ज्ञानका मूल्य हमारी दृष्टिमें जितना होता है यह मानना भी उसीपर निर्भर करता है) परन्तु गीताने इसको किस भावमें व्यवहार किया है,हमें यही देखना है ।

यहां यह धारणा सहज ही हो सकती है कि "जो सनातन अव्यक्त सत्ता है, जिसके परमभावके साथ विश्वकी अभिव्यक्ति या लयका कोई भी सम्बन्ध नहीं मालूम होता है, वही चिर-अनिर्देश्य अज्ञात निरुपाधिक ब्रह्म है और उसमें पहुंचनेके लिये, हम इस जीवनलीलामें जो कुछ हुए हैं, सो सब छोड़ देना ही हमारे लिये असली उपाय है। मनके ज्ञान, हृदयकी भक्ति, यौगिक इच्छा और जाग्रत प्राणशक्ति, इन सबको सम्मिलित भावसे एकाग्र-करके हमारी सम्पूर्ण चेतनाको उसकी ओर लेजानेका मार्ग ठीक नहीं है, विशेषतः जो निर्विशेष ब्रह्म सब सम्बन्धोंसे रहित है, अव्यवहार्य है, उसके प्रति भक्तिका प्रयोग उचित नहीं प्रतीत होता।" परन्तु गीताने बहुत जोर देकर कहा है कि यद्यपि यह अवस्था विश्वातीत है और यद्यपि वह चिर अव्यक्त है, तथापि 'उन परमपुरुषको अनन्यभक्तिके द्वारा ही प्राप्त करना पड़ेगा, जिनके

(१६) सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ८ । १७

(१७) अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ ८ । १८

(१८) भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ ८ । १९

(१९) परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ ८ । २०

(२०) अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ८ । २१

अन्दर समस्त भूत निवास करते हैं और जिन्होंने इस सम्पूर्ण जगत्का विस्तार किया है (२१)।' अर्थात् वे परमपुरुष हमारे मायाके जगत्से दूर होनेपर भी इससे सर्वथा सम्पूर्ण सम्बन्धशून्य ब्रह्म नहीं हैं। वे द्रष्टा हैं, स्रष्टा हैं, इन सब जगतोंके शास्ता, कविम्, अनुशासितारम् और धातारम् हैं। उन्हींको एक और सब, वासुदेव, सर्वमिति जानकर, उनकी भक्तिकर, समस्त वस्तु, समस्त घटना और समस्त कर्मोंमें उनके साथ हमारी समग्र चेतनाको युक्तकरके ही हमें परम गति, पूर्ण सिद्धि और चरम मुक्तिके लिये साधना करनी होगी।

इसके बाद ही एक और भी रहस्यमय सिद्धान्तका वर्णन है। इसको गीताने प्राचीन वेदान्ती साधकों (mystics) से लिया है। योगी यदि पुनः मानव-जन्म ग्रहण करना चाहें तो उन्हें किस समय देहत्याग करना चाहिये और यदि पुनर्जन्मसे बचना हो तो कब देह त्याग करना चाहिये, इसका वर्णन है (२२)। अग्नि ज्योति और धूम या अन्धकार, दिन और रात, शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष, उत्तरायण और दक्षिणायन, ये सब परस्पर विपरीत हैं। इनमें प्रथममें देहत्याग करनेसे ब्रह्मविद् ब्रह्मको प्राप्त होते हैं और द्वितीयके द्वारा योगी चान्द्रमस ज्योतिको प्राप्त होते हैं और पुनः उन्हें मानव-जन्ममें लौट आना पड़ता है (२३)। यही दोनों शुक्ल और कृष्ण मार्ग हैं। उपनिषदोंमें इनको क्रमसे देवयान और पितृयान कहा है। जो योगी इन दोनों मार्गोंका तत्त्व जानते हैं, वे फिर किसी भ्रममें नहीं पड़ सकते (२४)। इस सिद्धान्तमें जड़ जगत् और मनोजगत्-सम्बन्धी कुछ भी सत्य या संकेत-सूत्र क्यों न हो (२५)। (परन्तु यह विश्वास प्राचीन साधकोंके युगसे ही चला आता है। वे साधक प्रत्येक जड़ वस्तुको मनोजगत्का यथार्थ संकेत समझते। वे सर्वत्र ही भीतरके साथ बाहरकी, प्रकाशके साथ ज्ञान-की, अग्निके साथ तपःशक्तिकी पारस्परिक क्रियाका और कुछ अंशमें इनकी एकताका निर्णय किया करते थे) हमको केवल यही देखना है कि गीताने यहां इस सिद्धान्तको किस प्रकारसे घुमाकर कहा है, "अतएव सब समय योगयुक्त रहो,"–तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।

---

(२१) पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ ८।२२

(२२) यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ ८।२३

(२३) अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ ८।२४
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ ८।२५

(२४) शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ ८।२६
नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ ८।२७

(२५) यौगिक अभिज्ञतासे पता लगता है कि इस सिद्धान्तमें जड़जगत् और मनोजगत्-सम्बन्धी एक सत्य अवश्य है यद्यपि वह सर्वत्र लागू नहीं होता। जैसे–अन्तरमें प्रकाशकी शक्तिके साथ अन्धकारकी शक्तिका जो युद्ध हो रहा है, उसमें प्रकाशकी शक्तियां संवत्सर और दिनके प्रकाशके समय अधिकतर प्रभावशाली होती हैं और अन्धकारकी शक्तियोंका प्रभाव अन्धेरेमें बढ़ता है। जबतक अन्तिम विजय नहीं होजाती, तबतक यह प्रतियोगिता चला ही करती है।

फलतः मूल सिद्धान्त यही है कि, समस्त सत्ताको भगवान्के साथ एक करना होगा। और वह ऐसे समग्रभाव और सब प्रकारसे एक करना होगा कि जिससे वह सर्वदा स्वाभाविक ही योगयुक्त रह सके। इसीप्रकार समस्त जीवन-को,–केवल चिन्तन या ध्यानको ही नहीं परन्तु कर्म, चेष्टा, युद्ध सभीको–भगवान्के अनुस्मरणमें परिणत करना होगा। "मुझे स्मरण करो और युद्ध करो," इसका अर्थ यही है कि अनन्तका नित्य अनुस्मरण कहीं अनित्य संसारके द्वन्द्वोंमें घड़ी भरके लिये भी चला न जाय। यह बहुत ही कठिन है, प्रायः असम्भवसा मालूम होता है। वास्तवमें ऐसा होना तभी सम्पूर्णरूपसे सम्भव होता है जब अन्यान्य सब प्रयोजन पूर्ण कर दिये जाते हैं।–यदि हम अपनी चेतनामें सबके साथ एक आत्मा हो जायं, सब समय हमें यह स्मरण रहे कि वही एक आत्मा भगवान हैं, हमारी आंखें और हमारी अन्यान्य इन्द्रियां सर्वत्र भगवान्को देखें और अनुभव करें। किसी भी वस्तुको बाह्य इन्द्रिय-ग्राह्य समझकर भूल कर बैठना हमारे लिये असम्भव होजाय, परन्तु इस बाह्यरूपमें भगवान्को एक ही साथ प्रच्छन्न और व्यक्त देख सकें। यदि हमारी इच्छा भगवान्-की इच्छाके साथ एक होजाय और हमारी इच्छा मन तथा शरीरकी प्रत्येक क्रिया उस भगवदिच्छा-से ही आती हैं, हम ऐसा अनुभव करने लगें,–वह भगवदिच्छाकी ही क्रिया है, भगवदिच्छासे ही अनुप्राणित है या उसके साथ एक ही है, हमें ऐसी उपलब्धि हो, तब गीता जो कुछ चाहती है सो पूर्णरूपसे सम्पादन किया जासकता है। फिर भगवान्का अनुस्मरण मनका एक सामयिक व्यापार नहीं होता परन्तु तब वह होती है हमारे जीवनकी स्वाभाविक अवस्था और एकीभावसे हमारी चेतनाकी सार वस्तु। तब जीव अपना स्वाधिकार प्राप्त कर चुकता है, पुरुषोत्तमके साथ वह अपना सत्य और स्वाभाविक सम्बन्ध–अध्यात्म-सम्बन्ध स्थापन कर लेता है–तब हमारा सारा जीवन ही योग है, भगवान्के साथ ऐक्य है–वह ऐक्य सिद्ध है और अनन्त कालसे साधित होता चला आरहा है। (भारतवर्ष)

जय हरी

तुही पत राखनहार हरी।

अलख निरंजन जन मन रंजन भक्तनपाल हरी॥ तु०
दीन सुदामा सुधरयौ द्वारे सुधरि गई कुबरी।
लई उधारि प्रभो दर्शन दै अधमाधम सबरी॥ तु०
पत राखी गनिका गज गीधकी गौतम नारि तरी।
नीच निषाद लाय हिय भेटयो दारिद दुःख दरी॥ तु०
तुलसी सूर कबीर रिदासहिं दै निज ज्ञानगरी।
नरसी नानक नाम निबाह्यो नाथ सनाथ करी॥ तु०
जपु मन जाप पतितपावनको पावन नाम हरी।
रेसठ "प्रेम" धरत हिय क्यों नहिं श्यामल मूर्त्ति खरी॥ तु०

—प्रेमनारायण त्रिपाठी "प्रेम" जबलपुर

झङ्कार

चित्रकार ! किस अपूर्व कल्पित छविके चित्रणमें व्यस्त हो ? किस रंग एवं लेखनीसे अनुपमेय कान्तिराशिकी छाया अङ्कित कर रहे हो ? किस रहस्यमय कोणसे चन्द्रसे भी अधिक दीप्तिमान् उषाकी प्रथमोन्मिषित किरणोंसे भी सुन्दर, सप्तवर्ण रञ्जित इन्द्र-धनुषसे भी अधिक रागवैचित्र्ययुक्त रचनाका उद्घाटन कर रहे हो ?

चित्रकार ! तुम धन्य हो ! तुम्हारी रचना तो कल्पनासे भी अगम्य है। विस्तृत नीलोदधिमें मनुष्यकी दृष्टि जिसप्रकार विलुप्त हो जाती है उसीप्रकार तुम्हारी रचनाके अनन्त माधुर्यमें कल्पनाका अस्तित्व ही नहीं ज्ञात होता। जिस ओर इस अद्भुत चित्रपर क्षणभरके लिये भी दृष्टिपात करता हूं, उधर ही दृष्टि बँध जाती है, पूर्णताकी प्रतिकृति नयन-तारकोंमें खिंच जाती है । विश्व-सौन्दर्यकी सजीव माया कोमल रूप धारणकर आंखोंके सामने नृत्य करने लगती है। मानसी शक्तियोंको सयत्न एकत्रितकर जब चन्द्ररश्मिसे भी कोमल हृदय-सूत्रको तुम्हारी रचनासे जोड़ता हूं तो वह विशाल आदर्शसा दिखायी देती है, जिसमें समस्त ब्रह्माण्ड प्रतिबिम्बित हो रहा है।

कालका अनन्त प्रवाह तुम्हारी पुष्करपलाशवन्निर्लेप कृतीको नष्ट नहीं कर सकता। तुम्हारा रंग अमर पदार्थोंसे मिश्रित होकर प्रगाढ़ और पुष्ट हो गया है। इस रंगकी क्षीण रेखा भी संसारसे अस्तित्वहीन नहीं हो सकती। समयका प्रवाह इसे और भी दर्शनीय बनायेगा।

मञ्जुताके रसीले हाथसे लिखनेवाले चित्रकार ! प्रकृतिके सुरम्य चित्रणमें जो अद्भुत कौशल दिखायी देता है, उसे देखकर केवल मनुष्य ही नहीं अपितु समस्त प्राणीवर्ग, चतुष्पदसे लेकर पक्षियोंतक, मन्त्रमुग्धकी भांति आबद्ध हो जाते हैं। फूलोंकी नवीन मञ्जुल पंखुड़ियोंपर भिन्न भिन्न चित्ताकर्षक रंगोंकी आभा खेलतीसी जान पड़ती है। वृक्षोंकी सुन्दर पंक्तियां, मनोहर पर्वतीय शृङ्गोंकी लतागुल्मसे समाच्छादित उपत्यकाएं, जलप्रपात, मेघमालाश्रित क्षीण विद्युत रेखाकी भांति शैलनिर्झर, मधुप-चुम्बित कमल-वनराजीसे पूर्ण कासारका दिव्य चित्रण तुम्हारे जैसे ही कुशल चित्रकारसे संभव है। तुम्हारे रंग और रेखाकी पूर्णताका अनुकरण हमलोग कैसे कर सकते हैं ? चतुर ! दो कालकी सुन्दर चादरको रचकर अपने दिव्य रचना-चातुर्यका परिचय देते हो। प्रभातकी प्रथम रश्मियां स्वच्छ, लाल, श्वेत, पीत, नीलाभ चादरको समस्त विश्व-चित्रपर बिछा देती हैं। रश्मिनटियोंके नृत्य एवं विहगोंकी मधुर काकली चित्रके प्रत्येक कक्षमें उल्लासकी परिवाहिणी सरिता बहाने लगती है। तुम्हारे चित्रमें सभी वस्तुएं जाग्रत तथा भावोंसे पूर्ण होती हैं, उनमें गति होती है। तुम्हारी चद्दर निर्मलताकी पराकाष्ठा है, जिससे विश्व-चित्र आवृत रहनेपर भी द्विगुणित स्वच्छतासे दिखायी देता है।

इसीसे तो तुम्हारे स्वर्गीय चित्रकी तुलना सांसारिक जड़ चित्रोंसे नहीं हो सकती ।

समयकी परिवर्तनशीलताको निर्देश करती हुई सन्ध्या, रजनी-नटीके आगमनकी सूचना देती है । पुनः तारकमण्डित वसनावृता रजनी कम्पित करसे संसारको नीलाञ्चलसे ढक देती है । नीरवताका साम्राज्य चारों ओर छा जाता है । सभी वस्तुएं जड़वत् मूक हो जाती हैं । इस विचित्र लीलाको देखकर यही कहना पड़ता है कि तुम्हारा चित्र-चातुर्य मनुष्योंके उत्कट कोटि प्रयत्नकी सीमासे भी अगम्य है ।

चित्रकार ! यह सदासे सुना गया है कि कलाके उपासक कोमल-हृदय होते हैं । लोगोंकी प्रार्थनाएं उन्हें सहज ही द्रवीभूत कर देती हैं । इसी आशासे तुम्हारे द्वारपर मैं एक भिक्षा मांगने आया हूं । यदि स्वीकार करो तो मेरे हृदयके समस्त सन्ताप मद, मोह, लोभ, क्रोध, ईर्ष्या, ग्लानि आदि नष्ट हो जायँ । सुनते हो ? मेरे हृदय-पटपर भी उस विश्व-चित्रका एक स्वर्गीय अंश खींच दो । उस चित्रके मध्यमें अपनी छोटीसी प्रतिकृति भी चित्रित कर दो, जिसे अन्तस्तलके चक्षुओंसे देखकर पागलकी भांति मस्त हो तुम्हारी चतुराईका गान करूं । पक्षियोंके स्वरमें अपना स्वर भी मिलाकर तारस्वरसे तुम्हारी स्तुति करूं ।

—सत्याचरण 'सत्य'

हत्यारी आशा !

(ले०—पं० श्रीरामसेवकजी त्रिपाठी, मैनेजिङ्ग एडीटर 'माधुरी')

(१)

इस बोझीले जीवनमें,
दुखमय, हत्यारी आशा-
भटकाती है भटकेको,
दिखलाती अजब तमाशा ।

(२)

बिजली-सी लपक-झपकमें,
जादूका जाल बिछाती ।
आँखोंको झिलमिल करके-
फिर अपना रंग जमाती ।

(३)

बतलाकर सुख-सपनोंको-
दिलको वशमें कर लेती ।
सुख, शान्ति, सौम्य भावोंको-
क्षणमें हरिणी हर लेती ।

(४)

बेसुध, बेपीर बनाकर,
जीवन-जंजाल बढ़ाती ।
ढिलमिल यक़ीनवालोंको-
गिन गिन कर भेंट चढ़ाती ।

(५)

मरनेके दिनतक बैरिन-
आ-आ कर रोज सताती ।
उस मुक्ति-मार्गसे हमको-
फुसलाकर हाय हटाती !

विष्णुप्रियाको पादुका-दान

श्रीगौराङ्गदेव संन्यासके बाद घर आरहे हैं, परसों वे नवद्वीप पहुंचेंगे, माता शची और गौराङ्ग-प्रिया देवी विष्णुप्रिया इस बातको जानती हैं। विष्णुप्रिया दिन गिनती हैं। वह कभी कभी प्रेमावेशमें इस बातको भूल जाती हैं कि 'श्रीगौराङ्ग इससमय संन्यासी हैं, उनका अब मुझसे पति-पत्नीका कोई सम्बन्ध नहीं रहा।' वह सोचती हैं, मानों स्वामी परदेशसे घर लौट रहे हैं, इसीसे पलपलमें उन्हें स्मरणकर विष्णुप्रिया व्याकुल हो रही हैं।

प्रभु कुलिया पधारे हैं, बीचमें नदी है। संन्यासीको एकबार जन्मभूमिमें जाना चाहिये इसीलिये वे नवद्वीप आ गये, लाखों लोगोंकी भीड़ साथ है, शहरभरमें कोलाहल मच रहा है, सभी देखनेको दौड़ते हैं। स्त्रियां अटारियों और छतोंपर खड़ी होकर यह अभूतपूर्व दृश्य देख रही हैं। प्रभु खड़ाऊ पहने घाटपर उतरे और चिरपरिचित स्थानोंको देखते हुए आगे बढ़े!

प्रभुका घर आगया, वे घरके सामने वहीं खड़े हो गये, जहां छः वर्ष पहले गयाके गदाधरके चरणकमलोंका वर्णन करते हुए मूर्छित होकर गिर पड़े थे! माता शचीसे तो पहले भी भेंट हो गयी थी, परन्तु श्रीविष्णुप्रियाजीका संन्यासके बाद पति-मुख-दर्शनका यह पहला ही अवसर है। विष्णुप्रिया सोचती हैं "प्रभु तो अब केवल मेरे स्वामी ही नहीं हैं, उन्होंने तो जगत्‌भरके दुखियों-का दुःख दूर करनेका ठेका लिया है। वे तो अब सब-की सम्पत्ति हैं, जैसा उनसे सबका सम्बन्ध है, वैसा ही मेरा भी है। फिर मैं उनपर अपना अधि-कार विशेष क्यों समझूं? पर क्या करूं, मन नहीं मानता, उनके आनेके समाचारसे ही चित्तमें जो भाव-तरंगें उठीं और जिन्होंने कई बार मनमें ऐसा भाव उत्पन्न कर दिया कि, एक बार वे आ जायं। उनके चरण पकड़कर धरना दूंगी, अपने हृदयके प्रेम-सिन्धुकी मर्यादा तोड़कर उसके प्रबल प्लावनमें सारे नवद्वीपके स्त्रीपुरुषोंके साथ ही उनको भी बहा दूंगी। वे मेरे हैं, मेरे हृदयके धन हैं, क्या मेरी अवहेलना करेंगे? पर आज सोचती हूं, मेरा हृदय तो उन्हें अर्पित है, उनके सुखमें ही मुझे परम सुख है, जीवोंकी बड़ी ही बुरी दशा है, उनके उद्धारके लिये ही प्रभुने मेरा त्याग किया है। पतितोंको पावन करने-वाली प्रभुकी इस विशाल भावनामें क्या मुझे कभी आपत्ति करनी चाहिये? नहीं! नहीं!! मेरे स्वामी! जगत्‌के कल्याणके लिये तुम जो कुछ कर रहे हो, उसीमें मुझे बड़ी प्रसन्नता है, मेरे त्यागसे तुम्हारे जगत्-उद्धारके कार्यमें लाभ पहुंचता है, यही मेरे लिये बड़ा लाभ है, परन्तु नाथ! क्या मेरा उद्धार नहीं होगा। क्या मैं इसके लिये पात्र नहीं हूं?" इसतरह विष्णुप्रियाके मनमें अनेक तरंगें उठ रही हैं और उसे प्रभु-दर्शनके लिये व्याकुल कर रही हैं। इससमयकी विष्णुप्रियाके मनकी दशाका पता उन्हींको है, दूसरा कोई उसका अनुमान नहीं कर सकता!

परन्तु विष्णुप्रिया क्या गौराङ्गके पास जायंगी ? प्रभु तो स्त्रीको देखते ही दूर हट जाते हैं प्रभु उससे क्यों बोलेंगे। फिर जहां लाखोंकी भीड़ है, वहां एक कुलकामिनी सबके सामने कैसे जा सकती है ? उन्नीस सालकी तरुण अवस्था है, कभी घरसे बाहर नहीं निकलीं, आज कैसे बाहर जायं ? विष्णुप्रियाको अभी बाह्य ज्ञान है, वह यह सब सोचती हैं पर कुछ निश्चय नहीं कर पातीं। आड़में खड़ी होकर पतिमुख-दर्शनकी चेष्टा करने लगीं, पर नहीं कर सकीं। मनमें प्रबल इच्छा थी कि एकबार सदाके लिये जी भर-कर देख लूं, पर कैसे बाहर जायं ? फिर सोचा, 'स्त्रीके लिये जो स्वामी इसलोक और परलोकका एकमात्र आश्रय है, उसके चरणोंमें जाते लोक-लाज कैसी ?' यों सोचते सोचते विष्णुप्रियाका बाह्य ज्ञान जाता रहा, उसी समय उसी मैली साड़ीसे सिरसे पैरतक सारा बदन ढंककर विष्णुप्रिया दौड़ीं और घरके बाहर राजपथमें खड़े हुए प्रभुके चरणोंमें-हा प्रभु ! पुकारती हुई गिर पड़ीं। अश्रुधारासे सारा बदन भींग गया, प्रभुके चरणकमल प्रेमाश्रुधाराके पुनीत जलसे धुलने लगे !

प्रभुने किसी स्त्रीको पड़ी हुई देखा और 'तुम कौन हो ?' कहकर पीछे हट गये। किसीने भी प्रभुके प्रश्नका उत्तर नहीं दिया। इस दृश्यको देखकर लोगोंका हृदय भर आया, महाप्रभु चरणोंमें पड़ी हुई मलिनवस्त्रा युवतीकी ओर देखने लगे।

जब लोगोंने कोई जवाब नहीं दिया तब, श्रीमतीने गद्गदकण्ठसे कहा, 'नाथ ! मैं तुम्हारी दासियोंकी दासी हूं।' प्रभु समझ गये कि विष्णुप्रिया है। प्रभुके मुखपर भी क्षणभरके लिये उदासीकी रेखा झलकने लगीं, प्रभुने कहा, 'तुम क्या चाहती हो ?' विष्णुप्रिया बोली, 'प्रभो ! तुम सारे संसारका उद्धार कर रहे हो, तब क्या तुम्हारी यह दासी विष्णुप्रिया ही भवकूपमें पड़ी रहेगी ?'

इतना सुनते ही चारों ओरसे क्रन्दनकी ध्वनि उठी, करुणाका समुद्र उमड़ पड़ा, छोटे बड़े सभी पुकार पुकारकर रोने लगे ! उससमय आंसू नहीं थे केवल प्रभुकी और प्रभुकी योग्य पत्नी पतिपरायणा विष्णुप्रियाकी आंखोंमें ! प्रभुने सिर नीचाकरके धीरेसे कहा, 'तुम विष्णुप्रिया हो, अपना नाम सार्थक करो, तुम श्रीकृष्णकी प्रिया बनो।'

विष्णुप्रिया बोलीं, 'मैं तुम्हें छोड़कर श्रीकृष्ण-को नहीं देख सकती !' प्रभु कुछ क्षणोंतक चुप-चाप खड़े रहे, फिर दोनों चरणोंसे खड़ाऊ निकालकर बोले, 'साध्वी ! मैं संन्यासी हूं, तुम्हें देनेको मेरे पास कुछ भी नहीं है। यह मेरी खड़ाऊ लो और इन्हींसे अपने विरहको शान्त करो।' विष्णुप्रियाने खड़ाऊको प्रणाम किया, उन्हें मस्तक-पर रख लिया और फिर उन्हें चूमकर हृदयसे लगा लिया। लाखों लोग 'हरि हरि' पुकार उठे !

जगत्का वैचित्र्य

कोऊ राजमन्दिरमें राजसुख भोगत है कोऊ भीख मांगत फिरत दर दर है।
कोऊ निज भागिको सराहत है बार बार कोऊ नित खीझत मलत दोऊ कर है।
कोऊ पाय त्यागि देत इन्द्रहूकी संपतिको, कोऊ प्रभुताके हेतु ठानत समर है।
ठौर ठौर और ही दिखाति गति याकी यह मायारूपी जगत विचित्रताको घर है॥

—गङ्गाधर अवस्थी 'विचित्र'

भगवद्भक्त रामाजी

(लेखक—बाबा श्रीराघवदासजी)

भगवान्‌के भक्त संसारकी अनेक पहेलियोंको हल करनेके लिये ही जगत्‌में आते हैं। वह होते हैं सन्देश-वाहक और होते हैं सच्चे विश्व-सेवक। उनमें न तो कोई स्वार्थ होता है और न सेवाभावसे किये जानेवाले कामके लिये अभिमान ही। वह तो सम्पूर्ण संसारके पुजारी होते हैं।

सर्वव्यापी भगवान्‌के इस मूर्तिमान्‌स्वरूप संसारकी, इस दृश्य जगत्‌की सर्वविध पूजा करनेमें ही उन्हें आनन्द आता है। अपने भगवान्‌के सामने भक्तको अभिमान कैसा? अभिमान तो अपनेसे छोटे कम गुणवाले लोगोंके सामने होता है। सर्वव्यापी भगवान्‌के भक्तोंकी दृष्टिमें तो सम्पूर्ण जगत् भगवत्स्वरूप है, संसारके प्रत्येक अणुमें उन्हें उसी विभूति, उसी तेज, उसी वात्सल्य और उसी आह्लादिनी शक्तिका सञ्चार दिखायी पड़ता है। प्रभुके सन्मुख गर्दन उठानेकी कौन कहे, भक्तकी आंखें भी प्रभुके सन्मुख नहीं उठतीं, वह पृथ्वीपर पैर रखनेमें भी सकुचाता है क्योंकि वह अनुभव करता है कि, कण कणमें व्याप्त मेरे सर्वस्व भगवान्‌को मेरी किसी क्रियासे कष्ट न पहुंच जाय। उसकी यह धारणा उसे केवल नम्र ही नहीं बनाती, पर अपनेको सर्वथा भुला देनेके लिये विवश करती है। वह सब कुछ भूल जाता है, पर अपने प्रभुको कभी नहीं भूलता, इसीसे किसी अदृश्य प्रेरणावश यदि उसके हाथोंसे साधनमें कोई भूल हो जाती है तो, उसपर वह इतना पश्चात्ताप करता है, जितना कि खूनका अपराधी खून उतरनेपर!

भगवद्भक्तोंकी इस नम्रता—इस मिटनेकी लालसाका दृश्य संसारमें कभी कभी दृष्टिगोचर हुआ करता है। इसलिये ही आज हम मनुष्यगण कुछ सभ्य बने हुए हैं, अपनेसे ऊँचा देखनेका विचार भी करते हैं, अन्यथा केवल तम-रजोगुणका ही साम्राज्य सर्वत्र दिखायी देता!

बिहार प्रान्तमें एक ऐसे ही महाभगवद्भक्त कुछ दिनों पूर्व हो चुके हैं। आपका नाम था श्रीरामाजी!

रामाजीके पूर्व-जीवनके सम्बन्धमें मुझे विशेष जानकारी नहीं है, पर जब जब मुझे उनके दर्शन करनेका सौभाग्य मिला, तब ही मैंने उनका बड़ा उज्ज्वल चरित्र देखा। उसीका वर्णन उपर्युक्त पंक्तियोंमें किया है।

श्रीरामाजी नम्रताकी मूर्ति थे। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकृत रामचरितके अद्भुत ज्ञाता और अन्य विषयोंके बड़े विद्वान् होनेपर भी उन्हें अभिमान कहीं छूतक नहीं गया था। जिससमय वह किसी सभामें जाते, तब लोग उन्हें ऊपर बैठनेके लिये बड़ा आग्रह करते थे पर श्रीरामाजी वहां एक कोनेमें ऐसे चुपकेसे बैठे रहते थे, जैसे कोई सेवक अपने स्वामीके सन्मुख अत्यन्त नम्रतासे बैठा करता है। पर जब यह नम्रताकी मूर्ति भक्त हाथमें थाली लेकर भगवान्‌की आरती करनेके लिये उठते थे और जब बड़े भक्तिभावसे विनय सुनाकर अपने कुशल नृत्याभिनयके साथ प्रेममें झूमते हुए भगवान्‌की आरती

उतारते थे, तब श्रोतासमाजके हृदयोंमें भक्तिका समुद्र उमड़ आता था। कौन ऐसा पुरुष होगा जो श्रीरामाजीका यह स्वरूप देखकर भगवद्भक्ति- में लीन न हुआ हो ? श्रीरामायणकी कथा और श्रीरामनाम-संकीर्तन करते करते तो इन्होंने अनेक नास्तिकोंके हृदयमें भी ईश्वरके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करवा दी थी। इस कलामें वे अपने ढंगके एक ही पुरुष थे।

उनका श्रीरामायण-प्रेम अवर्णनीय था। हमलोग साधारणतया श्रीरामचन्द्रजीकी मूर्तिकी पूजा किया करते हैं। पर भगवद्भक्त रामाजीको यह बात नहीं जँची। उन्होंने मनमें सोचा कि सर्वव्यापी ईश्वरके नाते अवश्य ही मूर्तिमें भी भगवान् हैं ही, पर श्रीभगवान्‌का जैसा वास्तविक स्वरूप श्रीरामायण-ग्रन्थमें है, वैसा अन्यत्र नहीं, इसलिये श्रीरामायणकी ही पूजा क्यों न की जाय।—उसीको मूर्ति मानकर सर्वतोभावेन शरण क्यों न ली जाय ? भक्तोंकी अनोखी भावना हुआ करती है, श्रीरामाजी भी अपनी इस अद्भुत श्रद्धाके अनुसार श्रीरामायणजीको ही पोशाक और मुकुट पहनाकर उसीकी पूजा किया करते। उनके लिये श्रीरामायण ही भगवान् श्रीराम, सीता और लक्ष्मणका स्वरूप था। वह उसी स्वरूपके सामने कथा कहते, गाते, नाचते और उसीमें प्रेम लूटते थे।

श्रीरामाजीमें एक और भी विशेषता थी, वह केवल भगवान्‌के मंगलमय स्वरूपकी उपासना किया करते। श्रीरामाजीके भगवान् सदैव पीले कपड़े पहनकर जनकपुरके दुलहा बने रहते थे। उनको इससे आगे बढ़ना बड़ा कष्टदायक था। उनका श्रीरामायणका पाठ भी यहींतक हुआ करता। इतना ही नहीं पर उनकी यह मंगलरूपकी तन्मयता इतनी अधिक बढ़ गयी थी कि, जब कभी वह रास्ते चलते किसी पीत-वस्त्रधारी दुलहाको देख लेते तो तत्काल उसीके साथ हो लेते और उसे ठीक भगवान्‌के सदृश समझकर उसकी हरतरहकी सेवामें लग जाते। उनके श्रीरामनाम–संकीर्तन–यज्ञमें सभीके पीले कपड़े रहते। अन्य किसीको वहां स्थान नहीं मिलता, उनकी भावना थी कि दूसरे रूपसे कहीं हमारे मंगलमय भगवत्–स्वरूपका अपमान न हो जाय।

श्रीरामाजी ! धन्य है आपको और आपकी भावुकताको ! वर्तमान अमंगलपूर्ण भारतमें आपके समान शुद्ध मंगलके उपासक आप ही थे !

श्रीरामाजीके इस आचरणका इतना प्रभाव था कि बिहारके प्रसिद्ध नेता श्रीराजेन्द्र बाबू, बिहार स्टेट कौन्सिलके सदस्य श्रीमहेन्द्र बाबू प्रभृति अनेक सुशिक्षित पुरुष आपके अनन्य भक्त हैं। श्रीरामाजीकी इस तपस्याके कारण बिहारके पचासों ग्रामोंमें श्रीरामनाम-संकीर्तन- समाज स्थापित हो चुके हैं, जहाँ प्रतिदिन श्रीरामायणकी कथा और सत्चर्चा होती है। ग्राम-सुधार और ग्राम-संगठनके दृष्टिसे इसका कितना महत्व है, इसको प्रत्येक विचारवान् पुरुष अनुभव कर सकते हैं। मैं तो कहता हूं कि, बिहारमें आज अन्य प्रान्तोंकी अपेक्षा जो कुछ अच्छा ग्राम-संगठन है, उसमें श्रीरामाजी और उनके संकीर्तन समाजका भी पूरा हाथ है।

श्रीरामाजी खद्दरके बड़े प्रेमी थे। उनके मंगलमय भगवान्‌के सब कपड़े सर्वदा खद्दरके ही रहते थे, इससे भी बिहारके खद्दर-प्रचारमें कुछ विशेष सहायता मिली। अभी थोड़े दिन हुए नम्रताके स्वरूप इस मंगलमय भगवान्‌के भक्तने असार संसारको छोड़कर भगवत्स्वरूपमें शरण ली है।

श्रीरामाजीकी इस श्रीरामायण-भक्तिको देखकर अयोध्याजीके भण्डारेके अवसरपर मैंने अयोध्याजीके प्रसिद्ध भगवद्भक्त श्रीगोमतीदासजी महाराज और श्रीमहेन्द्र बाबू आदिके सन्मुख श्रीरामाजीके स्मारकमें श्रीरामायण-प्रचार समितिकी स्थापना करनेकी योजना उपस्थित की थी। उसको इन सब सज्जनोंने सहर्ष स्वीकार किया। समितिका अभ्यास-क्रम और उसके सदस्योंकी नामावली अन्यत्र दे रहा हूं। आशा है श्रीरामायणप्रेमी सज्जन श्रीरामायणके प्रसारमें समितिकी सहायता करेंगे। जिससे भक्त श्रीरामाजीके मंगलमय भगवान्‌के स्वरूपका दर्शन हम सभीको शीघ्र ही हो।*

वह डोर

(१)

अभिनव कलियोंके सुहासमें
नव बसन्तके मधुर मासमें
अभिलाषाके शतोल्लासमें
प्रभो! कृपाकी कोर!
आशाकी वह डोर!!

(२)

प्रातः रवि-चुम्बित प्रदेशमें
सुमन-सुगुम्फित गिरि सुकेशमें
प्रकृति-नटीके दिव्य वेषमें
दीख रही, चितचोर!
आशाकी वह डोर!!

(३)

तारोंके अज्ञात कथनमें
इन्द्र-धनुषके आवाहनमें
गगन-सिन्धुके उद्वेलनमें
क्षीण ज्योतिका छोर!
आशाकी वह डोर!!

(४)

जलकणके प्रतिबिम्ब उषामें
अथवा तिमिराच्छन्न निशामें
त्रिभुवनकी स्वर्गीय दिशामें
झूल रही झकझोर!
आशाकी वह डोर!!

(५)

स्वप्न-देशकी अनुपम माया
दिखा रही हो प्रलय कुछाया
कांप उठे क्षण-नश्वर काया
कालचक्र हो घोर!
आशाकी वह डोर!!

(६)

चाहे कुसुमोंका सुहास हो
स्वर्ग-जीवका शुचि प्रभास हो
प्रलय-प्रकृतिका कटु विकास हो
हृत्तन्त्रीका शोर!
आशाकी वह डोर!!

(७)

यदि मैं डोर छोरको पाऊं
धीरे धीरे चढ़ता जाऊं
हे करुणाकर! तुम तक आऊं
हो प्रफुल्ल मन-मोर!
आशाकी वह डोर!! —सत्याचरण 'सत्य' विशारद

* भक्त रामाजीका विशेष परिचय लिखनेके लिये मैंने विहारके प्रसिद्ध नेता श्रीराजेन्द्र बाबूसे निवेदन किया था। पर अनेक कार्योंमें संलग्न रहने तथा कुछ अस्वस्थ होनेके कारण वे नहीं लिख सके। फिर भी आशा है कि वह शीघ्र ही इस कार्यको सम्पादन करेंगे। उनके हाथसे लिखा हुआ श्रीरामाजीका चरित बहुतोंके लिये पथ-प्रदर्शक होगा। —लेखक

विवेक-वाटिका

यह परमात्मा न चक्षुका विषय है, न वाणीका है, न इन्द्रियोंका है और न कृच्छ्र-चान्द्रायणादि तप या अग्निहोत्रादि कर्मोंका ही विषय है। जिसका अन्तःकरण ब्रह्मज्ञानकी ज्योतिसे प्रकाशित है, वही इस अविभक्त परमात्माका ध्यान करता हुआ उसे देखता है। —उपनिषद्

* * *

योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियोंसे श्रेष्ठ है और सकाम कर्म करनेवालोंसे भी श्रेष्ठ है, अतएव योगी बनो। —श्रीमद्भगवद्गीता

* * *

जिसने इन्द्रियोंके वशमें रहकर केवल कुटुम्बके भरण पोषणमें ही अपना जीवन बिता दिया है, वह अन्तमें प्राप्त होनेवाली महान् पीड़ासे नष्टबुद्धि होकर मृत्युको प्राप्त होता है। —श्रीमद्भागवत

* * *

संसारमें मनुष्य अहंभावके कारण अनेक कष्ट सहता है। लक्ष्मी चञ्चला और क्षणस्थायिनी है। लाभके साथ हानि छायाकी भांति रहती है। जीवात्माको परमात्माका अंश समझकर मृगतृष्णाका पीछा छोड़ो, भ्रम त्यागकर ज्ञान प्राप्त करो और ईश्वरके मार्गमें प्रविष्ट हो।

—श्रीशंकराचार्य

* * *

प्रभु-विरहकी अग्निमें जलनेवालेके आंसू इसप्रकार निकलते हैं, जैसे जलती हुई गीली लकड़ीके दूसरी ओर फेन निकलता है।

—महात्मा कबीर

* * *

दान, पश्चात्ताप, सन्तोष, संयम, दीनता, सत्य और दया यह सात वैकुण्ठके द्वार हैं। —महाभारत

* * *

जो पासमें धन रहनेपर भी अपने भाइयोंकी दीन अवस्थापर तरस नहीं खाता और उनकी सहायता नहीं करता, उसके हृदयमें प्रभुका प्रेम कैसे धँस सकता है?

—महात्मा ईसा

* * *

जिसकी हार हुई है वह सदा असन्तुष्ट रहता है, सुखी वही है जो हार-जीतकी परवा नहीं करता।

—धम्मपद।

* * *

वैराग्यके ये लक्षण हैं-(१) सांसारिक प्रवृत्ति और वस्तुस्थितिका त्याग करना, (२) त्याग की हुई या नष्ट हुई वस्तुको याद भी नहीं करना, (३) उपास्यदेव प्रभुका ही स्मरण-सेवन करना, (४) प्रभु-प्राप्तिके लिये दूसरे सभी स्वार्थोंका त्याग करना, (५) अन्तःकरणको पवित्र बनाना, (६) प्रेमपात्र प्रभुका प्रिय बना जा सके, अपना प्रत्येक आचरण ऐसा ही करना, (७) यथासाध्य आहार निद्राको घटाना, (८) साधक यदि ईश्वरमें ही शान्ति प्राप्त न कर सका तो समझना चाहिये कि उसमें सच्चा वैराग्य नहीं है।

—महात्मा यूसुफ असबात

* * *

मनुष्योंमें मैत्री और पशुओंके प्रति दया रक्खो, यदि उनमें विष भी हो तो भी उनकी उत्पत्ति तो एक ही दयालु कर्ताके अमृतभण्डारसे किसी प्रयोजनको लेकर ही हुई है। अतएव उन्हें सुख पहुंचानेका यत्न करो।

—मारकस आरीलियस

* * *

प्रत्येक मनुष्य अपने मतको सच्चा और अपने बच्चेको सुन्दर समझता है परन्तु इससे दूसरेके मत या पराये बच्चेको बुरा नहीं कहना चाहिये। —सादी

* * *

जो कोई तुम्हें कोसे, तुम उसे कभी मत कोसो, स्मरण रक्खो कि क्रोधीके शापसे आशिषका फल मिलता है। —महात्मा रैदास

* * *

जिसने कभी दुःख नहीं उठाया, वह सबसे बड़ा दुखिया है और जिसने कभी पीर न सही, वह सबसे बढ़कर बेपीर है। —मेनसियस

* * *

जीव-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर*

(लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

एक सज्जनका प्रश्न है कि 'इस देहमें जीव कहांसे, कैसे और क्यों आता है, क्या क्या वस्तुएँ साथ लाता है, गर्भसे बाहर कैसे निकलता है और प्राण निकलनेपर कहां कैसे और क्यों जाता है तथा क्या क्या वस्तुएँ साथ लेजाता है?' प्रश्नकर्त्ताने शास्त्रप्रमाण और युक्तियोंसहित उत्तर लिखनेका अनुरोध किया है।

प्रश्न वास्तवमें बड़ा गहन है, इसका वास्तविक उत्तर तो सर्वज्ञ योगी महात्मागण ही दे सकते हैं, मेरा तो इस विषयपर कुछ लिखना एक विनोदके सदृश है। मैं किसीको यह माननेके लिये आग्रह नहीं करता कि इस प्रश्नपर मैं जो कुछ लिख रहा हूं, सो सर्वथा निर्भ्रान्त और यथार्थ है, क्योंकि ऐसा कहनेका मैं कोई अधिकार नहीं रखता। अवश्य ही शास्त्र सन्त महात्माओंके प्रसादसे मैंने अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो कुछ समझा है, उसमें मुझे तत्त्वतः कोई शङ्का नहीं है।

इस विषयमें मनस्वियोंमें बड़ा मतभेद है, जो लोग जीवकी सत्ता केवल मृत्युतक ही समझते हैं और पुनर्जन्म आदि बिल्कुल नहीं मानते, उनकी तो कोई बात ही नहीं है, परन्तु पुनर्जन्म माननेवालोंमें भी मतभेदकी कमी नहीं है, इस अवस्थामें अमुक मत ही सर्वथा सत्य है, यह कहनेका मैं अपना कोई अधिकार नहीं समझता, तथापि अपने विचारोंको नम्रताके साथ पाठकोंके सन्मुख इसीलिये रखता हूं, वे इस विषयका मनन अवश्य करें।

वेदान्तके मतसे तो संसार मायाका कार्य होनेसे वास्तवमें गमनागमनका कोई प्रश्न ही नहीं रहजाता, परन्तु यह सिद्धान्त समझानेकी वस्तु नहीं है, यह तो वास्तविक स्थिति है, इस स्थितिमें स्थित पुरुष ही इसका यथार्थ रहस्य जानते हैं। जिस यथार्थतामें एक शुद्ध सत् चित् आनन्दघन ब्रह्मके सिवा अन्यका सर्वथा अभाव है, उसमें तो कुछ भी कहना सुनना संभव नहीं होता, जहां व्यवहार है, वहां इस स्थितिका सिद्धान्त सामने रखनेमात्रसे काम नहीं चलता। वहां सृष्टि, जीव, जीवके कर्म, कर्मानुसार गमनागमन और भोग आदि सभी सत्य हैं। अतएव यही समझकर यहां इस विषयपर कुछ विचार किया जाता है।

जीव अपनी पूर्वकी योनिसे, योनिके अनुसार साधनोंद्वारा प्रारब्ध कर्मका फल भोगनेके लिये पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मराशिके अनन्त संस्कारोंको साथ लेकर सूक्ष्म शरीरसहित परवश नयी योनिमें आता है। गर्भसे पैदा होनेवाला

* इस लेखके आनेके बाद इसी विषयपर एक सुन्दर लेख स्वामी भोलेबाबाजीका भी आया है, जो अगले अंकमें प्रकाशित होगा— सम्पादक—

जीव अपनी योनिका गर्भकाल पूरा होनेपर प्रसूतिरूप अपान वायुकी प्रेरणासे बाहर निकलता है और प्राण निकलनेपर सूक्ष्म शरीर और शुभाशुभ कर्मराशिके संस्कारोंसहित कर्मानुसार भिन्न भिन्न साधनों और मार्गोंद्वारा मरणकालकी कर्मजन्य वासनाके अनुसार परवशतासे भिन्न भिन्न गतियोंको प्राप्त होता है। संक्षेपमें यही सिद्धान्त है। परन्तु इतने शब्दोंसे ही यह बात ठीक समझमें नहीं आती, शास्त्रोंके विविध प्रसंगोंमें भिन्न भिन्न वर्णन पढ़कर भ्रमसा हो जाता है, इसलिये कुछ विस्तारसे विवेचन किया जाता है–

तीन प्रकारकी गति

भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें मनुष्यकी तीन गतियां बतलायी हैं।–अधः, मध्य और ऊर्ध्व। तमोगुणसे नीची, रजोगुणसे बीचकी और सतोगुणसे ऊंची गति प्राप्त होती है। भगवान्‌ने कहा है –

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥
(गीता १४।१८)

'सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्य लोकमें ही रहते हैं एवं तमोगुणके कार्यरूप निद्रा प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित हुए तामस पुरुष, अधोगति अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं।' यह स्मरण रखना चाहिये कि, तीनों गुणोंमेंसे किसी एक या दोका सर्वथा नाश नहीं होता, संग और कर्मोंके अनुसार कोईसा एक गुण बढ़कर शेष दोनों गुणोंको दबा लेता है। तमोगुणी पुरुषोंकी संगति और तमोगुणी कार्योंसे तमोगुण बढ़कर रज और सत्त्वको दबाता है, रजोगुणी संगति और कार्योंसे रजोगुण बढ़कर तम और सत्त्वको दबा लेता है तथा इसीप्रकार सतोगुणी संगति और कार्योंसे सत्त्वगुण बढ़कर रज और तमको दबा लेता है (गीता १४।१०)। जिस समय जो गुण बढ़ा हुआ होता है, उसीमें मनुष्यकी स्थिति समझी जाती है और जिस स्थितिमें मृत्यु होती है, उसीके अनुसार उसकी गति होती है। यह नियम है कि अन्तकालमें मनुष्य जिस भावका स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उसीप्रकारके भावको वह प्राप्त होता है (गीता ८।६)। सतोगुणमें स्थिति होनेसे ही अन्तकालमें शुभ भावना या वासना होती है। शुभ वासनामें–सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्यु होनेसे मनुष्य निर्मल ऊर्ध्वके लोकोंको जाता है।

यहां यह प्रश्न होता है कि यदि वासनाके अनुसार ही अच्छे बुरे लोकोंकी प्राप्ति होती है तो कोई मनुष्य अशुभ वासना ही क्यों करेगा? सभी कोई उत्तम लोकोंको पानेके लिये उत्तम वासना ही करेंगे? इसका उत्तर यह है कि अन्तकालकी वासना या कामना अपने आप नहीं होती, वह प्रायः उसके तात्कालिक कर्मोंके अनुसार ही हुआ करती है। आयुके शेष कालमें या अन्तकालके समय मनुष्य जैसे कर्मोंमें लिप्त रहता है, करीब करीब उन्हींके अनुसार उसकी मरण-कालकी वासना होती है। मृत्युका कोई पता नहीं, कब आजाय, इससे मनुष्यको सदा सर्वदा उत्तम कर्मोंमें ही लगे रहना चाहिये। सर्वदा शुभ कर्मोंमें लगे रहनेसे वासना भी शुद्ध ही रहेगी, सर्वथा शुद्ध वासनाका रहना ही सतोगुणी स्थिति है क्योंकि देहके सभी द्वारोंमें चेतनता और बोध-

शक्तिका उत्पन्न होना ही सत्त्वगुणकी वृद्धिका लक्षण है (गीता १४ । ११) और इस स्थितिमें होनेवाली मृत्युही ऊर्ध्वलोकोंकी प्राप्तिका कारण है।

जो लोग ऐसा समझते हैं कि अन्तकालमें सात्त्विक वासना कर ली जायगी, अभीसे उसकी क्या आवश्यकता है ? वे बड़ी भूल करते हैं। अन्तकालमें वही वासना होगी, जैसी पहलेसे होती रही होगी । जब साधक ध्यान करने बैठता है—कुछ समय स्वस्थ और एकान्त चित्तसे परमात्माका चिन्तन करना चाहता है, तब यह देखा जाता है कि पूर्वके अभ्यासके कारण उसे प्रायः उन्हीं कार्यों या भावोंकी स्फुरणा होती है, जैसे कार्योंमें वह सदा लगा रहता है । वह साधक बार बार मनको विषयोंसे हटानेका प्रयत्न करता है, उसे धिक्कारता है, बहुत पश्चात्ताप भी करता है तथापि पूर्वका अभ्यास उसकी वृत्तियोंको सदाके कार्योंकी ओर खींच ले जाता है । जब मनुष्य सावधान अवस्थामें भी मनकी भावनाको सहसा अपनी इच्छानुसार नहीं बना सकता, तब जीवनभरके अभ्यासके विरुद्ध मृत्युकालमें हमारी वासना अनायास ही शुभ हो जायगी, यह समझना भ्रमके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । भगवान् भी कहते हैं—'सदा तद्भावभावितः ।'

यदि ऐसा ही होता तो शनैः शनैः उपरामताको प्राप्त करने और बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें लगानेकी आज्ञा भगवान् कैसे देते ? (गीता ६।२५)। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यके कर्मोंके अनुसार ही उसकी भावना होती है, जैसी अन्तकालकी भावना होती है—जिस गुणमें उसकी स्थिति होती है, उसीके अनुसार परवश होकर जीवको कर्मफल भोगनेके लिये दूसरी योनिमें जाना पड़ता है !

ऊर्ध्वगतिके दो भेद—इस ऊर्ध्व गतिके दो भेद हैं । एक ऊर्ध्व गतिसे वापस लौटकर नहीं आना पड़ता और दूसरीसे लौटकर आना पड़ता है । इसीको गीतामें शुक्लकृष्ण गति और उपनिषदोंमें देवयान पितृयान कहा है। सकाम भावसे वेदोक्त कर्म करनेवाले, स्वर्ग-प्राप्तिके प्रतिबन्धक देव-ऋणरूप पापसे छूटे हुए पुण्यात्मा पुरुष धूम-मार्गसे पुण्यलोकोंको प्राप्त होकर वहां दिव्य देवताओंके विशाल भोग भोगकर, पुण्य क्षीण होते ही पुनः मृत्युलोकमें लौट आते हैं और निष्कामभावसे भगवद्भक्ति या ईश्वरार्पण बुद्धिसे भेदज्ञानयुक्त श्रौत-स्मार्त कर्म करनेवाले—परोक्ष-भावसे परमेश्वरको जाननेवाले योगीजन क्रमसे ब्रह्मको प्राप्त होजाते हैं । भगवान् कहते हैं—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥
(गीता ८ । २४ से २६)

'दो प्रकारके मार्गोंमेंसे जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि अभिमानी देवता, दिनका अभिमानी देवता, शुक्लपक्षका अभिमानी देवता और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है । उस मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता अर्थात् परमेश्वरकी उपासनासे परमेश्वरको परोक्षभावसे जाननेवाले योगीजन उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गये हुए ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ।' तथा जिस मार्गमें धूमाभिमानी देवता, रात्रि अभिमानी देवता, कृष्णपक्षका अभिमानी देवता और दक्षिणायनके छः

महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गया हुआ सकाम कर्मयोगी उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर, स्वर्गमें अपने शुभ कर्मोंका फल भोगकर वापस आता है। जगत्के यह शुक्ल और कृष्णनामक दो मार्ग सनातन माने गये हैं, इनमें एक (शुक्ल मार्ग) के द्वारा गया हुआ वापस न लौटनेवाली परम गतिको प्राप्त होता है और दूसरे (कृष्ण मार्ग) द्वारा गया हुआ वापस आता है, अर्थात् जन्म मृत्युको प्राप्त होता है।

शुक्ल-अर्चि या देवयान मार्गसे गये हुए योगी नहीं लौटते और कृष्ण-धूम या पितृयान मार्गसे गये हुए योगियोंको लौटना पड़ता है। श्रुति कहती है:—

'ते य एवमेतद्विदुः ये चामी अरण्ये श्रद्धाꣳ सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति, अर्चिषोऽहरह्न, आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं, तान् वैद्युतान् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते ते ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥'

(बृहदारण्यक उ० २ । ६)

'जिनको ज्ञान होता है, जो अरण्यमें श्रद्धायुक्त होकर सत्यकी उपासना करते हैं, वे अर्चिरूप होते हैं, अर्चिसे दिनरूप होते हैं, दिनसे शुक्लपक्षरूप होते हैं, शुक्लपक्षसे उत्तरायणरूप होते हैं, उत्तरायणसे देवलोकरूप होते हैं, देवलोकसे आदित्यरूप होते हैं, आदित्यसे विद्युतरूप होते हैं, यहांसे अमानव पुरुष उन्हें ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं, वहां अनन्त वर्षोंतक वह रहते हैं उनको वापस लौटना नहीं पड़ता।' यह देवयान मार्ग है। एवं—

'अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान् षण्मासान् दक्षिणाऽऽदित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ताꣳस्तत्र देवा यथा सोमꣳ राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनाꣳस्तत्र भक्षयन्ति……।'

(बृहदारण्यक उ० २ । ६)

'जो सकाम भावसे यज्ञ-दान तथा तपद्वारा लोकोंपर विजय प्राप्त करते हैं, वे धूमको प्राप्त होते हैं, धूमसे रात्रिरूप होते हैं, रात्रिसे कृष्ण पक्षरूप होते हैं, कृष्णपक्षसे दक्षिणायनको प्राप्त होते हैं, दक्षिणायनसे पितृलोकको और वहांसे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं, चन्द्रलोक प्राप्त होनेपर वे अन्नरूप होते हैं…और देवता उनको भक्षण करते हैं।' यहां 'अन्न' होने और 'भक्षण' करनेसे यह मतलब है कि वे देवताओंकी खाद्य वस्तुमें प्रविष्ट होकर उनके द्वारा खाये जाते हैं और फिर उनसे देवरूपमें उत्पन्न होते हैं। अथवा 'अन्न' शब्दसे उन जीवोंको देवताओंका आश्रयी समझना चाहिये। नौकरको भी अन्न कहते हैं, सेवा करनेवाले पशुओंको अन्न कहते हैं "पशवः अन्नम्।" आदि वाक्योंसे यह सिद्ध है। वे देवताओंके नौकर होनेसे अपने सुखोंसे वञ्चित नहीं हो सकते। यह पितृयान मार्ग है।

ये धूम, रात्रि और अर्चि, दिन नामक भिन्न भिन्न लोकोंके अभिमानी देवता हैं, जिनका रूप भी उन्हीं नामोंके अनुसार है। जीव इन देवताओंके समान रूपको प्राप्तकर क्रमशः आगे बढ़ता है। इनमेंसे अर्चिमार्गवाला प्रकाशमय लोकोंके

मार्गसे प्रकाशपथके अभिमानी देवताओंद्वारा ले जाया जाकर क्रमशः विद्युत लोकतक पहुंचकर अमानव पुरुषके द्वारा बड़े सम्मानके साथ भगवान्के सर्वोत्तम दिव्य परमधाममें पहुंच जाता है। इसीको ब्रह्मोपासक ब्रह्मलोकका शेष भाग-सर्वोच्च गति, श्रीकृष्णके उपासक दिव्य गोलोक, श्रीरामके उपासक दिव्य साकेत-लोक, शैव शिवलोक, जैन मोक्षशिला, मुसलमान सातवाँ आसमान और ईसाई स्वर्ग कहते हैं। इस दिव्य धाममें पहुंचनेवाला महापुरुष सारे लोकों और मार्गोंको लाँघता हुआ एक प्रकाशमय दिव्य स्थानमें स्थित होता है, जहां उसमें सभी सिद्धियां और सभी प्रकारकी शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं। वह कल्पपर्यन्त अर्थात् ब्रह्माके आयु-तक वहां दिव्यभावसे रहकर अन्तमें भगवान्में मिल जाता है। अथवा भगवदिच्छासे भगवान्के अवतारकी ज्यों बन्धनमुक्त अवस्थामें ही लोक-हितार्थ संसारमें आ भी सकता है। ऐसे ही महात्माको कारक पुरुष कहते हैं।

धूममार्गके अभिमानी देवगण और इनके लोक भी सभी प्रकाशमय हैं, परन्तु इनका प्रकाश अर्चिमार्गवालोंकी अपेक्षा बहुत कम है तथा ये जीवको मायामय विषयभोग भोगनेवाले मार्गोंमें ले जाकर ऐसे लोकमें पहुंचाते हैं, जहांसे वापस लौटना पड़ता है, इसीसे यह अन्धकारके अभिमानी बतलाये गये हैं। इस मार्गमें भी जीव देवताओंकी तद्रूपताको प्राप्त करता हुआ चन्द्रमाकी रश्मियोंके रूपमें होकर उन देवताओंके द्वारा ले जाया हुआ अन्तमें चन्द्रलोकको प्राप्त होता है, और वहांके भोग भोगनेपर पुण्यक्षय होते ही वापस लौट आता है।

वापस लौटनेका क्रम—स्वर्गादिसे वापस लौटने-का क्रम उपनिषदोंके अनुसार यह है—

'तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुन-र्निवर्त्तन्ते, यथैतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति। अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति, त इह व्रीहियवा ओषधि-वनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति।' (छान्दोग्य उ० ५। १०। ५-६)

कर्मभोगकी अवधितक देवभोगोंको भोगनेके बाद वहांसे गिरते समय जीव पहले आकाशरूप होता है, आकाशसे वायु, वायुसे धूम, धूमसे अभ्र और अभ्रसे मेघ होते हैं, मेघसे जलरूपमें बरसते हैं और भूमि पर्वत नदी आदिमें गिरकर, खेतोंमें वे व्रीहि, यव, औषधि वनस्पति, तिल, आदि खाद्य पदार्थोंमें सम्बन्धित होकर पुरुषोंके द्वारा खाये जाते हैं। इसप्रकार पुरुषके शरीरमें पहुंचकर रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि आदि होते हुए अन्तमें वीर्यमें सम्मिलित होकर शुक्र-सिंचनके साथ माताकी योनिमें प्रवेश कर जाते हैं, वहां गर्भकालकी अवधि-तक माताके खाये हुए अन्न जलसे पालित होते हुए समय पूरा होनेपर अपान वायुकी प्रेरणासे मल मूत्रकी तरह वेग पाकर स्थूलरूपमें बाहर निकल आते हैं। कोई कोई ऐसा भी मानते हैं कि गर्भमें शरीर पूरा निर्माण हो जानेपर उसमें जीव आता है परन्तु यह बात ठीक नहीं मालूम होती। बिना चैतन्यके गर्भमें बालकका बढ़ना संभव नहीं। यह लौटकर आनेवाले जीव कर्मानुसार मनुष्य या पशु आदि योनियोंको प्राप्त होते हैं। श्रुति कहती है—

'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्यासो

ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकर-योनिं वा चाण्डालयोनिं वा।'

(छान्दोग्य उ० ५।१०।७)

'इनमें जिनका आचरण अच्छा होता है यानी जिनका पुण्य संचय होता है वे शीघ्र ही किसी ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्यकी रमणीय योनिको प्राप्त होता है। ऐसे ही जिनका आचरण बुरा होता है अर्थात् जिनके पापका संचय होता है वे किसी श्वान, सूकर या चाण्डालकी अधम योनिको प्राप्त होते हैं।'

यह ऊर्ध्व गतिके भेद और एकसे वापस न आने और दूसरीसे लौटकर आनेका क्रम हुआ।

मध्यगति—मध्यगति या मनुष्यलोकको प्राप्त होनेवाले जीवोंकी रजोगुणकी वृद्धिमें मृत्यु होनेपर उनका प्राणवायु सूक्ष्मशरीर सहित समष्टि लौकिक वायुमें मिल जाता है। व्यष्टि प्राणवायुको समष्टि प्राणवायु अपनेमें मिलाकर इस लोकमें जिस योनिमें जीवको जाना चाहिये, उसीके खाद्य पदार्थमें उसे पहुंचा देता है, यह वायुदेवता ही इसके योनि परिवर्तनका प्रधान साधक होता है, जो सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी आज्ञा और उसके निर्भ्रान्त विधानके अनुसार जीवको उसके कर्मानुसार भिन्न भिन्न मनुष्योंके खाद्यपदार्थोंद्वारा उनके पक्वाशयमें पहुंचाकर उपर्युक्त प्रकारसे वीर्यरूपमें परिणत करकर मनुष्यरूपमें उत्पन्न कराता है।

अधोगति—अधःगतिको प्राप्त होनेवाले वे जीव हैं, जो अनेक प्रकारके पापोंद्वारा अपना समस्त जीवन कलङ्कित किये हुए होते हैं, उनके अन्तकालकी वासना कर्मानुसार तमोमयी ही होती है, इससे वे नीच गतिको प्राप्त होते हैं।

जो लोग अहंकार, बल, घमण्ड, काम और क्रोधादिके परायण रहते हैं, परनिन्दा करते हैं, अपने तथा पराये सभीके शरीरोंमें स्थित अन्तर्यामी परमात्मासे द्वेष करते हैं। ऐसे द्वेषी, पापाचारी, क्रूरकर्मी नराधम मनुष्य सृष्टिके नियन्त्रणकर्ता भगवान्के विधानसे बारम्बार आसुरी योनियोंमें उत्पन्न होते हैं और आगे चलकर वे उससे भी अति नीच गतिको प्राप्त होते हैं (गीता १६।१८से२०)

इस नीच गतिमें प्रधान हेतु काम, क्रोध और लोभ हैं, इन्हीं तीनोंसे आसुरी सम्पत्तिका संग्रह होता है। भगवान्ने इसीलिये इनका त्याग करनेकी आज्ञा दी है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६।२१)

काम क्रोध तथा लोभ यह तीन प्रकारके नरकके द्वार अर्थात् सब अनर्थोंके मूल और नरककी प्राप्तिमें हेतु हैं, यह आत्माका नाश करनेवाले यानी उसे अधोगतिमें ले जानेवाले हैं, इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।

नीचगतिके दो भेद—जो लोग आत्म-पतनके कारणभूत काम क्रोध लोभ रूपी इस त्रिविध नरक-द्वारमें निवास करते हुए आसुरी, राक्षसी और मोहिनी सम्पत्तिकी पूंजी एकत्र करते हैं। गीताके उपर्युक्त सिद्धान्तोंके अनुसार उनकी गतिके प्रधानतः दो भेद हैं—(१) बारम्बार तिर्यक् आदि आसुरी योनियोंमें जन्म लेना और (२) उनसे भी अधम भूत प्रेत पिशाचादि गतियोंका या कुम्भीपाक अवीचि असिपत्र आदि नरकोंको प्राप्त होकर वहांकी रोमाञ्चकारी दारुण यन्त्रणाओंको भोगना!

इनमें जो तिर्यगादि योनियोंमें जाते हैं, वे जीव तो मृत्युके पश्चात् सूक्ष्मशरीरसे समष्टि वायुके साथ मिलकर तिर्यगादि योनियोंके खाद्य पदार्थोंमें मिलकर वीर्यद्वारा शरीरमें प्रवेश करके गर्भकी अवधि बीतनेपर उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार अण्डज प्राणियोंकी भी उत्पत्ति होती है। उद्भिज, स्वेदज जीवोंकी उत्पत्तिमें भी वायुदेवता ही कारण होते हैं, जीवोंके प्राणवायुको समष्टि वायु देवता अपने रूपमें भरकर जल पसीने आदिद्वारा स्वेदज प्राणियोंको और वायु पृथ्वी जल आदिके साथ उनको सम्बन्धित कर बीजमें प्रविष्ट करवाकर पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले वृक्षादि जड़ योनियोंमें उत्पन्न कराते हैं।

यह वायुदेवता ही यमराजके दूतके स्वरूपमें उस पापीको दीखते हैं, जो नारकी या प्रेतादि योनियोंमें जानेवाला होता है, इसीकी चर्चा गरुड़पुराण तथा अन्यान्य पुराणोंमें जहां पापीकी गतिका वर्णन है, वहां की गयी है। यह समस्त कार्य सबके स्वामी और नियन्ता ईश्वरकी शक्तिसे ऐसा नियमित होता है कि जिसमें कहीं किसी भूलकी गुञ्जाइश नहीं होती! इसी परमात्म-शक्तिकी ओरसे नियुक्त देवताओंद्वारा परवश होकर जीव अधम और उत्तम गतियोंमें जाता आता है। यह नियन्त्रण न होता तो, न तो कोई जीव, कमसे कम व्यवस्थापकके अभावमें पापोंका फल भोगनेके लिये कहीं जाता और न भोग ही सकता। अवश्य ही सुख भोगनेके लिये जीव लोकान्तरमें जाना चाहता, पर वह भी लेजानेवालेके अभावमें मार्गसे अनभिज्ञ रहनेके कारण नहीं जा पाता।

जीव साथ क्या लाता, लेजाता है-अब प्रधानतः यही बतलाना रहा कि जीव अपने साथ किन किन वस्तुओंको लेजाता है और किनको लाता है। जिस समय यह जीव जाग्रत अवस्थामें रहता है, उस समय इसकी स्थिति स्थूल शरीरमें रहती है। तब इसका सम्बन्ध पांच प्राणोंसहित चौबीस तत्त्वोंसे रहता है। (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका सूक्ष्म भावरूप) पांच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मन, त्रिगुणमयी मूल प्रकृति, कान, त्वचा, आंख, जीभ, नाक यह पांच ज्ञानेन्द्रियां, वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा यह पांच कर्मेन्द्रियाँ एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध यह इन्द्रियोंके पांच विषय। (गीता १३। ५) यही चौबीस तत्त्व हैं। इन तत्त्वोंका निरूपण करनेवाले आचार्योंने प्राणोंको इसीलिये अलग नहीं बतलाया कि प्राण वायुका ही भेद है, जो पञ्च महाभूतोंके अन्दर आ चुका है। योग सांख्य वेदान्त आदि शास्त्रोंके अनुसार प्रधानतः तत्त्व चौबीस ही माने गये हैं। प्राणवायुके अलग माननेकी आवश्यकता भी नहीं है। भेद बतलानेके लिये ही प्राण अपान समान व्यान उदान नामक वायुके पांच रूप माने गये हैं।

स्वप्नावस्थामें जीवकी स्थिति सूक्ष्म शरीरमें रहती है, सूक्ष्म शरीरमें सत्रह तत्त्व माने गये हैं-पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, उनके कारणरूप पांच सूक्ष्म तन्मात्राएं, तथा मन और बुद्धि। यह सत्रह तत्त्व हैं। कोई कोई आचार्य पांच सूक्ष्म तन्मात्राओंकी जगह पांच कर्मेन्द्रियां लेते हैं। पञ्च तन्मात्रा लेनेवाले कर्मेन्द्रियोंको ज्ञानेन्द्रियोंके अन्तर्गत मानते हैं और पांच कर्मेन्द्रियां माननेवाले पञ्च तन्मात्राओंको उनके कार्यरूप ज्ञानेन्द्रियोंके अन्तर्गत मान लेते हैं। किसी तरह भी मानें, अधिकांश मनस्वियोंने तत्त्व सत्रह ही बतलाये हैं, कहीं इनका ही कुछ विस्तार और कहीं कुछ संकोच कर दिया गया है।

इस सूक्ष्मशरीरके अन्तर्गत तीन कोश माने गये हैं-प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय। सब पांच कोश हैं, जिनमें स्थूल देह तो अन्नमय कोश है। यह पांचभौतिक शरीर पांच भूतोंका भण्डार है, इसके अन्दरके सूक्ष्मशरीरमें पहला प्राणमय कोश है, जिसमें पञ्च प्राण हैं। उसके अन्दर मनोमय कोष है,इसमें मन और इन्द्रियां हैं। उसके अन्दर विज्ञानमय (बुद्धिरूपी) कोश है, इसमें बुद्धि और पञ्च ज्ञानेन्द्रियां हैं। यही सत्रह तत्त्व हैं। स्वप्नमें इस सूक्ष्मरूपका अभिमानी जीव ही पूर्वकालमें देखे सुने पदार्थोंको अपने अन्दर सूक्ष्मरूपसे देखता है।

जब इसकी स्थिति कारण शरीरमें होती है, तब अव्याकृत माया प्रकृतिरूपी एक तत्त्वसे इसका सम्बन्ध हो जाता है। इस समय सभी तत्त्व उस कारणरूप प्रकृतिमें लय हो जाते हैं। इसीसे तब उस जीवको किसी बातका ज्ञान नहीं रहता। इसी गाढ़ निद्रावस्थाको सुषुप्ति कहते हैं। मायासहित ब्रह्ममें लय होनेके कारण उस समय जीवका सम्बन्ध सुखसे होता है। इसीको आनन्दमय कोष कहते हैं। इसीसे इस अवस्थासे जागनेपर यह कहता है कि 'मैं बहुत सुखसे सोया,' उसे और किसी बातका ज्ञान नहीं था, यही अज्ञान है, इस अज्ञानका नाम ही माया-प्रकृति है। सुखसे सोया, इससे सिद्ध होता है कि उसे आनन्दका अनुभव था। सुखरूपमें नित्य स्थित होनेपर भी वह प्रकृति या अज्ञानमें रहनेके कारण वापस आता है। घटमें जल भरकर उसका मुख अच्छी तरह बन्दकरके उसे अनन्त जलके समुद्रमें छोड़ दिया गया और फिर वापस निकाला तब वह घड़ेके अन्दरका जल ज्योंका त्यों बाहर निकल आया, घड़ा न होता तो वह जल समुद्र के अनन्त जलमें मिलकर एक हो जाता। इसीप्रकार अज्ञानमें रहनेके कारण सुखरूप ब्रह्ममें जानेपर भी जीवको ज्योंका त्यों लौट आना पड़ता है। अस्तु !

चौबीस तत्त्वोंके स्थूल शरीरमेंसे निकलकर जब यह जीव बाहर जाता है, तब स्थूल देह तो यहीं रह जाता है। प्राणमय कोषवाला सत्रह तत्त्वोंका सूक्ष्म शरीर इसमेंसे निकलकर अन्य शरीरमें जाता है। भगवान्ने कहा है-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥
(गीता १५। ७-८)

इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और वही इन त्रिगुणमयी मायामें स्थित पांचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है। जैसे गन्धके स्थानसे वायु गन्धको ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस पहले शरीरको त्यागता है, उससे मनसहित इन इन्द्रियोंको ग्रहण करके, फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है।'

प्राण वायु ही उसका शरीर है, उसके साथ प्रधानतासे पाँच ज्ञानेन्द्रियां और छठां मन (अन्तःकरण) जाता है, इसीका विस्तार सत्रह तत्त्व हैं। यही सत्रह तत्त्वोंका शरीर शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारके साथ जीवके साथ जाता है।

यहां यह एक शङ्का बाकी रह जाती है कि श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायके २२ वें श्लोकमें कहा है-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नवीन वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त करता है।' इसका यदि यह अर्थ समझा जाय कि इस शरीरसे वियोग होते ही जीव उसी क्षण दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जाता है तो इससे दूसरा शरीर पहलेसे तैयार होना चाहिये और जब दूसरा तैयार ही है, तब कहीं आने जाने स्वर्ग नरकादि भोगनेकी बात कैसे सिद्ध होती है, परन्तु गीता स्वयं तीन गतियां निर्देशकर आना जाना स्वीकार करती है, इसमें परस्पर विरोध आता है, इसका क्या समाधान है?

इसका समाधान यह है कि यह शङ्का ही ठीक नहीं है। भगवान्ने इस मन्त्रमें यह नहीं कहा कि, मरते ही जीवको दूसरा 'स्थूल' देह 'उसी समय तुरन्त ही' मिल जाता है। एक मनुष्य कई जगह घूमकर घर आता है और घर आकर वह अपनी यात्राका बयान करता हुआ कहता है 'मैं बम्बईसे कलकत्ते पहुंचा वहांसे कानपुर और कानपुरसे दिल्ली चला आया।' इस कथनसे क्या यह अर्थ निकलता है कि वह बम्बई छोड़ते ही कलकत्तेमें प्रवेश कर गया या कानपुरसे दिल्ली उसी दम आगया? रास्तेका वर्णन स्पष्ट न होनेपर भी इसके अन्दर है ही, इसीप्रकार जीवका भी देह परिवर्तनके लिये लोकान्तरोंमें जाना समझना चाहिये। रही नयी देह मिलनेकी बात, सो देह तो अवश्य मिलती है परन्तु वह स्थूल नहीं होती है। समष्टि वायुके साथ सूक्ष्मशरीर मिलकर एक वायुमय देह बन जाता है, जो ऊर्ध्व-गामियोंका प्रकाशमय तैजस, नरक-गामियोंको तमोमय प्रेत पिशाच आदिका होता है, यह सूक्ष्म होनेसे हम लोगोंकी स्थूलदृष्टिसे दीखता नहीं। इसलिये यह शङ्का निरर्थक है। सूक्ष्मदेहका आना जाना कर्मबन्धन न छूटनेतक चला ही करता है—

प्रलयमें भी सूक्ष्म शरीर रहता है—प्रलय-कालमें भी जीवोंके यह सत्रह तत्त्वोंके शरीर ब्रह्माके समष्टि सूक्ष्मशरीरमें अपने अपने संचित-कर्म-संस्कारोंसहित विश्राम करते हैं और सृष्टि-की आदिमें उसीके द्वारा पुनः इनकी रचना हो जाती है। (गीता ८। १८) महाप्रलयमें ब्रह्मा-सहित समष्टि व्यष्टि सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर ब्रह्माके शान्त होनेपर शान्त हो जाते हैं, उस समय एक मूल प्रकृति रहती है, जिसको अव्याकृत माया कहते हैं। उसी महाकारणमें जीवोंके समस्त कारण शरीर अभुक्त कर्म-संस्कारोंसहित अविकसितरूपसे विश्राम पाते हैं। सृष्टिकी आदिमें सृष्टिके आदिपुरुषद्वारा ये सब पुनः रचे जाते हैं। (गीता १४। ३–४) अर्थात् परमात्मा-रूप अधिष्ठाताके सकाशसे प्रकृति ही चराचर-सहित इस जगत्को रचती है, इसी तरह यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता रहता है। (गीता ९। १०) महाप्रलयमें पुरुष और उसकी शक्तिरूपा प्रकृति यह दो ही वस्तु रह जाती हैं, उस समय जीवोंका प्रकृतिसहित पुरुषमें लय हुआ रहता है, इसीसे सृष्टिकी आदिमें उनका पुनरुत्थान होता है।

आवागमनसे छूटनेका उपाय

जबतक परमात्माकी भक्ति उपासना निष्काम कर्मयोग आदि साधनोंद्वारा यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होकर उसकी अग्निसे अनन्त कर्म-राशि सम्पूर्णतः भस्म नहीं हो जाती, तबतक उन्हें भोगनेके लिये जीवको परवश होकर शुभाशुभ कर्मोंके संस्कार, मूल प्रकृति और अन्तःकरण तथा इन्द्रियोंको साथ लिये लगातार बारम्बार जाना आना पड़ता है। जाने और आनेमें यही वस्तुएं साथ जाती आती हैं। जीवके

और कृपाके वशीभूत न होजाता। परन्तु कृपा और युद्ध इन दोनों धर्मोंमेंसे इस समय यह शुभ कर्मोंमें निरत लोग उन कार्योंके प्रायः विघातक होते हैं। चोरको चोरी करते हुए सदा साधु

पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्म ही इसके गर्भमें आनेके हेतु हैं और अनेक जन्मार्जित संचित कर्मोंके अंश विशेषसे निर्मित प्रारब्धका भोग करना ही इसके जन्मका कारण है। कर्म या तो भोगसे नाश होते हैं या प्रायश्चित्त निष्काम कर्म उपासनादि साधनोंसे नष्ट होते हैं।* इनका सर्वतोभावसे नाश परमात्माकी प्राप्तिसे होता है। जो निष्काम भावसे सदा सर्वदा परमात्माका स्मरण करते हुए-मन बुद्धि परमात्माको अर्पण करके समस्त कार्य परमात्माके लिये ही करते हैं, उनकी अन्त समयकी वासना परमात्माकी होती है और उसीके अनुसार उन्हें परमात्माकी प्राप्ति होती है। भगवान् कहते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(गीता ८ । ७)

'अतएव हे अर्जुन! तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इसप्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन बुद्धिसे युक्त हुआ तू निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।

इस स्थितिमें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनेसे कारण अज्ञानसहित पुरुषके सभी कर्म नाश हो जाते हैं, इनसे उसका आवागमन सदाके लिये मिट जाता है, यही मुक्ति है, इसीका नाम परमपदकी प्राप्ति है, यही जीवका चरम लक्ष्य है। इस मुक्तिके दो भेद हैं–एक सद्योमुक्ति और दूसरी क्रममुक्ति। इनमें क्रममुक्तिका वर्णन तो देवयान मार्गके प्रकरणमें ऊपर आ चुका है। सद्योमुक्ति दो प्रकारकी है—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति।

तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होजानेपर जीवन्मुक्त पुरुष लोकदृष्टिमें जीता हुआ और कर्म करता हुआ प्रतीत होता है परन्तु वास्तवमें उसका कर्मसे सम्बन्ध नहीं होता। यदि कोई कहे कि, सम्बन्ध बिना उससे कर्म कैसे होते हैं? इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें वह तो किसी कर्मका कर्ता है नहीं, पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धका जो शेष भाग अवशिष्ट है, उसके भोगके लिये उसीके वेगसे, कुलालके न रहनेपर भी कुलाल-चक्रकी भांति कर्ताके अभावमें भी परमेश्वरकी सत्ता-स्फूर्तिसे पूर्व-स्वभावानुसार कर्म होते रहते हैं परन्तु वे कर्तृत्व-अहंकारसे शून्य कर्म किसी पुण्य पापके उत्पादक न होनेके कारण वास्तवमें कर्म ही नहीं समझे जाते (गीता १८।१७)।

जो लोकदृष्टिमें दीखता है, वह अन्तकालमें तत्त्वज्ञानके द्वारा तीनों शरीरोंका अत्यन्त अभाव होनेसे जब शुद्ध सच्चिदानन्दघनमें तद्रूपताको प्राप्त होजाता है (गीता २। ७२)। तब उसे विदेहमुक्ति कहते हैं। जिस मायासे कहीं भी नहीं आने जानेवाले निर्मल निर्गुण सच्चिदानन्द-रूप आत्मामें भ्रमवश आने जानेकी भावना होती है, भगवानकी भक्तिके द्वारा उस मायासे छूटकर इस परमपदकी प्राप्तिके लिये ही हम सबको प्रयत्न करना चाहिये!

---

* कल्याण भाग ३ संख्या ६ में प्रकाशित 'कर्मरहस्य' नामक लेख देखना चाहिये।

गीताके अमूल्य उपदेश !

(लेखक-साहित्योपाध्याय पं० ब्रह्मदत्तजी शास्त्री एम० ए०, काव्यतीर्थ)

स्थिर-प्रज्ञ किसे कहते हैं ?

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें जब दोनों ओरसे शस्त्र चलने ही वाले थे, कि भगवान्के भक्त और प्रिय सखा अर्जुनको मोहने घेर लिया। वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो, शस्त्र पटककर, युद्ध करनेसे विमुख होगया और-'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह'— 'हे गोविन्द! मैं युद्ध न करूंगा। नारायणके प्रति ऐसा निवेदनकर चुप्पी साधकर बैठ गया'!

भगवान्ने सोचा कि 'यह पहिले तो युद्ध करनेका दृढ़ विचार कर चुका था, अब इसे अकस्मात् यह क्या होगया? अन्तर्यामी भगवान् इस बातको ताड़ गये कि अर्जुनकी मनोवृत्तिमें चञ्चलता आगयी है और इसका अन्तःकरण विक्षुब्धताको प्राप्त हो चुका है। वेदादि शास्त्रोंमें जो अनेक प्रकारके कर्म, देश कालके भेदकी व्यवस्थासे बताये गये हैं, वही इस समय अर्जुनके चित्तको चञ्चल कर रहे हैं। औषध ही दैवयोगसे रोगकी उत्पादक सिद्ध हुई है! यदि अर्जुन स्थिर-प्रज्ञ होता तो हंसकी तरह नीर-क्षीर विवेकसे काम लेता। इस समय जो (युद्ध) कर्तव्य है, उसीपर स्थिर रहता। बन्धुभाव और कृपाके वशीभूत न होजाता। परन्तु कृपा और युद्ध इन दोनों धर्मोंमेंसे इस समय यह युद्ध धर्मपर दृढ़ न रहसका, कृपाने घेरकर उसे कातर कर डाला। यह कृपाका समय नहीं। अर्जुन असमयमें कृपाकर क्षात्रधर्मको भूल रहा है। समयके धर्म पर इसकी मति दृढ़ नहीं रही। समाधि-एकाग्रताको इसने त्याग दिया। बिना एकाग्रता बुद्धिका चाञ्चल्य कैसे मिटे और बिना स्थिरबुद्धिताकी प्राप्तिके कर्मयोगमें कैसे प्रवृत्ति हो? इन्हीं सिद्धान्तोंको लक्ष्यमें रखकर परम कृपालु भक्तभावन भगवान्ने कहा-

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

हे अर्जुन! वेदादि शास्त्रोंकी अनेक शिक्षा और आज्ञाओंको सुनकर चकरायी हुई तेरी बुद्धि, जबतक समाधिमें जाकर मुझमें स्थिर न होगी, तबतक, तेरी बुद्धिका चाञ्चल्य नष्ट नहीं होगा। और बुद्धिकी स्थिरता प्राप्त किये बिना कर्मयोगकी प्राप्ति भी असंभव है।

यह सुनकर स्वभावसे ही अर्जुनके चित्तमें यह जिज्ञासा हुई कि स्थिरबुद्धि किसे कहते हैं?

संसारमें हम देखते हैं कि, शुभ या अशुभ कोई भी कर्म, जबतक स्थिरबुद्धिके साथ नहीं किया जाता, कभी सिद्ध नहीं होता। अशुभ कर्मोंमें भी स्थैर्यकी आवश्यकता इसलिये है कि, शुभ कर्मोंमें निरत लोग उन कार्योंके प्रायः विघातक होते हैं। चोरको चोरी करते हुए सदा साधु

पुरुषके जागनेका और ललकार देनेका भय लगा ही रहता है । शुभकर्मोंमें तो स्थिरबुद्धिकी इससे भी अधिकतर आवश्यकता पड़ती है क्योंकि अशुभकर्मी लोग शुभकर्मियोंके अनुष्ठानमें अड़ंगा लगानेके लिये सतत जागृत और प्रयत्नशील रहते ही हैं। जिस प्रकार मुद्रा (मुहर) लगानेवाला जबतक कड़े हाथसे, जमाकर, मुहर नहीं ठोकता तबतक छाप स्पष्ट नहीं बैठती, उसीप्रकार कर्मयोगमें भी, जबतक स्थिर बुद्धि होकर कर्म नहीं किया जाता, तबतक कर्मका ठीक ठीक संस्कार उत्पन्न नहीं हो सकता। जिस कर्मको कर्मयोगके पथपर चलनेवाला, शिथिल मनसे करता है, वह कर्म कौशलसे रहित है। या कर्मकी हंसी उड़ाना है। कर्मोंमें जो कुशलता है, उसीको गीताशास्त्रमें 'योग' कहा गया है।

'तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।'

'इसलिये हे अर्जुन ! योगके लिये उद्यत हो । कर्मोंमें जो कुशलता है वही 'योग' है'।

इतने कथनसे यह बात निर्विवाद सिद्ध हुई कि कर्मयोगके मार्गपर चलनेवालेके लिये स्थिर-बुद्धि होना नितान्त प्रयोजनीय है, अनिवार्य है।

इसी कारण कुन्तीनन्दन अर्जुनने भगवानसे प्रश्न किया—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव !
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ?

हे केशव ! स्थित-प्रज्ञ पुरुषका क्या लक्षण है ? वह कैसे बैठता चलता और बोलता है ? इसमें और इसके पूर्वके श्लोकमें, (गीता, अध्याय २, श्लोक ५३-५४) दोनोंमें ही 'समाधि' शब्दका प्रयोग किया है। 'स्थितप्रज्ञ' शब्दको 'समाधिस्थ' शब्दका पर्यायवाचक अर्थात् समानार्थवाचक ठहराया है (श्लोक ५४में)। परन्तु यहांपर यह प्रश्न होता है कि 'समाधि' शब्दसे यहां योगशास्त्रमें प्रसिद्ध समाधिका ग्रहण किया जाय अथवा और कुछ ? चूंकि गीता भी योगशास्त्र है अतएव योगशास्त्रमें प्रसिद्ध समाधि-का ही यहांपर ग्रहण करना उचित है।

समाधि कर्मयोग और स्थिरबुद्धि इन तीनोंका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? यह बात इसी स्थानपर विचारणीय है। 'समाधि' नाम उस अवस्थाका है, जिसमें ध्याता ध्यान और ध्येय तीनों समानाकार धारण करलें। इसे ही योगशास्त्रमें 'संयम' भी कहा है। धारणा, ध्यान, समाधि, इन तीनोंके एकत्रित होनेका नाम संयम है।

धारणाका लक्षण—

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' है। अर्थात् किसी देश विशेषमें चित्तको बाँध देना या अटका देना।

ध्यानका लक्षण—

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।' धारणाके बीचमें प्रत्यय अर्थात् चित्तवृत्तियोंकी क्रियाके एकतान या एकरस हो जानेका नाम ध्यान है।

समाधिका लक्षण—

'तदेवार्थ मात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिवसमाधिः'

जिसमें अर्थमात्र अर्थात् ध्येयमात्र भी से और ध्याता तथा ध्यान शून्यसे हो जायं, वही समाधि है।

बिना धारणाके ध्यान और बिना ध्यानके समाधि नहीं लग सकती अथवा यों कहना चाहिये कि धारणाके ही ऊपर चलकर विकास होनेका नाम समाधि है।

इन तीनोंको मिलाकर पातञ्जल योगमें 'संयम' संज्ञा रक्खी है।

अब विचारना चाहिये कि समाधिका स्थिर-बुद्धिताके साथ क्या सम्बन्ध है? बुद्धि मन आदि अन्तःकरण-चतुष्टयके स्थिर हुए बिना समाधि दुर्लभ है और बुद्धिकी स्थिरता बिना कर्मयोगकी साधना कठिन है। इसी हेतु भगवान्‌ने अर्जुनको 'स्थितप्रज्ञ'होनेका उपदेश किया था।

यहांपर प्रसंगवश इतना कह देना आवश्यक है कि समाधिमें जानेपर ब्रह्माकारताका अनुभव करनेसे बुद्धिमें जो स्थिरता आ जाती है, वह क्षणिक ही नहीं होती। जितने कालके लिये योगी समाधिस्थित होता है, उतने कालतकके लिये तो वह उसे प्राप्त ही है। परन्तु समाधि-भङ्ग होनेके पश्चात् कर्मोंके अनुष्ठानके समयमें भी वह कर्मयोगीकी सहायता करता है। इससे वह सत्-कर्मके अनुष्ठानसे विचलित नहीं होने पाता। जैसे एकवार प्रकाशमें आया हुआ पुरुष प्रकाशको भूलता नहीं, उसी प्रकार समाधि अवस्थामें प्राप्त की हुई बुद्धिकी स्थिरता भी भूल नहीं जाती।

इसके बाद अर्जुनको यही समझाना शेष रहा कि 'स्थितप्रज्ञ' की क्या पहिचान है?

'स्थितप्रज्ञ' के लक्षणका विस्तृत वर्णन करनेके पहले, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि श्रीमद्भगवद्गीताके इस प्रकरणमें 'स्थितप्रज्ञ' और इसीके समानार्थक जो शब्द आये हैं, क्षणभरके लिये उनका विचार कर लिया जाय। ये सब शब्द गीताके द्वितीय अध्याय-में ही आये हैं।

५३श्लोकमें 'स्थास्यति......बुद्धिः'। ५४में 'स्थितप्रज्ञस्य, तथा 'समाधिस्थस्य'। इसी श्लोकमें 'स्थितधीः'। ५५में 'स्थितप्रज्ञः'। ५६में स्थितधीः'। ५७में 'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'। ५८में फिर 'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'। ६१में फिर 'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'। ६५में 'बुद्धिः पर्यवतिष्ठते'। ६८में पुनः 'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'। ऊपर जितने शब्द अथवा वाक्य वा वाक्यांश उद्धृत किये हैं, उन सभीका 'बुद्धिकी स्थिरता' यह तात्पर्य समान है। हो सका तो आगे 'स्थितप्रज्ञ' के लक्षणोंकी विस्तृत और सरल व्याख्या की जायगी। आज इतना ही!

प्रकृतिका मूक-प्रणय

बाढ़ी वियोग-व्यथा उरमें,
ब्रजकी बनिता उठि खाँहि पछारे।
देखि दसा वृषभानुजाकी,
जड़, जंगम, चेतन चेत बिसारे।
छाई रसालन पै जरदी,
हरदी सी लखै सरसों मन मारे।
किंसुकसे हैं पलासन पै,
परे चन्द्रसों आगिके छूटि अँगारे॥

—'श्रीपति'

श्रीभगवन्नाम

नाम जपत कुष्ठी भलो, चुइ चुइ परै जु चाम।
कंचन देह केहि कामकी, जहां न हरिको नाम॥
शून्य मरे अजपा मरे, अनहदहू मरि जाय।
नाम जपन्ता ना मरे, कह कबीर समुझाय॥

'कल्याण' के गत पौषके अंकमें प्रकाशित सूचनाके अनुसार पाठक पाठिकाओंने श्रीभगवन्नाम प्रचार और जपके लिये चेष्टा की हैं इसके लिये उन्हें धन्यवाद है। करीब दस करोड़ मन्त्रोंके वचन मिल चुके हैं; अभी प्रायः ढाई सप्ताहका समय बाकी है। इस समयमें विशेष जोरसे काम होना चाहिये। पाठक पाठिकागण चेष्टा करें तो इतने समयमें बहुत नाम जप हो सकता है! भगवान्‌का नाम जपने जपानेवाले धन्य हैं।

होलीपर हमारा कर्तव्य

होली क्या है, इस सम्बन्धमें गतवर्ष फाल्गुनकी संख्यामें विशेषरूपसे विवेचन किया गया था, इसलिये उसे फिरसे दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है। गतवर्ष 'कल्याण' के निवेदनपर ध्यान देकर बहुत जगह अनेक भाइयोंने गन्दगी बन्द कर दी थी, तथापि यह गन्दगी अभीतक पूरी तरह बन्द नहीं हुई है। इस गन्दगीसे स्वार्थ परमार्थ दोनोंमें हानि होती है, इससे दोनों ही लोक बिगड़ते हैं, जो अपना और समाजका भला चाहते हैं, जो देश और धर्मकी उन्नति चाहते हैं, उन सबको इस पापसे अवश्य बचना चाहिये।

स्त्रियोंका गन्दे गीत गाना, पुरुषोंका बेशरम होकर गन्दे कबीर, धमाल, रसिया और फाग गाना, गन्दी आवाजें लगाना, स्त्रियोंको देखकर इशारे करना, ढफ बजाकर बुरी तरहसे नाचना और गन्दी चेष्टाएं करना, भांग, गांजा, सुल्फा पीना, नशीली मांजूं खाना, राख मिट्टी और कीचड़ उछालना, मुंहपर स्याही, कारिख या नीला रंग पोत देना, कपड़ों और दीवारोंपर गन्दे शब्द लिख देना, जूतोंकी माला पहनना और पहनाना, मुर्दा निकालना, टोपियों और पगड़ियोंको उछाल देना आदि सभी पापकर्म हैं, इनसे ब्रह्मचर्यका नाश होता है, बेशरमी और असभ्यता बढ़ती है, मनपर बुरे संस्कार जमते हैं, परस्पर लड़ाई झगड़े होते हैं, पशुता बढ़ती है, धर्मका नाश होता है, और परमार्थमें तो बड़ी ही बाधा पहुंचती है। इसलिये सभी स्त्री पुरुषोंको इन गन्दे कार्योंसे बिलकुल बचना चाहिये।

होली प्रेमका त्योहार है, इसलिये सबसे प्रेम बढ़ाना चाहिये। होली भगवद्भक्त प्रह्लादजीकी यादगार है, अतएव उनके जैसा भक्त और दृढ़प्रतिज्ञ बननेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। होली श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुका जन्म दिवस है, अतएव उनके सर्वप्रिय श्रीहरिनामका कीर्तन करना चाहिये। होली 'वासन्ती नवशस्येष्टि' यज्ञ है अतएव नये धानसे यज्ञ करना चाहिये।

यदि फाल्गुन सुदी ११ से चैत बदी १ तक निम्नलिखित कार्य हों तो बहुत लाभ हो सकता है-

(१) फाल्गुन सुदी ११को या किसी दिन भगवान्‌की सवारी निकालनी चाहिये, जिसमें सुन्दर सुन्दर भजन और नामकीर्तन हो।

(२) सत्संगका खूब प्रचार किया जाय, स्थान स्थानमें इसका आयोजन हो। सत्संगमें नाम, माहात्म्य, भक्ति, ब्रह्मचर्य, अक्रोध, क्षमा, वीरता, मादक वस्तुओंके त्याग, प्रमादके त्याग और सदाचारकी विशेष चर्चा हो।

(३) भक्ति और भक्तकी महिमाके तथा सदाचारके गीत गाये जायं।

(४) फाल्गुन सुदी १५ को हवन किया जाय।

(५) श्रीमद्भागवत, श्रीविष्णुपुराण आदिसे भक्तराज प्रह्लादकी कथा सुनी सुनायी जाय।

(६) जो साधक हैं, वे एकान्तमें भजन ध्यान करें।

(७) श्रीचैतन्यदेवकी जन्मतिथिका महोत्सव मनाया जाय। घर घर हरिकीर्तन हो, श्रीचैतन्यके जीवनकी प्रधान प्रधान घटनाएं सुनायी जायं।

(८) धुरेण्डीके दिन नगरकीर्तन निकाला जाय, जिसमें सभी भाई प्रेमसे शामिल हों।

कल्याणके नियम

१-भक्ति ज्ञान और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुंचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है ।

२-यह प्रतिमासकी कृष्णा एकादशीको प्रकाशित होता है ।

३-इसका अग्रिम वार्षिक मूल्य डाकव्ययसहित भारतवर्षमें ४) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६) नियत है। एक संख्याका मूल्य ।=) है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

४-ग्राहकोंको मनिआर्डरद्वारा चन्दा भेजना चाहिये, नहीं तो वी. पी. खर्च उनके जिम्मे और पड़ जायगा।

५-इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकार कर प्रकाशित नहीं किये जाते ।

६-ग्राहकोंको अपना नाम, पता स्पष्ट लिखनेके साथ साथ ग्राहक नम्बर अवश्य लिखना चाहिये।

७-पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड अथवा टिकट भेजना आवश्यक है।

८-भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक कल्याणमार्गमें सहायक अध्यात्म विषयक व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने बढ़ाने और छापनेअथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना मांगे लौटाये नहीं जाते । लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं है ।

९-प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि 'व्यवस्थापक' के नामसे भेजना चाहिये और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि 'सम्पादक' के नामसे भेजना चाहिये।